

BIBLIOTHECA INDICA:

A

COLLECTION OF ORIENTAL WORKS

PUBLISHED BY

THE ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, Nos. 44, 85, 95, 101, 115, 142, 154, 174, & 208.

The Aphorisms of the Mīmāṃsā

BY JAIMINI,

WITH

THE COMMENTARY OF ŚAVARA-SVĀMIN.

EDITED BY

PANDITA MAHEŚACHANDRA NYĀYARATNA,

PROFESSOR OF HINDU LAW AND RHETORIC, SANSKRIT COLLEGE, CALCUTTA.

VOL. I.

ADHYĀYASI—VI.

CALCUTTA :

PRINTED AT THE GANES A PRESS.

1873.

THE
LIBRARY
OF THE
MUSEUM OF
ART AND HISTORY
OF THE
CITY OF
NEW YORK

50158
12

मीमांसा-दर्शनम् ।

जैमिनि-प्रणीतम्

श्रीशवरस्वामिकृतेन भाष्येन सहितम् ।

वङ्गदेशीयासियाटीकसमाजानुमतिवाङ्मत्याभ्याम्

प्रचारितम्

कलिकाता-संस्कृतविद्यालयसङ्घारशास्त्राध्यापकेन

श्रीमद्देशचन्द्र-न्यायरत्नेन

परिशोधितम् ।

प्रथमात् षष्ठाध्याय-पर्यन्तम्

(पूर्वः षट्कः) ।

कलिकाता-

विषय-कालेज्-यन्त्रे मुद्रितम् ।

संवत्सरः १९१५ ।

NO. 1000
BOSTON, MASS.

CARPENTIER

PREFACE.

The present edition of the *Mīmāṃsā Darsana* was undertaken so long ago as the year 1863. The extraordinary delay in bringing it out, and that in part only, has resulted from various causes, which it is needless here to detail. There has been an irregularity also in publishing nearly three *Adhyāyas* of the second part (*Uttara Shaṭka*) before the completion of the first part (*Purva Shaṭka*). This has been owing to the troublesome character of the work of preparing an Index to the first Part, and a desire not to stop the publication until it was ready, the bulk of Indian readers being perfectly indifferent about indexes.

The MSS. collated in the preparation of this edition are the following :—

1. MS. in the Library of the Asiatic Society of Bengal.
 2. „ „ „ Sanskrit College of Calcutta.
 3. „ „ „ Sanskrit College of Benares.
 4. „ procured by the editor from a Tailangi Paṇḍit at Benares.
- The last has been referred to in the notes as ण० पु० and also as का० बी०.

From the Calcutta and Benares College Libraries the editor also obtained MSS. of some of the *Adhyāyas*; but they were not of any value. The MSS. from the Colleges are recent and inaccurate. The other two MSS. mentioned above are old and very correct.

The *Mīmāṃsā Bhāshya* is written in an archaic form of the Sanskrit language. It is not easy of comprehension, besides, owing to the manner in which its arguments and their solutions are introduced. It is difficult to find out where an objection to an argument begins, and where the argument is which is intended to meet the objection. There are other difficulties also of a similar character. To overcome them to some extent the editor has taken

particular care about the punctuation, and has marked the objections raised by means of inverted commas. For facilitating comprehension, he has, also separated, in several cases, words originally united together by *Sandhi*: Thus विदन्वेतानर्थश्चेत् has been broken up into विदन्वेत अनर्थश्चेत्. In this part of the editor's work there must doubtless be several faults—of omission at any rate. The difficulty of the task can, however, be appreciated by only those who would take the trouble of comparing the printed copy with a MS.

There are grave discrepancies between the readings of the several MSS. in regard to passages quoted from the *Vedas*. The editor has not been able to compare all such passages with the original texts, and he fears, therefore, there must be several errors in them.

It struck the editor only after the first *Páda* of the first *Adhyáya* had gone through the press that there would be an advantage in putting the different *Adhikaraṇas* under different headings. From the second *Páda* onward, this plan has been uniformly followed. The *Adhikaranamálá* of *Mádhaváchárya* has been of great help to him in this part of his undertaking.

The *Mimáñsá-Darsana*, though styled a *Darsana*, has in fact very little of a *Darsana* or philosophical system in it. It may very properly be styled a commentary on the *Vedas*, for it almost wholly occupies itself with expounding and commenting on texts quoted from the *Vedas*. But, though dealing so largely with the sacred scriptures of the Hindus and thus commanding a large share of their respect, oddly enough, it prepounds a godless system of religion. The main drift of its arguments is to show that if bliss be the fruit of good works, the interposition of a Deity is simply superfluous.

A brief summary of the doctrines of the *Mimáñsá Darsana* will be annexed to the concluding fasciculus of the second part.

THE EDITOR.

सङ्केत खचनम् ।

| | | |
|-------------|-----|------------------------------|
| सङ्केतः | ... | अर्थः |
| अ० | ... | अधिकारबन्धम् । |
| अ० पा० अ० | ... | अध्याये पादे अधिकारबन्धम् । |
| अ० पा० अधि० | ... | " " " |
| आ० | ... | आश्रयता वा आपत्तिः । |
| आ० नि० | ... | आश्रयतायाः आपत्तेर्वा निरासः |
| आभा० | ... | आभासः । |
| आश्र० | ... | आश्रयता । |
| आ० सो० | ... | कावियाटिक् सोसाइटी |
| उ० | ... | उत्तरम् |
| उप० | ... | उपसंहारः । |
| उ० य० | ... | उत्तरे युक्तिः । |
| क० स० | ... | कलिकाता संस्कृतकलेज् । |
| का० क्री० | ... | काव्यां क्रीतम् । |
| का० स० | ... | काशीसंस्कृतकलेज् |
| दि० | ... | द्वितीयम् । |
| दि० पू० | ... | द्वितीयः पूर्वपक्षः । |
| नि० | ... | निराकरणम् । |
| पा० | ... | पादः । |
| पु० | ... | पुस्तकम् । |
| पु० पा० | ... | पुस्तकस्य पाठः । |

| | | |
|------------|-----|---------------------------|
| पू० | ... | पूर्वपक्षः । |
| पू० आ० नि० | ... | पूर्वपक्षे आशङ्कानिरासः । |
| पू० नि० | ... | पूर्वपक्षनिरासः । |
| पू० पू० | ... | पूर्वपक्षे पूर्वपक्षः ॥ |
| पू० यु० | ... | पूर्वपक्षे युक्तिः । |
| प्र० | ... | प्रथमम् । |
| प्र० पू० | ... | प्रथम-पूर्वपक्षः । |
| प्रा० पू० | ... | प्राचीनपुस्तकम् । |
| भा० | ... | भाष्यम् । |
| व्या० | ... | व्याख्या । |
| सि० | ... | सिद्धान्तः । |
| सि० आ० | ... | सिद्धान्ते आशङ्का । |
| सि० आ० नि० | ... | सिद्धान्ते आशङ्कानिरासः । |
| सि० यु० | ... | सिद्धान्ते युक्तिः । |
| सि० हे० | ... | सिद्धान्ते हेतुः । |
| सू० | ... | सूत्रम् । |
| हे | ... | हेतुः । |

मीमांसादर्शनस्य पूर्वषट्कस्याधिकरण-सूचीपत्रम् ॥



| अधिकरणम् । | पृष्ठा । | पङ्क्तिः । |
|--|----------|------------|
| अंशदाभ्योरपि सादनादिबर्णवचस्य | ३०८ | ११ |
| अग्निचयनस्य संस्कारतायाः | १८८ | १ |
| अग्निविद्वर्षहादिप्रतापानां क्रत्वन्तेऽनुष्ठानस्य | ४०० | १२ |
| अग्निविद्वर्षहादिप्रकारकमन्त्राणां तत्रैव विनियोगस्य | २५२ | २ |
| अग्निहोत्रादिसावज्जीवकर्षाणाम् सक्तासमाचकर्तव्यतायाः | ६४८ | १ |
| अग्निहोत्रादिह्रन्दाणां धामनामषेयतायाः | ८८ | ७ |
| अग्निहोत्रादीनां सक्तासहादृष्या आहारेः | ६४८ | ११ |
| अग्नीध्रोपस्थाने प्राक्तनानां मन्त्राणां विनियोगस्य | २५८ | ८ |
| अग्नीधोमीचपथौ प्रयाजानुवाजयोः पात्रभेदस्य | ५६२ | १२ |
| अग्नेः प्रकृतिविकृतिसर्वाथतायाः | ४०६ | ६ |
| अङ्गक्रमस्य मुख्यक्रमानुसारितायाः | ५४५ | १५ |
| अङ्गवैकल्ये काव्यस्य निष्कलनस्य | ६५६ | ६ |
| अङ्गानामन्वहाराऽनुष्ठानस्य | २८५ | १८ |
| अङ्गापूर्वभेदस्य | १३० | २ |
| अङ्गेषु मुख्यक्रमापेक्षया पाठक्रमस्य बलवत्त्वस्य | ५४६ | ५ |
| अधिकृत्याङ्गवैकल्यस्य धामनाधिकारस्य | ६२८ | ८ |
| अङ्गनादेः परित्याहानानुसमयस्य | ५६० | ४ |
| अदाभ्यादीनां पचनानुसमयतायाः | १८८ | १ |
| अनाहितार्घ्येषूपनयनहोमस्य | ७६५ | २१ |
| अनाहितार्घ्येरेव षतुर्होत्रहोमाधिकारस्य | ७६२ | २ |
| अनाहितेऽग्राववकोर्षिपचननुष्ठानस्य | ७६८ | १७ |
| अनाहितेऽग्नौ स्पृपतीष्ट्याः | ७६८ | १६ |
| अनिरत्नेऽप्यभ्युदयेष्ट्याः | ७०६ | २ |
| अनिरत्नेऽप्यभ्युदये वैकृतीभ्यो निर्वापस्य | ७०७ | १५ |
| अनुवाजादीनामाग्निमावतोर्द्धकालतायाः | ५०८ | १५ |

| अधिकारम् । | पृष्ठा । | पङ्क्तिः । |
|---|----------|------------|
| अनुयाजादुत्कर्षप्रयाजान्नापकर्षयोः | ५५० | १ |
| अनुषङ्गस्य | १२४ | १४ |
| अनृतवदननिषेधस्य क्रान्तुषर्षतायाः | ११८ | १८ |
| अग्नेन्द्रानाममन्त्रक-मन्त्रस्य | २०४ | ४ |
| अग्नर्वेदेऽप्युपानङ्गतायाः | २९२ | ९ |
| अपञ्चेदयौगपथेऽपि प्रावक्षितस्य | ७२१ | ४ |
| अपररात्रे व्रतस्थानियमस्य | ७०२ | ८ |
| अपरिमितशब्देन सप्तसाधिकस्य पञ्चस्य | ७५२ | १० |
| अपसादिशब्दानां नवादिप्रशंसार्थतायाः | १०३ | १० |
| अपूर्वप्राल्लतधर्माणां विह्वतावसम्बन्धस्य | ४२८ | १ |
| अपूर्वस्थास्यावपदप्रतिपाद्यत्वस्य | १०८ | १ |
| अपूर्वस्थाक्षितायाः | ११२ | १० |
| अभिज्ञमहादीनां प्रयाजमानाङ्गतायाः | २३२ | २ |
| अभिधारणे शेषधारणतत्वाचथोरननुष्ठानस्य | ४५६ | १८ |
| अभिज्ञस्यैव वाचयितव्यतायाः | ४१९ | १२ |
| अभिज्ञमर्जनस्याङ्गप्रधानेभयाङ्गतायाः | २९० | ६ |
| अभ्युप्रीतसोममन्त्रे इन्द्रस्याप्युपलक्ष्यत्वस्य | २६० | १२ |
| अर्थवादप्रामाण्यस्य (प्रथमावधि अष्टादशसूत्रपर्यन्तम्) | २९ | १ |
| अवगोरवादीनां पुनर्थतायाः | २२४ | १२ |
| अवघातादिसंस्कारविधानस्य नियमार्थतायाः | ४८२ | ८ |
| अवगमनाश्च पुनरवदानार्थम् प्रतिनिध्यादानस्य | ६०४ | २ |
| अवदानस्य प्रदानान्नानुसमयस्य | ५५९ | १६ |
| अवच्छेद्यममस्य प्रतिपत्तिकर्मतायाः | ४८० | १० |
| अवेष्टेः क्रान्तारतायाः | १०२ | १ |
| अवेष्टेरन्नाद्यफलकत्वस्य | १९२ | २ |
| अवर्गस्येऽपि विश्वजिति सर्वसदानस्य | ७४८ | १० |
| अवर्गस्येऽप्यपञ्चेदे न सर्वेषामावर्तनस्य | ७२५ | ८ |
| आह्वानिशक्तेः | ७८ | ११ |
| आग्नेयद्वेषकस्तुत्यर्थतायाः | १९२ | १५ |

| अधिकारकम् । | पृष्ठा । | पङ्क्तिः । |
|---|----------|------------|
| आग्नेयादिक म्येष्ट्याः | १८१ | ८ |
| आग्नेयादिमन्त्रानां ब्राह्मणादिस्तुत्यर्चतायाः | १०२ | १३ |
| आग्नेयादीनामनामतायाः | ८२ | ८ |
| आग्नेयाष्टाकयास्तुत्यर्चतायाः | २३६ | १ |
| आधारादीनामनामतायाः | ५३० | १ |
| आधारास्तुत्यर्चतायाः | १४६ | १० |
| आधारास्तुत्यर्चतायाः | १४० | ० |
| आध्यात्म्य सोमादनुत्कर्षस्य | ५६२ | १८ |
| आधानस्य पवमानेष्टुमनामतायाः | ३०० | १८ |
| आधानस्य विशेषस्य | १०५ | १४ |
| आधानस्य सर्वार्चतायाः | ३०१ | १५ |
| आधाने गामस्योपांशुतायाः | २८० | १६ |
| आधानेऽपरिमितं देयमित्यनेन सङ्ग्रहान्तरविधानस्य | ०५१ | ४ |
| आध्वर्यवादिषु आध्वर्यवादीनां कर्तनानियमस्य | ४०६ | ५ |
| आनुपूर्व्येकापच्छेदे उपरापच्छेदेऽनिमित्तप्रायश्चित्तानुष्ठानस्य | ०२३ | ३ |
| आसनसोमानां साङ्ग्रहायस्यनामतायाः | ५१८ | १ |
| आयुर्दादिमन्त्राणां साजमानतायाः | ४१८ | १ |
| आरम्भकाम्यकर्षणोऽपि समाप्तिनियमस्य | ६४० | १२ |
| आरम्भकौत्सिककर्षणः समाप्तेरनियमस्य | ६४२ | १ |
| आरम्भदिगुणानामसङ्कीर्णतायाः | २१५ | १ |
| आश्विनिकामहर्षतायाः | ४४० | ५ |
| आकाशप्रकाशकमन्त्राणामाकाशे विनियोगस्य | २४८ | २० |
| इति च स्तोत्रादिपरकृतिपुराकल्पानामर्थवादतायाः | ०५३ | १४ |
| इन्द्रपीतस्तोत्रादिमन्त्राणां सर्वेषु भक्ष्येषु कश्चेन विनियोगस्य | २६६ | १ |
| इन्द्रप्रकाशकमन्त्राणां मार्चपत्ये विनियोगस्य | २४६ | १० |
| इष्टिसंस्कृताग्नावग्निचोनास्यनुष्ठानस्य | ५०६ | १ |
| इष्टिसोमयोः पौर्वापर्यायनियमस्य | ५८८ | ० |
| उक्त्यानुरोधेन चोदुत्कर्षस्य | ५५५ | ० |

| अधिकरणम् । | शुद्धा । | पङ्क्तिः । |
|---|----------|------------|
| उच्चैस्त्वादीनां वेदघर्षतायाः | १७८ | ९ |
| उद्वेगसानीयोन्मूर्धेऽपि प्रतिज्ञोमाननुष्ठानस्य | ७१८ | १ |
| उद्गातुवन्तरापच्छेदेऽपि सर्वज्ञदक्षिणादानस्य | ७२४ | ५ |
| उद्गाहृत्वां सद्य उद्गाह्यस्येन भक्षस्य | १५० | १८ |
| उद्भिदादिशब्दानां धारणामतायाः | ८५ | ९ |
| उपमस्याशुच्यक्तस्य | ४०१ | ३ |
| उपभृति द्विचतुर्गुणीतापरस्य | ४६३ | ५ |
| उपवीतस्य प्राकरशिकाङ्गतायाः | १३४ | ११ |
| उपांग्याग्रेऽपि देवतापनयस्य, | ७०५ | १ |
| उपांग्याजापूर्वतायाः | १४४ | १ |
| उपाकरवादीनामग्नीषोमीयधर्मातायाः | ३०३ | ६ |
| | | |
| ऊहास्यमन्त्रतायाः | १२८ | १ |
| | | |
| ऊग्रभक्षस्य | १२८ | १० |
| ऊग्रनयापाकरस्य त्राण्युच्यन्वियवैश्वानां नित्यतायाः | ६५१ | ३ |
| ऊल्लिमितिनाम्नोऽसर्ध्वनामिततायाः | ४०९ | १ |
| ऊल्लिजां क्षामिसप्तदशस्य | ४०५ | १४ |
| ऊल्लिजामेव शेषभक्षस्य | ६०६ | ३ |
| | | |
| एकपात्राक्षामनुष्ठापनस्य | ३५८ | १६ |
| एकवाक्यलक्षणस्य | १३१ | १० |
| एकस्यैव पुंसः आधानाधिकारस्य | ६१५ | १९ |
| एकहविराशौवपि पञ्चशरावनिर्वापस्य | ६८२ | १८ |
| एकादशाधिकरशोक्तस्य उपसंहारस्य | ९०६ | १३ |
| | | |
| ऐन्द्रवायवपद्ये द्विःशेषभक्षस्य | ३४८ | ५ |
| ऐन्द्राग्रभक्षस्यामन्त्रकतायाः | ९०५ | १ |
| | | |
| औपशत-औहवयोः क्रमसोभयानुभयार्थतायाः | ४६१ | १४ |

अधिकारकम् ।

| | पृष्ठा । | पङ्क्तिः । |
|--|----------|------------|
| कपालानां तुषोपवापाप्रयुक्ततायाः | ४५२ | १२ |
| करकमन्त्रेषु कर्षार्थफलस्य क्वचिन्वर्षतायाः | ४२६ | १६ |
| करकमन्त्रेषु स्वामिफलस्वाभ्रापितव्यतायाः | ४२५ | ५ |
| कर्कदेशकालविधीनां नियमार्थतायाः | ४८१ | १० |
| कर्षार्थां मुखप्रधानभावविधानस्य | ११३ | २२ |
| कल्पसूत्राख्यतःप्राभाषणस्य | ०२ | १ |
| काव्ययाज्यानुवाक्याकाव्यानां काव्यभाष्यतायाः | २५६ | १० |
| काव्यानां यथोक्तकाव्यफलकत्वस्य | ५०२ | १३ |
| काव्यानामैशिकानुशिकफलकत्वस्य | ५०६ | १२ |
| काव्येष्टिषु उपार्गुत्ववर्षास्य प्रधानार्थतायाः | ४३० | १० |
| काव्येष्टीनामनियमेनानुष्ठानस्य | ५८० | ० |
| क्वचिन्वर्षत्रयेऽभ्युदयेऽवगिरिहस्य तृष्णीनिर्वापस्य | ००८ | १५ |
| कुलायादौ प्रतिपदोक्तवर्षस्य | २८० | १२ |
| कन्दैकदेशभेदे प्रायश्चित्तानुष्ठानस्य | ६०० | १८ |
| कर्मवर्षपुरवार्षलक्षस्य | ४२५ | १० |
| क्रमनियमस्य | ५३० | २ |
| क्रमस्य क्वचित्पाठानुसारितायाः | ५४० | ० |
| क्रमस्य क्वचित्प्रथमप्रदृश्यनुसारितायाः | ५४२ | २० |
| क्रमस्य क्वचित्स्थानानुसारितायाः | ५४४ | ८ |
| क्रमस्य क्वचिदनियमस्य | ५४० | १ |
| क्रमस्य क्वचिदार्थिकत्वस्य | ५३८ | ४ |
| क्रमस्य विनियोजकतायाः | २८२ | ६ |
| क्रमस्य स्वामिकर्षतायाः | ४१२ | २ |
| शामे सर्वदाचे प्रायश्चित्तानुष्ठानस्य | ६८० | १२ |
| गवामयनस्य पदकर्षाप्रयुक्ततायाः | ४५१ | ० |
| गवामयने माघपौर्णमास्याः पुरस्तादीत्यायाः | ०१३ | ११ |
| माघवचन्द्रसः— इत्यादि मन्त्राशामनेकवचन्द्रस्य विनियोगस्य | २०६ | १ |
| मुर्वेनुममनादीनां प्रतिनिमित्तमाहनेः | ६५० | १५ |
| मुर्वेनुममनादीनामुपनयनोत्तरकालकर्षतायाः | ६४० | १ |

| अधिकरणम् । | | पृष्ठा । | पङ्क्तिः । |
|---|-----|----------|------------|
| गोदोहन-दीनां प्रकृतिगामितायाः | ३०० | ३ | |
| प्रहापतायाः ज्योतिष्टोमाङ्गतायाः | १६८ | २ | |
| प्रहेष्टकादीनां ऋत्विग्निशेषतायाः | ५०२ | १२ | |
| धावस्तुतोऽपि सोमभक्षकस्य | २५३ | ११ | |
| सतुर्धाकरस्यग्नेयमाचाङ्गतायाः | २४० | १४ | |
| चमसहोमे अध्वर्युः कर्त्तव्यतायाः | ४०९ | ७ | |
| चमसदौ सवर्गासप्रयोगस्य | २३० | १ | |
| चमसाध्वर्युणां द्रव्यसङ्ग्रानिवयनस्य | २९९ | १४ | |
| चमसाध्वर्युणां श्रयङ्गस्य | ३९८ | १४ | |
| चमसाध्वर्युणां वज्रनवियमस्य | २९९ | ७ | |
| चमसिगाम् श्रेयभक्षस्य | ३४४ | १२ | |
| चातुर्वर्षीतिरिक्तस्य रथकारस्याधामे अधिकारस्य | ६३० | ३ | |
| चिवादिशब्दानां याजनामधेयतायाः | ८७ | १४ | |
| चिचिष्वादीनां मध्यमचितानुपधानस्य | ५०४ | १६ | |
| चिचिष्वादीष्टकानामग्रप्रकृतायाः | ३८० | १२ | |
| हागस्यैवाग्नीषोमीयपशुतायः | ७०३ | २० | |
| हेदनस्य श्राद्धाप्रयुक्ततायाः | ४७३ | ३ | |
| जङ्गम्यमानधर्माणां प्रकरणे निवेशस्य | ३२१ | २३ | |
| जवादीनां वैदिककर्माङ्गतायाः | ३२८ | ७ | |
| जायन्त्या अमुत्कर्षस्य | २९९ | ८ | |
| जुवादीनां साधारणस्य | ७३८ | १२ | |
| ज्योतिष्टोमविकाराणां अग्निष्टोमपूर्वकतायाः | ५८२ | १४ | |
| ज्योतिष्टोमस्य यानुर्वेदिकतायाः | २८१ | १५ | |
| ज्योतिष्टोमाङ्ग-यात्राऋषयोर्नित्यतायाः | ७७१ | ५ | |
| ज्योतिष्टोमादिषु पथोन्नतादीनामपि नित्यतायाः | ७७२ | ९ | |
| ज्योतिष्टोमे दीक्षणीयादीनामङ्गतायाः | ५३४ | १८ | |
| ज्योतिष्टोमोत्कर्षे प्रतिशोभामनुष्ठानस्य | ७१७ | १ | |

अधिकारकम् ।

| | पृष्ठा । | पङ्क्तिः । |
|---|----------|------------|
| तत्रैवामन्तूनां सान्नां मध्ये निवेशस्य | ५०२ | १८ |
| तपसो बाजमानतायाः | ४१५ | १ |
| तत्रे यद्यसि दध्मानयनस्याग्निष्वाप्रयुक्ततायाः | ४४९ | १ |
| त्रैवर्षिकमित्रस्य मिषादस्य रौद्रधानेऽधिकारस्य | ६२२ | ११ |
| लाङ्गपानीवनस्य पर्य्यधिकारश्चतुसकलस्य | १८० | १ |
| दक्षिणाग्निक्वचोमानपर्वस्य | ५५२ | १२ |
| दस्यदानस्यार्थकर्मतायाः | ४०८ | १ |
| दक्षिणस्य मित्यतायाः | ५२० | १ |
| दध्मादिद्रव्यसपसकलस्य | १५८ | ९ |
| दध्मादेर्नित्यनैमित्तिकोभयार्थतायाः | ४९२ | १८ |
| दर्शपूर्णमासयोः त्र्यार्षिकस्यैवाधिकारस्य | ६२९ | २ |
| दर्शपूर्णमासादीनां प्रतिपक्षं इत्यननुष्ठानस्य | ५०५ | १२ |
| दर्शपूर्णमासादीनां सर्वकामार्थतायाः | ५०४ | १४ |
| दर्शादौ कर्त्तव्यनियमस्य | ६२५ | २१ |
| दर्शादौ भेदाद्यादृष्ट्या चोमादृष्टेः | ६५० | ७ |
| दर्शेऽभ्युदयेऽपि नैमित्तिकदेवतापजनयस्य | ७०१ | २ |
| दाद्यायकादीनां मुक्ततायाः | १०९ | ३ |
| दातुर्वापरीष्टेः | २२१ | १७ |
| दिग्निमानस्यानुवादतायाः | २१६ | ५ |
| दीक्षणीयादि-धर्माक्षामग्निष्टोमाङ्गतायाः | २८२ | ८ |
| दीक्षादक्षिणयोः प्रधानार्थतायाः | २९१ | १५ |
| दीक्षादक्षिणावाक्योक्तानामेव ब्रह्मादीनां सप्तदर्शिकस्य | ४०४ | १२ |
| दीक्षापरिम.स्य द्वादशाहलनियमस्य | ७१२ | १२ |
| दीक्षाया इष्टिसिद्धतायाः | ५०८ | १४ |
| दीक्षाकर्त्तव्ये तन्निघमानामयुत्कर्त्तव्यस्य | ७१६ | १ |
| दृष्टमूलकस्युत्प्रमाणास्य | ६८ | ६ |
| देवताभेदद्वयतकर्मभेदस्य | १५७ | १ |
| देवतामन्त्रस्त्रियाक्षामपचारे प्रतिनिध्यभावस्य | ६६० | १७ |
| दैवकर्त्तव्यामुदगयनादिकालतायाः | ७७० | ७ |

| अधिकारणम् । | | श्रुता । | पङ्क्तिः । |
|---|---------|----------|------------|
| द्वैतताद्यवदानेषु पदार्थानुसमयस्य | | ५६१ | ११ |
| द्रव्यगुणविधानस्य नियमार्थतायाः | | ४८२ | २० |
| द्रव्यदेवतायुक्तानां यामान्तरतायाः | | १८१ | १० |
| द्रव्यभेदेऽपि कर्माभेदस्य | | ६५० | १० |
| द्रव्यविशेषानुक्लिप्ततत्कर्मात्म्यस्य | | १५८ | १ |
| द्रव्यसंस्कृ रकर्माणां कालार्थतायाः | | ४८० | २ |
| द्रव्यसंस्कारस्याङ्गप्रधान र्थतायाः | | ४२० | १२ |
| द्रव्यापचारे वैकल्पिकद्रव्यान्तरानुपादानस्य | | ६६० | १ |
| द्वादशइन्द्रानामाध्वर्यवलयस्य | | ४२० | १६ |
| द्वादशोपसताया अग्नीनाङ्गतायाः | | २६६ | ११ |
| द्वादशानस्योभयप्रयोज्यतायाः | | ४१६ | १ |
| धर्मजिज्ञासाप्रतिज्ञायाः (प्रथमसूत्रेण) | | १ | २ |
| धर्मो प्रत्यक्षस्याप्रमाणातायाः (चतुर्थसूत्रेण) | | ६ | १० |
| धर्मो प्रामाण्यस्य परीक्ष्यतायाः (द्वितीयसूत्रेण) | | ६ | ८ |
| धर्मो सत्यस्य (द्वितीयसूत्रेण) | | ३ | २५ |
| धर्मो वेदस्य प्रामाण्यस्य (पञ्चमसूत्रेण) | | ० | १ |
| ध्रुवाभ्यादिभिः सिद्धकदादिशेषानुष्ठानस्य | | ३४२ | २ |
| नर्तुं प्रतीचेदित्यादिना सोमकालबाधस्य | | ५६२ | ८ |
| नामानोजेष्टौ उलूखलादीनां तन्त्रतायाः | | ५६२ | १२ |
| नारिद्वेषोमस्योपशोमपूर्वतायाः | | ५६४ | १३ |
| निमदानां यजुस्त्वस्य | | १२६ | १५ |
| नित्यकर्मासोऽनित्यप्रारब्धकर्मात्म्यं द्रव्यापचारे प्रतिनिधिना समापनस्य | | ६५६ | ६ |
| नित्ये यथाशक्तज्ञानानुष्ठानस्य | | ६५३ | २ |
| निमयनस्य प्रतिपत्तिकर्मातायाः | | ४०० | १ |
| निर्मन्वशाशब्दस्य यौमिकत्वस्य | | ६३ | १ |
| निर्वपनादीनामर्थानुसारेण अवस्थितविषयतायाः | | २११ | १२ |
| निवोतस्य र्थवादतायाः | | ३१२ | २ |
| नैमित्तिकानां वार्हङ्गिरादीनामनित्यार्थत्वस्य | | ४६१ | १ |

| अधिकरणम् । | पृष्ठा । | पङ्क्तिः । |
|---|---------------------|------------|
| नैवारणरोदाधानार्थतायाः | १८६ | ५ |
| पञ्चशरावविर्भाषस्य कर्मान्तरतायाः | १९० | १५ |
| पञ्चशरावयामस्य नैमित्तिकदर्शयामाङ्गतायाः | १९१ | २० |
| पद्मग्रा यावदुक्ताश्रीर्भ्रष्टवर्थादावेवाधिकारस्य | १९० | १० |
| पदार्थप्रावस्यस्य | १८ | १९ |
| पयोन्नतादीनां क्रतुधर्मतायाः | ४९५ | ६ |
| परिक्रीतानाम्बलिनां सङ्क्रान्तिरेषनिवसस्य | १९७ | १ |
| पचयि दित्तादीनामनुवादतायाः | १९७ | १५ |
| पवमानेष्टीनामसंस्कृतेऽग्नौ कर्मव्यतायाः | १७२ | १२ |
| पशुसोमापूर्वतायाः | १५० | १ |
| पन्थेकलादेर्विबन्धायाः | ४४२ | १ |
| पाठक्रमोपेक्षया श्रुतिक्रमस्य बलव्यतायाः | ५८६ | १ |
| पानीवतभ्रमचे इन्द्रादीनामनुपसृष्टस्य | २६९ | ८ |
| पानीवतभ्रमचे चिन्त्रतामनुपसृष्टस्य | २७१ | १६ |
| पानीवतभ्रमचे लघुरनुपसृष्टषीयतायाः | २७० | १८ |
| पिष्टपिष्टवन्नस्यानङ्गतायाः | ४२५ | ९ |
| पिनकर्मणोऽपरपञ्चकाशतायाः | ७७१ | १ |
| पुनराधानं प्रति वक्रानुगमद्वयस्य निमित्ततायाः | ६८९ | १३ |
| पुरोडाशविभागस्य भक्षार्थतायाः | ३२९ | १७ |
| पुरोडाशस्य स्त्रिष्टकद्वयप्रयुक्ततायाः | ४५४ | १ |
| पुरोडाशाभिवासान्तास्य दर्शेऽनपकर्षस्य | ५५२ | ३ |
| पूतिकस्य सोमप्रतिनिधिबलस्य | ६६८ | १० |
| पौष्यपेषस्य चरावेव निवेशस्य | ३०६ | ३ |
| पौष्यपेषस्य विहंतौ विनियोगस्य | ३०५ | १० |
| पौष्यपेषस्यैकदेवस्यो निवेशस्य | ३०७ | १४ |
| प्रकरस्य विनियोजकतायाः | २८२ | १७ |
| प्रजापतिव्रतानां पुत्रवार्थतायाः | ४२९ | १ |
| प्रतिज्ञायाः | २०८ १ । ४२५ २ । ४४८ | १० |
| प्रतिनिधिना प्रारब्धे कर्मणि श्रुतद्रव्यसामेऽपि प्रतिनिधिनैव समापनस्य | ६७१ | १ |

| अधिकरणम् । | पृष्ठा । | पङ्क्तिः । |
|---|----------|------------|
| प्रतिनिधिव्यपि मुख्यधर्मानुष्ठानस्य | २८२ | २० |
| प्रतिनिधयश्चारे उपानद्रथसदृशस्य पुनः प्रतिनिधिलस्य | ३६९ | ८ |
| प्रतिनिधकर्त्तृशामनुष्ठानेऽनिष्टापातस्य | ३४४ | १६ |
| प्रतिनिधिरन्वस्य प्रतिनिधिलाभावस्य | ३६२ | १९ |
| प्रतिज्ञेने सायमग्निहोत्रप्रवृत्त्यारभस्य | ३१८ | १५ |
| प्रथमादीनां निवृत्त्यामुपसदां स्वस्थानादग्रेः | ५६९ | ४ |
| प्रधानकर्त्तृत्वस्य | ११४ | ९ |
| प्रधाननिर्व्वाचकत्वे अत्रनिर्व्वाचापर्याप्तस्यापि मुख्यस्योपादानस्य | ३०२ | १८ |
| प्रयाजादीनाम् एकादशादिसङ्ख्यायाः सर्वसम्याद्यतायाः | ५६८ | १ |
| प्रयोगवचनान् चोदकस्य बलवत्त्वस्य | ५४० | ० |
| प्रयोजनायोग्यस्य मुख्यस्य सन्नेऽपि प्रतिनिधादानस्य | ३०२ | ३ |
| प्रवर्गनिषेधस्य प्रथमप्रयोगविषयतायाः | ३०४ | ३ |
| प्रवृत्त्या मोक्षसादीनां सैमिकपूर्वभावितायाः | ५५० | १९ |
| प्राक्तनपुरोडाशादीनां निधानस्य | ४२९ | १९ |
| प्राग्भेदादिशब्दानां स्युत्यर्थायाः | १०५ | १ |
| प्राथमिकशेषान् स्विष्टकृदाद्यनुष्ठानस्य | ३२९ | ५ |
| प्रासनस्य प्रतिपत्तिकर्त्तृतायाः | ४३९ | १९ |
| प्रोक्षणादिपदानां सैमिकतायाः | ९५ | ९ |
| प्रैषप्रैषार्थयोः प्रयत्नार्थायाः | ४२३ | १ |
| प्रैषप्रैषार्थयोः यथाक्रममाध्वर्यवः प्रीभ्रतायाः | ४२४ | ५ |
| फलचमसस्य द्रव्याविकारतायाः | ३६२ | ५ |
| बाहुलेन दृष्टिव्यपदेशस्य | १०४ | ६ |
| ब्राह्मणनिर्व्वचनस्य | १२० | १ |
| ब्राह्मणपाठान् मन्त्रपाठस्य बलीयस्य | ५४६ | १६ |
| ब्राह्मणस्यापोष्टिसेनायोः पौर्वापर्याजियमस्य | ५९० | १ |
| ब्राह्मणानामेव राजन्यचमसानुपसर्पणस्य | ३६४ | ११ |
| भस्मसेनवषट्कारदेवताया अमुपसर्पणस्य | २०३ | १८ |

अधिकारकम् ।

| | पृष्ठा । | पङ्क्तिः । |
|--|----------|------------|
| भक्षमन्त्राणां यथास्तिङ्गं ग्रहणादौ विनियोगस्य | २६२ | १ |
| भक्षस्यानुज्ञापूर्वकत्वस्य | २४८ | ८ |
| भिन्नकल्पयोरपि रात्रः पुरोहितस्य च कुक्षाययज्ञेऽधिकारस्य | ०२० | २१ |
| भूक्तः | १०४ | ६ |
| भेदनादिनिमित्तकसोमस्य दर्शपूर्णमासाङ्गतायाः | ०१९ | १३ |
| मन्त्रनिर्वचनस्य | १२५ | १४ |
| मन्त्रस्त्रिंशस्य | ५५ | ५ |
| मन्त्राभिमूर्तिरित्यादेः भक्षयामीत्यन्तस्य एकशस्त्रतायाः | २६४ | २१ |
| मन्त्राविधायकत्वस्य | १२४ | १५ |
| मन्त्रवहासःसंवादनविधेयस्य पुरुषधर्मातायाः | २२५ | १२ |
| मानोपावहरणादीनां सोममात्रधर्मातायाः | २८१ | १ |
| मासाग्निहोत्रादीनां ऋत्विज्यतायाः | १९० | ० |
| मुष्णक्रमेणाग्नेयस्य पूर्वमवदानाद्यनुष्ठानस्य | ५८० | १ |
| मुष्णापचारे तत्प्रार्थौ तस्यैवोपादानस्य | ६०० | ११ |
| मुष्टिकपञ्चादीनां समुदायानुसमयस्य | ५५८ | १३ |
| मुष्टीकरणादीनां कृत्तप्राकरविक्रान्तायाः | २२९ | ९ |
| सोमप्रसिद्धार्थप्रामाण्यस्य | ०१ | ४ |
| यजमानशब्दस्य प्रचारादिस्तुत्यर्थायाः | १०० | ११ |
| यजुर्होत्रस्य | १२९ | ९ |
| यज्ञानामग्निहोत्रमपूर्वकतायाः | ५८१ | १५ |
| यज्ञायुधानामनुवादतायाः | ४४१ | ५ |
| यामस्वरूपनिरूपणस्य | ४८२ | १४ |
| यानादिकर्माणां खर्गादिफलसाधनतायाः | ५९८ | १ |
| यानादिषु मनुष्यस्यैवाधिकारस्य | ६०४ | ८ |
| यानादिषु स्त्रीपुंसोत्सवयोरधिकारस्य | ६०० | १० |
| यामेऽङ्गहीनस्याधिकारस्य | ६२८ | १ |
| यामे दम्पत्योः सहाधिकारस्य | ६१२ | ११ |
| यामे निर्घनस्याधिकारस्य | ६२० | ४ |

| अधिकारम् । | प्रका । | पङ्क्तिः । |
|--|---------|------------|
| याने शुद्धस्थानधिकारस्य | ६९१ | १६ |
| याजमानसंस्काराणां स्वप्नप्रतिभोक्तान् पूर्वभावितायाः | ६६६ | १८ |
| यावज्जीविकाग्निहोत्रस्य | १८४ | ९ |
| सूपादिशब्दानां यजमानस्तुत्यर्थतायाः | १०३ | ८ |
| यौगपद्येऽदाचिन्सर्वसंज्ञदाचिन्प्राविकल्पस्य | ७९९ | ३ |
| रश्मिवाचिहन्नादीनां सर्वप्रशुभकर्मतायाः | ३०८ | १३ |
| रश्मनायाः सूपाङ्गतायाः | ५९० | ७ |
| राजसूयेभ्यानां विदेवनासन्नकलस्य | ३१६ | १ |
| रात्रिसत्रस्यार्थनादिकपञ्चकलस्य | ५०१ | ६ |
| सर्वप्रकारकर्मन्नाद्यां मुखे विनियोगस्य | ९४९ | १ |
| शिङ्गस्य विवक्षितत्वस्य | ४४६ | ७ |
| शोकम्युक्तान् पूर्व विचिन्विष्यासुपधानस्य | ५०५ | १० |
| शोकवेदयोः शब्दैक्यस्य | ७८ | १० |
| शोचितोष्णीपतादीनां सर्वत्रिंशत्कर्मतायाः | ४१६ | ३ |
| वत्सालभादीनां संस्कारतायाः | १८४ | ११ |
| वपनादिसंस्काराणां याजमानतायाः | ४१९ | १ |
| वर्षिंरादिशब्दानां आतिवाचितायाः | ८४ | ५ |
| वर्षिंरादीनां दर्शपौर्णमास-तद्भोजनभयाङ्गतायाः | ३८० | १ |
| वर्षिणः आतिव्यादिसाधारणस्य | ४८५ | १ |
| वर्षिणेत्यादियुगेः व्रतकाण्डविधानार्थतायाः | ६८४ | १८ |
| वर्षिणेत्यासुक्तकाण्डस्य सन्नयदसन्नयदुभयसाधारणतायाः | ६८६ | २० |
| वषट्करणस्य भक्षनिमित्ततायाः | ३५५ | १९ |
| वषट्कर्त्तृदीनां अग्रे सोमभक्षस्य | ३५६ | १० |
| वह्निष्यवमाने आग्नन्तूनां पर्यासोत्तरकाण्डतायाः | ५०१ | १९ |
| वह्निष्यवमाने आग्नन्तूनां सान्नां मध्ये निवेशस्य | ५०९ | १८ |
| वाक्यभेदस्य | १३९ | १० |
| वाक्यशेषेण सन्दिग्धार्थनिरूपणस्य | १०५ | ११ |

अधिकारम् ।

| | पृष्ठा । | पङ्क्तिः । |
|---|----------|------------|
| वाजपेयपशुनां सर्वेषामेकदोषाकरणादिकर्मानुष्ठानस्य | ५५० | १ |
| वाजपेयादिशब्दानां मासधेयतायाः | ८१ | १२ |
| वारवैकृत्यादिपाचाणां कृत्स्नयामनुष्ठानतायाः | २३६ | २० |
| वारवन्तीयादीनां कर्मान्तरतायाः | १६२ | १ |
| वार्धक्याद्यनुवाक्यानामाव्यभानानुष्ठानतायाः | २३८ | ६ |
| विद्वत्सप्तदशसामधेयोषु वर्षत्रयाधिकारस्य | ०१० | १ |
| विद्वत्तानामैन्द्रादीनां सप्तशकलतायाः | ५८५ | १ |
| विद्वत्तौ कश्चित् प्रकृतिधर्मानतिदेशस्य | ५४८ | ० |
| विदेवनस्य कृत्स्नराजस्ययाज्ञतायाः | ५१० | ८ |
| विदेवनादीनामभिषेकपूर्वतायाः | ५६५ | १८ |
| विधिवग्निदहस्य | ५० | १ |
| विधुतिपवित्रयोः परिभोजनीयवर्षिणा कर्तव्यतायाः | ४२८ | ३ |
| विश्वजिति आद्यादीनामभेदयतायाः | ०४४ | ५ |
| विश्वजिति दक्षिणाकाले विद्यमानानामेव सर्वस्वानां देयतायाः | ०४६ | ८ |
| विश्वजिति दक्षिणाकालोत्तराङ्गानामनुष्ठानस्य | ०४० | १ |
| विश्वजिति द्वादशग्रहतन्मूलधनस्याधिकारस्य | ०५० | १ |
| विश्वजिति धर्मार्थसेवकशुभ्रस्याभेदयतायाः | ०४५ | २१ |
| विश्वजिति पित्रादीनामभेदयलस्य | ०४२ | १ |
| विश्वजिति प्रथिवा अदेयलस्य | ०४३ | १२ |
| विश्वजिति विद्यमानानामेव सर्वस्वानां दामस्य | ०४४ | १५ |
| विश्वजिदादीनां सप्तशकलस्य | ४८६ | १ |
| विश्वजिदादीनां सर्वशकलतायाः | ५०० | १० |
| विश्वजिदादीनामेकशकलतायाः | ४८८ | १८ |
| दृष्टिकामनाया याजमानतायाः | ४१० | १ |
| वेदस्य अपौरुषेयतायाः | ३४ | १ |
| वेदस्य अर्थप्रत्यायकतायाः | ३२ | ६ |
| वैद्वन्धूपकर्मानुष्ठानापकर्षस्य | ५५१ | २० |
| वैदिकपानशापदि सौमन्द्रचरविधानस्य | ३३३ | १८ |
| वैदिकवचनेनामुष्णपानस्य | २५८ | १६ |
| वैदिकवाक्येन प्रतिवचनस्य | २५८ | ३ |

| अधिकरणम् । | | | | श्लो । | पङ्क्तिः । |
|---|----|----|----|--------|------------|
| वैदिकाश्चप्रतिपद्ये इष्टिकर्णव्यतायाः | .. | .. | .. | ३२९ | १० |
| वैश्वधादेः पौरुषमास्याश्चङ्गतायाः | .. | .. | .. | ५०८ | १७ |
| वैश्वदेवादिशब्दानां नामधेयतायाः | .. | .. | .. | ९६ | १० |
| वश्वानरस्य नैमिषिकत्वस्य | .. | .. | .. | ५२१ | २० |
| वैश्वानरेऽष्टलाघर्षवाद्गतायाः | .. | .. | .. | ९७ | १६ |
| वैश्वानरेष्टेः पुत्रगतफलकत्वस्य | .. | .. | .. | ५११ | ८ |
| वैश्वानरेष्टेर्जातकर्षोपाशकास्ततायाः | .. | .. | .. | ५१३ | २ |
| व्यवेताननुपङ्गस्य | .. | .. | .. | १३६ | ११ |
| व्यापद्गशब्दार्थनिर्णयस्य | .. | .. | .. | ७२० | १९ |
| श्लोकोद्धृतयोः पश्चात्प्रयोक्तृत्वस्य .. | .. | .. | .. | ४५३ | ७ |
| शतसहस्रसंवल्लरशब्दस्य सप्तसदिनपरतायाः | .. | .. | .. | ७५५ | १८ |
| शब्दस्य नित्यतायाः | .. | .. | .. | २४ | १२ |
| शमितुरग्रथङ्गस्य | .. | .. | .. | ४०० | ४ |
| शाखाप्रहरकस्य प्रतिपत्तिकर्मातायाः | .. | .. | .. | ४७४ | २० |
| शाखाया आहार्यतायाः | .. | .. | .. | ४७२ | १ |
| शाखाहरकादीनामुभयदोषधर्मातायाः | .. | .. | .. | ३७७ | १ |
| शाकप्रसिद्धपदार्थप्रामाण्यस्य | .. | .. | .. | ७० | ३ |
| शेषलकारकसहितशेषलक्ष्यस्य | .. | .. | .. | २०८ | ८ |
| शेषलक्ष्यस्य | .. | .. | .. | २०९ | ७ |
| श्लोकात्मपेयधोरनेककण्ठकतायाः | .. | .. | .. | ४१० | १३ |
| श्लोकाङ्गानां भवनीताव्यतायाः | .. | .. | .. | ४३१ | ३ |
| श्लोकादिशब्दानां धामनामधेयतायाः | .. | .. | .. | ९० | १९ |
| श्रुतद्रव्यापचारे तत्सदृशस्यैव प्रतिनिधित्वस्य | .. | .. | .. | ६६६ | ७ |
| श्रुतस्यापि प्रतिनिधेरपचारे उपानसदृशस्य पुनःप्रतिनिधित्वस्य | .. | .. | .. | ६६९ | २० |
| श्रुतिप्राबल्यस्य | .. | .. | .. | ६६ | ६ |
| श्रुतेर्बलीयस्त्वस्य | .. | .. | .. | ५१७ | १ |
| श्रुतेष्वपि प्रतिनिधिषु मुख्यधर्मानुष्ठानस्य | .. | .. | .. | ३८२ | २१ |
| श्रुत्यादीनां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वस्य | .. | .. | .. | २८४ | १५ |

| अधिकारकम् । | | पृष्ठा । | पङ्क्तिः । |
|---|-----|----------|------------|
| बह्मशास्त्रितेर्निमित्तकत्वस्य | ५२२ | २१ | |
| बौद्धश्रमंस्तु प्रातरग्निहोत्रप्रभृत्यनुष्ठानस्य | ७१८ | ५ | |
| संस्काराकृतकर्म्मभेदस्य | १५२ | २१ | |
| संज्ञाकृतकर्म्मभेदस्य | १५५ | १४ | |
| सत्यपि संस्कारयोग्येऽनुष्ठे मुख्यस्यैवोपादानस्य | ६०१ | १४ | |
| सत्वाय प्रवृत्तमात्रस्य विश्वजितः | ७११ | ७ | |
| सत्वायानूर्थाप्रवृत्तस्य विश्वजिदावश्यकतायाः | ६८३ | ६ | |
| सत्वे आदिताग्रेरेवाधिकारस्य | ७२० | १ | |
| सत्वे कस्यचित्त्वान्निर्देशपचारे प्रतिनिध्यादानस्य | ६६४ | १ | |
| सत्वे प्रतिनिहितस्य यजमानधर्मापाहिलस्य | ६६५ | १८ | |
| सत्वे प्रतिनिहितस्यास्त्रामित्तस्य | ६६४ | १७ | |
| सत्वे प्रत्येकस्य सचिह्नः फलसम्बन्धस्य | ६२४ | १ | |
| सत्वे ब्राह्मणमात्रस्य अधिकारस्य | ७२२ | १७ | |
| सत्वे विश्वामित्रतत्समानकल्पानामेवाधिकारस्य | ७२५ | १८ | |
| सत्वे समानकल्पानां रुचाधिकारस्य | ७२६ | १ | |
| सम्पर्दनस्य संस्थानिवेशस्य | ७०१ | ६ | |
| सम्प्रयत्सम्प्रयद्भयस्यैवाभ्युदये प्रायश्चित्तस्य | ७१० | १ | |
| सम्प्रदशरत्नतायाः पशुधर्मातायाः | २३२ | १ | |
| समाख्यायात्कर्तृत्वस्यापि क्वचिद्वाचस्य | ४०७ | ८ | |
| समाख्याया विनियोजकतायाः | २८४ | ४ | |
| समानयनस्याव्यधर्माप्रयोजकतायाः | ४३० | १ | |
| समिदास्यपूर्वभेदस्य | १२८ | ६ | |
| समुच्चितयोरनुबचनप्रैषयोर्मैत्रावरुणकर्तृत्वत्वस्य | ४०८ | ५ | |
| सम्पार्जनादीनामप्रधानतायाः | ११५ | ४ | |
| सर्वशृष्टेष्टैः स्त्रिष्टकदिदादीनां सक्तदनुष्ठानस्य | ३४७ | १० | |
| सर्वशास्त्राप्रत्ययैककर्मातायाः | १८७ | ७ | |
| सर्वशेषैः श्रिष्टकदनुष्ठानस्य | ३२८ | १ | |
| सर्वेषां ग्रहादीनां सम्पार्गादेः | २२४ | २० | |
| सर्वेषामेकानेकशोभकानामग्निष्टोमपूर्वकतायाः | ५८४ | ८ | |

| अधिकरणम् । | पृष्ठा । | पङ्क्तिः । |
|---|----------|------------|
| सर्वेषामेव श्लोकाङ्गानां नवनीताव्यतायाः | ४२२ | ६ |
| सवनीयानां मांसमद्यतायाः | ४२३ | ३ |
| सह शब्दधेत्यस्य कालविधयार्थतायाः | ६८० | २१ |
| सहस्रसंवत्सरस्य सहस्रदिनपरतायाः | ७५५ | १८ |
| सहस्राक्षप्रतिपदस्यैकैकस्य एकदा सर्वधर्मानुष्ठानस्य | ५५८ | ८ |
| साकंप्रस्थाय्ये श्रेषकर्मामनुष्ठानस्य | ३५६ | १ |
| सादनदीनां सवननयधर्मतायाः | ३०० | २१ |
| साधुपदप्रयुक्तेः | ३६ | १ |
| सान्प्रनीयाया अग्निहोत्रानुत्कर्षकतायाः | ५५३ | १५ |
| सामर्थ्यानुसारेण अव्यवस्थितानां व्यवस्थायाः | १०६ | १२ |
| सामस्त्यस्य | १२८ | १ |
| सामान्यनृत्तिकल्पनायाः | ७३ | ११ |
| सामिधेनीनां सप्तदशसंख्यायां विहृतिगमितायाः | ३६८ | ८ |
| सामिधेनीषु आगन्तूनामन्ते निवेशस्य | ५६८ | १८ |
| सामिधेनीमादीनां दीक्षणीयपूर्वप्रयोगस्य | ५६६ | ८ |
| सुवर्षचारकादीनां पुरुषधर्मत्वस्य | ३२६ | ८ |
| सूक्तवाकस्य प्रस्तरप्रहरकाङ्गतायाः | २५२ | १ |
| सूक्तवाकानामर्थानुसारेण विनियोगस्य | २५४ | ५ |
| सोमविकाराणां दर्शपूर्णमासात् पूर्वकर्तव्यतायाः | ५८६ | १८ |
| सोमविश्रुतः प्रयत्नस्य | ४०१ | १२ |
| सोमात्साम्नाय्यविकारादीनामुत्कर्षस्य | ५८६ | ३ |
| सोमादीनां दर्शपूर्णमासोत्तरकालात्तदेः | ५१० | १२ |
| सोमे श्रेषभस्य | ३४८ | १३ |
| सौवामण्यां श्रेषकर्मामनुष्ठानस्य | ३५६ | ११ |
| सौवामण्यादीनामद्ययनाद्यङ्गतायाः | ५०० | २१ |
| सौवामण्याद्यङ्गानां सूक्तासकर्मत्वतायाः | ५१४ | ३ |
| सौभरनिधनयोः कामैक्यस्य | १६५ | ११ |
| सौमिकवेशादीनामङ्गप्रधानोभयाङ्गतायाः | ३८८ | १६ |
| सौमेन्द्रचरोर्ध्वजमानपानव्यापद्विषयतायाः | ३३४ | २१ |
| सौम्यादीनामुपसक्तालकत्वस्य | ५१८ | १ |

मीमांसाद्वयत्राणाम्

पूर्वार्धस्य

अक्षरावुसारि

सूचीपत्रम् ।

—००७००—

| सूत्रम् | पृष्ठः | सूत्रम् | पृष्ठः |
|---|--------|--------------------------------------|--------|
| अकर्षं क्रतुसंयुक्तं संयोगान्नित्यानुवादः | ११८ | अचोदकाश्च संस्काराः | १५१ |
| अकर्षं चोद्देशमाधानात्समवायो | ७६६ | अचोदना गुणार्थेन | १०६ |
| अकर्षार्थि साप्रत्यवाचात् | ६५७ | अचोदितं च कर्मभेदात् | १२१ |
| अकर्षत्वात् नैवं स्यात् | ६२० | अतत्संस्कारार्थत्वाच्च | ६६६ |
| अकार्यत्वाच्च ततः पुनर्विशेषः | ७४४ | अतद्गुणत्वात् नैवं स्यात् | ७४६ |
| अनुषास्य कर्मचोदना | १०६ | अतद्विकारश्च | ५७२ |
| अनुषे तु कर्मशब्दे नुष्पञ्चनं प्रतीयेत | १५८ | ,, | ७२० |
| अग्निषु चिह्नदर्शनात् क्रतुशब्दः | १८६ | अतुल्यत्वात् नैवं स्यात् | २७२ |
| अग्नेः कर्मत्वनिर्देशात् | ५७८ | अतुल्यत्वात् वाक्ययोर्नुष्पे तस्य | १६० |
| अग्रजन्मप्रकरणे तद्वत् | २८० | अतुल्यत्वात्समानविधानाः स्युः | ४१४ |
| अङ्गवत् क्रतूनामानुपूर्वं | ५८० | अद्यार्थेयस्य दानं स्यात् | ६२६ |
| अङ्गविधिर्वा निमित्तसंयोगात् | ६६२ | अद्यातः क्रतुर्थपुरवार्थयोर्जिज्ञासा | ४२३ |
| अङ्गदीनश्च तद्दर्शनात् | ६२८ | अद्यातः श्रेयसाद्यत्वात् | २०८ |
| अङ्गानां मुख्यकाशलाद्ययोक्तृ | ५५० | अद्यातो धर्मजिज्ञासा | १ |
| अङ्गानामुपघातसंयोगो निमित्तार्थः | ५१२ | अद्यान्येनेति संख्यानां सन्निधानात् | ५८२ |
| अङ्गे नुष्पत्वात् | ५०२ | अद्रव्यत्वात् केवले कर्मशेषः स्यात् | १८८ |
| अङ्गेषु स्मृतिः परार्थत्वात् | ५०२ | अद्रव्यत्वात् शेषः स्यात् | २२६ |
| अचेतनेऽर्थवन्वनात् | ५७ | अद्रव्यशब्दत्वात् | ८० |

| सूत्रम् | पृष्ठः | सूत्रम् | पृष्ठः |
|---------------------------------------|--------|--------------------------------------|--------|
| अदिवचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात् | २०२ | अनुप्रसर्पिषु सामान्यात् | १६४ |
| अधिकं वा प्रतिप्रसवात् | ७५० | अनुमानव्यवस्थानात्संयुक्तं | ७२ |
| अधिकं वा स्याद्दृष्टत्वाद्दितरेषां... | ७५२ | अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः सर्वेषु ... | १२४ |
| अधिकारे च मन्त्रविधिरतदाख्येषु | २५८ | अन्ते तु वादरायणस्यैषां प्रधानं.. | ५६५ |
| अध्वर्युर्वा तदर्थो हि न्यायपूर्वः .. | ४२१ | अन्ते तत्तद्योर्दध्यात् | ५०२ |
| अध्वर्युर्वा तदग्रायत्वात् | ४०९ | अन्ते वा तदुक्तम् | ५०२ |
| अध्वर्युस्तु दर्शनात् | ४२४ | अन्ते स्युरव्यवायात्.. .. | ५०४ |
| अनन्तरं प्रसं तद्गु तलात् | ५०६ | अन्यमरेकार्थं | २४५ |
| अनपेक्षत्वात् | २१ | अन्ययोर्यथोक्तम् | ४९ |
| अनर्थकश्च तद्वचनम् | १२२ | अन्नप्रतिषेधाच्च | २२६ |
| अनर्थकान्नित्यं स्यात् | ७०२ | अन्यदर्शनाच्च | ८० |
| अनर्थकस्य कर्मसंयोगे | ६९६ | अन्यस्यार्थः प्रतीयते | १२४ |
| अनर्थकस्य सर्वनामरे स्यात् | ६८० | अन्यस्य स्यादिति चेत् | ६२८ |
| अनर्थकस्योपदेशः स्यादसम्भवात् | २६१ | अन्या अपीति चेत् | ७१४ |
| अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाज्जातेषु ... | १२८ | अन्यानर्थक्यात् | ४१ |
| अनित्यत्वात् तु नैव स्यात् | १९६ | अन्यायदानेकरव्यत्यम् | ७७ |
| अनित्यत्वात् नैव स्यादर्थो हि .. | ६२७ | अन्यार्था वा पुनः-वृत्तिः | १९२ |
| अनित्यदर्शनाच्च | २६ | अन्यार्थेनाभिसम्बन्धः.. .. | ६२९ |
| अनित्यसंयोगात् | ४२ | अन्येन चैतच्छास्त्रादि कारकप्राप्तिः | ६८२ |
| अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् ... | ५८ | अन्येनापीति चेत् | ७२८ |
| अनियमोऽन्यत्र | ५४० | अन्यो वा स्यात् परिज्ञप्ताम्ना... .. | २९६ |
| अनियमो नार्थान्तरत्वादन्यत्र ... | ७०६ | अपदेशो वा अर्थस्य विद्यमानत्वात् | ३१३ |
| अनियमोऽविशेषात् | ७५२ | अपमयस्त्वे कदेशस्य विद्यमान ... | ४२९ |
| अनियमोऽभ्युदिते प्राकृतीभ्यो ... | ७०७ | अपनयाद्वा पूर्वस्य अनुपलब्धकम् | २६८ |
| अनुपहाच्च जीहवस्य | ४६३ | अपनयो वाधानस्य सर्वकालत्वात् | ५९२ |
| अनुपहाच्च पादवत् | ७५० | अपनयो वा प्रवृत्त्या यद्येतरेषां ... | ७०५ |
| अनुपगतौ तु कालः स्यात् | ५०९ | अपनयो वा विद्यमानत्वात् | ७०२ |

| सूत्रम् | पृष्ठः | सूत्रम् | पृष्ठः |
|------------------------------------|--------|------------------------------------|--------|
| अपराधात् कर्तुं च पुनर्दर्शनम् ... | ४८ | अपि वा लौकिकोऽन्यौ | ७१८ |
| अपराधेऽपि च तैः प्राक् .. | ६४२ | अपि वा वेदतुल्यात्प्रायेण .. | ६४७ |
| अपरिमिते सिद्धस्य सङ्गप्रतिषेध | ७५१ | अपि वा वेदनिर्देशादप्यत्राद्यां.. | ६२४ |
| अपहतोऽनु बोधना तन्वामान्यात् | ५१४ | अपि वाऽवतिरेकाद्भूषणव्या .. | ६५७ |
| अपि बोधप्रतिसंयोगो यथा ज्ञात् | ६२५ | अपि वा शेषकर्म ज्ञात् क्रतोः .. | ७४७ |
| अपि वा कर्तुं सामान्यात्प्रमाद्यमठ | ६५ | अपि वा शेषभाजां ज्ञात् | ६०५ |
| अपि वा सामसंयोगे सम्बन्धात् ... | ६२८ | अपि वा श्रुतिभेदात् | ६८७ |
| अपि वा कारकापचयेऽतदर्थमर्थ | ४४० | अपि वा श्रुतिसंयोगात् प्रकरणे... | १२२ |
| अपि वा कारकापचये प्रयुक्तानि.. | ६९ | अपि वा सद्द्वितीये स्थाप्येवता ... | ६०८ |
| अपि वा कालमात्रं स्याददर्शना | ५१८ | अपि वा सर्ववर्षाः स्यात् | ७३ |
| अपि वा कालसंयोगाद्विधानतः | ७२० | अपि वा सर्वसङ्गत्वाद्दिकारः .. | ५६८ |
| अपि वा कालसंयोगादेकस्यैव.. | ७५८ | अपि बोत्पत्तिसंयोगादर्थसम्बन्धो | ४८६ |
| अपि वा क्रमत्वादादनादिनाद्ये .. | ७६३ | अपूर्वत्वाद्द्विधानं ज्ञात् | ७०३ |
| अपि वा क्रमकारणसंयुक्ताः सप्तः.. | ५४८ | अप्रकरणे तु तदर्थसंयोगो | २२६ |
| अपि वा क्रमसंयोगोऽद्विधिसंयुक्त | १०७ | अप्रकृतत्वाच्च | १४७ |
| अपि वा गायत्रीद्वयत्वरुपसुत्... | ५०३ | अप्रयोजकत्वादेकज्ञानं त्रिधेरन्... | ६२८ |
| अपि वाङ्मनिष्ठाः स्युस्ततो .. | ५१७ | अप्रकृतने हि संयोगः तत्स्थानीय | ७०९ |
| अपि वाङ्गानि काचित् येष्वत्र .. | ५२० | अप्रज्ञा ज्ञातुपत्तिः प्रथमे हि .. | ४५ |
| अपि वा तद्विकारान्मनुष्यधर्मः | ७५६ | अभिगतिप्रतिषेधाच्च | ४२ |
| अपि वा द्विरुक्तत्वात् प्रकृते .. | ६८५ | अभावदर्शनाच्च | ४५८ |
| अपि वा नामधेयं स्यात् | ८६ | अभावाच्चेतरस्य स्यात् | ७०९ |
| अपि वाङ्मात्रि पाचानि | ७२९ | अभिघारणे विप्रकर्षाद्दुयाजवत् | ४५६ |
| अपि वा न्यासदर्शनात् यथाश्रुति | ६२३ | अभिधानञ्च कर्मवत् | १२४ |
| अपि वाऽप्येकदेशे स्थाय प्रधाने .. | ६५४ | अभिधानेऽर्थवादः | ६२ |
| अपि वा प्रयोगसामर्थ्यात् | १२५ | अभ्यासोऽकर्म शेषत्वात् पुद्गलार्थो | ६४८ |
| अभिवाज्जानसामर्थ्याबोधनार्थेन .. | ४९८ | अभ्युदये कालापरामादिव्या .. | ७०१ |
| अपि वाऽर्थस्य प्रकृतत्वात् | ६७३ | अभ्युदये कालापरामादिव्या .. | ५८९ |

| सूत्रम् | पृष्ठः | सूत्रम् | पृष्ठः |
|--------------------------------------|--------|--------------------------------------|--------|
| अयनेषु षोडशान्तरं संज्ञोपबन्धात् | १७८ | अर्थभिधानसामर्थ्यात्मन्त्रेषु ... | १४३ |
| अर्थकर्म वा कर्तृसंयोगात् खलत् | ४०८ | अर्थासन्नियेष | १०२ |
| अर्थकर्म वाभिधानसंयोगात् .. | ४८० | अर्थेन च समवेतत्वात् | ६११ |
| अर्थकृते वातुमानं स्यात् ऋत्वेकले | ५४१ | अर्थेन त्वपहृथेत देवतानाम् ... | ११८ |
| अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो द्रव्याभावे .. | ६०२ | अर्थेनेति चेत् | ३७५ |
| अर्थसोपादकर्म स्यात् | २१९ | अर्थेऽपीति चेत् | ४७६ |
| अर्थवदिति चेत् | ६७० | अर्थे समवैषम्यतो द्रव्यकर्मत्वान्... | ४४८ |
| अर्थवादस्य तदर्थवत् | ३२८ | अर्थकलादेकं वाक्यं साक्षात्... | १२१ |
| अर्थवादस्य तद्वत् | ७५३ | अथकले द्रव्यमुक्तयोरैकं | ११५ |
| अर्थवादोपपत्तेः | १८५ | अथकीर्षिपशुस्य | ७६८ |
| " " | ५२४ | अथचनाच्च समस्यस्य... .. | ६८६ |
| अर्थवादो वा | ६० | अथगत्वाच्च जुष्टां तस्य च | २४४ |
| अर्थवादो वा अनुपपत्तात् | ३३० | अथदानाभिचारवासादाने... | ५८७ |
| अर्थवादो वा अर्थस्याविद्यमानत्वात् | ५७७ | अथाकशेषाच्च | ७२ |
| अर्थवादो वा प्रकरणात् | ३१५ | अविज्ञेयात् | ५८ |
| अर्थवादो वा विधिः | ७५५ | अविद्यमानवचनात् | ५७ |
| अर्थविप्रतिषेधात् | ५७ | अविभागाच्च शेषस्य | ३४७ |
| अर्थसमवायात् प्रायश्चित्त | ६७७ | अविभागात् कर्मज्ञा... .. | १८६ |
| अर्थस्य विधिशेषत्वात् तथा लोके | ५४ | अविभागाद्भिधानार्थे सुत्यर्थे .. | ८८ |
| अथस्य अपवर्गित्वादेकस्यापि ... | ६५५ | अविषयं परम् | ६० |
| अर्थाच्च | १३० | अविमिष्टन्तु कारचं प्रधानेषु ... | ५७१ |
| " " | ५३८ | अविमिष्टस्य वाक्यार्थः | ५८ |
| अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात् | १०६ | अविशेषान्तु ब्राह्मस्य यथान्तुति ... | ४४० |
| अथानाच्च विभक्तत्वात् | ७३१ | अविशेषान्तु सुति-अर्थेति चेत् ... | ३०६ |
| अथापरिमाणाच्च | ६८५ | अवेयत्वाद्भावः कर्मणि स्यात् ... | ६२६ |
| अर्थाभावान्तु नैवं स्यात् | ७३१ | अवेष्टौ यज्ञसंयोगात् ऋतु ... | १७२ |
| अर्थाभिधानकर्म च भविष्यता ... | ४५९ | अथवायाच्च | ५५४ |

| सूच्यम् | पृष्ठः | सूच्यम् | पृष्ठः |
|--------------------------------------|--------|---------------------------------------|--------|
| अशक्तौ ते प्रतीयेरन् | ४१० | आग्नेयवत् पुनर्वचनम् | १०१ |
| अशब्द इति चेत् स्याद्वाक्य ... | ५४१ | आग्नेयमूक्तचेतुत्वाद्भ्यासेन प्रतीयेत | १८२ |
| अशब्दमिति चेत् | ६६० | आचाराग्निहोदमरूपत्वात्... .. | १४६ |
| अश्रास्त्रस्य च अलाच | ३८३ | आचाराङ्गुष्ठमानेषु तथा स्यात् .. | ६५० |
| अश्रास्त्रा नूपसम्प्राप्तिः शाकं ... | ६४४ | आप्यमपीति चेत् | ५८४ |
| अश्वेषं तु समञ्जसादानेन... .. | ७४७ | आज्याश्च सर्वसंयोगात् | ३४२ |
| अश्वेषत्वात् तदनाः स्यात् कर्मणो... | ७४७ | आज्ये च दर्शनात् सिद्धदर्थवादस्य | ३४३ |
| अश्वेषत्वात् नैवं स्यात् सर्वादानात् | ३४३ | आतश्च नाभ्यासस्य दर्शनात्.. ... | ७०२ |
| असंयुक्तं प्रकरणादिनिकर्तव्यतायै | २८२ | आदाने करोतिशब्दः | ४६८ |
| असंयोगात् मुञ्जस्य तस्यादप ... | १८० | आदित्यवयौनपस्यन्... .. | १० |
| असंयोगात् नैवं स्यात् विधेः ... | ६५६ | आदेभ्यश्चेतरा ऋतिः.. .. | ७१२ |
| असंयोगात् वैकृतं तदेव प्रतिहृष्येत | ५५१ | आधानञ्च भार्यासंयुक्तं | ७६६ |
| असम्बन्धात् नोत्कर्षेत् | ५५४ | आधानेऽपि तथेति चेत् | ४३१ |
| असाधकत्वात् तादर्थ्यात् | ६०१ | आधाने सर्वशेषत्वात् | १०५ |
| अस्थानात् | २४ | आनन्तर्यग्रमघोदना | २३८ |
| अस्याश्च सर्वसिद्धानि | ७१५ | आनन्तर्यग्रात् तु चैत्री स्यात् ... | ७१३ |
| अहमेवे च तद्वर्णा स्यात् | ७४८ | आनर्थक्यं च संयोगात् | ६३१ |
| अहमेवे यस्मिन्नपच्छेदस्तदा .. | ७२५ | आनर्थक्यात्तदङ्गेषु | २३२ |
| अहानि वाभिसङ्ख्यानात् | ७६० | आनर्थक्यादकारणं | ८८ |
| अहोमवत् पुरुषस्य तदर्थत्वात्.. .. | ३२१ | आनर्थक्याग्नेति | ५८२ |
| अहोमो वा प्रकरणात् | २८६ | आन्वायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यम | ३८ |
| आकाशिकेप्सा | ४८ | आराष्ट्रिष्टमसंयुक्तमितरैः... .. | ६०८ |
| आकृतिसु क्रियार्थत्वात् | ८० | आरादपीति चेत् | ३८८ |
| आख्या चैवं तदर्थत्वात् | २८४ | आर्षेयवदिति चेत् | ७०५ |
| आख्या प्रवचनात् | ३७ | आत्रयिष्वविशेषेण भागोऽयं प्रतीयेत | ४४७ |
| आख्या हि देशसंयोगात् | ७४ | इज्यायां तद्गुणत्वाद्दिशेषेण नियम्येत | ७४१ |
| आत्मनो वा | ६६० | इव्याविकारो | ३६२ |

| सूत्रम् | पृष्ठः | सूत्रम् | पृष्ठः |
|--|--------|--|--------|
| रत्नरेषु तु पित्राणि | ७७१ | उत्पन्नाधिकारात् सति सर्ववचनम् | ३४५ |
| इष्टिलेन तु संख्य | ३६२ | उत्सर्गे तु प्रधानत्वात् शेषकारौ | २९६ |
| इष्टिलेन तु संकुते सोमः स्यात्... | ७६४ | उद्भवयनपूर्वपश्चात्; पुण्याद्येषु देवानि | ७७० |
| इष्टिपूर्वत्वाद्भक्तुर्ग्रेषो सोमः ... | ७६२ | उद्भावात्प्रमसमेकः श्रुतिसंयोगात् | ३५० |
| इष्टिरवच्छन्नावच्छ तादर्थं सोम ... | ५८८ | उपनाथ लिङ्गदर्शनात् | ४०१ |
| इष्टानो वा तदर्था अग्निर्गेषार्थं ... | ५७८ | उपदेवत्वपूर्वत्वात् | ७६३ |
| इष्टार्थमग्नाभेयं प्रकरणात् | ३७० | उपदेवो वा वाङ्मात्रव्यो हि .. | २५२ |
| उक्तं समाकायैदमर्थं तस्मात् सर्वं | ८५ | उपनयनादधीत सोमसंयोगात् .. | ७६५ |
| उक्तान् वाक्यशेषलम् | ५१ | उपवेपथय पक्षे स्यात्... .. | ६८८ |
| उक्तान् शब्दपूर्वत्वम् | ३० | उपचक्ष्येऽप्रतिप्रसवः | २०६ |
| उक्तमग्निमित्तत्वम् | ६३१ | उपांशुप्राजेऽनघनात् यथाप्रकृति | ७०५ |
| उक्तशान्तिव्यसंयोगः | ६२ | उपायो वा तदर्थत्वात् | २३६ |
| उक्ता च यजमानान् | ४०५ | उभयार्थमिति चेत् | ५० |
| उक्त्वादिषु वार्थेषु विद्यमानत्वात् | ३०२ | उभयोः पितृयज्ञवत् | ७६४ |
| उत्कर्षात् प्राक्षयस्य सोमः स्यात् | ५८० | उभाभ्यां वा न हि तयोर्बर्थांशजं | ६८८ |
| उत्कर्षो वा पश्चाद्विशेषस्य ... | ३०१ | उन्विकककुभोरनो दर्शनात् .. | ५७१ |
| उत्कर्षो वा दीक्षितत्वादिभिर्ग्रहं | ७१६ | ऊचः | ६३ |
| उत्थाने चामुप्ररोधात् | ७१५ | ऊस्विकृत्प्रसं करणेभ्यश्चनत्वात् ... | ४२५ |
| उत्पत्तावमिषम्वन्त्यस्यैवोप... | ५३४ | एकं वा चोदनैकत्वात् | ५०० |
| उत्पत्तिकालविशये कालः . | ५१० | एकं वा तच्छुभभावाद्दत्तो स्यादर्थत्वात् | ५६३ |
| उत्पत्तिरिति चेत् | ३६८ | एकं वा संयोगरूपधीदना | २०० |
| उत्पत्तेः शान्तप्रधानत्वात् | ४८८ | एकं शब्दसामर्थ्यात् | ५८३ |
| उत्पत्तौ तु बहुवचने | ३८८ | एकचित्तिर्वा स्यादपवृत्ते हि ... | ५२४ |
| उत्पत्तौ नित्य | ६२८ | एकरथयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात् ... | २२४ |
| उत्पत्तौ येन संयुक्तं | ४७८ | एकत्वेऽपि परम् | २०१ |
| उत्पत्तौ वाऽवचनाः सुवर्यस्या ... | ३२ | एकत्वेऽपि परस्मिन् निन्दाशक्ति ... | २०३ |
| उत्पत्तासंयोगात् प्रज्ञोतावामाज्य | ४७० | एकदेश इति चेत् | ३०० |

| सूत्रम् | वृत्तः | सूत्रम् | वृत्तः |
|--|--------|--|--------|
| एकदेशम्वाच विभक्तिव्यये स्यात् | ७८ | कर्तृनो वा विभेवस्य तन्निमित्तत्वात् | ३०२ |
| एकदेशप्रश्नधीतपत्नौ विद्यामान... | ४५४ | कर्तृ-देश-काशानामचोदनं ... | ४८१ |
| एकनिष्पत्तेः | ४४९ | कर्त्तृकरो वा भृतत्वात् ... | ६२४ |
| एकपात्रे क्रमादभ्यर्थः पूर्वो भक्षयेत् | ३५० | कर्त्तृकार्यात् | ४५५ |
| एकश्रुतिस्वाच... .. | ४४३ | कर्त्तृकार्यात् सर्वेषां कृत्त्विकत्व... | ४०२ |
| एकस्त्रीभे वा क्रतुसंयोगात् .. | ५८४ | कर्त्तृ तथेति चेत् | ६४० |
| एकस्त्राचेत् यथाकाम्यविभेवात् ... | ३३९ | कर्त्तृसंभो वा प्रवचवत् | ७५ |
| एकस्त्रिकेकसंयोगात् | ३०७ | कर्त्तृयुक्ते च दर्शनात् | ४०९ |
| एकस्त्रिन् वा देवतानाराष्ट्रिभाजवत् | २०५ | कर्त्तृस्त्रिणि त्रैभिनिः पक्षार्थत्वात्.. | २१० |
| एकस्त्रिन् वार्धभर्त्तादौनाप्रवदु | ३०९ | कर्त्तृभेदेन त्रैभिनिः | ६५४ |
| एकस्त्रिन् समवतत्रव्यात् | ३४२ | कर्त्तृवर्त्तु पक्षान्तोर्वा स्त्रामिन् .. | ४२६ |
| एकस्य कर्मभेदादिति चेत्... .. | ३९७ | कर्त्तृ के तत्र दर्शनात् | २४ |
| एकस्य तु लिङ्गभेदात् प्रयोजनार्थ | १०१ | कल्पपान्तरं वा | ७५१ |
| एकस्य तूनयले संयोगश्रयकत्वम् .. | ४७३ | कामो वा तत्संयोगेन चोद्यते ... | ५०३ |
| एकस्त्रियं पुनःश्रुतिरविभेवा ... | १३९ | काम्यत्वाच | ५८१ |
| एकस्त्रयेऽप्यपरार्थत्वात् | ९९ | काम्ये कर्त्तृश्च नित्यः स्वर्गो यथा... | ५०९ |
| एकस्त्रयाचने तु नचनान् प्रतिकर्त्त... | ३४८ | काम्ये पु शैवमर्षित्वात् | ६५६ |
| एकस्त्रये तु लिङ्गभावात् स्यात् ... | २७५ | कारत्वं स्यात् इति चेत् | ९९ |
| श्रौतपत्तिकस्य ब्रह्मस्त्रार्थेन ... | ७ | कारत्वाच | ३४२ |
| श्रौतुम्बर्षाः परार्थत्वात् कपासवत् | ७२८ | कारत्वादभ्याष्टितिः | ५५८ |
| श्रौषमत् तथेति चेत् | ४६२ | कारकाद्वाङ्मन्वसर्गः स्यात् ... | ५६० |
| श्रौषमसंयोगोभयोः | ७१० | कारकात्तुपूर्वाच्च | ३५८ |
| करोतिब्रह्मदात् | २५ | कालप्राधान्याच्च | ७१७ |
| कर्तृणां श्रुतिसंयोगात्... .. | १९४ | कालविधिर्बोभयो | ६९८ |
| कर्तृणां श्रुतिसंयोगाद्विधिः ... | ६०५ | कालचेत् सप्रयत् | ६९६ |
| कर्तृषु धर्मनियमात्कालप्राक्तं .. | १९७ | कालश्रुतौ काल इति चेत् ... | ५०८ |
| कर्तृश्रुते तु कर्त्तासमवायात् ... | २३३ | कालसु स्यादचोदनात् ... | ६९६ |

| सूच्यम् | पृष्ठः | सूच्यम् | पृष्ठः |
|--------------------------------------|---------|-----------------------------|---------|
| कालार्थत्वाद्बोधयोः | ६८० | गुरुणापूर्वसंयोगे | ... १५० |
| कालोत्कर्ष इति | ५४८ | गुरुस्तु क्रतुसंयोगात् | ... १६८ |
| कालो वा | ६८५ | गुरुस्तु ऋतिसंयोगात् | ... १४१ |
| कृतकं चाभिधानं | २०१ | गुरुस्य तु विधानत्वात् | ... ६१८ |
| कृतवस्तु कर्मणः सङ्गतत्वात् ... | २२६ | गुरुस्य तु विधानार्थे | ... ८८ |
| कृतदेशात् पूर्वार्थां सदेशः स्थापनेन | ५६५ | गुहात्संज्ञोपबन्धः | ... १८० |
| कृतं वा विनियोगः स्यात् | ३० | गुहादप्रतिषेधः | ... ६१ |
| कृतस्योपदेशादुभयत्र सर्व्ववचनं | २५४ | गुहानाद्य परार्थत्वात् | ... ६०८ |
| क्रतुतो वार्थवादात्प्रपत्तेः स्यात् | २०९ | गुहानात्क्रतुपतिवाक्येन | ... ५२५ |
| क्रतौ फलार्थवादान्नवत् | ५०१ | गुहानात् | ... २५० |
| क्रत्वग्निशेषो वा चोदिरवाद ... | ५०४ | गुहाभिधानात् | ... २६४ |
| क्रत्वन्तरवदिति चेत् | ५४४ | गुहाभिधानात् सर्व्वार्थम् | ... २८१ |
| क्रत्वन्तो वा प्रथीमवचनात् | ५०८ | गुहायां वा पुनःऋतिः | ... २०० |
| क्रमको धोऽर्थशब्दाभ्यां | ५८६ | गुहायित्वाद्गतिचेत् | ... ६२५ |
| क्रमस्य देहसामान्यात् | २८२ | गुहायैवेति चेत् | ... ६२१ |
| क्रमेण वा नियम्येत् | ५४० | गुहायै व्यपदेश | ... १२१ |
| क्रमस्य धर्ममात्रं | ६१२ | गुहाय नामसंयुक्ता | ... ५४२ |
| क्रियाशान्नाश्रितत्वात् | ... ६५० | गुहोपबन्धात् | ... १४६ |
| क्रीतत्वात् भक्त्या स्थापित | ... ६१४ | ग्रीषो वा कर्मसामान्यात् | ... ४२४ |
| क्षामे तु सर्वदाचे | ... ६८० | ग्रहवाहापनयः स्यात् | ... २६८ |
| गार्हपत्ये वा स्थाना | ... ०३५ | ग्रहवाहापनीतं | ... २६८ |
| गीतिषु सामाख्या | ... १२८ | घावस्तुतो भषो | ... २५२ |
| गुणत्वाच्च वेदने | ... ४१६ | घमसवदिति चेत् | ... २४४ |
| गुरुमुखाव्यतिक्रमे | ... २८० | घमसांघमसाध्वयः समाख्यानात् | ... ४०८ |
| गुरुवादस्तु | ... ४५ | घमसाध्वयवक्ष्यैर्ब्यपदेशात् | ... ३८८ |
| गुरुविशेषादेकस्य | ... २८६ | घमसिमां वा सत्रिधानात्... | ... ०५४ |
| गुरुत्वानर्थकः स्यात् | ... १२० | घमसे चान्यदर्शनात् | ... ४०८ |

| सूत्रम् | वृष्टः | सूत्रम् | वृष्टः |
|--------------------------------------|--------|---|--------|
| धर्मसेषु समाख्यानात् संयोगस्य ... | ३४८ | जातिः ... | १०९ |
| धर्मसैव तुल्यकालत्वात् ... | ३१४ | जातिन्तु वादरायणोऽविशेषात् ... | १०८ |
| चरावपौतिचेत् ... | ३०६ | जातिविशेषात् परं .. | ३४५ |
| चरौ वा चर्षोक्तं ... | ३०६ | जातेर्वा तत्प्राय ... | ७७८ |
| चातुर्वर्ण्यमविशेषात् ... | ३९१ | जात्यन्तराच्च शङ्कते ... | ४७० |
| धिकीर्षया च संयोगात् ... | ३८८ | जुष्ट्वादीनामप्रयुक्तत्वात् सन्देहे ... | ७३८ |
| घोदनां प्रति भावाच्च ... | ४१४ | ज्ञाते च वाचनं ... | ४१८ |
| घोदना पुनरात्मः ... | ११२ | ज्योतिष्टोमे तुल्यान्यविभिन्नं ... | ५३४ |
| घोदनायां फलान्त्रुतेः ... | १४९ | तद्योदकेषु मन्वाख्या .. | १९५ |
| घोदनायान्मनारम्भो ... | ४४७ | तच्छब्दो वा .. | ५७० |
| घोदनार्थकात्स्नान्तु ... | ३६८ | तच्छेषो नोपपद्यते ... | ८८ |
| घोदनालक्षणीऽर्थो धर्माः .. | ३ | तत्काले वा क्षिप्रदर्शनात् .. | ४३२ |
| घोदना वा गुह्यानां ... | ४८६ | तत्प्रकरणे ... | ३१३ |
| घोदना वा द्रव्यदेवताविधिरवाचे हि ६८९ | ६८९ | तत्प्रकृतेर्वापत्ति ... | ५८२ |
| घोदना वाऽपूर्वत्वात् ... | ३०० | तत्प्रकृत्यर्थं यथान्ये ... | ३७१ |
| घोदना वाऽप्रकृतत्वात् ... | १४५ | तत्प्रकृत्यान्वशात्सम् ... | ८८ |
| घोदना वा शब्दार्थस्य ... | १४८ | तत्प्रधाने वा तुल्यवत् ... | ३१४ |
| घोदितत्वात् यथान्त्रुति ... | ६०८ | तद औच्यमनुयाज ... | ४६१ |
| घोदितन्तु प्रतीयेताविरोधात् ... | ७२ | तच्च तन्मभियोगविशेषात् ... | ७७ |
| घोदिते तु परार्थत्वाद्यथा ... | ९२८ | तद्य प्रतिज्ञोभो न विद्यते ... | ७१७ |
| घोदन्ते चार्थकर्मास्तु ... | ४४२ | तद्य विप्रतिषेधादिकल्पः ... | ७२२ |
| हृन्दःप्रतिषेधस्तु ... | २७४ | तच्च सर्वोऽविशेषात् ... | ५०५ |
| हृन्दश्च देवतावत् ... | २७६ | तदार्थात् कर्तृपरिमाणं .. | ३८७ |
| हामे न कर्माख्या ... | ७७७ | तदार्थात् प्रतिवचनम् .. | ३५८ |
| हामो वा मन्त्रवशात् ... | ७७४ | तच्चैकत्वमवश्याङ्गम् ... | ४४३ |
| जधी वामश्रिनंयोगात् ... | ७६४ | तन्नोत्पत्तिरविभक्ता ... | ४६१ |
| जाघनी चैकदेशत्वात् ... | २८८ | तत्संयोगात् कर्माण्यवस्था ... | ४०७ |

| सूत्रम् | पृष्ठः | सूत्रम् | पृष्ठः |
|--------------------------------|--------|-----------------------------------|--------|
| तत्संयोगात् क्रतुस्तदाख्यः ... | १८० | तथा च लिङ्गदर्शनं ... | ६५० |
| तत्संज्ञयाच ... | ३४० | तथाज्ञानमपीति ... | २४८ |
| तत् सर्वत्राविशेषात् ... | ३३४ | तद्योत्थानविसर्जने ... | २५१ |
| तत् सर्वार्थमनादेशान् ... | ४८९ | तदकर्माणि च दोषस्तस्मात् ... | ६५४ |
| तत् सर्वार्थमविशेषात् ... | ३०६ | तदर्थत्वात् प्रयोगस्य ... | ८४ |
| तत्सिद्धिः ... | १०० | तदर्थवचनाच्च ... | ५८९ |
| तथा कामोऽर्थसंयोगात् ... | ४१० | तदर्थशास्त्रात् ... | ५५ |
| तथा कालाभावात् ... | ४१ | तदशक्तिसातुरूपत्वात् ... | ७७ |
| तथा च लिङ्गं ... | ४४६ | तद्वृत्तसंख्यं श्रवणात् ... | ४६३ |
| तथा च लोकभूतेषु ... | ४४० | तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम् | २६० |
| तथा चान्यार्थदर्शनम् | ५२४ | तदा द्विवाभिसम्बन्धात् ... | ५५० |
| " " | ५२६ | तदुक्तित्वाच्च दोषश्रुति ... | ६०८ |
| " " | ५४२ | तदुक्तो श्रवणाज्युषोति ... | ४८४ |
| " " | ५६५ | तदुत्सर्गे कर्माणि पुरुषार्थाय... | ४३९ |
| " " | ६१० | तदुपकृत उपकृत्यत्वेत्यनेन ... | ३५८ |
| " " | ६२६ | तदेकदेशो वा ... | ४६७ |
| " " | ७०७ | तदेकपाचाणां समवायात् ... | ३५९ |
| " " | ७४७ | तद्वृत्तास्तु विधीयेरन् ... | ८२ |
| तथा द्रव्येषु गुणश्रुति ... | ४८२ | तद्गृहणाद्वा स्वधर्माख्या ... | ४११ |
| तथा निर्देय्ये ... | ९६ | तद्विःशब्दान्नेतिचेत् ... | ६८२ |
| तथात्मः क्रतुप्रवृत्तानि ... | ६५० | तद्वृत्तानां क्रियार्थेन ... | ३४ |
| तथापूर्वम् ... | ५५३ | तद्वेदात् कर्माणोऽभ्यासो ... | १५२ |
| तथा फलाभावात् ... | ४१ | तद्युक्तो तु प्रतिषेधात् ... | ७५८ |
| तथा भक्ष्यैवाच्छादन ... | ७७२ | तद्युक्तो तु फलश्रुतिः ... | ३९० |
| तथाभिधानेन ... | ३९० | तद्रूपत्वाच्च शब्दानां ... | ७०२ |
| तथा याव्यपुरोवचोः ... | ३२१ | तद्वचनाद्विद्यतौ वयाप्रधानं ... | ५४७ |
| तथैव यपस्य वेदिः ... | ३९२ | तद्वच्च लिङ्गदर्शनं ... | ४०७ |
| तथा सोमविकारादर्भं ... | ५९६ | " " | ४४५ |
| तथा स्वात्मिनः फलसमवायात् ... | ६६२ | तद्वच्च शेषवचनम् ... | ३४७ |

| सूत्रम् | पृष्ठः | सूत्रम् | पृष्ठः |
|-------------------------------------|--------|--------------------------------------|--------|
| तद्वत् प्रयोजनैकत्वात् | २८२ | तेनोत्कृष्टस्य कालविधिः | २७४ |
| तद्वत् स्वयन्कारे | २७७ | तेषामर्थेन सम्बन्धः | २११ |
| तद्वत्त्वन्वु वचनप्राप्ते | २६६ | तेषामृग्यथार्थवशेन | १२८ |
| तद्विकारेऽप्यपूर्वत्वात् | ५७२ | तेषामौत्पत्तिकत्वात् | ६४६ |
| तद्व्यापदेशं च | ६० | तेष्वदर्शनात् विरोधस्य | ७० |
| तन्नित्यं तच्चिकीर्षा चि | ६६० | त सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वात् | ४०६ |
| तपश्च फलसिद्धित्वात् | ४१५ | तथासां क्रयसम्पन्नः | ६२७ |
| तस्माच्च विप्रयोगे स्यात् | ६६६ | त्रयी विश्याख्या च | २७६ |
| तस्मिंश्च फलदर्शनात् | ६६५ | त्रिंशच्च परार्थत्वात् | २७१ |
| तस्मिंस्तु शिष्यमानानि | ६४७ | त्वष्टारन्मूपलक्षणेत् | १७० |
| तस्मिन्नसम्भववर्थात् | ६४८ | दक्षिणाकाले यत् खं तत् | ७४६ |
| तस्य निमित्तपरीष्टिः | ६ | दक्षिणस्यो नैमित्तिकः नृत्तिसंयोगात् | ५२० |
| तस्य रूपोपदेशाभ्याम् | १६४ | दर्शनात् कालसिद्धानां | ६४६ |
| तस्या यावदुक्तमाश्रोः | ६२० | दर्शनादिति चेत् | २६७ |
| तस्योपदेशसमाख्यानानेन | ४०७ | दर्शनाद्विनियोगः स्यात् | ७४ |
| तादर्थ्यात् कर्म लसादर्थ्यम् | ६११ | दर्शनाद्वैकदेशे स्यात् | ६८१ |
| तादर्थ्यान गुणार्थता | ६३७ | दर्शपूर्णमासयोरिच्छाः | ५२० |
| तानि द्वैघं गुणप्रधान | ११३ | दशत्वं सिद्धदर्शनात् | २६६ |
| ताभिश्च तुल्यसंख्यानान्त् | ५२३ | दिग्विभागश्च तद्वत् | २१६ |
| तासामग्निः प्रकृतितः | २७२ | दीक्षाकालस्य शिष्टत्वात् | ७१६ |
| तुल्यं च साम्यदायिकं | ४४ | दीक्षादक्षिणन्तु वचनात् | ३६१ |
| तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः | २७३ | दीक्षापराधे चानुपह्वात् | ७१४ |
| तुल्यत्वात् क्रिययोर्नं | ६१ | दीक्षापरिमाणे यथाकाम्यविशेषात् | ७१२ |
| तुल्यन्तु कर्म धर्मश्च | ७५ | दीक्षास्तु तु विनिर्देशात् | ७४८ |
| तुल्यवच्च प्रसंख्यानान्त् | ५२६ | द्रुभूयस्त्वात् | ४८ |
| तुल्यन्तु तिलाद्वा | ११५ | दश्यते | १२२ |
| तुल्यं च कारणश्रुतिः | ५३५ | देवतायां च तदर्शत्वात् | ६६२ |

| सूच्यम् | पृष्ठः | सूच्यम् | पृष्ठः |
|--------------------------------------|--------|-----------------------------------|--------|
| देशमात्रं वा प्रत्यक्षं | २८४ | द्वैयदृकाख्ये तु | ५८५ |
| देशमात्रं वाऽऽश्लेषेण | २८२ | द्वाराधानं च द्वियज्ञवत् | ६१३ |
| देवतैर्वैकर्म्यात् | ५६१ | द्वारात्मातेषूभौ | ४१८ |
| दोषान्तु वैदिके स्यात् | २२४ | धर्मात्माते तु कर्म स्यात् | ११५ |
| दोषान्निष्ठिर्लौकिके स्यात् | २२८ | धर्मा विप्रतिषेधाच्च | ३०८ |
| दोषयोः कालभेदात् | २७७ | धर्मास्य शब्दमूलत्वात् | ६४ |
| द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात् | २१६ | धर्मोपदेशाच्च | २७८ |
| द्रव्यं वा स्याच्चोदनायाः | १८८ | न चसन्निधमात् | ७९ |
| द्रव्यगुणसंस्कारेषु | २०८ | न चद्रव्यपदेशात् | १२१ |
| द्रव्यवज्ज्ञानं पुंसं स्यात् | ६१० | न काम्यत्वात् | ६२४ |
| द्रव्यसंयोगाच्च | ३२७ | न कालविधिचोदितत्वात् | २४८ |
| द्रव्यसंयोगाच्चोदना | १५० | न कालेभ्य उपदिश्यन्ते | ६४८ |
| द्रव्यसंयोगो न हि तस्य | १५० | न क्रिया स्यादिति चेत् | ८३ |
| द्रव्यसंस्कारः प्रकरणविशेषात् .. | ४२७ | न चैकं प्रति शिष्यते | २०९ |
| द्रव्यसंस्कारकर्मसु | ४८७ | न चैकसंयोगात् | ७२९ |
| द्रव्यसंस्कारविरोधे | ६७१ | न चोदनाविरोधान् | ६७७ |
| द्रव्याणां कर्मसंयोगे | ६८८ | ” ” | ७७४ |
| द्रव्याणाम् क्रियार्थानां | ४८५ | न चोदनाविरोधाद्द्विःप्रकरणाच्च | ३४४ |
| द्रव्याणि त्वविशेषेण | ४४१ | न चोदनैकार्थ्यात् | ३६७ |
| द्रव्ये चाचोदितत्वात् | २०५ | न तत्प्रधानत्वात् | ७२८ |
| द्रव्ये काले कर्मभेदात् | २४७ | न तत्र ह्यचोदितत्वात् | ७७५ |
| द्रव्योत्पत्तेर्वैभयोः स्यात् | ६८० | न तत्सम्बन्धात् | ५४८ |
| द्रव्योपदेश इति चेत् | ११६ | न तदर्थत्वात् लोकवत् | ११६ |
| द्वयोस्तु चेतुसामर्थ्या | ४६४ | न तदीप्सा हि | ६७० |
| द्वादशशतं वा प्रकृतवत् | ७४८ | न तद्वाच्यं हि तदर्थत्वात् | ३८८ |
| द्वादशाक्षरं लिङ्गान् स्यात् | ७१३ | न तल्लक्षणत्वादुपपातः | ६८३ |
| द्विलवङ्गत्वयुक्तं वा | २८७ | न तस्यादुष्टत्वात् | ७०४ |

| सूचम् | पृष्ठः | सूचम् | पृष्ठः |
|-----------------------------------|--------|------------------------------------|--------|
| न तस्यानधिकारादर्शस्य | ४७६ | न शेषसन्निधानात् | ४५५ |
| न तस्येति चेत् | ४५८ | न श्रुतिविप्रतिषेधात् | ४७५ |
| न तुष्यत्वात् | ६९८ | न श्रुतिसमवायित्वात् | ११८ |
| न लग्नेषु वैगुण्यात् | ६७८ | न समवायात् | ६४० |
| न लाङ्घातेषु | १११ | न सर्व्वस्त्रिप्रवेशात् | २८० |
| न देवताग्निशब्द | ६६० | न सर्व्वेषामनधिकारः | ४०४ |
| न नाम्ना स्यादघोदना | २०० | न स्याद्देशान्करेच्चिति चेत्... .. | ७५ |
| न नित्यत्वात् | ६३८ | न सामिन्लं चि विधीयते | ७३४ |
| न पङ्क्तिनामत्वात् | ३०७ | नाहृतत्वात् | ५४३ |
| न पूर्व्वत्वात् | ५० | नातत्संस्कारत्वात् | ७१४ |
| न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्ते | ७०१ | नादृष्टिपरता | २८ |
| न प्रकृतेरेकसंयोगात् | २८८ | नादानस्य नित्यत्वात्... .. | ७४८ |
| न प्रतिनिधौ समत्वात् | ६६८ | नानङ्गत्वात् | ६६० |
| न भक्तिवादेषा चि | ७१४ | नानर्थकत्वात् | ६७१ |
| न भूमिः स्यात् सर्व्वान् | ७४३ | नानाबीजेष्वेकमुलूखल | २५६ |
| न मित्रदेवत्वात् | ५८६ | नाशुक्ते ऽन्याद्येदमनम् | ५९१ |
| न वा कल्पविरोधात् | ७३५ | नाप्रकरणात्वादङ्गस्य | ४३१ |
| न वा तासां तदर्थत्वात् | ३७१ | नामधेये गुणश्रुतेः | ८१ |
| न वानारभ्य-वादत्वात् | ७२७ | नामरूपधर्मविशेष | १८७ |
| न वा परिसंख्यानत् | ४०२ | नार्यपृथक्त्वात् | ४८४ |
| न वा पादत्वात् | ४५७ | नाशब्दतत्प्रमाणत्वात् | ४४४ |
| न वा प्रकरणात् | ६८ | नासमवायात् | ५४४ |
| न वा शब्दछतत्वात् न्याय | ५६१ | नासमवायात् प्रयोजनेन | ५०८ |
| न वा संयोगपृथक्त्वात् | ७४० | नासामर्थ्यात् | ७५६ |
| न वा सम्बन्धात् | ५८० | निगदो वा चतुर्थं स्यात् | १२८ |
| न शब्दैकत्वात् | ५०८ | नित्यत्वाच्चानित्यैः | ७३४ |
| न श्.स्त्रपरिभाषत्वात् | ६८ | नित्यस्य जेष्ठशब्दात् | ५२० |

| सूत्रम् | पृष्ठः | सूत्रम् | पृष्ठः |
|--------------------------------------|--------|--------------------------------------|--------|
| नित्यस्य स्याद्दर्शनस्य | ८९ | नैकलातस्य चानधिकरात् | ३२८ |
| नित्यो वा स्यादर्थवादा | ५२१ | नैकदेशलात् | ३३५ |
| निमित्तार्थेन वादरिः | ६२२ | नैमित्तिकं तु प्रकृतौ | ३३० |
| नियतं वार्थवत्त्वात् | ३०१ | नैमित्तिकं वा कर्त्तृसंयोगात् | ३०४ |
| नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुति | ४०४ | नैमित्तिकमतुस्यात् | ३८१ |
| नियमार्थः क्वचिद्विधिः | ६६० | नैमित्तिके विकारत्वात् | ४८१ |
| नियमार्था गुणश्रुतिः | ३८२ | नोत्पत्तिसंयोगात् | ५०८ |
| नियमार्था वा श्रुतिः | ४८२ | नोत्पत्तौ चि | ३८८ |
| नियमो वा तन्निमित्तत्वात् | ६४२ | न्यायविप्रतिषेधाच्च | ५०७ |
| नियमो वैकाथ्यं स्वार्थभेदात् | ३०५ | न्यायोक्ते स्तिङ्गदर्शनं | ४२९ |
| निरवदानात् शेषः स्यात् | ३२६ | न्यायो वा कर्त्तृसंयोगात् | ६२० |
| निरुक्ते स्यात्तसंयोगात् | ३०६ | पक्षेऽर्थकृतस्येति चेत् | २८८ |
| निर्द्देशस्य मुहार्थत्वम् | ६०६ | पक्षेऽस्ति चेत् | ४०४ |
| निर्द्देशाच्छेषमन्वोऽन्वै | ६०६ | पक्षे चोत्पन्नसंयोगात् | ५२९ |
| निर्द्देशात् पक्षे स्यात् | ६२३ | पक्षशरावस्तु द्रव्यश्रुतेः | ६८० |
| निर्द्देशात् विकल्पे | ६६० | पदकर्त्ताप्रयोजकम् | ४५१ |
| निर्द्देशात् विकृतावपूर्वस्य | ४२८ | पयोदोषात् पक्षशरावे | ३०३ |
| निर्द्देशात् स्यादन्यदर्थादिति | ४५४ | परकृतिपुराकल्पं च | ३५३ |
| निर्द्देशाद्वाऽतद्वर्षः स्यात् | ३५४ | परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रं | ३० |
| निर्द्देशाद्वा तयार्था | ६२९ | परार्थत्वात् गुणानाम् | ८७ |
| निर्द्देशाद्वा न्यदागमयेत् | ६०४ | परिसंख्या | ५८ |
| निर्द्देशाद्वाऽप्रतिषेते | ३८० | परवि-दित-पूर्णघृत-विदग्धश्च | ३१७ |
| निर्द्देशो वाऽनाश्रितान्नेः | ३६५ | परेणावेदनाद्दोषितः | ५७८ |
| निवीतमिति मनुष्यधर्मः | ३१२ | पर्यास इति आकाश्या | ५७२ |
| निष्पत्तिदर्शनाच्च | ३८२ | पशावनालभात् | ४५३ |
| निष्कृयवादाच्च | ६८४ | पशुग्रयं तस्य तस्यापवर्जयेत् | ५६१ |
| निष्कृयस्य तदङ्गवत् | ३२८ | पशुचोदनायामनियमः | ३७३ |

| सूच्यम् | पृष्ठः | सूच्यम् | पृष्ठः |
|-------------------------------------|------------|------------------------------------|---------|
| पशुत्रं रमना स्यात् | .. ५२७ | प्रकरणम् पौर्णमास्याम् | १४० |
| पशुत्रं वार्यकर्मात् | .. ५२९ | प्रकरणविशेषात्, विद्यतौ | ३६९ |
| प्रायेः प्रत्यङ्गभावात् | ... ७३२ | प्रकरणविशेषात्संयुक्तं | २८७ |
| पानीवते तु पूर्व्वत् | ... १८० | प्रकरणविशेषाद्वा तद्युक्तस्य .. | २२२ |
| पानीवते तु पूर्व्वत् | २६९ | प्रकरणशब्दसामान्याद्योदनात् | ... ५१६ |
| पान्वापच, तद्वत् | ३३३ | प्रकरणानु कालः स्यात् | ... ५९१ |
| पितृयज्ञः स्वकासलात् | ५२५ | प्रकरणादिति चेत् | ... ५०९ |
| पितृयज्ञे तु दर्शनात् | ७६८ | प्रकरणाद्दोत्पत्तिसंयोगात् | ... ४०० |
| पितृयज्ञे संयुक्तस्य | ७६५ | प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् | ... १९० |
| पुनरभ्युद्गीतेषु सर्व्वेषाम् | २६७ | प्रकरणाविभागादुभे | .. २५५ |
| पुनराधेयसोदनवत् | ६८९ | प्रकरणाविभागाद्वा | ... ३७७ |
| पुत्रपक्षेण वा विद्यतौ | ७४० | प्रकरणाविभागे च विप्रतिषिद्धम् .. | ५१८ |
| पुरुषस्य कर्म्मार्थात् | २११ | प्रकरणे वा शब्दहेतुत्वात् | ... ७२० |
| पुरुषार्थकसिद्धित्वात् | ६३४ | प्रकरणे संभवन् अपकर्षः | .. ५२ |
| पुरोडाशस्त्वनिर्द्देशे | ५९३ | प्रकृतिविद्यत्येष | ... २५ |
| पुरोडशास्त्राधिकारो वा | ४०८ | प्रकृतः पूर्व्वोक्तत्वात्पूर्व्वम् | ... ५६४ |
| पूर्व्वं च सिद्धदर्शनात् | ५७३ | प्रकृतौ तु स्वशब्दत्वात् | ... ५४६ |
| पूर्व्वं वक्तोऽविधानार्थाः | ९७ | प्रकृतौ वाऽद्वयत्वात् | ... २६६ |
| पृथक्त्वनिवेशात् | १५ | प्रक्रमात् नियम्येत | .. ६४० |
| पृथक्त्वाद्भवतिष्ठेत | ४९५ | प्रक्रमाद्वा नियोगेन | .. २०४ |
| पृथक्त्वनिषिधानयोः | ५३२ | प्रत्याभावाच्च योगस्य | ... ३२ |
| पौर्णमासीवदुपांश्याजः | १४४ | प्रतिनिधिस्य तद्वत् | .. ३८१ |
| पौर्णमासी वा अतिसंयोगात् | ... ५९० | प्रतिपत्तिरिति चेत् | ... २५३ |
| पौर्णमास्यामनियमः | ७१३ | प्रतिपत्तिर्वा तत्रायत्वात् | .. ४८२ |
| पौर्णमास्युद्देश्यमात् | ५९३ | प्रतिपत्तिर्वा शब्दस्य | ... ४७५ |
| पौर्णमास्योर्ध्वं पूर्व्वं दौर्ध्वं | ७५३ | प्रतिपत्तौ च दर्शनात् | .. ४६९ |
| पौर्णमास्योर्ध्वं विद्यतौ | ३०५ | प्रतिषिद्धं चाविशेषेण च | ... ६६२ |

| सूच्यम् | पृष्ठः | सूच्यम् | पृष्ठः |
|--------------------------------|---------|-----------------------------|---------|
| प्रतिषिद्धे च दर्शनात् | ... ५२६ | प्रसारे शास्त्राश्रयणवत् | ... ६६७ |
| प्रतिषेधाच्च पूर्वलिङ्गानां | ... ६८६ | प्राकृताच्च पुरस्तादात् | .. ५६६ |
| प्रतिषेधाच्चोर्द्धमवभृथादेष्टे | ... ७१८ | प्रागपरोधात् | ... ३२५ |
| प्रतिषेधेष्वकर्मत्वात् | .. ६४४ | प्राज्ञोक्तम्युपायास्तस्याः | .. ५७६ |
| प्रतिषोमथेत् सायम् | .. ७१८ | प्रातरनुवाके च | ... ४०९ |
| प्रतीयते इति चेत् | .. ४४४ | प्रातस्तु, षोडश्रिणि | ... ७१९ |
| प्रत्यचोपदेशाच्च | .. १५६ | प्रापणाच्च निमित्तस्य | .. ५५४ |
| प्रत्ययश्चापि दर्शयति | ... २०७ | प्रायश्चित्तं निमित्तेन | ... २०३ |
| प्रत्ययाच्च | .. ५०० | प्रायश्चित्तमधिकारे सर्वत्र | .. ७१९ |
| प्रत्ययं श्रुतिभाव इति | ... ६३६ | प्रायश्चित्तमापदि स्यात् | ... ७३९ |
| प्रत्ययश्चाभिसंयोगात् | .. ६०२ | प्रायश्चित्तविधानाच्च | ... ६५६ |
| प्रधानेनाभिसंयोगात् | ... ५१४ | “ ” | .. ७२७ |
| प्रधाने श्रुतिलक्षणात् | ... ६७७ | प्राये वचनाच्च | ... १४६ |
| प्रयोगचोदनाभावात् | .. ७८ | प्रासङ्गिकं च मोक्षार्थेत् | ... ५३२ |
| प्रयोगशास्त्रमिति चेत् | ... ७२ | प्रासनवन्मैदावब्रह्मण्य | ... ४७८ |
| प्रयोगस्य परम् | ... २७ | प्रेषानुवचनं | ... १०८ |
| प्रयोगान्तरे बोधयानुग्रहः | ... ७२२ | प्रेषेषु च पराधिकारात् | .. १२३ |
| प्रयोगे पुरुषश्रुतेः | ... ६१५ | प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात् | .. ९५ |
| प्रयोगोत्पत्त्याशास्त्रत्वात् | .. ७६ | फलं च पुरुषार्थत्वात् | ... २१० |
| प्रकृतत्वात् प्रवरस्य | .. ३६१ | फलं चाकर्म्मसन्निधौ | ... १९१ |
| प्रकृतेऽपीति चेत् | ... ६७१ | फलकामो निमित्तम् | ... ६२९ |
| प्रकृते वा प्रापणात् | ... ७०६ | फलचमसो नैमित्तिकः | .. ६६२ |
| “ ” | ... ७११ | फलनिवृत्तिय | ... १२४ |
| प्रकृत्या कृतकालानाम् | ... ५५० | फलन्नु तत्प्रधानायाम् | .. ४९० |
| प्रकृत्या तुल्यकालानाम् | ... ५४२ | फलन्नु सद्यचेष्टया | .. २१३ |
| प्रशंसा | .. १०३ | फलमात्रे यो निर्दिश्यात् | ... ५०१ |
| प्रशंसा वा विहरणामाद्यात् | .. ५८३ | फलवतां च दर्शयति | ... ६१५ |

| सूत्रम् | पृष्ठः | सूत्रम् | पृष्ठः |
|-----------------------------------|--------|--------------------------------|--------|
| फलवद्वीक्ष्ये तुलात् .. | ४१९ | मन्त्राद्याकर्मकरणाः .. | ४१८ |
| फलत्रुतेस्तु कर्म स्यात् .. | १५८ | मांसन्तु सबनोयानां ... | ४२२ |
| फलसंयोगस्त्वचोदिते ... | ५११ | माघी वैकाष्ठकान्त्रुतेः ... | ०१४ |
| फलसंयोगात् स्वामियुक्तं ... | ३८८ | मिथस्थानर्थसम्बन्धः ... | ९७ |
| फलस्य कर्म निष्पत्तेस्तोषां ... | ४९ | मिथस्थानर्थसम्बन्धात् ... | २९८ |
| फलार्थत्वात् कर्मणः शास्त्रं ... | ६०४ | मुख्यक्रमेण वाङ्मनां ... | ५४५ |
| फलार्थित्वात् स्वामित्वेन .. | ६१५ | मुख्यशब्दाभिसंज्ञावाच्यं ... | ४५० |
| फलार्थित्वाद्वाऽनियमः .. | ६४२ | मुख्याद्वा पूर्वकालत्वात् ... | ३२९ |
| फलोत्साहाविशेषात् ... | ६११ | मुख्याधिगमे मुख्याभागसः ... | ६०० |
| फलोपदेशो वा ... | ५०५ | मुख्यानन्तर्यमात्रे यः .. | ५६५ |
| बह्वनान्तु प्रष्टनेः .. | ६६४ | मुख्याद्यो वा चक्षस्य ... | ४३० |
| बुद्धशास्त्रात् .. | ५६ | मुष्टिकपास्तावदाना ... | ५५८ |
| ब्राह्मणस्य तु सोमविद्या ... | ६५१ | य रतेनेत्यग्निष्टोमः ... | ५५८ |
| ब्राह्मणानां वेतरयोः ... | ०३३ | यजतिचीदना द्रव्यं .. | ४८३ |
| ब्राह्मणा वा तुल्यशब्दत्वात् ... | २६५ | यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृ ... | १८३ |
| भक्तिरसंनिधावनाय्येति चेत् | ४३३ | यजमाने समाख्यामात् ... | ४९० |
| भक्त्या निष्कृत्यवादः स्यात् ... | ५२९ | यज्ञं पि वा तद्र पत्वात् ... | १३० |
| भक्षार्थो वा द्रव्ये समत्वात् ... | ३४० | यज्ञेति वाऽर्थवत्त्वात् ... | १२१ |
| भक्षान्नवत्त्वात् ... | ३३९ | यथादेवतं वा ... | २६६ |
| भावार्था कर्म शब्दा .. | १०८ | यथाप्रदानं वा ... | ५८७ |
| भूमा ... | १०४ | यथार्थं वा शेषभूतसंस्कारात् | २५४ |
| भूयस्त्वेन उभयत्रुति ... | २८१ | यथात्रुतीति चेत् ... | ६८२ |
| भेदार्थमिति चेत् | ६७९ | यदि च हेतुः ... | ५४ |
| मध्यमायान्तु वचनान्तु .. | ५०५ | यद्युक्ताता जघन्यः स्यात् ... | ०२४ |
| मध्यस्थं यस्य तन्मध्ये ... | ५१ | यष्टुर्वा कारणाममात् ... | ३६१ |
| मन्त्रतस्तु विरोधे स्यात् .. | ५४६ | यस्मिन् गुणोपदेशः ... | ८७ |
| मन्त्रस्य चार्थवत्त्वात् ... | ५६ | यस्मिन् प्रीतिः पुत्रवत्स्य .. | ४३५ |

| सूत्रम् | पृष्ठः | सूत्रम् | पृष्ठः |
|----------------------------------|--------|-------------------------------|--------|
| यस्य वा प्रभुः स्यात् ... | ६४२ | लिङ्गसमवायात् ... | १०५ |
| याच्ञाक्रयकमविद्यमाने | ७७१ | लिङ्गसमाख्यानाभ्याम् ... | १६२ |
| याजमानास्तु तत्प्रधानत्वात् .. | ४१३ | लिङ्गाच्च | २५० |
| याजमाने समाख्यानात् ... | ४२० | २७८ ५८२ | |
| याच्यापनयनापनोतो ... | ३६० | लिङ्गाच्चेव्याविशेषवत् ... | ७४० |
| यावज्जीविकोऽभ्यासः .. | १९४ | लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य ... | ७४ |
| यावदुक्तं वा कर्मणः ... | १८२ | लिङ्गोपदेशश्च | ६३ |
| युपाङ्गं वा तत्संस्कारात् .. | ५२७ | लोकवदिति चेत् ... | ५० |
| येषां तूत्पत्तावर्थे स्ते ... | १११ | लौके कर्माणि वेदवत् ... | ६४३ |
| येषामुत्पत्तौ स्ते ... | ११० | लौके सन्नियमात् .. | ३५ |
| यैर्द्रव्यं न चिकीर्षते ... | ११४ | वचनं परं ... | ३१० |
| यैस्तु द्रव्यं चिकीर्षते ... | ११४ | वचनाच्च | ३५७ |
| योगसिद्धिर्वाऽर्षस्य ... | ५०६ | वचनाच्चान्याय्यम् .. | ६६८ |
| रश्ना च लिङ्गदर्शनात् .. | ३७८ | वचनात्तु द्वादशाहे | ५७२ |
| रूपात् प्रायात् .. | ४७ | वचनात्तु द्विसंयोगः .. | ७३० |
| रूपान्यत्वाच्च | ७७७ | वचनात्तु परिव्याहान्त | ५६० |
| रूपाङ्गिङ्गाच्च | ७७७ | वचनात्तु समुच्चयः ... | ३८६ |
| सञ्चयमात्रमितरत् ... | ७०७ | वचनात्स्वयथार्थम् ... | २४६ |
| सञ्चयार्था श्रुतवृत्ति | ७०४ | वचनात् सर्वपेषणं तं प्रति ... | ३०९ |
| लिङ्गं क्रमसमाख्यानात् ... | २५६ | वचनादनुज्ञातमञ्चणम् ... | ३५८ |
| लिङ्गदर्शनाच्च .. | ३२ | वचनादितिरेषां स्यात् ४१२ | ४१५ |
| १४३ १८० १९५ २०८ ३३५ ३६४ | | वचनादितिचेत् २५४ | ७३२ |
| ३७६ ३८८ ४२६ ४४२ ४५६ ५८८ | | वचनादिदृष्टिपूर्वत्वम् ... | ५८८ |
| ६१४ ६३३ ७३२ ७४९ | | वचनाद्दर्शविशेषः ... | १२० |
| लिङ्गसमवशिष्टं सर्वशेषत्वात् .. | २०४ | वचनाद्प्रथकारस्थाधाने .. | ६३० |
| लिङ्गविशेषनिर्देशनात् ... | ६०७ | वचनाद्वा शिरोवत्स्यात् .. | ७२६ |
| लिङ्गविशेषनिर्देशनात् समानविधाने | २६६ | वचनाद्द्विककाल्यं स्यात् ... | ५९५ |

| सूत्रम् | पृष्ठः | सूत्रम् | पृष्ठः |
|---------------------------|--------|---------------------------|--------|
| वचनानि तु चपूर्वत्वात् | ३४९ | विद्याप्रशंसा | ४८ |
| वचने हि हेत्वसामर्थे | ४६१ | विद्यायां धर्मश्लाघा | २०१ |
| वक्ष्यसंयोगे | ६९४ | विद्यावचनसंयोगात् | ६२ |
| वक्ष्यन् अतिसंयोगात् | ६९५ | विधिकोपशोपदेशे | २५० |
| वर्षाकारमविकारः | २८ | विधिना चैकवाक्यत्वात् | ३१५ |
| वर्षिराज्ययोरसंकारे | ९४ | विधिना त्वेकवाक्यत्वात् | ४२ |
| वशायामद्यसमवायात् | १२१ | विधिप्रत्ययाद्वा | ५८४ |
| वशानद्वा मुखायं स्यात् | ११९ | विधिमन्त्रयोरैकार्थम् | १२४ |
| वषट्काराच्च कर्तृवत् | २७३ | विधिरप्येकदेशे | ६०२ |
| वषट्काराच्चभचयेत् | ३५५ | विधिर्वा संयोगान्नात् | ३१९ |
| वाक्यनियमात् | ५६ | विधिर्वा स्यादपूर्वत्वात् | ५० |
| वाक्यशेषत्वात् | ३१२ | विधिश्छेदाच्च | ६२ |
| वाक्यशेषस्य तदत् | ४१५ | विधिसान्दर्भकः क्वचित् | ५२ |
| वाक्यानाञ्च समाप्तत्वात् | १४० | विधिस्त्वपूर्वत्वात् | ३१३ |
| वाक्यायंश्च मुखायंश्च | ४९९ | विधेः कर्मापवर्जित्वात् | ४८५ |
| वासिष्ठानां वा | ०३५ | विधौ च वाक्यभेदः स्यात् | ५२ |
| विकारः सञ्जमयतः | ०५० | विधौ तु वेदसंयोगात् | ०५४ |
| विकारास्तु कामसंयोगे | ३८४ | विध्यपराधे च दर्शनात् | ६५५ |
| विकारे त्वनुयाजानां | ५६३ | विनिश्चयेन मुहीनां | ००८ |
| विकारो नोत्पत्तिकत्वात् | ००८ | विप्रतिपत्तौ वा | ५४० |
| विकारो वा प्रकरणात् | १८० | विप्रतिषेधान्नाभिः | ५२४ |
| विद्यतिः प्रकृतिसम्भवात् | ५४८ | विप्रतिषेधानु गुणन्यन्तरः | ०५९ |
| विद्यतेः प्रकृतिकासत्वात् | ५९५ | विप्रतिषेधे करणः | ४२२ |
| विद्यतौ सर्वार्थः शेषः | ४२० | विप्रयोगे च दर्शनात् | ४१८ |
| विद्यथी लन्यः कर्मणः | ४०१ | विभागानुतेः प्रायश्चित्तं | ०२१ |
| विद्यानिर्देहाद्भेदतिचेत् | ६२५ | विरोधस्यापि पूर्ववत् | १९६ |
| विद्यापराधे च दर्शनात् | ६५५ | विरोधिना त्वसंयोगात् | २०० |

| सूत्रम् | पृष्ठः |
|---------------------------------|---------|
| विरोधे च श्रुतिविशेषात् ... | ४१८ |
| विरोधे लनपेक्षं स्यात् ... | ६६ |
| विद्विः कर्मभेदात् ... | ५६८ |
| विद्विर्वा नियमानुपूर्वस्य ... | ५६९ |
| विश्वे प्रायदर्शनात् ... | १८४ |
| विश्वेदर्शनाच्च .. | १४१ |
| विश्वजिज्ञासुप्रश्ने भावः.. | ६८३ |
| विश्वामित्रस्य होमनियमात् .. | ७९६ |
| विश्वारस्य प्रभुत्वात् ... | ७३७ |
| विहितप्रतिषेधात् ... | २०५ |
| विहितस्तु सर्व्वधर्मः स्यात् .. | २१२ |
| वीते च कारणे नियमात् ... | ५०२ |
| वीते च नियमस्तदर्थं ... | ५०४ |
| द्विच्य कर्त्तृभुम्बाऽस्य ... | २५ |
| वेदसंयोगात् ... | ३२७ |
| वेदसंयोगान्न प्रकरणेन... | २८० |
| वेदांश्चैके सन्निकर्षम् .. | ३६ |
| वेदोपदेशात्पूर्ववत् .. | ४१० |
| वेदो वा प्रायदर्शनात् .. | २७८ |
| वैगुण्यान्नेति चेत् .. | ६२७ ७१० |
| वैश्वदेवे विकल्पः ... | ८६ |
| वैश्वानरस्य नित्यः ... | ५२१ |
| यतिक्रमे यथाश्रुतीति ... | २८० |
| अपदेशभेदाच्च .. | १२० |
| अपदेशस्य तुल्यवत् ... | ३८९ |
| अपदेशाच्च ... | १३० |
| १३ ४२० | |

| सूत्रम् | पृष्ठः |
|---------------------------------------|--------|
| अपदेशादपलभ्येत .. | ३२४ |
| अपदेशादितरेषां स्यात् ... | ४१७ |
| अपदेशाच्च महत् ... | १४२ |
| अपवर्गं च दर्शयति.. | १८५ |
| अर्थे क्षुतिरन्याय्येति... | ५२ |
| अवस्था वा अर्थसंयोगात् .. | २४१ |
| अवस्था वा अर्थस्य ... | २२१ |
| अवायान्नातुपभ्येत ... | १९६ |
| आदेशाद्दानसंस्तुतिः.. | ३४१ |
| आपन्नस्यापस्तु गतौ ... | ७२० |
| अूर्द्धभागं भ्यस्तालेखन | ७०८ |
| अर्थौ च सर्व्वपरि | ३२४ |
| अकलत्रुतेषु .. | ४६८ |
| अब्दपृथक्त्वाच्च .. | १२३ |
| अब्दवत्तूपलभ्यते .. | ४४५ |
| अब्दविप्रतिषेधाच्च ... | ३५१ |
| अब्दान्तरे कर्मभेदः... | १३७ |
| अब्दे प्रयत्ननिव्यतेः ... | ७६ |
| अभिज्ञा च अर्थभेदात् | ४०० |
| अशाखायां तत्प्रधानत्वात् .. | ४७२ |
| अशाखायां तत्प्रधानत्वाद्दुपवर्षस्य... | ४७२ |
| अस्त्रदृष्टविरोधाच्च ... | ४० |
| अस्त्रफलं प्रयोक्तारि ... | ३८५ |
| अस्त्रस्या वा तन्निमित्तत्वात् | ७० |
| अस्त्राणां त्वर्थवत्त्वेन .. | ६४५ |
| अष्टाकोपेऽविषद्व | ६८ |
| अद्भ्य धर्माशास्त्रत्वात् ... | ७४५ |

| सूयम् | पृष्ठः | सूयम् | पृष्ठः |
|-------------------------------|--------|-----------------------------|---------|
| शेष इति चेत् .. | ४९४ | संयुक्ते तु प्रक्रमान् ... | ५५९ |
| शेषः परार्थत्वात् .. | २०८ | संवत्सरो विद्याल्लिवात् .. | ७५९ |
| शेषदर्शनाच्च ... | ३९७ | संसर्गरसनिष्यत्तेः ... | ४४९ |
| शेषभूतत्वात् ... | ६८० | संस्कारकत्वात् .. | २४६ |
| शेषस्य समाख्यानान्त् ... | १२९ | संस्काराद्याप्रकरणे .. | १८१ |
| शेषस्तु मुखसंयुक्तः ... | १४० | संस्कारस्तु न भिद्येत .. | १५९ |
| शेषाः प्रकरणः; विशेषात् .. | १२८ | संस्कारस्य तदर्थत्वात् .. | ६१५ |
| शेषात् द्वावदाननाम्ने | ६७४ | संस्काराद्वा गुणानाम् | २९० |
| शेषे त्राद्युक्तशब्दः ... | १२७ | संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये | ४१३ |
| शेषे यञःशब्दः ... | १२९ | संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् | ४८३ ६२४ |
| श्राद्धवदिति चेत् .. | ७६७ | संस्कृतत्वाच्च ... | १३८ |
| श्रुतिप्रमाणात्वाच्छिष्टाभावे | ६५९ | संस्कृते कर्म संस्काराणाम् | ५०६ |
| श्रुतिलिङ्गसमानुपूर्णे | ५३७ | संख्यास्य कर्तृवत् ... | ३०२ |
| श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण | २८४ | संख्यास्तु समानविधानाः | १८९ |
| श्रुतेर्जाताधिकारः .. | २७८ | सः स्वामी स्यात् ... | ६६४ |
| श्रुत्यपायाच्च .. | ४७४ | स कुलकल्पः स्यात्... | ७५७ |
| श्रुत्ये केषां तच्च प्राक् | २७४ | संज्ञिते त्वग्निचिसुक्तम् | ५७७ |
| षट्चिन्तिः पूर्वत्वात् | ५२२ | सतः परमदर्शनं ... | २६ |
| षोडशी चोक्त्यसंयोगात् | ५५५ | सतः परमविज्ञानं .. | ६२ |
| संख्याभावात् .. | ३० | स तद्वन्मयी स्यात् ... | ६६५ |
| संख्यायुक्तं क्रतौः .. | ३०४ | सति सव्यवचनं .. | ४५८ |
| संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात् | १५५ | सदाणि सर्व्ववर्णानां | ७३२ |
| संज्ञोपबन्धात् .. | १४७ | सत्वान्ते च ... | २५ |
| संप्रिये कर्म | ६१ | सत्संप्रयोगे पुरुषस्ये | ६ |
| संयवनार्थानां वा प्रतिपत्तिः | ४७७ | स देवतार्थज्ञानसंयोगात् | २५२ |
| संयुक्तं वा तदर्थत्वात् | ३७९ | सन्मर्दनं प्रकृतौ ... | ३०१ |
| संयुक्तस्त्वर्थशब्दे न .. | १८६ | सन्दिग्धे तु अवायात् | २७४ |

| सूत्रम् | पृष्ठः | सूत्रम् | पृष्ठः |
|-------------------------------|--------|--------------------------------|--------|
| स नमिक्तिकः पशो ... | ७०८ | सर्वप्रदानं ऋषिषः ... | ३२६ |
| सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् ... | १०५ | सर्वमिति चेत् ... | ५४२ |
| सन्निधाने विशेषात् ... | ४२१ | सर्वभक्तौ प्रवृत्तिः ... | ६५२ |
| सन्निधौ लविभागात् ... | १८२ | सर्वस्य उक्तकामत्वात् ... | १६६ |
| सन्निपातश्चेत् ... | ५६६ | सर्वस्य वैककर्मत्वात् ... | ५८१ |
| सन्निपातानु निमित्तविधातः ... | ७२८ | सर्वानि लोककार्यत्वात् ... | ५५८ |
| सन्निपाते प्राधानानां ... | ५५७ | सर्वार्थं वा आधामस्य ... | २७१ |
| सन्निपातेऽवैगुण्यात् ... | ७२६ | सर्वार्थत्वाच्च ... | ७६७ |
| सन्निवापं च दर्शयति ... | ७३८ | सर्वार्थमप्रकरणात् ... | ३६६ |
| स प्रत्यामनेत् स्यान्नात् ... | ६८८ | सर्वार्थां वा समत्वात् ... | ५१७ |
| स प्रायात् कर्म ... | ३१३ | सर्वे तु वेदसंयोगात् ... | २५२ |
| समन्तु तत्र दर्शनम् ... | २६ | सर्वेभ्यो वा कारणाविशेषात् ... | ३३८ |
| समवाये चोदना ... | ५७७ | सर्वे वा सर्वसंयोगात् ... | २५८ |
| समाख्यानं च तद्वत् ... | ७८५ | सर्वेषां तु विधित्वात् ... | ३५४ |
| समानयनन्तु मुख्यं ... | ४६० | सर्वेषां भावोऽर्थः ... | २५१ |
| समाप्तं च फले वाक्यं ... | १७८ | सर्वेषां वा अविशेषात् ... | ४३२ |
| समाप्तिः पूर्ववच्चात् ... | २०४ | सर्वेषां वा चोदना ... | ५८४ |
| समाप्तिरविशिष्टा ... | १८० | सर्वेषां वा प्रतिप्रसवात् ... | ७३६ |
| समाप्तिवच संप्रेशा ... | २०३ | सर्वेषां वा लक्षणात् ... | २२५ |
| समिध्यमानवतीं ... | ५६८ | सर्वेषां वा शेषत्वस्य ... | ३८७ |
| समेषु कर्म युक्तं ... | ५६२ | सर्वेषां वैकजातीयं ... | ५५७ |
| समेषु वाक्यभेदः ... | १३३ | सर्वेषां वैकमन्त्रम् ... | २०६ |
| सम्बन्धात् सवनोत्कर्षः ... | ५५५ | सर्वेषाञ्चैककर्मां स्यात् ... | २०१ |
| सम्बन्धादर्शनात् ... | ७५७ | सर्वेषाञ्चोपदिष्टत्वात् ... | २६१ |
| सर्वत्र च प्रयोगात् ... | ७३ | सर्वेषामविशेषात् ... | ७६३ |
| सर्वत्र यौगपत्यात् ... | २८ | सर्वेषामिति चेत् ... | १३१ |
| सर्वत्वमाधिकारिकं ... | ४८ | सर्वेषु वाऽभावात् ... | २०६ |

| सूयम् | पृष्ठः | सूयम् | पृष्ठः |
|---------------------------|--------|-------------------------------------|--------|
| सर्वैर्वा समवायात् ... | ६०६ | सौधन्वनास्तुहीमलात् | ६३१ |
| स सर्वः स्यात् ... | ५०० | सौमरे पुरुषवशुतेः | १६५ |
| सहस्रसंवत्सरं ... | ७५७ | सौमिके च कृतार्थलात् | ४८० |
| साकंप्रस्थायेरिष्टकृत् | ३४१ | स्तुतग्रलयोस्तुसंस्कारः | ११८ |
| साकाङ्क्षान्ने कवाक्यं | २३३ | स्तुतिस्तु शब्दपूर्वलात् | ५३ |
| साग्रोनां वेष्टिपूर्वलात् | ७३७ | स्तोत्रकारिकां वा तत्संयोगात् | ३५१ |
| साधारण्यान्न भुवाया... | ३४३ | स्तोमविष्टद्वौ बहिष्यवमाने | ५७१ |
| सान्प्रनीया तूत्कर्षेत् | ५५३ | स्त्यपतिर्निषादः स्यात् | ६३२ |
| साङ्गायसंयोगात् ... | ७१० | स्त्यपतीष्टिः प्रयाजवत् | ७६८ |
| साङ्गायग्राग्निधोमीय | ५८६ | स्त्यपतीष्टिवह्नौकिके | ७६६ |
| साङ्गाय्येऽपि तथेति | ७०४ | स्थानाच्च पूर्वस्य | ३७८ |
| सा प्रकृतिः स्यात् | ७५८ | स्थानाचोत्पत्तिसंयोगात् | ५४४ |
| सामान्यं तच्चिकीर्षा हि | ६६६ | स्थानानु पूर्वस्य | ३७६ |
| सामिधे नौकदन्वाङ्गः | ३८३ | स्यात् कृत्प्रतिषेधात् | ४६२ |
| सानोः कर्षाष्टैर्यकदेशेन | ३७० | स्थानस्य मुष्मलात् | ४५८ |
| साभ्युत्थाने विश्वजित् | ७११ | स्यात् प्रकृतिलिङ्गलात् | ३४४ |
| सारस्रते च दर्शनात् | ७३७ | स्यात् श्रुतिलक्षणे | ६६८ |
| सारस्रते विप्रतिषेधात् | २०६ | स्यादनित्यलात् | ३०३ |
| साख्यात् | १०३ | स्यादन्यायलात् | ६८२ |
| सार्वाकाथ्यमङ्गकामिः | ५०४ | स्याद्योगाद्या हि | ७५ |
| सार्वरूपाच्च | ५२० | स्याद्वा चान्यर्थदर्शनात् | ३४८ |
| सा लिङ्गादालिङ्गे | ५३२ | स्याद्वा कारकाभावात् | ३५६ |
| सङ्गनाके च कालविधिः | २५२ | स्याद्वा द्रव्यचिकीर्षायां | ४४८ |
| सोमपानानु प्रापथं | ७६८ | स्याद्वा प्राप्तिनिमित्तलात् | ८२१ |
| सोमशैकेषां | ५८८ | स्याद्वा प्राप्तिनिमित्तलादतद्धर्मः | ६७८ |
| सोमे वचनाङ्गस्यः | ३४८ | स्याद्वा यज्ञार्थलात् | ७२७ |
| सौवामण्याच्च पश्येत् | ३४६ | स्याद्वा विधिसदर्थेन | ५८१ |

| सूचम् | पृष्ठः | सूचम् | पृष्ठः |
|----------------------------|------------|----------------------------|---------|
| स्याद्वास्य संयोगात् | .. ३२७ | स्वामिसप्तदशाः | ... ४०५ |
| स्याद्विद्यार्थत्वात् | ... ५८१ | स्वार्थेन च प्रयुक्तत्वात् | ... ७३८ |
| स्वकाले स्यात् | ... ५९२ | स्वेन स्वार्थेन सम्बन्धः | .. ४४१ |
| स्वदाने सर्वम् | .. ७४२ | चरणे तु जुहोतिः | ... ४७४ |
| स्वरूपाप्येकदेशत्वात् | ... ५२८ | हारियोजने वा | ... ३५३ |
| स्वरूपत्वनेकनिष्पत्तिः | .. ४४६ ४७० | हेतुत्वाच्च सद | ... ४५८ |
| स्ववतोस्तु वचनात् | ... ६१२ | हेतुदर्शनाच्च | ... ६८ |
| स्ववत्तामपि दर्शयति | ... ६१२ | हेतुमात्रमदन्तत्वं | .. ३१० |
| स्वस्थानास्तु विदधे रन् | ... ५६९ | हेतुर्वा स्यात् | ... ५३ |
| स्वाध्यायप्रदवचनात् | ... ५८ | होता वा मन्त्रवर्णात् | ... ३५७ |
| स्वामिकर्म परिक्रयः | .. ४१२ | होमात् | ... ३६३ |
| स्वामित्वादितरेषाम् | .. ७३५ | होमाभिषवभक्षणं | ... ६८८ |
| स्वामिधेनोस्तदन्वाङ् | .. ३९३ | होमाभिषवाभ्याश्च | .. ३५५ |
| स्वामिनो वा तदर्थत्वात्... | ३३५ ४२५ | होमास्तु व्यवतिष्ठे रन् | ... ३२८ |

मीमांसा-दर्शनम् ॥

सभाष्यम् ॥

प्रथमेऽध्याये १ पादः ॥

स. अथातो धर्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

भा. लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि, तानि (सति सम्भवे) तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगन्तव्यम् ; नाथाहारादिभिरेषां परिकल्पनीयार्थः परिभाषितश्चो वा । एवं वेदवाक्यान्त्येव एभिर्थास्त्रायन्ते ; इतरथा वेदवाक्यानि व्याख्येयानि, स्वपदार्थास्तु व्याख्येयाः, *प्रयत्नगौरवं प्रसज्येत । तत्र लोकेऽयमथशब्दो वृत्तादनन्तरस्य प्रक्रियार्थो दृष्टः, नचेह किञ्चिद्दृत्तमुपलभ्यते ; भवितव्यन्तु तेन, यस्मिन् सति अनन्तरं धर्मजिज्ञासाऽवकल्प्यते ; तथाहि प्रसिद्धपदार्थकः स कल्पितो भवति, तत्तु वेदाध्ययनं, तस्मिन् हि सति साऽवकल्प्यते । 'नैतदेवं, अन्यस्यापि कर्मणोऽनन्तरं धर्मजिज्ञासा युक्ता प्रागपि च वेदाध्ययनात्' । उच्यते,— मातृशान्तु धर्मजिज्ञासां अधिष्ठत्याथशब्दं प्रयुक्तवानाचार्यः, या वेदाध्ययनमन्तरेण न सम्भवति । कथं ? वेदवाक्यानामनेकविधो विचार इह वर्तिस्यते । अपिच नैव वयमिह

* अत्र इतीति पाठो भवितुं युक्तः । प्रबल इत्यत्र स्वयत्न इति का० सं ॥

B

भा. वेदाध्ययनात् पूर्वं धर्मजिज्ञासायाः प्रतिषेधं श्लिषः, परस्ताच्चानन्तर्यम्, न ह्येतदेकं वाक्यं पुरस्ताच्च वेदाध्ययनात् धर्मजिज्ञासां प्रतिषेधिस्यति*, परस्ताच्चानन्तर्यं प्रकरिष्यति, भिद्येत हि तथा वाक्यम्, अन्या हि वचनव्यक्तिरस्य पुरस्तात् वेदाध्ययनाद्धर्मजिज्ञासां प्रतिषेधत, अन्या च परस्तादानन्तर्यमुपदिशत, 'वेदानधीत्य'—इति एकस्यां विधीयते अनूद्य आनन्तर्यं, विपरीतमन्यस्याम्; अर्थं कत्वाच्च एकवाक्यतां वक्ष्यति। किञ्चाधीते वेदे द्वयमापतति, गुरुकुलाच्च समावर्त्तितत्वं, वेदवाक्यानि च विचारयितव्यानि; तच्च 'गुरुकुलान्मा समावर्त्तिष्ट', कथं नु वेदवाक्यानि विचारयेत्? इत्येवमर्थोऽध्यमुपदेशः। 'यद्येवं, न तर्हि वेदाध्ययनं पूर्वं गम्यते, एवं हि समामनन्ति 'वेदमधीत्य स्थायात्'—इति, इह च वेदमधीत्य स्थास्यन् धर्मं जिज्ञासमानः इममाग्नायमतिक्रामेत्! न चाग्नायो नाम अतिक्रामितव्यः। तदुच्यते,—अतिक्रमिष्याम इममाग्नाम् अनतिक्रामन्तो वेदमर्थवन्तं, सन्तमनर्थकमवकल्पयेम; दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनं नाम। न च तस्याध्ययनमात्रात् तत्रभवन्तो याञ्चिकाः फलं समामनन्ति, यदपि च समामनन्तीव, तत्रापि 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्'—इत्यर्थवादतां वक्ष्यति। न च 'अधीतवेदस्य ज्ञानानन्तर्यमेतत् विधीयते'। न ह्यज्ञानान्तर्यस्य वक्ता कश्चिच्छब्दोऽस्ति? पूर्वकालतायां त्वा स्मर्यते, न आनन्तर्ये। दृष्टार्थता वाध्ययनस्य, आनन्तर्ये व्याह्रन्येत! लक्षणया त्वेषोऽर्थः स्यात्, न वेदं ज्ञानमदृष्टार्थं विधीयते; किन्तु लक्षणया अज्ञानादिनियमस्य पर्यवसानं वेदाध्ययनसमकालमाहुः; 'वेदमधीत्य स्थायात्', 'गुरुकुलात् मा समावर्त्तिष्ट'—इति अदृष्टार्थतापरिहारायैव।

* प्रतिषेधसिध्यतीति का० ब्री० ।

भा. तस्मात् वदाध्ययनमेव पूर्वमभिनिवर्त्यानन्तरं धर्मो जिज्ञासितथः—इति अथब्रह्मस्य सामर्थ्यम् । नच ब्रूमोऽन्यस्य कर्मणोऽनन्तरं धर्मजिज्ञासा न कर्तव्येति ; किंतु वेदमधीत्य त्वरितेन न ज्ञातयं, अनन्तरं धर्मो जिज्ञासितथः—इति अथब्रह्मस्यार्थः ॥

अतःब्रह्मो वृत्तस्यापदेब्रह्मको हेत्वर्थः, यथा, सोमसुभिषोऽयम्, अतोऽहमस्मिन् देवे प्रतिवसामिति, एवं, अधोतो वेदो धर्म-जिज्ञासायां हेतुर्ज्ञातः, अनन्तरं धर्मो जिज्ञासितथ इति अतः-ब्रह्मस्य सामर्थ्यम् । धर्माय हि वेदवाक्यानि विचारयितुमनधी-तवेदो न ब्रह्मयात्, अतः (एतस्मात् कारणात्) अनन्तरं धर्मं जिज्ञासितुमिच्छेदित्यतःब्रह्मस्यार्थः ॥

धर्माय जिज्ञासा धर्मजिज्ञासा, सा हि तस्य ज्ञातुमिच्छा । स कथं जिज्ञासितथः ? । को धर्मः, कथंलक्षणः, कान्यस्य साध-नानि, कानि साधनाभासानि, किंपरश्चेति । तत्र को धर्मः, कथं-लक्षणः—इति एकेनैव सूत्रेण व्याख्यातं—‘चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः’—इति । कानि अस्य साधनानि, कानि साधनाभासानि, किंपरश्चेति शेषलक्षणेन व्याख्यातं, क्व पुरुषपरत्वं, क्व वा पुरुषो गुणभूतः ?—इत्येतासां प्रतिज्ञानां पिण्डस्यैतत् सूत्रम् ‘अथातो-धर्मजिज्ञासा’—इति । ‘धर्मः प्रसिद्धो वा स्यात्, अप्रसिद्धो वा ? स चेत्प्रसिद्धः, न जिज्ञासितथः ; अथाप्रसिद्धः, नतरां ; तदेतदनर्थकं धर्मजिज्ञासाप्रकरणं, अथवार्थवत् ?’ । धर्मं प्रति हि विप्रतिपत्ता ब्रह्मविदः,—केचिदन्यं धर्ममाहुः, केचिदन्यं ; सोऽयमविचार्य प्रवर्त्तमानः कश्चिदेवोपाददानो विद्वन्धेत, अनर्थं च ऋच्छेत्, तस्माद्धर्मो जिज्ञासितथ इति ; स हि निःश्रेयसेन पुरुषं संयुन-त्तीति प्रतिजानीमहे । तदभिधीयते

स. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥ २ ॥

भा. ‘चोदना’—इति क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनमाहुः, आचार्य-

भा. चोदितः करोमिति हि दृश्यते । लक्ष्यते येन तल्लक्ष्यं धूमो लक्षणमग्रेरिति हि वदन्ति । तथा यो लक्ष्यते, सोऽर्थः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे । चोदना हि भूतं, भवन्तं, भविष्यन्तं, सूक्ष्मं, व्यवहितं, विप्रलक्ष्यमित्येवंजातीयकमर्थं ज्ञातोत्यवगमयितुं, नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम् ; नच तथाभूतमप्यर्थं ब्रूयाच्चोदना, यथा यत्किञ्चन लौकिकं वचनं,—नद्यास्तीरे फलानि सन्ति—इति ; तत् तथ्यमपि भवति, वितथ्यमपि भवतीति । उच्यते, विप्रतिसिद्धमिदमुच्यते,—‘ब्रवीति वितथञ्च’ इति, ब्रवीति—इति उच्यतेऽवबोधयति (बुध्यमानस्य निमित्तं भवति) इति, यस्मिंश्च निमित्तभूते सति अवबुध्यते सोऽवबोधयति ; यदि च चोदनायां सत्यामग्निहोत्रात् स्वर्गो भवतीति गम्यते कथमुच्यते,—न तथा भवतीति ; अथ न तथा भवतीति, कथमवबुध्यते ? असन्तमर्थमवबुध्यते—इति विप्रतिसिद्धम् । नच ‘स्वर्गकामो यजेत’—इत्यतो वचनात् सन्दिग्धमवगम्यते,— भवति वा स्वर्गो न वा भवति—इति । नच निश्चितमवगम्यमानमिदं मिथ्या स्यात्, यो हि जनित्वा प्रधंसते—नैतदेवमिति, स मिथ्याप्रत्ययः ; नचैष कालान्तरे, पुरुषान्तरे, अवस्थान्तरे, देवान्तरे वा विपर्ययति । तस्मादवितथः । यस्तु लौकिकं वचनं, तच्चेत् प्रत्ययितात् पुरुषात्, इन्द्रियविषयं वा, अन्नितथमेव तत् ; अथाप्रत्ययितात्, अनिन्द्रियविषयं वा, तावत् पुरुषबुद्धिप्रभवमप्रमाणम्, अत्रकथं हि तत् पुरुषेण ज्ञातुमृते वचनात् । ‘अपरस्मात्पौरुषेयाद्दचनात् तदवगतम्’—इति चेत् । तदपि तेनेव तुल्यम्, नैवंजातीयकेष्वर्थेषु पुरुषवचनं प्रामाण्यमुपैति, जात्यन्धानामिव वचनं रूपविशेषेषु ‘नच विदुषामुषदेशो नावकल्प्यते, उपदिष्टवन्तश्च मन्वाद्यस्तस्मात् पुरुषात् सन्तो विदितवन्तश्च, यथा चक्षुषा रूपमुपलभ्यते इति दर्शनाद्देवावगतम्’ । उच्यते । उपदेशा हि ध्यामोहादपि भवन्ति, अस्ति

भा. व्यामोहे वेदादपि भवन्ति । अपिच पौषवेयादचनात् 'एवं
 अयं पुरुषो वेद'—इति भवति प्रत्ययः, न 'एवं अयमर्थः'
 —इति; विद्भवते हि खल्वपि कश्चित् पुरुषकृतात् वचनात्
 प्रत्ययः, नतु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति । 'ननु
 स्वमान्यतोदृष्टं पौषवेयं वचनं वितथमुपलभ्य वचनसाम्यादि-
 दमपि वितथमवगम्यते' । न अन्यत्वात्, न अन्यस्य वितथभावे-
 ऽन्यस्य वैतथ्यं भवितुमर्हति, अन्यत्वादेव, न हि देवदत्तस्य
 म्यामत्वे यद्देवदत्तस्यापि म्यामत्वं भवितुमर्हति । अपि च 'पुरुष-
 वचनसाधर्म्यात् वेदवचनं वितथम्'—इति अनुमानं व्यपदेशा-
 दवगम्यते, प्रत्यक्षस्तु वेदवचनेन प्रत्ययः, नचानुमानं प्रत्यक्ष-
 विरोधि प्रामाणं भवति । तस्माच्चोदनालक्षणादर्थः श्रेयस्कारः ।
 'एवं तर्हि श्रेयस्कारो जिज्ञासितथः, किं धर्मजिज्ञासया?' उच्यते,
 —य एव श्रेयस्कारः, स एव धर्मशब्देनोच्यते । कथमवगम्यतां ? ।
 यो हि यागमनतिष्ठति, तं 'धार्मिकः'—इति समाचक्षते, यस्य
 यस्य कर्ता, स तेन व्यपदिश्यते, यथा पावकः, लावक इति ;
 तेन यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति, स धर्मशब्देनोच्यते । न
 केवलं लोके, वेदेऽपि 'यद्देन यज्ञमयजन्त देवाः, तानि धर्माणि
 प्रथमान्यासन्'—इति यजतिशब्दवाच्यमेव धर्मं समामनन्ति ।
 उभयमिह चोदनया लक्ष्यते, अर्थोऽनर्थश्च इति ; कोऽर्थः ?
 यो निःश्रेयसाय, ज्योतिष्टोमादिः । कोऽनर्थः ? यः प्रत्यवायाय,
 श्वेनो, वसः, इषुरित्येवमादिः । तत्र 'अनर्थो धर्म उक्तो मा
 भूत् इति अर्थग्रहणम् । कथं पुनरसावनर्थः ? । हिंसा हि सा ;
 हिंसा च प्रतिसिद्धेति । कथं पुनरनर्थः कर्तव्यतयोपदिश्यते ? ।
 उच्यते । नैव श्वेनादयः कर्तव्या विज्ञायन्ते, 'यो हि हिंसितु-
 मिच्छेत्, तस्यायमभ्युपासः'—इति हि तेषामुपदेशः, श्वेने-
 नाभिचरन् यजेत—इति हि समामनन्ति, न 'अभिचरितथम्'
 —इति । ननु 'अशक्तं इदं सूत्रं, इमावर्धावभिवदितुं,—चोदना-

भा. लक्षणो धर्मः, न इन्द्रियादिलक्षणः ; अर्थस्य धर्मः, न अनर्थ इति ; एकं हीदं वाक्यं, तदेवंसति भिद्येत । उच्यते,—यत्र वाक्यादर्थोऽवगम्यते, तत्रैवम्, तत्तु वैदिकेषु, न सूत्रेषु, अन्यतोऽवगतेऽर्थे 'सूत्रं एवमर्थमिदम्'—इत्यवगम्यते ; तेन च 'एक-देवः सूचते'—इति सूत्रं ; तत्र भिन्नयोरेव वाक्ययोरिमावेक-देवावित्यवगम्यते । अथवा अर्थस्य सतश्चोदनालक्षणस्य धर्म-त्वमुच्यते इति एकार्थमेवेति ।

सू. तस्य निमित्तपरीष्टिः ॥ ३ ॥

भा. उक्तमस्माभिः 'चोदनानिमित्तं धर्मस्य ज्ञानम्' इति ; तत् प्रतिज्ञामात्रेणोक्तम्, इदानीं तस्य निमित्तं परीक्षिष्यामहे,— किं चोदनैवेति, अन्यदपीति ; तस्मान्न तावन्नश्नीयते 'चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्मः'—इति । तदुच्यते

सू. सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्
अनिमित्तं विद्यमानोपलभनत्वात् ॥ ४ ॥

भा. इदं परीच्यते,—प्रत्यक्षं तावदनिमित्तं । किंकारणं ? एवं-लक्षणकं हि तत्, सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म, तत् प्रत्यक्षं (सति इन्द्रियार्थसम्बन्धे या पुरुषस्य बुद्धिर्जायते, तत् प्रत्यक्षं), भविष्यन् च एषोऽर्थो न ज्ञानकालेऽस्तीति, सतश्चै-तदुपलभनं, नासतः । अतः प्रत्यक्षमनिमित्तं । बुद्धिर्वा, जन्म वा, सन्निकर्षो वेति नैषां कस्यचिदवधारणार्थमेतत् सूत्रं ; सति इन्द्रियार्थसम्प्रयोगे, नासति इत्येतावदवधार्यते, अनेकस्मिन्न-वधार्यमाणे भिद्येत वाक्यं । प्रत्यक्षपूर्वकत्वाच्चानुमानोपमा-नार्थापत्तीनामप्यकारणत्वमिति ॥

अभावोऽपि नास्ति यतः

स. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुप-
देशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं
वादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥ ५ ॥

भा. 'औत्पत्तिकः'—इति नित्यं ब्रूमः, उत्पत्तिर्हि भाव उच्यते
लक्षणया* । अवियुक्तः शब्दार्थयोर्भावः सम्बन्धः, नोत्पन्नयोः
पश्चात् सम्बन्धः, औत्पत्तिकः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः, तस्य (अग्नि-
होत्रादिलक्षणस्य धर्मस्य) निमित्तं प्रत्यक्षादिभिरनवगतस्य ।
कथं ? । उपदेशो हि भवति, 'उपदेशः' इति विशिष्टस्य शब्दस्य
उच्चारणं । अव्यतिरेकश्च ज्ञानस्य, न, हि तदुत्पन्नं ज्ञानं
विपर्येति ! यच्च नाम ज्ञानं न विपर्येति, न तत् शक्यते वक्तुं
'न एतदेवम्'—इति ; यथा विज्ञायते, न तथा भवति, यथै-
तन्न विज्ञायते, तथैतदिति, अन्यदस्य हृदये, अन्यद्वाचि स्यात्,
एवंवदतो विरुद्धमिदं गम्यते,—अस्ति नास्ति वेति । तस्मात्
तत् प्रमाणमनपेक्षत्वात् । न ह्येवंसति प्रत्ययान्तरमपेक्षितत्वं,
पुरुषान्तरं वापि, अयं प्रत्ययोऽसौ । वादरायणप्रह्वणं वाद-
रायणस्येदं मतं कीर्त्तयते वादरायणं पूजयितुं, नात्मीयं मतं
पश्यदसितुम् ॥

वृत्तिकारस्तु अन्यथेमं ग्रन्थं वर्णयांचकार 'तस्य निमित्तप-
रीष्टिः'—इत्येवमादिं,—न परीक्षितत्वं निमित्तं, प्रत्यक्षादीनि
हि प्रसिद्धानि प्रमाणानि, तदन्तर्गतं च शास्त्रं, अतस्तदपि न
परीक्षितव्यम् । 'अचोच्यते,—व्यभिचारात् परीक्षितत्वं,—
शुक्तिका हि रजतवत् प्रकाशते यतः, तेन प्रत्यक्षं व्यभिचरति,
तन्मूलत्वाच्चानुमानादीन्यपि । तत्रापरीक्ष्य प्रवर्त्तमानोऽर्थात्
विद्वन्धेत्, अनर्थं चाप्नुयात् कदाचित्' । नैतदेवं,—यत् प्रत्यक्षं,

* लक्षणया अवियुक्तः, इति वा पाठः ॥

भा. न तत् अविचरति, यत् अविचरति, न तत् प्रत्यक्षं। किं तर्हि प्रत्यक्षं?। 'तत्संप्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियानां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षं', यद्विषयं ज्ञानं, तेनैव संप्रयोगे इन्द्रियाणां, पुरुषस्य बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षं; यदन्यविषयज्ञानमन्यसंप्रयोगे भवति, न तत् प्रत्यक्षं। कथं पुनरिदमवगम्यते? इदं तत्संप्रयोगे, इदमन्यसंप्रयोगे इति। यत् न अन्यसंप्रयोगे, तत् तत्संप्रयोगे, एतद्विपरीतमन्यसंप्रयोग इति। 'कथं ज्ञेयं? यत्सुकृत्कियायामपि रजतं मन्यमानो रजतसंनिहातं मे चक्षुरिति मन्यते'। बाधकं हि यच्च ज्ञानमुत्पद्यते,—नैतदेवं, मिथ्याज्ञानमिति, तत् अन्यसंप्रयोगे, विपरीतं तत्संप्रयोगे इति। 'प्राग्बाधकज्ञानोत्पत्तेः कथमवगम्यते? यदा न तत्काले सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानस्य वा कश्चिद्विशेषः'। यदा हि चक्षुरादिभिरुपहृतं मनो भवति, इन्द्रियं वा तिमिरादिभिः, शौष्मादिभिर्वाह्यो वा विषयः, ततो मिथ्याज्ञानं, अनुपहृतेषु हि सम्यक्ज्ञानं; इन्द्रियमनोर्धसंनिकर्षो हि सम्यक्ज्ञानस्य हेतुः, असति तस्मिन्मिथ्याज्ञानं, तदुभयगतो दोषो मिथ्याज्ञानस्य हेतुः; दुष्टेषु हि ज्ञानं मिथ्या भवति। कथमवगम्यते?। दोषापगमे संप्रतिषत्तिदर्शनात्। कथं दुष्टादुष्टावगमः? इति चेत्। प्रयत्नेनाग्नौ च्छन्तो न चेद्दोषमवगच्छेमहि, प्रमाणाभावाद्दुष्टमिति मन्येमहि। तस्मात् यस्य च दुष्टं कारणं, यच्च मिथ्येति प्रत्ययः, स एवासमीचीनः प्रत्ययो नान्य इति।

ननु 'सर्वं एव निरालम्बनः स्वप्नवत्प्रत्ययः, प्रत्ययस्य हि निरालम्बनता—स्वभाव उपलक्षितः स्वप्ने, जायतोऽपि 'स्तम्भः'—इति वा 'कुड्यः'—इति वा प्रत्यय एव भवति; तस्मात्सोऽपि निरालम्बनः'। उच्यते,—'स्तम्भः'—इति जायतो बुद्धिः सुपरिनिश्चिता कथं विपर्ययसिध्यतीति?। 'स्वप्नेऽप्येवमेव सुपरिनिश्चिताऽसीत्, प्राक्प्रबोधनात् न तच्च कश्चिद्विशेष इति'। न, स्वप्ने विपर्ययदर्शनात्; अविपर्यय-

भा. वाच इतरस्मिन् । 'तस्यामाग्यादितरचापि भविष्यति' इति चेत् । यदि प्रत्ययत्वात्सप्रप्रत्ययस्य मिथ्याभावः, आपत्प्रत्ययस्यापि तथा भवितुमर्हति । अथ* 'प्रतीतिस्तथाभावस्य हेतुः' । न ब्रह्मते 'प्रत्ययत्वात्' अवगम्यः—इति ब्रह्मं । अन्वयतस्तु सप्रप्रत्ययस्य मिथ्याभावो विपर्ययाद्दवगतः‡ । कुतः?—इति चेत् । अनिद्रस्य मनसो दौर्बल्याज्जिह्वा मिथ्याभावस्य हेतुः सप्रादौ सप्रान्ते च । सुषुप्तस्याभाव एव§; अचेतयमेव हि 'सुषुप्तः'—इत्युच्यते । तस्माज्जायतः प्रत्ययो न मिथ्येति ॥ ननु 'आपत्तोऽपि करणदोषः स्यात्' । यदि स्यात्, अवगम्येत ॥ 'सप्रदर्शनकालेऽपि नावगम्यते'—इति चेत् । तत्र प्रबुद्धो अवगच्छति 'निद्राज्ञानं मे मनः आसीत्'—इति ।

'अन्यस्तु । कथं ? । अर्थज्ञानयोराकारभेदं नोपलभामहे । प्रत्यक्षा च नो बुद्धिः, अतस्तद्विचक्षणरूपं नाम न किञ्चिदस्तीति पश्यामः' । स्यादेतदेवं, यद्यर्थाकारा बुद्धिः स्यात्; निराकारा तु नो बुद्धिः, आकारवान् वाच्योऽर्थः; स हि बहिर्देवसंबद्धः प्रत्यक्षमुपलभ्यते । अर्थविषया हि प्रत्यक्षबुद्धिः, न बुद्ध्यन्तरविषया; अणिका हि सा, न बुद्ध्यन्तरकालमवस्थास्वते इति । 'उत्पद्यमानैवासौ ज्ञायते, ज्ञापयति च अर्थान्तरं, प्रदीपवत् इति'—यत् उच्येत । तत्र । नञ्ज्ञातेर्भ्ये कश्चिद् बुद्धिमुपलभते । ज्ञाते तु अनुमानाद्दवगच्छति, तत्र बौगपद्यमनुपपन्नं । ननु 'उत्पन्नायामेव बुद्धौ 'ज्ञातोऽर्थः'—इत्युच्यते, नानुत्पन्नाया, अतः पूर्वं बुद्धिर्त्पद्यते, पश्चात् ज्ञातोऽर्थः' । सत्त्वं, पूर्वं बुद्धिर्त्पद्यते, न

* अथ 'प्रत्येतीति' इति अधिकं का० सं० ।

† 'प्रत्ययात्' इति का० श्री० पाठः ।

‡ 'विपर्ययवशादागतः' इति प्रा० पु० ।

§ 'सप्रादौ सप्रान्ते च विपर्ययदर्शनात् सुषुप्ताभाव एव' इति का० सं० ।

भा. तु पूर्वं ज्ञावते । भवति हि कदाचिदेतत्, यत्, ज्ञातोऽपर्ययः सन्
 'अज्ञातः'—इत्युच्यते । न चार्थव्यपदेशमन्तरेण बुद्धेः रूपोप-
 लम्बनं । तस्मात्तद्व्यपदेश्या बुद्धिः, अथपदेश्यं च माप्रत्यक्षं* ।
 तस्मादप्रत्यक्षा बुद्धिः ॥ अपिच काममेकरूपत्वे बुद्धेरेवाभावः,
 नार्थस्य प्रत्यक्षस्य सतः । नच ऐकरूप्यं, अनाकारामेव
 हि बुद्धिमनुमिमीमहे, साकारं चार्थं प्रत्यक्षमेवावगच्छामः ।
 तस्मादर्थावलम्बनः प्रत्ययः ॥ अपिच नियतनिमित्तः तन्मुखेव
 उपपत्तीयमानेषु पटप्रत्ययः । इतरथा तन्वादानेऽपि कदाचित्
 घटबुद्धिरविकलेन्द्रियस्य स्यात्; नचैवमस्ति, अतो न निरा-
 लम्बनः प्रत्ययः । अतो न व्यभिचरति प्रत्यक्षं ॥

अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निल्लष्टेऽर्थे
 बुद्धिः । तत्तु द्विविधं—प्रत्यक्षतोऽदृष्टसंबन्धं, सामान्यतोऽदृष्ट-
 संबन्धं च । प्रत्यक्षतोऽदृष्टसंबन्धं यथा, धूमाहतिर्दृशनादग्नाहति-
 विज्ञानं । सामान्यतोऽदृष्टसंबन्धं यथा, देवदत्तस्य गतिपूर्विकां
 देवान्तरप्राप्तिमुपलभ्यादित्यगतिस्मरणं ॥ ज्ञात्वं ब्रह्मविज्ञानात्
 असन्निल्लष्टेऽर्थे विज्ञानं ॥ उपमानमपि (सादृश्यं) असन्निल्लष्टेऽर्थे
 बुद्धिमुत्पादयति । यथा, गवयदर्शनं गोस्मरणस्य ॥ अर्थापत्ति-
 रपि 'दृष्टः, श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते'—इत्यर्थकल्पना ।
 यथा, जीवति देवदत्ते गृह्णाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य
 कल्पना ॥ अभावोऽपि प्रमाणाभावो 'नास्ति'—इत्यस्यार्थस्या-
 सन्निल्लष्टस्य ॥ तस्मात् प्रसिद्धत्वात् न परीक्षितार्थं निमित्तं ।

ननु "प्रत्यक्षादीन्यन्यानि भवन्तु नाम प्रमाणानि,
 ब्रह्मस्तु न प्रमाणं । कुतः? 'अनिमित्तं विद्यमानोपलम्बनत्वात्'
 (६।११) । अनिमित्तं (अप्रमाणं) ब्रह्मः । यो ह्युपलम्बनविषयः

* अथ न प्रत्यक्षमिति पाठो भवितुं युक्तः ।

† 'जीवतो देवदत्तस्य' इति का० सं० ।

‡ एतत्पूर्वंपक्षसमापनं तु । ११ । १७ । पङ्क्तौ ।

भा. नोपलभ्यते, स नास्ति, यथा ब्रह्मस्य विषाणं । उपलभ्यमानानि चेन्द्रियाणि पञ्चादीनां, नच, पञ्चकामेन्द्रियनन्तरं पञ्चवः उपलभ्यन्ते । अतो नेष्टिः पञ्चपाषाण । कर्मकाले च फलेन भवितव्यं, यत्कालं हि मर्हन्नं, तत्कालं मर्हनसुखं । 'कालान्तरे फलन्दास्यति' इति चेत् । न । 'न कालान्तरे फलमिष्टेः'—इत्यवगच्छामः* कुतः ? । यदा तावदसौ विद्यमाना आसीत्, तदा फलं न दत्तवती ; यदा फलमुत्पद्यते, तदाऽसौ नास्ति ; असती कथं दास्यति ? † ।

प्रत्यक्षं च फलकारणमन्यत् उपलभामहे । नच दृष्टे कारणे सति, अदृष्टं कल्पयितुं शक्यते, प्रमाणाभावात् । एवं दृष्टापचारस्य वेदस्य स्वर्गाद्यपि फलं न भवतीति मन्यामहे ॥ दृष्टविषयमपि भवति किञ्चिदचनं,—पाचयनं विधाय आह—“स एष यज्ञायुधी यजमानोऽङ्गसा स्वर्गं लोकं याति”—इति प्रत्यक्षं शरीरकं व्यपदिशति, नच तत् स्वर्गं लोकं यातीति, प्रत्यक्षं हि तत् दृश्यते, “नचैष याति” इति विधिब्रह्मः । एवंजातीयकं प्रमाणविषयं वचनमप्रमाणं ; अम्बुनि मज्जति अलावूनि, यावाणः ज्वन्ते—इति यथा । तत्सामान्यादग्निहोत्रादिहोदनालक्षणानु-
श्वासः । तस्मान्न होदनालक्षणोऽर्थो धर्मः” ॥

'श्रौतपत्तिकस्तु ब्रह्मदस्यार्थेन संबन्धस्तस्य ज्ञानं' (७।१) । तु-
ब्रह्मः पक्षं व्यावर्त्तयति । अपौरुषेयः ब्रह्मदस्यार्थेन संबन्धः । तस्य (अग्निहोत्रादिलक्षणस्यार्थस्य) ज्ञानं प्रत्यक्षादिभिरनवगम्य-
मानस्य । तथा च होदनालक्षणः सम्यक्संप्रत्ययः इति । पौरुषेये हि ब्रह्मे यः प्रत्ययः, तस्य मिथ्याभाव आशङ्कितः ; परप्रत्ययो

* 'कालान्तरे फलं मिथेत्यवगच्छामः' इति का० सं० ॥

† 'अपिच तत्काल एव फलं श्रूयते, यागः कारणमिति वाक्यादवगम्यते, कारणं चेदुत्पन्नं, प्रार्थ्यं च भवितव्यं' इति अधिकं प्रा० पु० ॥

‡ 'पौरुषेये हि सति सम्बन्धे यदास्य प्रत्ययः, तदा' इति का० सं० ॥

इति तदा स्यात्। अथ ब्रह्मे ब्रुवति कथं निश्चयेति? नहि तदानीं
 अन्यतः पुष्यादवगतिमिच्छामः। ब्रवीतीत्युच्यते—बोधयति
 (बुद्धमानस्य निमित्तं भवति) इति ब्रह्मे च निमित्ते स्वयं बुध्यते;
 कथं विप्रखण्डं ब्रूयात्?—‘नैतदेवं’—इति। नचास्य चोदना
 ‘स्याद्वा न वा’ इति—सांख्यिकं प्रत्ययमुत्पादयति। नच ‘निश्चै-
 तत्’—इति कालान्तरे देवान्तरेऽवस्थान्तरे पुष्यान्तरे वा पुनर-
 व्यपदेश्यप्रत्ययो भवति?। योग्यस्य प्रत्ययविपर्ययात् कृद्वा
 अत्रापि विपर्ययसिध्यति—इत्यानुमानिकः प्रत्ययः उत्पद्यते,*
 योग्येन प्रत्ययेण प्रत्ययेन विषयमानो बाध्यते। तस्मा-
 चोदनालक्षण एव घर्मः ॥

‘स्यादेतदेवं, नैव ब्रह्मस्यार्थेन सम्बन्धः, कुतोऽस्य पौषधेयता
 अपौषधेयता वेति। कथं?। स्यादेदर्थेन सम्बन्धः, क्षुरमोदक-
 ब्रह्मोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणे स्यातां।। यदि संश्लेषलक्षणं
 सम्बन्धमभिप्रेत्योच्यते। कार्यकारण—निमित्तनैमित्तिकाभ्या-
 याश्रयिभाव—संयोगादयस्तु। सम्बन्धाः ब्रह्मस्यानुपपन्ना
 एवेति ॥

भा. उच्यते। यो अत्र व्यपदेश्यः सम्बन्धः, तमेकं न व्यपदिशति
 भवान्, प्रत्यायकस्य, प्रत्यायकस्य च यः सङ्गासङ्गिलक्षणः† इति।
 ‘आह, यदि प्रत्यायकः ब्रह्मः, प्रथमश्रुतः किं न प्रत्याययति?’।
 उच्यते। सर्वत्र नो दर्शनं प्रमाणं, ‘प्रत्यायकः’—इति हि
 प्रत्ययं कृद्वावगच्छामः ‘न प्रथमश्रुतः’—इति प्रथमश्रवणे प्रत्यय-
 ब्रह्म, तावत्कृत्वःश्रुतेन ‘इयं संज्ञा, अयं संज्ञी’—इत्यवधारितं
 भवति, तावत्कृत्वःश्रुतादर्थावगम इति। यथा चक्षुः कृष्टु, न
 बाधेन प्रकाशेन विना प्रकाशयतीति अकृष्टु न भवति ॥ यदि

* ‘उत्पाद्यते’ इति प्रा० पु० । † ‘बौनादयस्तु’ इति का० सं० ।

‡ ‘लक्षणः तं’ इति का० मी० ।

भा. प्रथमश्रुतो न प्रत्याववति, ज्ञातकस्तर्हि ब्रह्मस्यार्थेन संबन्धः ।
 कुतः ? । स्वभावतो असंबन्धावेती ब्रह्मार्थो, मुखे हि ब्रह्ममुप-
 लभामहे, भूमावर्धं, 'ब्रह्मोर्धं न त्वर्धं, अर्थोर्धं न ब्रह्मः'—
 इति च व्यपदिशन्ति रूपभेदोऽपि भवति । 'गौः'—इतीमं ब्रह्म-
 नुच्चारयन्ति, साक्षाद्दिमन्तमर्थमवबुध्यन्ते इति । पृथग्भूतयोश्च
 यः सम्बन्धः, स ज्ञातको दृष्टः, यथा रज्जुघटयोरिति ॥

अथ 'गौः'—इत्यथ कः ब्रह्मः ? । गकारौकारविसर्जनीया इति
 भगवानुपवर्धः ; ओषपद्वये हि अर्थे लोके ब्रह्मब्रह्मः प्रसिद्धः,
 ते च ओषपद्वयाः ॥ "यद्येवं, अर्थप्रत्ययो नोपपद्यते ॥ कथं ? ।
 एकैकाक्षरविज्ञानेर्धो नोपलभ्यते ; नचाक्षरव्यतिरिक्तोऽन्यः
 कश्चिदस्ति समुदायो नाम ; यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात् । यदा
 गकारः, न तदा श्रीकारविसर्जनीयौ, बहौकारविसर्जनीयौ, न
 तदा गकारः । अतो* गकारादिव्यतिरिक्तोऽन्यो गोब्रह्मोऽस्ति, †
 यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात् । 'अन्तर्हिते ब्रह्मे स्याद्व्यादर्थप्रतिपत्तिः
 चेत्' । न, स्युतेरपि चक्षिकत्वाद्दृष्टस्तुष्यता" । पूर्ववर्णज-
 नितसंस्कारसहितोऽन्तरो वर्धः प्रत्यायकः—इत्यदोषः ॥ 'नन्वेवं
 'ब्रह्मादर्थं प्रतिपद्यामहे'—इति लौकिकं वचनमनुपपन्नं स्यात्' ।
 उच्यते । यदि नोपपद्यते, अनुपपन्नं नाम । न हि 'लौकिकं
 वचनमनुपपन्नं'—इत्येतावता प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानोऽर्थः
 ब्रह्मोऽनुपपन्नम् । लौकिकानि वचनान्युपपन्नार्थानि, अनुपपन्ना-
 र्थानि च दृश्यन्ते । यथा, 'देवदत्त! गामभ्याज'—इत्येवमादीनि,
 'इत्त दाडिमानि षट् अपूपाः, ‡ इत्येवमादीनि च ॥

ननु च 'ब्राह्मकारा अप्येवमाहुः, पूर्वापरीभूतं भावमाख्याते-

* अथ गकारो ऽस्ति अधिकाः का० ग्री० पुस्तके ।

† 'गकारादिव्यतिरिक्तः कश्चिदस्ति समुदायः' इति प्रा० पु० ।

‡ 'भूजमाजिनं' इति अधिकां प्रा० पु० ।

भा. नाचष्टे 'व्रजति, पचति'—इत्युपक्रमप्रभृति अपवर्गपर्यन्तमिति यथा। न, ब्राह्मकारवचनमपि अर्थ इममर्थमप्रमाणकमुपपादयितुं ॥

अपिच नैव एतत् अनुपपन्नार्थः; 'अक्षरेभ्यः संस्काराः, संस्कारादर्थप्रतिपत्तिः'—इति संभवति अर्थप्रतिपत्तौ अक्षराणि निमित्तं। 'गौणः एवार्थप्रतिपत्तौ शब्दः'* इति चेत्। न गौणोऽक्षरेषु निमित्तभावः, तद्भावे भावात्, तद्भावे चाभावात् ॥

अथापि 'गौणः स्यात्'। न, 'गौणः शब्दो माभूत्'—इति प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानोऽर्थः शक्यः परिकल्पयितुं। न हि 'अग्निर्माणवकः'—इत्युक्ते अग्निशब्दो, 'गौणो मा भूत्'—इति 'उपलन एव माणवकः,—इत्यथवसीयते। नच प्रत्यक्षो 'गकारादिभ्योऽन्यो गोशब्दः' इति, भेददर्शनाभावात्, अभेददर्शनाच्च। गकारादीनि हि प्रत्यक्षाणि। तस्मात् 'गौः'—इति गकारादिविसर्जनीयान्तं पदं अक्षराण्येव। अतो न तेभ्यो व्यतिरिक्तं अन्यत् पदं नामेति ॥ ननु 'संस्कारकल्पनायामप्यदृष्टकल्पना'। उच्यते। शब्दकल्पनायां सा च, शब्दकल्पना च। तस्मादक्षराण्येव पदं ॥

अथ 'गौः'—इत्यस्य शब्दस्य कोऽर्थः?। 'साक्षाद्विज्ञिष्टा-हतिः'—इति ब्रूमः ॥ ननु 'आहतिः साध्याऽस्ति वा न वा' इति?। न प्रत्यक्षा सती साध्या भवितुमर्हति; 'रुचकः, सस्तिको, बर्द्धमानकः'—इति हि प्रत्यक्षं दृश्यते। 'ध्यामोहः'—इति चेत्। न। न असति प्रत्ययविपर्यासे 'ध्यामोहः'—इति शक्यते वक्तुं। 'असत्यप्यर्थान्तरे एवंजातीयको भवति प्रत्ययः; 'पंक्तिः, यूथं, वनं'—इति यथा, इति' चेत्। न, असंबद्धमिदं वचनमुपन्यस्तं; किं असति वने वनप्रत्ययो भवति इति?। प्रत्यक्षमेवाक्षिप्यते,—'दृष्ट्वा अपि न सन्ति' इति। यद्येवं, प्रत्युक्तः स

* 'गौण एवः शब्दः' इति का० सं० ॥

भा. महाशानिकः* पक्षः। अथ 'किमाहतिवद्भाववादी उपाल-
भ्यते, सिद्धान्तान्तरं ते दुष्यति इति वनेऽपि सति' वनप्रत्ययः
प्राप्नोति—इति'। एवमपि, प्रकृतं दूषयितुमशक्नुवतस्तत्-
सिद्धान्तान्तरदूषणे निपद्यस्थानमापद्यते, असाधकत्वात्। स हि
वक्ष्यति—दुष्यतु, यदि दुष्यति; किं तेन दुष्टेन, अदुष्टेन वा
प्रकृतं त्वया साधितं भवति, मदीयो वा पक्षो दूषितो भवति?
इति। न च 'दृश्यतिरिक्तं वनं यस्मात् न उपलभ्यते, अतो 'वनं
नास्ति' इत्यवगम्यते'। यदि वने अन्येन हेतुना सद्भावविपरीतः
प्रत्यय उत्पद्यते, मिथ्यैव वनप्रत्ययः—इति; ततो 'वनं नास्ति'
इत्यवगच्छामः। नच गवादिषु प्रत्ययो विपर्येति! अतो वैषम्यं।
अथ वनादिषु नैव विपर्येति, न 'ते न सन्ति'—इति। तस्मात्
असंबन्धः पंक्तिवनोपन्यासः। अत उपपन्नं जैमिनिवचनं "आ-
हतिः ब्रह्मार्थः" इति। यथाच आहतिः ब्रह्मार्थः, तद्योपरिष्ठात्
(१ अ०। ३ पा०) निपुणतरमुपपादयिष्याम इति ॥

अथ 'संबन्धः कः?' इति। यत्, ब्रह्मे विज्ञातेऽर्थो विज्ञायते,
स तु 'ज्ञतकः'—इति पूर्वं (१३।१) उपपादितं। तस्मात्
मन्यामहे—'केनापि पुरुषेण ब्रह्मानामर्थैः सह संबन्धं ज्ञत्वा
संशयद्वर्तुं वेदा प्रणीता' इति'। तदिदानीं उच्यते—अपौ-
रुषेयत्वात् सम्बन्धस्य सिद्धं इति। कथं पुनरिदमवगम्यते
'अपौरुषेयः एषः सम्बन्धः'—इति?। पुरुषस्य सम्बन्धुरभावात्।
कथं संबन्धा नास्ति?। प्रत्यक्षस्य प्रमाणस्याभावात्, तत्पूर्व-
कत्वाच्चेतरेषां। ननु 'चिरदृत्तत्वात् प्रत्यक्षस्याविषयो भवेत्
इदानीन्तनानां'। न हि चिरदृत्तः सन् न स्मर्येत। न च हिमव-
दादिषु कूपारामादिवत् अस्मरणं भवितुमर्हति ॥ पुरुषवियोगो

* 'महाशानिकः' इति बड्डु दृश्यते ।

† सतीत्यत्र 'ते हि' इति प्रा० पु० ।

भा. हि तेषु भवति, हेत्रोत्सादेन कुलोत्सादेन वा । न च, ब्रह्मार्थ-
 व्यवहारविधेयो पुरुषाणामस्ति ॥ स्यादेतत् 'सम्बन्धमात्रव्यव-
 हारिणो निःप्रबोधनं कर्तुं स्मरणमनाङ्घ्रियमाना विस्मरेयुः' इति ।
 तन्न । यदि हि पुरुषः कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारयेत्, व्यवहारकाले
 अवश्यं स्मर्त्तव्यो भवति । संप्रतिपत्तौ हि कर्तृव्यवहर्त्तारर्थः
 सिद्ध्यति, न विप्रतिपत्तौ । न हि वृद्धिब्रह्मेन अपाश्विनेर्ध्व-
 हारतः आदैचः प्रतीयेरन्,* पाश्विनिस्तितिमननुमन्यमानस्य
 वा । तथा मकारेण अपि कुलस्य न सर्वगुणस्विकः प्रतीयेत,
 पि कुलस्तितिमननुमन्यमानस्य वा । तेन कर्तृव्यवहर्त्तारौ संप्रति-
 पद्येते । तेन वेदे व्यवहरङ्गिरवश्यं स्मरणीयः संबन्धस्य कर्त्ता
 स्यात्, व्यवहारस्य च । न हि "विष्मृते वृद्धिरादैषु (पाणि० १
 सू०) इत्यस्य सूत्रस्य कर्त्तरि 'वृद्धिर्यस्याच्चाभादिः' (पा० १ अ० ।
 १ पा० । ३२ सू०) इति किञ्चित् प्रतीयेत ॥

तस्मात्कारणादवगच्छामः—न, कृत्वा संबन्धं व्यवहारार्थं
 केनचिद्देहाः प्रणीताः—इति । यद्यपि च विस्मरणमुपपद्येत,
 तथापि न प्रमाणमन्तरेण संबन्धारं प्रतिपद्येमहि, यथा,
 विद्यमानस्याप्यनुपलम्भनं भवतीति, नैतावता विना प्रमाणेन
 ब्रह्मविषयं प्रतिपद्यामहे ॥ तस्माद्दोषधेयः ब्रह्मस्यार्थेन संबन्धः
 इति ॥ ननु 'अर्थापत्त्या संबन्धारं प्रतिपद्येमहि, न कृत-
 संबन्धाद्ब्रह्मादर्थं प्रतिपद्यमानान् उपलभामहे । प्रतिपद्यारं-
 द्येत, प्रथमश्रवणेऽपि प्रतिपद्येरन्; तदनुपलम्भनादवश्यं
 भवितव्यं संबन्धा' इति चेत् । न, सिद्धवदुपदेशात् । यदि
 संबन्धुरभावात् नियोगतो नार्थाः उपलभ्येरन्, ततोऽर्थापत्त्या

* 'प्रतिपाद्येरन्' इति का०श्री० पु० ।

† 'मो तिगुः' इति पिङ्गलसूत्रं 'मस्तिगुः' इति वृत्त्यायुधकृता
 तस्यात्वा ।

भा. संबन्धारमवगच्छामः। अस्ति तु अन्यः प्रकारः ; 'वृद्धानां स्वार्थेन संख्यव्यवहारमाणां* उपप्लवणतो बालाः प्रत्यक्षमर्थं प्रतिपद्यमाना वृन्थन्ते। तेऽपि वृद्धा यदा बाला आसन्, तदाऽग्येभ्यो वृद्धेभ्यः ; तेऽप्यन्येभ्यः'—इति नास्त्यादिः—इत्येवं वा भवेत्, अथ वा ; 'न कश्चिदेकोऽपि शब्दस्वार्थेन संबन्धः आसीत्, अथ केनचित् संबन्धाः प्रवर्णिताः'—इति ; अथ वृद्धव्यवहारे सति नार्थादापद्येत संबन्धस्य कर्त्ता ॥ अपि च व्यवहारवादिनः प्रत्यक्षमुपदिशन्ति, कल्पयन्ति इतरे संबन्धारं ; नच, प्रत्यक्षे प्रत्यर्थिनि कल्पना साधी ! तस्मात् संबन्धुरभावः ।

'अद्यतिरेकश्च' (७।२) यथा अस्मिन् देशे, साक्षादिमति गोशब्दः, एवं सर्वेषु दुर्गमेष्वपि ; बहवः संबन्धारः कथं संगस्यन्ते ? एको न शक्नुयात्, अतो नास्ति संबन्धस्य कर्त्ता ॥ (अपरः आह 'अद्यतिरेकश्च' न हि, संबन्धव्यतिरिक्तः कश्चित्कालोऽस्ति ! यस्मिन् न कश्चिदपि शब्दः केनचिदर्थेन संबद्ध आसीत् । कथं ? । संबन्ध-क्रियैव हि नोपपद्यते,—अवस्थमनेन संबन्धं कुर्वता केनचिच्छब्देन कर्त्तव्यः ; येन क्रियेत, तस्य केन कृतः ? अथान्येन केनचित्कृतः ; तस्य केनेति, तस्य केनेति ? नैवावतिष्ठते । तस्मादवस्थमनेन संबन्धं कुर्वता अकृतसंबन्धाः केचन शब्दाः वृद्धव्यवहारसिद्धाः अभ्युपगन्तव्याः । अस्ति चेत् व्यवहारसिद्धिः, न नियोगतः संबन्धा भवितव्यमिति अर्थापत्तिरपि नास्ति) ।

स्यादेतत् ; 'अप्रसिद्धसंबन्धाः बालाः कथं वृद्धेभ्यः प्रतिपद्यन्ते ?' इति । नास्ति वृद्धेऽनुपपन्नं नाम ; वृद्धाः हि बालाः वृद्धेभ्यः प्रतिपद्यमानाः ; न च प्रतिपन्नसंबन्धाः संबन्धस्य कर्तुः । तस्माद्वैषम्यं ।

'अर्थेऽनुपपत्तौ' (७।२) अनुपपत्तौ च देवहतादावर्थेऽनर्थकं

* 'व्यवहृत्वां' इति प्रा० पु० ।

भा. संज्ञाकरणं, अत्रकथं च । विज्ञेयान् प्रतिपत्तुं हि संज्ञाः क्रियन्ते
 विज्ञेयांश्चोद्दिश्य; तद्विज्ञेयेष्वज्ञायमानेषु उभयमप्यनवकृतं ।
 तस्मादपौषधेयः ब्रह्मस्यार्थेन संबन्धः । अतस्तु 'तत् प्रमाणं'
 (७।२) 'अनपेक्षत्वात्' (७।३) न च, एवं सति पुत्रवान्तरं
 प्रत्ययान्तरञ्च अपेक्षयते । तस्माच्छोदनालक्षणः एव धर्मो
 नान्यलक्षणः । बादरायण्यहणमुक्तं (७।१५)* ॥

अथ, यदुक्तं (१०।२४) 'अनिमित्तं ब्रह्मः कर्मकाले फलादर्श-
 नात् कालान्तरे च कर्माभावात्प्रमाणं नास्ति'—इति । तदुच्यते—
 न स्यात्प्रमाणं, यदि पञ्चैव प्रमाणान्यभविष्यन्; येन येन हि
 प्रमोयते तत्तत् प्रमाणं, ब्रह्मेनापि प्रमोयते; ततः ब्रह्मोऽपि
 प्रमाणं, यथैव प्रत्यक्षं । न च, 'प्रमाणेनावगतं प्रमाणान्तरेणा-
 नवगतं'—इत्येतावता अनवगतं भवति । न चैवं श्रूयते—'कृते
 कर्मणि तावतैव फलं भवति; किन्तु 'कर्मणः फलं प्राप्यते'—इति,
 यच्च (११।८) 'कालान्तरे फलस्यान्यत्प्रत्यक्षं कारणमस्ति'—
 इति । नैष दोषः, तत्रैव हि तत्र कारणं, ब्रह्मश्चेति ॥

वस्तु प्रत्यक्षविषयं वचनमुपन्यस्तं (११।११) "स एष यज्ञा-
 युधी यजमानोऽङ्गसा स्वर्गं लोकं याति"—इति प्रत्यक्षं
 ब्रह्मीरकं व्यपदिशति—इति । तदुच्यते, ब्रह्मीरसंबन्धात्, यस्य
 तच्छरीरं, सोऽपि तैर्यज्ञायुधैः 'यज्ञायुधी'—इत्युच्यते । 'आह—
 कोऽसावन्यो? नैनमुपलभामहे' । प्राणादिभिरेनमुपलभामहे,
 योऽसौ प्राणिति, अपानिति, उच्छ्वसिति, निमिषति, इत्यादि
 चेष्टितवान्; सोऽपि ब्रह्मीरे 'यज्ञायुधी'—इति । ननु 'ब्रह्मीरमेव
 प्राणिति अपानिति च' । न, प्राणादयः ब्रह्मीरगुणविधर्माणोऽथा-
 वच्छरीरभाषित्वात्, यावच्छरीरं, तावदस्य गुणाः रूपादयः ।
 प्राणादयस्तु सत्यपि ब्रह्मीरे न भवन्ति । उखादयस्तु सत्यमुप-

* इतिकारमतं समाप्तं ।

भा. लभ्यते, न रूपादयः इव शरीरगुणाः परेषापीति । तस्मात्—
शरीरगुणवैधर्म्यादन्यः शरीरात् यच्चायुधीति ।

आह,—“कुतः एषः संप्रत्ययः ?—सुखादिभ्योऽन्यस्तद्वान्
अस्तीति, न हि सुखादिप्रत्याख्यानानेन तस्य स्वरूपमुपलभामहे ।
तस्मात् ब्रह्मविषाणवत् असौ नास्ति । अचोचरते, ‘तेन विना कस्य
सुखादयः?’ इति । ‘न कस्यचिदपि’—इति वक्ष्यामः । न हि
यो यः* उपलभ्यते, तस्य तस्य संबन्धिना भवितव्यं । यस्य संबन्धो-
ऽप्युपलभ्यते, संबन्धी च ‘तस्याय संबन्धी’—इति गम्यते । न हि,
चन्द्रमसं, आदित्यं वा उपलभ्य संबन्धान्वेषणा भवति—‘कस्यायं’
—इति! ‘न कस्यचिदपि’ इत्यवधार्यते । तस्मान्न सुखादिभ्योऽन्यः
तद्वान् अस्तीति । अथ ‘उपलब्धस्यावयव्यं कल्पयितव्यः संबन्धी
भवति’ । ततः आत्मानमप्यनेन प्रकारेणोपलभ्य, ‘कस्यायं’ ?—
इति संबन्ध्यन्तरमन्विष्वेम† । ‘तमपि कल्पयित्वा, अन्यमपि
कल्पयित्वा, अन्यं— इत्यवयवस्यैव स्वात् । अथ कश्चित् कल्प-
यित्वा न संबन्ध्यन्तरमपि कल्पयिष्यसि, तावत्येव विरंस्यसि,
तावता च परितोष्यसि ; ततो विज्ञाने एव परितुष्य तावत्येव
विरंतुमर्हसि’ ।

अचोचरते । यदि विज्ञानादन्यो नास्ति, कस्तर्हि ‘जानाति’
—इत्युच्यते ? । ज्ञानस्य कर्तुरभिधानं अनेन शब्देनोपपद्यते ।
‘तदेवः शब्दोऽर्थवान् कर्तव्यः’—इति ज्ञानाद्वतिरिक्तमात्मानं
कल्पयिष्यामः इति ।

आह. ‘वेदाः‡ एनं शब्दमर्थवत्तं कल्पयिष्यन्ति, यदि कल्प-
यितव्यं प्रमंस्यन्ते । बहवः खल्विह जनाः ‘अस्ति आत्मा, अस्ति
आत्मा’—इति—आत्मसत्तावादिनः एव शब्दस्य प्रत्यक्षवक्तारो

* अत्र ‘यो यः’ इति का० क्री० ‘यो य’ इति प्रा० पु० ।

† ‘अन्विष्वेम’ इति का० क्री० । ‡ ‘देवाः’ इति का० सं० ।

भा.भवन्ति; तथापि नात्मसत्तां कल्पयितं घटने। किमङ्ग पुनः
'जानाति'—इति—परोक्षब्रह्मदर्शनात्।। तस्मात् असदेतत् ॥

उच्यते। इच्छया आत्मानमुपलभामहे। कथमिति?।

उपलब्धपूर्वम् हि अभिप्रेते भवतीच्छा, यथा, मेघमुत्तरेण यान्य-
स्त्राज्जातीयैरनुपलब्धपूर्वानि स्वादृनि दृश्यफलानि, न तानि
प्रति अस्माकं इच्छा भवति। नो, खल्वन्वेन पुरुषेणोपलब्धेऽपि
विषयेऽन्यस्य उपलब्धुरिच्छा भवति! भवति च अन्येद्युःपलब्धे
अन्येद्युरिच्छा। तेन 'उपलभनेन समानकर्तृका सा'—इत्यव-
गच्छामः। यदि विज्ञानमात्रमेवेदमुपलभकम् अभविष्यत्,
प्रत्यस्ते तस्मिन् कस्यापरेद्युरिच्छा अभविष्यत्?। अथ नु विज्ञा-
नादन्यो विज्ञाता नित्यः, ततः एकस्मिन्नहनि य एव उपलब्धा
परेद्युरपि स एवैविष्यतीति; इतरथा हीक्षा नोपपन्ना स्यात्।

अथोच्यते—“अनुपपन्नमिति नः क्व संप्रत्ययः? यन्न प्रमाणे-
नावगतं; विज्ञानात्तावदन्यं नोपलभामहे, यन्नोपलभामहे,
तत् ब्रह्मविषाणवदेव नास्ति—इत्यवगच्छामः। न च तस्मिन्नसति
विज्ञानसङ्गावोऽनुपपन्नः, प्रत्यक्षावगतत्वादेव। अधिकत्वं च
अस्य प्रत्यक्षपूर्वकमेव। न च, ज्ञातरि विज्ञानादन्यस्मिन् असति,
ज्ञाने चानित्ये* अपरेद्युरिच्छा अनुपपन्ना! प्रत्यक्षावगतत्वादेव।
नो खल्वभ्येतत् कृष्टं 'य एवान्येद्युःपलब्धा स एवान्येद्युरेक्षिता'
—इति। इदं तु कृष्टं, 'यत्, क्वचित् अन्येन कृष्टमन्यः इच्छति, †
क्वचित् समानार्था‡ संततावन्य इच्छति, संतत्यन्तरेणेच्छतीति।
तस्मात् न सखादित्यतिरिक्तोऽन्योऽस्तीति”। अथोच्यते, न हि,
'अस्मत्कारः इच्छति'—इत्युपपद्यते! न वा, अदृष्टपूर्वं स्मृति-
र्भवति। तस्मात् अधिक—विज्ञानस्त्वन्धमात्रे स्मृतिरनुपपन्नेति॥

* 'वाऽनित्ये' इति प्रा० पु०। † 'यत् किञ्चित्' इति का० सं०।

‡ अथ 'इति' इति अधिकं प्रा० पु०।

§ 'क्वचित् न असमानार्था' इति का० मी०।

भा. अथाह 'स्मृतिरपि' इत्यावत् पूर्वज्ञानसदृशं विज्ञानं, पूर्व-
विज्ञानविषयं वा 'स्मृतिः'—इत्युच्यते ; तच्च इदरि विनष्टेऽपि
अपरेद्युत्पद्यमानं नानुपपन्नं, प्रत्यक्षावगतत्वादेव । अन्य-
स्मिन्* स्तन्धघनेऽन्येन स्तन्धघनेन यत् ज्ञानं, तत्संततिजेनान्ये-
नोपलभ्यते, नातत्संततिजेनान्येन । तस्माच्छून्याः स्तन्धघनाः
इति । अथास्मिन्नर्थे (उ० उ० ६ अ । ५ ब्रा०) ब्राह्मणं भवति,
“विज्ञानघन एवेतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति
न प्रेत्य संज्ञास्ति” इति ।

उच्यते नैतदेवं ; अन्येद्युर्दृष्टेऽपरेद्युः 'अहमिदमहं'—इति
भवति प्रत्ययः ; प्रत्यगात्मनि चैतद्भवति, न परच, अपरोक्षसौ
अन्येद्युर्दृष्टवान् । तस्मात् तद्यतिरिक्तोऽन्योऽस्ति, यथायं 'अहं'
—शब्दः ॥

आह—'परचाप्यहंशब्दो भक्त्या कृष्यते ; यथा अहमेव पुत्रः,
अहमेव देवदत्तः, अहमेव गच्छामि' इति । अथोच्यते, न वयं
'अहं'—इतीमं शब्दं प्रयुज्यमानमन्यस्मिन्नर्थे हेतुत्वेन व्यपदि-
श्यामः ; किं तर्हि शब्दाद्यतिरिक्तं प्रत्ययं प्रतीमो वयं, 'इममर्थ'
वयमेवान्येद्युत्पलभामहे, वयमेवाद्य क्षारामः' इति । तस्माद्य-
मिममर्थमवगच्छामः,—'वयमेव ह्यः, वयमेवाद्य' इति । ये ह्यः, †
अद्य च न ते विनष्टाः । अथाप्यस्मिन्नर्थे ब्राह्मणं भवति,—(उ०‡
उ० ४ अ । ५ ब्रा) “स वा अयमात्मा”—इति प्रकृत्य आमर्नति
“अशीर्यो न हि शीर्यते” इति, तथा (उ० उ० । ६ अ ।
ब्रा० ५ ।) “अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा”
इति । विनष्टवरं च विज्ञानं । तस्माद्दिनश्वरादन्यः स इत्य-

* 'एकस्मिन्' इति का० सं० ।

† 'परोक्षसौ, योऽन्येद्युर्दृष्टवान्' इति पा० पु० ।

‡ 'ये चामी ह्यः' इति का० ब्री० ।

§ इहशब्दस्य वर्गवकारोऽपि कस्यचित् सम्मतः ।

भा. वगच्छामः। न च ब्रह्ममेवमवगन्तुं—यद्योपलभ्यन्ते अर्थाः, न तथा भवतीति, यथा तु खलु नोपलभ्यन्ते तथा भवतीति। तथा हि सति ब्रह्मो नास्ति, ब्रह्मस्य विषाणमस्तीत्यवगम्येत ।। नच अहंप्रत्ययो 'आमोहः'—इति ब्रह्मते वक्तुं, बाधक-प्रत्ययाभावात्। तस्मात् सुखादिभ्यः अतिरिक्तोऽस्ति। एवञ्चेत्, स एव 'यज्ञायुधो'—इति अपदिश्यते ।

आह—'यदि विज्ञानादन्यदस्ति विज्ञातु, विज्ञानमपास्य तन्निदर्शयतां,—'इदं तत्, ईदृशं च'—इति, न च तत् निदर्शयते। तस्माच्च ततोऽन्यदस्ति' इति। अत्रोच्यते, स्वसंवेद्यः स भवति, नासावन्येन ब्रह्मते द्रष्टं, कथमसौ निदर्शयते? इति; यथा च, कश्चित् चक्षुष्मान् स्वयं रूपं पश्यति, न च ब्रह्मोत्पन्नस्यै जात्य-न्धाय तत् निदर्शयितुं। न च, 'तत् न ब्रह्मते निदर्शयितुं'—इत्येतावता 'नास्ति'—इत्यवगम्यते ।। एवमसौ पुरुषः स्वयमात्मानमुपलभते, न चान्यस्यै ब्रह्मोति दर्शयितुं; अन्यस्य द्रष्टुस्तं पुरुषं प्रति दर्शनब्रह्मभावात्; सोऽप्यन्यः पुरुषः स्वयमात्मानमुपलभते, न च परात्मानं। तेन सर्वे स्वेन स्वेनात्मना आत्मानमुपलभमानाः समेव, (यद्यपि परपुरुषं नोपलभन्ते) इति। अथास्मिन्नर्थे ब्राह्मणं (ट० उ० ६ अ २ ब्रा) भवति,—“आतायां वाचि किं? ज्योतिरेवायं पुरुषः आत्म-ज्योतिः संन्नाडिति होवाच”* इति। 'परेण नोपलभ्यते'—इत्यत्रापि ब्राह्मणं (ट० उ० ५ अ १ ब्रा) भवति,—“अगृह्यो नहि गृह्यते” इति। 'परेण न गृह्यते'—इत्येतदभिप्राय-मेतत्। कुतः?। स्वयंज्योतिस्त्ववचनात्। अथापि ब्राह्मणं (ट० उ० ६। ब्रा० ७) भवति, “अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति” इति। 'केन पुनरुपायेनायमन्यस्यै कथ्यते'—इति?। तथाप्युपाये

* मुद्रितपुस्तके उद्धृतब्राह्मणानां पाठवैलक्षण्यमस्ति ।

भा. ब्राह्मणं (८० उ० ६ अ ३ ब्रा) भवति, “स एष ‘न’—इति, ‘न’—इति आत्मेति होवाच” इति । ‘असौ एवंरूपः’—इति न ब्रह्मते निर्द्ध्यितुं । यच्च परः पश्यति, तत्प्रतिषधस्तस्य उपदेशोपायः; ब्रह्मीरं परः पश्यति, तेनात्मा उपदिश्यते, —‘ब्रह्मीरं नात्मा, अस्ति ब्रह्मीरादन्यः इति, स चात्मा’—इति—ब्रह्मीरप्रतिषेधेनोपदिश्यते । तथा प्राणादयो नात्मानः, तत्प्रतिषेधेन तेभ्योऽन्यः उपदिश्यते । तथा परस्थाः सुखादयः परेषु किंगैरुपलभ्यन्ते, ‘तेऽपि नात्मानः’—इति—तत्प्रतिषेधेनान्यः उपदिश्यते । ‘यः स्वयं पश्यति, न ततोऽन्यः पुरुषः’—इत्येतदपि पुरुषप्रकृत्याऽनुमीयते,—यदाऽसौ पुरुषः पूर्वेद्युः सामिह्यतानामर्धानां प्रतिसमाधाने शेषानुष्ठाने च यतते, अतः प्रकृत्याऽवगम्यते—‘नूनमसावनित्यान् नित्यमवगच्छति’ इति ॥

उपमानाश्चोपदिश्यते, यादृशं भवान् स्वयमात्मानं पश्यति, अनेनोपमानेनावगच्छ—‘अहमपि तादृशमेव पश्यामि’—इति । यथा कश्चिदात्मीयां वेदनां परस्मै आचक्षीत्,—दृश्यमानस्येव मे भवति, यात्यमानस्येव मे भवति, रुद्धमानस्येव मे भवतीति । अतः स्वयमवगम्यमानत्वादस्ति तद्वरतिरिक्तः पुरुषः इति ॥

यदुच्यते—“विज्ञानमपास्य तत् निर्द्ध्यतां” (२२ । १३) इति । अद्युपायमेव निषेधसि, न ब्रह्ममुपायमन्तरेणोपेयमुपेयं; अयमेवाभ्युपायो ज्ञातव्यानामर्धानां—‘यो यथा ज्ञायते स तथा’ इति । तत् यथा, कः शुद्धो नाम? यच्च शुद्धत्वमस्ति । किं शुद्धत्वं नाम? यच्च शुद्धशब्दप्रकृतिः । स तस्य प्रकृतिः? यच्चुद्धशब्दे उच्यरिते प्रतीयते । तस्मान्न विज्ञानं प्रत्याख्याय कस्यचिद्द्रूपं निर्द्ध्यितुं शक्यं । न च, नियोगतः प्रत्यये प्रतीते प्रत्ययार्थः प्रतीतो भवति । अप्रतीतेऽपि हि प्रत्यये सति अयः प्रतीयते एव । न हि, विज्ञानं प्रत्यक्षं! विज्ञेयोर्ध्वः प्रत्यक्षः इति । एतत् पूर्वमेवोक्तं (२ । १५) । तदवगच्छत्त-

भा. षोऽपहृत्वे कामं विज्ञानमपहृयेत् । नार्थाः इत्येतदुक्तमेव (१० । ४) । तस्मादस्ति सुखादिभ्योऽन्यो नित्यः पुरुषः इति ॥

अथ 'यदुक्तं, (२१ । ११) "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति"—इति । अत्रोच्यते । "अथेव भा भगवान् मोहान्तमपीपदत्"* इति—परिचोदनोत्तरकाले अपहृत्य मोहाभिप्रायमस्य वर्धितवान्— "न वा अरे मोहं ब्रवीमि, अविनाश्री वा अरेऽथमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा, मात्मासंसर्गस्त्वस्य भवति" (ष्ट० उ० ६ अ । ५ ब्रा) इति । तस्मान्न विज्ञानमात्रं ; तस्मादैषम्यं ॥ यदुक्तं (११ । १४) "नचैव याति"—इति विधिब्रह्मः, इति । मा भूदिधिब्रह्मः, "सर्गकामो यजेत"—इति वचनांतरेणावगतमनुबद्ध्यते । तस्मादविरोधः ॥

स. कर्मके तत्र दर्शनात् ॥ ६ ॥ (पू० १)

भा. उक्तं (७ । ४.) 'नित्यः ब्रह्मार्थयोः संबंधः' इति । तदनुपपन्नं, ब्रह्मस्यनित्यत्वात्, विनष्टः ब्रह्मः, पुनरस्य क्रियमाणस्यार्थेन अल्लतकः संबंधो नोपपद्यते ; न हि प्रथमनुताड्यदात् कश्चिदर्थं प्रत्येति । 'कथं पुनरनित्यः ब्रह्मः ?' । प्रयत्नादुत्तरकालं वृथ्यते यतः । अतः प्रयत्नानन्तर्यात् 'तेन क्रियते'—इति गम्यते । ननु 'अभिर्यज्यात् स एनं' । नेति ब्रूमः । नहि अस्य प्राक् अभिर्यजनात् सङ्गावे किंचन प्रमाणमस्ति ॥ सन् च अभिर्यज्यते, नासन् (पू० १) ॥

स. अस्थानात् ॥ ७ ॥ (पू० २)

भा. नोऽखलप्युच्चरितं मुहूर्तमप्युपलभामहे । अतो 'विनष्टः'—इत्यवगच्छामः । नच, सन् न उपलभ्यते ! अनुपलभकारणानां

* 'आपीपिपत्' इति का० क्री० । † 'नचैनमुच्चरितं' इति का० क्री० ।

भा. व्यवधानादीनामभावेऽप्यनुपलभनात् ; न च, असौ विषयम-
प्राप्तः ! आकाशविषयत्वात् ; कर्णच्छिद्रेऽप्यनुपलभनात् (पू०
२) ॥

स. करोतिशब्दात् ॥ ८ ॥ (पू० ३)

भा. अपि च 'शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः'—इति—व्यवहर्ताः
प्रयुञ्जते, न ते नूनमवगच्छन्ति—'स एवायं शब्दः'—इति
(पू० ३) ॥

स. सत्वान्तरे च यौगपद्यात् ॥ ९ ॥ (पू० ४)

भा. नानादेशेषु च युगपच्छब्दमुपलभामहे, तत् एकस्य नित्यस्या-
नुपपन्नमिति । असति विशेषे नित्यस्य न अनेकत्वं ; कार्याणाम्
बहूनां नानादेशेषु क्रियमाणानामुपपद्यतेऽनेकदेशसंबन्धः,
तस्मादप्यनित्यः (पू० ४) ॥

स. प्रकृतिविकृत्योश्च ॥ १० ॥ (पू० ५)

भा. अपि च 'दध्यच्च'—इत्यत्र 'इकारः प्रकृतिः, यकारो विकृतिः'—
इत्युपदिशन्ति ; यदिक्रियते, तदनित्यं ; इकारसादृश्यं च
यकारस्योपलभ्यते, तेनापि तयोः प्रकृतिविकारभावो लक्ष्यते
(पू० ५) ॥

स. वृद्धिश्च कर्त्तृभूम्नाऽस्य ॥ ११ ॥ (पू० ६)

भा. अपि च बह्विभरुचारायङ्गिर्महान् शब्दः श्रूयते ; स यदि अभि-
व्यज्यते, बह्विभरुष्वेषोच्चार्यमाणस्तावानेवोपलभ्येत ! । अतो
मन्यामहे,—नूनमस्य एकैकेन कश्चिदवयवः क्रियते, यत्प्रचयादयं
महान् उपलभ्यते (पू० ६) ॥

ख. समन्तु तच्च दर्शनम् ॥ १२ ॥ (उ० १)

भा. तु ब्रह्मात्पक्षो विपरिवर्तते । यदुक्तं (पू० १) 'प्रयत्नादुत्तर-
काले दर्शनात् हतकोभ्यं'—इति । यदि विस्पष्टेन हेतुना
ब्रह्मस्य नित्यत्वं वक्तुं ब्रह्म्यामः; ततो नित्यप्रत्ययसामर्थ्यात्
'प्रयत्नेनाभिद्यज्यते'—इति भविष्यति; यदि प्रागुच्चारणा-
दनभिद्यक्तः प्रयत्नेनाभिद्यज्यते । तस्मादुभयोः पक्षयोः सम-
मेतत् (उ० १) ॥

ख. सतः परम् अदर्शनं विषयानागमात् ॥ १३ ॥ (उ० २)

भा. यदपरं कारणमुक्तं (पू० २) 'उच्चरितप्रध्वस्तः'—इति ।
अत्रापि यदि ब्रह्म्यामो नित्यतामस्य विस्पष्टं वक्तुं, ततो नित्य-
प्रत्ययसामर्थ्यात् कदाचिदुपलम्भं, कदाचिदनुपलम्भं वृद्धा किञ्चि-
दुपलम्भस्य निमित्तं कल्पयिष्यामः; तच्च संयोगविभागसङ्गावे
सति भवतीति 'संयोगविभागावेवाभिद्यज्यकौ'—इति ब्रह्म्यामः ।
'उपरतयोः संयोगविभागयोः श्रूयते' इति चेत् । नैतदेवं । न
नूनमुपरमिति संयोगविभागाः, यतः उपलभ्यते ब्रह्मः—इति,
न हि ते प्रत्यक्षाः इति ॥

“यदि ब्रह्मं संयोगविभागाः एवाभिद्यज्यन्ति, न कुर्वन्ति;
आकाशविषयत्वाच्च ब्रह्मस्य, आकाशस्यैकत्वात्, यः एवायमत्र
ओचाकाशः, स एव हेतुान्तरेष्वपीति श्रुत्तस्यैः संयोगविभागैर-
भिद्यक्तः पाटलिपुत्रेऽप्युपलभ्येत ।। यस्य पुनः कुर्वन्ति, तस्य
वायवीयाः संयोगविभागाः वाय्वाश्रितत्वाद्वायुष्वेव करिष्यन्ति ।
यथा, तन्नावः तन्नुल्लेव पटं, तस्य पाटलिपुत्रेष्वनुपलम्भो युक्तः,
श्रुत्तस्यत्वात्तेषां । 'यस्याप्यभिद्यज्यन्ति, तस्याप्येष न दोषः,
दूरे सत्याः कर्षणशक्त्याः अनुपकारकाः संयोगविभागाः, तेन
दूरे यच्छेषं, तेन नोपलभ्यते' इति । नैतदेवं; अत्रासाद्येत

भा. संयोगविभागाः ओषस्वोपकृत्युः ; सन्निल्लटविप्रल्लटदेवस्वी युग-
पञ्चदशपलभेवाती ! न च युगपदुपलभेते । तस्याऽज्ञाप्ताः
उपकुर्वन्ति ; न चेदुपकुर्वन्ति, तस्यादनिमित्तं ब्रह्मोपलभने
संयोगविभागी इति” ।

नैतदेवं, अभिघातेन हि प्रेरिताः वायवस्तिमितानि वायव-
न्तराणि प्रतिबाधमानाः सर्वतोदिक्कान् संयोगविभागान् उत्-
पादयन्ति, यावदेगमभिप्रतिष्ठते । ते च वायोरप्रत्यक्षत्वात्
(संयोगविभागाः) नोपलभ्यन्ते । अनुपरतेष्वेव तेषु ब्रह्मः उप-
लभ्यते, नोपरतेषु । अतो न दोषः । अत एव चानुवातं दूरादु-
पलभ्यते ब्रह्मः (उ० २) ॥

ख. प्रयोगस्य परम् ॥ १४ ॥ (उ० ३)

भा. यदपरं कारणमुक्तं—(पू० ३) ‘ब्रह्मं कुव, मा कार्षीः’—इति
श्ववहर्त्तारः प्रयुङ्गते । वद्यसंब्रथ नित्यः ब्रह्मः, ब्रह्मप्रयोगं
कुर्विति भविष्यति ; यथा गोमयात् कुर्विति संहारे* (उ० ३) ॥

ख. आदित्यवद्योगपद्यम् ॥ १५ ॥ (उ० ४)

भा. यत्तु (पू० ४।) ‘एकदेवस्य सती नानादेवेषु युगपद्भर्त्सन-
मनुपपन्नं’—इति । आदित्यं पन्थ देवानांप्रिय † एकः सन्
अनेकदेवावस्थित इव लक्ष्यते । ‘कथं पुनरवगम्यते ‘एकः
आदित्यः’—इति ?’ । उच्यते, प्राङ्मुखो देवदत्तः पूर्वाङ्के
संप्रति पुरस्तादादित्यं पन्थति ; तस्य दक्षिणतोऽवस्थितो न द्वी
पन्थति, आत्मनश्च संप्रति न तिरस्चीन‡ देवदत्तस्यार्जवे ।

* ‘संवाहे’ इति का० क्री० । † ‘देवानां प्रियो यः’ इति का० सं० ।

‡ ‘आत्मनश्च संप्रतिस्थिते तिरस्चीनं’ इति का० सं० । आत्मनश्च
संप्रति गततिरस्चीनं’ इति तु का० क्री० ।

भा. तस्मादेक आदित्य इति । दूरत्वादस्य देवो नावधार्यते ; अतो
 धामोहः । एवं शब्देऽपि धामोहादनवधारणं देवस्य । यदि
 ओचं संयोगविभागदेशमागत्य शब्दं गृह्णीयात्, तथापि ताव-
 दनेकदेशता कदाचिदवगम्येत, न च, तत् संयोगदेशमागच्छति ! ।
 प्रत्यक्षा हि कर्णशुक्ली तद्देशा गृह्यते ; वायवोयाः पुनः
 संयोगविभागाः अप्रत्यक्षस्य वायोः, कर्णशुक्लीप्रदेशे प्रादुर्भ-
 वन्तो नोपलभ्यन्ते—इति नानुपपन्नं । अत एव धामोहः,—यत्,
 नानादेशेषु शब्दः इति । आकाशदेशस्य शब्दः—इति, एकं च
 पुनराकाशं, अतोऽपि न नानादेशेषु । अपि च ऐकरूपे सति
 देशभेदेन कामं देशा एव भिन्नाः ; न तु शब्दः । तस्माद्यमप्य-
 दोषः (उ० ४) ॥

ख. वर्णान्तरमविकारः ॥ १६ ॥ (उ० ५)

भा. न च, 'दध्यच'—इत्यत्र प्रकृतिविकारभावः (पू० ५) ।
 शब्दान्तरं इकारात् यकारः । न हि, यकारं प्रयुज्जाना इका-
 रमुपाददते ! यथा, कटं चिकीर्षन्तो वीरणानि । न च, सादृश्य-
 मात्रं वृद्धा प्रकृतिः, विल्लतिर्वा उच्यते ! । न हि, दधिपिठकं
 वृद्धा कुन्द*पिठकं च, प्रकृतिविकारभावोऽवगम्यते ! । तस्माद्य-
 मप्यदोषः (उ० ५) ॥

ख. नादवृद्धिपरा ॥ १७ ॥ (उ० ६)

भा. यच्चैतत् 'वज्रभिर्भेरीमाध्वनङ्गिः शब्दमुच्चारयन्निर्महान् शब्दः
 उपलभ्यते, तेन प्रतिपुरुषं शब्दावयवप्रचय इति गम्यते' (पू० ६) ।
 नैवं ; निरवयवो हि शब्दः, अवयवभेदानवगमात्, निरव-
 यवत्वाच्च महत्त्वानुपपत्तिः,—अतो न वर्द्धते शब्दः । सृदुरेकेन,

* 'कंबु' इति का० स० ।

भा. ब्रह्मभिन्नोच्चार्यमाणे तान्येषाञ्चराशि (कर्षणञ्जुष्टीमण्डलस्य सर्वां नेमिं चाप्रवृद्धिः संयोगविभागैर्नैरन्तर्येण अनेकत्रो पदृष्टात्) महान् इव, अवयववान् इवोपलभ्यन्ते ; संयोगविभागाः नैरन्तर्येण क्रियमाणाः ब्रह्ममभिव्यञ्जन्तो नाद्ब्रह्मवाच्यताः । तेन नादस्यैषा वृद्धिः, न ब्रह्मस्येति (उ० । ६) ॥

ख. नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् ॥ १८ ॥ (सि०)

भा. नित्यः ब्रह्मो भवितुमर्हति । कुतः ? 'दर्शनस्य परार्थत्वात्' दर्शनमुच्चारणं, तत् परार्थं, (परं अर्थं प्रत्याययितुं,) उच्चरितभाषे हि विनष्टे ब्रह्मे न चाभ्युपगम्यान् अर्थं प्रत्याययितुं शक्यतात् ; अतः न परार्थमुच्चार्यते । अथ न विनष्टः, ततो ब्रह्मः उपलभ्यत्वादर्थावगमः—इति युक्तं । 'अर्थवत्सादृश्यादर्थावगमः' इति चेत् । न कश्चिदर्थवान्, सर्वेषां नवत्वात् । 'कस्यचित्पूर्वस्य ह्यभिः संबन्धो भविष्यति' इति चेत् । तदुक्तं 'सदृशः' इति चावगते व्यामोहात्प्रत्ययो व्यावर्तते ; मात्मा ब्रह्मात् मात्माप्रत्ययः इव । 'यथा गावीब्रह्मात् साक्षादिमति प्रत्ययस्यानिष्टतिः, तद्वद्विष्यति' इति चेत् । न हि, गोब्रह्मं ततोच्चारयितुमिच्छा ; नेहान्यब्रह्मोच्चारयिषा । न चैकेनोच्चारणायत्नेन संव्यवहारश्चार्थसंबन्धश्च शक्यते कर्तुं । तस्माद्दर्शनस्य परार्थत्वात् नित्यः शब्दः ॥

ख. सर्वत्र यौगपद्यात् ॥ १९ ॥

भा. गोब्रह्मे उच्चरिते सर्वगवेषु युगपत् प्रत्ययो भवति । अतः आह्वतिवचनोऽर्थः । न चाह्वत्या शब्दस्य संबन्धः शक्यते कर्तुं, निर्दिश्य हि आह्वतिं कर्त्ता संबन्धीयात् ; गोपिण्डे च ब्रह्मनामाह्वतीनां सद्भावाद्ब्रह्मन्तरेण गोशब्दवाच्यतां विभक्तामाह्वतिं केन प्रकारेणोपदेक्ष्यति ? । नित्ये तु सति गोशब्दे ब्रह्मत्वः

भा. उच्यतेः श्रुतपूर्वस्यान्याद्य गोचरित्पु अन्वयव्यतिरेकाभ्यामा-
ह्मतिवचनमवगमयिष्यति ; तस्मादपि नित्यः ॥

ख. संख्याभावात् ॥ २० ॥

भा. 'अष्टहात्सो गोब्रह्म उच्यतेः' इति वदन्ति, नाष्टौ गोब्रह्माः
इति । 'किमतः? यद्येवं' । अनेन वचनेनावगम्यते,—प्रत्यभि-
जानन्तीति ; वयं तावत्प्रत्यभिजानीमो न नः करणदौर्बल्यां ;
एवमन्येऽपि प्रत्यभिजानन्ति—स एवायमिति । प्रत्यभि-
जानानां* वयमिवान्येऽपि 'नान्यः'—इति वक्तुमर्हन्ति ॥ अह-
'मतं, अन्यत्वे सति सादृश्येन धामूढाः 'सः'—इति वदन्तिः' ।
तन्न, न हि ते 'सदृशः'—इति प्रतिपन्ति, किं तर्हि 'स एवायं'
—इति । विदिते च स्फुटेऽन्यत्वे, धामोहः—इति गम्यते । न
च, 'अयमन्यः' इति प्रत्यक्षं, अन्यदा प्रमाणमस्ति ॥

स्यादेतत् 'बुद्धिकर्मणी अपि ते प्रत्यभिजायेते, ते अपि
नित्ये प्राप्नुतः' ॥ नैष दोषः । न हि ते प्रत्यक्षे, अथ प्रत्यक्षे
नित्ये एव । 'अस्तनस्य ब्रह्मस्य विनाशान् अन्योऽद्यतनः'—
इति चेत् । नैष विनष्टः, यतः इतं पुनरुपलभामहे ; न
हि, प्रत्यक्षदृष्टं मुञ्चतमदृष्टा पुनरुपलभ्यमानं प्रत्यभिजानन्तो
विनष्टं परिकल्पयन्ति ॥ परिकल्पयन्तो वितोयसंदर्शने मातरि,
आयायां, पितरि वा नाश्वस्युः ॥ न हि अनुपलम्भमात्रेण
'नास्ति'—इति अवगम्य, नष्टः—इत्येव—कल्पयन्ति ॥ अप्रमा-
णतायां विदितायां 'नास्ति'—इत्यवगच्छामः । न हि, प्रमाणे
प्रत्यक्षे सति, अप्रमाणता स्यात् ॥ अस्तीति पुनः अध्यामोहे-
नावगम्यमाने न कश्चिदप्यभावः, न चासिद्धेऽभावे धामोहः,
न च सिद्धोऽभावः ॥ तस्मादसति धामोहे, नाभावः । तदे-

* 'प्रत्यभिजानन्ति चेत्' इति अधिकां का० सं० ।

भा. तद्दानुपूर्वां विद्धं । तस्मात्पुरस्ताद्गनुचरितं अनुपलभमाना अपि न विनष्टः—इत्यवगन्तुमर्हन्ति । यथा, गृह्णाभिर्गताः सर्वगृहजनमपश्यंतः पुनः प्रविश्य उपलभमाना अपि न (प्राक् प्रवेद्यात्) विनष्टः—इत्यवगच्छन्ति; तद्वत् एनमपि न 'अन्यः'—इति वक्तुमर्हन्ति । येषुपि सर्वेषां भाषाणां प्रतिक्षणं विनाश-
-मभ्युच्यच्छन्ति, तेषुपि न वक्तुवन्ति शब्दस्य बहिरु, अन्ते हि क्षयदर्शनात् ते मन्यन्ते, न च शब्दस्यान्तः, न च क्षयो लक्ष्यते । सः—इति प्रत्यक्षः प्रत्ययः, सदृशः—इत्यानुमानिकः, न च, प्रत्यक्षविषुद्धं अनुमानमुदेति, लकार्यं वा साधयति । तस्माच्चित्यः ॥

स. अनपेक्षत्वात् ॥ २१ ॥

भा. येषामनवगतोत्पत्तीनां द्रव्याणां भाव एव लक्ष्यते, तेषामपि केषाञ्चिदनित्यता गम्यते, (येषां विनाशकारणमुपलभ्यते) । यथा, अभिनवं पटं दृष्ट्वा; न चैनं क्षियमाणमुपलभवान् ! । अथ वा अनित्यत्वमवगच्छति रूपमेव दृष्ट्वा,—तन्नुद्यतिवद्भ्रजनितीत्यं तन्नुद्यतिवद्भ्रविनाशात् तन्नुविनाशादा विनश्यति—इत्यव-
-गच्छति । नैवं शब्दस्य किञ्चित्कारणमवगम्यते ! यद्दिनाशादिन-
-श्यतीत्यवगम्यते ॥

स. प्रस्थाभावाच्च योगस्य ॥ २२ ॥

भा. इदं पदेभ्यः केभ्यश्चिदुत्तरं सूत्रं । 'ननु वायुकारणकः स्यादिति, वायुप्लुतः संयोगविभागे शब्दो भवतीति, तथा च सिद्धाकाराः आहुः 'वायुरापद्यते शब्दतां इति' । नैतदेवं, वायवीयस्यैव शब्दो भवेत्, वायोः सन्निवेशविशेषः स्यात् । न च, वायवीयान् अवयवान् शब्दे सतः प्रत्यभिजानीमः ! यथा, पटस्य तन्तुमवान् । नचैवं भवति ! । स्याच्चेदेवं, स्पष्टने-

भा. नोपलभेमहि ! न च, वायवीयानवयवान् ब्रह्मगतान् स्पृशामः !
तस्मान्न वायुकारणकः । अतो नित्यः ॥

ख. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २३ ॥

भा. लिङ्गं चैवं भवति, 'वाचा विरूपनित्यया' इति, अग्न्यपरं
हीदं वाक्यं वाचो नित्यतामनुवदति । तस्मान्नित्यः ब्रह्मः ॥

ख. उत्पत्तौ वाऽवचनाः* स्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात्
॥ २४ ॥ (पू०)

भा. यद्यप्यौतपत्तिकः (नित्यः) ब्रह्मोर्र्थसंबन्धश्च, तथापि न
चोदनालक्षणो धर्मः, चोदना हि वाक्यं, न हि, 'अग्निहोत्रं
जुहुयात् स्वर्गकामः'—इत्यतो वाक्यादन्यतमस्मात्पदात् 'अग्नि-
होत्रात् स्वर्गो भवति'—इति गम्यते ! गम्यते तु पदत्रये
उच्चरिते । न चात्र चतुर्थः ब्रह्मोर्र्थस्त अन्यत् अतः ! (पदत्रय-
समुदायात्) न चायं समुदायोर्र्थस्ति लोके ! यतोऽस्य अथहारा-
दर्थोऽवगम्यते । पदानि अमूनि प्रयुक्तानि, तेषां नित्योर्र्थः,
अप्रयुक्तश्च समुदायः ; तस्मात् समुदायस्यार्थः क्वचिन्मो चामोहो
वा । न च, पदार्था एव वाक्यार्थः, सामान्ये हि पदं प्रवर्तते,
विशेषे वाक्यं ; अन्यच्च सामान्यं, अन्यो विशेषः । न च,
पदार्थाद्वाक्यार्थावगतिः, असंबन्धात् । असति चेत् संबन्धे,
कस्मिंश्चित्पदार्थोऽवगतेर्र्थान्तरमवगम्येत, एकस्मिन्नवगते सर्व-
मवगतं स्यात् ! न चैतदेवं भवति । तस्मादन्यो वाक्यार्थः ॥

स्यादेतत्, "अप्रयुक्तादपि वाक्यादसति संबन्धे स्वभावादर्थ-
वगमः—इति । यदि कल्प्येत—'ब्रह्मो धर्ममात्मीयं व्युत्क्रामेत् !
नचैषः ब्रह्मधर्मः, यत्, अप्रयुक्तादपि ब्रह्मादर्थः प्रतीयते ; न हि,

* 'वाऽवचनानि' इति क्वचित् पाठः ।

भा. प्रथमश्रुतात् कुतश्चिच्छब्दात् केचिदर्थं प्रतियन्ति ! । तदभिधीयते—पदधर्मोऽर्थं न वाक्यधर्मः ; वाक्याद्धि प्रथमावगतादपि प्रतियन्तोऽर्थं दृश्यन्ते ॥ नैतदेवं, यदि प्रथमश्रुतादवगच्छेयुः, अपि तर्हि सर्ववगच्छेयुः ! (पदार्थविदोऽन्ये च) न त्वपदार्थविदोऽवगच्छन्ति । तस्मात्तदेवं ॥ ननु 'पदार्थविद्विरप्यवगच्छद्विरहृत एव वाक्यार्थसंबन्धो भविष्यति, पदार्थवेदनेन हि संस्कृताः अवगमिष्यन्ति, यथा तमेव पदार्थं द्वितीयादिश्रवणेन' इति । नेति ब्रूमः ; यदि वाक्येऽन्तमो वर्णः पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितः पदार्थेभ्योऽर्थान्तरं प्रत्याययति, उपकारस्तु तदानीं पदार्थज्ञानादवकल्प्यते । तस्मात् ह्यन्तमो वाक्यार्थप्रत्ययो यामोहो वा, न पदार्थदारेण संभवति वाक्यार्थज्ञानमिति ॥

ननु 'एवं भविष्यति—सामान्यवाचिनः पदस्य 'गौः'—इति वा 'अश्वः'—इति वा, विशेषकं 'शुक्लः'—इति वा 'हृष्णः'—इति वा पदं अन्तिकादुपनिपतति यदा, तदा वाक्यार्थोऽवगम्यते । तन्न ; न हि, कथमिव, गौरिति वा अश्वः—इति वा सामान्यवाचिनः पदात् सर्वगवीषु सर्वाश्वेषु च बुद्धिरपसर्पन्ती श्रुतिजनिता, वाक्यानुरोधेन कुतश्चिद्विशेषादपवर्तेत ! । न च, शुक्लः—इत्यादेर्विशेषवचनस्य हृष्णादिनिवृत्तिर्भवति ब्रह्मार्थः ! । न च, अनर्थको मा भूदित्यर्थपरिकल्पना ब्रह्मा ! । अतो न पदार्थजनितो वाक्यार्थः । तस्मात् ह्यन्तमः । पदसंघाताः खल्वेते, संघाताश्च पुरुषज्ञता दृश्यन्ते, यथा, "नीलोत्पलवनेष्वद्य चरन्तश्चारुसंरवाः । नील*कौश्रेयसंवीताः प्रणश्यन्तीव* कादंबाः" † । अतो वैदिका अपि पुरुषज्ञता इति ॥ (पू०) ॥

* 'रामाः' इति प्रा० पु० 'समाः' इति का० क्री० ।

† 'प्रहृष्णन्तीव' इति का० सं० ।

‡ एकमेव सर्वत्र पाठः ।

ख. तद्गतानां क्रियार्थेन समान्नायोऽर्थस्य तन्निमित्त-
त्वात् ॥ २५ ॥ (३०)

भा. तेष्वेव (पदार्थेषु) 'भूतानां' वर्तमानानां (पदानां) क्रियार्थेन समुच्चारणं। न, अनपेक्ष्य पदार्थान्, पार्थगर्थेन वाक्यमर्थान्तरप्रसिद्धं। कुतः?। प्रमाणाभावात्, न किञ्चन प्रमाणमस्ति, येन प्रमिमोमहे; न हि, अनपेक्षितपदार्थस्य वाक्यान्तरवर्णस्य पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितस्य शक्तिरस्ति पदार्थभ्योऽर्थांतरे वर्तितं! इति ॥

ननु 'अर्थापत्तिरस्ति, यत्, पदार्थव्यतिरिक्तमर्थमवगच्छामः, न च शक्तिमंतरेण तदवकल्पयते' इति। तन्न। 'अर्थस्य तन्निमित्तत्वात्,' भवेदर्थापत्तिः, यद्यसत्यामपि शक्तौ नान्याश्र-
मित्तमवकल्प्येत; अवगम्यते तु निमित्तं। किं?। पदार्थाः; पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि; अथेदानीं पदार्था अवगताः सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति। कथं?। यत्र हि 'शुद्धः'—इति वा 'हृष्टः'—इति वा गुणः प्रतीतो भवति, भवति खल्वसावलं गुणवति प्रत्ययमाधातुं; तेन गुणवति प्रत्ययमिच्छन्तः केवलं गुणवचनमुच्चारयन्ति,* सपत्स्यते एषां यथासंकल्पितोऽभिप्रायः, भविष्यति विशिष्टार्थ-
संप्रत्ययः, विशिष्टार्थसंप्रत्ययश्च वाक्यार्थः,—एवं चेत्, अवगम्यते अन्यत एव वाक्यार्थः; की जातुचित् 'अदृष्टा पदसमुदायस्य शक्तिः, अर्थात् अवगम्यते'—इति वदिस्यति!। अपि च अन्वय-
व्यतिरेकाभ्यामेतदवगम्यते, भवति हि कदाचिद्व्यमवस्था,— मानसादध्याघातात् यत्, उच्चरितेभ्यः पदेभ्यो न पदार्था अवधार्यन्ते, तदानीं नियोगतो वाक्यार्थं नावगच्छेयुः। यद्यस्य

* 'उच्चारयिष्यन्ति' इति का० सं० ॥

भा. अपार्थगर्ध्यमभिव्यत्,* नियोगतस्तु नावगच्छन्ति । अपि च
 अन्तरेणापि पदोच्चारणं, यः श्रोत्र्यमवगच्छति, अवगच्छत्येवासौ
 शुद्धगुणकं । तस्मात्पदार्थप्रत्यये एव वाक्यार्थः । नास्य पद-
 समुदायेन संबन्धः । यत्तु (३३ । १७) 'श्रीतः पदार्था न
 वाक्यानुरोधेन कुतश्चिद्विशेषादपवर्तितुमर्हति' इति । सत्यं,
 एवमेतत् ; यच्च 'केवलः पदार्थः प्रयुज्यमानः प्रयोजनाभावा-
 दनर्थकः संजायते'—इत्यवगतं भवति, तच्च वाक्यार्थोऽपि
 तावद्भवत्विति विशिष्टार्थतावगम्यते ; न सर्वत्र । एवं च सति,
 'गुणान्तरप्रतिषेधो न शब्दार्थः'—(३३ । १८)—इत्येतदपि
 परिहृतं भवति । अपि च प्रातिपदिकात् उच्चरन्ती† द्वितीयादि-
 विभक्तिः 'प्रातिपदिकार्थो विशेषकः'—इत्याह ; सा च विशेष-
 श्रुतिः सामान्यश्रुतिं बाधेत । यच्च (३३ । २१) 'एते पदसंघाताः
 पुरुषहता दृश्यन्ते'—इति । परिहृतं तत् अस्मरणादिभिः
 (१५ । २३) । अपि च एवंजातीयकेभ्ये वाक्यानि संहर्तुं न
 किञ्चन पुरुषाणां बीजमस्ति ॥ (३०) ॥

स्र. लाके सन्नियमात्प्रयोगसन्निकर्षः स्यात् ॥

२६ ॥ (सि०)

भा. लौकिकेषु पुनरर्थेषु प्रत्यक्षेणार्थमुपलभ्य 'सन्नियमः,' सन्न-
 बन्धनं शक्यं तच्च संहर्तुं, एवञ्जातीयकानि वाक्यानि 'नीलोत्-
 पलवनेष्वद्य' (३३ । २१) इति । तस्मात् 'अग्निहोत्रं जुहुयात्
 स्वर्गकामः'—इत्येतेभ्य एव पदेभ्यो ये अर्था अवगताः, तेभ्यः
 एवैतदवगम्यते,—अग्निहोत्रात्स्वर्गा भवतीति । पदेभ्य एव
 पदार्थप्रत्ययः, पदार्थेभ्यो वाक्यार्थ इति ॥ (सि०) ॥

* 'यद्यस्य पारार्थमभिव्यत्' इति का० सं० ।

† 'उच्चारिता' इति प्रा० पु० ॥

ख. वेदांश्चैके सन्निकर्षे पुरुषास्थाः ॥ २७ ॥ (पू० १)

भा. उक्तं (२।१०।)—‘चोदनालक्षणोर्धो धर्म इति, यतो न पुरुषज्ञतः ब्रह्मस्यार्थेन संबन्धः’। तत्र पदवाक्याश्रय आक्षेपः परिहृतः। इदानीमन्वयाभ्युपेक्ष्यामः—पौषधेयाश्चोदना इति वदामः,—सन्निकर्षकासाः ज्ञतका वेदा इदानीमनाः, ते च चोदनानां समूहाः, तत्र पौषधेयाश्चेदेदाः, असंख्यं पौषधेयाः चोदनाः। ‘कथं? पुनः ‘ज्ञतका वेदाः’—इति केचिन्मन्यन्ते’। यतः ‘पुरुषास्थाः’, पुरुषेषु हि समाख्यायन्ते वेदाः;—काठकं काशापकं, पैप्पसादकं मौञ्जसमिति; न हि संबन्धादृते समाख्यानं, न च पुरुषस्य ब्रह्मेण अस्ति संबन्धः, अन्यतः ‘कर्ता पुरुषः, कार्यः ब्रह्मः’—इति। ननु ‘प्रवचनलक्षणा* समाख्या स्यात्’। नेति ब्रूमः; असाधारणं हि विश्लेषणं भवति, एक एव हि कर्ता बहुवोपि प्रब्रूयुः; अतोऽस्म्यर्थ-माणोपि चोदनायाः कर्ता स्यात्। तस्मान्न प्रमाणं ‘चोदना-लक्षणोर्धो धर्मः’ इति ॥ (पू० १) ॥

ख. अनित्यदर्शनाच्च ॥ २८ ॥ (पू० २)

भा. जननमरणवन्तश्च वेदार्थाः श्रूयन्ते—‘बवरः† प्रावाहकिर-कामयत’ ‘कुसुरविन्दुः‡ औहालकिरकामयत’—इत्येवमादयः। औहालकस्यापत्यं गम्यते औहालकिः, यद्येवं, प्राक् औहालकि-जन्मनः, नार्यं ग्रन्थो भूतपूर्वः; एवमप्यनित्यता ॥ (पू० २) ॥

* ‘पुरुषवचना’ इति का० श्री० पू० ॥

† ‘बवरः’ इति का० श्री० ॥

‡ ‘कुसुरविन्दु’ इति का० सं०। ‘काश्यपि’ इति का० श्री० ॥

स. उक्तन्तु शब्दपूर्वत्वम् ॥ २६ ॥ (सि०)

भा. उक्तं (१० । १४) अस्माभिः शब्दपूर्वत्वमध्येतृणां । केवलं
आक्षेपपरिहारो वक्तव्यः, सोऽभिधीयते ॥ (सि०) ॥

स. आख्या प्रवचनात् ॥ ३० ॥ (उ० १)

भा. यदुक्तं (१ पू०) कर्तुंलक्षणा समाख्या काटकाद्येति । तदुच्यते ।
नेयमर्थापत्तिः, अकर्तृभिरपि ज्ञेयानामाचक्षीरन्, प्रकर्षेण वचनं
(अनन्यसाधारणं) कठादिभिरनुष्ठितं स्यात्, तथापि हि समा-
ख्यातारो भवन्ति । स्मर्यते च,—वैशम्पायनः सर्वत्राखाध्यायी,
कठः पुनरिमां केवलां ब्राह्मणभाष्यावभूवेति । स ब्रह्मशाखा-
भाषिणां सन्निधावेकब्राह्मणभाष्यायि अन्यां ब्राह्मणमनधीयानः,
तस्यां प्रह्लादत्वादसाधारणमुपपद्यते विशेषणं ॥ (उ० १) ॥

स. परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ॥ ३१ ॥ (उ० २)

भा. यच्च (२ पू०) प्रावाहणिरिति । तन्न, प्रवाहणस्य पुत्रवस्या-
सिद्धत्वात् न प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहणः । प्रशब्दः प्रकर्षे
सिद्धः, वदतिश्च प्रापणे, (नत्वस्य समुदायः कश्चित्सिद्धः*)
इकारस्तु यथैवापत्ये सिद्धः, तथा क्रियायामपि कर्त्तरि; तस्मात्
यः प्रवाहयति, स प्रावाहणः । 'बबरः' इति शब्दानुवृत्तिः ।
तेन यो नित्योऽर्थः, तमेवैतौ शब्दौ वदित्यतः । अत उक्तं—
'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रं' इति ॥ (उ० २) ॥

स. कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात् ॥ ३२ ॥

भा. अथ 'कथमवगम्यते—नायमुन्मत्तबालवाक्यसदृश इति ? । तथा

* 'कश्चित् सिद्धः' इति का० सं० ॥

† 'वाद्युदीरितशब्दानुवृत्तिः' इति प्रा० पु० ॥

भा. हि पश्यामः,—‘वनस्पतयः सत्रमासत, सर्पाः सत्रमासत’ इति, यथा, ‘जरद्गवो गायति मत्सकानि’, कथं नाम जरद्गवो गायेत् ?। कथं वा वनस्पतयः सर्पा वा सत्रमासीरन्निति । उच्यते,— विनियुक्तं हि दृश्यते, परस्परेण संबन्धार्थं । कथं ?। ‘ज्योति-
ष्टोमः’—इत्यभिधाय ‘कर्त्तव्यः’—इत्युच्यते । केन ?—इत्या-
काञ्चित्ते ‘सोमेन’ इति । किमर्थं ?—इति, ‘सर्गाय’ इति ।
कथमिति ?। इत्थं, (अनया इतिकर्त्तव्यतया) इति । एवमव-
गच्छन्तः, पदार्थैरेभिः संस्कृतं पिंडितं वाक्यार्थं कथमुन्मत्तबाल-
काक्यसदृशं—इति वक्ष्यामः ? ॥

ननु ‘अनुपपन्नमिदं दृश्यते,—‘वनस्पतयः सत्रमासत’ इत्येव-
मादि’ । नानुपपन्नं ;—न, अनेन ‘अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः’
—इत्येवमादयोऽनुपपन्नाः स्युः । अपि च ‘वनस्पतयः सत्रमा-
सत’—इत्येवमादयोऽपि नानुपपन्नाः,—स्तुतयो ज्ञेयाः सचस्य,
वनस्पतयो नामाभ्येतना इदं सत्रमुपासितवन्तः, किं पुनर्विद्वांसो
ब्राह्मणाः । तद्यथा लोके,—सन्ध्यायां मृगा अपि न चरन्ति,
किं पुनर्विद्वांसो ब्राह्मणा इति । अपि च अविगीतः सुहृदुप-
देशः* सुप्रतिष्ठितः कथमिवाशङ्केत—उन्मत्तबालवाक्यसदृशः—
इति ?। तस्माच्चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति सिद्धं ॥

इति श्रीमच्छंकरस्वामिनः शतौ मीमांसाभाष्ये प्रथमस्य
अध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ तर्कपादोऽर्थः ॥ * * ॥

* ‘शुद्ध उपदेशः’ इति प्रा० प० ।

द्वितीयः पादः ॥

ख. आम्लास्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शानां तस्माद-
नित्यमुच्यते ॥ १ ॥ (पृ० १)

भा. 'सोऽरोदीत्, यदरोदीत्, तत् रुद्रस्य रुद्रत्वं' (१) 'प्रजापतिः
आत्मनो वपामुदखिदत्',* (२) 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय
दिशो न प्रजानन्'—(३)—इत्येवमादीनि समाग्नातारः समाम-
नन्ति वाक्यानि । तानि किं किञ्चित् धर्मं प्रमिमते† उत न ? इति
भवति विचारणा । तदभिधीयते,—क्रिया कथमनुष्ठेया‡ ? इति
तां वदितुं समाग्नातारो वाक्यानि समामनन्ति । तत्, यानि
वाक्यानि क्रियां नावगमयन्ति, क्रियासंबद्धं वा किञ्चित् ; एवमेव
भूतमर्थमन्वाचयते—वदितवान् रुद्रः, (१) वपामुदखिदत् प्रजा-
पतिः, (२) देवा वै दिशो न प्रजिञ्चरे§ (३)—इत्येवञ्जातीयकानि,
तानि कं धर्मं प्रमिमीरन् ? । अथोचेरत,—'अध्याहारेण वा
विपरिणामेन वा अयच्छितकल्पनया वा अयधारण—कल्पनया
वा गुणकल्पनया वा कश्चिदर्थः कल्पयिष्यते'—इति । स कल्प्य-
मानः कः कल्पेत ? । रुद्रः किल रुद्रोऽह, अतोऽन्येनापि रोदि-
तव्यं, (१) उदखिदत् आत्मवपां प्रजापतिः, अतोऽन्योऽप्युदखिद-
दात्मनो वपां, (२) देवा वै देवयजनकाले दिशो न प्रज्ञातवन्तः,
अतोऽन्योऽपि दिशो न प्रजानीयात् (३)—इति, तच्चात्रकथं,—
इष्टवियोगेनाभिघातेन वा यत् वाष्पनिर्माचनं, तत् रोदन-
मित्युच्यते, न च, तत् इच्छातो भवति ! (१) । न च, कश्चि-

* 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' इति मुद्रित तैत्ति सं० २ का० १ प्र०
१ अ० अत्र उदखिदत् इति पाठः साधुः ॥ † 'प्रमिमीरन्' इति का० सं० ॥

‡ 'मनुष्ठीयेत' इति का० सं० ॥ § 'प्रजानन्' इति आ० सो० ॥

॥ 'कल्प्यमान एव एवं कः कल्पेत' इति का० सं० ॥

भा. हात्मनो वषामुत्खिद्य तामग्नौ प्रहृत्य तत उत्थितेन तूपरेष*
 पशुना यष्टुं ब्रह्मयात्! (२)। न च, देवयजनाध्यवसानकाले
 केचित् द्विगो मुष्टेयुः! (३)। अतः एषामानर्थक्यं। तस्माद्देव-
 जातीयकानि वाक्यानि 'अनित्यानि'—इत्युच्यन्ते, (यद्यपि
 च नित्यानि, तथापि न नित्यमर्थं कुर्वन्ति) इति। स एष
 वाक्यैकदेशस्याक्षेपः, न ह्यस्य वाक्यस्य। ननु 'एकदेशादिना
 साक्षात् पदसमूहो न पर्याप्तः खल्वै प्रयोजनाय, अतः
 आक्षिप्त एव' इति। नैवं, भवति हि कश्चित् पदसमूहः,
 योर्धवादेश्यो विनापि विदधाति कश्चिदर्थं, यानि पुनः
 तेः सह संयुज्य अर्थांतरे वर्तन्ते, तान्येकदेशाक्षेपेणाक्षिप्यन्ते ॥
 (पू० १) ॥

ख. शास्त्रदृष्ट-विरोधाच्च ॥ २ ॥ (पू० २)

भा. 'स्तेन मनः' (१) 'अनृतवादिनी वाक्' (२)—इत्येवंजाती-
 यकानां धर्मं प्रति अप्रामाण्यं, भूतानुवादात्। विपरिणामादि-
 भिरपि कल्प्यमाने स्तेर्यं मृषोद्यच्च कर्तव्यमित्यापतति, तच्चा-
 न्नकथं स्तेयानृतवादप्रतिषेधमबाधमानेनानुष्ठानं। न च विकल्पः,
 वैवम्यात्, एकः कल्पो विधिः, एकः प्रत्यक्षः ॥

अथ दृष्टविरोधः, †—'तस्मात् धूम एवाग्निर्वा ददृजे नार्चिः।
 तस्माद्दर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृजे न धूमः'—इति 'अस्माहोकादुत्क-
 म्याग्निरादित्यं मतः, रात्रौ § आदित्यस्तं' इत्येतदुपपादयितु-
 मिदं, उभयमपि ¶ दृष्टविषद्वमुच्यते। तस्माद्गैषावधारणा
 सिद्धति इति (१)। अपरो दृष्टविरोधः,—'नचैतद्विग्नो वयं

* 'हृत्पुरहितेनेति माधवः ॥ † 'क्षतः' इति का० सं० ॥

‡ 'प्रत्यक्षविरोधश्च' इति का० सं० ॥ § 'रात्रौ' इति का० सं० नास्ति ॥

¶ 'तस्मात्' इति अधिकं का० सो० ॥

भा. ब्राह्मणा वा स्यः, अबाह्मणा वा' इति अक्रियार्थत्वादनर्थकं ।
 अघायमर्थः—नैवैतत् आघायते किं वा ब्राह्मणा वयं उताब्राह्मणा
 एवेति, प्रत्यक्षविषद्वमप्रमाणं (२) । अपरः ब्राह्मणदृष्टेन विरोधः
 —'को हि तदेद, यत् अमुष्मिन्लोकोऽस्ति वा, न वा' इति, यदि
 प्रश्नोऽर्थं, अक्रियार्थत्वादनर्थकः । अघानवक्षतिः, ब्राह्मणदृष्टेन
 विरोधः । अतः प्रत्यक्षविषद्वमप्रमाणं (३) ॥ (पू० २) ॥

स. तथाफलाभावात् ॥ ३ ॥ (पू० ३)

भा. गर्गचिराच्चब्राह्मणं प्रहृत्योच्यते 'जोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद'
 —इति यदि भूतानुवादः, अनर्थकः । अथाध्ययनफलानुवादः,
 ततोऽसदनुवादः । 'कालान्तरे फलं भविष्यतीति' चेत् । न हि
 अत्र प्रमाद्यमस्ति । 'विधिः स्वादिति' चेत् । नैव विधिपरः ;
 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु' (३ अ० २ पा०) इति चिन्तयिष्यति एतदु-
 परिष्ठात्—किं फलविधिपरार्थवादः ?—इति । इह तु किं
 भूतानुवादः, क्रियार्थो वा ?—इति* ॥ 'आऽस्वा प्रजायां वाजी
 आघायते य एवं वेद' इति चोदाहरणं ॥ (पू० ३) ॥

स. अन्यानर्थक्यात् ॥ ४ ॥ (पू० ४)

भा. 'पूर्णाङ्गत्वा सर्वान् कामानवाप्नोति' (१), 'पशुबन्धवाजी
 सर्वान् लोकानभिययति' (२), 'तरति मृत्युं, तरति ब्रह्महत्यां
 वोऽश्वमेधेन यजते, य उ चैनमेवं वेद' (३) इति, यदि
 भूतानुवादमात्रमनर्थकं । अत्र फलविधिः, इतरेषां आनर्थक्यं,
 —न हि, अस्तत्वा पूर्णाङ्गति, अग्निहोषादयः क्रियन्ते ॥ न

* 'तेन न फलविधित्वात् निरास्तस्य इह अनर्थकोऽर्थवादविचारः'
 इति अधिकां का० सं० ।

† 'अस्य' इति क्वचित् ।

भा. च, अनिद्धा अग्नीषोमीवेन, सोमेन यजन्ते !। न च, अनधीत्य, अश्वमेधेन यजन्ते !। तस्यथा, पथिजाते अर्के मधु उत्सृज्य, तेनैव पथा मध्वर्थिनः पर्वतं न गच्छेयुः, तादृशं हि तत्। अपि चाहुः—“अर्के चेन्मधु विन्देत, किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ?। इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्” इति ॥ (पू० ४) ॥

स. अभागि-प्रातर्षेधाञ्च ॥ ५ ॥ (पू० ५)

भा. ‘न पृथिव्यामग्निञ्चेतथो नान्तरिक्षे न दिवि’—इत्यप्रतिषेध-भागिनमर्थं प्रतिषेधन्ति। विज्ञायते एवैतत्,—अन्तरिक्षे, दिवि चाग्निर्न चीयते—इति। पृथिवीचयनप्रतिषेधार्थं च ब्रह्मव्यं, भवेत् चयनप्रतिषेधार्थमेव तत्। अद्याप्रमाणं, नैव विरोधो भवति। कथं तत् प्रमाणं?, यत् विध्वन्मरमाकुल्यते, स्वयं चाकुलं स्यात्,—न चेतव्यं, हिरण्यं निधाय चेतव्यमिति !। (पू० ५) ॥

स. अनित्यसंयोगात् ॥ ६ ॥ (पू० ६)

भा. अनित्यसंयोगश्च (वेदप्रमात्ये सति) “परन्तु श्रुति—सामान्य-मात्रं” (१ अ० १ पा० २१ सू०) इति परिहृतः। इदानीं वेदैकदेशानामाधिष्ठानां पुनरुपोद्दलक उत्तिष्ठति,—‘ववरः प्रावाहणिरकामयत्’—इति ॥ (पू० ६) ॥

स. विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः ॥

७ ॥ (सि०)

भा. इदं समाह्वयते,—‘वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः, वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवेनं भूतिं गमयति’—इति। ‘वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता’—इत्यतो यद्यपि क्रिया नाध्वगम्यते, क्रियासंबद्धं वा किञ्चित्; तथापि विधुर्ज्ञे-

भा. नैकवाक्यत्वात् प्रमाणं; 'भूतिकामः'—इत्येवमन्तो विभुद्देवः; तेनैकवाक्यभूतो 'वाबुर्वै' शेषिष्ठा देवता—इत्येवमादिः। 'कथमेकवाक्यभावः?'। पदानां साकाङ्गत्वादिधेः स्तुतेः शैकवाक्यत्वं भवति,—भूतिकाम आलभेत, (कस्मात्?) यतो वायुः शेषिष्ठेति। नायमभिसंबन्धो विवक्षितः,—'भूतिकामेनालम्ब्यमिति। कथं तर्हि आलभेत?। यतः, ततो भूतिः'—इति, भिन्नाविभावयौ, उभयाभिधाने वाक्यम्भिद्येत ॥

'किमर्था स्तुतिरिति' चेत्। कथं रोचेत?, नोऽनुष्ठीयेत*!—इति। 'ननु प्राक् स्तुतिवचनात्, अनुष्ठानं भूतिकामान्तात्सिद्धं, स्तुतिवचनमनर्थकं'। न हि; यदा स्तुतिपदसंज्ञिधानं, तदा पूर्वैव विधिः; यदा स्तुतिपदसंबन्धः, न तदा भूतिकामस्यालम्बो विधीयते। यथा, पटो भवति—इति, पट उत्पद्यते इत्यर्थः; निराकारं च षट्पदं। यदा च तस्मिन्नेव 'रक्तः'—इत्यपरं+ श्रूयते, तदा रागसंबन्धो भवतीत्यर्थः; भवति च रक्तं प्रत्याकाङ्गम्। एवं यदा न स्तुतिपदानि, विधिष्ववदेनैव तदा प्ररोचना, यदा स्तुतिवचनं, तदा स्तवनेन ॥ ननु 'एवं सति, किं स्तुतिवचनेन?, यस्मिन् सति अविधायकं, भा भूत् तत्, तदभावेऽपि पूर्वविधिनैव प्ररोचयिष्यते'—इति। सत्यं, विनाऽपि तेन, सिध्येत् प्ररोचनं; अस्ति तु तत्, तस्मिन् विद्यमाने योऽर्थो वाक्यस्य, सोऽवगम्यते स्तुतिप्रयोजनं, तयोः तस्मिन् अविद्यमाने विधिना प्ररोचनमिति ॥

ननु "सत्स्यपि स्तुतिपदेषु पूर्वस्य विधिसंख्यत्वादिधिरभिप्रेतः स्यात्!, न विवक्ष्येत स्तुतिपदसंबन्धः!। 'आह—स्तुतिपदानि ह्यनर्थकान्यभिव्यन् साकाङ्गाणि'। भवन्त्वनर्थकानि"—इति चेत्। न, गम्यमानेऽर्थे अविवक्षितार्थानि भवितुमर्हन्ति।

* 'ततोऽनुष्ठीयेत?' इति का० सं० । † 'परो मुखः' इति का० सं० ।

भा. योऽसौ विभुदेवः, स ब्रह्मोति निरपेक्षोऽर्घ्यं विधातुं, ब्रह्मोति च स्तुतिपदानां वाक्यश्रेणी भवितुं, प्रत्यक्षस्य वाक्यश्रेण्यभावः । अतोऽस्मादिधेः स्तुतिमवगच्छामः ॥

ननु 'निरपेक्षादपि विधिमवगमिष्यामः' । भवतु एवं, नैवं सति कश्चिद्विरोधः; किन्तु अत्रक्यः स्तुतिपदसंबन्धे सति विधर्थो विवक्षितुं; वाक्यं हि संबन्धस्य विधायकं, द्वौ चेत्संबन्धौ विद-
 ध्यात्,—भूतिकाम आसभेत, (१) आसम्भेन च एष गुणो भविष्यति (२) इति; भिद्येत तर्ह्येवं सति वाक्यं! ॥ अथ यदुक्तं (३६।६) 'न क्रिया गम्यते, न तत्संबद्धं वा किञ्चित्—
 इति । 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः,' स्तुतिब्रह्माः स्तुवन्तः क्रियां प्ररोचयमाणाः अनुष्ठातृणामुपकरिष्यन्ति क्रियायाः । एव-
 मिमानि सर्वास्थेव पदानि कश्चिदर्थं स्तुवन्ति विदधति । अतः प्रमाथं एवं—जातीयकानि 'वायुर्वैश्वेपिष्ठा देवता'—
 इति ॥ (वि०) ॥

स. तुल्यं च साम्प्रदायिकं ॥ ८ ॥ (उ० १)

भा. अद्योचेरत,—'प्राक् स्तुतिपदेभ्यः, निराकाङ्क्षाणि विधाव-
 कानि, विधिस्वरूपत्वात्, स्तुतिपदानि तु प्रमादपाठः' इति । तत् न एवं, अर्थावगमात्, 'तुल्यं च साम्प्रदायिकं,' संप्रदायः (प्रयोजनं) येषां धर्माणां,* सर्वे ते विधिपदानां अर्धवादपदानां च तुल्याः;—अध्यायानधायतेः, गुरुमुखात्प्रतिपत्तिः, त्रिष्वोपा-
 धायता च सर्वस्त्रिष्वेवंजातीयके अविघ्नार्थं तुल्यमाद्रियन्ते, स्मरणं च वृद्धं । अतो न प्रमादपाठः इति ॥ (उ० १) ॥

* 'भावानां' इति का० सं० ।

† 'अध्यायानधायता' इति का० सं० । 'अध्यायानध्ययने' इति आ० सो० ।

स. अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छ-
ब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत ॥ ६ ॥ (उ० २)

भा. अपि च, या एषा अनुपपत्तिरुक्ता (४०।११) “शास्त्रदृष्ट-
विरोधात्”—इत्येवमाद्या, सा ‘सोऽरोदीत्’—इत्येवमादिषु न
प्राप्नोति । कुतः ? । प्रयोगे हि स्तेयादीनामुच्यमाने विरोधः
स्यात्, शब्दार्थस्तु अप्रयोगभूतः, तस्मादुपपद्येत ‘स्तेन मनः,
अनृतवादिनी वाक्’—इति ॥ (उ० २) ॥

स. गुणवादस्तु ॥ १० ॥ (उ० ३)

भा. ‘यदुक्तं—(४३।७) ‘विधेयस्य प्ररोचनार्था स्तुतिः’ इति;
तद्विद् कथमवकल्पयेत्?, यथान्यद्विधेयं, अन्यच्च स्तूयते, यथा,
‘वेतसशाखयाऽवकाभिश्चाग्निं विकर्षति’—इति वेतसावके विधी-
येते, आपञ्च स्तूयन्ते,—‘आपो वै ज्ञान्ताः’—इति । तदुच्यते,
—‘गुणवादस्तु,’ गौण एष वादो भवति, यत् संबन्धिनि
स्तोतये संबन्धग्नरं स्तूयते । अभिजनो ज्ञेय वेतसावकयोः,
ततस्ते जाते । अभिजनसंस्तवेन चाभिजातः स्तुतो भवति ।
यथा, अस्माकाभिजनो देवदत्तोऽस्माकेषु स्तूयमानेषु स्तूत-
मात्मानं मन्यते, एवमत्रापि द्रष्टव्यं ॥ (१ श्या०) ॥

‘अथ ‘सोऽरोदीत्’—इति कस्य विधेः शेषः?’ । ‘तस्माद्वर्द्धिषि
रजतं न देयं’—इत्यस्य । कुतः ? । साकाङ्गत्वात्पदानां,
‘सोऽरोदीत्, यदरोदीत्, तत्, षडस्य षडत्वमित्यत्र सः—इति
प्रकृतापेक्षः, तत्प्रत्ययात् । ‘तस्य यदशु अर्द्धीर्यत’—इति ‘तस्य’
—इति पूर्वप्रकृतापेक्ष एव । उपपत्तिश्चोपरितनस्य, यो वर्द्धिषि
रजतं दद्यात्, पुराऽस्य संवत्सरात्, गृहे रोदनं भवतीत्यस्य
हेतुत्वेनायं प्रतिनिर्द्दिश्यते,—‘तस्माद्वर्द्धिषि रजतं न देयं’—
इति ; एवं सर्वाणि साकाङ्गाणि ॥ ‘कथं विधेयपकुर्वन्तीति?’ ।

भा. गुणवादेन,—रोदनप्रभवं रजतं वर्द्धिषि ददतो रोदनमापद्यते ।
 तत् प्रतिषेधस्य गुणः ; यत् अरोदनमिति ॥ 'कथं पुनरुदति
 'अरोदीत्'—इति भवति? (१) । कथं वा अनश्रुप्रभवे रजते-
 श्रुप्रभवमिति वचनं? (२) । पुराणस्य संवत्सरादसति रोदने,
 कथं रोदनं भवतीति? (३) । तदुच्यते,—'गुणवादस्तु,' गौणा
 एते शब्दाः,—शब्दः—इति रोदननिमित्तस्य शब्दस्य दर्शनात्
 'यदरोदीत्' इत्युच्यते (१) । वर्णषारूप्यात् निन्दन् अनश्रु-
 प्रभवमप्यश्रुप्रभवमित्याह (२) । निन्दन्नेव च धनत्यागे दुःख-
 दर्शनात्पुराणस्य संवत्सरात् गृहे रोदनं भवतीत्याह (३) ॥
 (२ व्या०) ॥

तथा, 'यः प्रजाकामः पशुकामो वा स्यात्, स एतं प्राजापत्यं
 तूपुर*माखभेत' इति, आकाङ्क्षितत्वादस्य विधेः श्रेयोर्ध्वं,—'स
 आत्मनो वपामुदक्खिदत्'—इति । 'कथं गुणवादः? इत्थं नाम
 न आसन् पशवः, यत्, आत्मनो वपामुदक्खिददिति' । एतच्च
 कर्मणः सामर्थ्यं, यत्, अश्रौ प्रकृतमात्रायां वपायामजस्तूपुर
 उदगात्, इत्थं बहवः पशवो भवन्तीति । 'कथं पुनरनुत्खि-
 त्वायां वपायां प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिदत्—इत्याह? ।
 उच्यते,—असदृत्तान्ताम्बास्थानं, स्तुत्यर्थेन प्रशंसाया गम्यमान-
 त्वात् । इहान्बास्थाने वर्त्तमाने, इयं निष्यद्यते, †—यच्च वृत्तान्त-
 ज्ञानं, (१) यच्च कस्मिंश्चित्प्ररोचना, द्वेषो वा (२) । तच्च
 वृत्तान्ताम्बास्थानं‡ न प्रवर्त्तकं, न निवर्त्तकं च इति प्रयोजना-
 भावात् अनर्थकं—इति अविवक्षितं ; प्ररोचनया तु प्रवर्त्तते,
 द्वेषात् निवर्त्तते इति तयोर्विबन्धा । वृत्तान्ताम्बास्थानेऽपि
 विधीयमाने आदिमत्ता दोषो वेदस्य प्रसज्येत ।। 'कथं

* तूपुरः शृङ्गरहित इतिमाधवः । † 'भूता इति' इति का० सं० ॥

‡ 'आपतति' इति का० सं० ॥ § 'ज्ञानं' इति का० सं० ॥

भा. पुनरिदं निरालम्बनमन्वाख्यायते ? इति । उच्यते,—नित्यः कश्चिदर्थः प्रजापतिः स्यात्,—वायुः, (१) आकाशः, (२) आदित्यो वा (३) । 'स आत्मनो वपामुदक्खिदत्'—इति दृष्टिं (१) वायुं (२) रश्मिं वा (३) ; तामग्नौ प्रागृणात्, वैद्युते (१) आर्चीसे (२) लौकिके वा (३) । ततोऽजइत्यन्नं, (१) बीजं, (२) विदत् (३) वा* तमालभ्य (तमुपयुज्य) प्रजाः पशून्प्राप्नोतीति गौषाः शब्दाः ॥ (३ था०) ॥

'आदित्यः प्रापणीवश्चररादित्य उदपनीयश्चरः'—इत्यस्य विधेः शेषो 'देवा वै देवयजनमध्ववसाय दिशो न प्रजानन्'—इति, आकाशित्वात् । सर्वथामोक्षानामादित्यश्चरणाश्रयिता, अपि दिङ्मोक्षस्येति स्तुतिः । 'कथमसति दिङ्मोक्षे दिङ्मोक्षशब्दः' इति । उच्यते,—अप्राज्ञतस्य बहोः कर्मसमूहस्योपस्थितत्वात् गौषो मोक्षशब्दोऽध्वधारणावकाशदानादिभिर्ज्ञापयतीति गौषता (४ था०) ॥ (७० ३) ॥

सू. रूपात्प्रायात् ॥ ११ ॥ (७० ४)

भा. 'हिरण्यं हस्ते भवति, अथ गृह्णाति'—इति, साकाशत्वादस्य विधेः शेषः—'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्'—इति । निन्दा-वचनं हिरण्यस्तुत्यर्थेन, यथा, किं ऋषिणा, देवदत्त एव भोजयितव्यः । 'कथं पुनरस्तेनं मनः निन्दितुमपि स्तेनशब्दे-नोच्यते, वाचं चाननृतवादिनी अपि 'अनृतवादिनी'—इति ब्रूवात् ? । गुणवादस्तु 'रूपात्,' यथा, स्तेनाः प्रच्छन्नरूपाः, एवं च मनः इति गौषः शब्दः । 'प्रायात्' च, अनृतवादिनी वागिति ॥ (७० ४) ॥

* 'विददिति गौषाः शब्दाः' इति तु आ० सो० ॥

स. दूरभूयस्वात् ॥ १२ ॥ (उ० ५)

भा. दृष्टविरोधे उदाहरणं, (४०।१७) 'तस्माद्भूम एवाग्नेर्हिवा ददृशे, नार्चिः, तस्मादधिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे, न धूमः'—इति, 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः साहा—इति सायं जुहोति, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः साहा—इति प्रातः',—इति मिश्रलिङ्ग-मन्त्रयोर्विधानस्याकाङ्क्षितत्वाच्छेषः। उभयोर्देवतयोः सन्निधाने होमः—इति स्तुतेरुपपत्तिः। 'दूरभूयस्वात्,' धूमस्याग्नेश्चा-दर्शने गौणः शब्दः ॥ (उ० ५) ॥

स. अपराधात् कर्तुंश्च पुत्रदर्शनं ॥ १३ ॥ (उ० ६)

भा. दृष्टविरोधे एव उदाहरणं (४०।२१) 'न चैतद्विद्यः'—इति, तत्, 'प्रवरे प्रत्रियमाणे देवाः पितर इति ब्रूयात्'—इत्याकाङ्क्षितत्वादस्य विधेः शेषः। अब्राह्मणोऽपि ब्राह्मणः प्रवरानुमन्त्रणेन स्यादिति स्तुतिः। दुर्ज्ञानत्वादज्ञानवचनं गौणं, स्थपराधेन कर्तुंश्च पुत्रदर्शनेन, 'अप्रमत्ता रक्षत तन्मुनेन'—इत्यादिना दुर्ज्ञानं ॥ (उ० ६) ॥

स. आकालिकेप्सा ॥ १४ ॥ (उ० ७)

भा. ब्राह्मणदृष्टविरोधे उदाहरणं (४१।३) 'को हि तदेद'—इति, 'दिक्ष्वती कात्रान् करोति'—इति साकाङ्क्षत्वादस्य विधेः शेषः। प्रत्यक्षफलत्वेन स्तुतिः। अनवकासिवचनं विप्रकृतकालफलत्वाद्गौणं ॥ (उ० ७) ॥

स. विद्याप्रशंसा ॥ १५ ॥ (उ० ८)

भा. 'तथाफलाभावात्' (२ पा० ३ सू०) इत्यत्र उदाहृतं—'श्रोभतेऽस्य मुखं'—इति गर्गशिराचविधेराकाङ्क्षितत्वाच्छेषः।

भा. वेदानुभवस्य च 'आप्तस्य प्रजायां वाजी जायते'—इति शेषः ।
मुखब्रीभा वाजिमत्स्य च गुणवचनत्वाद्गौणः शब्दः, ब्रीभते इव
त्रिष्यैवदीस्यमाणं ; कुले सप्तताभ्यनश्रवणान्मेधावी जायते—
इति स प्रतियज्ञादन्नं प्राप्नोतीति ॥ (७० ८) ॥

स. सर्वत्वमाधिकारिकं ॥ १६ ॥ (७० ९)

भा. अन्वानर्थक्यवाक्ये उदाहरणं,—'पूर्णाङ्गत्या सर्वान् कामान-
वाप्नोति'—इति, 'पूर्णाङ्गतिं जुहोति'—इत्याकाङ्क्षितत्वादस्य
विधेः शेषः । 'य उ चैनमेवं वेद'—इति, 'तरति नृत्युं'—
इत्यस्याकाङ्क्षितत्वाच्छेषः । फलवचनं स्तुतिः, सर्वकामफलस्य
निमित्ते सर्वकामावाप्तिवचनं गौणं । असर्वेषु सर्ववचनं अधि-
ज्ञतापेक्षं । (७० ९) ॥

स. फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत्परिमाणतः फल-
विशेषः स्यात् ॥ १७ ॥ (७० १०)

भा. अन्वारण्य वचनमिदं (४६ । ६) यद्यपि विधिः, तथापि अर्ध-
वृत्ता परिमाणतः सारतो वा फलविशेषात् ॥ (७० १०) ॥

स. अन्त्ययोर्यथोक्तं ॥ १८ ॥ (७० ११)

भा. 'अभागिप्रतिषेधात्'—इत्यादानुदाहृतं—'न पृथिव्यामग्नि-
श्चेतसो नान्तरिक्षे न दिवि'—इति, 'हिरण्यं निधाय चेतसं'
—इत्याकाङ्क्षितत्वात् अस्य विधेः शेषः । पृथिव्यादीनां निम्हा
हिरण्यस्तुत्यर्था । असति प्रसङ्गे प्रतिषेधो नित्यानुवादः । यच्च
(६ पू०) अनित्यदर्शनं 'बबरः प्रावाहणिरकामयत'—इति,
तत् परिहृतं, अर्थवादाक्षेपेण पुनरुत्थितं, इदानीमर्थवाद-
प्रामाण्ये तेनैव परिहारेण परिहरिष्यते—इति ॥ (७० ११) ॥
(इति अर्थवादाधिकरणं, १ अ० । २ पा० । १ अधि०) ॥

अथ विधिवन्नगदाधिकारबन्धम् ।

ख. विधिर्वा स्यादपूर्वत्वाद्वाद्मात्रं ह्यनर्थकं ॥ १९ ॥ (पू०)

भा. इह ये विधिवत् निगदा अर्थवादाः, ते उदाहरणं,—‘श्रीदुंबरो यूपो भवत्यूर्ग्वं उदुंबर ऊर्कपञ्चव ऊर्जे वाख्या ऊर्जं पञ्चुञ्जाप्नोति ऊर्जावर्षथै’—इति। किमस्य विधिः कार्यं, उतास्यापि स्तुतिरिति?। किं तावत्प्राप्तं?—‘विधिर्वा स्यादपूर्वत्वाद्वाद्मात्रं ह्यनर्थकं’। विधिवन्नगदे ज्वेवजातीयकेषु फलविधिः स्यात्, फलं वावगम्यते, तथा हि अपूर्वं अर्थं विधास्यति, इतरथा स्तुतिवाद्मात्रं अनर्थकं स्यात्, स्तुतस्य अस्तुतस्य तावानेव सोऽर्थः। अपि च ‘ऊर्जावर्षथै’—इति प्रयोजनं श्रूयते; न च, ‘पञ्चस्तोऽयमर्थः’—इति कश्चिच्छब्दोऽस्ति! लक्षणया तु स्तुतिर्गम्यते, श्रुतिश्च लक्षणायाः ज्ञायसीति ॥ (पू०) ॥

ख. लोकवदिति चेत् ॥ २० ॥ (पूर्वपक्षे आशङ्का ॥)

भा. इति चेत् पश्यसि,—‘स्तुतिरनर्थिका, न च शब्देनावगम्यते’—इति। लौकिकानि वाक्यानि भवन्तो विदाकुर्वन्तु। तत् यथा, ‘इयं गौः क्रेतया देवदत्तीया, एषा हि ब्रह्मचीरा स्थपत्या अनष्टप्रजा च’ इति। ‘क्रेतया’—इत्यम्युक्ते गुणाभिधानात् प्रवर्त्तन्नेतरां क्रेतारः; ब्रह्मचीरेति च गुणाभिधानमवगम्यते; तद्वत् वेदेऽपि भविष्यति ॥ (पू० आ०) ॥

ख. न पूर्वत्वात् ॥ २१ ॥ (आशङ्का-निरासः ॥)

भा. नैतदेवं, लोके विदितपूर्वा अर्था उच्यन्ते ब्रह्मचीरादवः,

* ऊर्कं सामर्थ्यं इति माधवः ।

भा. तेषां विद्वानमेव न प्रयोजनं, अतः प्रश्नसा गम्यते । अवि-
दितवादे न अहधीरन् ! पूर्ववचनादिव । विदितत्वादेव च
प्ररोचयन्ते ; वैदिकेषु पुनर्यदि विधिब्रह्मेन न प्ररोचयन्ते, न—
तरामर्थवादेन ! आताम्रको हि विधिब्रह्मे स तदानीं । अथ
विधिब्रह्मेन प्ररोचितः, किं अर्थवादब्रह्मेन ? । अपि च वेदे
यत्कमसंवादः,—‘उर्जाध्वजस्यै’ इति अप्रसिद्धं वचनं, ‘उर्वा
उदुम्बरः’—इति हेतुत्वं चाप्रसिद्धं,—यस्मात् उर्गुदुम्बरः, तस्मात्
तन्मयो यूपः कर्माद्य इति ; ‘उर्गुदुम्बरः’—इति—अनृतवचनात्
‘अन्यद्स्वानृतं’—इति परिकल्प्येत ! ! (आ० नि०) ॥

स. उक्तान्तु वाक्यशेषत्वं ॥ २२ ॥ (सि०)

भा. उक्तं (४२।१८) अस्माभिर्वाक्यशेषत्वं,—‘विधिना त्वेकवाक्य-
त्वात्’—इति । ‘ननूक्तं (५०।१०) फलवचनं इह गम्यते, न
स्तुतिः’ इति । यत् इह फलवचनं, तत् औदुम्बरस्य यूपस्य,
न च, अविहित औदुम्बरो यूपोऽस्ति ! तत्र फलवचनमेवानर्थकं ।
‘स्तुतिवचनः ब्रह्मे नास्ति’ इति चेत् । इह फलवचने फल-
वत्ता प्रतीयते, फलवांस्य प्रब्रह्म इति, तत्र फलवत्तायामानर्थक्य-
मिति यो द्वितीयोऽर्थः, प्रश्नसा नाम स गम्यते । लक्षणेति चेत् ।
न, लक्षणायामपि अर्थवत्ता भवत्येव लक्षणापि हि लौकिकी ।
‘ननूक्तं (५१।६) असंवादी वेदे, न उर्गुदुम्बर इति’ । गुणवादेन
प्ररोचनार्थतां ब्रूमहे,—गौणत्वात्संवादः । किं ? सादुम्भं,—
यथाग्निं प्रीतिः साधनं, एवमिदमपि प्रीतिसाधनब्रह्मयुक्तं
भा. प्रश्नसितुं प्रश्नसावाचिना *ब्रह्मेन उच्यते, ब्रह्मते हि तत् पक्ष-
फलसंबन्धाद्गुणिति वक्तुं ॥ (सि०) ॥

* अत्र ‘प्रीतिसाधन’—इति अधिकं आ० सो० ।

स. विधिश्चानर्थकः क्वचित्, तस्मात् स्तुतिः प्रतीयेत, तत्-
सामान्यादितरेषु तथात्वं ॥ २३ ॥ (सि० युक्तिः १ ॥)

भा. 'अप्सुयोमिर्वा अश्वो अप्सुजो वेतसः'—इति, अप्सुयोनिरश्वः
कर्त्तव्यः—इति—विधेरश्वत्वादानर्थक्यं, तथावन्धं स्तुतिः कल्प-
यितव्या,—अमयित्रीभिरङ्गिरश्वस्य अवकानां च संबन्धो यज-
मानस्य कष्टं अमयतीति । 'तत्सामान्यादितरेषु तथात्वं,' तथेति
यावत्, तावत् तथात्वमिति । किं तत् सामान्यं ? । विध्यसंभवः
स्तुतिसंभवश्च ॥ (सि० यु० १) ॥

स. प्रकरणे संभवन् अपकर्षो न कल्पयेत, विध्यानर्थक्यं
हि तं प्रति ॥ २४ ॥ (सि० यु० २)

भा. इतश्च पश्यामः स्तुतिरिति । कुतः ? । इदं समानमिति,
—'यो विदग्धः, स नैर्ऋतः ; योऽश्वतः, स रौद्रः ; यः श्वतः,
स दैवतः ; तस्माद्विदग्धता अपयितव्याः, स दैवतत्वाद्य'—इति,
यदि स्तुतिः, दर्शपूर्णमासयोरेव श्वतः स्तावित्यते । तथा
संभवन् अपकर्षो न कल्पयेत, (अपहृत्यते इत्यपकर्षः) । विधि-
पक्षे तु यत्र नैर्ऋतः, तत्र विदग्धता नीयेत ! तथा सति
प्रकरणं बाधितं भवेत् । दर्शपूर्णमासकर्म प्रति नैर्ऋताभावात्
विदग्धविधानं अनर्थकं स्यात्, तस्मात् स्तुतिरेव ॥ (सि० यु० २) ॥

स. विधौ च वाक्यभेदः स्यात् ॥ २५ ॥ (सि० यु० ३)

भा. 'श्रीदुम्बरो यूषो भवति'—इति—'विधावतस्त्रिंशन्नाश्रीयमाणे
भा. 'जर्जाग्बवद्भौ'—इत्येतस्त्रिंशन् वाक्यं भिद्येत ! । इत्थं श्रीदुम्बरो
वूपः प्रशस्तः, स चोर्जाग्बवद्भौ—इति । तस्मात् विधिवभिगदा-
नामपि स्तुतिरेव कार्यमर्थवादानां—इति ॥ (सि० यु० ३) ॥
(इति विधिवभिगदाधिकरणं । १ अ० । २ पा० । २ अ०) ॥

अथ हेतुवन्निगदाधिकरणं ।

स. हेतुर्वा स्यादर्धवत्त्वोपपत्तिभ्यां ॥ २६ ॥ (पू०)

भा. अथ ये हेतुवन्निगदाः—‘सूर्पेण जुहोति, तेन हि अन्नं क्रियते’—इत्येवमादयः ; तेषु सन्देहः,—किं स्तुतिस्तेषां कार्यं, उत हेतुः?—इति । किं प्राप्तं?—हेतुः स्यादन्नकरणं होमस्य । ननु ‘अन्नसिद्धे कार्वकारणभावे न हेतूपदेन्नः’ । सत्यमेवं लोके, विधायिष्यते तु वचनेन वेदे,—सूर्पेण होमे कर्त्तव्ये अन्नकरणं हेतुरित्युपदिश्यते । किं प्रयोजनं? अन्यदपि दर्विपीठरादि अन्नकरणं यत्, तेनापि नाम कथं होमः क्रियेत?—इति । कुतः? । तस्याप्यन्नक्रियायामर्थवत्ता, ब्रह्मते च तेनाप्यन्नं कर्त्तुं, एतद्धि ‘क्रियते’ (५३।४)—इत्युच्यते । न हि, वर्त्तमानकालः कश्चिदस्ति ! यस्यायं प्रतिनिर्द्देशः । हेतौ च श्रुतिः ब्रह्मः, स्तुतौ लक्षणा । यदि च, ‘दर्विपीठरादि न साक्षादन्नं करोतीति नान्नकरणं—इत्युच्यते’ । अर्थे तस्मिन् सूर्पस्तुतिरनर्थिका स्यात् ! सूर्पमपि हि न साक्षादन्नं करोतीति तेन विनार्थेन सूर्पस्य स्तुतिर्नापपद्यते ॥ (पू०) ॥

स. स्तुतिस्तु, शब्दपूर्वत्वात्, अचोदना च तस्य ॥ २७ ॥
(सि०)

भा. न तु एतदस्ति, शब्दपूर्वकोऽयमर्थः,—अन्नकरणं हेतुः—इति, शब्दश्च ‘अन्नकरणं सूर्पहोमे हेतुः’—इत्याह, न च दर्विपीठरहोमे ; तेन शब्दपूर्वं सूर्पं, न च दर्विपीठरादेश्चोदना ॥ (सि०) ॥

स. व्यर्थं स्तुतिरन्याथ्येति चेत्* ॥ २८ ॥ (सि० आ०)

भा. इति पुनर्यदुक्तं, (५३।१४) तत् परिहर्त्तव्यं ॥ (सि० आ०) ॥

* का० सं० पुस्तके नेदं सूत्रं सूत्रतया उद्धृतं, किन्तु भाष्यरूपेणैव ।

सू. अर्थस्तु, विधिशेषत्वात्, यथा लोके ॥ २९ ॥ (आ० नि०)

भा. अस्मात्पक्षेऽर्थाऽस्ति, वाक्यशेषो हि स विधेस्तदा भवति । संवादस्य स्तुतिवचनत्वेन,—यथा वयं सूर्पेण अन्नं क्रियमाणं जानीमः, तथा सूर्पेणान्नं क्रियते—इत्येव गम्यते; तदा च अवर्तमानं स्तौतुं वर्तमानमित्युपदिशति । त्वत्पक्षे एष दोषः, यस्य ते हेतुविधिः; विधौ हि न परः शब्दार्थः प्रतीयते; न च, वर्तमानं उपदिशन् वेदः शब्दमर्थं विदधात् ॥ अस्मात्पक्षे तु एष परशब्दः परं वर्तते; यथा लोके, बलवान् देवदत्तो यद्देवतादीन् प्रसहते—इति प्रह्लादबलेऽपि बलवच्छब्दो वर्तमानो न सिंहं शार्दूलं वा अपेक्ष्य प्रयुज्यते; ये देवदत्तात्तु निह्लादबलाः, तान् अपेक्ष्य भवति । एवं, 'तेन हि अन्नं क्रियते'—इति प्रह्लादाज्ञकरणेन संस्तवः सूर्पस्य, निह्लादानि अन्यानि अन्नकरणानि अपेक्ष्य भविष्यति ॥ (आ० नि०) ॥

सू. यदि च हेतुः, अवतिष्ठेत निर्देशात्, सामान्यादिति चेत्, अथ्यवस्था विधीनां स्यात् ॥ ३० ॥ (सि० यु०)

भा. यद्यपि च भवेदन्नकरणं हेतुः दर्विपिठरप्रकाराणां, तथापि सूर्प एवावतिष्ठेत, शब्दात् 'अन्नकरणं हेतुः'—इति विज्ञायते, शब्दस्य सूर्पस्याह, न दर्विपिठरादीनां; तद्धि निर्दिश्यते,—यस्मात् सूर्पेणान्नं क्रियते, तस्मात् सूर्पेण जुहोति—इति । यथा, यस्मात् बलवदुपध्मातोऽग्निः, तेन मे गृहं दग्धमिति, न, 'अग्निरपि बलवदुपध्मातो दहति'—इति गम्यते । अथ 'मत्तं,—येन येन अन्नं क्रियते प्रणाद्या, सूर्पादन्येनापि तेन तेनापि होमः क्रियते' इति । 'अथ्यवस्था विधीनां स्यात्,' न केनचित् । प्रणाद्याऽन्नं क्रियते, तच्च यावदुक्तं स्यात्, जुहोति—इति तावदेवाज्ञकरणेन जुहोति—इति । अस्मात्पक्षे पुनः सूर्पं

भा. स्तूयते; 'तेन चर्चं क्रियते'—इति वृत्तान्ताग्याख्यानं न च वृत्तान्तज्ञापनाय, किं तर्हि प्ररोचनायैव । तस्माद्धेतुवन्निगद-
स्वापि स्तुतिरेव कार्य्यं इति ॥ (सि० यु०) ॥ (इति हेतुवन्नि-
गदाधिकरणं । १ अ० । २ पा० । ३ अ०) ॥

अथ मन्त्रलिङ्गाधिकरणम् ।

स. तदर्थशास्त्रात् ॥ ३१ ॥ (पू० १)

भा. अथ इदानीं, किं विवक्षितवचना मन्त्राः, उताविवक्षित-
वचनाः? (१) । किमर्थप्रकाशनेन यागस्य उपकुर्वन्ति, उत
उच्चारणमात्रेण? (२) इति;—यद्युच्चारणमात्रेण, तदा न नियो-
गतो 'वर्हिर्देवसद्मन्मामि'—इत्येष वर्हिर्लवनं विनियुज्येत ॥
अभिधानेन चेत्, प्रकरणेन विज्ञाताङ्गभावो नान्यत्रोपकर्तुं
शक्नोति—इत्यन्तरेणापि वचनं, वर्हिर्लवन एव विनियुज्येत!
—इति ॥ तदेवमवगच्छामः,—उच्चारणमात्रेणैवोपकुर्वन्तीति ।
कुतः? । 'तदर्थशास्त्रात्,' यदभिधानसमर्था मन्त्राः, तत्रैवैतन् ब्राह्मं
निब्रूयति,—'उरुप्रथा उरु प्रथस्व—इति पुरोडाशं प्रथयति'
—इति, वचनमिदं अनर्थकं, यदि अर्थाभिधानेनोपकुर्वन्ति;
अथोच्चारणमात्रेण, ततो वक्तव्यो विनियोगः, उक्तञ्च । अतो
नार्थाभिधानेन; यथा, साक्षः पुरुषः परेण चेन्नीयते, नून-
मक्षिभ्यां न पश्यति—इति गम्यते ।

'नन्वर्थवादाय' भविष्यतीति' चेत् । न हि, येन विधीयते,
तस्य वाक्यश्रेयोऽर्थवादः—इत्युक्तं । न च, निरपेक्षेण विहिते
अर्थवादेन किञ्चिदपि प्रयोजनं क्रियते! । अतो नार्थवादाय
वचनं (१) ।

तथाऽभ्यादानसमर्था मन्त्राः उदाहरणं । लिङ्गादेव आदाने
प्राप्ता वचनेन विधीयन्ते,—'तां चतुभिरादत्ते'—इति । 'चतुः-
संस्कार्यमिति' चेत् । न, समुच्चयशब्दाभावात् (२) ।

भा. तथा 'इमाममृग्यन् रसनाद्व्यतस्य—इत्युच्चाभिधानीमादने'
—इत्युदाहरणं,—रसनादाने प्राप्तस्य रसनादाने एव ब्राह्मं
विनियोजकं, तत् विवक्षितार्थत्वे न घटेत!—इति ।

ननु 'गर्भभरसनां परिसंख्यास्यति' । न ब्रह्मोति परिसंख्यातं,
परिसंख्याणो हि स्वार्थं च ज्ञात्, परार्थञ्च कल्पेत, प्राप्तं
च बाधेत ! (१) ।

तस्मात् न विवक्षितवचना मन्वाः, अतो न प्रमाणं, 'वर्हिर्देव-
सदमं दामि'—इत्यस्य रूपं वर्हिर्लवने विनियोगस्य ॥ (पू०) ॥

स. वाक्यनियमात् ॥ ३२ ॥ (पू० २)

भा. नियतपदक्रमा हि मन्वा भवन्ति,—'अग्निमूर्धा दिवः'—इति,
न विपर्ययेण । यत्पर्यप्रत्यायनार्थाः, विपर्ययेणाप्यर्थः प्रतीयते,—
इति नियमोऽनर्थकः स्यात् । अथ उच्चारणविशेषार्थाः, विपर्यये
अन्यदुच्चारणं—इति नियम आश्रीयते । तेन यत्पर्यन्तं पक्षे
नियमो अर्थवान्, स नूनं पक्ष इति । ननु 'अर्थवत्त्वपि नियमो
दृश्यते,—यथा, 'इन्द्राग्नी'—इति' । युक्तं तच्च तत्, विपर्ययेऽर्थ-
प्रत्याभावात् ॥ (पू० २) ॥

स. बुद्धशास्त्रात् ॥ ३३ ॥ (पू० ३)

भा. बुद्धे खल्वपि पाठादर्थे तदभिधानसमर्थो मन्वो भवति, 'अग्नीद्
अग्नीद् विहरेत्' इति । स बुद्धे किं बोधयेत् ? । अथ नु उच्चारण-
विशेषार्थाः, बुद्धेऽप्युच्चारणविशेषोऽवकल्प्येतेति । ननु 'पुन-
र्वचनात् संस्कारविशेषो भविष्यति' । एवं, अस्मात्पक्षमेवाश्रि-
तोऽसि, वचनमुच्चारणं, तद्धि ब्रह्मते कर्तुं' नार्थप्रत्यायनं, तत्
प्रतीतेऽवकथं; यथा, सोपानत्के पादे द्वितीयामुपानद्वमब्रह्म-
त्वाप्नोपादत्ते ॥ (पू० ३) ॥

स. अविद्यमानवचनात् ॥ ३४ ॥ (पू० ४)

भा. यज्ञे साधनभूतः प्रकारवितथाः, न च, तादृशोऽर्थोऽस्ति !
यादृशमभिदधति*, यथा 'चत्वारि ऋणा'—इति । न हि,
चतुःऋणं विपादं विभिरत्कं सप्तहस्तं किञ्चित् यज्ञसाधन-
मस्ति ! । तदभाभिधानार्थः किमभिदध्यात् ? । उच्चारणार्थं
त्वक्कल्प्यते । तथा 'मा मा हिंसीः'—इत्यसत्यामपि हिंसायां
किमभिदध्यात् ? ॥ (पू० ४) ॥

स. अचेतनेऽर्थबन्धनात् ॥ ३५ ॥ (पू० ५)

भा. अचेतनेऽर्थे खल्वर्थं निबध्नन्ति,—'ओषधे चायस्वेनं'—इति,
अभिधानेनोपकुर्वन्त एवजातीयका ओषधिं पशुचाणाय प्रति-
पादयेयुः, न च, असावचेतना शक्या प्रतिपादयितुं ! । उच्चा-
रणार्थं तु नैव दोषो भवति । तस्मात् उच्चारणार्थाः । 'ऋणोत
यावाणः' इति च उदाहरणं ॥ (पू० ५) ॥

स. अर्थविप्रतिशेधात् ॥ ३६ ॥ (पू० ६)

भा. अर्थविप्रतिशेधोऽपि भवति,—'अदितिद्यौरदितिरत्तरिष्णं'—
इति, सैव द्यौः, तदेवान्तरिष्णं—इति को आतुच्चिदवधारयेत् ? ।
अनवधारयंश्च किमभिधानेनोपकुर्यात् ? । उच्चारणमात्रे तु नैव
विरोधो भवति । तस्मात् उच्चारणार्था मन्वाः । 'एको ब्रह्मः,
न द्वितीयोऽवतस्थे, असंख्याताः सहस्राणि ये ब्रह्मा अधिभूम्यां'
—इति चोदाहरणं ॥ (पू० ६) ॥

* 'अभिवदन्ति केचित् मन्वाः' इति का० सं० 'अभिवदन्त्येते मन्वा
इति' इति च क्वचित् पाठः ।

स. स्वाध्यायवद्वचनात् ॥ ३७ ॥ (पू० ७)

भा. स्वाध्यायकाले पूर्णिकावह्निं करोति, माणवकोवह्निमित्तमव-
मधीते, नासौ तेन मन्त्रेण तदभिधानमभ्यस्यति, अक्षरानुपूर्व्याः
अवधारणे एव यतते, येन च नाम प्रयोजनं, तदभ्यसितत्वं ;
अत उच्चारणाभ्यासात् उच्चारणेन प्रयोजनं इत्यवगच्छामः ॥
(पू० ७) ॥

स. अविज्ञेयात् ॥ ३८ ॥ (पू० ८)

भा. अपि च केषाञ्चिन्मन्त्राणां अत्रक्य एवार्थो वेदितुं, यथा,
'अग्न्यक् सात इन्द्रं चहृष्टिरस्त्रे' इति, 'सृण्वेव जर्भरी तुर्भरीतू'
इति, 'इन्द्रः सोमस्य काणुका' इति च ; एते किं प्रत्याययेयुः ? ।
उच्चारणार्थं तु न दोषः । तस्मात् उच्चारणार्था मन्त्रा इति ॥
(पू० ८) ॥

स. अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यं ॥ ३९ ॥ (पू० ५)

भा. अनित्यसंयोगः खल्वपि भवेत् मन्त्रेष्वभिधानार्थेषु ; यथा, 'किं
ते ह्रण्वन्ति कीकटेषु गावः'—इति, कीकटा नाम जनपदाः (१) ।
'नैचाशाखं नाम नगरं प्रमङ्गदो राजा'—इति, यद्यभिधा-
नार्थाः, प्राक् प्रमङ्गदात् नार्थं मन्त्रोऽनुभूतपूर्वं इति (२) गम्यते ।
तदेतैस्तदर्थब्राह्मादिभिः कारणैर्मन्त्राणां अविज्ञितवचनता ॥
(पू० ५) ॥

स. अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ॥ ४० ॥ (सि०)

भा. अविशिष्टस्तु लोके प्रयुज्यमानानां वेदे च पदानामर्थः ; स
यथैव लोके विवक्षितः, तथैव वेदेऽपि भवितुमर्हति ॥ 'नैवं,
लोके तैरर्थैरवबुद्धैः संख्यवहारः, इह देवताभिरप्रत्यक्षाभि-

भा. र्यञ्जाङ्गैश्चाचेतनैः संलापे न कश्चित् यच्चस्योपकारः । यद्यदृष्टं परिकल्प्येत, उच्चारणादेव तद्भवितुमर्हति । यद्धि कर्त्तव्यं, तत् प्रयोजनवत्, उच्चारणं च न कथञ्चित् न कर्त्तव्यं, यद्यपूर्वाय । यद्यर्थाय, यद्यर्था न प्रत्यास्यते, न किञ्चित् अनर्थकं, यदि न प्रयुज्यते, समाम्नानानर्थक्यं । तस्मात् उच्चारणादपूर्वं, तथा च तदर्थज्ञाखादि (पू०) उक्तं । तदुच्यते,—अर्थप्रत्यायनार्थमेव यज्ञे मन्त्रोच्चारणं । यदुक्तं—‘न देवताभिर्यञ्जाङ्गैश्च संलापे प्रयोजनमस्ति’—इति, यज्ञे यञ्जाङ्गप्रकाशनमेव प्रयोजनं । कथं ? । न हि, अप्रकाशिते यज्ञे यञ्जाङ्गे च यागः ब्रह्मोऽभिनिर्वर्त्तयितुं ! । तस्मात्तन्निर्द्वैत्यर्थमर्थप्रकाशनं महानुपकारः कर्मणः, तच्च करोतीत्यवगम्यते । तस्मादस्त्यस्य प्रयोजनं । तच्च वृष्टं न ब्रह्ममपवदितुं,—‘न अर्थाभिधानं प्रयोजनं’—इति । ननु ‘अर्थाभिधानेनोपकुर्वत्सु ‘तां चतुर्भिरादत्ते’—इत्येवमादि अनर्थकं भवति । काममनर्थकं भवतु, न जातुचित् अपजानीमहे वृष्टं अर्थाभिधानस्योपकारकत्वं ॥ (सि०) ॥

अथ किं तच्छास्त्रं अनर्थकमेव ? । न हि,

स. गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥ ४१ ॥ (उ० १)

भा. यदुक्तं (५६।४) ‘तां चतुर्भिरादत्ते’—इति समुच्चयशब्दाभावात् न समुच्चयार्थं इति । ‘चतुःसंख्याविशिष्टमादानं कर्त्तव्यं’—इति वाक्यादवगम्यते, तदेकेन मन्त्रेण गृह्णन् न यथाश्रुतं गृह्णीयादिति ॥ (उ० १) ॥

स. परिसंख्या ॥ ४२ ॥ (उ० २)

भा. ‘परिसञ्चक्षणे च ‘इमामगृह्णन्नित्यश्वाभिधानीमादत्ते’ इति चयो दोषाः (५६।४) प्रादुःष्युः’—इति । नैवं संबन्धः,—इत्यादत्ते—इति । कथं तर्हि ? । ‘इत्यश्वाभिधानी’—इति ।

भा. लिङ्गाद्भ्रजनाभाषे, ब्रह्मात्तु विशेषे अश्वामिधान्वा इति ; सति च वाक्ये लिङ्गं विनियोजकं, तच्चास्य प्रकरणाभ्यानानुमितं वाक्यं नास्ति । कतरत्तत् ? । एतेन मन्वेष्टादानं कुर्यादिति, (यस्मिन् सति रजनाभाषे लिङ्गात् प्राप्नोति) । अश्वामिधान्याकु प्रत्यक्षमेव वचनं, अस्मिन् सति तत् आनुमानिकं नास्ति । तेन गर्हभरजनायां न प्राप्तिरेवेति ॥ (उ० २) ॥

स. अर्थवादो वा ॥ ४३ ॥ (उ० ३)

भा. 'उत्प्रथा उत् प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति'—इति अर्थ-वादार्थेन पुनः श्रुतिः,—यज्ञपतिमेव तत् प्रथयति—इति । ननु 'नायं मन्वस्य वाक्यशेषः, न च प्राप्तस्य स्तुत्या प्रयोजनं' । सत्यं, नायं मन्वस्य विधिः, न संस्तवः, प्रथनमेव तच्च स्तूयते । मन्वः पुनः रूपादेव प्राप्त इहानूद्यते प्रथनं स्तोतुं,—इत्थं प्रथनं प्रथस्तं, यत् क्रियमाणं एवरूपेण मन्वेण क्रियते । कस्तदा भवति गुणः ? । यज्ञपतिमेव तत् प्रथया पशुभिः प्रथयति । किमेतदेवास्य फलं भवति ? । नेति ब्रूमः, स्तुतिः कथं भविष्यति ? —इति एवमुच्यते । कथमसति प्रथने प्रथयतीति शब्दः ? । मन्वाभिधानात्,—मन्वेण पुरोडाशं अध्वयुः प्रथस्वेति ब्रूते, यज्ञैवं प्रथस्वेति ब्रूते, स प्रथयति, यथा, यः कूर्बिति ब्रूते, स कारयति ॥ (उ० ३) ॥

स. अविकृद्धं परं ॥ ४४ ॥ (उ० ४)

भा. यदुक्तं,—(२ पू०)—'पदनियमस्यार्थवत्त्वाद्दिविचिन्तितार्था मन्वा इति' । काममनर्थको नियमः, न दृष्टमप्रामाण्यं । 'नियतोच्चारण-मदृष्टाय'—इति चेत्, अविकृष्टाद्दृष्टकल्पना अस्मत्पक्षेऽपि, एवं प्रत्याख्यमानमभ्युदयकारिं भवति—इति ॥ (उ० ४) ॥

ख. संप्रैषे कर्मगर्हानुपालम्भः संस्कारत्वात् ॥ ४५ ॥

(उ० ५) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—(१ पू०)—‘प्रोक्षणीरासादयेति—बुद्धबोधनम-
ब्रह्मं, अत उच्चारणाददृष्टं’—इति । तत्र, कर्मस्थं—इत्यपि
विज्ञाते अनुष्ठानकाले स्मृत्या प्रयोजनं, उपायान्तरेणापि
वा प्राप्नोति,—अतोऽनेनोपायेन कर्मस्थेति—नियमार्थमात्मनः,
संस्कारत्वात् ॥ (उ० ५) ॥

ख. अभिधानेऽर्थवादः ॥ ४६ ॥ (उ० ६)

भा. ‘चत्वारि ऋज्ञा’ (४ पू०) इत्यसदभिधाने गौणः शब्दः,
गौणीकल्पनाप्रमाणवत्त्वात् ; उच्चारणाददृष्टमप्रमाणं । अतश्चो
द्दोषाः ऋज्ञाधीवास्य । ‘अयोऽस्य पादाः’—इति सवनाभि-
प्रायं । ‘हे शीर्षे’—इति पत्नीयजमानौ । ‘सप्त हस्तासु’ इति
छन्दांसि अभिप्रेत्य । ‘विधा बद्धः’ इति विभिर्वैर्बद्धः । ‘हृषभः
कामान् वर्षतीति रोदवीति शब्दकर्मा महो देवो मर्त्यान् आवि-
वेज’—इति मनुष्याधिकाराभिप्रायं । तत् यथा, ‘अक्रवाकस्तनी
हंसदन्तावली काश्रवशा शैवालकेत्री नदी’—इति नद्याः स्तुतिः ।

यज्ञसमृद्धये साधनानां चेतनसादृश्यं उपपादयितुकाम
आमक्षणशब्देन लक्षयति,—‘श्रीषधे ! आयस्वैनं’—इति (५ पू०)
‘ऋणोत यावाणः’ इति, अतः परं प्रातरनुवाकानुवचनं भवि-
ष्यति, यत्राचेतनाः सन्तो यावाणोऽपि ऋणयुः, किं पुनर्विहांसो-
ऽपि ब्राह्मणाः—इति, इत्थं च अचेतना अपि यावाण आम-
क्षणन्ते ॥ (उ० ६) ॥

ख. गुणादविप्रतिषेधः स्यात् ॥ ४७ ॥ (उ० ७)

भा. ‘अदितिर्द्यौः’—इति (६ पू०) गौण एषः शब्दः, अतो न

भा. विप्रतिषेधः। यथा त्वमेव माता, त्वमेव पितेति; तथैकवद्र-
दैवत्ये एको वद्रः, अतएवदैवत्ये अतं वद्रा इति अविरोधः॥
(७० ७) ॥

स. विद्यावचनमसंयोगात् ॥ ४८ ॥ (७० ८)

भा. यत्तु (पू० ७)—‘अकर्मकाले*ऽवहन्तिमेषा माणवको न
पूर्णकावहन्तिं प्रकाशयितुमिच्छति’—इति। अयञ्चसंयोगात्,
न यज्ञोपकारायैतत् प्रकाशयितुमिच्छति। ननु ‘प्रकाश-
नानभ्यासोऽक्षराभ्यासश्च परिचोदितः’। उच्यते,—सौकर्यात्
प्रकाशनानभ्यासः, दुर्गहत्वाच्चाक्षराभ्यासः॥ (७० ८) ॥

स. सतः परमविज्ञानं ॥ ४९ ॥ (७० ९)

भा. विद्यमानोऽप्यर्थः प्रमादात्तस्यादिभिर्नोपलभ्यते, निगमनिश्-
क्त्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः कल्पयितव्यः; यथा, ‘ऋण्येव
जर्भरी तुर्फरीतू’—इत्येवमादीनि (८ पू०) अश्विनोरभिधानानि
द्विवचनान्तानि लक्ष्यन्ते। अनेन ‘अश्विनोः काममप्रा’—
इत्याश्विनं सूक्तमवगम्यते। देवताभिधानानि च घटन्ते,
जर्भरीत्येवमादीनि; अवयवप्रसिद्ध्या च लौकिकेनार्थेन विज्ञे-
यन्ते, एवं सर्वत्र ॥ (७० ९) ॥

स. उक्तश्चानित्यसंयोगः ॥ ५० ॥ (७० १०)

भा. ‘परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रं’ (१ अ०। १ पा०। ३५ सू०) इत्यत्र
इति ॥ (७० १०) ॥

* ‘कर्मकाले’ इति क्वचित् ।

† ‘जर्भरी भर्भरी इत्यर्थः, तुर्फरीतू हन्तारौ इत्यर्थः’ इति
ऋग्वेदटीकायां माधवः ।

स. लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत् ॥ ५१ ॥ (सि० यु० १)

भा. 'आग्नेय्याग्नेध्रमुपतिष्ठते'—इति विधानात्, विवक्षितार्थानामेव मन्त्राणां भवति लिङ्गोपदेशः, यदि तेऽग्निप्रयोजनाः, ततस्ते आग्नेय्याः, नाग्निशब्दसन्निधानात् ॥ (सि० यु० १) ॥

स. ऊहः ॥ ५२ ॥ (सि० यु० २)

भा. ऊहदर्शनं च विवक्षितार्थानामेव भवति । किमूहदर्शनं ? ।
'न पिता वर्द्धते, न माता'— इति ; अन्ये वर्द्धन्ते इति गम्यते,
प्रत्यक्षं कौमारयौवनस्थाधिरैः* वर्द्धन्ते माचादयः, शब्दो न
वर्द्धते—इति ब्रूते । का पुनः शब्दस्य वृद्धिः ? । यद्वचन—
बहुवचनसंयोगः ॥ (सि० यु० २) ॥

स. विधि-शब्दाश्च ॥ ५३ ॥ (सि० यु० ३)

भा. विधिशब्दाश्च विवक्षितार्थानामेव मन्त्राननुवदन्ति,—'व्रतं
हिमाः व्रतं वर्षाणि जीव्यासमित्येतदेवाह'—इति ॥ (सि०
यु० ३) ॥ इति मन्त्रलिङ्गाधिकरणं । १ अ० । २ पा० । ४ अ० ॥

इति श्रीमदाचार्य—श्रीशंकरस्वामिहृतौ मोमांसाभाष्ये प्रथ-
मस्य द्वितीयः पादः ॥ अर्थवादपादोऽयं ॥ * * ॥ >

* 'यौवनावस्थाभिरेव' इति आ० सो० । का० क्री० पु० ॥

तृतीयः पादः ॥

अथ स्मृतिप्रामाण्याधिकारम् ।

स. धर्मस्य शब्दमूलत्वात् अशब्दमनपेक्षं स्यात् ॥ १ ॥

(पू०)

भा. एवन्तावत्स्वात्त्वस्य वेदस्य प्रामाण्यमुक्तं, अथ इदानीं यच्च न वैदिकं शब्दं उपलभेमहि, अथ च स्मरन्ति,—एवमयमर्थो-
 ध्नुष्ठातयः, एतस्मै च प्रयोजनाय—इति; किं असौ तथैव
 स्यात्, न वा? इति। यथा 'अष्टकाः कर्तव्याः' 'गुहरनुगन्तव्यः'
 'तडागं खनितव्यं' 'प्रपा प्रवर्त्तयितव्या' 'त्रिखाकर्म कर्तव्यं—
 इत्येवमादयः ॥ तदुच्यते,—'धर्मस्य शब्दमूलत्वाद् अशब्दमन-
 पेक्ष्यं स्यात्—इति। शब्दलक्षणो धर्मः—इत्युक्तं 'चोदना-
 लक्षणोऽर्थो धर्मः—इति, अतो निर्मूलत्वान्नापेक्षितव्यमिति।
 ननु 'ये विदुः,—इत्थं असौ पदार्थः कर्तव्य इति, कथमिव ते
 वदिस्यन्ति,—अकर्तव्य एवायं—इति?'। स्मरणानुपपत्त्या, न
 हि अननुभूतोऽनुतो वाऽर्थः स्मर्यते; न च, अस्यावैदिकस्या-
 लौकिकस्य च स्मरणमुपपद्यते! पूर्वविज्ञानकारणाभावादिति,
 या हि बंधा स्मरेत,—इदं मे दौहित्रज्ञातमिति, न मे दुहिता-
 ऽस्ति—इति भवता, न जातुचिदसौ प्रतीयात्,—सम्यगेतत् ज्ञानं
 —इति। 'एवमपि यथैव पारम्पर्येणाविच्छेदात् 'अयं वेदः—
 —इति प्रमाणमेवां स्मृतिः, एवं इयमपि प्रमाणं भविस्यति—
 इति। नैतदेवं, प्रत्यक्षोपलब्धत्वात्पन्थस्य, नानुपपन्नं पूर्व-
 विज्ञानं, अष्टकादिषु त्वदृष्टार्थेषु पूर्वविज्ञानकारणाभावात्
 यामोहस्मृतिरेव गम्यते; तत् यथा, कश्चित् आत्यन्धो बहेत्,
 —स्मराम्यहं अस्य रूपविज्ञेयस्य—इति, कुतस्ते पूर्वविज्ञानं?
 —इति च पर्यनुयुक्तो आत्यन्धमेवाऽपरं विनिर्दिशेत्; तस्य

भा. कुतः? जात्यन्धान्तरात्,—एवं जात्यन्धपरम्परायामपि सत्यां नैव जातुचित्संप्रतीयुर्विद्वांसः सम्यग्दर्शनमेतत्—इति । अतो न आदर्त्तव्यमेवंजातीयकमनपेक्ष्यं स्यादिति ॥ (पू०) ॥

स. अपि वा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात् ॥ २ ॥
(सि०)

भा. अपि वा—इति पक्षो धावर्त्तपते । प्रमाणं स्मृतिः, विज्ञानं हि तत्, किमिति अन्यथा भविष्यति? । 'पूर्वविज्ञानमस्य नास्ति, कारणभावात्'—इति चेत् । अस्या एव स्मृतेर्ईदृग्निः कारणं अनुमास्यामहे; तत्तु न अनुभवनं, अनुपपत्त्या, न हि, मनुष्या इहैव जन्मनि एवंजातीयकमर्थमनुभवितुं शक्नुवन्ति! जन्मान्तरानुभूतं च न स्मर्यते; यन्थस्तु अनुमीयेत, कर्तृसामान्यात् (स्मृतिवैदिकपदार्थयोः) । तेन उपपन्नो वेदसंयोग-क्षैवर्णिकानां ।

ननु 'नोपलभन्ते एवंजातीयकं यन्थं' । अनुपलभमाना अप्यनुमिमीरन्, विस्मरणमप्युपपद्यते—इति, तदुपपन्नत्वात् पूर्वविज्ञानस्य क्षैवर्णिकानां स्मरतां, विस्मरणस्य च उपपन्नत्वात् यन्थानुमानमुपपद्यते—इति प्रमाणं स्मृतिः ।

अष्टकालिङ्गाश्च मद्या वेदे दृश्यन्ते,—'यां जनाः प्रतिनन्दन्ति'—इत्येवमादयः ॥ तथा प्रत्युपस्थितनियमानामाचाराणां दृष्टार्थत्वादेव प्रामाण्यं,—गुरोरनुगमात् प्रीतो गुरुः अध्यापयिष्यति, यन्थ*यन्थिभेदिनश्च न्यायान् परितुष्टो वक्ष्यति—इति; तथा च दर्शयति,—'तस्मात् श्रेयांसं पूर्वं यत्नं पापीयान् पश्चादन्वेति'—इति । प्रपास्तडागानि च परोपकाराय, न धर्माय,—इत्येवावगम्यते । तथा च दर्शनं,—'धन्वन्निव प्रपा

* 'यन्थं' इति का० सं पुरातनपुस्तकं ।

भा. अस्मि—इति, तथा 'स्थलयोद्कं परिगृह्णन्ति'—इति च। गोच-
चिह्नं त्रिखाकर्म, दर्शनञ्च,—'यत्र बाणाः सम्पतन्ति'*—इति।
तेन ये दृष्टार्थाः, ते तत एव प्रमाणं, ये त्वदृष्टार्थाः, तेषु
वैदिकब्रह्मानुमानमिति ॥ (इति स्मृतिप्रामाण्याधिकरणं । १ ।
३ । १ ।) ॥

अथ अतिपावल्याधिकरणम् ।

स. विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यात्, असति ह्यनुमानं ॥ ३ ॥

भा. अथ यत्र अतिविरोधः, तत्र कथं?। यथा, औदुम्बरीयाः
सर्ववेष्टनं 'औदुम्बरी स्पृष्टोद्गायेत्'—इति अत्या विरुद्धं (१)।
अष्टाक्षत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यचरणं 'जातपुत्रः छण्डकेशो-
ऽग्नीनादधीत'—इत्येतेन विरुद्धं (२)। ऋतिराजको भोज्यान्नः
—इति 'तस्मात् अग्नीषोमीये संस्थिते यजमानस्य गृहेऽन्नितथं'
—इत्यनेन विरुद्धं (३)। तत् प्रमाणं, कर्तृसामान्यात्,—इत्येवं
प्राप्ते ब्रूमः,—अब्रह्मत्वाद्गामोहः,—इत्यवगम्यते। कथम-
ब्रह्मता?। स्पर्शविधानात् न सर्वा ब्रह्मा वेष्टयितुं, उद्गायता
स्प्रष्टुञ्च। तामुद्गार्थता स्पृष्टव्यामवगच्छन्तः केनेन संप्रत्ययं
वाधेमहि सर्ववेष्टनस्मरणेन?—इति ब्रूमः।

ननु 'निर्मूलत्वाद्गामोहः तत् स्मरणं—इति वैदिकं वचनं
मूलं भविष्यति'—इति। भवेद्वैदिकं वचनं मूलं, यदि स्पर्शनं
व्यामोहः; अव्यामोहे त्वब्रह्मत्वात् अनुपपन्नं। यथा, अनुभवनं
अनुपपन्नं—इति न कल्प्यते, तथा वैदिकमपि वचनं। कथं
तर्हि सर्ववेष्टनस्मरणं?। व्यामोहः। कथं व्यामोहकल्पना?।
औतविज्ञानविरोधात्। अथ 'किमर्थं नेमौ विधी' विकल्प्ये

* अत्र 'कुमारा विशिखा इव' इति अधिकं का० सं० पु० पु०॥

भा. ते ग्रीहियवत् एहद्द्रघनरचदा ? । नास्ति व्यामोहविज्ञाने विकल्पो भवति,—यदि सर्ववेदनविज्ञानं प्रमाणं, स्पर्शनं व्यामोहः, यदि स्पर्शनं प्रमाणं, स्मृतिर्यामोहः । विकल्पानुवदन् स्पर्शनस्य पक्षे तावत्प्रामाण्यमनुमन्यते, तस्य च मूलं श्रुतिः, सा चेत्प्रमाणमनुमता, न पाक्षिकी । पाक्षिकं च सर्ववेदनस्मरणं पक्षे तावन्न ज्ञोति श्रुतिं परिकल्पयितुं. स्पर्शविज्ञानेन बाधितत्वात् । ततश्च अद्यामोहे च तस्मिन्न ज्ञेया श्रुतिः कल्पयितुं । न चाऽसावद्यामोहः पक्षे, पक्षे व्यामोहो भविष्यति—इति, यदेव हि तस्यैकस्मिन् पक्षे मूलं, तदेवेतरस्मिन्नपि, एकस्मिंश्चेत्पक्षे न व्यामोहः, श्रुतिप्रामाण्यतुल्यत्वादितरथाप्यद्यामोहः; न च, असवेकस्मिन् पक्षे श्रुतिर्निबद्धाक्षरा हि सा 'न प्रमादपाठः'—इति ज्ञेया गदितुं । तेन, न एतत्पक्षे विज्ञानं व्यामोहात् पक्षान्तरं संक्रान्तं—इत्यवमन्यते । तत्र दुःश्रुतस्मिन्नादिविज्ञान-मूलत्वं तु सर्ववेदनस्य—इति विरोधात् कल्प्यते; न हि, तस्य सति विरोधे प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यं—इति किञ्चिदस्ति प्रमाणं । तस्मात् यथैकस्मिन् पक्षे न ज्ञेया श्रुतिः कल्पयितुं, एवं अपरस्मिन्पक्षे, तुल्यकारणत्वात् ।

अपि चेतरेतराश्रयेऽन्यतःपरिच्छेदात् । केयमितरेतराश्रयता ? । प्रमाणायां स्मृतौ स्पर्शनं व्यामोहः, स्पर्शने प्रमाणे स्मृतिर्यामोहः, तदेतदितरेतराश्रयं भवति । तत्र स्पर्शनस्य कृप्तं मूलं, कल्प्यं स्मृतेः, सोऽसावन्यतःपरिच्छेदः, कल्प्यमूलत्वात् स्मृतिप्रामाण्यमनवकृप्तं; तदप्रामाण्यात् स्पर्शनं न व्यामोहः, तदद्यामोहात् स्मार्त्तश्रुतिकल्पनाऽनुपपन्ना प्रमाणाभावात् । ननु 'एवं सति ग्रीहिसाधनत्वविज्ञानस्यापि अद्यामोहात् यव-श्रुतिर्नापपद्येत' । सत्यं नोपपद्यते, यद्यप्रत्यक्षा स्यात्, प्रत्यक्षा त्वेषा, न हि, प्रत्यक्षमनुपपन्नं नामास्ति ! इयोस्तु श्रुत्यो-र्भावात्, हे ज्ञेते वाक्ये, तत्रैकेन केवलव्यवसाधनता मन्यते,

भा. एकेन केवलमीहि साधनता । न च, वाक्येनावगतोऽर्थोऽप्यकूयते ! ।
तस्मात् मीहित्ययोरुपपन्नो विकल्पः, दृष्टद्वयकारयोश्च । तस्मात्
उक्तं श्रुतिविरुद्धा स्मृतिरप्रमाणं—इति । अतश्च सर्ववेष्टनादि
नादरणीयं ॥ (इति श्रुतिप्राबल्याधिकरणं । १ अ० । ३ पा० ।
२ अ०) ॥

अथ दृष्टमूलकस्मृत्यप्रमाण्याधिकरणम् ।

स.

हेतु-दर्शनाच्च ॥ ४ ॥

भा. लोभादास आदित्समाना औदुंबरीं ह्यत्थां वेष्टितवन्तः
केचित्, तत् स्मृतेर्बीजं (१) । बुभुक्षमाणाः केचित् क्रीतराजकस्य
भोजनमाचरितवन्तः (२) । अपुंस्त्वं प्रच्छाद्यन्तश्चाष्टाचत्वा-
रिंशद्दर्शाणि वेदब्रह्मचर्यं चरितवन्तः (३) । तत एषा स्मृतिः
—इत्यवगम्यते ।

अधिकरणान्तरं वा, 'वैसर्जनहोमीयं वासोऽध्ययुर्गृह्णाति'—
इति, 'यूपहस्तिनो दानमाचरन्ति'—इति, तत् कर्तृसामान्यात्
प्रमाणं—इति प्राप्तेऽप्रमाणं स्मृतिः, अत्रान्यन्मूलं,—लोभादा-
चरितवन्तः केचित्, तत एषा स्मृतिः । उपपन्नतरक्षैतत् वैदिक-
वचनकल्पनात् ॥ (इति दृष्टमूलकस्मृत्यप्रामाण्याधिकरणं । १ ।
३ । ३) ॥

अथ पदार्थप्राबल्याधिकरणम् ।

स. शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति चेत् ॥ ५ ॥ (पूर्वपक्षे पू०)

भा. 'आचान्तेन कर्त्तव्यं' 'यज्ञोपवीतिना कर्त्तव्यं' 'दक्षिणाचारेण
कर्त्तव्यं'—इत्येवंलक्षणानि उदाहरणानि । किमेतानि श्रुति-
विरुद्धानि न कर्त्तव्यानि, उताविरुद्धानि कार्याणि?—इति ।

भा. इति चेत् षण्मसि,—तैरप्यनुष्ठेयमानैर्वेदिकं किञ्चिन्न कुप्यति ;
तस्मात् अविषद्धानि—इति ॥ (पू० । पू०) ॥

स. न, शास्त्रपरिमाणत्वात् ॥ ६ ॥ (पू०)

भा. नैतदेवं, शास्त्रपरिच्छिन्नं हि क्रमं बाधेरन् !। कथं ?। 'वेदं
हत्वा वेदिं कुर्वीत'—इतीमां श्रुतिमुपहन्यथात् ! अन्तरा वेदं*
वेदिं च, अनुष्ठेयमानमाचमनादि । दक्षिणेन चैकहस्तैना-
नुष्ठेयमानेषु पदार्थेषु कदाचित् प्रधानं सकालं अतिक्रामेत्,
उभाभ्यां हस्ताभ्यां अनुतिष्ठन् प्रधानकालं संभावयिष्यति ॥
(पू०) ॥

स. अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन् ॥ ७ ॥
(सि०)

भा. अपि वा—इति पक्षथाट्टतिः । अगृह्यमाणकारणा एवं-
जातीयकाः प्रमाणं । ननु 'क्रमकालौ विषद्धानि' । विषद्धानु,
नैव दोषः,—आचमनं पदार्थः, पदार्थानां च गुणः क्रमः, न च,
गुणानुरोधेन पदार्था न कर्त्तव्यो भवति !। अपि च प्राप्तानां
पदार्थानां उत्तरकालं क्रम आपतति, यदा पदार्थः प्राप्नोति,
तदा क्रम एव नास्ति, केन सह विरोधो भविष्यति?—इति ।
तथा यदि दक्षिणेन नाचर्यते, कालो मा विरोधीत्—इति, तत्र
कालानुरोधेन पदार्था नाभ्यन्यात्वमभ्युपगच्छेत् । प्रयोगाङ्गं हि
कालः पदार्थानामुपकारकः, अतो न कालानुरोधेन व्यथयितव्यः
पदार्थः । अपि च शीघ्रं दक्षिणाचारता यज्ञोपवीतित्वं च—
एवंजातीयका अर्थाः व्यवधातारो न भवन्ति, सर्वपदार्थानां

* 'वेदो नाम दर्भमयः संमार्जनसाधनं, वेदिराहवभीयगार्हपत्य-
मध्यवर्तिनी चतुरङ्गुलखाता भूमिरिति साधवः ।

भा. ज्ञेयभूतत्वात् । तस्मात् आचमनादीनां प्रामास्यं ॥ (इति पदार्थप्रावस्याधिकरणं । १ । ३ । ४ ।) ॥

शास्त्रप्रसिद्धपदार्थप्रामाण्याधिकारकम् ।

स. तेष्वदर्शनाद्विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिः स्यात् ॥ ८ ॥

(पू०)

भा. 'यवमयस्युतः' 'वाराहो उपानहौ' 'वैतसे कटे प्राजापत्यान् संचिनोति'—इति यववराहवैतसत्रग्रन्थान् समामनन्ति । तत्र केचिद्दीर्घश्रुकेषु यवत्रन्दं प्रयुंजन्ते, केचित् प्रियङ्गुषु; वराहत्रन्दं केचित् श्रुकरे, केचित् ह्यष्टणत्रकुनौ; वैतसत्रन्दं केचित् वज्रुलके, केचित् जम्बवां; तत्रोभयथा पदार्थावगमादिकल्पः ॥ (पू०) ॥

स. शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात् ॥ ९ ॥ (सि०)

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । यवशब्दो यदि दीर्घश्रुकेषु, सादृश्यात् प्रियङ्गुषु भविष्यति, यदि प्रियङ्गुषु, सादृश्यात् यवेषु । किं सादृश्यं? । पूर्वसत्रे स्त्रीषु भवन्ति दीर्घश्रुकाः प्रियङ्गवस्य, एतत् तयोः सादृश्यं । कः पुनरत्र निश्चयः? । यः शास्त्रस्थानां, स शब्दार्थः । के शास्त्रस्थाः? । श्रिष्टाः, तेषामविच्छिन्ना स्मृतिः शब्देषु वेदेषु च; तेन श्रिष्टा निमित्तं श्रुतिस्मृत्यवधारणे । ते श्लेषं समामनन्ति,—यवमयेषु करम्भपात्रेषु विहितेषु वाक्श्लेषं,—'यचान्या ओषधयो ज्ञायन्ते, अथैते मोदमाना इवोत्तिष्ठन्ति'—इति, दीर्घश्रुकान् यवान् दर्शयति वेदः । वेदे दर्शनात् अविच्छिन्नपारम्पर्यो दीर्घश्रुकेषु यवशब्दः—इति गम्यते । तस्मात् प्रियङ्गुषु गौणः, तस्मात् दीर्घश्रुकानां पुरोडाशः कर्त्तव्यः । 'तस्मादराहं गावोऽनुधावन्ति'—इति श्रुकरे वराह-शब्दं दर्शयति, 'अप्तुजो वैतसः'—इति वज्रुले वैतसशब्दं ।

भा. श्रूकरं द्वि गावोऽनुधावन्ति, वज्रुखोऽप्यु जायते, जम्बूद्वयः स्थले गिरिनदीषु वा ॥ (इति ब्राह्मप्रसिद्धपदार्थप्रामाण्याधिकरणं । १।३।५) ॥

अथ श्लेषप्रसिद्धार्थप्रामाण्याधिकरणं ।

सू. चोदितन्तु प्रतीयेताविरोधात् प्रमाणेन ॥ १० ॥

भा. अथ यान् शब्दान् आर्या न कस्मिंश्चिदर्थे आचरन्ति, श्लेषास्तु कस्मिंश्चित् प्रयुज्यन्ते, यथा पिक-नेम-सत-तामरसादिशब्दाः, तेषु सन्देहः,—किं निगमनिरुक्त्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः कल्पयितव्यः, उत यत्र श्लेषा आचरन्ति, स शब्दार्थः?—इति ॥ श्लेषाचारस्य प्रामाण्यं उक्तं, नाश्लेषस्मृतेः; तस्मान्निगमादिवशेनार्थकल्पना, निगमादीनां चैवं अर्थवत्ता भविष्यति । अनभियोगश्च शब्दार्थेष्वश्लेषानां, अभियोगश्चेतरेषां । तस्माद्धातुतोऽर्थः कल्पयितव्यः—इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः,—चोदितमाश्लेषैरपि श्लेषानवगतं प्रतीयेत, यत् प्रमाणेनाविरुद्धं, तत् अवगम्यमानं न न्याय्यं त्यक्तुं । यत्तु श्लेषाचारः प्रमाणं—इति, तत् प्रत्यक्षानवगतेऽर्थे । यत्तु अभियुक्ताः शब्दार्थेषु श्लेषाः—इति, तत्रोच्यते,—अभियुक्ततराः पक्षिणां पोषणे बन्धने च श्लेषाः । यत्तु निगमनिरुक्त्याकरणानामर्थवत्तेति, तत्रेषामर्थवत्ता भविष्यति, न यत्र श्लेषैरप्यवगतः शब्दार्थः । अपि च निगमादिभिरर्थे कल्प्यमानेष्ववस्थितः शब्दार्थो भवेत्, तत्र अनिश्चयः स्यात् । तस्मात् पिक—इति कोकिलो याञ्चः, नेमोऽर्द्धं, तामरसं पद्मं, सत—इति दासमयं पार्श्वं, परिमण्डलं शतच्छिद्रं ॥ (इति श्लेषप्रसिद्धार्थप्रामाण्याधिकरणं । १।३।६) ॥

अथ कल्पसूत्राख्यतःप्रामाण्याधिकारखं ।

सू. प्रयोगशास्त्रमिति चेत् ॥ ११ ॥ (पू०)

भा. इह कल्पसूत्राख्यदाहरणं,—‘मात्रकं, ह्यस्तिकं, कौष्टिकन्यकं’—इति, एवंलक्षणकानि किं प्रमाणमप्रमाणं वा ?—इति संदिग्धानि । किं प्राप्तं ?—प्रयोगस्य शास्त्रं प्रमाणमेवंजातीयकं—इति ब्रूमः । सत्यवाचामेतानि वचनानि । कथमवगम्यते ? । वैदिकैरेषां संवादो भवति, य एव हि वेदे यद्वाः, त एवेह, या एव वेदे इष्टकाः*, ता एवेह । तस्मात् सत्यवाच आचार्याः, ‘आचार्यवचः प्रमाणं’—इति च श्रुतिः । प्रत्यक्षतः प्रामाण्यमनवगतं—इति यद्युच्येत, प्रमाणान्तरेण वचनेनावगतं—इति न दोषः । वेदवाक्येषां तुल्य आदरः ; तस्मात् प्रमाणं ॥ (पू०) ॥

सू. न, असन्नियमात् ॥ १२ ॥ (सि०)

भा. नैतदेवं, असन्नियमात् न एतत्सम्यग्निबन्धनं, खराभावात् ॥ (सि०) ॥

सू. अवाक्यशेषाच्च ॥ १३ ॥ (सि० यु०)

भा. ‘हृत्विजो वृणीते, वृता यजन्ति, देवयजनमध्वस्यन्ति’—इति, नात्र विधिर्गम्यते वर्तमानकालप्रत्ययनिर्देशात्, न चात्र वाक्यशेषः स्तावकोऽस्ति ; तस्मात् अप्रमाणं । यच्च आदर उक्तः, स नान्तरीयकत्वात्, वेदवाक्यमिअसमाग्नानात् । यत्तु श्रुतिः—इति, नैतत्, अर्थवादत्वात् । कथमर्थवादः ? । विध्वन्तरं हि अस्ति,—‘आग्नेयोऽष्टाकपालः’—इति । आचार्या वेदोऽभिप्रेतः, आचिनोत्यस्य बुद्धिं—इति । यद्वा आचार्यवचनं

* ‘इष्टयः’ इति का० सं० पु० दयं ।

प्रमाणं तदपेक्षम् । कतरत्तत् ? । यत् प्रमाणगम्यम् ॥ (सि० यु०) ॥

वक्षोक्तं,—सत्यवाचनेतानि वचनानि—इति ; तन्न,

स. सर्व्वञ्च च प्रयोगात् सन्निधान-शास्त्राच्च ॥ १४ ॥ (उ०)

भा. आचार्यवचनं हि भवति पूर्वपक्षे 'सर्वास्तु तिथिष्वमावास्या'
—इति, संनिहितञ्च ब्राह्मणं,—'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत,
अमावास्यायाममावास्यया यजेत'—इति, तेन श्रुतिविषद्व-
वचनात् सत्यवाचः, तस्मात् अप्रमाणं ॥ (उ०) ॥ (इति कल्प-
सूत्राख्यतःप्रामाण्याधिकरणम् । १ । ३ । ७ ।) ॥

अथ होलाकाधिकरणम् ।

(सामान्यश्रुतिकल्पनाधिकरणम्) ॥

स. अनुमानव्यवस्थानात्तत्संयुक्तं प्रमाणं स्यात् ॥ १५ ॥
(पू०)

भा. अनुमानात् स्मृतेराचाराणां च प्रामाण्यमिष्यते, येनैव
हेतुना ते प्रमाणं, तेनैव व्यवस्थिताः प्रामाण्यमर्हन्ति । तस्मात्
होलाकादयः प्राचैररेव कर्त्तव्याः, आनीनेनुकादयो दाक्षिणा-
त्यैरेव, उदूषभयद्वादयो उदीचैररेव ; यथा त्रिखाकण्यो व्यव-
तिष्ठते,—केचित् त्रिखिखाः, केचित् पञ्चखिखाः—इति ॥ (पू०) ॥

स. अपि वा सर्व्वधर्मः स्यात्, तन्न्यायत्वाद्द्विधानस्य ॥ १६ ॥
(सि०)

भा. अपि वा—इति पक्षव्यावृत्तिः, एवंजातीयकः सर्व्वधर्मः स्यात् ।
कुतः ? । 'तन्न्यायत्वात् द्विधानस्य,' (विधीयतेऽनेन—इति)
विधानं ब्रह्मः, सोऽनुमीयते स्मृत्या ; न च तस्याऽऽज्ञातिवचनता
न्यास्या, न च अस्तिवचनता, न सर्व्वधामनुष्ठातृणां यदेकं

सामान्यं, तस्य वाचकः कश्चित् ब्रह्मोऽस्ति, बोधुमीयेत। तस्मात् सर्वधर्मता विधेर्न्यास्या। कुतः?। पदार्थाः कर्मथाः—इति प्रमाणमस्ति, व्यवस्थायानु न किञ्चित् प्रमाणमस्ति ॥ (सि०) ॥

अथ यदुक्तं,—यथा त्रिखाकल्पो व्यवतिष्ठते—इति,

सू. दर्शनाद्विनियोगः स्यात् ॥ १७ ॥ (उ० १)

भा. गोचरवस्थया त्रिखाकल्पवस्थायां दर्शनं स्पष्टं ॥ (उ० १) ॥

सू. लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य ॥ १८ ॥ (सि० यु०)

भा. इदं पदेभ्यः केभ्यश्चिदुत्तरं सूत्रं। कानि तानि पदानि?। 'अथ किमर्थं न लिङ्गाद्यवस्था? यथा, सुखो होता—इति। नास्ति तत् नित्यमेषां लिङ्गं, यत् यथादर्शनमनुवर्तते। येषुपि स्थामा दृष्टान्तो लोहितान्ताः, तेषुपि न सर्वे आक्रीनैमुकादीन् कुर्वते। अनेवलिङ्गा अपि चानुतिष्ठन्ति। तस्मान्न व्यवस्था; सुखो होता—इति तु प्रत्यक्षा श्रुतिः ॥ (सि० यु०) ॥

सू. आख्या हि देशसंयोगात् ॥ १९ ॥ (सि० आ० नि०)

भा. अथ 'कस्मान्न समाख्या नियमः?—ये 'दाक्षिणात्याः'—इति समाख्याताः, ते आक्रीनैमुकादीन् करिष्यन्ति; ये 'उदीचराः'—इति समाख्याताः, ते उदुषभयश्चादीन्; ये 'प्राचराः'—इति, ते होलाकादीन्; यथा, 'राजा राजसूयेन'—इति। नैतदेवं, देशसंयोगात् आख्या भवति, दक्षिणदेशान्निर्गतः प्राक्षु वा उदुषु वाध्वस्थितः आक्रीनैमुकादीन् करोष्येव। उदीचराश्च देशान्तरे उदुषभयश्चादीन्, प्राचराश्च होलाकादीन्, अन्यदेशस्य देशान्तरगतो न नियोगतः परपदार्थान् करोति। तस्मान्न व्यवस्था। 'राजा राजसूयेन'—इति तु नियता आतिः ॥ (सि० आ० नि०) ॥

ख. न स्याद्देशान्तरेष्विति चेत् ॥ २० ॥ (सि० आ०)

भा. इति चेत् पश्यामि,—यदि देशसंयोगात् आशा भवेत्, देशान्तरस्थस्य न भवेत् ! भवति च देशान्तरस्थस्य 'मायुरः'—इत्यसंबद्धस्यापि मयुरया ; तस्मान्न देशसंयोगात् आशा ॥ (सि० आ०) ॥

ख. स्याद्योगाख्या हि मायुरवत् ॥ २१ ॥ (आ० नि०)

भा. देशसंयोगनिमित्तायामप्पाख्यायां देशान्निर्गतस्य तदाख्या न विरुद्धा, यत एषा योगाख्या (योगमात्रापेक्षा), न भूतवर्तमान—भविष्यत्संबन्धापेक्षा, यतो वृथ्यते,—मयुरामभिप्रस्थितो 'मायुरः'—इति, मयुराद्यां वसन्, मायुराया निर्गतश्च । यस्य तु अतोऽन्यतमः संबन्धो नास्ति, न च मायुरः, तस्मान्न समाख्यया व्यवस्था ॥ (आ० नि०) ॥

ख. कर्मधर्मो वा प्रवणवत् ॥ २२ ॥ (आ०)

भा. अथ कस्मान्न कर्माङ्गं देशः?—यः कृष्णवृत्तिकाम्रायः, स आग्नीनेबुकादीनां, यथा 'प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत'—इति ॥ (आ०) ॥

ख. तुल्यन्तु कर्तृधर्मण ॥ २३ ॥ (आ० नि०)

भा. यथा कर्त्तरि अव्यवस्थितं लिङ्गं स्थामादि न पदार्थैः संवाद-मुपैति, तद्वत् देशलिङ्गं अव्यवस्थितं ; कृष्णवृत्तिकाम्रायेऽप्यन्ये न कुर्वन्ति, तथा अन्यलिङ्गेषुपि कुर्वन्ति ; तस्मान्न देशतो व्यवस्था । प्राचीनप्रवणन्तु अस्या नियतं वैश्वदेवस्य ॥ (इति ह्योलाकाधि-करणं । १ अ० । ३ पा० । ८ अ०) ॥

अथ साधुपदप्रयुक्त्यधिकरणम् ।

ख. प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वाच्छब्देषु न व्यवस्था स्यात् ॥

२४ ॥ (पू०)

भा. 'गौः गावी गोषी गोपीतलिका'—इत्येवमादयः शब्दा उदाहरणं । गोशब्दो यथा साक्षादिमति प्रमाणं, किं तथा गाथादयोऽपि, उत न ?—इति सन्देहः, किमत्रैकः शब्दोऽविच्छिन्नपारम्पर्योऽर्थाभिधायी, इतरे अपभ्रंशाः, उत सर्वेऽनादयः ? । सर्वे—इति ब्रूमः । कुतः ? । प्रत्ययात्, प्रतीयते हि गाथादिभ्यः साक्षाद्भिमान् अर्थः ; तस्मात् इतो वर्धन्तेऽप्यस्यार्थस्य संबन्ध आसीदेव, ततः परेण, ततश्च परतरेणेति अनादिता, कर्ता चाऽस्य सम्बन्धस्य नास्ति—इति व्यवस्थितमेव । तस्मात् सर्वे साधवः, सर्वेऽभिहितार्थं, सर्वे हि साधयन्तार्थं, यथा, हस्तः करः पाणिः—इति ।

अर्थाय श्येते उच्चार्यन्ते, न अदृष्टाय, न हि, एषामुच्चारणे शास्त्रमस्ति ॥ तस्मान्न व्यवतिष्ठेत,—कश्चिदेक एव साधुः, इतरेऽसाधवः—इति ॥ (पू०) ॥

ख. शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम् ॥२५॥ (सि०)

भा. महता प्रयत्नेन शब्दं उच्चरन्ति,—वायुर्नाभेरस्थितः, उरसि विस्तीर्णः, कण्ठे विवर्णितः, मूर्द्धानमाहृत्य, पराहृतः, वक्त्रे विचरन् विविधान् शब्दानभिच्यनक्ति । तथापराधेताऽपि उच्चारयिता, यथा शुक्ले पतिष्यामि—इति कर्दमे पतति, सक्तं उपस्पर्शयामि—इति द्विः उपस्पृञ्चति । ततोऽपराधात् प्रहृत्ता गाथादयो भवेयुः, न निवोगतोऽविच्छिन्नपारम्पर्या एव—इति ॥ (सि०) ॥

स. अन्यायश्चानेकशब्दत्वम् ॥ २६ ॥ (सि० यु०)

भा. न चैव न्यायः,—यत्, 'सङ्घाः शब्दाः एकमर्थं अभिनिविज्ञ-
मानाः, सर्वविच्छिन्नपारम्पर्या एव'—इति, प्रत्ययमाचर्षना-
दभ्युपगम्यते, साङ्ग्यात् साधुशब्दे*भ्यवगते प्रत्ययोभ्यक्लप्यते ।
तस्मात् अमीषामेकोभनादिः, अन्येभ्यश्चः । हस्तः करः पाणिः
—इत्येवमादिषु तु अभियुक्तोपदेशात् अनादिरमीषामर्थेन
संबन्धः—इति ॥ (सि० यु०) ॥

स. तच्च तत्त्वमभियोगविशेषात् स्यात् ॥ २७ ॥
(आ० नि०)

भा. कथं पुनः तच्च तत्त्वं शक्यं विज्ञातं? शक्यं—इत्याह, अर्थिनो
हि अभियुक्ता भवन्ति, कुन्थते चाभियुक्तानां गुण्यतामविच्छरणं
उपपन्नं । प्रत्यक्षश्चेत्तत् गुण्यमानं न भ्रम्यते—इति । तस्मात्
यमभियुक्ता उपदिशन्ति,—एष एव साधुः—इति, साधुः—
इत्यवगन्तव्यः ॥ (आ० नि०) ॥

स. तदशक्तिश्चानुरूपत्वात् ॥ २८ ॥ (उ० १)

भा. अथ यदुक्तं,—(७६। ८) 'अर्थोभ्यवगम्यते गाथादिभ्यः, अतः
एषामप्यनादिरर्थेन संबन्धः'—इति, तदशक्तिरेषां गम्यते,—
गोशब्दमुच्चारयितुकामेन केनचित् अशक्त्या गावी—इत्युच्चारितं,
अपरेण ज्ञातं,—साक्षादिमान् अस्य विवक्षितः, तदर्थं गौः—
इत्युच्चारयितुकामो गावी—इति उच्चारयति, ततः जिज्ञित्वा
अपरेऽपि साक्षादिमति विवक्षिते गावी—इति उच्चारयति ;

* 'वसाधुशब्दे' इति का० सं० प० पु० ।

तेन गाव्यादिभ्यः साञ्जादिमान् अवगम्यते ; अनुरूपो हि गाव्यादिर्गोत्रवदस्य । (उ० १) ॥

स. एकदेशत्वाच्च विभक्तियत्यये स्यात् ॥ २६ ॥ (उ० यु०)

भा. अत एव हि विभक्तियत्ययेऽपि प्रत्ययो भवति,—अशमकैरा-
गच्छामि—इति अशमकशब्दैकदेशे उपलब्धे अशमकेभ्यः—इत्येव
शब्दः स्मर्यते, ततः अशमकेभ्यः—इत्येषोऽर्थे उपलभ्यते—इति,
एवं गाव्यादिदर्शनात् गोशब्दस्मरणं, ततः साञ्जादिमान् अव-
गम्यते ॥ (उ० यु०) । (इति साधुपदप्रयुक्तवधिकरणं । १ अ० ।
३ पा० । ६ अ०) ॥

अथ लोकवेदयोः शब्दैक्याधिकारणम् ।

आहृतिशक्त्यधिकरण-प्रारम्भश्च ॥

स. प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात् ॥ ३० ॥ (पू० १)

भा. अथ गौः—इत्येवमादयः शब्दाः किमाहृतेः प्रमाणं, उत
शक्तेः?—इति सन्देहः । उच्यते ; इदं तावत् परीक्ष्यतां,—
किं य एव लौकिकाः शब्दाः, त एव वैदिकाः, उतान्ये?—इति ;
यदा त एव, तदाऽपि किं त एवैवामर्थाः, ये लोके, उतान्ये?—
इति संशयः । तत्रान्ये लौकिकाः शब्दाः, अन्ये वैदिकाः, अन्ये
चैवामर्थाः—इति ब्रूमः । कुतः? । अथदेशभेदात्, रूपभेदाच्च ;
इमे लौकिकाः, इमे वैदिकाः—इति अथदेशभेदः । ‘अग्नि-
र्हृत्वाणि जह्वनत्’—इत्यन्यत् इदं रूपं लौकिकात् अग्निशब्दात् ;
शब्दान्यत्वाच्च न त एवार्थाः । अपि च समामंनन्ति,—‘उत्ताना
वे देवगवा वहन्ति’—इति, ये देवानां गावः, त उत्ताना वहन्ति
—इत्युक्ते गम्यते एव,—ये उत्ताना वहन्ति, ते गोशब्देन उच्यन्ते

—इति । तस्मात् अन्यो वैदिकगोब्रह्मस्यार्थः । तथा 'देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्णे प्रदिवस्ते अर्थं'—इति, हिरण्यपर्णे देवो वनस्पतिर्वेदे ; 'एतत् वै दैद्यं मधु, यत् घृतं'—इति वेदे घृते मधुब्रह्मः तस्मादमीषामन्येऽर्थाः—इति प्राप्ते,

ब्रूमः,—य एष लौकिका ब्रह्माः, त एव वैदिकाः, त एवैषामर्था—इति । कुतः ? । 'प्रयोगचोदनाभावात्,' एवं, प्रयोगचोदना संभवति, यदि त एव ब्रह्माः ; त एवार्थाः, इतरथा ब्रह्मान्यत्वेऽर्था न प्रतीयेत ! तस्मादेकब्रह्मत्वमिति । उच्यते प्रयोजनमिदं, हेतुर्थपदिस्थतां ?—इति, ततो हेतुः उच्यते,—'अविभागात्'—इति, न तेषां एषाञ्च विभागं उपलभामहे । अत एव एकब्रह्मत्वं, तांश्च तांश्चार्थान् अवगच्छामः ; अतो नान्यत्वञ्च वदामः । यद्योक्तं (७८ । २२) ये उत्ताना बह्वन्ति, ते देवगवाः, यत् घृतं, तन्मधु, यो हिरण्यपर्णः, स वनस्पतिः—इति ; नास्ति वचनं, यत् उत्तानानां बह्वतां गोत्वं ब्रूयात्, ये गावः, ते उत्ताना बह्वन्ति—इत्येवं तत् ; यदि च अनेन वचनेन गोत्वं विधीयते, 'उत्ताना बह्वन्ति'—इत्यनुवादः स्यात् ; न च, उत्ताना बह्वन्तः प्रसिद्धाः केचित् ! ते नियोगतो विधातव्याः, तेषु विधीयमानेषु न ब्रह्मं गोत्वं विधातुं, भिद्यते हि तथा वाक्यं । यदि चान्ये वैदिकाः, तत उत्तानादीनामर्था न गम्येत, तत्र नतरां ब्रह्मेताद्विज्ञातलक्षणं गोत्वं विज्ञातं ! न चोत्तानबह्वनवचनमप्यनर्थकं, स्तुत्यर्थेनार्थवत् भविस्यति—इति । एवं घृतस्य मधुत्वं, हिरण्यपर्णता च वनस्पतेः । तस्मात् त एव ब्रह्मा अर्थाश्च ॥ (इति लोकवेदयोः ब्रह्मैक्याधिकरणं । १ अ० । ३ पा० । १० अ० । अन्तर्गतं) ॥

यदि, लौकिकास्त एवार्थाः, तदा सन्देहः,—किमाहृतिः ब्रह्मार्थाभ्य व्यक्तिः ?—इति । (का पुनराहृतिः, का व्यक्तिः ?—इति । इत्यगुणकर्मणां सामान्यमात्रमाहृतिः, असाधारणविशेषा

व्यक्तिः।) कुतः संज्ञयः?। गौः—इत्युक्ते सामान्यप्रत्ययात्, व्यक्तौ च क्रियासंबन्धात् ।

तदुच्यते,—व्यक्तिः शब्दार्थः—इति । कुतः?। ‘प्रबोग-
चोदनाभावात्,’ आसन्नभनप्रोक्षणविज्ञसनादीनां प्रयोगचोदना
आह्लात्पर्ये न संभवेयुः॥ ‘यञोच्चारणानर्थक्यं, तत्र व्यक्त्यर्थः,
अतोऽन्यत्राह्लातिवचनः’—इति चेत् । उक्तं (७७।१) ‘अन्या-
वज्ञानेकार्थत्वं’—इति । कथं सामान्यावगतिः?—इति चेत् ।
व्यक्तिपदार्थकस्याह्लातिश्चिरुभूता भविष्यति,—य एवमाह्लातिकः,
स गौरिति, यथा यस्य दण्डोऽस्ति, स दण्डी—इति, न च
दण्डवचनो दण्डिशब्दः, एवं इहाऽपि ॥ (पू०) ॥

स. अद्रव्यशब्दत्वात् ॥ ३१ ॥ (पू० २)

भा. द्रव्याश्रयस्य शब्दो द्रव्यशब्दः, न तत्र द्रव्याश्रयवचनः शब्दो
भवेत्, यद्याह्लातिः शब्दार्थो भवेत्,—‘पङ्कदेवा दादन्न देवा
चतुर्विंशतिर्देया’—इति ; न हि, आह्लातिः षडादिभिः संख्याभि-
युज्यते ! तस्मान्नाह्लातिवचनः ॥ (पू० २) ॥

स. अन्यदर्शनाच्च ॥ ३२ ॥ (पू० ३)

भा. ‘यदि पशुवपाह्लातः पलायेत, अन्यं तदर्थं तद्वयसमासभेत’—
इति ; यद्याह्लातिवचनः शब्दो भवेत्, अन्यस्यासन्नभो नोपपद्येत !
अन्यस्यापि पशुद्रव्यस्य सैवाह्लातिः ; तस्मात् व्यक्तिवचन इति ॥
(पू० ३) ॥

स. आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात् ॥ ३३ ॥ (सि०)

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । आह्लातिः शब्दार्थः । कुतः?।
क्रियार्थत्वात्, ‘श्येनचित्तं चिन्वीत’—इतिवचनमाह्लातौ संभवति,
यद्याह्लात्यर्थः श्येनशब्दः ; व्यक्तिवचने तु न चयनेन श्येनव्यक्ति-

भा. कल्पाद्वितुं शक्यते—इति अत्रकार्षार्थवचनात् अनर्थकः । तस्मात्
आह्लातिवचनः ।

ननु 'इयेनशक्तिभिश्चयनमनुष्ठास्यते' । न साधकतमः इयेन-
शब्दार्थः, ईप्सिततमो ह्यसौ इयेनशब्देन निर्दिश्यते; अतश्चय-
नेन इयेनो निवर्त्तयितव्यः, स आह्लातिवचनत्वेऽवकल्प्यते ।

ननु उभयत्र क्रियाया असम्भव एव व्यपदिश्यते,—नाह्लातिः
शब्दार्थः, कुतः? क्रिया न सम्भवेदाह्लातौ शब्दार्थे 'त्रीहीन्-
प्रोक्षति'—इति । तथा न शक्तिः शब्दार्थः, क्रियैव न सम्भवेत्
शक्तेः शब्दार्थत्वे 'इयेनचितं चिन्वीत'—इति । यदप्युच्येत,—
'त्रीहीन्प्रोक्षति'—इति शक्तिष्वण्वार्था आह्लातिः—इति; शब्द-
मन्यथापि 'इयेनचितं चिन्वीत'—इति वदितुम् आह्लातिष्वण-
वार्था शक्तिः—इति । किं पुनरत्र उच्यते? ।

आह्लातिः शब्दार्थः इति; यदि शक्तिः शब्दार्था भवेत्,
शक्त्वन्तरे न प्रयुज्येत! अथ शक्त्वन्तरे प्रयुज्यते, न तर्हि शक्तिः
शब्दार्थः, सर्वसामान्यविशेषविनिर्मुक्ता हि शक्तिरिति । 'उच्यते,
—नैष दोषः,—शक्त्वन्तरे सर्वसामान्यविशेषविनिर्मुक्ते एव प्रव-
र्त्तय्यते' । यदि शक्त्वन्तरे सर्वसामान्यविशेषवियुक्ते प्रवर्त्तय्यते,*
सामान्यमेव तर्हि तत् । 'न—इत्युच्यते,—यो हि अर्थः सामा-
न्यस्य विशेषाणाञ्चाश्रयः, सा शक्तिः, शक्त्वचनस्य शब्दो न
सामान्ये, न विशेषे वर्त्तते; तेषां त्वाश्रयमेवाभिदधाति, तेन
शक्त्वन्तरे वृत्तिरदोषः, न हि तत् सामान्यम्' ।

यदि शक्त्वन्तरेष्वपि भवति, सर्वसामान्यविशेषवियुक्तायां
अश्वव्यक्तौ गोशब्दः किमिति न वर्त्तते? । 'आह,—येष्वेव
प्रयोगो वृष्टः, तेषु वर्त्तय्यते, न सर्वत्र; न च, अश्वव्यक्तौ
गोशब्दस्य प्रयोगो वृष्टः! तस्मात्तत्र न वर्त्तय्यते' । यदि यत्र

* 'यदि सर्वसामान्यविशेषवियुक्तम्,' इति का० सं० पु० इयम् ।

भा. प्रयोगो दृष्टः, तच्च वृत्तिः; अद्यजातायां गवि प्रथमप्रयोगो न प्राप्नोति! तच्चादृष्टत्वात् सामान्यप्रत्ययश्च न प्राप्नोति,—इय-
मपि गौः—इति इयमपि गौः—इति। इयं वा गौः—इति,
इयं वा गौः—इति स्यात्; भवति तु सामान्यप्रत्ययः अदृष्ट-
पूर्वायामपि गोव्यक्तौ, तस्मान्न 'प्रयोगापेक्षो गोशब्दो व्यक्तिवचनः'
—इति ब्रह्मते आश्रयितुम्। 'एवं तर्हि ब्रह्मेः स्वभाव एषः,
—यत्, कस्याश्चित् व्यक्तौ वर्तते, कस्याश्चिन्न; यथा, अग्निदण्डः,
उदकं शीतम्, एवमेतत् भविष्यति'—इति। नैवं सिद्ध्यति, न
हि, एतत् गम्यते कस्याश्चिद्व्यक्तौ वर्तते, कस्याश्चित् न—इति।

'सत्यमेतत्, गोत्वं लक्षणं भविष्यतीति, यच्च गोत्वं तस्यां
व्यक्ताविति'। एवं तर्हि विशिष्टा व्यक्तिः प्रतीयेत! यदि च
विशिष्टा, पूर्वतरं विशेषणं अवगम्येत! न हि, अप्रतीयेति विशेषणे
विशिष्टं केचन प्रत्येतुमर्हति!—इति। 'अस्तु विशेषणत्वेना-
हतिं वक्ष्यति, विशेष्यत्वेन व्यक्तिं, न हि, आहतिपदार्थकस्य
व्यक्तिर्न पदार्थः, व्यक्तिपदार्थकस्य वा न आहतिः! उभयमुभयस्य
पदार्थः, कस्यचित् किञ्चित्प्राधान्येन विवक्षितं भवति, तेन
अचाहतिर्गुणभावेन, व्यक्तिः प्रधानभावेन विवक्ष्यते'—इति।

नैतद्देवम्, उभयोश्चरमानयोर्गुणप्रधानभावः स्यात्, यदि
चाचाहतिः प्रतीयते शब्देन, तदा 'व्यक्तिरपि पदार्थः'—इति
न ब्रह्मते वदितुम्। कुतः? आहतिर्हि व्यक्त्या नित्यसंबन्धा,
संबन्धिन्याश्च तस्यामवगतायां संबन्धन्तरमवगम्यते; तदेतत्
आत्मप्रत्यक्षं,—यत्, शब्दे उच्यते व्यक्तिः प्रतीयते—इति; किं
शब्दात् उत आहतेः?—इति विभागो न प्रत्यक्षः; सोऽन्वय-
व्यतिरेकाभ्यामवगम्यते,—अन्तरेणापि शब्दं, य आहतिमव-
बुधेत, अवबुधेतेवासौ व्यक्तिं; यस्तु उच्यतेऽपि शब्दे मानसा-
दपचारात् कदाचिदाहतिं नोपलभेत, न आतुचिदसौ इमां
व्यक्तिमवगच्छेत। 'ननु व्यक्तिविशिष्टायां आहतिौ वर्तते'।

भा. व्यक्तिविञ्चिष्टायाश्चेत् वर्त्तते, व्यक्तन्तरविञ्चिष्टा न प्रतीयते ! तस्मात् शब्द आह्वतिप्रत्ययस्य निमित्तं, आह्वतिप्रत्ययो व्यक्त-प्रत्ययस्य—इति ।

‘ननु गुणभूता प्रतीयते इत्युक्तं (८२।१७)’ । न गुण-भावोऽस्मत्प्रत्ययस्य बाधकः, सर्वथा तावत् प्रतीयते, अर्थात् गुणभावः प्रधानभावो वा, स्वार्थं चेत् उच्चार्यते, प्रधानभूता, अथ न स्वार्थं, परार्थमेव; ततो गुणभूता, न तच्च शब्द-व्यापारोऽस्ति ।

‘ननु च दण्डी—इति न तावत् दण्डिशब्देन दण्डीभिधीयते, अथ च दण्डविञ्चिष्टोऽवगम्यते, एवमिहापि न तावदाह्वतिरभिधीयते, अथ चाह्वतिविञ्चिष्टा व्यक्तिर्गम्येत—इति नैतत् साधु उच्यते’ । सत्यं दण्डिशब्देन दण्डी नाभिधीयते, नत्वप्रतीते दण्डे दण्डिप्रत्ययोऽस्ति, अस्ति तु दण्डिशब्देःकदेऽभूतो दण्ड-शब्दः, येन दण्डः प्रत्यायितः; तस्मात् साधु एतत्, यत्,—प्रतीते विञ्चेषणे विञ्चिष्टः प्रतीयते—इति ।

‘ननु गोशब्दावयवः कश्चिदाह्वतेः प्रत्यायकः, अन्यो व्यक्तेः; यत् उच्यते, तत् आह्वतिरवगता; न गोशब्द आह्वतिवचनः—इति । न च, यथा दण्डिशब्दो न दण्डे प्रयुक्तः, एवं गोशब्दो न आह्वतौ; तदर्थमेव निदर्शितं, (८०।१२)—केवलाह्वत्यभिधानः श्येनशब्दः—इति, तदेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां असति श्येन-व्यक्तिसंबन्धे श्येनशब्दोच्चारणात् आह्वतिवचन इति गम्यते; न तु त्रीन्नाह्वतिसंबन्धमन्तरेण त्रीन्विद्यतौ शब्दस्य प्रयोगो दृष्टः । तस्मात् आह्वतिवचनः शब्दः—इत्येतज्ज्यायः ॥ (सि०) ॥

स. न क्रिया स्यादिति चेदर्थान्तरे विधानं न द्रव्यमिति चेत् ॥ ३४ ॥ (उ० १)

भा. अथ यदुक्तं—न क्रिया सम्भवेत्,—‘त्रीन्हीन् प्रोक्षति’—इति

भा. (१ पू०) ; न द्रव्यशब्दः स्यात्,—‘षड् देवा’—इति (१ पू०) ;
 अन्यदर्शनवचनञ्च न स्यात्—‘अन्यं तद्रूपं’—इति (१ पू०) ।
 तत् परिहर्तव्यम् ॥ (उ० १) ॥

स. तदर्थत्वात् प्रयोगस्याविभागः ॥ ३५ ॥ (उ० २)

भा. आहृत्यर्थत्वात् शब्दस्य, यस्याः व्यक्तेराहृत्वा संबन्धः, तच्च
 प्रयोगः, प्रोक्षणं हि द्रव्यस्य कर्तव्यतया श्रूयते, कतमस्य ? यत्
 यजतिसाधनम् । अपूर्वप्रयुक्तत्वात्तस्य, न आहृतेः, अशक्यत्वात् ।
 तच्च व्रीहिशब्द आहृतिवचनः प्रयुज्यते प्रोक्षणाश्रयविशेषणाय ;
 स हि आहृतिं प्रत्याययिष्यति, आहृतिः प्रतीता सती प्रोक्षणा-
 श्रयं विश्लेषयति—इति, तेनाहृतिवचनं न विशध्यते—इति ।
 एवं ‘षड् देवा गावो दक्षिणा’—इति दक्षिणाश्रये संख्याया
 प्रयोक्तव्ये गाव इत्याहृतिवचनो विश्लेषकः । तथा ‘अन्यं’—इति
 विनष्टस्य प्रतिनिधेरन्यत्वसंबन्धः, तच्च पशुशब्द आहृतिवचनः,
 आहृत्या विश्लेषयति—इति । तस्माद्गौरश्वः—इत्येवमादयः
 शब्दाः आहृतेरभिधायका इति सिद्धम् ॥ (उ० २) (इति
 आहृतिशक्तवधिकरणम् । १ अ० । ३ पा० । १० अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामि—हृतौ मीमांसाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य
 तृतीयः पादः ॥ स्मृतिपादोऽयम् ॥ * * * ॥

चतुर्थः पादः ॥

अथ उद्भिदादिशब्दाणां वाङ्मनामवाधिकारबन्धम् ।

सू. उक्तं समान्नायैदमर्थ्यं तस्मात् सर्व्वं तदर्थं
स्यात् ॥ १ ॥ (पू०)

भा. 'उद्भिदा यजेत' 'बलमिदा यजेत' 'अभिजिता यजेत'
'विश्वजिता यजेत'—इति समामनन्ति; तत्र सन्देहः,—किं
उद्भिदादयो गुणविधयः, आहोस्वित् कर्मनामधेयानि?—इति ।
कुतः संशयः?। उभयथापि प्रतिभातो वाक्यात्,—उद्भिदा—
इत्येष शब्दो यजेत—इत्यनेन संबधते, स किं वैयधिकारण्येन
संबन्धमुपैति,—उद्भिदा द्रष्टेण यागमभिनिर्व्वर्त्तयेदिति, उत
सामानाधिकारण्येन,—उद्भिदा वागेन यजेत—इति देधाधि
एतच्छिन् प्रतिभाति वाक्ये, सम्भवति संशयः ।

किं तावत् प्राप्तम्?—उक्तमस्माभिः,—समान्नायस्यैदमर्थ्यं,—
कश्चिदस्य भागो विधिः, योऽविहितमर्थं वेदयति, यथा 'सोमेन
यजेत'—इति; कश्चिदर्थवादः, यः प्ररोचयन् विधिं स्तौति,
यथा 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'—इति; कश्चिन्मन्त्रः, यो विहित-
मर्थं प्रयोगकाले प्रकाशयति, यथा 'वर्हिर्देवसदनन्दामि'—
इत्येवमादि; तस्मादुद्भिदादयोऽमीषां प्रयोजनानामन्यस्य
प्रयोजनाय भवेयुः; तत्र तावन्नार्थवादः, वाक्यशेषो हि स
भवति विधातव्यस्य; न च मन्त्रः, एवंजातीयकस्य प्रकाशयि-
तव्यस्य अभावात्, पारिषेव्यात् गुणविधिः,—उद्भिद्गुणता यागस्य
विधीयते । कुतः?। प्रसिद्धेरनुपेक्षात्, गुणविधेरर्थवत्त्वात्,
प्रवृत्तिविशेषकरत्वाच्च । न च, एषां यागार्थता लोकोऽवगम्यते!
न च, वेदेन परिभास्यते! अतो गुणविधयः । 'यदि गुणविधिः,
न तर्हि कर्म विधीयते, अविहिते च कर्मणि तत्र गुणविधान-

भा. मनर्थकं । न—इति ब्रूमः,—प्रकृतौ उद्योतिष्ठोमे गुणविधान-
मर्थवद्भविष्यति, यदि नामधेयं स्यात्,—यावदेव यजेत—इति,
तावदेव उद्भिदा यजेत—इति, न प्रष्टतौ कश्चित् गुणविशेषः
स्यात् । गुणविधौ च गुणसंयोगात् अभ्यधिकमर्थं विदधत
उद्भिदादयः शब्दा अर्थवन्तो भविष्यन्ति; तस्मात् गुणाविधय
इत्येवंमाप्तम् । (पू०) ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः,

ख. अपि वा नामधेयं स्यात् यदुत्पत्तावपूर्वमविधायक-
त्वात् ॥ २ ॥ (सि०)

भा. अपि वा—इति पक्षो विपरिवर्तते । नामधेयं स्यात् इति
प्रतिजानोमहे, एवमविहितमर्थं विधास्यति उद्योतिष्ठोनात्
यागान्तरं, अतिश्चैवं यागमभिधास्यति; इतरथा अतिश्चिदा-
दीन् वच्यन्ती उद्भिदादिमतो लक्षयेत्! उद्भिदता यागेन कुर्या-
दिति । यागेन कुर्यात्—इति 'यजेत—इत्यस्यार्थः', करणं
हि यागः, उद्भिदाद्यपि तृतीयानिर्देशात् करणं, तच्च उद्भिदा
यागेन—इति कर्मनामधेयत्वेन सामानाधिकरण्यसामञ्जस्यं,
द्रव्यवचनत्वे मत्वर्थलक्षणया सामानाधिकरण्यं स्यात् । अति-
लक्षणाविशेषे च अतिर्ज्यायसी । तस्मात् कर्मनामधेयम् । 'ननु
प्रसिद्धं द्रव्यवचनत्वमपक्रूयेत, अप्रसिद्धं कर्मवचनत्वं प्रतिज्ञायेत' ।
उच्यते,—तृतीयानिर्देशात् कर्मवचनता । कुतः? । करण-
वाचिनो हि प्रातिपदिकात् तृतीया भवन्ति, करणं च यागः,
तेन यागवचनमिममनुमास्यामहे ।

“नेतद्यत्कं,—यदि तृतीयानिर्देशे सति उद्भिदादिभ्यः
शब्देभ्यो यागे बुद्धिश्च्येत, स्यादेतदेवं; न हि नो बुद्धि-
श्च्येत, तस्मात् अयुक्तं । 'तृतीयावचनं अन्यथा नोपपद्यते'
—इति चेत् । कामं नोपपादि, न जातुचित् अनवगम्यमाने-

भा. अपि यागवचनो भविष्यति, तस्मात् गुणविधयः । लक्षणेति चेत्, वरं लक्षणा कल्पिता, न यागाभिधानं, लौकिकी हि लक्षणा, ह्यतोऽप्रसिद्धकल्पनेति । अपि च यदि नामधेयं विधीयते, न यागः ; अथ यागः, न नामधेयम् ; उभयविधाने वाक्यभेदः— इति । उच्यते, न नामधेयं विधायित्यते, अनुवादा हि उक्तिदादयः । कुतः प्राप्तिः ?—इति चेत् । ततोऽभिधीयते,— उच्छब्दसामर्थ्यात् भिच्छब्दसामर्थ्याच्च उक्लिच्छब्दः क्रियावचनः,— उक्तेर्न प्रकाशनं पशुनामनेन क्रियते—इत्युक्ति यागः, एवमाभिमुखेन जयात् अभिजित्, विश्वजयात् विश्वजित्, एवं सर्वत्र । अतः कर्मनामधेयम् । यस्त्वप्रवृत्तिविशेषकरोऽनर्थकः— इति, नामधेयमपि गुणफलोपबन्धेनार्थवत् ; तस्मात् कर्मनामधेयान्धेवंजातीयकानि—इति सिद्धम् ॥ (सि०) ॥ (इति उक्तिदादिशब्दानां यागनामधेयताधिकरणम् । १ । ४ । १ अ०) ॥

अथ चिन्नादिशब्दानां यागनामधेयताधिकरणम् ।

स. यस्मिन् गुणोपदेशः प्राधानतोऽभिसंबन्धः ॥ ३ ॥

भा. 'चिन्नाया यजेत पशुकामः' 'चित्तदहिस्यवमानं' 'पञ्चदशान्याज्यानि' 'सप्तदश पृष्ठानि'—इत्युदाहरणं । किं चिन्नाशब्दः, पवमानशब्दः, आज्यशब्दः, पृष्ठशब्दश्च गुणविधयः, उत कर्मनामधेयानि ?—इति संशयः । प्रसिद्धेः, अर्थवत्त्वात्, प्रवृत्तिविशेषकरत्वाच्च गुणविधयः ; न चेते कर्मणि प्रसिद्धाः, न चामी यौगिकाः । जातिशब्दा स्ते, चिन्ना—इति च गुणशब्दः ; चिन्नाया यजेत—इति च यागानुवादः, विज्ञातत्वात् न यागविधिः । गुणफलकल्पनायां यजतेर्न विवक्षा, तथा आज्यानि भवन्ति, पृष्ठानि भवन्ति—इति च । गुणविधिकल्पनायामपि न लक्षणा ; तस्मात् गुणविधयः—इत्येवं प्राप्तम् ।

भा. एवं प्राप्ते ब्रूमः,—यस्मिन् गुणविधिर्नामधेयम्—इति संदिग्धे गुणोपरः उपदिश्यते, प्रधानेन कर्मणा तस्य संबन्धः, कर्मनामधेयम्—इत्यर्थः। गुणविधौ हि सति वाक्यम् भिद्येत। पुंप्रश्नौ प्राप्ते स्त्रीपशुः, पञ्चवः कर्त्तुं, चिचो गुणः—इति न ब्रह्ममेकेन वाक्येन विधातुम्। चिचो गुणो विधीयमानः चिच्यां विधीयेत, नासावग्रीषोमीये पशुकामे च विधीयेत, सोऽपि नाग्रीषोमीये। तथा पञ्चदशानि आञ्जानि भवन्तीति आञ्जेषु पञ्चदशता; न चाविहितानि स्तोत्रेष्वञ्जानि भवन्ति, न चान्यद्विधायकं वाक्यं, तत्रैतदाञ्जानि विदध्यात्, विहितेषु च पञ्चदशता! गम्यते च पञ्चदशताया आञ्जानां च संबन्धः; स्तोत्रसंबन्धस्याञ्जानामविज्ञातः पञ्चदशतासंबन्धश्च, दावेतावर्थावेकवाक्यस्याङ्गकौ विधातुम्। अथ नु कर्मनामधेयं, नैष विरोधो भवति, केवलं संज्ञासंबन्धस्तदानीं विधीयते। अपि चाञ्जानि स्तोत्राणीत्यनेन शब्देन लक्षणयैव गुणो विधीयेत। अतः कर्मणां नामधेयानि (वाक्यान्तरैः ‘आञ्जैः स्तुवते, पृष्ठैः स्तुवते’—इत्येवमादिभिर्विहितानाम्)। यत्तु ‘अप्रसिद्धं कर्मणां नामधेयम्’—इति, अवयवप्रसिद्ध्या आजिगमनादाञ्जानि। कथमाजिगमनम्?—इति। अर्थवादवचनात्,—‘यदाजिमीयुस्तदाञ्जानामाञ्जत्वम्’—इति। स्पर्शवचनात्पृष्ठानि। पवमानार्थमव्यक्तत्वाद्दहिःसंबन्धाच्च दहिःपवमानम्। ‘दधि मधु पयो घृतं धानास्तण्डुला उदकम्’—इति नानाविधद्रव्यत्वाच्चिच। तस्मादेर्वजातीयकानि कर्मनामधेयानि—इति। ‘अथ कस्माच्च पञ्चदशसंज्ञाविहितानि आञ्जानि स्तोत्रकर्मसु विधीयन्ते?’। विहितानां वाचकस्य शब्दस्याभावात्।

‘ननु पदद्वयमिदं वाचकं भविष्यति,—पञ्चदशान्याञ्जानि—

* अथ ‘तत्संस्पृष्टं प्राजापत्यम्’ इति अधिकं का० सं० प्रा० मु० ।

भा. इति विशिष्टानां, तदेतेषु स्तोत्रेषु विधास्यति । न एतत्पद-
द्वयमपि विधायकम्,—एकमत्र विधायकं, एकमुद्देशकम्, उभय-
स्मिन्विधायके परस्परं संबन्धो न स्यात्; अविधायके स्तोत्र-
संबन्धो न विधीयते, न च, अत्रैकं पदं विशेषणं प्रति उद्देशकं,
स्तोत्रं प्रति विधायकं भवितुमर्हति । वचनव्यक्तिभेदादतोऽयम-
समाधिः ॥ (१।४।२ अ०) ॥

अथ अग्निहोत्रादिशब्दानां यागनामधेयताधिकारणम् ॥ (तत्प्रत्यन्यासः)

स तत्प्रत्यन्यासश्चायं शास्त्रम् ॥ ४ ॥

भा. 'अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः'—इति 'आधारमाधारयति'
--इति च समासनन्ति; तत्र संशयः,—किं अग्निहोत्रशब्दः
आधारशब्दस्य गुणविधी, उत कर्मनामधेये?—इति । गुणविधी
—इति ब्रूमः । कुतः? । गम्यते हि अग्नये होत्रमस्मिन्—
इति, तथा क्षरणसमर्थं द्रव्यं घृतादि आधारमाधारयति—
इति,—प्रसिद्धिरेवमनुयहीष्यते । गुणविधिश्च दर्शित्वे, आधा-
रश्लोपांशुयाजे, तत्रैतयोरर्थवत्ता प्रवृत्तिविशेषकरत्वञ्च । न
च 'गुणविधिपक्षे लक्षणा भवति, यथोक्तिदा यजेत'—इति ।
अग्निहोत्रे समासेन अवगतं गुणविधानं; आधारेऽपि 'आधारं
निर्वर्त्तयति'—इति—श्रुत्यैव गुणो विधीयते । तस्मात् गुणविधी
—इत्येवं प्राप्ते

ब्रूमः,—'तत्प्रत्यन्यासश्चायं शास्त्रं', यौ गुणावेताभ्यां विधीयेते—
इत्याशङ्कते, तावन्यत एव अवगतौ, 'यदग्नये च प्रजापतये च
सायं जुहोति'—इति देवताविधानं; 'चतुर्गुहोतं वा एतद्भूत-
स्याधारमाधार्यां'—इति आधारे च द्रव्यविधिः; अविदित-
वेदनश्च विधिः—इत्युच्यते, विदितं चात्रान्यतो गुणविधानं;
तस्मान्न गुणविधी, कर्मनामधेये तु सम्भवतः, यस्मिन्नग्नये होत्रं

भा. होमो भवति, तद्विहोषं; दीर्घधारा क्षरणक्रिया प्रसिद्ध एवा-
 धारः, तस्मात् कर्मनामधेये; प्रसिद्धादयश्चोक्तोत्तराः (१।४।
 १ अ० २ अ०)। 'प्रजापतिनिवृत्तप्रथमग्निविधानं भविष्यति'—
 इति चेत्। नैतदेवम्, अग्निं हि एष विधातुं ब्रह्मोति, न
 प्रजापतिं प्रतिषेद्धुं; प्रतिविध्यमानस्य च प्रजापतेर्विधानमनर्थकं
 स्यात्; प्रजापतिर्देवता—इति गम्यते, गम्यमानं च न ब्रह्मं
 मिथ्येति कल्पयितुम्; अतोऽयमसमाधिः। 'उच्यते,—'आधार-
 माधारयति'—इति द्रव्यपरा चोदना, यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते—
 इति, द्रव्यं क्षनया क्रियया चार्यते, चारितं च यागं साधयति;
 तत्कस्य प्रधानस्य कर्मणो नामधेयम्?—इति। उच्यते, एत-
 देवाधारणं प्रधानकर्म। 'नन्वस्य द्रव्यदेवतं नास्ति'। अस्ति
 —इति ब्रूमः; 'तस्याधारमाधार्या'—इति आद्यं द्रव्यं, मास-
 वर्णिकी देवता, 'इन्द्र उर्द्धाङ्गर—इत्याधारमाधारयति'—
 इति मखो हि अभिदधत् कर्म, तत्साधनं वा कर्मणि समवैति;
 एष च मख इन्द्रमभिधातुं ब्रह्मोति, स यदि इन्द्रः तत्साधनं
 भवेत्, एवं अनेन मखेणाधारः ब्रह्मते कर्तुम्; तस्मात् इन्द्रो
 देवता, द्रव्यदेवतासंयुक्तं आधारणं; तस्मात् यजति; तस्य
 यजतेर्नामधेयम्—इति ॥ (१।४।२ अ०) ॥

अथ श्येनादिशब्दानाम् यागनामधेयताधिकरणम् ॥ (तद्व्यपदेशन्यासः)

स.

तद्व्यपदेशं च ॥ ५ ॥

भा. 'अथैष श्येनेन अभिचरन्त्यजेत' 'अथैष सन्दंशेन अभिचरन्त्य-
 जेत' 'अथैष गवाभिचरन्त्यजेत'—इति समाग्नयन्ते; तत्र
 गुणविधिः, कर्मनामधेयम्—इति सन्देहः। प्रसिद्धादिभिः पूर्व-
 पक्षः, उद्भिदादीनामिव; ते तूद्भिदादयः क्रियानिमित्ताः
 ब्रह्मवन्नि यागं वहितुम्; इमे पुनर्जातिनिमित्ता न ब्रह्मवन्नि,

भा. तेन गुणविधयः—इत्येषं प्राप्तम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘तद्व्य-
देवञ्च,’ तेन ज्येनादिना (प्रसिद्धेन) यस्य व्यपदेशः, तच्च कर्म-
नामधेयं, श्रुतिर्हि नामधेयत्वे, लक्षणा गुणविधौ । यस्तु
‘जातिशब्दा इमे न बागमभिवदन्ति’—इति, साकृन्व्यव्यपदेशा-
दभिवदित्यन्ति, एवं हि व्यपदेशो भवति,—यथा वै ज्येनो निप-
त्यादत्ते, एवमयं द्विषणं भ्रातृत्वं निपत्यादत्ते, यमभिचरन्ति
ज्येनेन—इति, निपत्यादत्ते—इत्यनेन साकृन्व्येन ज्येनशब्दो
बागे; यथा सिंहो देवदत्तः—इति, तस्मात् कर्मनामधेयम् ॥
सन्दंशे सन्दंशेन यथा दुरादानमादत्ते—इति, गवि यथा
गावो गोपायन्ति—इति, तस्मात् सन्दंशशब्दोऽपि कर्मनामधेयं,
गोशब्दोऽपि ॥ (१।४।४ अ०) ॥

अथ वाजपेयादिशब्दानां नामधेयताधिकारणम् ।

स. नामधेये गुणश्रुतेः स्याद्विधानम्—इति चेत् ॥ ६ ॥ (पु०)

भा. ‘वाजपेयेन सारान्यकामो यजेत’—इति श्रूयते; तच्च किं
गुणविधिः, कर्मनामधेयम्—इति सन्देहः । एवं चेत् सन्देहः,
कृन्थते गुणविधिः, न सन्देहः, श्रूयते हि गुणः, सोऽवगम्यमानो
न शब्दो नास्ति—इति वदितुं, तस्मात् गुणविधिः ॥ (पू०) ॥

स. तुल्यत्वात् क्रिययोर्न ॥ ७ ॥ (सि०)

भा. नैतदेवं, तुल्ये हि इमे क्रिये स्यातां,—या च वाजपेयक्रिया,
या च दर्शपूर्णमासक्रिया, उभयत्र दार्शपूर्णमासिको विधानः
स्यात्, तथा च दीक्षाणामुपसदाश्च दर्शनं नावकल्पयेत्! ‘सप्त-
दशदीक्षो वाजपेयः’—इति, ‘सप्तदशोपसत्को वाजपेयः’—इति ।

अथ वा ‘तुल्यत्वात् क्रिययोर्न’—इति यदि न गुणविधिः,
ततस्तुल्येवा वाजपेयक्रिया ज्योतिष्टोमक्रियया; तच्च दीक्षाणा-

भा. मुपसदाच्च दर्शनमुपपन्नं; तस्मात् कर्मनामधेयमिति, सिद्धं
त्वेतत्प्राप्तिः पुनस्तत्परसूत्रेण ॥ (सि०) ॥

स. ऐकशब्दे परार्थवत् ॥ ८ ॥ (सि० य०)

भा. यदि गुणविधिः स्यात्, स्वार्थवत् परार्थवच्चाभिधानं विप्रति-
विधेयं यजेतेत्यस्य शब्दस्य । यदि 'साराज्यकामो यजेत'—
इति साराज्यकामस्य यागं विधातुं स्वार्थमुच्यते, न तर्हि
वाजपेयेन गुणेन संबद्धं परार्थमनूद्येत ! यागेन वाजपेयगुणकेन
—इति, भिद्येत हि तथा वाक्यं । 'ननु हे एवैते वाक्ये प्रत्यक्ष-
मुपलभामहे,—'साराज्यकामो यजेत'—इत्येतदेकं प्रत्यक्षं
पदद्वयं, 'यजेत वाजपेयेन'—इत्येतदपि प्रत्यक्षमेव । नैतदेवम्,
एवं सति चत्वारि पदान्युपलभेमहि, चीणि चैतान्युपलभ्यन्ते ।
“उच्यते,—यजेत—इत्येतदुभाभ्यां संभत्स्यते । 'कथं सहस्रदुष्ठा-
रितं संबन्धमुभाभ्यामेध्यति?'—इति । रूपाभेदात्, ईदृशमे-
वास्य रूपं साराज्यकामेन संबन्धमानस्य, ईदृशमेव वाजपेयेन,
अतः तद्वेषोभाभ्यां संभत्स्यते”—इति । नैतदस्ति,—ईदृशेनैव
रूपेण—इति यद्यच्चातः, ततो विधिः, यदि ज्ञातः, ततोऽनु-
वादः, न च ज्ञातोऽज्ञातश्च युगपत् सम्भवति—इति । 'आह,
—'यदिदमुक्तं,—गुणविधिपक्षोऽनुवादो यजेत'—इति । यद्य-
यमनुवादः, केन—इदानीं गुणो विधीयते ? वाजपेयशब्देन
—इति मावोचः, न ज्ञात्यातमन्तरेण ह्यस्य वा नाम
शब्दार्थस्य व्यापारो विधीयते ! यश्चाज्ञात्यातशब्दो यजेत—
इति, सोऽनुवादः—इत्युक्तं ; केन इदानीं तस्य व्यापारो
विधीयते ? अतः साराज्यकामं गुणं च प्रति यजेत—इति
विधिः ; तस्मादुभाभ्यां संबन्धते—इति । यद्युभयत्र विधिः
वाजपेयो न साराज्यकामस्य यागेन संबन्धते ॥ हे स्मृते तदा
वाक्ये, न साराज्यकामस्य यागेन सह गुणविधेरेकवाक्यता ।

भा. 'प्रकरणात् संबन्धः सारान्यकामस्य यागेन'—इति चेत्, न, वाक्येन यागमात्रे विधानात् । 'अस्तु यागमात्रेण संबन्धः'—इति चेत्, न, सारान्यकामस्य यागेन स हि एकवाक्यताया गम्यमानत्वात्, तदेवं प्रकरणस्य वाक्यस्य च बाधो युज्यते, यदि कर्मनामधेयं, गुणविधिपक्षे हि सर्वे इमे वाक्यभेदादयो दीषाः प्रादुर्भवेयुः ; तस्मात् कर्मनामधेयं वाक्येयशब्दः—इति सिद्धम् ॥ (सि० यु०) ॥ (१ । ४ । ५ अ०) ॥

अथाग्नेयादीनामनामताधिकारबन्धम् ।

स. तद्गुणास्तु विधीयेरन्नविभागाद्विधानार्थे न चेदन्येन श्रिष्टाः ॥ ६ ॥

भा. 'यद्वाग्नेयोऽष्टाकपालोऽभावास्यायां पौर्णमास्यां चापुत्रतो भवति'—इत्येवमादयः श्रूयन्ते ; तत्र सन्देहः,—किं 'आग्नेयोऽग्नीषोमीयः'—इत्येवमादयो गुणविधयः, कर्मनामधेयानि ?—इति । किं तावत् प्राप्तं ?—गुणविधौ सत्यमेको गुणो विधीयेत, अग्निपुरोडाशाष्टाकपालाः—इति, तस्मान्न गुणविधयः—इत्येवं प्राप्ते

ब्रूमः,—तत्र कर्म, गुणास्यास्य विधीयेरन्, अविभक्ता हि ते कर्मणो विधानार्थे तद्वितान्ते शब्दे ; तत्र हि अष्टाकपालस्याग्नेयता विधीयते, स एष एवमाग्नेयो भवति, यद्वाग्नेये संकल्प्य दीयते, तेनायं अनेन प्रकारेण यागो विहितो भवति, स एवंविधीयमानो न शक्योऽग्निमष्टाकपालं चाविधाय विधातुम्, संबन्धो हि विधीयमानो न शक्यते संबन्धिनाविधाय विहित —इति वक्तुम् । तस्मात् गुणविधयः, अष्टसु कपालेषु संस्क्रियमाणो बोद्धिमयो यवमयो वा पुरोडाश एव भवति, सोऽनुवादः, सिद्धस्याष्टाकपाल उच्यते, 'कपालेषु अययति'—इति वच-

भा. नात् मान्येन अपितं गृह्णन्ति, तेनास्मिन्मन्त्रे न वाक्यभेदो भवति, 'न चेदन्येन श्रिष्टाः'; यच्च पुनरन्येन वचनेन श्रिष्टा गुह्या भवन्ति, भवति तच्च नामधेयं, यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति'—इति ॥ (९।४।६ अ०) ॥

वर्हिरादिशब्दानां जातिवाचिताधिकरणम् ।

स. वर्हिराज्ययोरसंस्कारे शब्दलाभादतच्छब्दः ॥ १० ॥

भा. वर्हिराज्ययोः पुरोडाशे च सन्देहः,—किमेते संस्कारशब्दा, उत जातिशब्दाः?—इति । संस्कारशब्दाः—इति ब्रूमः,—संस्कारेषु तृणेषु वर्हिःशब्दमुपचरन्ति सर्वत्र, नासंस्कारेषु, संस्कारे च धृते आज्यशब्दं, तथा संस्कारे पिष्टे पुरोडाशशब्दम् । ननु 'असंस्कारेषु कस्मिंश्चिद्देशे उपचर्यते, यथा वर्हिरादाय गावो गताः—इति भवन्ति वक्तारः; तथा आज्यं क्रय्यम्—इति, पुरोडाशेन मे माता प्रहेलकं ददाति'—इति । सादृश्यात्तेषु प्रयोगः, यथोपश्रये* श्रुतशब्दः । कुतः एतत्? । यत एकदेशे हि शब्दप्रयोगः, तस्मात् संस्कारशब्दाः—इत्येवं प्राप्तम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—वर्हिरादिष्वसंस्कारेष्वपि शब्दलाभात् न संस्कारशब्दाः । ननु 'उक्तं सादृश्यादेकदेशे भविष्यति' । तन्न, प्रसिद्धे हि संस्कारशब्दत्वे 'सादृश्यात्'—इति शक्यते वक्तुम्, तच्चाप्रसिद्धं । कथं? । वर्हिरादिशब्दैर्वर्हिष्य संस्कारा विधीयन्ते, तेन सत्सु शब्देषु संस्कारैर्भविष्यत्, सति च संस्कारे शब्दलाभः—इति इतरैतराश्रयं भवति । न च, अविहितः संस्कारो भवति । 'यानाखोचय लोकः प्रयुञ्जीत ! तस्मान्न लोकाः संस्कारेषु वर्हिरादीन् प्रयुञ्जते, तत एकदेशेषुपि जाति-

* तद्यथायसंस्कृतो मन्त्रीयसम्भविशेष उपश्रवः ।

भा. निमित्ता वृद्धाः सर्वत्र जातिनिमित्ता भवितुं अर्हन्ति । न च, अलौकिकानां सतां वेदादेव पूर्वोत्तरपदसंबन्धमनपेक्ष्य ब्रह्मते-
र्ध्याध्यवसातुम् ! पूर्वोत्तरपदे अनर्थके माभूताम्—इत्येवं स
परिकल्प्येत, अत्रक्यस्त्वनवगम्यमानः परिकल्पयितुम्, अर्थवती
च ते पदे पूर्वोत्तरे लौकिकेनासंस्कृतप्रयोगेन भविष्यतः । तस्मात्
जातिब्रह्मा एवंजातीयकाः । प्रयोजनं,—‘वर्हिषा यूपावटम-
वस्तुषाति’—इति संस्कृतैरेव स्तरितयं, यदि पूर्वः पक्षः, विप-
रीतं सिद्धान्ते ॥ (१।४।७ अ०) ॥

प्रोक्षणादिपदानां यौगिकताधिकारबन्धम् ।

स. प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात् ॥ ११ ॥

भा. ‘प्रोक्षणीरासादय’—इति श्रूयते ; तत्र प्रोक्षणीब्रह्मं प्रति
सन्देहः,—किं संस्कारनिमित्तः, उत जातिनिमित्तः, उत
यौगिकः?—इति । तत्र संस्कारेषु सत्त्वं दर्शनात् संस्कार-
ब्रह्मतायामवगम्यमानायां असंस्थाने ब्रह्मलाभाज्जातिब्रह्मः,
असंस्थानास्वेवाप्तु ‘प्रोक्षणीभिर्ब्रह्मेजिताः स्मः’—इति कस्मिं-
श्चिद्देशे भवन्ति वक्ताः, तेन जातिब्रह्मः—इति प्राप्ते

यौगिकः—इत्युच्यते । कुतः? । अर्थसंयोगात् । प्रोक्षण्यः
—इत्युपसर्गधातुप्रत्ययसमुदायस्य जातिनिमित्तता प्रयोगाद्-
नुमीयते, सेचनसंयोगान्तूपसर्गधातुकरणप्रत्ययसहितोऽप्तु प्रव-
र्त्तते—इति प्रसिद्धिरनुगृहीता भविष्यति । यदान्यदपि सेचनं
प्रोक्षणब्रह्मेन उच्यते, तदा तत्संयोगादेवाप्तु भविष्यति—इति
न समुदायार्थः कल्पयितुं शक्यते । तस्मात् यौगिकः । प्रयोजनं,
—घृतं प्रोक्षणं भवतीति ; यदि संस्कारब्रह्मः, ‘प्रोक्षणीरा-
सादय’—इति प्रैषः ; यदि जातिब्रह्मः, घृतमासादय—इति ;
यदि यौगिकः, प्रोक्षणमिति ॥ (१।४।८ अ०) ॥

अथ निर्मन्थशब्दस्य यौगिकत्वाधिकारबन्धम् ।

ख. तथा निर्मन्थे ॥ १२ ॥

भा. 'निर्मन्थेनेष्टकाः पचन्ति—इति संस्कृते दर्शनात् संस्कार-
शब्दो निर्मन्थः—इति । असंस्कारेऽपि कृष्यते,—निर्मन्थ-
मानय, ओदनं पचयामः—इति, निर्मन्थनयोगात् पूर्ववत्
यौगिकः—इति संस्थितं । प्रयोजनं,—संस्कारनिमित्ते संस्कृतेन
इष्टकाः पक्तव्याः, जातिशब्दे यथोपपन्नेन, यौगिके अचिर-
निर्मन्थितेन, यथा नावनीतेन भुङ्क्ते—इत्यचिरनिर्द्घनेन—इति
गम्यते ॥ (१।४।९ अ०) ॥

अथ वैश्वदेवादिशब्दानां नामधेयताधिकारबन्धम् ।

ख. वैश्वदेवे विकल्प इति चेत् ॥ १३ ॥ (पू० १)

भा. चातुर्मास्येषु प्रथमे पर्वणि वैश्वदेवे सन्देहः,—'वैश्वदेवेन
यजेत'—इति किं वैश्वदेवशब्दो गुणविधिः, उत कर्मनामधेयम् ?
—इति । इति यदि सन्देहो न सन्देहः, 'वैश्वदेवे विकल्पः,'
गुणविधिर्वैश्वदेवशब्दः, गम्यते हि गुणविधानं, विश्वेदेवा
विधीयन्ते आग्नेयादिषु यागेषु, तच्चाग्नादीनां विश्वैर्देवैर्विकल्पः,
एवं प्रसिद्धिरर्थवती भविष्यति ॥ (पू० १) ॥

ख. न वा, प्रकरणात् प्रत्यक्षविधानाच्च न हि प्रकरणां
द्रव्यस्य ॥ १४ ॥ (सि०)

भा. नैतदेवम्, प्रत्यक्षश्रुतिविहिता अग्नादयः तेषां यागानां,
विश्वेदेवा वाक्येन, प्रकरणात्तेनैव नान्येन—इति गम्यते ; न च
इयं विषमज्ञिष्टो विकल्पो भवितुमर्हति, न हि प्रकरणं श्रुतस्य
द्रव्यस्य बाधने समर्थम् । तस्मात् कर्मनामधेयम् ॥ (सि०) ॥

स. मियञ्चानर्थसंबन्धः ॥ १५ ॥ (आ० नि०)

भा. अथोचेरत,—‘वैश्वदेवः—इत्यनेन ब्रह्मेन प्रत्यक्षं अग्न्यादि-
गुणविशिष्टो यागगणो लक्ष्यते, वैश्वदेवी हि तत्रामिच्छा सम-
वैति’ । यदि वैश्वदेवब्रह्मेन यागगणो लक्ष्यते, न तर्हि
विश्वेदेवा विधीयन्ते, कथं सल्लदुश्चरितो वैश्वदेवब्रह्मो यागगणं
लक्षयिष्यति, विश्वांश्च देवान्बिधास्यति?—इति नायं वैश्व-
देवब्रह्मस्य विश्वैर्देवैर्मियःसंबन्धो घटते । तस्मात् कर्मनाम-
धेयमेव, न गुणविधिः—इति ॥ (आ० नि०) ॥

स. परार्थत्वात् गणानाम् ॥ १६ ॥ (सि० यु०)

भा. परार्थाश्च गुणाः, ते न ब्रह्मवन्ति प्रधानमावर्त्तयितुम्, तेन
सल्लद्भागः कर्त्तव्यः, न गुणानुरोधेनावर्त्तितुमर्हति । संप्रतिपन्न-
देवतत्वाच्च न विरोधः, तत्रैकस्याखधानाङ्गतौ चिंत्त्रदाङ्गतयो
ह्ययन्ते—इति चिंत्त्रसंख्यासंपत्तिराहवनीयाङ्गतीनां न अव-
कल्पते । तस्मात् कर्मनामधेयमिति सिद्धम् ॥ (सि० यु०) ।
(१।४।१० अ०) ॥

वैश्वानरेऽष्टत्वार्यर्थाद्वादिताधिकरणम् ॥

स. पूर्ववन्तोऽविधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये ॥
१७ ॥ (पू०)

भा. ‘वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्पुत्रे जाते’—इति श्रूयते,
तत्र ‘यद्दष्टाकपालो भवति गायत्रैर्यैत्रेण ब्रह्मवर्षसेन पुनाति’—
इत्येवमादयः कपालविकल्पाः श्रूयन्ते ; तेष सन्देहः,—किमष्ट-
त्वादयो गुणविधयः, उताद्यवादाः?—इति । तत्र गुणविधयः
—इत्येव ब्रूमः । कथं? । ये हि पूर्ववन्तो (विदितपूर्वमर्थ

भा. भविष्यदन्ति) ते अविधानार्थाः, तदेतत् अस्व वाक्यस्य समाग्न्याथे सामर्थ्यं, यद्विहितपूर्वकाभिधानम् । किं तत् ? । विधान-सामर्थ्यम् ; एवमविहितमर्थं विधास्यति, इतरथा अर्थवादाः सन्तोऽनर्थकाः स्युः । न च, दादन्नकपालस्य श्लेषभावमुपगन्तु-मर्हति ! प्रत्यक्षा अष्टानां कपालानां स्तुतिः, परोक्षा दादन्ना-नाम्, प्रत्यक्षाभावे च परोक्षा स्यात् । तस्मात् गुणविधयः ॥ (पू०) ॥

स. गुणस्य तु विधानार्थेतद्गुणाः प्रयोगे स्थिरनर्थका न हि तं प्रत्यर्थवत्ताऽस्ति ॥ १८ ॥ (सि०)

भा. नैतदस्ति गुणविधयः—इति, गुणस्य विधानार्था एते सन्तः पुरोडासस्य कपालेषु संख्यां विद्ध्युः, न ब्रह्मवन्ति यागप्रयोगस्य विधातुम्, दादन्नकपालता हि यागस्य वाक्येन, अष्टकपाला-दयः प्रकरणेन, तेन ते यागे न भविष्यन्ति । अपि च अष्ट-त्वादयः पुरोडाशेनैकवाक्यभूताः प्रकरणं बाधित्वा न यागस्य भविष्यन्ति ; यागासंबन्धे च अनर्थकाः, पुरोडाशसंबन्धे कला-भावात् ; अर्थवादत्वेन तु वैश्वानरयागस्य स्तुतिरुपपद्यते । तस्मात् अर्थवादाः—इति ॥ (सि०) ॥

स. तच्छेषो नोपपद्यते ॥ १९ ॥ (उ० आभासः) ॥

भा. इति यदुक्तं, तत्परिहर्तव्यम्—इत्याभाषान्तं सूत्रम् ॥ (उ० आभासः) ॥

स. अविभागाद्विधानार्थे स्तुत्यर्थेनोपपद्येरन् ॥ २० ॥ (उ०)

भा. यदा तु अष्टकपालादिप्ररोचनार्था अनर्थकाः—इत्यवगतं, तदा लक्षणया दादन्नकपालस्य स्तुतिर्वैश्वानरयागप्ररोचनार्था भविष्यति ; सन्ति हि दादन्नसंख्यामष्टत्वादयः संख्याविशेषा

भा. अविभक्ताः, अतो द्वादशकपालस्य स्तुत्यर्थत्वेनावयवस्तुतिरप्यः
 पद्यते ; यथा शोभनमस्य चक्रस्य नेमितुम्भारं, शोभनमस्या-
 सेनायाः इत्यश्वरथपादात्मिति । तस्मात् उपपन्ना स्तुतिः—
 इति ॥ (उ०) ॥

स. कारणं स्यात्? इति चेत् ॥ २१ ॥ (आ०)

भा. इति चेत् भवान् पश्यति,—अर्थवादाः—इति, कारणमष्ट-
 त्वादीनां ब्रह्मवर्षादि कस्मान्न भवति?—ब्रह्मवर्षसकाम-
 स्याष्टाकपालः, एवमुत्तरेषु *यथाकामम् । किमेवं भविष्यति? ।
 पुरोडाशस्य गुणविधानेऽप्यानर्थक्यं न भविष्यति, न च लक्षणया
 द्वादशकपालस्य स्तुतिः कल्पिता भविष्यति । तस्मात् कामेभ्यो
 विधयो भविष्यन्ति ॥ (आ०) ॥

स. अनर्थक्यादकारणं कर्तुर्हि कारणानि गुणार्थे हि
 विधीयते ॥ २२ ॥ (आ० नि०)

भा. यदि कामाय विधवः, भिन्नानि वाक्यानि भवेयुः ; एकं चेद्
 वाक्यं 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते'—इत्येवमुप-
 क्रान्तं, 'यत् द्वादशकपालो भवति, जगत्येवास्मिन्पशून् दधाति,
 यस्मिन्जाते एतां इष्टिं निर्वपति, पूत एव स तेजस्यद्वाद-
 इन्द्रियावी पशुमान् भवति—इत्येवमन्तं ; तस्य मध्येष्टत्वादयः
 श्रूयमाणाः यदि न संबन्धेरन् ततो वाक्यान्तराणि भवेयुः ;

* 'यदष्टाकपालो भवति'—इत्यादिश्रुतेरुत्तरवाक्येन 'यन्नवकपाल-
 स्त्रिवृतैवास्मिन्नेजोदधाति, यद्दशकपालो विराजैवास्मिन्ननाद्यं दधाति,
 यदेकादशकपालस्त्रिष्टुभैवास्मिन्निन्द्रियं दधाति, यद्द्वादशकपालो भवति
 जगत्त्रैवास्मिन् पशून् दधाति, यस्मिन् जाते एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव
 स तेजस्यद्वादइन्द्रियावी पशुमान् भवति'—इत्यादिना विहितेषु ॥

भा. कर्तुर्हि कारणानि पूतत्वादीनि भवेयुः। स एष गुणार्थोऽपि विधी-
यते वैश्वानरयागे 'पूत एव'—इत्येवमादिः; तेन चैतेऽष्टत्वा-
दयः साक्षाद्देतुत्वेन संबन्धगते,—यस्मात् गायत्रैर्वैनं ब्रह्मवर्चसेन
पुनाति, तेन पूत एव सः; यस्माच्चित्तैवाऽस्मिंस्तेजो दधाति,
तेन तेजसी; यस्मात् विराजैवाऽस्मिन्नन्नाद्यं दधाति, तेना-
न्नादः; यस्माच्चिद्युभैवाऽस्मिन् इन्द्रियं दधाति, तेन इन्द्रियावी;
यस्माज्जगत्यैवाऽस्मिन्पशून् दधाति, तेन पशुमान्—इति। ततः
कामाय विधयोऽसम्भवन्तो यद्यर्थवादा अपि न भवेयुः, आन-
र्थक्यमेवैषां स्यात्। तस्मात् अकारणं ब्रह्मवर्चसत्वादयोऽष्टत्वा-
दीनाम्, तस्मादष्टत्वादयोऽर्थवादाः—इति ॥ (१।४।११ अ०) ॥

अथ यजमानशब्दस्य प्रस्तरादित्यर्थताधिकरणम् ॥

स.

तत्सिद्धिः ॥ २३ ॥

भा. 'यजमानः प्रस्तरः' 'यजमान एककपालः'—इत्यादि समा-
भ्यायते; तत्र सन्देहः,—किं 'यजमानः प्रस्तरः'—इत्येष
गुणविधिः, किमर्थवाद्?—इति; तथा 'यजमान एककपालः'
—इति। किं तावत् प्राप्तं?—गुणविधिः—इति। किमेव भवि-
ष्यति?। एवं अपूर्वमर्थं विधास्यति; इतरथाऽर्थवादोऽनर्थकः
स्यात्; अर्थवत्त्वञ्च न्यास्यं, तस्मात् विधिः।

नैतदेवं, यदि विधिः स्यात्, ततः प्रस्तरकार्ये यजमानो
नियन्धेत, यजमानकार्ये वा प्रस्तरः; प्रस्तरे जुह्मसादयति,
सर्वा वा सुवः—इति यजमाने जुह्मसादयेत्! सर्वा वा सुवः
—इति; तथासति न याजमानं ब्रह्मते कर्तुम्, 'दक्षिणतो
ब्रह्मयजमानावासाते कर्मणः क्रियमानस्य'—इति; न च
प्रस्तरो याजमानं ब्रह्मोति कर्तुम्। तथा, यदि यजमान एक-
कपालकार्ये विनियुज्येत, सर्वज्ञतः क्रियेत! तत्र सर्वतत्परिखोपः

भा. स्यात् । न च, एककपालो यजमानं शक्नोति कर्तुम् ! तस्माच्च विधिः । विध्यन्तरं चास्ति, 'प्रस्तरमुत्तरं वर्हिषः सादयति,' 'एककपालं सर्वञ्जतं करोति'—इति ; तस्मादपि न विधिः । किं तर्हि ? अर्थवादः,—यजमानो ज्ञायत एव प्रस्तरः, एककपालः— इति च ।

'कथं पुनरनयोः सामानाधिकरण्यं ज्ञायते ? न हि प्रस्तर एककपालो वा यजमानः, न च यजमानः एकस्मिन् कपाले संस्थितः पुरोडाशः, प्रथमो वा कुञ्जमुष्टिलनः ; कथं परशब्दः परच वर्त्तते ? किमर्थं वा ज्ञायमानस्य संकीर्तनम् ?'—इति ।

उच्यते,—ज्ञायमानः संकीर्त्यते स्तोतुम्,—प्रस्तरः उत्तरो वर्हिषः सादयितव्यो यजमानत्वात् ; तथा यजमान एककपालः सर्वञ्जतः कर्त्तव्यः, सर्गं आह्वनीयस्तत्र प्रतिष्ठापितो भवति—इति ।

कथं परच वर्त्तते परशब्दः ?—इति । गुणवादस्तु,—गुणादेश वादः । कथमगुणवचनो गुणं ब्रूयात् ? । स्वार्थाभिधानेन—इति ब्रूमः,—सर्व एवैते गौणाः शब्दाः न स्वार्थं हित्वा गुणेषु वर्त्तन्ते ; प्रसिद्धहानिर्हि तथा स्यात्, अप्रसिद्धकल्पना च ; न च सर्वे गुणसमुदायवचनाः, गुणहीनेऽपि तथादर्शनात् ; अप्रसङ्गकार्यमपि हि कदाचिद्रोगेणोपहतः सिंघाः पुषः सिंघ एव ; समुदायवाची च नावयवे प्रवर्त्तितुमर्हति, सर्वसिंघव्याक्तषु यत् सामान्यं तद्वचनः शब्दः—इति स्थितो न्यायः प्रत्युध्रियेत ; न च, असति सिंघे परिकल्पनया प्रवर्त्तते ! कल्पनाया अप्रसङ्गत्वात् । कथं नु स्वार्थाभिधानेन प्रत्ययव्यवस्था ?—इति चेत् । अर्थसंबन्धात्,—सिंघः—इति निर्ज्ञाते प्रसङ्गकारिता तत्र प्रायेण—इति प्रसङ्गकारी—इति गम्यते, अर्थप्रत्ययसामर्थ्यात् ; यो हि मन्यते,—प्रसङ्गकारिणं प्रत्याययेयम्—इति, स यदि सिंघशब्दमुच्चारयति, सिद्धत्वस्याभिप्रेतं,—सिंघार्थः प्रतीतः प्रसङ्ग-

भा. कारी—इतिसंबन्धादितरमर्थं प्रत्याययति; एवं सार्धाभिधानेन तद्गुणसंबन्धः प्रतीयते ।

इह तु यजमानः प्रस्तरः, यजमान एककपालः—इति—कीदृशो गुणसंबन्धः प्रतीयते ? । तन्निश्चिन्करः—इति, सर्वो ह्यात्मनः कार्यसिद्धिं करोति, अन्योऽपि यः तस्व कार्यसिद्धिं करोति, स तस्मिन् उच्चरिते हृदयमागच्छति, यथा राजा पत्तिगणकः—इति, पत्तिगणको राज्ञः कार्यं साधयति, स राज्ञश्च उच्चरिते प्रतीयते, एवमिहापि यजमानकार्यं प्रस्तरैककपालौ साधयतः, तौ यजमाने प्रतीते प्रतीयेते, तस्मात्तौ यजमानश्च देन प्रत्याख्येते । कथं ? । स्तुतौ स्यातां वरिष्ठ उपरिसादने सर्वहोमे च—इति । तस्मादेवंजातीयकार्थवादा न विधयः—इति ॥ (१।४।१२ अ०) ॥

अथाग्नेयादिशब्दानां ब्राह्मणादिस्तुत्यर्थताधिकारकम् ।

स.

जातिः ॥ २४ ॥

भा. 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः, ऐन्द्रो राजन्यः, वैश्यो वैश्वदेवः'—इत्येवमादयः श्रूयन्ते; तत्र किं गुणविधयः, अर्थवादाः ?—इति सन्देहः । गुणविधयः—इति ब्रूमः,—एवमपूर्वमर्थं विधास्यन्ति, इतरथा अर्थवादाः सन्तोऽनर्थकाः स्युः । न विधिः, विधन्तरस्य भावात्, तस्मात् संवादः, तस्य संकीर्तनं विधिस्तुत्यर्थम् । अनाग्नेयादिषु आग्नेयादिशब्दाः केन प्रकारेण ? । गुणवादेन । को गुणवादः ? । अग्निसंबन्धः । कथं ? । एकजातीयकत्वात् । किमेकजातीयकत्वं ? । 'प्रजापतिरकामयत,—प्रजाः सृजेयम्—इति, स मुखतश्चिह्नं निरमिमीत, तमग्निह्वता अश्वश्च्यत, गायत्री च्छन्दः, रथन्तरं साम, ब्राह्मणो मनुष्याणाम्, अजः पशूनां; तस्मान्ने मुख्याः, मुखतो हि अश्वश्च्यत । उरसो

भा. वाङ्मयां पञ्चदशं निरमिमीत, तं इन्द्रो देवताऽग्न्यश्च्यत,
 विष्टुप्च्छन्दः, दृष्टत् साम, राजन्यो मनुष्याणाम्, अविः पशूनां ;
 तस्मात्ते वीर्यवन्तः, वीर्याङ्घ्रि अश्च्यन्त । अहर्वा मधतः सप्तदशं
 निरमिमीत, तं विश्वेदेवा देवता अग्न्यश्च्यन्त, जगती च्छन्दः,
 वैरूपं साम, वैश्यो मनुष्याणाम्, गावः पशूनाम्—एवमुक्ते सति
 एकस्मिन्नेवंजातीयके विज्ञाते अन्योऽपि तज्जातीयको दृष्टयमा-
 गच्छति । तस्मादर्थवादश्चन्द्रः ॥ (१।४।१३ अ०) ॥

अथ यूपदिशब्दानां यजमानस्तुत्यर्थताधिकारबन्धम् ।

स.

सारूप्यात् ॥ २५ ॥

भा. 'यजमानो यूपः,' 'आहित्वो यूपः'—इत्यादि श्रूयते; तत्र
 गुणविधिः, अर्थवादः?—इति सन्देहः । अर्थवशात् गुणविधिः ।
 अत्रकृतत्वात् यूपकार्यसाधने यजमानस्य, यजमानकार्यसाधने
 वा यूपस्य, विधन्तरभावाच्च न विधिः, विधिस्तुत्यर्थं संवादः ;
 गुणवादात् सामानाधिकरण्यम् । को गुणः ? । सारूप्यम् । किं
 सारूप्यम् ? । अर्द्धता, तेजस्विता च । तस्मादेवंजातीयका
 अर्थवादाः ॥ (१।४।१४ अ०) ॥

अथापश्चादिशब्दानां गवादिप्रशंसार्थताधिकारबन्धम् ।

स.

प्रशंसा ॥ २६ ॥

भा. 'अपञ्चवो वा अन्ये गोश्वेभ्यः, पञ्चवो गोअश्ववाः,' 'अयञ्चो
 वा एष योऽसामा,' 'असन्नं वा एतत् यदच्छन्दोमम्'—इति
 श्रूयते । तत्र विध्यर्थवादसन्देहे अर्थवशाद्विधयः—इति प्राप्ते,
 अभिधीयते,—यदि विधयो भवेयुः; गोअशवा एव पञ्चवः स्युः,
 सामवानेव यज्ञः, छन्दोमवदेव सचम; अन्येषां पशूनां, यज्ञानां,

भा. सषाणां शोत्पत्तिरनर्थाका स्यात्! विध्यन्तरच्च नावकल्पेत!
 अतः स्तुत्यर्थं संवादः, गोश्वान् प्रशंसितुमन्येषां पशूनां
 निन्दा, सामवतः प्रशंसितुमसाग्नां निन्दा, हृद्दोमवन्ति प्रशं-
 सितुमहृद्दोमकानि निन्द्यन्ते; यथा, यत् अघृतं, अभोजनं
 तत्; यन्मखिनं, अवासस्तत्—इति ॥ (१।४।१५ अ०) ॥

अथ बाहुल्येन हृद्विद्यपदेशाधिकारत्वम् । (भूमाधिकारत्वम्) ।

स. भूमा ॥ २७ ॥

भा. 'हृद्विद्यपदधाति'*—इति श्रूयते; तत्र गुणविधिः, अर्थवादः?
 —इति सन्देहे अपूर्वत्वात् विधिः,—इति प्राप्ते उच्यते,—
 यदि विधिः, हृद्विमयका उपदधातीहकाः—इत्यर्थः; तत्र न
 हृद्विकानां विशेषः कश्चिदाश्रीयते,—एवंरूपाः हृद्विमयकाः,
 नैवंरूपाः—इति; तत्र सर्वासां हृद्विलिङ्गा मद्याः प्राप्नुयुः!
 अन्येषामसंयुक्तानां मद्याणामानर्थक्यं स्यात्! तस्मात् अनुवादः,
 —मद्यसमाग्नानात् प्राप्तानामुपधाने मद्याणां; हृद्वीनां संकी-
 र्त्तनं सर्जनार्थवादाद्यर्थम्। अपि च विधित्वे लक्षणा, 'एकया
 स्तुवते'—इत्यत्र या अहृद्वयस्ता लक्षयेत्। ननु 'अनुवादेऽपि
 लक्षणा'। नानुवादपक्षे लक्षणायां दोषः। कथन्तु अहृद्विषु
 हृद्विषु च हृद्विशब्दः—इति। भूम्ना,—वहवस्तत्र हृद्विलिङ्गा
 मद्याः, अल्पत्रो विलिङ्गाः—इति ॥ (१।४।१६ अ०) ॥

* हृद्विशब्दोपेतामद्या यासामिहकानां उपधाने विद्यन्ते ता हृद्विका
 अहृद्वय उच्यन्ते इति माधवः ।

अथ प्राणभृदादिशब्दानां कुत्सर्यताधिकारबन्धम् ।

स. लिङ्गसमवायात् ॥ २८ ॥

भा. 'प्राणभृत उपदधाति,' 'आज्वानीरुपदधाति'—इति, विधित्वे प्राणभृन्मवकासूपधीयमानात् विलिङ्गानां मवाणामानर्थक्यम् ; तस्मात् अनुवादः । लिङ्गसमवायात् परशब्दः परच वर्तते ; यथा, हृषिणो गच्छन्ति—इति, एकेन हृषिणा सर्वे लक्ष्यन्ते ; न च अयं प्राणभृच्छब्दः हृष्टिशब्दस्य जहत्सार्थं मवगर्णं लक्षयेत्, यद्गुणे च हृष्टिप्राणभृच्छब्दौ समवेती, तावपि परिगृह्येते ; यथा, हृषिशब्देन स्वार्थलक्षणार्थेन सोऽपि हृषी गृह्यन्ते—इति । (१ । ४ । १७ अ०) ॥

अथ वाक्यशेषेण सन्दिग्धार्थनिरूपणाधिकारबन्धम् ।

स. सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् ॥ २९ ॥

भा. 'अक्ताः शर्करा उपदधानि, तेजो वै घृतम्'—इति श्रूयते ; तत्र सन्देहः,—किं घृततैलवसानामन्यतमेन द्रव्येणाङ्गनीयाः शर्कराः, उत घृतेनैव?—इति । कथं सन्देहः? । अङ्गन-सामान्येन वाक्यस्योपक्रमः, घृतेन विश्लेषेण निमग्नं, यथो-पक्रमं निगमयितव्यम् एकस्मिन् वाक्ये ; तत्र यदा सामान्यमादौ विश्लेषोपलक्षणार्थं विवक्ष्यते, यदा निगमने विश्लेषः सामान्य-लक्षणार्थः? तदारम्भनिगमनयोः किं समझसं?—इति संशयः । एवं—सन्दिग्धेषु उपक्रमे सामान्यवचने विरोधाभावात् न विश्लेषः परिकल्प्यः, निगमने तु उपजातः सामान्यप्रत्ययः—इति विरोधात् लक्षणार्थं घृतवचनं ; यथा हृष्टिष्वहृष्टिषु च हृष्टिशब्दः, एवं घृतमघृतं च घृतं—इत्युच्यते ।

भा. सन्दिग्धेषु एवं प्राप्ते ब्रूमः,—सामान्यवचनेन विशेषापेक्षिणा उपक्रमो वाक्यस्य, विशेषे निगमनवशेन। कुतः?। न हि, सामान्यं विहितं! येन विरोधो निगमनस्य। कथमविहितं?। सन्दिग्धेषु विधानशब्दाभावात्, न हि, विधानशब्दोऽस्ति! 'अक्ताः शर्करा उपदधाति'—इति वर्तमानकालनिर्देशात्; नापि सामान्यस्य साक्षात्स्तुतिः, प्रत्यक्षन्तु घृतस्य स्तवनं; श्रुत्या घृतस्य स्तुतिः, लक्षणया सामान्यस्य, श्रुतिश्च लक्षणया ज्ञायसी। तस्मात् घृतविधानम्। एवं 'वासः परिधत्ते, एतद्देवै सर्वदेवत्यं वासः, यत् क्षौमम्'—इति। तथा 'इमां स्पृहोद्गायेत्, इमां हि श्रौदुंबरीं विश्वाभूतान्युपजीवन्ति'—इति ॥ (१। ४। १८ अ०) ॥

अथ सामर्थ्यानुसारेण अथवस्थितानां अथवस्थाधिकारणम् ।

ख. अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात् ॥ ३० ॥

भा. 'सुवेणाभवद्यति, स्वधितिनावद्यति, हस्तेनावद्यति'—इति श्रूयते; तत्र सन्देहः,—किं सुवेणावदातथं सर्वस्य (द्रवस्य संहृतस्य मांसस्य च) तथा स्वधितिना*, हस्तेन च, उत सर्वेषामर्थतो अथवस्था (द्रवाणां सुवेण, मांसानां स्वधितिना, संहृतानां हस्तेन)?—इति। अविशेषाभिधानादथवस्था—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'अर्थाद्वा कल्पना', सामर्थ्यात् कल्पना—इति,—सुवेणावद्येत, यथा शक्नुयात्; तथा यस्य शक्नुयात् तस्य च—इति; आख्यातशब्दानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी,

* स्वधितिरस्त्वविशेषः ।

भा. एवं चेत् यथाशक्ति व्यवस्था भवितुमर्हति । तथा 'अङ्गलिना
सक्तून्प्रदाद्ये जुहोति'—इति, द्विहस्तसंयोगोऽङ्गलिः, स व्याको-
शोऽर्थात् कर्त्तव्यः, तथा द्वि शक्यते होमो निर्वर्त्तयितुम्, तत्
यथा, कटे भुंक्ते कांस्यपात्रां भुंक्ते—इत्यर्थात् कल्प्यते,—कटे
समासीनः कांस्यपात्रामोदनं निधाय भुंक्ते—इति ॥ (१।४।
१९ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामि—हृत्तौ मीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य
चतुर्थः पादः ॥ समाप्तोऽर्थः प्रथमाध्यायः ॥

द्वितीय अध्याये १ पादः ।



अथापूर्वस्याख्यातपदप्रतिपाद्यत्वाधिकारकम् ।

ख. भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो
विधीयते ॥ १ ॥ (सि०)

भा. प्रथमेऽध्याये प्रमाणलक्षणं वृत्तम्, तत्र विधेयवादान्तरस्युत्पत्त्य-
स्तत्त्वतो निर्णीताः, गुणविधिर्नामधेयञ्च परीक्षितं, सन्दिग्धा-
नामर्थानां वाक्यशेषादर्थाध्वसानमुक्तम्; तन्न प्रसक्तार्थम् ।
अनन्तरं प्रधानाप्रधानानि परीक्षिष्यन्ते, भिन्नान्यभिन्नानि च
—इति, एष एवार्था वर्णनीयो नान्यः, एष एव चाध्याय-
संबन्धः । तदिह षड्विधः कर्मभेदो वक्ष्यते,—शब्दान्तरं,
अभ्यासः, संख्या, गुणः, प्रक्रिया, नामधेयम्—इति वक्ष्यमान-
मनुसंकीर्त्यते; प्रदर्शितमुच्यमानं सुखं याहयिष्यते—इति
ओतुञ्च बुद्धिः समाधीयते, तदेतन्नानाकर्मलक्षणम्—इत्यध्याय-
माचक्षते, एतत्तात्पर्येण अतोऽन्यदुपोद्घातप्रसक्तानुप्रसक्तं च
—इति ।

तत्र प्रथमं तावदिदञ्चिन्तयते,—प्रथमेऽध्याये इदमुक्तम्,—
चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः—इति, चोदना च क्रियाया अभि-
धायकं वाक्यम्, वाक्ये च पदानामर्थाः, तत्र किं पदेन पदेन
धर्म उच्यते, उत सर्वैरेक एव?—इति । किं तावत्प्राप्तम्?—
प्रति पदं धर्मः—इति ।

एवं प्राप्ते उच्यते,—यदा एकस्मादपूर्वं, तदाऽन्यत् तदर्थं

भा. भविष्यति, एवमलपीवसी अदृष्टानुमानप्रसङ्गकल्पना भविष्यति ; तस्मादेकमपूर्वम् ।

यदा एकं, तदा सन्देहः—किं,—भावशब्देभ्यः, उत द्रव्यगुण-शब्देभ्यः?—इति । (कः पुनर्भावः? के ते पुनर्भावशब्दाः?—इति । यजतिददातिजुहोति—इत्येवमादयः । ‘ननु यागदानहोमशब्दाः एते, न भावशब्दाः’ । नैतदेवं,—यागादि-शब्दाश्च एते भावशब्दाश्च, यज्याश्चर्षश्चातोऽवगम्यते, भावयेत्—इति च (तथा यतेत, यथा किञ्चित् भवति—इति) ; तेनैते भावशब्दाः, द्रव्यगुणशब्देभ्यो द्रव्यगुणप्रत्ययो न भावनायाः । अतस्ते न भावशब्दाः—इति) । किं तावत्प्राप्तम्?—अविज्ञेयेण—इति ।

तत उच्यते,—भावार्थाः कर्मशब्दाः, तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत, यजेत—इत्येवमादिभ्यः । कुतः? । भावार्थत्वादेव ; य आहुः किमपि भावयेत्—इति, ते स्वर्गकामपदसंबन्धात् स्वर्गं भावयेत्—इति ब्रूयुः ; तस्मान्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत, फलस्य क्रिया करणं निष्पत्तिरिति ; ते च यागदानहोमसंबन्धाः स्वर्गस्योत्पत्तिं वदन्ति । कुतः? । एष अर्थो विधीयते, यथा, यागादिना स्वर्गकामः केन भावयेत् स्वर्गं?—यागादिना—इति ; यस्य च शब्दस्वार्थेन फलं साध्यते, तेनापूर्वं ह्यतवा, नान्यथा—इति, ततोऽपूर्वं गम्यते, अतो यः तस्य वाचकः शब्दः, ततोऽपूर्वं प्रतीयेत—इति ; तेन भावशब्दा अपूर्वस्य चोदकाः—इति ब्रूमः, नतु कश्चिच्छब्दः साक्षात्पूर्वस्य वाचकोऽस्ति ; भावार्थैः किमपि भावयितव्यं, स्वर्गकामस्य च केनापि भाव्यता—इति, तयोर्छ-ष्टाश्वदग्धरथवत् संप्रयोगः, यजेत—इत्येवमादयः साकाङ्क्षाः, —‘यजेत’ किं केन कथं?—इति ; ‘स्वर्गकामः’—इत्यनेन प्रयोजनेन निराकाङ्क्षाः ; नैवं द्रव्यगुणशब्दाः । तस्मात् भावार्थाः कर्मशब्दा अपूर्वं चोदयन्ति—इति । अथ ‘कस्मात् उभयं

भा. सूचितम्,—भावार्थाः कर्मशब्दाः—इति । उच्यते,—भवन्ति केचित् कर्मशब्दाः न भावार्थाः,—यथा, श्येनैकत्रिकादयः; केचित् भावार्थाः न कर्मशब्दाः,—यथा, भवनं भावो भूतिरिति । किं पुनरिहोदाहरणम् ? । 'श्येनेनाभिचरन् यजेत', 'चिषया यजेत पशुकामः'—इति; किं श्येनेनाभिचरन्, उत यजेताभिचरन्—इति? तथा चिषया पशुकामः, उत पशुकामो यजेत?—इति स्थिते एतस्मिन्नधिकरणे गुणविधिः, नामधेयम्—इति विचारो भविष्यति । तथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'—इति, दर्शः काशः, पूर्णमासः—इति च, किं ताभ्यां स्वर्गकामः, उत स्वर्गकामो यजेत?—इति, दर्शपूर्णमासाभ्यामिति च श्येनेनेति च चिषया—इति च नैते भाववचनाः; न च एषामर्थिना कश्चित्संबन्धोऽस्ति, विविभक्तिकत्वात् । तस्माच्च इत्यगुणशब्दा अपूर्वस्य विधायकाः—इति ॥ (सि०) ॥

स. सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत् ॥ २ ॥ (आ०)

भा. एवं चेत् भवान् पश्यति,—अ-भावशब्दत्वात् न इत्यगुणशब्दा अपूर्वस्य विधायकाः—इति, सर्वेषां भावोऽर्थः, स्वर्गकामो दर्श-पूर्णमासाभ्याम्—इत्येतयोः संबन्धं यजेत—इति वक्ष्यति, श्येनेन अभिचरन्—इत्येतयोश्च, तथा चिषया पशुकामः—इति; तस्मादेतेऽपि साकाङ्गत्वात् भाववचनाः; सर्वेषु भाववचनेषु नास्ति विनिगमनायां चेतुः,—कर्मशब्दा एवापूर्वस्य विधायकाः, न इत्यगुणशब्दाः—इति ॥ (आ०) ॥

स. येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि,
तस्मात्तेभ्यः पराकाङ्क्षा भूतत्वात् स्वे प्रयोगे ॥ ३ ॥
(आ० नि० १) ॥

भा. येषां शब्दानामुच्चारणोत्पत्तौ स्वे अर्थे प्रयुज्यमानानां रूप-

भा. मुपलभ्यते, यत् सल्लदुत्पन्नं कालान्तरन्तिष्ठति, न क्रियेवोत्पन्न-
मात्रं विनश्यति—इत्यर्थः; तानि नामानि, ते द्रव्यगुणशब्दाः,
ईदृशो द्रव्यगुणशब्दानामर्थः । ('ते द्रव्यगुणशब्दाः'—इति वक्तव्ये
“तानि नामानि”—इति सूचितम्, अतो नामानि—इति एषां
पर्यायशब्दः । कथं गम्यते ? । यत एषां विभक्तयो नामिक्य
उच्यन्ते । कतमास्ताः ? । वृक्षः वृक्षौ वृक्षाः, मुक्कः मुक्कौ
मुक्काः—इत्येवमादयः ; तस्मात् सम्यक् सूचितम्) । यत एषां
न क्षणिकोऽर्थः; ततः 'तेभ्यः पराकाङ्क्षा' प्रधानाकाङ्क्षा न
विद्यते—इति नैषां उत्पत्तिः कर्त्तव्या, 'भूतत्वात् स्वे प्रयोगे'
सप्रयोगकाले विद्यमानत्वात्—इत्यर्थः ॥ (आ० नि० १) ॥

ख. येषां तत्प्रत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते, तान्याख्या-
तानि ; तस्मात्तेभ्यः प्रतीयेताश्रितत्वात् प्रयोगस्य ॥

४ ॥ (आ० नि० २) ॥

भा. येषां तु शब्दानामुच्चारणोत्पत्तौ 'स्वे अर्थे प्रयोगो न विद्यते'
(प्रयोगकाले येषामर्थो नोपलभ्यते—इत्यर्थः); 'तान्याख्या-
तानि'—इति भावशब्दान् पर्यायशब्देनोपदिशति । कथं
पर्यायशब्दता भावशब्दानाम् ? । यत एषां विभक्तय आख्या-
तिक्यः—इत्युच्यन्ते । कतमास्ताः ? । पचति पचतः पचन्ति—
इत्येवमादयः । तस्मात्तेभ्योऽपूर्वं प्रतीयेत ; भव्यार्थास्ते भूतार्थैः
समुच्चरिताः ; भूतस्य भव्यार्थतायां दृष्टार्थता,—भव्यार्थस्य प्रयो-
जनवत् उत्पत्तिरर्थवती, सा च भूतेन क्रियते—इति दृष्टोऽर्थः ;
भव्यस्य पुनर्भतार्थतायां न किञ्चित् दृश्यते, कल्प्यतेचादृष्टम् ।
तस्मान्न यागो द्रव्यार्थः ।

किञ्च 'आश्रितत्वात् प्रयोगस्य' एतेषां प्रयोगः पुरुषेणाश्रितो
भवति, पुरुषसंबद्धा भावना उच्यते, पुरुषं हि वदति,—भावयेत्
—इति, तेन 'सर्गकामो यजेत'—इति पुरुषोऽपि प्रतीयते,

भा. यागोऽपि* संबन्धोऽपि; स्वर्गकामो द्रष्टेण—इति द्रष्टे प्रतीयते
 पुष्यस्य, न तु संबन्धः ॥ ननु 'एतदुक्तम् भवति, अर्थिनश्च द्रष्टव्यस्य
 च संबन्धं 'यजेत'—इति वक्ष्यति,—द्रष्टेण भावयेत्—इति;
 अतो द्रष्टेण अर्थस्य भावना गम्येत, आकाङ्क्षा च—इति ।
 सत्यं गम्यते,—द्रष्टेण भावयेत्—इति तु वाक्येन, यागेन भाव-
 येत्—इति तु श्रुत्या; यदा तु, यागेन भावायेत्—इति याग-
 संबन्धो विधीयते, न तदा, द्रष्टेण भावयेत्—इति द्रष्ट्यसंबन्धः;
 न च द्रष्ट्यसंबन्धे विधीयमाने यजेत—इत्यनेन संबन्धः; अनूद्य-
 भाने तु सम्भवति, न च, यौगपद्येन विध्यनुवादाौ सम्भवतः !
 तस्मात् श्रुतिवाक्ययोर्विरोधः, विरोधे च श्रुतिर्दलीयसी, तेना-
 र्थिना न द्रष्ट्यसंबन्धः; तच्च द्रष्ट्यमसति स्वर्गकामसंबन्धे स्वर्गार्थं
 भविष्यति—इत्यनुपपन्नम्, एष विनिगमनायां हेतुः, येन
 भावशब्दा एवापूर्वस्य चोदकाः, न द्रष्ट्यगुणशब्दाः—इति, यदा,
 यागेन कुर्यात्—इति, तदा, यागवचनमेव भवति; दर्शपूर्ण-
 साभ्याम्—इति लक्षणया, दर्शं च पूर्णमासे च यागो विहितः
 —इति ॥ (आ० नि० २) । (२।१।१ अ०) ॥

अथ अपूर्वस्यास्तित्ताधिकारकम् ।

कथं पुनरिदमवगम्यते? अस्ति तदपूर्वम्—इति । उच्यते

स. चोदना पुनरारम्भः ॥ ५ ॥

भा. चोदनेत्यपूर्वं ब्रूमः,—अपूर्वं पुनरस्ति, यत आरम्भः शिष्य-
 ते,—स्वर्गकामो यजेत—इति, इतरथा हि विधानं अनर्थकं
 स्यात्, भङ्गित्वात् यागस्य, यदि अन्यदनुत्पाद्य यागो विनश्येत,

* 'पुष्योऽपि प्रसोमोऽपि' इति का० सं० पु० ।

भा. फलं असति निमित्ते न स्यात् ! तस्मात् उत्पादयति—इति ।
 'यदि पुनः फलवचनसामर्थ्यात्तदेव न विनश्यति—इति कल्प्यते' ।
 नैवं ब्रह्मम्,—न हि कर्मणोऽन्यत् रूपमुपलभामहे, यत्
 आश्रयं देज्ञान्तरं प्रापयति, तत् कर्मेत्युच्यते, न तत् आत्मनि
 समवेतं, सर्वगतत्वादात्मनः, सर्वत्र कार्योपलम्भः सर्वत्र भावे
 लिङ्गम्, नतु तदेव देज्ञान्तरादागमनस्य, न हि असति आगमन
 किञ्चिद्विषयं दृश्यते ; यत्र समवेतमासीत्, तद्दिनष्टं द्रव्यं, तस्य
 विनाशान्तदपि विनष्टम्—इत्यवगम्यते । आश्रयोऽप्यविनष्टः
 —इति चेत् । न, भस्मोपलम्भनात् । सत्यपि भस्मन्यस्ति
 —इति चेत् । न विद्यमानोपलम्भनेऽपि अदर्शनात् । फलक्रिया
 लिङ्गम्—इति चेत् । एवं सत्यदर्शने समाधिर्वक्तव्यः । सौष्टवा-
 दीनामन्यतमत् भविष्यति—इति यदि चिन्त्यते, कल्पितमेवं
 सति किञ्चित् भवति—इति । 'तत्रापूरुषं वा कल्प्येत, तदा ?—
 इति । अविशेषकल्पनायामस्ति हेतुः, न विशिष्टकल्पनायाम् ।
 अनाश्रितं कर्म भविष्यति—इति चेत् । तदपि तादृशमेव ।
 स्वभावान्तरकल्पनेन देज्ञान्तरं न प्रापयिष्यति—इति । तादृश-
 मेव । तस्मात् भङ्गी यजिः, तस्य भङ्गित्वात् अपूर्वमस्ति—इति ॥
 किं चिन्तायाः प्रयोजनम् ? । यदि द्रव्यगुणशब्दाः अप्यपूरुषं
 चोदयन्ति, द्रव्यगुणापचारे न प्रतिनिधिरूपादातयः, यथा तर्हि
 पूर्वः पक्षः ; यथा तर्हि सिद्धान्तः, द्रव्यं गुणं वा प्रतिनिधाय
 प्रयोगोऽनुष्ठातयः—इति ॥ (२ । १ । २ अ०) ॥

अथ कर्मणां गुणप्रधानभावविभागाधिकरणम् ।

स. तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि ॥ ६ ॥

भा. अवगतमेतत्,—भावशब्दाः कर्मणो वाचकाः—इति, वङ्ग-
 प्रकाराश्च भावशब्दाः,—यजति, जुहोति, ददाति—इति, एव-

भा. अकाराः,—दोग्धि, पिनष्टि, विलापयति—इत्येवमादयश्च ;
तेषु सन्देहः,—किं सर्वे प्रधानकर्मणो विधायकाः, उत केचित्
संस्कारकर्मणः?—इति । भावार्थत्वाविशेषात् सर्वे प्रधानकर्मणो
वाचकाः—इति प्राप्तं ; ततो ब्रूमः,—तानि द्वैधं भवितुमर्हन्तीति
द्विप्रकाराणि,—कानिचित् प्रधानकर्मणो वाचकानि, कानिचित्
संस्कारकर्मणः ; एवमपि सर्वाण्यर्थवन्ति, अर्थवत्त्वे सति सर्वेभ्यः
न ब्रह्मपूर्वं कल्पयितुम् । अतो न सर्वाणि प्रधानकर्मणो
वाचकानि ॥

अथ प्रधानकर्मणश्चक्षम् ।

ख. यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते, तानि प्रधानभूतानि, द्रव्यस्य
गुणभूतत्वात् ॥ ७ ॥

भा. 'एवं सति अल्पीयसी अदृष्टकल्पना न्याय्या, न तु विनि-
गमनायां हेतुरवगच्छामः,—कुतोऽपूर्वम्, कुतो न'—इति ।
तदुच्यते,—यैर्भावकर्मभिर्न द्रव्यं संस्कर्तुमिष्यते, उत्पादयितुम्
वा, तानि प्रधानभूतानि (प्रधानकर्मणो वाचकानि), द्रव्यस्य
गुणभूतत्वात् ; द्रव्यं हि गुणभूतं, कर्मनिर्दिष्टेरीप्सिततमत्वात् ॥

अथ गुणकर्मणश्चक्षम् ।

ख. यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत, तस्य द्रव्य-
प्रधानत्वात् ॥ ८ ॥

भा. यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते, गुणः तत्र प्रतीयेत कर्म । कुतः?।
तस्य द्रव्यप्रधानत्वात् । प्रत्यक्षं 'यजेत'—इत्येवमादिभिर्द्रव्यं न
चिकीर्ष्यते, तस्मात्तानि प्रधानकर्मणो वाचकानि, द्रव्यस्य गुण-
भूतत्वात् ; पिनष्टि—इत्येवमादिभिर्द्रव्यं संस्क्रियते, तस्मात्तानि

भा. गुणकर्मवचनानि ; एष एव विनिगमनायां हेतुः ॥ प्रयोजनम्
पूर्वस्मिन् पक्षे प्रियङ्गवेऽपि चरौ व्रीहय उत्पाद्या अवघातार्थ-
त्वेन ; सिद्धान्ते नोत्पाद्याः ॥ (२ । १ । ३ अ०) ॥

अथ संमार्जनादीनामप्रधानताधिकारणम् ॥

सू. धर्ममात्रे तु कर्म स्यादनिर्णयः प्रयाजवत् ॥ ९ ॥ (पू० १)

भा. 'सुचः संमार्ष्टि, अग्निं संमार्ष्टि, परिधिं संमार्ष्टि, पुरोडाशं
पर्यग्निकरोति'—इति श्रूयते ; तत्र सन्देहः,—किं पर्यग्निकरणं,
संमार्जनं च प्रधानकर्म उत गुणकर्म?—इति । किं तावत्
प्राप्तम् ? । तत उच्यते,—कर्ममात्रं एवंजातीयकं अपर्याप्तं यत्
प्रयोजनस्य दृष्टस्य, तद्धर्ममात्रम्—इति ब्रूमः ; तत्र प्रधानकर्मत्वं
स्यात् । कस्मात् ? । अनिर्णयपकारस्य, न हि एवंजातीयकं
द्रव्यस्थोपकारकं, द्रव्यं त्वेवंजातीयकं अभिनिर्वर्त्तयद्गुणभूतं ;
तस्य गुणभूतत्वादिदं प्रधानभूतम् ॥ (पू० १) ॥

सू. तुल्यश्रुतित्वाद्वा इतरैः सधर्मः स्यात् ॥ १० ॥ (सि०)

भा. वाङ्मदः पक्षं व्यावर्त्तयति । इतरैर्गुणकर्मभिः सधर्मः स्यादेवं-
जातीयकः, यथा व्रीहिनवहन्ति, तथा । कुतः ? । तुल्यश्रुतित्वात्,
तुल्या हि द्वितीया श्रुतिरेषां द्रव्येषु,—यथा 'व्रीहिनवहन्ति'
—इति, एवम् 'अग्निं संमार्ष्टि, पुरोडाशं पर्यग्निकरोति'—इति ।
'किं गुणकर्मणि 'द्रव्ये द्वितीया दृष्टा'—इति ? यतो द्वितीया-
दर्शनादिहापि सामान्यतो दृष्टेन गुणकर्मता । नेति ब्रूमः,—
द्वितीया विभक्तिः कर्त्तुरीप्सिततमे स्मर्यते, सा चेह द्वितीया
विभक्तिः, तत एव तदीप्सिततममिति गम्यते, तच्चेदीप्सिततमं,
कर्म गुणभूतम् । यद्यपि प्रत्यक्षादिभिर्गुणभावो न गम्यते,

भा. प्रमाणान्तरेण शब्देन गम्यते, तस्माद्गुणभूतमेवंजातीयकम्—
इति ॥ (सि०) ॥

स. द्रव्योपदेश इति चेत् ॥ ११ ॥ (उ. १०)

भा. इति चेत् पश्यसि,—द्वितीयादर्शनात् प्रधानभूतमत्र इत्य-
मिति; नैतदेवं, गुणभूतेऽपि द्वितीया भवति, तथाहि दृश्यते,—
'सक्तून् जुहोति, मासतं जुहोति, एककपालं जुहोति'—इति ॥
(आ०) ॥

स. न, तदर्थत्वात् लोकवत्तस्य च शेषभूतत्वात् ॥ १२ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. न गुणभूतेऽपि द्वितीया, एवं हि अभियुक्ता उपदिशन्ति,—
'कर्मणि द्वितीया (२ । ३ । २ । पा०), कर्तुरीप्सिततमं कर्म'
(१ । ४ । ४९ । पा०)—इति, न च लोके गुणभूते क्वचित्
द्वितीयां पन्थामः । यदपि च तण्डुलानोदनं पचेति,
ओदनाथं तण्डुलान् संस्क्रुष—इति ईप्सिता एव तण्डुलाः;
बल्वजान् त्रिखण्डकान् कुर्विति, बल्वजा एव तेनाकारेण
संबद्धा ईप्सिताः—इति तथाभिप्रायः; लौकिकस्य प्रयोगः
शब्दार्थपरिच्छेदे हेतुर्न वैदिकः । यत्तु लौकिके जुहोतीति—
प्रयोगे द्वितीया, शक्यते तत्र वक्तुमीप्सिततमे एव स प्रयोगः—
इति, तण्डुलानद्य जुह्वधि, तण्डुलानद्य हीमेन संबन्धय—इति
लोके भवति हि बहुप्रकारा विवक्षा; अन्यायश्चानेकार्थत्वं,
तेन प्रधानभावेन सिद्धा सती द्वितीया गुणभावेन कल्प्यते ।
'वेदे तु कथं द्वितीयानिर्दिष्टे गुणभावः—इति' । द्वितीया-
निर्देशात् प्राधान्यमेवावगच्छामः, एवमवगते प्राधान्ये बलीय-
सा हेतुना नास्ति प्राधान्यम्—इत्यवगम्यते । कुतः ? । न
होमस्य केनचित् प्रकारेण सत्कथंतावकल्प्यते कुतः ? । सक्तूनां

भा. निष्प्रयोजनत्वात्, न सक्तूनामन्यत्प्रयोजनं दृश्यते श्रूयते वा, यदि वा होमस्तदर्थो होमोऽपि निष्प्रयोजनः, अथारादुपकारको होमः, ततः प्रयोजनवान्, ज्योतिष्टोमप्रकरणे पाठात् गम्यते प्रयोजनवत्ता, नाप्रयोजनः—इति ब्रह्मते वक्तुम्, प्रयोगवचनेन हि स आकाङ्क्षते । 'ननु सक्तूनामपि प्रकरणपाठात्प्रयोजनवत्त्वं भविष्यति' । को वा ब्रूते न—इति, प्रयोजनवत्तैव, प्रयोजनवत्त्वन्तु होममभिनिर्वर्त्तयताम्, नान्येन प्रकारेण । 'ननु तेऽपि प्रयोगवचनेनाकाङ्क्षन्ते' । तदुच्यते, न द्रव्यं तेनाकाङ्क्षते, इति-कर्त्तव्यतां हि स आकाङ्क्षति, होमश्च इतिकर्त्तव्यता, न द्रव्यं । 'ननु होमे ह्यते सक्तुभ्योऽदृष्टं निष्पत्स्यते' । नास्त्यत्र प्रमाणम् 'ननु द्वितीया विभक्तिः प्रमाणम्' । न हि द्वितीया विभक्तिर्होमस्य सत्कथ्यताम् ज्ञापयति । 'न सक्तवः प्रयोजनवन्तः—इति भवेत् होमः सत्कथ्यः, होमसंबन्धाः सक्तवः स्युरिति, भवन्ति होमे ह्यते सक्तवो होमसंबन्धाः' । न होमस्य सत्कथ्यता निष्प्रयोजनेषु सक्तुषु घटते, सत्कथ्यतावचनन्तु न पुरुषस्योपकारकं न क्रतोः, तदनर्थकमेव स्यात्! यतो न तदचनाव्यवमन्यतरत् कल्पयितुम् । स एष द्वितीयान्तः सक्तूनां होमस्य च संबन्धं करोति, संबन्धे च सति द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसंबन्धः—इति भूतत्वात्, गुणभावे च तृतीया, तेनोच्यते,—तृतीयायाः स्थाने द्वितीया—इति, तेन 'तदर्थत्वात्' होमार्थत्वात् सक्तूनां न प्राधान्यं द्वितीयासंयोगेऽपि । एवं सत्यर्थवदचनम्, न चार्थवत्त्वे सति आनर्थक्यम्—इत्युच्यते । 'तस्य च' पुरोडाशादेर्यागादिषु शेषभावः, तेन प्रयोजनवन्तः, तत्र संस्कारो नानर्थकः । न स दृष्टोपकाराय—इति चेत् । अदृष्टार्थो भविष्यति, अदृष्टोऽपि संस्कारोऽस्ति—इति अवगम्यते लोके, यथा ग्रामान्तरादागतानां पुरुषाणां पयम्निकरणेनादृष्ट उपकारः क्रियते इत्युच्यते ; लोके च नानुपपत्तिः ।

भा. प्रयोजनं च वक्ष्यप्रकाशेषु श्रूयते, 'ब्रमीमव्यः बुधो भवन्ति
 हिरण्ययो वा'—इति, प्रकृतौ नानादृशबुधसम्मार्गसाध्यम-
 पूर्वम्—इति, नानादृशबुध उत्पादयितव्याः समार्गार्थत्वेन
 यथा पूर्वपक्षः; यथा तर्हि सिद्धान्तः, 'ब्रमीमव्य एव हि
 हिरण्ययो वा समार्थव्याः। तथा यत्र बाणवन्तः परिधय-
 स्तथापि पालाशा उत्पादयितव्याः पूर्वपक्षे; सिद्धान्ते बाणवन्त
 एव समार्थव्याः। अथभूथे च पूर्वपक्षे उत्पादयितव्योऽग्निः
 सम्मार्गाय, सिद्धान्ते चापः समार्जनीयाः। तथा 'षट्त्रिंशत्-
 संवत्सरेतरसमयाः पुरोडाशाः सवनीयाः'—इति श्रूयते;
 तथापि पिष्टमयः पुरोडाश उत्पादयितव्यः पर्यग्निकरणार्थत्वेन
 पूर्वपक्षे, सिद्धान्ते मांसमया एव पर्यग्निकर्तव्याः—इति ॥ (आ०
 नि०) (२।१।४ अ०) ॥

स्तोत्रादिप्राधान्याधिकारश्चम् ।

स स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो याज्यावहेवताभिधान-
 त्वात् ॥ १३ ॥ (पू०)

भा. 'प्रउगं ब्रंसति, निष्केवस्यं ब्रंसति,* आञ्जैस्तुवते, पृष्ठैस्तुवते'
 —इति गुणवचनं स्तवनं ब्रंसनञ्च, यथा 'इन्द्रस्य तु वीर्याणि
 प्रवोचम्'—इति, यदेतद्गुणवचनं श्रूयते, किमेतद्गुणभूतं देवतां
 प्रति, उत प्रधानम्?—इति; तत्रोच्यते,—स्तुतशस्त्रे संस्कार-
 कर्मणी—इति। कुतः?। देवताभिधानत्वात्, गुणवचने निर्वर्तय-
 माने गुणिनी देवता संकीर्तयते, नान्यथा तद्गुणवचनं भवति,
 तत्र प्रत्यक्षं देवताभिधानं गम्यते, देवताप्रकाशनेन च प्रत्यक्ष

* प्रउगनिष्केवस्यशब्दौ शस्त्रविशेषनामनी, अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः
 शस्त्रं, प्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः स्तोत्रमिति माधवः ॥

भा. उपकारो थागसिद्धिः । तस्मात् संस्कारकर्मणी याज्यावत्, यथा 'याज्यामन्वाह, पुरोमुवाक्यामन्वाह'—इति स्तुतिवचनं देवताप्रकाशनेनार्थवत्, तददेतदपि—इति ॥ (पू०) ॥

सू. अर्थेन त्वपकृष्येत देवतानामचोदनार्थस्य गुणभूत-
त्वात् ॥ १४ ॥ (सि०)

भा. यदि संस्कारकर्मणी एव स्तोत्रश्लोके, अर्थेनापकृष्येत देवता-
नाम्नश्चोदनार्थस्य गुणभूतत्वात्, देवतार्थस्य गुणभूतो मन्त्र
—इति तत्प्रधानभावे यत्र प्रधानं तत्र नीयेत, तत्र क्रमसन्निधी
उपरुध्येयातां ; तस्मादेव दुष्टः पक्षः—इति पर्युदसित्तयः ।
कतमः पुनरसौ मन्त्रः ? । अभित्वा श्रुतेत्यैन्द्रः प्रगाथो माहेन्द्रस्य
ग्रहयजेः सन्निधावाग्नातो यत्र इन्द्रस्तथापकृष्येत ॥ (सि०) ॥

सू. वशावद्वा गुणार्थं स्यात् ॥ १५ ॥ (आ०)

भा. न पर्युदसिष्यामः इमं पक्षं, संस्कारकर्मणी एव स्तोत्रश्लोके,
देवताभिधानत्वादेव, यत्तूक्तं,—प्रगाथस्योत्कर्षः—इति, तन्न,
इन्द्रशब्देन महेन्द्रोऽभिधायिष्यते, स एवैन्द्रो महत्त्वेन गुणेन
महेन्द्र इत्युच्यते, प्रत्यक्षं हि इन्द्रशब्दं देवतावचनमुपलभामहे,
महत्त्ववचनं च महच्छब्दं, यथा राजा महाराजः, ब्राह्मणो
महाराह्मणः—इति, वशावत्,—यथा 'सा वा एवा सर्वदेवत्या
यद्जावशा, वायव्यामालभेत'—इत्यजावशाशब्देन चोदिते
कर्मणि छागशब्देन निगमा भवन्ति, तदस्वगुणे चोदिते निर्गुणे-
नाभिधानं भविष्यति ; तेन न भविष्यत्युत्कर्षः—इति ॥
(आ०) ॥

सू. न, श्रुतिसमवायित्वात् ॥ १६ ॥ (नि०)

भा. नैतदेव, इन्द्रोऽस्य ग्रहस्य देवतेति तद्धितसंयोगेन विज्ञायेत,

भा. न चास्य महत्त्वमपेक्षमाणस्य तद्धितसंयोग उपपद्यते, तद्धित-
संयोगापेक्षस्य वा महत्त्वसंबन्धात्समासकस्यना ! न च
तद्धितार्थे वृत्तस्य महत्त्वसंबन्धः, न च समासार्थे वृत्तस्य
तद्धितसंबन्धः ! न चास्मिन्नेव प्रयोगे समासार्थे वृत्तिरिष्यते,
एतस्मिन्नेव तद्धितार्थे ! न चायमिन्द्रशब्दोऽविहितवत्स्वार्थं तद्धि-
तार्थेन संबधेत, विहितवच्च परार्थं महत्त्वेन संबद्धमनूद्येत !
विस्पष्टस्यायमन्योऽर्थो महेन्द्रो भवति,—महानिन्द्रो भवतीति
महेन्द्रः, अन्यश्चेन्द्रो हविषो देवता भवतीति सद्गदुष्कारणे च
नोभयं शक्येत ! तस्मात्तेन्द्रो देवता महत्त्वविशिष्टः, महेन्द्र-
शब्दात्तु तद्धित उत्पन्नः, तस्मात्तत्प्रातिपदिकमर्थवदिति गम्यते,
न त्ववयवसंबन्धेन ; तस्माद्देवतान्तरमिन्द्रान्महेन्द्रः, तेनैन्द्रस्य
प्रगाथस्योत्कर्षः प्राप्नोति, अतः पर्युदसितथः एष पक्षः ।
यदप्युच्यते,—इन्द्रस्य वृषवधोत्तरकालं महेन्द्रत्वं दर्शयति,
'महान् वायमभूत् यो वृषमवधीत्'—इति, तथा वेदस्यादि-
मत्तादोषः प्रसज्येत अतोऽन्य इन्द्रो महेन्द्रात् ॥ (नि०) ॥

स. व्यपदेशभेदाच्च* ॥ १७ ॥ (यु० १)

भा. व्यपदेशभेदश्च भवति, 'बहुदुग्धीन्द्राय देवेभ्यो हविः'—इति,
'बहुदुग्धि महेन्द्राय देवेभ्यो हविः'—इति, अतोऽपि देवता-
न्तरम्, एकदेवतात्वे मन्त्रविकल्पः स्यात् ॥ (यु० १) ॥

स. गुणश्चानर्थकः स्यात् ॥ १८ ॥ (यु० २)

भा. यदा विधिशब्दादवगतमेतद्भवति,—इन्द्रो देवतेति, तदाऽस्य
गुणान्वाख्यानं किं प्रयोजनं, महत्त्वं नाम इन्द्रस्य गुणो भवति
—इति देवताभिधानं । कथं तस्यै देवतायै दीयते?—इति ।

* क्वचित् व्यपदेशाच्चेति सूत्रम् ।

भा. गुणेऽपि हि विहिते सति तस्यै एव देवतायै हीयते, अविहिते-
ऽपि; तस्माद्गुणविधानमनर्थकम् । अथोच्यते,—‘योगिन् यद्दे-
हन्ः स महान्’—इति । नैवं,—यद्देहसम्बन्धस्याप्रसिद्धत्वात्
विशेषणं नात्र कल्प्यते, गुणसम्बन्धस्य चाप्रसिद्धत्वात् गुणेन
विशेषणमनवकृतम्; तस्मादपि देवतान्तरम् ॥ (यु० २) ॥

स. तथा याज्यापुरोक्तोः ॥ १९ ॥ (यु० ३)

भा. एवं सति वाज्यापुरोनुवाक्ययोर्भेदेन दर्शनमुपपद्यते, ‘एन्द्र-
वानसि रयिम्’—इत्यैन्द्रयाज्यापुरोनुवाक्यादयं, ‘महान् इन्द्रो
य ओजवा’—इति भेदेन माहेन्द्रं दर्शयति, तदेकत्वे विकल्प्येत ।
तत्र, पक्षे बाधः स्यात् ॥ (यु० ३) ॥

स. वशायामर्थसमवायात् ॥ २० ॥ (उप०)

भा. यदुक्तम्,—अत्रावशाशब्देन चोहिते कर्मणि हागशब्देन निगमा
भवन्ति—इति, तत् युक्तम्, वशायामर्थसमवायित्वं वयं प्रत्यक्ष-
मवगच्छामः, ‘हागस्य वषावा मेदसोऽनुब्रूहि’—इति चैव वशा
सैव हागेति । तस्मात् प्रगाद्यस्योत्कर्षः संस्कारपक्षे, अतः
प्रधानकर्मणी—इति ॥ (उप०) ॥

स. यचेति वाऽर्थवत्त्वात् स्यात् ॥ २१ ॥ (आ०)

भा. वाशब्दः पक्षं स्थावर्त्तयति, संस्कारकर्मणी एव स्तोत्रशब्दे,
यचेतत्,—प्रगाद्यस्योत्कर्षः—इति, उत्प्लाव्यतां यत्र इन्द्रस्तत्र
प्रगाद्यः, लिङ्गेन हि क्रमसन्निधी बाधितयौ एव ॥ (आ०) ॥

स. न त्वाम्नातेषु ॥ २२ ॥ (आ० नि०)

भा. अपरेषां मन्त्रानामुत्प्लावनामन्वचार्यवत्ता नास्ति, तेषा-
मानर्थक्यं स्यात्, यथा, याम्याः शंसन्ति, श्रुपिविष्टवतीं पितु-

देवत्यां आग्निमासते*, कुषुम्भकसूक्तं, अक्षसूक्तं, मूषिकासूक्त-
मित्येवमादीनाम् ॥ (आ० नि०) ॥

स. दृश्यते ॥ २३ ॥ (आ०)

भा. तदुच्यते,—सर्वेषामर्थवत्ताऽस्ति, मण्डूकसूक्तस्याग्नी, अक्ष-
सूक्तस्य राजसूये, मूषिकासूक्तस्यैकादशिन्यां, सर्वेषां वाचस्तोमे,
'सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि वाचस्तोमे,
पारिप्लवं अश्वमेधे शंसति'—इति, तथा 'यस्याश्विने शस्यमाने
सूर्यो नोदियादपि सर्वा दाशतथीरनुब्रूयात्'—इति, तस्माद्-
स्त्यर्थवत्ता उत्पद्यमाना; अतः संस्कारकर्मणी स्तोत्रश्रद्धे—
इति ॥ (आ०) ॥

स. अपि वा श्रुतिसंयोगात्प्रकरणे स्तौतिशंसती क्रियोत्-
पत्तिं विदध्याताम् ॥ २४ ॥ (आ० नि०)

भा. अपि वा प्रधानकर्मणी स्तोत्रश्रद्धे स्यातां । कुतः?। श्रुति-
संयोगात्, सप्तमीश्रुतिसंयोगो हि भवति, 'कवतीषु स्तुवते,
त्रिपिविष्टवतीषु स्तुवते'—इति, यदि स्तुतिः, ततः कवत्यक्षरेषु
आहिता; यदि प्रकाशनं, ततो देवतायां, तत्र करणकृत्य-
स्तृतीयया अश्रोत्र्यं, न सप्तम्या ।

अपि च, श्रुतिसंयोगो भवति,—'प्रसंगं शंसति, निष्केश्यं
शंसति'—इति; अतः स्तुतिरभिनिर्वर्त्तयित्वा तेन मन्त्रेण,
गुणवचनः शब्दः स्तुतिनिवर्त्तनार्थोऽदृष्टमर्थं करिष्यति; तस्मात्
प्रधानकर्मणी ।

* 'याम्याः शंसति, त्रिपिविष्टवतीः शंसति, पितृदेवत्याः शंसति,
अग्निमासते' इत्यपि क्वचित् पाठः ।

भा. अपि च, श्रुतिसंयोगो भवति (षष्ठीविभक्तिसंयोगः), यथा 'इन्द्रस्य तु वीर्याणि प्रवोचम्'—इति; तेन देवताशब्दः स्तुति-संबन्धार्थं इत्युच्यते, देवताभिधानार्थं प्रातिपदिकार्थत्वात्प्रथमा स्यात्। 'अथ यत्प्रथमान्तं, तद्देवतार्थं भवितुमर्हति, यथा, इन्द्रो यातो वसितस्य राजेति'। नेत्युच्यते, तदपि वाक्यसंयो-गात् स्तुत्यर्थमेव। 'ननु वाक्याच्छिङ्गं बलीयः'। सत्यम्, एतदपि लिङ्गं, यत् स्तुतिवाक्यस्य साकाङ्क्षस्य निराकाङ्क्षीकरणसामर्थ्यं। 'तथाप्युभयथा लिङ्गेऽनुगृह्यमाणे कुतो निर्णयः?'। वाक्य-श्लेषादेव न देवताभिधानार्थः—इति; देवताभिधानार्थं इत्ये-तस्मिन् पक्षे स्तुत्यर्थं साकाङ्क्षवचनमनर्थकमेव स्यात्। तस्मात् अदृष्टार्थत्वात् स्तुतिवचनस्य प्रधानकर्मणी स्तोत्रश्लेषे।

अपिच, स्तौतिशंसतीति साक्षाद्गुणवचनौ लक्षणया अभि-धानार्थौ स्यातां, तस्मात् क्रियोत्पत्तिं (अपूर्वोत्पत्तिं) विदधा-तामिति। (आ० नि०) ॥

स. शब्दपृथक्त्वाच्च ॥ २५ ॥ (यु० १)

भा. शब्देन पृथक्त्वमेव गम्यते,—'हादशस्तोत्रश्लेषोऽग्निष्टोमः', इतरथा हि हादशत्वं न स्यात्। स्तोत्राणां श्लेषाणां च एकमेव शंसनं स्तवनं च, अथ भेद आश्रीयते, ततो न हादशत्वेऽव-तिष्ठते ॥ (यु० १) ॥

स. अनर्थकं च तद्वचनम् ॥ २६ ॥ (यु० २)

भा. अग्निष्टुति श्रूयते,—'आग्नेया यद्वा भवन्ति'—इति, तच्च पुन-रुच्यते, आग्नेयीषु स्तुवन्ति, आग्नेयीषु शंसन्ति—इति, तच्च विधातव्यमेव यदि संस्कारकर्म; तस्मादपि प्रधानकर्मणी—इति ॥ (यु० २) ॥

स. अन्यश्चार्थः प्रतीयते ॥ २७ ॥ (यु० ३)

भा. 'संबद्धे वै स्तोत्रब्रह्मे वा'—इति, यद्यन्यत्स्तोत्रमन्यच्छब्दं, तत-
स्तयोः संबन्धः; यदि वा अपूर्ववचने ततोऽन्यत्स्तोत्रमन्यच्छब्दं,
इतरथा यदेव स्तोत्रं तदेव ब्रह्मं स्यात् ॥ (यु० ३) ॥

स. अभिधानं च कर्मवत् ॥ २८ ॥ (यु० ४)

भा. प्रधानकर्मण इव चाभिधानं भवति द्वितीयासंयोगेन,—प्रउगं
ब्रंसतीति निष्क्रेवस्यं ब्रंसतीति ॥ (यु० ४) ॥

स. फलनिर्दृष्टिश्च ॥ २९ ॥ (यु० ५)

भा. फलनिर्दृष्टिदर्शनं च भवति,—स्तुतस्य स्तुतमधीत्येवमादि,
'इन्द्रवन्तो मनेमहि मञ्जीमहि प्रजामिषं सा मे सत्याधीर्यश्चस्य
भूयात्'—इति स्तोत्रफलमनूद्यते, न देवतायाः; तस्मात्प्रधान-
कर्मणी स्तोत्रब्रह्मे ॥ अन्यत्र सूत्रवद्दं प्रयोजनं, द्रव्यमेऽध्याये
यद्वाणां देवतान्यत्वे स्तुतब्रह्मयोः प्रधानकर्मत्वाद्दधिकारः
स्यात् ॥ (२।१।५ अ०) ॥

अथ मन्वाविधावकत्वाधिकारवत् ।

स. विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्दात् ॥ ३० ॥ (पू०)

भा. इदं समाग्नयते,—'न ता नन्नन्ति, न दभाति, तस्कारो
नासाम् आ मिषोषथिर्था दधर्षति । देवांस्य चाभिर्यजते,
इदाति च उद्योग इत्ताभिः स च ते गोपतिः सङ्घ'—इति; यजते
इदातीत्युदाहरणम्, किं यद्द्राक्षणे भावब्रह्मो विधावकस्तदत्
मद्येऽपि, उत मद्येऽभिधायकः ?—इति । किं तावत्प्राप्तम्,—विधौ
मद्ये चाग्नयमानस्य भावब्रह्मस्य एक एवार्थः स्यात्, ऐक-

ब्रह्मात्, स एवायमेकः ब्रह्मो ब्राह्मणगतो विधास्यति, मद्यगतो न ब्रह्मोनि विधातुमित्यनुपपन्नं, तस्मात् विधायकः ॥ (पू०) ॥

स. अपि वा प्रयोगसामर्थ्यात् मन्त्रोऽभिधानवचनी
स्यात् ॥ ३१ ॥ (सि०)

भा. अपि वा—इति षष्ठो धावर्त्तयते, एवंजातीयको मद्यो अभि-
धानवचनः स्यात्, प्रयोगसामर्थ्यात्, प्रयोगे क्रियमाणे अस्य
सामर्थ्यं विद्यते, गोदानं गोयागञ्च प्रस्थापयितुम्, न विधातुम् ।
कुत ? । विहितत्वात् गोदानस्य दक्षिणाभिधाने, गोयागस्य
त्वनुबन्धनायां । कर्मान्तरं भविष्यति—इति चेत् । न, असह-
द्व्युत्तरमाने तत्प्रत्ययादेव । स्तुत्यर्थकल्पनायामभ्यानर्थवत्वं,
परिसमाप्तेन सार्थवाद्केन वाक्येन विहितत्वात् यागस्य ।
तस्माच्च मद्यगतो भावब्रह्म एवंजातीयको विधायकः—इति ॥
(२।१।६ अ०) ॥

अथ मद्यनिर्वचनाधिकारश्चम् ।

स. तद्योदकेषु मन्त्राख्या ॥ ३२ ॥

भा. मद्यगतो भावब्रह्मो विधायको न—इति परीक्षितं । कोऽर्थ
मद्यो नाम ?—इति उच्यते । (अज्ञाते मद्ये तद्गतो भावब्रह्मः
कथं विचारितः ?—इति, इदमर्थतोऽधिकरणम् पूर्वं द्रष्टव्यं ।)
कथं लक्षणो मद्यः ?—इति, तद्योदकेषु मद्याख्या, अभिधानस्य
योदकेष्वेवंजातीयकेष्वभियुक्ता उपदिशन्ति,—मद्यानधोमद्ये,
मद्यानध्यापयामः, मद्या वर्त्तते—इति । प्राथिकमिदं लक्षणं,
अनभिधायका अपि केचित् मद्या इत्युच्यन्ते, यथा 'वसन्ताय
कपिञ्जलानालभते'—इति, न ब्रह्मं पृष्ठाकोटेन तत्र तद्योप-
देष्टुमिति लक्षणमुक्तम्, [“अथयोऽपि पदार्थानां नामं यान्ति

पृथक्कृतः। लक्षणेन तु सिद्धानामनं यान्ति विपश्चितः”]। उदा-
हरणम्,—‘मेधोऽसि’—इत्येवमादयोऽस्यन्ताः, ‘इषे त्वा’—
इत्येवमादयस्त्वान्ताः, ‘आयुर्दा असि’—इत्याशीः, ‘अग्निर्मूर्धा’
—इति स्तुतिः, सङ्घा ‘एको मम’—इति, प्रलपितं ‘अस्यो ते
इन्द्रपिङ्गले दुलेरिव’—इति, परिवेदनं ‘अम्बे अम्बिके’—इति,
मैषः ‘अग्नीद्भीन्’—इति, अश्वेषणं ‘कोऽसि कतमो सि’—इति,
पुष्टं ‘पृष्ठामि त्वा’—इति, आस्थानं ‘इयं वेदिः’—इति,
अनुषङ्गः ‘अच्छिद्रेण पवित्रेण’—इति, प्रयोगः ‘चैख्यं चातु-
ख्यं च’, सामर्थ्यमभिधानम्, तच्चैतद्वृत्तिकारेणोदाहरणोपदेशे-
नास्थातम्। एतदपि प्रायिकमेव, अस्मिन्था अपि च मयाः
भवन्ति,—‘इन्द्रश्चासि वन्द्यश्च वाजिन’—इति, त्वामधाश्च
‘तरवा यामि’—इति। आशीर्वाङ्मणमपि, ‘सोऽकामयत प्रजाः
सृजेय’—इति, स्तुतिरपि ‘वायुर्वै ज्येष्ठा देवता’—इति,
प्रलापो ‘नचैतद्विद्मो यदि ब्राह्मणा वा स्योऽब्राह्मणा स्यो वा’
—इति, परिदेवनम् ‘ये मामधुक्षन्त ते मां प्रत्यमुक्षन्त’—
इति, मैषः ‘अमुतः सीममाहर’—इति, अश्वेषणम् ‘इह वा
स इह वा’—इति, प्रश्नः ‘वेद कर्णवतीं सूर्मिम्’—इति,
प्रतिवचनम् ‘विद्मो वा’—इति, अनुषङ्गः ‘हृदयस्याग्नेर्वद्यत्यथ
जिह्वाया अथ वक्षसि’—इति, प्रयोगः ‘चैख्यं चातुख्यं च’—
इति, सामर्थ्यं ‘सुवेण अवद्यति इवेषु’—इति ॥ लक्षणकर्मणि
प्रयोजनं प्रसिद्धत्वात् न वक्तव्यं, लघीयसी प्रतिपत्तिर्लक्षणेन,
‘आक्षेपेष्वपवादेशु प्राप्तगम् लक्षणकर्मणि। प्रयोजनं न वक्तव्यं
यश्च ह्यत्वा प्रवर्त्तते’, आक्षेपेषु, पूर्वाधिकरणस्य प्रयोजनं,
अपवादेशु उत्सर्गस्य, प्राप्तगामुत्तरविवक्षा, ह्यत्वाच्चिन्तायां
पूर्वाधिकरणस्य प्रयोजनं। अस्ति वेदे मन्त्रज्ञो यस्याथमर्थः
परोक्षितः, ‘अहेबुधिनयमखं मे गोपाय यन्मृषयस्त्रयोविदा विदुः,
ऋचः सामानि यर्जुषि’—इति ॥ (२।१।७ अ०) ॥

अथ ब्राह्मणनिर्वचनावधिकारबन्धम् ।

ब्र. शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥ ३३ ॥

भा. अथ किलक्षणम् ब्राह्मणम्? । मन्वाद्य ब्राह्मणस्य वेदः, तत्र मन्वखलक्षणे उक्ते परिशेषसिद्धत्वात् ब्राह्मणलक्षणमवचनीयं, मन्वखलक्षणवचनेनैव सिद्धम्,—यस्यैतलक्षणं न भवति, तद्ब्राह्मणम्—इति परिशेषसिद्धं ब्राह्मणम् । इतिकारस्तु त्रिष्यहितार्थं प्रपञ्चितवान्—इतिकरणबहुलं, इत्याहोपनिबद्धं, आख्यायिकास्वरूपं, हेतुः (‘सूर्पेण जुहोति तेन ह्यसं क्रियते’—इति), निर्वचनं, (‘तत् दध्नी दधित्वं’), निन्दा (‘उपवीता वा एतस्वाग्रयः’), प्रशंसा (‘वायुर्वै ह्येपिष्ठा देवता’—इति), संश्रयः (‘होतव्यं गार्हपत्ये न होतव्यम्’—इति), विधिः (‘यजमानसन्मिता उदम्बरी भवति’), परह्यतिः (‘माषानेष मद्यं पचति—इति), पुराकल्पः (‘उस्मुकैर्हस्त्यं पूर्वं समाजग्मुः’—इति), व्यवधारणकल्पना (‘यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्’—इति); [‘हेतुनिर्वचनं निन्दा प्रशंसा संश्रयो विधिः । परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना । उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु । एतद्वै सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्’] । एतदपि प्रायिकम्,—इतिकरणबहुलो मन्वोऽपि कश्चित्,—‘इति वा इति मे मनः’, इत्याहोपनिबद्धस्य, भगं भक्षीत्याह, आख्यायिकास्वरूपस्य ‘उयो ह भुज्यम्’—इति, हेतुः ‘इदं वो वामुञ्जति हि’, निर्वचनं ‘तस्मादापोनुस्थना’ इति, निन्दा ‘मोघमभं विन्दते अग्रचेताः’—इति, प्रशंसा ‘अग्निर्मूर्द्धा’—इति, संश्रयः—अधःसिंदासीदुपरिसिंदासीत् इति, विधिः—‘पृथीयादिन्नाधमानाय’—इति, परह्यतिः—‘सहस्रमयुताददत्’, पुराकल्पः—‘यज्ञेन ब्रह्ममयजन्त देवाः’—इति ॥ (१ । २ । ८ अ०) ॥

ऊहायमन्त्रताधिकारबन् ।

स. अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमान्नातेषु हि विभागः ॥ ३४ ॥

भा. ऊहप्रवरनामधेयेषु संज्ञयः,—मन्त्राः उत न?—इति; अभि-
 धायकत्वान्मन्त्राः—इति प्राप्ते ब्रूमः,—अनाम्नातेषु मन्त्रत्वं न
 स्यादभिधायकेष्वपि, नाभिधायकत्वं मन्त्रत्वे हेतुः, किं तर्हि
 अभियुक्तप्रयोगः, ये अभियुक्तैर्मन्त्राः—इति मोक्षणे, न ते
 मन्त्राः, नचेवमाहायो मन्त्रसमाग्नये सन्ति, तस्मात् अमन्त्राः ॥
 प्रयोजनं,—मन्त्रे दुष्टे यत् प्रायश्चित्तमन्त्रेषु तन्न ॥ (२।१।
 ६ अ०) ॥

ऋत्नक्षत्राधिकारबन् ।

स. तेषामृग्यचार्यवशेन पादव्यवस्था ॥ ३५ ॥

भा. ऋच इत्यस्ति वेदे,—‘अहेबुध्निय मयं मे गोपाय वसुधय-
 क्षयीविदा विदुः ऋचो बर्जूषि सामानि’—इति । कर्षलक्षणा
 ऋचः ? । ‘तेषामृग्यचार्यवशेन पादव्यवस्था’, यत्र पादकृता
 व्यवस्था स मन्त्र ऋग्नाना, यथा ‘अग्निमीले—इति, एवंजाती-
 यकेषु मन्त्रेषु अभियुक्ता उपदिशन्ति, ऋचोऽधीमहे, ऋचोऽधा-
 पयामः, ऋचो वर्त्तन्ते—इति । यद्यर्थवशेन—इत्युच्यते, यत्र
 कृत्तवशेन तत्र न प्राप्नोति, ‘अग्निः पूर्वभिर्ऋषिभिः’—इति,
 यतो न ‘अर्थवशेन’—इति कृत्तादिवश्यादत्यर्थं, किं तर्हि
 अनुवाद एष प्रदर्शनार्थः; अत्रशयस्यैतदेवं विज्ञेयं, कृत्तादि-
 निवृत्तार्थं सति वाक्यं भिद्येत! तस्मात् यत्र पादकृता व्यवस्था,
 सा ऋमिति ॥ (२।१।१० अ०) ॥

सामलक्षणविधिकारणम् ।

स. गीतिषु सामाख्या ॥ ३६ ॥

भा. अथ साम्नः किं लक्षणं? विशिष्टा काचिद्गीतिः सामेत्यु-
च्यते, प्रगीते हि मन्वाक्वे सामशब्दमभियुक्ता उपदिशन्ति,—
सामान्यधोमहि, सामान्यधायामः, सामानि वर्तन्ते—इति,
अभियुक्तोपदेशश्च नः प्रमाणं; यथा अर्धं दधि, मधुरो गुदः—
इति, गीतिविशिष्टे तावन्मन्वे गीतिशब्दः, गीतिसंबन्धान्मन्वे
संभवत्ययः—इत्यवगतव्यम् ॥ (२।१।११ अ०) ॥

यजुर्लक्षणविधिकारणम् ।

स. शेषे यजुःशब्दः ॥ ३७ ॥

भा. अथ यजुषः किं लक्षणम्?—इति । यजुषो लक्षणं न वक्तव्यं,
ऋगुलक्षणसामलक्षणाभ्यामेव यजुर्विज्ञास्यते वैपरीत्येन, या
न गीतिर्न च पादबद्धं, तत् प्रशिष्टपठितं यजुः—इति ॥ (२।
१।१२ अ०) ॥

निगदानां यजुस्वाधिकारणम् ।

अथ निगदो नाम किं यजुषि उत यजुषोऽन्यः?—इति,

स. निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात् ॥ ३८ ॥ (पू०)

भा. निगदाः* न यजुषि । कुतः? धर्मविशेषात्, 'उच्चैः ऋचा
क्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांसु यजुषा, उच्चैर्निगदेन—इत्येष
धर्मविशेषः, उच्चैर्निगदेन—इत्यनूद्यते, यदि यजुषो निगदत्वं

* परसम्बोधनार्था मन्वा निगदाः ।

भा. स्यात्, न च तस्योच्चैस्त्वं धर्मो दृश्यते! दृश्यते तु; तस्माच्चतुर्थं
मन्त्रजातं निगदो नाम ॥ (पू०) ॥

ख. व्यपदेशाच्च ॥ ३६ ॥ (यु०)

भा. व्यपदेशोऽपि भवति,—यजूंषि वर्त्तन्ते, न निगदाः; निगदा
वर्त्तन्ते, न यजूंषि- इति; तस्मादपि मन्त्रान्तरम् ॥ (यु०) ॥

ख. यजूंषि वा तद्रूपत्वात् ॥ ४० ॥ (सि०)

भा. यजूंष्येव वा निगदाः। कुतः?। 'तद्रूपत्वात्', तदेवैषां
रूपं, यत् यजुषां प्रच्छिद्यपाठः, अक्सामन्त्रविषयविषयता च ॥
(सि०) ॥

ख. वचनाद्धर्मविशेषः ॥ ४१ ॥ (उप०)

भा. 'वचनात्' प्रत्यायनसामर्थ्यात्, अस्ति हि पुरुषान्तरप्रत्याय-
नसामर्थ्यं केषाञ्चित् यजुषाम् ॥ (उप०) ॥

ख. अर्थाच्च ॥ ४२ ॥ (यु० १)

भा. अस्ति च तैः पुरुषान्तरैः प्रत्यायितैः प्रयोजनं, नोपांशुर्धार्य-
माणाः पुरुषान्तरं प्रत्याययेयुः; तस्मात् धर्मविशेषोऽर्थवान्;
यानि च यजूंषि उच्चैरुच्चार्यन्ते ते निगदाः। कुतः?। निब्रह्म-
प्रकर्षस्य वक्ता, यथा प्रकर्षेण रक्तं नितरारक्तम्—इत्युच्यते;
गदतिर्गदनार्थः पाठवचनः; एष एव हि प्रकर्षो यदुच्चैस्त्वाव-
च्छिद्यत्वं। 'ननु वाचनिको गुणो यजुषामुपांशुत्वं'। नेति
ब्रूमः,—गुणो नाम स भवति, यः स्वकार्ये कुर्वतामुपकारे वर्त्तते,
न च परसंबोधनार्थानां यजुषामुपांशुत्वं साहाय्ये वर्त्तते,
तद्धि स्वकर्मक्रियाविघातं करोति, तेन पुरुषान्तरसम्बोधनार्थ-
मुच्चैस्त्वं गुणः। इतरार्थं नु वचनं भविष्यति, इतराणि यानि

भा. यजूषि न परसम्बोधनार्थानि, तेषु उपांशुत्वं निवेद्यते ॥
(यु० १) ॥

स. गुणार्थो व्यपदेशः ॥ ४३ ॥ (उप०)

भा. अथ यदुक्तं व्यपदेशः—इति, स चैकत्वेऽपि गुणतो भवति,
यथा इतो ब्राह्मणा भोज्यन्ताम्, इतः परिव्राजकाः—इति ;
एवमुच्चेत्स्वेन गुणेण तान्येव यजूषि व्यपदिश्यन्ते,—निगदाः—
इति ॥ (उप०) ॥

स. सर्वेषामिति चेत् ॥ ४४ ॥ (आ०)

भा. यदि य उचैर्गच्छते स निगदः, ऋगपि निगदः प्राप्नोति ॥
(आ०) ॥

स. न, ऋग्व्यपदेशात् ॥ ४५ ॥ (नि०)

भा. न ऋची निगदाः व्यपदिश्यन्ते, 'अयाव्या वै निगदा ऋचैव
यजन्ति'—इति पृथक्त्वनिमित्ता हि व्यपदेशा भवन्ति । 'उच्यते,
व्यपदेशो लिङ्गं, प्राप्तिश्चरताम्'—इति । अपाद्बद्धे गदति-
वर्तते, अपाद्बद्धो हि गद्यः—इत्युच्यते ॥ (नि०) (२।१।
१३ अ०) ॥

एकवाक्यत्वस्यैवाधिकारकम् ।

स. अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्गं चेद्विभागे स्यात् ॥ ४६ ॥

भा. अथ प्रश्नोत्तरपठितेषु यजुःषु कथमवगम्येत इयदेकं यजु-
रिति ? । यावता पदसमूहेनेच्छते, तावान् पदसमूहः एकं
यजुः । क्विपता चेच्छते ? । यावता क्रियाया उपकारः प्रकाशते,
तावत् वक्तव्यत्वात् वाक्यम्—इत्युच्यते ; तेनाभिधीयते,—

भा. 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्'—इति, एतस्माच्चेत् कारणादेकवाक्यता भवति; तस्मादेकार्थः पदसमूहो वाक्यं, यदि च विभक्त्यमानं साकाङ्क्षं पदं भवति। किं उदाहरणम्?। 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे'—इति। 'ननु पदं पदमत्रैकार्थम्'। सत्यं, नतु तद्विभागे साकाङ्क्षं। 'न तर्ह्यर्थैकत्वमुपपद्यते! बह्वत्वात्पदार्थानाम्, पदसमुदायस्य च पृथगर्थो नास्ति—इत्युक्तम् (१।१।२४ एवं २५ सू०)। भेदः संसर्गो वा वाक्यार्थः—इति यद्युच्यते, तथाप्येकार्थता न स्यात्, बह्वपदे भेदानां संसर्गाणां च बह्वत्वात्। एकप्रयोजनत्वादुपपन्नम्, यथा तावत् 'देवस्य त्वा'—इति निर्वापप्रकाशनं, तस्य विद्विष्टस्य वाचक एतावान् पदसमूहः, तत् वाक्यम्। 'नन्वत्र 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे निर्वपामि'—इत्येकं वाक्यं, 'अश्विनो बाह्वम्यां निर्वपामि'—इत्यपरम्, एवं बह्वनि वाक्यानि'। यदि निर्वपामि—इत्यनुषङ्गः, ततो बह्वनि वाक्यानि, न त्वेवमनुषङ्गो भवति, यदि गुणभूतो निर्वपामीति, तदा प्रतिप्रधानं भिद्येत! न च निर्वापो देवस्य त्वेत्येवमादीनामर्थेनोच्यते, साधनप्राधान्ये हि अदृष्टार्थता वचनस्य स्यात्! निर्वापे पुनः प्रधाने दृष्टं कार्यं निर्वापप्रकाशनं, तत् सर्वैर्विशेषणैर्विद्विष्टमुच्यते; तस्मात् अविरोधः। यथा च पदं पदेन विश्लेष्यते तद्योक्तं (१।१।२५ सू०) तद्भूतानामिति; तस्मादेकं वाक्यम्।

अथ किमर्थमुभयं सूचितम्,—अर्थैकत्वात्—इति च विभागे साकाङ्क्षत्वात्—इति च, उच्यते,—भवति किञ्चिदेकार्थं, न तु विभागे साकाङ्क्षं, यथा 'भगो वां विभजतु, अर्थमा* वां विभजतु'—इति एकार्थाः सर्वे विभागमभिदधति। 'ननु भग-विद्विष्टादिभागादर्थमविद्विष्टोऽन्यो विभागः'। न—इत्युच्यते,

* पूषा इति क्वचित् पाठः ।

भा.—विभागसामान्येनास्य प्रयोजनं, न विशेषेण, सामान्ये हि दृष्टोर्था भवति, न विशेषे, विभागे तु न साकाङ्गम् ; तस्मात्-
 क्लिप्तमिदं वाक्यं विभागे विकल्प्यते । तथा 'स्योनं ते सदनं
 ह्यहोमि घृतस्य धारया सुसेवं कल्पयामि ; तस्मिन् सीदाम्भते
 प्रतिष्ठितं व्रीहीणां मेधः सुमनस्यमानः'—इति विभागे साकाङ्गं,
 हे तु प्रयोजने क्रियते,—सदनकरणं पुरोडाशप्रतिष्ठापनञ्च ।
 तस्मात् भिन्ने वाक्ये, पूर्वं सदनकरणे विनियुज्यते, उत्तरं
 पुरोडाशप्रतिष्ठापने ; तस्मात्सम्यक् सूचितं, न सूचोपासम्भो
 भवति ॥ (२।१।१४ अ०) ॥

वाक्यभेदाधिकारश्च ।

स. समेषु वाक्यभेदः स्यात् ॥ ४७ ॥

भा. 'ईषे त्वा, जर्जे त्वा'—इति, तथा 'आयुर्यज्ञेन कल्पतां,
 प्राणो यज्ञेन कल्पताम्'—इति ; अथ सन्देहः,—किमेवमादिषु
 भिन्नं वाक्यमुतैकमिति ? । एकमिति ब्रूमः,—ईषे त्वेत्येवमुक्ते
 न किञ्चित् दृष्टं प्रयोजनं, तथा 'जर्जे त्वेत्यपि च, वचनसाम-
 र्थ्याद्दृष्टं, तदुभाभ्यामेकं कल्पयितुं न्याय्यम्, एवमस्यीयसी
 अदृष्टानुमानकल्पना भविष्यति ; तस्मादेकं वाक्यम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'समेषु वाक्यभेदः स्यात्', समेषु परस्पर-
 नाकाङ्क्षेषु वाक्यं भिद्यते,—ईषे त्वेत्यनेन एकोऽर्थः क्रियते, जर्जे
 त्वेत्यनेनापरः । 'ननु इदानीमेवोक्तं नाथ दृष्टोर्थः'—इति ।
 यद्यपि प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन नोपलभ्यते, अस्त्या तु गम्यते,
 'ईषे त्वा—इति छिनत्ति, जर्जे त्वा—इत्यनुमार्ष्टि'—इति ।
 तथा 'आयुर्यज्ञेन कल्पतां, प्राणो यज्ञेन कल्पताम्'—इत्यायुः-
 कृत्तरन्या प्राणकृत्तिः । 'ननु सामान्यमात्रमिदं तत् न विशेष-
 षणभेदात् भेदमर्हतीति, यथा 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि'—इति

भा. निर्वाप एकस्तस्य विज्ञेयाः 'सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्वाङ्मभ्यां पुष्णो हस्ताभ्याम्—इति, न तेषां भेदात्निर्वापस्य भेददृश्यते, एवमिहापि कृत्स्निर्नामैकोऽर्थः, नासावायुरादिभिर्विज्ञेयैर्भक्तौ भविष्यतीति। उच्यते,—इह 'कृत्सीर्वाचयति—इति बहः कृत्स्नयः श्रूयन्ते, तास्य वक्तव्याः, तत्रैकामायुःकृत्स्निम् 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्—इत्येष मद्यः ज्ञोति वदितुं, प्राणो यज्ञेन कल्पता-मित्ययमपि प्राणकृत्स्निमपराम्, एवन्तु सर्वे कृत्स्निविज्ञेषवचनाः, तच्च दृष्टं प्रयोजनं ; तस्मादनेकार्थत्वात्तत्रापि वाक्यभेदः—इति। 'ननु सामान्यवचनादेकत्वं यथा विभागे'। नैतदेवं, विभागे दृष्टार्थं सामान्यमिह न। अपिच कृत्सीर्वाचयतीति विहितम्, आयुर्यज्ञेन कल्पतामिति चायुःकृत्स्न्यभिधानम् अभि-निवर्त्यते प्रत्यक्षं, प्राणो यज्ञेन कल्पताम्—इति च प्राणकृत्स्नेः ; तस्मादाक्यभेदः ॥ (२।१।१५ अ०) ॥

अनुषङ्गाधिकारखम् ।

स. अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः सर्वेषु तुल्ययोगित्वात् ॥ ४८ ॥

भा. 'याते अग्नेऽग्न्याज्ञया तनूर्वर्षिष्ठा गङ्गरेष्ठा, उद्यं वचो अपाव-धीरवेधं वचो अपावधीत्साहा, याते अग्ने रजाज्ञया, याते अग्ने हराज्ञया—इति अथ सन्देहः,—तनूर्वर्षिष्ठेति किं सर्व-ध्वनुषक्तयम, आद्योऽस्मिन् लौकिको वाक्यशेषः कर्तव्यः?—इति। किं प्राप्तं?—याते अग्ने रजाज्ञयेत्येतस्य तनूर्वर्षिष्ठेति न वाक्य-शेषः, न अयमस्मात्परः प्रयुज्यते ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः स्यात्तनूर्वर्षिष्ठेति, यद्यैव अयं याते अग्नेऽग्न्याज्ञये-त्येतस्यानन्तरं, एवं याते अग्ने रजाज्ञया, याते अग्ने हराज्ञयेत्ये-तयोरपि। 'हराज्ञयेत्येतस्य अथवहितः—इति चेत्। तत्र, समुदायस्याथवधानात्, अथवहितो रजाज्ञयेति समुदायः

भा समुदायेन च वाक्यशेषस्य सम्बन्धाभावात्समुदायिभ्यां सम्बन्धः, समुदायिसम्बन्धे च न गम्यते विशेषः ; तस्मात्सर्वानुषङ्गः ।

अपि च साकाङ्क्षस्य सन्निधौ परस्तात्पुरस्ताद्वा परिपूरण-समर्थः श्रूयमाणो वाक्यशेषो भवति । कियांस्तु कालः सन्निधि-रिति ? । उच्यते,—यावति श्रुतोत्युभावप्यपेक्षितं । कश्चासौ ? । आनन्तर्यं सम्बन्धिपदद्यवायो वा, तावति हि श्रुतोत्युभावप्य-पेक्षितं, संबन्धिपदद्यवाये हि संबन्धादेव पूर्वसंस्कारो नापैति ; यथाप्यपरेण साकाङ्क्षेण द्यवायस्तथाप्यस्ति संबन्धः, इयोरपि हि कार्यं वक्तव्यमिति, परः पूर्वमपेक्षते, अनपेक्षमाणेऽन्यतरः प्रमादपाठः स्यात्, शक्यते चासावपेक्षितं, तस्मात् यथेवायमेकस्य सन्निधावेवमपरस्य, इयोरप्यसम्बन्धैः पदैरथवहितत्वात्, इयो-रप्याकाङ्क्षतोरेतावच्च वाक्यशेषसंबन्धे कारणं, नानन्तर्यं, अथव-धाने विच्छेदेऽपि भवति संबन्धः ; तस्मादनुषङ्गः ।

“अथेह कथं भवितव्यं ? यच्च निराकाङ्क्षाणां सन्निधौ परि-पूरणसमर्थः श्रूयते, यथा ‘चित्पतिस्त्वा पुनातु, वाक्पतिस्त्वा पुनातु, देवस्य त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः’—इति, अथ हि पुनात्वन्तानि परिपूर्णानि न किञ्चिदाकाङ्क्षन्ति । ‘ननु अच्छिद्रेषेत्येतदाकाङ्क्षन्त्यति’ । सत्य-माकाङ्क्षति, आकाङ्क्षदप्येतदेकमाकाङ्क्षेत्, एकेनैव एतत् निरा-काङ्क्षं संपश्यते—इति, एकेन हि निराकाङ्क्षीकृतो नेतरावा-काङ्क्षन्त्यति, अनर्थकत्वादाकाङ्क्षति, एकेन च संबन्धो नानर्थको भवति ; तस्मान्नेतरावाकाङ्क्षति—इति, इतरावपि परिपूर्ण-त्वात् न तमाकाङ्क्षतः । ‘ननु एतस्य वाक्यशेषस्य एकमप्या-काङ्क्षतो न गम्यते विशेषः, केन निराकाङ्क्षीक्रियते, केन वा न ?—इति, तेनानवगम्यमाने विशेषे सर्वैः सह संभक्तस्यते’ । आह, नैतदेवं, येनास्य प्रत्यक्षमानन्तर्यमुपलभामहे तेन सह संभक्तस्यते—इति गम्यते विशेषः, तस्मात्तेनानन्तरेण सह संभ-

भा. नृस्यते—इति नास्ति सर्वानुषङ्गः—इति”। आह,—नैतदेवं,
 —पुनातुशब्देनास्य प्रत्यक्षमानन्तर्यमुपलभामहे, पुनातुशब्द-
 स्यापि चित्पतिस्त्वेत्येवमादिभिः, एकस्यासौ पुनातुशब्दः पुनः-
 पुनश्चरितः, तेनावगच्छामः,—यच्च पुनातुशब्दः प्रयुक्तः, तच्च
 तेनैकवाक्यत्वाद्द्विद्वेषेत्ययमपि प्रयोक्तव्यः, तथा च सति चित्-
 पतिरूपा—इत्येवमादयो विना पुनातुशब्देन, साकाङ्क्षाः, ते
 च पुनातुशब्दमाकाङ्क्षन्ति, स च पुनातुशब्दोऽद्विद्वेषेत्यनेन
 विशिष्टः, तेन पुनातुशब्देन सानुषङ्गेण नियोगतः सर्वे निरा-
 काङ्क्षिकर्तव्याः। तस्मात्सर्वेषु तुल्यप्रयोगाः—इति वाक्यपरि-
 खमाप्तिरनुषज्यते ॥ (२।१।१६ अ०) ॥

अवेताननुषङ्गाधिकरणम् ॥

ख.

अवयान्नानुषज्येत ॥ ४६ ॥

भा. ‘सं ते वार्युर्वीतेन गच्छतां, सं यजचैरङ्गानि, सं यज्ञपति-
 राश्लिषा’—इति; वार्युर्वीतेन गच्छतामित्येष सं यजचैरङ्गानि
 —इति बद्धवचनान्तन अवहितत्वात् सं यज्ञपतिराश्लिषेत्यच
 नानुषज्यत, एकेन साकाङ्क्षेण अवेतो गच्छतामिति श्लेषः, ततो
 बद्धवचनान्तेन सं यजचैरङ्गानीत्येतेन सम्बन्धमनुपेतस्य अवेत-
 त्वात्परेण न सम्बध्यते, गम्यते हि तदा विश्लेषः,—एकेन अवेतः
 —इति, गम्यमाने विश्लेषे न तच्च भावो वाक्यश्लेषस्योपपद्यते;
 तस्माद्बद्धवचनान्तस्य परस्य च तदनुपेतस्य लौकिको वाक्यश्लेषः
 कर्तव्यः—इति ॥ (२।१।१७ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामि-कृतौ मीमांसाभाष्ये द्वितीयस्थाध्यायस्य
 प्रथमः पादः ॥ उपोद्घातपादोऽयम् ॥ * * ॥

द्वितीयः पादः ॥

अङ्गपूर्वभेदाधिकारबन्धम् ।

स. शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात् ॥ १ ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमस्तत्र श्रूयते,—सोमेन यजेत, दाक्षिणानि जुहोति, हिरण्यमाभेयाय ददाति*—इति ; यजति—ददाति—जुहोतयस्ते किं संहृत्य कार्थं कुर्वन्ति, उत वियुत्य?—इति संशयः, साधकाः संहृत्यापि साधयन्तो वृश्नन्ते, वियुत्यापि ; संहृत्य तावत्, ययो यावाण एकामुखां धारयन्तो वृश्नन्ते, नाग-दन्तकास्तु वियुत्यापि, एकैकस्मिन् हि शक्यते त्रिक्वमवलम्ब-यितुम् ; अतो यजति—ददाति—जुहोतयः संहृत्य साधये-युर्वियुत्य वा?—इति जायते संशयः ।

किं तावत्प्राप्तं, संहृत्य—इति । कुतः? । अदृष्टार्थानामुप-कारकत्वनाभ्यपीयसी न्यास्या—इति । कथं? ।

अदृष्टो योऽश्रुतो वार्थः, स नास्तीत्यवगम्यते ।

तस्मिन्नसति दृष्टश्चेत् श्रुतो वा न विवर्धते ॥

विवर्धमाने कल्प्यः स्याज्जायते तेन सोऽर्थवान् ।

विशेषश्चेन्न गम्येत, ततो नैकोऽपि कल्प्यते ॥

गम्यते च विशेषः,—वज्रभ्य एकमपूर्वम्—इति ; तस्मात् समु-दायश्चिकीर्षितः, ततो अदृष्टे कल्प्यमाने, अवयवानां समुदायं प्रति अर्थवत्त्वादेकमपूर्वं समुदायात् कल्पितम् भविष्यति । न च, अशब्दः समुदायः, अवयववद्देरेव समुदायस्योक्तत्वात् । तस्मात् समुदायश्चिकीर्षितः । अथ वा, यजेतेत्येतस्य पूर्वे भागो

* अत्र, हिरण्यमाभेयाय ददाति, दाक्षिणानि जुहोति—इति क्रमेण भागो ब्रह्मः ।

भा. यजत्यर्थं ब्रवीति, उत्तरो भावयेत्—इति, तथा ददाति—इति पूर्वा भागो ददात्यर्थम्, उत्तरस्तमेव (भावयेत्—इति) अनुवदति, एवं जुहोति—इति पूर्वा भागो जुहोत्यर्थम्, उत्तरस्तमेवानुवदति; तेनैकस्यां भावनायां च यो यजत्यादय उपाया विधीयन्ते श्रुत्या। तस्मादेतैर्यागदानहोमैर्विभिन्नाः पूर्वस्य भावना प्रतीयते, अत उच्यते,—संख्यैकमपूर्वं साधयन्ति—इति। यदा यजतिब्रह्मेन विहितम् दानं दानहोमब्रह्मेनानुच्यते गुणसम्बन्धार्थम्, तस्मादेकमपूर्वमिति प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते श्रुमः,—प्रतिब्रह्मं अपूर्वभेदः—इति, 'ब्रह्मान्तरे कर्मभेदः हतानुबन्धत्वात्', यजेतेत्यनेन केवलस्य यागस्य कर्तव्यतोच्यते, न तु जुहोतिब्रह्माभिहितस्य ददातिब्रह्माभिहितस्य वा, ब्रह्मान्तरत्वात्; प्रयोगवाक्यशेषभावेन हि समुदायस्य सत्तासम्बन्धो गम्यते, श्रुत्या अबयवस्य, यजेत—इति सन्निहितयोरपि वाक्येन दानहोमयोः, श्रुत्या यागस्यैव सत्तासम्बन्धो गम्यते, न दानहोमयोः; श्रुतिश्च वाक्याप्रतीयसी। तस्माच्च समुदायः ब्राह्मः, कल्प्यमानो हि प्रयोगवचनेन एकवाक्यताम् नीत्वा कल्पेत, ब्रह्मान्तरञ्च यजेतेर्ददातिः; तत्र चद्यपि परो भागो भावनावचनः सर्वेषु समानः, तथाप्येकैकस्य पूर्वावयवोभ्यः, अन्यस्य तेन समुदायः ब्रह्मान्तरम् अन्यस्मात् समुदायात्, तत्रार्थान्तरं च्यक्तम्, दद्यात्—इति (दानेन साधयेत्—इति) केवलमेव दानं करणं भावनायाः प्रतीयते, न यागहोमौ सहायौ अपेक्षते। तथा जुहोति—इति होमसाधनां भावनामाह, न दानयागावपेक्षते। तत्रैतावच्छब्देनावगतं,—दानेन केवलेन सिध्यति—इति जुहोतीत्यपि होमेन केवलेन सिध्यतीति, न तु दानेन केवलेन सिध्यतीति विज्ञानं निवर्त्तते। ददातिर्हि स्वेन कारकपानेन हतानुबन्धो न यागं होमं वा अनुबन्धमपेक्षते। तस्माद्भिन्नानि वाक्यानि, प्रतिब्रह्ममपूर्वभेदः

भा.—इति । न च दानस्य यजतिञ्चोतिर्वाभ्नुवाद्दो याग-
होमयोरविवक्षाप्रसङ्गात् । न च दानमितरयोरनुवाद्ः, परस्व-
त्वार्थत्वात् ददातेः, इतरयोश्च त्यागार्थत्वात् । प्रयोजनं
पूर्वपक्षे समुदायादपूर्वं, सिद्धान्ते तु यागस्य फलवत्त्वादिरयो-
र्मुण्णभावः ॥ (२ । २ । १ अ०) ॥

समिदाद्यपूर्वभेदाधिकारकम् ।

ख. एकस्यैवं पुनःश्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात् ॥ २ ॥

भा. 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति'*—इत्येवमादिः पञ्च-
हृतवोऽभ्यस्तो यजतिञ्चदः किमेकमपूर्वञ्चोदयति, किं प्रत्यभ्या-
समपूर्वभेदः?—इति । ऋदान्तरे कर्मभेद उक्तः, इह स एव
ञ्चदः पुनःपुनश्चास्यते ; तस्मादेकमेव अत्रापूर्वम् । ननु
'अपूर्वान्तरमविद्धदनर्थको भवति' । सत्यमेवाप्रयोजनो भवति,
बहुहृतवोऽपि चोच्चार्यमाणो नान्यार्था भवति, यत्प्रथमे उच्चारणे
गम्यते, अततमेऽपि तदेव गम्यते । तस्मात् पञ्चहृतवोऽभ्यस्तो
यजतिञ्चद एकमपूर्वं चोदयति । न चाभ्यासोऽनर्थको भविष्यति,
तनूनपादादीर्षता विधास्यति, तस्मादेकमपूर्वम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'एकस्यैवं पुनःश्रुतिः' 'स्यात्,' कर्मभेदं
कुर्यादित्यर्थः । तावत्येव विधीयमानेऽसति कस्मिंश्चिद्भिरे
पुनःश्रुतिरनर्थिका भवेत् । 'नमूक्तं न ऋतोत्पथान्तरम विधातुम्'
—इति । उच्यते,—समिधो यजति—इत्यपि प्रथमोऽनुवाद् एव,
दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत—इति यागः प्राप्त एव ; तत्र देवता
न ऋक्षा विधातुम्, श्रुतिप्राप्ता हि तत्र देवता, इयं वाक्यात्प्र-
करणात्, तसोर्बिकल्पो न न्याय्यः, स एष देवतायागसम्बन्धो

* इहा यजति, वर्धिर्यजति, सान्हाकारं यजतीति शेषः ॥

भा. विधीयमानः अक्रियमाणे यागे न ब्रह्मः कर्तुमित्यनर्थकः स्यात् !
क्रियमाणे तु ब्रह्मते । तस्माद्ब्रह्मसितथो यागः, प्रत्यभ्यासञ्चा-
दृष्टभेदः—इति, न च यत् समित्सम्बन्धेन क्रियते, तत् तनू-
नपात्सम्बन्धेन, भिन्नत्वात् तयोः, अतो न विकल्पः । प्रयोजनं
पूर्वपक्षे सहात्प्रयोगः—इति, सिद्धान्ते पुनःपुनःप्रयोगः इति ॥
(२ । २ । २ अ०) ॥

आधाराद्याग्नेयादीनामङ्गाङ्गिभावाधिकारश्च ।

ख. प्रकरणन्तु पौर्णमास्यां रूपावचनात् ॥ ३ ॥ (सि०)

भा. एवं हि समामनन्ति,—‘यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽभावास्थार्या
पौर्णमास्याञ्चाचुरतो भवति, तावद्भूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव तौ
उपांशु पौर्णमास्यां यजन्निति, ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादश-
कपालं पौर्णमासे प्रायच्छत्, ऐन्द्रं दध्मावास्यायाम् ऐन्द्रं पयो-
ऽभावास्थायाम्—इति । तथा ‘आधारमाधारयति, आज्यभागौ
यजति, खिष्टहते समवद्यति, पत्नीसंयाजान् यजति ; समिष्ट-
यजुंश्चोति’ । तथा ‘य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं
विद्वानभावास्यां यजते’—इति । तत्र सन्देहः,—सर्वाण्येतानि
समप्रधानानि, उत आग्नेयादीनि पयोऽन्तानि प्रधानानि,
आधारादीनि आरादुपकारकाण्यङ्गानि ? । तथा, य एवं
विद्वानित्येवंसंयुक्तौ प्रहृतानां कर्मणामनुवदितारौ, अथ वा ‘य
एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं विद्वानभावास्यां यजते’—
इत्यपूर्वयोः कर्मणोर्विधातारौ, तत्र इतरे गुणविधयः ?—इति ।

किं प्राप्तम्,—अवदान्तरत्वादभ्यासाच्च समप्रधानानि—इति
प्राप्ते ब्रूमः,—‘प्रकरणन्तु पौर्णमास्यां, प्रहृतानामाग्नेयादीनामनु-
वदितारौ पौर्णमास्यभावास्थ्यासंयुक्तौ । कुतः ? । ‘रूपावचनात्’,
य एवं विद्वान् पौर्णमासीसंज्ञकं यागं यजते—इति न सर्वं यागा

भा. उच्यन्ते, वः पौर्णमासीसंज्ञकः स विधीयते, नचैतद्देवमवगच्छामः,
—कीदृशमेवंसंज्ञकस्य यागस्य रूपम्—इति, ते न किञ्चित्
प्रतिपद्येमहि; अतो ब्रूमः,—यद्यपूर्वस्य विधातारौ अनर्थकौ
—इति; अथ नु प्रकृतानामनुवदितारौ, ततः सन्निहिताः
पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्ता यागाः—इति गम्यते रूपम्, तच्चा-
र्थवन्ता वचनस्य । ‘कथं पुनरेकवचनान्तो बहूनां वाचको
भविष्यति?—इति यदि उच्यते’ । समुदायशब्दतयाऽवकल्पि-
ष्यते, रूपवन्तो हि पूर्वप्रकृता यागाः, तेषां च प्रचयश्चिष्टः
समुदायोऽप्यस्ति तदपेक्षोऽयमरूपशब्दः, तस्मादेकवचनान्ता
न दोषः, भवति हि बहूनामेकवचनान्तः शब्दः समुदायापेक्षः,
यथा, यूथं वनं कुलं परिषत्—इति । यदा आग्नेयादीनां
समुदायवचनावेतौ, तदा दर्शपौर्णमासशब्देन एते एव अभि-
धीयन्ते; तत एषां फलसम्बन्धः, फलवत्सन्निधेस्तु आधारादीनि
आरादुपकारकाणि—इति ॥

ख. विशेषदर्शनाच्च सर्वेषां* समेषु ह्यप्रवृत्तिः स्यात्
॥ ४ ॥ (यु०१)

भा. यदि च सर्वाणि समप्रधानानि अभविष्यन्, न विह्वती
प्रयाजा दृष्यन्ताम्! दृष्यन्ते तु,—‘प्रयाजे प्रयाजे हृष्णलं
जुहोति’—इति, असत्याग्नेयगुणत्वे प्रयाजस्य तन्नोपपद्यते ।
अतो न सर्वाणि समप्रधानानि ॥

ख. गुणस्तु श्रुतिसंयोगात् ॥ ५ ॥ (पू०)

भा. नेतदस्ति,—पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्तौ समुदायशब्दौ—
इति, किन्तु अपूर्वयोः कर्मणोर्विधातारौ, तथा न लक्षणशब्दो

* पूर्वेषामिति का० सं० ॥

भा. भविष्यति । 'ननु रूपं नास्ति' । वाक्यान्तरेण रूपमवगमिष्यामः ;
 पौर्णमास्यामाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति—इति यदेतत् पौर्णमासी-
 नाम कर्म, तस्य एतद्रूपम्,—अग्निर्देवता, पुरोडाशो द्रव्यमिति ।
 अत आग्नेयादिभिर्गुणो विधीयते—इति ॥

सू. चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्राच्चोदिते हि तदर्थ-
 त्वात्तस्य तस्योपदिश्येत ॥ ६ ॥ (३०)

भा. कर्मचोदना वा आग्नेयादयः स्युः । कुतः ? । गुणानां युगप-
 चासनात्, एकेनेव वाक्येनाचानेको गुणो विधातुमिष्यते भवता,
 न च, ब्रह्मान्तरेण चोदिते कर्मणि अनेको गुणः (परस्परसम्बन्धे
 च असति) शक्यते विधातुम् ।। कथं ? । यदि तावत् पौर्णमास्याम्
 अष्टाकपालो भवति—इति सम्बन्धो विवक्षितः, न तदाध्यमर्थो-
 ऽष्टाकपालः सप्तया अभिसम्बन्धते—इति, कस्तर्हि अष्टाकपालः
 पौर्णमास्याभिसम्बन्धते—इति ? तत्र तदा भवतिर्वर्त्तते, तदा-
 नीमाग्नेयः—इत्ययमस्यान्तिकादप्युपनिपतितो भवति सम्बन्धा-
 भावात् नानेन सम्बन्धमर्हति,—अष्टाकपाल आग्नेयो भवति
 —इति । 'अथाग्नेयः पौर्णमास्यां भवति'—इति विवक्ष्यते ।
 तदाग्नेयपुरोडाशयोरसम्बन्ध एव स्यात् । 'अथ पौर्णमास्या-
 मष्टाकपालस्याग्नेयता विधीयते' । वक्तव्यं,—केन तस्यामष्टा-
 कपालो विहितः ?—इति । 'अथ तस्यामाग्नेयस्याष्टाकपालता' ।
 तथापि एष दोषः । 'अथ पौर्णमासीति उभाभ्यां सम्बन्धेत' ।
 परस्परेण द्रव्यदेवतयोरसम्बन्ध एव स्यात् । अथ 'द्रव्यदेवते
 परस्परेण विब्रिष्टे सत्यौ पौर्णमास्या सम्बन्धेयाताम्'—इत्यु-
 च्यते । आग्नेयोऽष्टाकपालो यः, स पौर्णमास्यां भवति—इति,
 तस्य अप्रसिद्धत्वादेतदप्ययुक्तम् । 'अथ केनचिद्द्रव्ये सङ्घट्टितः
 पौर्णमास्यां विधीयते' । तथापि देवताया अविधानाद्रूपाभाव
 एव । 'अथाग्निर्देवता भविष्यति,—इति कश्चित् ब्रूयात्' । स

भा. वक्तव्यः,—मिथश्चानर्थसम्बन्धः—इति, न हि आग्नेयशब्दोऽनु-
वादो विधिश्च भवति—इति । ‘कल्पयिष्यामि देवताम्—इति
चेत् । न, असति विधाने देवताया अभावान् ; सम्बन्धिः शब्दो-
ऽयं देवता—इति स एवाग्निरष्टाकपालस्य देवता, नाज्यस्य ।
तस्माद्दवश्यमाग्नेयाष्टाकपालसम्बन्धो विधातव्यः, स एष यागो
भवति—इति, तेन पौर्णमासीयागस्यापरो यागः सम्बन्धी
विधीयते, न इत्थं देवता वा ; न च वागस्य यागान्तरं रूपं
भवति ; अतो रूपावचनात् पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्तौ ना-
पूर्वयोः कर्मणोर्विधातारौ । यत्तु उक्तम्,—‘पौर्णमास्यमावास्या-
शब्दौ लक्षणाया प्रकृतान् यागाननुवदितुं शक्नुतौ माञ्जस्येन’
—इति । नैष दोषः, यदा आञ्जस्येन शब्दार्था नावकल्पते,
तदा लक्षणापि कल्प्यमानः साधुर्भवति, यथा, अग्नौ तिष्ठति,
अवटे तिष्ठति, (अग्निसमीपे अवटसमीपे तिष्ठति—इति) भवति
संशयद्वारः ; लक्षणापि हि लौकिकेव—इति ॥

स. व्यपदेशश्च तद्वत् ॥ ७ ॥ (यु० १)

भा. ‘उपाणि ह वा एतानि हवीषि अमावास्यायां सम्भयन्ते,
आग्नेवं प्रथममेन्द्रे उत्तरे’—इति समुच्चयं दर्शयति, आग्नेयादीनां
मुद्यत्त्वे विकल्पः स्यात् ! तच्चाग्नेवं प्रथमम्, ऐन्द्रे उत्तरे द्वे—इति
व्यपदेशो नावकल्पेत, विकल्पे सम्भारपौर्वापर्यानुपपत्तिः—
इति ॥ (यु० १) ॥

स. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ८ ॥ (यु० २)

भा. लिङ्गं च वृत्त्यते,—‘चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो ह्यन्ते,
त्रयोद्भ्रामावास्यायाम्’—इति ॥ (२ । २ । ३ अ०) ॥

उपांशुयाजापूर्वताधिकारबन्धम् ।

स. पौर्णमासीवदुपांशुयाजः स्यात् ॥ ६ ॥ (पू०)

भा. 'जामि वा एतद्यज्ञस्य* क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ उपांशु-
याजमन्तरा यजति'—इति, 'विष्णुषपांशु यष्टयोऽजामित्वाय,
प्रजापतिरुपांशु यष्टयोऽजामित्वाय, अग्नीषोमावुपांशु यष्ट्याव-
जामित्वाय'—इति; तत्र सन्देहः,—उपांशुयाजमन्तरा यजति
—इति किं विष्णवादिगुणकानां प्रकृतानां यागानां समुदायस्य
वाचकः, अथ वा अपूर्वस्य यागस्य?—इति। तत उच्यते,—
पौर्णमासीवदुपांशुयाजो भवितुमर्हति। कुतः?। नामसम्बन्धात्,
नामसम्बन्धो हि विशिष्टो यागः श्रूयते,—उपांशुयाजसंज्ञकः,
न च द्रव्यदेवते रूपं, प्रकृताश्चोपांशुगुणका यागा विद्यन्ते;
तस्मात् समुदायशब्दः—इति।

'ननु उपांशुगुणकं यागान्तरम् उपांशुत्वेन रूपेण रूपवत्
विधीयते'। न एवंजातीयकः शब्द उपांशुविशिष्टं यागं
शक्नोति वक्तुम्, उपांशुयागः—इति हि तस्य वक्ता, "चजोः
कु घिण्यतोः," (७। ३। ५२ सू० पा०)—इति कुत्वेन भवितव्यम्,
अथुत्पन्नः पुनरुपांशुयाजशब्दः; तस्मान्न रूपवत् यागान्तरम्।
अथापि नामसंयुक्तं यजतिसामान्यमेव, तथाप्यनुपदिष्टदेवता-
द्रव्यरूपं न यागान्तरं प्रतिपद्येमहि। 'नन्वेवं सति प्रकृता-
नामप्यवाचकः प्राप्नोति'। ना भूदुपांशुयाजशब्दः, यजतिशब्दो
भविष्यति, तथा सति उपांशुयाजशब्देऽप्यनुवादत्वाद्दनाङ्गस्ये-
ऽपि न दोषः ॥

* यज्ञे—इति का० श्री० ।

सू. चोदना वाऽप्रकृतत्वात् ॥ १० ॥ (सि०)

भा. कर्मान्तरस्य वाचकः स्यात्, 'उपांशुयाजं...यजति'—इति।
 कुतः?। प्रकृतानां यागानामभावात्, न चेत्प्रकृता विद्यन्त, कस्य
 समुदायं वक्ष्यति?। 'ननु इदानीमेवोक्तं विष्ण्वादिगुणकाः
 प्रकृता यागा विद्यन्ते—इति। न विद्यन्ते, न हि, ते विधयो
 'विष्णुर्वापांशु यष्ट्यः'—इत्येवमादयः! अर्थवादा हि ते।
 कथम्?। अस्मिन् वाक्ये विधन्तरस्य भावात्, उपांशुयाजमन्तरा
 यजति—इति एतदेतस्मिन् वाक्ये विधीयते; यदि इमेऽपि
 विधीयेरन्. भिद्येत तर्हि वाक्यम्। अपि च, यागस्य विष्ण्वादी-
 नाञ्च सम्बन्धोऽत्र गम्यते वाक्ये, न च यागस्य विधानम्।
 'ननु च, उपांशुयाजमन्तरा यजतीत्यत्रापि अन्तरालसम्बन्धो-
 ऽवगम्यते'। वादं, स तु विधीयते उपांशुत्वादिसम्बन्धः; एकं
 हि इदं वाक्यं न अनेकं विधातुमर्हति। कथं?। 'जामि
 वा एतत् यज्ञस्य क्रियते'—इत्येवमुपक्रममेतदाक्यम् 'अजामि-
 त्वाय'—इत्येवमन्तम्, तस्य मध्ये समाग्नान्तं विष्ण्वादिवाक्यं
 तेन सम्बन्धमानं न वाक्यान्तरं भवितुमर्हति; तस्मात् 'विष्णु-
 र्वापांशु यष्ट्यः'—इत्येवमादयो न विधयः, किं तर्हि अर्थवादाः।
 कः पुनरर्थवादः?। आग्नेयाग्नीषोमीययोर्निरन्तरं क्रियमाणयो-
 र्जामितादोष उक्तः, तं भिषजितुं, उपांशुयाजमन्तरा यजति
 —इति विहितम्। कथं तेन भिषजिष्यते?। तस्मिन्
 क्रियमाणे ज्ञायत एव, यथा विष्णुर्यष्ट्यः प्रजापतिरग्नीषोमौ
 चेति, ततश्च व्यवधानादजामितावगम्यत एव, तेनाजामितार्थ-
 वादं वक्ष्यामि—इति विष्ण्वादिसम्बन्धोऽभूद्यते, न त्वन्तराल-
 सम्बन्धस्यान्यत्प्रयोजनमस्ति अतो विधानात्। कथं विष्ण्वादयो
 यष्ट्याः—इत्येतदवगम्यते?। यष्ट्यान् अयष्ट्यान् वा विष्ण्वा-
 दीनुपांशुयाजाभिष्टवाय सङ्कीर्त्तयति—इति गम्यते।

भा. तत्र केचित्तावदाहुः,—प्राप्ता एव—इति। कुतः?। आखान्तरे विधानात्—इति। यद्यप्यप्राप्तिः, तथाप्युपांशुत्वसामान्यात् प्रजापतिर्देवता विष्णुस्येत्यनुवादावेव, उपांशुधर्माणौ हि विष्णु-प्रजापती, तस्मात् यत्किञ्चित् प्राजापत्यं यज्ञे क्रियते, तत् उपांश्वेव क्रियते—इत्येवमादिसङ्गीर्तनात् मद्यसमाग्नानाञ्च विष्णुम् अप्राप्तमपि प्राप्तमिव वदेत्। अग्निषोमयोस्तु विधायक-मुदाह्रियते,—‘एतावद्भूयातामग्नीषोमौ वाज्यस्यैव तावुपांशु पौर्णमास्यां यजन्’—इति, तस्मात् यागान्तरम् ॥

स. गुणोपबन्धात् ॥ ११ ॥ (आ० नि०)

भा. यत् उच्यते,—न ज्ञायते, कतमोऽथौ उपांशुवाजसंज्ञको यागः?—इति, यस्यायं गुण उपबन्धः, उपांशु पौर्णमास्यां यजन्—इति; तस्मात् न दोषः ॥

स. प्राये वचनाच्च ॥ १२ ॥ (यु०)

भा. प्रधानकर्मप्राये वचनं, प्रधानकर्मतामुपोद्बलयति, यथा, अथ-प्राये लिखितं दृष्ट्वा भवेदथमथः—इति मतिः। तस्मात् न समुदायशब्दः—इति ॥ (२।२।४ अ०) ॥

आधाराद्यपूर्वताधिकारबन् ॥

स. आधारादिहोत्रमरूपत्वात् ॥ १३ ॥ (प०)

भा. ‘आधारमाधारयति’—इति श्रूयते, तथा इमान्यपरानि, ‘ऊर्द्धमाधारयति, सन्ततमाधारयति, ऋजुमाधारयति’—इत्येवमादि; इदञ्च ‘अग्निहोत्रं जुहोति’, तथा, ‘इहा जुहोति, पयसा जुहोति’—इत्येवमादि। तत्र सन्देहः,—किम् ऊर्द्धमा-

भा. धारयति, दधा जुहोति—इत्येवमादिभिराधाराः होमाश्च विहिताः, तेषाम् 'आधारमाधारयति', 'अग्निहोत्रं जुहोति'—इत्येतौ समुदायानुवादी, उतैतावेवापूर्वयोराधारहोमयोर्विधातारौ?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—न अपूर्वयोर्विधी इति । कुतः? । 'अरूपत्वात्',—न हि, एतयोः पूर्वभ्यो होमाधारेभ्यो विहितं रूपमस्ति ! यतः कर्मान्तरम् अध्ववसेयम् ; अतः प्रकृतत्वात् प्रकृतानुवादी ॥

स. संज्ञोपबन्धात् ॥ १४ ॥ (पू० यु० १)

भा. संज्ञोपबन्धश्च भवति, अग्निहोत्रं नाम होमं जुहोति—इति, आधारसंज्ञकं कर्म करोति—इति, संज्ञाविशिष्टावाधारहोमौ विधीयेते ; न च विज्ञायते, कोऽसावाधारो नाम कर्मविशेषः, कश्चाग्निहोत्रसंज्ञकः?—इति । 'ननु विज्ञायते,—आधारण-माधारः, इवनं होमः' । यस्याधारणसामान्यम् होमसामान्यश्च विधीयेते, विज्ञातपूर्वो तस्मादाधारहोमौ, तेनानुवादी । अथाद्युत्पन्ना उभयोरपि संज्ञा, तथापि न आधाराग्निहोत्रसामान्यम् उच्येत, विशेषाश्रयत्वात् संज्ञायाः ; न च, स विशेषो गम्यते !—इत्यपूर्वावाधारहोमविधी न शक्यते । अपि च कथं क्रिया साधनशब्देन उच्येत ? ईप्सिततमं हि यत् साधनं, तत् द्वितीयान्तेन उच्यते, क्रिया तिङन्तेन । अनुवादपक्षे क्रियायां समुदायोर्ध्यानन्तरम्, तत् ईप्सिततमं साधनं भविष्यति ॥

स. अप्रकृतत्वाच्च ॥ १५ ॥ (पू० यु० २)

भा. न च, प्रकृतमपि इत्येवमादिभिराधारे विद्यते ! येन रूपवान् स्यात् । तस्मादेतावपि समुदायशब्दौ—इति ॥

स. चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयो भूतत्वात्, तत्सन्निधे-
गुणार्थेन पुनःश्रुतिः ॥ १६ ॥ (सि०)

भा. नचेतदस्ति,—समुदायशब्दौ—इति, कर्मान्तरचोदने स्या-
ताम् । कुतः ? । शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्, आघारयति,
जुहोति—इति, होमाघारौ प्रयोक्तव्याविति शब्दार्थः, तेन
कर्मान्तरे विधीयेते—इत्यवगच्छामः । आघाराग्निहोचशब्दौ च
हवनाघारणसामान्यवाचिनौ प्रज्ञातौ, अतो नाविज्ञातार्थौ ;
तेन रूपवन्तौ सन्तौ विधीयेते ।

यदुक्तम्, जर्द्धमाघारयति, दध्ना जुहोति—इत्येवमादिभि-
र्विहितत्वाद्नुवादौ—इति । नैतदेवम्,—न ह्येते होमाघारौ
विधातुं शक्नुवन्ति ; जर्द्धमाघारयति, दध्ना जुहोति—इति च न
एतदुक्तं भवति,—आघारः कर्त्तव्यः, होमः कर्त्तव्यः—इति, किं
तर्हि, जर्द्धताघारसम्बन्धः कर्त्तव्यः, दधिहोमसम्बन्धः कर्त्तव्यः—
इति ; तस्मात् अप्राप्तत्वाच्चानुवादौ । ‘ननु सम्बन्धे विहिते
अर्थाद्द्वोमाघारौ भविष्यतः’ । नैतदेवम्,—अस्मिन् हि सति
विधानेन सम्बन्धः ; तस्माच्चार्थादापद्येते होमाघारौ, अतोऽपूर्वौ
विधीयेते—इति ब्रूमः ।

‘ननु आघारयति, जुहोति—इति होमाघारगतो व्यापारः
श्रूयते, न दध्नुर्द्धतादिसम्बन्धः’ । सत्यं न श्रूयते ; ‘तत्सन्निधे-
गुणार्थेन’ व्यापारश्रवणमवकल्पियते । ‘ननु पदार्थान्तरगतं
व्यापारं श्रुतिर्न शक्नोति वदितुम्’ । सत्यमेवमेतत्, स्वपदार्थगतं
वक्ष्यति, तन्तु स्वपदार्थं गुणशब्दो विश्लेष्यति, स एव विश्लेष्यः
प्रत्येष्यते,—इति भवेदेतत्,—विश्लेष्यात् स्वपदार्थं गुणशब्दः,
न त्वेष गुणगतो व्यापारः प्रतीयेत । तत्र किं भविष्यति ? ।
अथाप्रियमाणेषुपि गुणे शब्दार्थावकृप्तौ भविष्यति । गुणवचन-
सन्निधिः—इदानीं किमर्थः ? । अनर्थकस्तु । कथं पुनरनर्थको

भा. नाम वेदो भवितुमर्हति ? । सति अर्थे नानर्थकः, असति त्वर्थे किमन्यत् उच्येत । 'एवं तर्हि वाक्याङ्गवित्यति, ऋत्यर्थे सति न वाक्यार्थाङ्गवकल्प्यते' । सत्यमेवमेतत्, अविष्यते त्ववकल्प्यते । कथं अविष्यते ? । गुणवचनस्याप्रमादपाठात्, स्वपदार्थस्य च ब्रह्मान्तरेण विहितत्वात् । तस्मात् सिद्धं,—'गुणार्थेन' 'दभा जुहोति'—इत्येवमादीनां 'पुनःश्रुतिः' । जुहोतिश्चारणं च अनुवादो गुणसम्बन्धार्थः । 'यदि जुहोति—इत्यनुवादः, केनेदानीं गुणो विधीयते ?' । दधिब्रह्मेनेति मा वीचत* । 'ननु इदानीमेव वाक्यात् गुणव्यापारो गम्यते—इत्युक्तम्' । सत्यमेवमेतत्, अविधीयमानस्तु कुतो गम्यते ?—इति, प्रमाणमस्य नावगम्येत ! असति प्रमाणे ध्यामोहः स्यात् ! एवं तर्हि विधायकौ जुहोत्याधारयतिशब्दौ । कस्य तर्ह्यनुवादः ? । धात्वर्थस्य—इति ब्रूमः ।

यदि विधायकौ, पूर्वमेव विहिते स्वार्थे, किमर्थं पुनरुच्यते ? । वाक्यार्थो यस्तं विधातुमित्यदोषः ; तस्मात् कर्मान्तरचोदने । यदुक्तं,—नास्त्याघारे प्रहृतं द्रव्यदेवतमिति । किमेवं सति द्रव्यदेवतेन, यदा प्रसिद्धार्थाभिधानाभिज्ञातमेवास्य रूपम् । अपि च, चतुर्गुहोतं वा एतद्भूतस्याधारमाचार्येति आन्धमस्य द्रव्यं, मासवर्णिको देवताविधिः,—'इन्द्र उर्द्धोऽधरो दिवि स्पृशतु महतो यज्ञो यज्ञपते इन्द्रवान् खाहेत्याधारमाधारयति'†—इति, एवमसाविन्द्रवान् यद्यस्य इन्द्रो देवता, तत् यदि देवताभिधानमेतदाधारस्य, ततोऽनेनाधारः हृतो भवति । तस्मात् कर्मान्तरे, न समुदायशब्दौ—इति सिद्धम् ॥ (२ । २ । ५ अ०) ॥

* मा वीचतेति, वाजपेयाधिकरणवत् ग्रन्थच्छायाऽत्र योजनीया, प्रत्ययो विधिरेव धात्वर्थानुवाद इति विवेक इति वार्तिकम् ।

† एष मन्त्रः प्रतिपुस्तकं विभिन्नाकारतया पठितः, मूलग्रन्थे चाट्टल इति एष एतादृश एवेत्यत्र नास्ति निश्चयः ।

पशुसोमापूर्व्वंहाधिकरणम् ।

स. द्रथसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः, प्रकरणे ह्यनर्थको
द्रथसंयोगो न हि तस्य गुणार्थेन ॥ १७ ॥ (सि०)

भा. उद्योतिष्ठोमे श्रूयते,—‘यो द्योक्षितो यदग्नीषोमीयं पशु-
मालभते’—इति, तच्चेद्दमामनन्ति,—‘इद्दयस्यायेवद्यत्थय जि-
ह्वायाः, अथ वक्षसः’—इति; तथा ‘सोमेन यजेत’—इति,
तच्चापि, ‘ऐन्द्रवायवं गृह्णाति, मैत्रावरुणं गृह्णाति, आश्विनं
गृह्णाति,—इत्येवमादि । तत्र संशयः,—किमवद्यतिगृह्णाति—
चोदितानां कर्मणामेवालभतियजती समुदायस्यानुवदितारौ,
अथ अपूर्व्वयोः कर्मणोर्विधातारौ ?—इति ।

किं तावत् प्राप्तम् ?—समुदायस्य—इति । कुतः ? । ये
इमे आलभतियजतिभ्यां कर्मणी विधीयेयातामिति चिन्नेरते,
पूर्व्वमेव ते अवद्यति-गृह्णातिभ्यामवगमिते ; नचावगमितोर्भ्यां
विधीयते । इद्दयादींस्तु पशुशब्देनानुवदति, सोमशब्देन च
रसम् । तस्मात् ‘सोमेन यजेत’—इत्यनुवादो यजतिः ‘यजेत
स्वर्गकामः’—इति फलसम्बन्धार्थः ; ‘पशुमालभते’—इति चाल-
भतिः अग्नीषोमसम्बन्धार्थः । अपि च, ‘दत्रैतानध्वर्युः प्रातःसवने
यद्दानं गृह्णाति’—इति समुच्चयो दृश्यते । तथा ‘आश्विनो
दश्रमो गृह्णाते’, ‘*तृतीयो ह्ययते’—इति च क्रमः । यदि च
अपूर्व्वो यागो विधीयेते, तत्र ऐन्द्रवायवादिभिर्देवता विधीयेरन्,
ता एकार्थाः सन्त्यो विकल्पेरन् । यथा, ‘खादिरे वध्नाति,
वालात्रे वध्नाति रोहितके वध्नाति’—इति । तत्र क्रमसमुच्चय-
दर्शनेनोपपद्येयाताम्, अथ पुनरश्विन् समुदायवचने, यजती
संभ्यगेतद्वक्तृत्वं भवति ; तस्मात् समुदायानुवादी ।

* तं तृतीयं जुहोति इति वार्तिके पाठः ।

भा. एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अपूर्वयोः कर्मणोर्विधानचोदने पशुसोमयोः।
 कुतः?। सोमब्रह्मदः क्षीरिण्यां लतायां प्रसिद्धी न रसे, आह-
 तिवचनो हि सोमब्रह्मदो न शक्तिवचनः। तथा, ऋङ्गिणि
 पुच्छवति सोमब्रह्मे चतुष्पदि द्रव्यविशेषे पशुब्रह्मदमाहतिवचन-
 मुपचरन्ति, न च, एवमाहतिवचनप्रवृत्त्याः प्रकृता यागा विद्यन्ते!
 येषामिमौ समुदायस्यानुबद्धितारौ भवेयाताम्। ‘ननु पशु-
 विकारो हृदयादिः पशुब्रह्मदेनाग्नीषोमसम्बन्धार्थमनूद्यते’। नैत-
 देवम्—पशुरग्नीषोमीयो भवति—इत्येतावत् उच्यते, नार्थं
 प्रकृतो हृदयादिः पशुरिति। तत्र यदि, लौकिकस्य पशो-
 र्गृहणं ततो मुखाः पशुब्रह्मदः, यदि हृदयादेः, ततो जघन्यो
 विकारसम्बन्धेन; तथा, सोमब्रह्मदोऽपि विकारसम्बन्धेनानुवादः
 स्यात्! तस्मात् अपूर्वं कर्मणी विधीयेयाताम् न अनुवादादौ।
 अथ ‘इन्द्रवायवादिषु प्रकृतेषु यागेषु लता विधीयेत’—इति।
 उच्यते,—न, सा ब्रह्मवाक्येन ऐन्द्रवायवी ज्ञातुम्, श्रुत्या
 हि रस ऐन्द्रवायवः। तस्मात् द्रव्यसंयोगवचनः प्रकृतेषु यागे-
 स्वपि सत्सु विधातुमनुबद्धितुम् वा न ब्रह्मवचनार्थकः स्यात्।
 तस्मात् अपूर्वकर्मणी विधीयेयातां, न प्रकृतानामनुवादादौ—
 इति ॥

स. अचोदकाश्च संस्काराः ॥ १८ ॥ (पू० नि०)

भा. एवं तावत्, प्रकृतेषु सत्सुपि नानुवादादौ—इत्युक्तम्, अथ
 इदानीं, प्रकृता एव यागा न सन्ति—इत्युच्यते। कुतः?।
 अचोदकाः संस्काराः, न च, ऐन्द्रवायवादिभिर्यागा विधीयन्ते,
 तेन* यद्दणमुपकल्पनमात्रम् दृष्टार्थम्, उपकल्प्यमाने तु देवता-

* अत्र का० सं० पुस्तके पाठवैपरीत्यं विद्यते, अर्थस्तु न भिन्न इति
 नोदुतः स पाठः ।

भा. सङ्कीर्त्तनमदृष्टाय ; अतः, 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति'—इति इन्द्र-
वायुभ्यां सङ्कल्पयति—इत्येतावदुक्तं भवति, तत्र यागमन्तरेण
सङ्कल्पयतीत्येतन्न युज्यते—इति यागः कल्प्येत, स एवाग्नातो
यागः, यस्मिन् सति सङ्कल्पोऽवकल्प्येत । तस्मान्न, ऐन्द्रवायवं
गृह्णाति—इत्येवमादिभिर्यागा विधीयेरन्, प्रहृतानां यागा
नामभावात् समुदायशब्दो यजतिः, तथा सभतिशब्दः—इति ॥

स. तद्भेदात्कर्मणोऽभ्यासो द्रव्यपृथक्त्वादनर्थकं हि स्याद्भेदो
द्रव्यगुणीभावात्* ॥ १६ ॥ (उप०)

भा. पशौ हृत्ता कथा दशमेऽ पुनश्च विध्यति, सोम इदानीं
वर्त्तते । 'कथं क्रमसमुच्चयौ ?—इति' । इन्द्रवाय्वाद्या देवता नैवं
श्रूयन्ते,—इन्द्रवायुभ्यां यागो निर्वर्त्तयितव्यः, मित्रावरुणाभ्यां
यागो निर्वर्त्तयितव्यः—इति, यद्वेवमश्रोष्यन्त, यागं प्रति देवता
व्यकल्पिष्यन्त, केवलया हि देवतया तदा यागो निर्वर्त्तयते—
इति विहितमभिविध्यत् । अथ पुनरिमाः अदृष्टार्थं गृह्णाति-
संस्कारं प्रति देवता विधीयन्ते, तत्र इन्द्रवायुसङ्कल्पादन्यो
मित्रावरुणसङ्कल्पः, तेन गृह्णातौ तत्क्षताददृष्टाददृष्टान्तरमुत्पा-
दयति, एवमपरेष्वपि ग्रहणेषु, तस्मात् समुच्चयः । ग्रहणन्तु
नियतपरिमाणेषु पूर्णपात्रेषु प्रादेशमात्रेषु नियतपरिमाणेषु दक-
कलशेषु संस्कृतस्य दशमुष्टिपरिमितस्य हृत्तस्य सोमस्य नाव-
कल्पते; यद्यपि च अवकल्पेत, तथापि नित्यवद्विहितानां
देवतानां विकल्पपक्षे तावत्प्रयोगवचनो मा बाध—इति अव-

* तद्भेदात् देवतासंयोगभेदात्, ग्रहणकर्मणोऽभ्यासः, देवतासंयुक्त-
ग्रहणसंस्कार्यद्रव्यपृथक्त्वात् अनर्थकं हि संयोगान्तरश्रवणम्, अननुष्ठीय-
मानं अनर्थकं स्यात्, तेन ग्रहणस्य भेदः, संस्कार्यद्रव्यं प्रति गुणीभावादिति
वार्त्तिकम् ॥

† पशोरेकहविद्वमित्यत्र ।

भा. यवयद्दृष्टमेव न्याय्यम्, ह्यत्स्यद्दृष्टे हि तदेव इन्द्रवायुभ्यां सङ्कल्पितं, तदेव मित्रावषणाभ्याम्—इति नावकल्पेत । तस्मात् कल्पनभेदात् पृथगवस्थितः सोमो नानादेवतत्वादेव नैक्येन ब्रह्मः कर्तुम् । न चासति देवतायागे देवताभ्यः ब्रह्मते सङ्कल्पयितुम् ; तस्माद्दवश्यम् यथासङ्कल्पिता देवता यदृश्याः, तासु चेज्यमानासु ‘ज्योतिष्टोमेन यजेत’—इति श्रुतो यागो निर्दृप्त एव भवति, न देवतान्तरमाकाङ्क्षति, ह्यत्सनेन च दद्वमुष्टिना सोमेन यागः श्रुतः, सोऽसति अभ्यासे नावकल्पते—इति अर्थात् स गुणो भविष्यति—इति अव्यसितस्थो यागः, न हि अनभ्यस्तः सर्वाभिर्देवताभिः सर्वेषु च सोमेन सप्यजो भविष्यति । तस्मिंश्चाभ्यस्थमाने क्रमसमुच्चयौ युक्तावेव भवतः, तस्मात्तयोर्द्वन्द्वं युज्यते एव—इति ॥

स. संस्कारस्तु न भिद्येत, परार्थत्वात् द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्* ॥ २० ॥ (आ० नि०)

भा. यदप्युच्यते,—(१५०।२१)—यथा ‘खादिरे वध्नाति, पाषात्रे वध्नाति’—इति खादिरादयः संस्कारे विकल्पन्ते, तद्देवता विकल्पयिष्यन्ते—इति, तच्च नैवं युक्तं,—तच्च संस्कारमभिनिर्वर्त्तयितुम् खादिरादयः श्रूयन्ते; यदि च इन्द्रवास्वाद्या अपि यद्देवता यागमभिनिर्वर्त्तयितुम् श्रूयेरन्, ततोऽपि विकल्पः स्यात्, न त्वेता यागे श्रुताः; तस्मात् समुच्चीयेरन् ॥ (२।२।६ अ०) ॥

सङ्ख्याज्ञानकर्मभेदाधिकारश्चम् ।

स. पृथक्निवेशात् सङ्ख्याया कर्मभेदः स्यात् ॥ २१ ॥

भा. अस्ति वाजपेयः,—‘वाजपेयेन खाराज्यकामो यजेत’—इति,

* अत्र इदं सूत्रं वार्षिककृता जोडुतम् ।

भा. तच्च प्राजापत्याः पञ्चवः, 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते, सप्तदशो वे प्राजापतिः, प्राजापतेराप्तैर इयामास्तूपरा एकरूपा भवन्ति, एवमेव हि प्राजापतिः समृद्धौ । तच्च समृद्धयते,—किं सप्तदशैतानि कर्माणि, अथ सप्तदशपशुगुणकमेकं कर्म ?—इति । किं तावत् प्राप्तम् ?—एकं कर्म—इति । कुतः ? । प्राजापतये सप्तदश पञ्चवः सङ्कल्प्यन्ते किमेकं यागमाभिवर्त्तयितुम् उत बह्वम् ?—इति सञ्ज्ञये एकमिति ग्याय्यम्,—यो हि बह्वन् यागान् कल्पयति, कल्पयत्यसावेकं, तत्रैकस्मिन्नेव परिकृप्ते सप्तदशानामेव पशूनां परिकल्पनमुपपन्नं भवति, केन च द्वितीयादीन् यागान् अवकल्पयेम । एवं सति अल्पीयसी अदृष्टानुमानप्रसङ्गकल्पना भवति ; तस्मादेको यागः सप्तदशभिः पशुभिर्निर्वर्त्तते ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—सङ्ख्याया कर्मभेदो भवेत्, पृथक्के पशूनां सति सप्तदशसङ्ख्या निविञ्चेत्, तच्च पशूनां पृथक्त्वं बह्वेषु यागेष्ववकल्पते, नैकस्मिन् । कथम् ? । एकादशभिरवदानैरसौ यागो निवर्त्तयितव्यः—इत्येवं चोदकः प्रतिदिशति, तानि चैकस्मादेव पशोरवाप्यन्ते, तच्च द्वितीयादेराण्यम्भो नावदानसम्पादनाय भवितुमर्हति, एकमालभ्यमानमन्वालाभ्येरन्नदृष्टार्थायापरे, तच्चासत्यतदर्थत्वाच्च ते प्राजापत्या भवेयुः, तच्च प्राजापत्यान्—इति अवलम्बयन् पश्येत् । तेनैकस्मिन् पशौ पृथक्के निवेञ्चनी सप्तदशसङ्ख्या नावकल्पयेत्, बह्वेषु यामेषु बह्वभिरवावदानगणैः प्रयोजनं, तेन सप्तदशभ्यो यागेभ्यः सप्तदश पशूनुपाददीरस्तच्च सङ्ख्यासामञ्जस्यं भविष्यति, तस्मात् सप्तदश यागाः ।

'नन्वेकस्मिन्नपि यागे सप्तदशभिरवदानगणैर्यच्यते वचनात्' । न एतदेवं,—पशुषु द्विसासङ्ख्या श्रूयते, नावदानगणेषु ; अवदानानि हवींषि यागसाधनानि, न पशुवाह्यतः, सा हि अवदानप्रकृतिद्रव्यं विञ्चयन्ती प्रकृतौ प्रधानस्योपकृतवतीति

भा. विज्ञानावगम्यवदानप्रकृतिद्रव्यं विज्ञिषन्ती प्रधानस्थोपकारिण्यति,
 तत्र च पञ्चोः सप्तदशसङ्ख्या विकारिका, नावदानगणस्य,
 तस्यादेकस्मै अवदानगणाय एकः पञ्चुरालम्ब्यः प्राप्नोति, तत्र
 सप्तदशसङ्ख्या नोपपद्यते, एवमेवावकल्पिष्यते । यदि ऋङ्गाभि-
 प्रायाः वर्णाभिप्राया रूपाभिप्राया वा अभविष्वन् सप्तदशपञ्चवः
 श्वेतः ह्यणो रोहितः—इत्येवमादयः, तेषामन्यतमो गृह्यते—
 इति, अथवा तूपराः ऋङ्गिष एकऋङ्गाः—इत्येवमादयः, तेषा-
 मन्यतमः—इति, ते हि न्यामास्तूपरा एकरूपाः श्रूयन्ते, तदेषु
 बङ्गेषु यागेषु उपपद्यते, नैकस्मिन्; तस्यात् सप्तदश यागाः—
 इति । प्रयोजनमेकस्मिन्नष्टे दुष्टे ह्यन्वः पञ्चुगद्य आबर्त्तत,
 एकमालम्ब्यमानमन्वालयभेरन्, पूर्वपक्षे अकृष्टार्थं; सिद्धान्ते एक
 एव पञ्चुरावर्त्तते, न हि कर्मभेदे पञ्चुः पञ्चन्तरमाकाङ्क्षति—
 इति ॥ (२।२।७ अ०) ॥

संज्ञाज्ञतकर्मभेदाधिकरणम् ।

संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात् ॥ २२ ॥

भा. 'अथैव ज्योतिरथैव विश्वज्योतिरथैव सर्वज्योतिः'—इति ।
 अत्र सन्देहः,—किमेभिर्नामधेयैः प्रकृतं ज्योतिष्टोमं सङ्कीर्त्तय तत्र
 सङ्ख्यदक्षिणादिगुणो विधीयते, अथ वा बह्व्यमात्रविशेषाणि
 कर्मान्तराण्युपदिश्यन्ते?—इति । किं प्राप्तम्,—प्रकरणानुषङ्गात्
 प्रकृतस्य गुणविधानमिति । 'ननु वाक्यसामर्थ्यात् ज्योति-
 रादीनामेते गुणा विधाविष्यन्ते' । नैव दोषः, ज्योतिष्टो-
 मस्यैवैतानि वाचकानि, ज्योतिः—इति ज्योतिष्टोमस्य प्रतीक-
 मुपादीयते, विश्वज्योतिः—इति चिह्नदादीन्यस्य ज्योतींषि
 वाक्यशेषसङ्कीर्त्तितानि, तानि सर्वाण्यस्य, तेनासौ विश्वज्योतिः
 सर्वज्योतिश्च ज्योतिष्टोमः—इति एवं प्राप्तम् ।

भा. एवं प्राप्ते ब्रूमः,—संज्ञा हि तिष्ठो भेदिकाः, तेषां ज्योति-
 राद्याः, उत्पत्तिवाक्ये ज्ञेताः श्रूयन्ते, तासामिमाः पुनः श्रुतवः;
 तस्मादथैष ज्योतिः—इति अपूर्वस्य कर्मणो विधायकं वाक्यम्,
 अनुवादे हि सति अप्रवृत्तिविशेषकरमनर्थकं स्यात्। प्रकृतस्य
 च गुणविधाने विकल्पो भवेत्,—तत्र* पक्षे बाधः, न च ज्योति-
 रादयो ज्योतिष्टोमस्य वदितारः,—समुदायान्तराणि ज्ञेतानि,
 न चावयवेन समानेन समुदायान्तरं तदर्थमेव भवति, यथा
 ब्राह्मणशब्दो गृहवचनः, तत्र न ब्राह्मणशब्दसामान्यान्मासा-
 शब्दादयोऽपि गृहवचना भवन्ति। यस्तु 'ज्योतिष्टोमस्य
 ज्योतिरिति प्रतीकमुपादीयते'—इति। प्रकरणसामर्थ्याद्धि
 तत्र ज्योतिष्टोमशब्देन परोक्षैकवाक्यता भवेत्, सा प्रत्यक्षं
 ज्योतिःशब्देन सहैकवाक्यतां बाधेत, नचैतन्नप्राप्त्यर्थं, वाक्यं हि
 प्रकरणाद्गृहीयः। अथ 'पुनरर्थं ज्योतनार्थत्वाद्वा ज्योतिष्मत्त्वाद्वा
 कर्मान्तरे वत्स्यति, यत्र चिददादीनि ज्योतीषि तेषां साकल्य-
 वचनो विश्वज्योतिः सर्वज्योतिः'—इति चेत्। न—इति ब्रूमः,
 —न हि चिददादिषु ज्योतिःशब्दः प्रसिद्धः, एवं ब्रुवन् प्रसिद्धिं
 बाधेत। यस्तु 'वाक्यशेषात् ज्योतिःशब्दः चिददादिवचनः'—
 इति, तस्मिन्नेव वाक्ये स तत्र प्रयुक्तः—इति गम्यते प्रमाणान्तरेण,
 न शब्देन, यत्र तु तत्प्रमाणान्तरं नास्ति, न तत्र वर्तितुमर्हति,
 यथा सिद्धो देवदत्तः—इति सिद्धशब्दो देवदत्तवचनः प्रमाणा-
 न्तरेण, न तु सिद्धमात्रमेत—इति वच, तत्र तु तत्प्रमाणान्तरं
 नास्ति। तस्मात्त विश्वज्योतिः सर्वज्योतिः—इति च ज्योति-
 ष्टोमस्य वदितारौ, न चेज्ज्योतिष्टोम उच्यते, सर्वाणि कर्मान्त-
 राणि ॥ (२।२।८ अ०) ॥

* 'प्रकृतस्य गुणविधाने विधातये' इति का० प्रा० पु० ॥

देवताभेदकृतकर्मभेदाधिकरणम् ।

स. गुणश्चापूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात् ॥ २३ ॥

भा. चातुर्मास्येषु वैश्वदेवे समामनन्ति,—‘तप्ते पयसि दधानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्’—इति । तत्र सन्दिह्यते,—किमामिक्षागुणके कर्मणि वाजिनं गुणविधिः, उत तस्मात् वाजिनगुणकं कर्मान्तरम् ? । किं प्राप्तं ?—गुणविधिः—इति । कुतः ? । वाजेनाग्नेनामिक्षया वाजिनो विश्वेदेवास्ताननूद्य वाजिनं विधीयते, तेनोभयं वैश्वदेवम्,—आमिक्षा वाजिनं च । तस्मिन्नेव च कर्मणि वाजिनगुणविधिः । यथा अग्निहोत्रं जुहोति—इत्युक्ते दधा जुहोति, पयसा जुहोति—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—गुणश्चाप्रकृतेन देवताभिधानेन सम्बन्धमानः कर्मान्तरं विदधात्, समे हि तद्वैते वाक्ये भवतः, उभे अपि अपूर्वयोर्वागयोः विधातृणी । ‘कथं पुनरपूर्वदेवताभिधानम् ? यदा इदानीमेव उक्तं,—विश्वेषां देवानामनुवादो वाजिनम्’—इति । तदुच्यते,—इह विश्वेषां देवानां देवतात्वं कश्चित् श्रुत्या, कश्चित् वाक्येन ;—तद्वितनिर्देशे श्रुत्या, चतुर्थीनिर्देशे वाक्येन ; यत्र श्रुत्या देवतात्वं, तत्रामिक्षया सहैकवाक्यत्वम् ; यत्र चतुर्थी, तत्र वाजिनेन ; तत्रैषामेकत्र श्रुत्या देवतात्वं, वाक्येन द्रव्यविशेषसम्बन्धः ; एकत्रोभयमपि वाक्येन ; तद्दिह देवतात्वं प्रति श्रुतिवाक्ययोर्विरोधः, विरोधे च श्रुतिर्बलीयसी—इत्यामिक्षावाक्ये देवतात्वं विश्वेषां देवानां, न वाजिन-वाक्ये इत्यध्ववसीयते, तेनावगम्यते,—अप्रकृतेन देवतापदेनास्य सम्बन्धः—इति ; तस्मात् कर्मान्तरमिति । (२ । २ । ९ अ०) ॥

अथ यदुपवर्णितम्,—‘यथा अग्निहोत्रं जुहोति—इत्युक्ते दधा जुहोति—इत्येवमाद्यो गुणविधयः’—इति । तत्रोच्यते,—

(पूर्वाधिकारशाश्वत्कारासो द्रव्यविशेषानुक्तिरुक्तकर्म्मैक्याधिकारं वा)

स. अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत ॥ २४ ॥

भा. युक्तं यत् तत्र गुणविधानं, न तत्रापहतेन केनचिद्गुणेन सम्बन्धः, प्रहतेन त्वस्ति यागेन; तस्मादनुपवर्णनमेतत् ।

अथ वा अधिकारान्तरं,—‘इद्वा जुहोति—इत्येवमादीनि कर्मान्तराणि, विकल्पपरिजिहीर्षयाऽवकल्प्यन्ते । तदेव तु कर्म जुहोति—इतिशब्दादवगम्यते, न कर्मान्तरम्; तस्मात्तत्रैव गुणविधिः, वचनाद्विकल्पश्च—इति सिद्धम् ॥ (२।२।१० अ०) ॥

दद्यादिद्रव्यसफलत्वाधिकारकम् ।

स. फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात्, फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥ २५ ॥
(पू०) ॥

भा. अग्निहोत्रं प्रहृत्य समामनन्ति,—‘इधेन्द्रियकामस्य जुहुयात्’—इत्येवमादि । तत्र संबन्धः,—किमग्निहोत्रहोमाहोमान्तरं इधादिहोमः, उत इधादेर्गुणात् फलम्?—इति । किं प्राप्तं?—होमान्तरम्—इति । कुतः? । ‘फलश्रुतेः’, फलमिह श्रूयते, तत्र कर्मणो न्याय्यम् ।

‘किं* दृष्टं हि कर्मणः फलम्? ह्यत्यादितो व्रीह्यादि’ । न—इति* ब्रूमः, न ह्येतत् दृष्टेनानेन सिध्यति, यदि दर्शनं हेतुः

* ‘तत्र कर्मणो न्याय्यमिति पूर्वपक्षवादिनाभिहिते सिद्धान्तवादी दधिपदार्थानर्थक्यभयेन भावार्थाधिकारकन्यायासम्भवात् शब्दस्यासामर्थ्यं मन्यमानः पृच्छति,—किं दृष्टं हि कर्मणः फलं ह्यत्यादित इति, अनेन सामान्यतोदृष्टेन (अनुमानेन) होमात् फलं मन्यसे’ इति वार्तिकम् ।

† पूर्वपक्षवादी सामान्यतोदृष्टानुमाने दोषं दर्शयन् होमात् फलमिति शब्दादेव प्रतीयते इति प्रतिपादयति नेतीति । अथवाभासः वार्त्तिकानुसारी ।

भा. फलज्ञाने, ज्ञाप्यादौ पदार्थं तद्दर्शनं, न होमे । 'अथ ज्ञाषौ
दृष्टमन्यत्रापि भवति' । द्रव्यादपि प्रसज्यते । 'अथ ज्ञापिसदृशात्
भवति—इत्युच्यते, ज्ञापिसदृशो होमः क्रियात्वात्, न द्रव्यं,
असदृशं हि तत्'—इति । होमोऽप्यसदृशः, मन्त्रदेवतादि-
साधनत्वाद्धोमस्य, साङ्गलादिसाधनतवाच्च ज्ञापेः ; त्यागात्मक-
त्वाद्धोमस्य, पाटनात्मकतवाच्च ज्ञापेः । 'अथ किञ्चित् सादृश्यं
मृच्छते' । द्रव्यस्यापि सदनित्यमित्येवमादि किञ्चित् सादृश्य-
मस्ति । 'अथ द्रव्यादन्यत् सदृशतरमस्ति—इतिज्ञात्वा न द्रव्यं
सदृशम्—इत्युच्यते' । होमादप्यन्यत् ज्ञापेः सदृशतरमस्ति
दृष्टार्थम्—इतिज्ञात्वा होमोऽप्यसदृशः स्यात् । नचैतत्सिद्धं,—
यत् क्वचित् दृश्यते, तदन्यस्मिन् सदृशमात्रे अदृष्टमपि भवितु-
मर्हति—इति, यद्वा यस्य कारणभूतं दृष्टं सिद्धे, तच्चेत्साध्येऽपि
कारणभूतमित्यवगम्यते, भवति तत्तस्य साधकं, यन्न ज्ञायते
कारणभूतम्—इति, न तत् सदृशमपि साधकं ; तस्मात् सदृश-
मपि साधकमसाधकं वेति परीक्षितव्यम्—इति । 'अथ यत्कर्म
तत् फलवत् दृष्टं, होमोऽपि कर्म, तेनापि फलवता भवितव्यम्'—
इति । उपरते कर्मणि द्रव्याणां तत्संयोगानाच्च द्रव्यान्तरं
फलं दृष्टम्—इति द्रव्यमपि फलवत् स्यात् । अपि च ज्ञापे-
र्नादृष्टमिति तत्सादृश्याद्धोमादपि नादृष्टं भवेत्, ज्ञापिसा-
दृश्याद्वा व्रीहिरेव भवेत्, न इन्द्रियम् ; तस्मात्सर्वजातीयकेत्वे-
तत् भवति दृष्टाददृष्टसिद्धिः—इति । कथं तर्हि होमात्प्रारब्धं
फलम्?'—इति । उच्यते, ब्रह्मेनावगम्यते तत्फलं, वतः फलम्
—इति ब्रह्म आह, ततो न्याय्यं, होमाच्च फलमिति श्रुत्या
ब्रह्मेन गम्यते, दध्नः फलम्—इति वाक्येन, श्रुतिश्च वाक्याद्-
बलीयसी । तस्मात् होमात्फलम्—इति न्याय्यं, दध्नः फलमिति
चान्धारयम् ।

अपि च दधि उभयमसमर्थं,—कर्तुम् फलं, साधयितुम् होमश्च ।

भा. ननु 'कम्बलनिर्णेजनवत् एतद्भविष्यति, निर्णेजनं हि उभयं करोति,—कम्बलशुद्धिं पादयोश्च निर्मलताम्' । न ब्रूमः, एकस्योभयं प्रयोजनमभिनिष्पादयितुं सामर्थ्यं नास्ति—इति, किं तर्हि फले गुणभूतं दधि होमे च—इत्येकं वाक्यं वदितुमसमर्थमिति ; यदि फलं दध्ना कुर्यादिति ब्रूयात्, न दध्ना होमम्—इति, अथ दध्ना होमं साधयेत्—इति ब्रूयात्, न फलमिति ; उभयवचने भिद्येत वाक्यम्, अभिन्नश्चेदमुपलभ्यते ; तस्मात् न गुणात्फलमिति अग्निहोत्रहोमाद्दधिहोमः कर्मान्तरम्—इति ॥

ख. अतुल्यत्वात् वाक्ययोगुणो तस्य प्रतीयेत ॥ २६ ॥

(सि०) ॥

भा. तु ब्रह्मात्पक्षो विपरिवर्तते, न कर्मान्तरं, किन्तु गुणात्फलम्—इति । कथं ? । अतुल्ये ह्येते वाक्ये, 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'—इत्यत्र कर्मसमभिव्याहृतं फलं स्वर्गकामो होमेन कुर्यात्—इति, 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्'—इति गुणसमभिव्याहृतं ; न हि अत्र होम इन्द्रियाय कर्त्तव्यः—इति प्रतीयते, किं तर्हि दध्ना होम इन्द्रियकामस्य—इति, होमस्य दधिसम्बन्ध इन्द्रियाय, न होमस्योत्पत्तिः,—य इन्द्रियकामः स्यात्, स दध्ना होमं कुर्यात्—इति । 'कतमोऽत्र शब्दः पुरुषप्रयत्नस्य वक्ता ?'—इति । जुहुयात्—इति ब्रूमः ।

'ननु अतुल्या होमसम्बन्धमेष पुरुषप्रयत्नं वदति, वाक्येन दधिसम्बन्धम्, न च, वाक्यं अतिमपबाधितुमर्हति । न च, युगपदुभयसम्बन्धो न विवक्ष्यते, वाक्यं हि तथा भिद्येत—इति । अपोच्यते,—ये भवदीयं पक्षमाश्रयेरन्, ते अतिमपबाधेरन्तराम्, अस्मादीये तु पुनः पक्षे जुहुयादितिधात्वर्थः केवलोऽपबाधितो भवति, युष्मादीये तु ह्यन्त एव 'दध्ना'—इति शब्दः ; तं चाप्रमाद्यन्तः समामनन्ति—इति गम्यते ; नचैतत्प्रमत्तगीतम्,

भा. —इत्युक्तं,—तुल्यं हि साध्यदायिकम्—इति । तस्मात्त कर्म-
समभिव्याहृतं फलं, गुणसमभिव्याहृते तु न कश्चित् प्रमाद-
पाठः, अथयं हि, जुहुयात्—इति दध्नेन्द्रियकामयोः सम्बन्ध-
विधानार्थं वक्तव्यं भवति । 'ननु उच्यमानेषु न केवलः
करोत्यर्थोऽवगम्यते, केवले न वक्षःप्रयोजनं, स च होमसम्बद्धः,
तस्मात् असमञ्जसम्—इति । न—इति ब्रूमः,—होमसम्बद्धो-
ऽप्यसौ करोत्यर्थ एव, केवलं तु अस्य होमसम्बन्धे विशेषः, न
तु करोत्यर्थतां बाधते, इन्द्रियकामस्य होमसम्बद्धं प्रयत्नं दधि-
सम्बद्धं कुर्यात्—इति । 'नन्वेवं सति स एव दोषः, होम-
समभिव्याहृतं फलम्—इति । उच्यते,—जुहुयादिति शब्दस्यै-
तत्त्वामर्थं,—यत् होमविशिष्टं प्रयत्नमाह, न तु अत्र होमः
साधनत्वेन विधीयते, साध्यत्वेन विशिष्टस्तु प्रयत्नो वाक्येन
दध्माश्रितोऽवगम्यते, अत एव च दृष्टिकारेणोक्तं,—'होम-
माश्रितो गुणः फलं साधयिष्यति—इति, यथा राजपुरुषो
राजानमाश्रितो राजकर्म करोति—इति । तस्मात् दध्नः फलं,
य इन्द्रियकामः, स दध्ना कुर्यात् इन्द्रियमिति । कथम्?—
इति । अनयाऽग्निहोचेतिकर्त्तव्यतया—इति । कुत एतत्? ।
फलसाधनस्य दध्नः इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षात्वात्, अस्याश्चेतिकर्त्तव्य-
तायाः सन्निधानात्, सोदनाखिङ्गस्य च जुहोत्यर्थस्य दर्शनात् ;
यस्मादेव चार्यं जुहोत्यर्थोऽनुवादः, तस्मात् अविधायकः । न
च, अन्यहोमस्य विधायकं नास्ति—इति, तस्मात्त कर्मान्तरं,
तस्मात् दध्नः फलमिति । अथ वा दधिशब्दस्य विवक्षितार्थत्वात्
दधिहोमसम्बन्धोऽर्थं वाक्येन विधीयते, तेन दध्नी होमेन
सम्बन्धमानात् फलं भविष्यति—इति ॥ (२।२।१९ अ०) ॥

वारवन्तीयादीनां कर्मान्तरताधिकरणम् ।

स. समेषु कर्मयुक्तं स्यात् ॥ २७ ॥

भा. 'त्रिट्दग्निष्टुदग्निष्टोमस्तस्य वायव्यासु एकविंशमग्निष्टोमसाम
हत्वा ब्रह्मवर्चसकामो यजेत'—इति, 'एतस्यैव रेवतीषु वार-
वन्तीयमग्निष्टोमसाम हत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेत'*—इति ।
अत्रायमर्थः सांख्यिकः, किं तस्यैवाग्निष्टुतोऽग्निष्टोमस्य गुणात्
वारवन्तीयात् पञ्चवः फलं, 'एतेन यजेत'—इति अनुवादः, अथ
किम् 'एतेन यजेत'—इति कर्मान्तरम्?—इति । किं प्राप्तम्?—
न कर्मान्तरं गुणात्फलम्—इति । कुतः? । एतेन यजेत—इति
विदितस्यैतद्वचनं, नाविदितस्य, अतो न विधन्तरं, पशुकाम एव
यजेत—इत्युच्यते, न यजेत—इति, कथं हत्वा?—वारवन्तीयं
हत्वेति । अपि च, एतस्यैव—इति विस्पष्टम् अर्कमान्तरवचनम् ।
तस्माद्गुणात्फलम्—इति एवं प्राप्तम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—समेष्वेवंजातीयकेषु भिन्नवाक्येषु कर्मयुक्तं
फलं भवेत्, एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयं हत्वेति, न ह्येतस्य
रेवत्यः सन्ति, यासु अस्य वारवन्तीयं भवेत्, तत्र रेवत्यो

* अग्निष्टोमस्य विदितरूपः कश्चिदेकाहोऽग्निष्टुत्सामकः, स च एष्ट-
स्तोत्रे त्रिट्त्स्तोमयुक्तात्तथा त्रिट्दित्युच्यते, अग्निष्टोमोक्तादीनां सप्तानां
सोमसंस्थानां मध्येऽग्निष्टोमसंस्थासमाप्तिः, संस्थारूपत्वात् अग्निष्टोम
इत्युच्यते । तत्र प्रकृतौ तृतीयसवने आर्भवपवमानस्योपरि यज्ञायज्ञीयं
साम गीयते, तेन च साम्ना अग्निष्टोमभागस्य समाप्यमानत्वात् अग्निष्टोम-
सामेत्युच्यते, तत्र साम प्रकृतौ 'यज्ञायज्ञा वा अभयः'—इत्याद्याभेयेषु
ऋक्षु गीयते, अस्मिंस्तु अग्निष्टुति ब्रह्मवर्चसकामेन वायव्यासु ऋक्षु तत्
साम गातव्यम्, तत् प्रकृताविवैकविंशस्तोमयुक्तं । पशुकामस्य तु, रेवतीषु
इत्यादिषु रेवतीषु ऋक्षु वारवन्तीयं साम गायेदिति भाष्यवः ।

भा. भवन्ति, तासु च वारवन्तीयं विधीयेत—इति वाक्यम्भिद्येत ! ।
 'अथोच्यते,—अस्य पूर्वा रेवतीचपादाय तासु च वारवन्तीयं
 कृत्वा, एतेन यजेत—इति अनुवदति—इति' । तथा अग्निष्टोम-
 सामेति नावकल्प्येत । 'अथाग्निष्टोमसामकार्यं भवति—इत्यु-
 च्यते' । एतस्यैवेत्येतद्विवक्षितं स्यात् ! उभयस्मिन् विवक्ष्यमाणे
 भिद्येत वाक्यम्, तस्मात् कर्मान्तरम् ।

'अथ कर्मान्तरे कथमवाक्यभेदः ?' । रेवतीषु ऋक्षु वारवन्तीयं
 साम कृत्वा पशुकामो यजेत—इति अपूर्वा यागः सर्वैर्विशेषणै-
 र्विशिष्टो विधीयते, तेनैकार्थत्वं, विभागे च साकाङ्गत्वमिति
 एकवाक्यत्वमुपपद्यते । 'ननु अर्थभेदो यागस्यैवं अपूर्वः कर्तव्यः,
 रेवतीषु वारवन्तीयं अपूर्वमिति' । न—इति ब्रूमः,—निर्दृष्ट-
 वारवन्तीयरेवतीगुणको यागो विधीयते, न वारवन्तीयनिर्दृष्टिः,
 अर्थात् रेवतीषु वारवन्तीयमभिनिर्दृष्ट्यति, ब्रह्मते च तत्
 निर्बर्त्तयितुम् । 'उच्यते,—रेवतीनां वारवन्तीयस्य च सम्बन्धो
 न विहितः स्यात्, तत्र च रेवतीष्वन्यान्यपि सामानि भवेयुः !
 वारवन्तीयं चान्यास्यपि ऋक्षु' । नैष दोषः,—कृत्वेत्यभिनिर्दृष्टः
 सम्बन्धो यागाद्योच्यते, तेन सम्बन्धो गम्यते, दावप्येताष्वर्थो
 कृत्वेत्येष ब्रह्मः ब्रह्मोति वदितुम्,—अभिनिर्दृष्टिं पूर्वकासताच्च,
 यथा श्रोत्रमानय—इति रक्तगुणसम्बद्धोऽश्वः ब्रह्मेनैवानयतो
 विधीयते—इति, न वाक्यभेदो भवति, एवमत्रापि द्रष्टव्यम् ।

'नन्वेवमपि बह्वोर्थाः,—रेवत्यः, वारवन्तीयं, तत्सम्बन्धः,
 यागः, पशुकामश्च—इति' । नैष दोषः, बह्वः श्रूयन्ते, एकोऽपि
 विधीयते,—यागो विशिष्टः । 'ननु रेवत्योऽपि विधीयन्ते,
 वारवन्तीयमपि, यदि न विधीयेरन्, नैव तद्विशिष्टो यागः
 प्रतीयेत, न ऋविधाय विशेषणं, ब्रह्मते विशिष्टो विधातुम्,
 तस्मात् बह्वेषु विधीयमानेषु नैकार्थ्यम्' । अथोच्यते,—अर्थः—
 इति प्रयोजनमभिधीयते, यावान् पदानि एकं प्रयोजनमभि-

भा. निर्वर्त्तयन्ति, तावन्ति एकं वाक्यं, न च, अथ बह्विनि प्रयो-
जनानि, न हि, अचानेकस्याभिप्रेतस्यानेकं पदं विधायकमस्ति,
रेवतीष्विति नैतत्केवलं रेवतीनां विधायकम्, रेवतीषु वार-
वन्तीयमिति । अथापि पदद्वये वारवन्तीयशब्दो द्वितीयान्तः,
नास्मात् सम्बन्धोऽभिप्रेतो गम्यते, प्रातिपदिकार्थस्याद्यतिरेकात्,
कृत्वेत्यपि करोतिर्न सम्बन्धमात्रे पर्यवसितः परप्रयोजनसम्बन्ध-
माह ; एवं विशिष्टस्तु यजतिर्न परार्थः, तदेकमेवां पदार्थानां
प्रयोजनं, तस्मादेकवाक्यत्वं ; गुणे पुनः फले प्रकल्प्यमाने अग्नि-
ष्टोमसाम्नः कार्यं वारवन्तीयं, एतस्य च यदग्निष्टोमसाम—इति
वाक्यभेदः स्यात् ।

‘अथोच्यते, रेवतयादिसर्वविशेषेणविशिष्टो याग एतस्याग्नि-
ष्टुतो विधीयेत’ । तथापि पशुकामसम्बन्धात् भिद्येत वाक्यम् ।
‘अथैवमुच्यते, रेवतीषु कृतेन वारयन्तीयेन पशुकामो यजेत—
इति’ । नैवं शक्यम्, ऋगन्तरप्रगाणादिशेषहानाद्द्वैगुण्यं स्यात् ।
‘ननु इदानीमेवोक्तं,—शक्यते हि रेवतीषु वारवन्तीयं कर्तुम्—
इति’ । सति वचने शक्यम्, असति वचने न वारवन्तीयप्रकल्पेन
गृह्यन्ते । ‘वचनं तर्हि भविष्यति, पशुकामो रेवतीषु वार-
वन्तीयमभिनिर्वर्त्तयेत्, ततो यजेत—इति यजतिरनुवादः’ ।
यदि वचनं रेवतीषु वारवन्तीयसम्बन्धस्य, सिद्धं कर्मान्तरं,
नाग्निष्टुतो गुणविधिः । ‘ननु ततो यजेत—इति यागानुवा-
दात् यागेनास्याङ्गप्रयोजनसम्बन्धो भविष्यति’ । नैवं शक्यम्,—
यागं प्रत्यङ्गभावे विधीयमाने पशुकामं प्रत्यसम्बन्धः, उभय-
सम्बन्धे वाक्यमिद्येत । ‘अथ यागसम्बन्धोऽनुवादः, प्रकरणेन
चाङ्गता’ । नेदमुपपन्नं, प्रकरणाद्धि वाक्यं बलवत्तरं, तस्मात्
कर्मांतरं, यागगुणकं वा रेवतीषु वारवन्तीयं, तद्गुणको वा यागः,
तच्च यागपशुकामयोः सम्बन्धस्य विधात्रीं यजतेरुपरितर्नीं
विभक्तिमुपलभामहे सिद्धं, न तु रेवतीवारवन्तीयसम्बन्धस्य

भा. विधायकं साक्षात्किञ्चित् उपलभ्यते । तस्मात् सर्वविशेषण-
विशिष्टो यागः, यन्मुक्तकामस्य विधीयते—इति सिद्धम् ।

‘अथ पुनर्विशिष्टे यागे विधीयमाने, तत् रेवतीषु वारवन्तीयं
कथं अग्निष्टोमसाम भवति ?—इति’ । उच्यते,—वचनात् अग्नि-
ष्टोमसाम्नः कार्यं भविष्यति—इति, किमिष हि वचनं न
कुर्यात्, नास्ति वचनस्यातिभारः । अथ यदुक्तमेतस्यैव—इति,
अनन्तरायेषं वचनमिति तत्राप्यविरोधादेतद्धर्मकस्य—इति
उच्यते—इति भविष्यति । तस्मात् न गुणात्फलं, कर्मान्तर-
मेवधर्मकमिति,—सिद्धम् समेष्वेवंजातीयकेषु कर्मयुक्तं फलम्—
इति ॥ (२ । २ । १२ अ०) ॥

सौभरनिधनयोः कामैक्याधिकरणम् ॥

स. सौभरे पुरुषश्रुतेर्निधनं कामसंयोगः ॥ २८ ॥ (पू०)

भा. ‘यो वृष्टिकामो योऽज्ञाद्यकामो यः स्वर्गकामः, स सौभरेण
स्तुवीत सर्वं वै कामाः सौभरे’—इति समाग्न्याय ततः सभा-
मनन्ति,—‘हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात्, अर्गित्यज्ञाद्य-
कामाय, ज—इति स्वर्गकामाय’*—इति । तत्र विचार्यते, किं
सौभरम्,—वृष्टेर्निमित्तं, हीषित्येतदपरं वृष्टेर्निमित्तम्, अथ
सौभरमेव वृष्टेर्निमित्तं ? । यदा तत् वृष्टेर्निमित्तं, तदा हीषिति
सौभरस्य निधनं कर्तव्यम्—इति (एवं अर्गित्यज्ञाद्यकामस्य,
ज—इति स्वर्गकामस्य च तुष्यो विचारः) । कथं निधनादपरं
फलं ? कथं वा निधनव्यवस्थार्थं अवनम् ?—इति, यद्येवमभि-

* सौभरं नाम सामविशेषः, निधनं नाम पञ्चभिः सप्तभिर्वा भागै-
र्यपेतस्य साक्षोऽन्तिको भागः, तस्मिन् निधने हीवादयो विशेषाः
इति माधवः ॥

भा. सम्बन्धः क्रियते,—हीषिति वृष्टिकामाय कुर्यात्—इति, ततो निधनादपरं फलं, अथैवमभिसम्बन्धः,—हीषिति निधनं कुर्यात्—इति, तदा निधनव्यवस्थार्थं अब्रणम्, तदा वृष्टिकामाय—इति सौभरविशेषणं क्रियते, न हीषा सम्बन्धः ।

किं तावत्प्राप्तम्?—सौभरे निधने अपरः कामो विधीयते—इति । कुतः? । पुरुषश्रुतेः, पुरुषप्रयत्नस्याच अब्रणं भवति,—कुर्यात्—इति, तत् वृष्टिकामस्य हीषस्य सम्बन्धे कर्तव्ये वक्तव्यं भवति, न तु सौभरनिधनसम्बन्धे, तच्च हि साङ्गं सौभरं कुर्यात्—इति प्रयोगवचनसामर्थ्यादेव सिद्धम् । तस्मात् कुर्यात्—इति—पुरुषप्रयत्नवचनादवगच्छामः,—यतरस्मिन्पक्षे पुरुषप्रयत्नवचनमर्थवत् ततरोऽयं पक्षः—इति, तच्च अस्मिन्पक्षे अर्थवत्, निधनादपरं फलमिति; तस्मात् सौभरे एकः कामः, भेदेन निधनादपि द्वितीयः कामः—इति ।

अथ वा वृष्टिकामाय—इति पुरुषश्रुतिः, वृष्टिं यः कामयते, स पुरुषो वृष्टिकामशब्देन उच्यते, तदस्मिन् पक्षे श्रुतिर्विनियोजी इतरस्मिन् पक्षे पुनः वृष्टिकामशब्देन पुरुषवचनेन सता सौभरं लक्ष्येत, तथा लक्षणाशब्दः स्यात् ! श्रुतिलक्षणाविषये च श्रुतिर्न्याय्या, न लक्षणा; तस्मात् पन्थामो निधने द्वितीयः कामः—इति । एवं च फलभूयस्त्वं भविष्यति, तस्मात् निधने अपरः कामः ॥

ख. सर्व्वस्य उक्तकामत्वात् तस्मिन् कामश्रुतिः स्यात्,
निधनार्था पुनःश्रुतिः ॥ २६ ॥ (सि०)

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । न चैतदस्ति, यदुक्तम्,—निधने अपरः कामः—इति, नैवं सम्बन्धः क्रियते,—वृष्टिकामाय हीषिति कुर्यादिति । कथं तर्हि? । हीषिति निधनं सौभरस्य—इति । कथं? । हीषो वृष्टिकामसम्बन्धे क्रियमाणे, निधनं

भा. कुर्यात्—इति सम्बन्धो न कृतः स्यात्, तत्र हीषिति निधनम्—इति नावकल्प्येत, तत्रोभयसम्बन्धे वाक्यभेदः, तत्र निधन-
शब्दः प्रमादसमाम्नातः—इति गम्येत, नचैवंजातीयकः प्रमाद-
समाम्नातः—इत्युक्तं, तस्मात् न हीषो दृष्टिकामेन सम्बन्धः,
तेन न निधनादपरं फलम् ।

‘अथ हीषो निधनसम्बन्धे कथम् अवाक्यभेदः?—इति’ ।
उच्यते,—दृष्टिकामाय सौभरम् अस्त्येव, सौरभस्य निधनं
(सौभरमाप्तिः) अस्त्येव, तत्र हीषिति कुर्यात्—इत्येष एवाथो
विधीयते । तस्मात् अवाक्यभेदः—इति, अतो निधनव्यवस्थेति
गम्यते । एवमेव अर्गिति, ज—इति च बह्वित्यम्, सर्वस्य
सौभरस्य अर्गदृष्टिर्गकामत्वात् ब्रूयते कामवचनैः सौभरं
लक्षयितुम् । किमर्थं लक्ष्यते?—इति । निधनार्था पुनःश्रुतिः
(निधनव्यवस्थां करिष्यति—इत्यर्थः) ॥ (२ । २ । १३ अ०) ॥

इति श्रीभट्टब्रह्मरक्षामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये द्वितीयस्या-
ध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ * * ॥—

द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।



अथ यद्वायतायाः ज्योतिष्टोमाङ्गताधिकारश्चम् ।

स. गुणस्तु क्रतुसंयोगात् कर्मान्तरं प्रयोजयेत्संयोग-
स्याशेषभूत्वात् ॥ १ ॥ (पू०)

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमः,—‘ज्योतिष्टोमेन सर्गकामो यजेत’—
इति, तं प्रकृत्य श्रूयते, ‘यदि रथन्तरसामा सोमः स्यात्,
ऐन्द्रवायवायान् यद्वाान् गृह्णीयात्, यदि वृहत्सामा मुक्रायान्,
यदि गजत्सामा, आययणायान्’—इति । तत्र सन्दिश्यते,—
किं यद्वायताविशेषो ज्योतिष्टोमस्य विधीयते, उत कर्मान्तरस्य
रथन्तरसाम्नो वृहत्साम्नश्च?—इति; यदि रथन्तरसामयद्द्वेन
वृहत्सामयद्द्वेन च ज्योतिष्टोमोऽभिधीयते, ततस्तस्य यद्वा-
यताविशेषः, अथ नाभिधीयते, ततः कर्मान्तरस्य—इति ।

किं तावत्प्राप्तम्?—प्रकरणात्, ज्योतिष्टोमस्य । इति प्राप्ते
उच्यते,—गुणस्तु क्रतुसंयोगात्—इति, तुबन्धः पक्षं ध्यावर्त्त-
यति, नैतदस्ति,—ज्योतिष्टोमस्य—इति । कुतः? । क्रतुसंयो-
गात् । कथं तर्हि? । कर्मान्तरस्येति । ‘ननु ज्योतिष्टोमक्रतो-
रेवैष एवंजातीयको वादः,—रथन्तरसामा वृहत्सामा—इति’ ।
नेति ब्रूमः,—यदि न ह्यत्संयोगो भवेत्, ज्योतिष्टोमस्य
वादः, ह्यत्संयोगस्तु एषः । ‘कथं ह्यत्संयोगो
भवति?’ । कथं वा न ह्यत्संयोगः?—इति । ‘यदि
रथन्तरसत्ता वा, वृहत्सत्ता वा निमित्तं यद्वायताविशेषस्य,
ततो न ह्यत्संयोगः,—रथन्तरं वृहत्सत्ता यदि सामास्ति,
ततः ऐन्द्रवायवायता मुक्रायता च—इति, ततो ज्योतिष्टोमस्य
गुणविधिः’ । अथ रथन्तरसामसत्ता वृहत्सामसत्ता वा न

भा. निमित्तं, ततः ह्यन्तःक्रतुसंयोगः । 'यदि रथन्तरसामा'—इति कोऽर्थः? । अयमर्थः,—यदि रथन्तरसाम अस्य विशेषणं क्रतोः—इति । कुत एतत्? । समासपदसामर्थ्यात्, समर्थानां हि पदानां समासो भवति, सामर्थ्यञ्च भवति विशेषणविशेष्यभावे, असाधारणं च भवति विशेषणं, तथायमर्थो,—यदि रथन्तरमेव साम, वृद्धदेव वा नान्यत्—इति; ज्योतिष्टोमस्य च ब्रह्मणि सामानि गायत्रादीनि; तस्मात् न ज्योतिष्टोमस्य वाचकावेतौ ब्रह्माविति । तेन यद्यपि प्रकरणात् ज्योतिष्टोमस्य गुणविधिः—इति गम्यते, तथापि तत् बाधित्वा वाक्येन रथन्तरसाम्नो वृद्धत्साम्नश्च भवितुमर्हति ।

'ननु यथा ज्योतिष्टोमो न रथन्तरसामा, एवमन्योऽपि न रथन्तरसामा कश्चिदस्ति' । उच्यते,—कर्मान्तरं रथन्तरसामकं कल्पयिष्यति एतद्वाक्यं,—'यदि रथन्तरसामा सोमः स्यात्'—इति । 'ननु नास्त्यत्र विधायकः ब्रह्मः' । उच्यते,—अस्ति य एषः 'स्यात्'—इति । 'आह नैव विधातुम् ब्रह्मोति, यदि-ब्रह्मसम्बन्धात् विद्यमानस्य निमित्तार्थेनैवजातीयकः ब्रह्मो भवति, न विधानार्थेन—इति' । अत्र ब्रूमः,—यदेतत् सयदिकं वाक्यं,—'यदि रथन्तरसामा सोमः स्यात्'—इति, अत्रावान्तर-वाक्यम् अस्ति,—रथन्तरसामा सोमः स्यात्—इति, यदवान्तर-वाक्यम् तस्यान्योऽर्थः, अन्यञ्च सयदिकस्य, सयदिको न ब्रह्मोति विधातुम्, यत अवान्तरवाक्यम्, तद्विधास्यति । न च, रथन्तर-साम्नो वृद्धत्साम्नो वा भावो निमित्तत्वेन श्रूयमाणोऽप्यर्थवान् भवति ! तस्मात् अविवाचितो यदिसम्बन्धः, तस्मिंश्चाविवाचिते पदद्वयमिदं (रथन्तरसामा सोमः स्यादिति) ब्रह्मोति रथन्तर-सामानं क्रतुं विधातुम्, यदीत्यनर्थकम् ।

अथ वा यदि रोचेतेत्यथाहारः । अथ वा यथैतद्भवति,—पयसा वाष्टिकं भुङ्गीत, यदि जालिं भुङ्गीत, तत्र दक्षुपसिञ्चेत्

भा.—इति, एवञ्जातीयकेन वाक्येन ब्राह्मिभोजनं विहितं भवति, एवमत्रापि विहितं द्रष्टव्यम्,—यदि रथन्तरसामा सोमः स्यात्, ऐन्द्रवायवायान् यद्दान् गृह्णीयात्—इति । ‘कथं पुनः ब्राह्मि-भोजनम् तेन वाक्येन विहितं भवति?—इति’ । उच्यते,—यत्यासेन सम्बन्धः कल्प्येत,—यदि दधुपसेचनमिच्छेत, ब्राह्मिं भुञ्जीत—इति ।

‘ननु न खल्विच्छतेः परां लिङ्घिमक्तिमुपलभामहे, सिद्ध-तेर्हि तात्पर्यां समामनन्ति—इति’ । सिद्धतेः खलु सा परा समुच्चरन्ती कमेरथं गमयति, कामप्रवेदने हि तां मन्यामहे—इति, एवमिहापि यद्येन्द्रवायवायान् यद्दान् गृह्णीयादिति यद्गीतुमिच्छेत—इत्यर्थः, ततो रथन्तरसामानं क्रतुं कुर्व्यात्—इति । ‘नन्वेवं सति इच्छामार्गं भवेत्, न यद्वायताविशेष-विधानम्’ । उच्यते,—यथा अस्मिन् लौकिके वाक्ये, यदि दधुपसेचनमिच्छेत, ब्राह्मिं भुञ्जीत—इति दधुपसेचनसंकीर्तनात् दधुपसिक्तं ब्राह्मिं भुञ्जीत—इति तेनैकवाक्यत्वात् गम्यते, एव-मत्रापि यद्वायताविशेषसंकीर्तनात् तेनैकवाक्यत्वात् यद्वायता-विशिष्टो रथन्तरसामा गम्यते । अथ वा अत्र हेतुहेतुमतोर्लिङ्ग, रथन्तरसामा सोम ऐन्द्रवायवायाणां यद्वाणां हेतुः कर्तव्यः—इति । तस्मात् ह्यत्सक्रतुसंयोगात् गुणः कर्मान्तरं प्रयोजयेत्, एवं ह्यत्सक्रतुसंयोगोऽर्थवान् भविष्यति ।

अपि च पूर्वेण निमित्तेन भवितव्यं, परेषु नैमित्तिकेन । कथं? सति हि निमित्ते नैमित्तिकं भवितुमर्हति, न असति, यच्च भविष्यत् तत् न सत्, भविष्यच्च रथन्तरसाम, नत् कथं पूर्वकालस्य यद्वायताविशेषस्य निमित्तं भविष्यति?—इति । अपिच निःसन्दिग्धं जगत्सामा कर्मान्तरं, तत्सामान्यादितरर्हापि कर्मान्तरम्—इति गम्यते । तस्मात् न ज्योतिष्टोमस्य गण-विधानम्—इति ॥

६. एकस्य तु लिङ्गभेदात्प्रयोजनार्थमुच्येतैकत्वं गुण-
वाक्यत्वात् ॥ २ ॥ (सि०)

भा. तुल्यवदात् पञ्चोऽन्यथा भवति, नैतदस्ति,—यदुक्तं,—क्रत्वन्तरम्
—इति । कथं तर्हि? ज्योतिष्टोमस्यैव यद्वापताविशेषः—
इति । कुतः? प्रकरणसामर्थ्यात् । ‘ननु एतदुक्तं,—वाक्यसाम-
र्थ्यात् क्रत्वन्तरस्य रथन्तरसाम्नो वृहत्साम्नश्चेति’ । परिहृत-
मेतत्—ज्योतिष्टोम एव रथन्तरसामा वृहत्सामा च—इति ।
‘पुनर्दूषितमनेकसामत्वात् ज्योतिष्टोमस्य, विशेषणं रथन्तरेण
वृहता वा न प्रकल्पते—इति’ । तदुच्यते,—प्रकल्पते विशेषणं,
वृहद्रथन्तरयोर्वैकल्पिकत्वात्, भवति स प्रयोगः, यच्च रथन्तरं
नास्ति ; भवति च स प्रयोगः, विद्यमानरथन्तरसामकः, तदेतत्
रथन्तरं सत्तयैवासाधारणत्वात् विशेषकम् । तस्मात् ज्योतिष्टोम
एव रथन्तरसामा वृहत्सामा च—इति ।

‘अथ यदुक्तं,—पूर्वेण निमित्तेन भवितव्यम्, उत्तरेण नैमित्ति-
केनेति’ । नैतत्,—नियोगतो भवति हि भविष्यदपि निमित्तं,
यथा वर्षिष्यति—इति ह्यधिगृह्यकर्मानुष्ठानम्, अपि च तत् कृष्टम्,
इदञ्च वाचनिकं निमित्तं, तत् यथावचनं भवितुमर्हति । ‘स्यात्’
—इति चेयं सिद्धं चिध्वपि कालेषु भवति । तस्मात् भविष्यदपि
निमित्तम् । यत्तु—जगत्सामेति कर्मान्तरम्, तत्सामान्यात्
रथन्तरसामापि कर्मान्तरम्—इति । जगत्साम असम्भवात्
कर्मान्तरम् सम्भवति, रथन्तरसाम्नो वृहत्साम्नश्च ज्योतिष्टोम-
स्याभिधानं, तस्मात् न कर्मान्तरमिति ॥ (२ । ३ । १ अ०) ॥

अथ अवेष्टेः कालान्तरताधिकारताधिकारसम् ।

स. अवेष्टौ यत्नसंयोगात् क्रतुप्रधानमुच्यते ॥ ३ ॥

भा. अस्ति राजसूयः,—‘राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत’—इति । तं प्रहृत्यामनन्ति अवेष्टिं नामेष्टिम्,—‘आग्नेयोऽष्टा-
कपालो हिरण्यं दक्षिणा’—इत्येवमादि । तां प्रहृत्य विधीयते,
—‘यदि ब्राह्मणो यजेत वार्हस्पत्यं मध्ये निधायाऽऽतिमाऽऽतिं
ऽऽत्वाग्भिघारयेत्, यदि राजन्य ऐन्द्रं, यदि वैश्यो वैश्वदेवम्’
—इति । तत्र सन्दिह्यते,—किं ब्राह्मणादीनां प्राप्तानां निमि-
त्तार्थेन अरण्यम्, उत ब्राह्मणादीनामयं यागो विधीयते?—
इति । ‘कथं निमित्तार्थता भवेत्? कथं वा यागविधानम्?’
—इति । यदि राजसूयो ब्राह्मणादिष्वपि केनचित् प्रकारेण,
ततो निमित्तार्थता; अथ क्षत्रिय एव, ततः प्रायकाणि एवं-
जातीयकानि अरण्यानि ।

किं तावत्प्राप्तम्?—निमित्तार्थता—इति, ततः एवं तावदुप-
वर्ण्यते,—यौगिको राजसूयः—इति, राज्यं यस्य कर्म, स
राजा । किं पुनाराजकर्म? । जनपदपुरपरिरक्षणै, ततश्चो-
द्धरणे राज्यसूयमार्यावर्त्तनिवासिनः प्रयुञ्जते; राज्ञः कर्म
राज्यम्—इति चाभियुक्ता उपदिशन्ति; तेन मन्यामहे,—
यस्यैतत् कर्म स राजा—इति, यथा ये उदमेघं नाम कश्चित्
पुरुषं नावेदिषुः, तस्य तु पुत्रमैदमेघिः—इत्येवं विदुः, ब्रह्मयुक्ते
यः तस्य पिता, स उदमेघः—इति कल्पयितुम्, उदमेघपुत्रस्यैवं-
समभिव्याहारो भवति—इति । एवं राज्ययोगात् राजसूयः
—इति विज्ञायते ।

‘ननु जनपदपुरपरिरक्षणदृष्टिमनुष्यजीवत्यपि क्षत्रिये राज-
सूयमान्नाः प्रयुञ्जते प्रयोक्तारः’ । न ह्युमः,—न प्रयुञ्जते—इति,
किं तर्हि कर्मविशेषनिमित्तत्वात् राजसूयस्य, तद्योगादपि

भा. राजशब्दो भवति—इत्येतदुपपादयामः; प्रयुञ्जते च तद्युक्ते राजशब्दम् अक्षयियेऽपि, तदस्मिन् उपपन्ने प्रकरणवशात्, यदि-
शब्दसमभिव्याहाराच्च राजसूयस्यैव गुणविधानं भविष्यति, न
ब्राह्मणस्य वैश्यस्य च कर्मान्तरं विधायिष्यति—इति ।

अथ वा असार्वलौकिकस्य प्रयोगस्य सार्वलौकिकेन प्रयोगेण
विरुद्धमानस्य अप्रामाण्यं स्यात्, अभ्युपगच्छन्ति हि ते जन-
पदिनः, सार्वभौमं प्रयोगम् । अपिचाविप्रगीता लौकिका अर्था
विप्रगीतेभ्यः प्रत्ययिततरा भवन्ति, तथा आर्यावर्त्तनिवासिनां
शब्दार्थापायेष्वभियुक्तानामभिव्याहृतां कर्माण चानुतिष्ठताम्
अन्तर्जनपदवासिभ्यो ज्ञेयैः समीचीनतर आचारो भवति ।
तस्मात् यौगिको राजशब्दः, निमित्तार्थानि अणानि, राज-
सूयस्य गुणविधिर्न कर्मान्तरम्—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—अवेष्टौ तु खलु क्रतुप्रधानं ब्राह्मणादिअवर्णं,
ब्राह्मणादीनामवेष्टियागं विधातुम्, न निमित्तार्थम् । कुतः? ।
अप्राप्तत्वात् ब्राह्मणवैश्ययोः । कथमप्राप्तिः? । अक्षयियस्य राज-
सूयविधानात्,—राजा राजसूयेन यजेत—इति । ‘ननूक्तम्,
—यौगिको राजशब्दः—इति’ । एतदप्ययुक्तम्, यतः जाति-
वचनः—इति । ‘ननूभयाभिधाने यदिशब्दसम्बन्धात्, प्रकर-
णाच्च न कर्मान्तरविधानं न्याय्यम्’—इत्युक्तम् । अथ उच्यते,
—नोभयाभिधानमवकल्पते । कुतः? । यदि तावत् जातिशब्दो
राजा—इति, ततः तत्कर्मत्वात् जनपदपरिपालने राज्यशब्दो
भविष्यति, तेनार्थावर्त्तनिवासिनां प्रयोगो न विरोत्स्यते ।
अथ यदि राज्यशब्दः परिपालने नित्यसम्बद्धो भविष्यति, ततः
तस्य कर्त्तव्यो राजशब्दः अक्षयिजातौ तन्निमित्तो भविष्यति, तच्च
आन्त्राणां प्रयोगो न विरोत्स्यते । तस्मात् न प्रयोगदर्शनादुभा-
वपि राजराज्यशब्दौ जातिपरिपालनाभ्यां नित्यसम्बद्धावित्य-
भ्युपगन्तव्यम् । को नु खलु निर्णयः? । राजजातीयस्य कर्म—

भा. इत्यतः परिपालनं राज्यशब्देन उच्यते,—एवं हि स्मरन्तोऽभि-
युक्ताः तस्य कर्म—इति *प्यञ्प्रत्ययं विदधति, न तु तस्य
कर्त्तृति प्रत्ययलोपं वा, प्रातिपदिकप्रत्यापत्तिं वा समामनन्ति ।
तस्मात् राज्ञः कर्म राज्यं, न राज्यस्य कर्त्ता राजा ।

‘ननु यो यो जनपदपुरपरिरक्षणं करोति, तन्नु लोको राज-
शब्देन अभिवदति’ । उच्यते,—योगात् लोकः प्रयुङ्क्ते, परि-
पालने राज्यशब्दः प्रसिद्धः—इति, स तु परिपालने राज्यशब्दो
राजयोगात्—इत्यस्माभिस्तं, तस्मात् राजशब्दः प्रसिद्धेर्मूलं,
तद्योगात् राज्यशब्दः, तद्योगादपि ब्राह्मणवैश्ययोः राजशब्दः
प्रयुज्यते; न त्वेवं स्मरन्ति,—राज्ययोगात् राजा—इति ।

‘यत्कृतम्,—अनुमानात् राज्यस्य कर्त्ता यः स राजा, यथा
अौदमेघेः पिता उदमेघः—इति’ । उच्यते,—अनुमानात्प्रयोगो
बलवान्, राज्यस्य कर्त्तारं राजा—इत्यनुमिमीमहे, क्षत्रिये तु
प्रत्यक्षं प्रयुञ्जानान् उपलभामहे । तथा योगमप्यनुमिमीमहे,
—राज्यस्य कर्त्ता राजा—इति; राज्ञः कर्म राज्यमिति तु
स्मरन्ति; अनुमिमानाश्च स्मृतिम् अनुमिमते स्म, स्मरन्तस्तु
प्रत्यक्षमुपलभन्ते, तेन तत्र स्मृतिर्बलीयसी—इति । ‘आह,—
यो यो राज्यं करोति, तत्र राजशब्दं प्रयुज्यते, न यत् राज्ञः कर्म
तद्वाज्यमिति, तेन मन्यामहे,—राज्ययोगो राजशब्दप्रष्टौ
निमित्तं, न तु राजयोगो राज्यशब्दप्रष्टौ—इति’ । न ब्रूमः,
—प्रयोगात् वयं राजयोगं राज्यशब्दप्रष्टौ निमित्तमवगच्छामः
—इति, कथं तर्हि?—स्मरणात्, प्रयोगाच्च स्मृतिर्बलीयसी,
प्रयोगाद्धि स्मृतिरनुमीयेत ।

* सिद्धान्तकौमुदीकृतसु, ‘पत्यन्तपुरोहितादिभ्योयक् (५ । १ । १२८
पा०) इति सूत्रेण ‘राजाऽसि’ इति वार्त्तिकमनुसृत्य राज्ञः कर्म राज्य-
मित्यत्र यक्प्रत्ययं विदधाति । उभयवैवाथैकमिति प्रकृतसङ्कतिः ॥

भा. अपि च राज्ययोगस्य निमित्तता अभिचरति,—जनपद-परिपालनमकुर्वत्यपि राजेत्यान्त्रा वदन्ति—इत्युक्तम् । ‘ननु राज्ययोगात् राज्यम्—इत्येतदपि अभिचरति,—न हि राज्ञः स्यन्दितं निमित्तितश्च सर्वं राज्यम्—इत्युच्यते’ । यदि वयं प्रयोगाच्चिन्तितभावं ब्रूयाम, तत एवमुपालभ्येमहि ; स्मृत्या तु वयं निमित्तभावं ब्रूमः, तेन यत् यत् राजजातीयस्य कर्म जात्या विज्ञेयते, तत् राज्यमित्यभ्युपगच्छामः । यत्तुक्तम्,—आन्त्रा अपि राज्ययोगात् राजानमभ्युपगच्छन्ति—इति, परिहृतमेतत्,—प्रयोगो दुर्बलः स्मृतेः—इति । यदुक्तम्,—आर्यावर्त्तनिवासिनः, प्रमाणमितरेभ्य आचारेभ्यः—इति । तुस्यः ब्रह्मप्रयोग आचारेषु—इत्युक्तम् । तस्मात् जातिनिमित्तो राज-ब्रह्मः, एवञ्चेत् ‘यज्ञसंबोगात्’ (जाचियस्य राजसूयेन), याग-विधिरवेष्टिः—इति ॥ (२ । ३ । २) ॥

आधानस्य विधेयवाधिकारत्वम् ।

स. आधाने सर्वशेषत्वात् ॥ ४ ॥

भा. इदं समामनन्ति,—‘वसन्ते ब्राह्मणो अग्नीनादधीत, धीष्णी राज्यन्यः, ब्रह्मदि वैश्यः’—इति ; तत्र सन्दिह्यते,—किं ब्राह्मणादिश्रवणं निमित्तार्थं,—ब्राह्मणादय आदधाना वसन्तादि-व्वाद्धीरन्—इति, उत ब्राह्मणादीनामाधानं विधीयते?—इति । कथं निमित्तार्थता स्यात्? कथं आधानविधानम्?—इति । यदि ब्राह्मणो वसन्ते—इतिपदद्वयं परस्परं सम्बद्धं, ततो निमित्तार्थं श्रवणम् । अथ ब्राह्मण आदधीत—इति, आधानविधानं ब्राह्मणस्य । एवं राजन्यादिवपि ।

किं तावत्प्राप्तम्?—निमित्तार्थं श्रवणम्—इति । कुतः? । निमित्तसरूपा एते ब्रह्माः । किं निमित्तसारूप्यम्? । ब्राह्मणा-

भा. दीनां वसन्तादिभिः समुच्चारणम्. तच्चाविदितं वेद्यते—इति।
 ‘ननु ब्राह्मणादीनां आदधतिनाप्यस्ति समुच्चारणम्’। वाङ्-
 मस्ति समुच्चारणम्, नत्वमीषाम् आधानसम्बन्धो न विदितः।
 केन प्राप्तो विदितः?—इति। कामश्रुतिभिः। काः काम-
 श्रुतयः?। ‘अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः;’ ‘दर्शपूर्णमासाभ्यां
 स्वर्गकामो यजेत’—इत्येवमादयः। कथमाभिः श्रुतिभिराधानं
 प्राप्तम्?—इति। उच्यते,—सामर्थ्यात्,—यथा अग्निहोत्रमभि-
 निर्वर्त्यते, तथा कुर्यात्; यथा दर्शपूर्णमासावभिनिर्वर्त्यते, तथा
 कुर्यात्; न च, गार्हपत्याहवनीयान्वाह्यार्थपचनादिभ्यो विना,
 एतानि कर्मणि सिद्ध्यन्ति, समामनन्ति हि,—यत् आहवनीये
 जुहोति, तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो* भवति—इत्येवमादि;
 तेन सामर्थ्यादेतदुक्तं भवति,—आहवनीयादि कर्त्तव्यम्—इति,
 तच्चाधानेन विना न सिद्ध्यति—इत्याधानमपि कर्त्तव्यम्—
 इत्यवगम्यते। तत् केन कर्त्तव्यम्?। यस्य कामश्रुतयः। ताश्चा-
 विशेषेण ब्राह्मणादीनाम्। तस्मात् अमीषामाधानसम्बन्धो
 विदितः—इति। अपि च, उभाभ्यां ब्राह्मणादीनां सम्बन्धे
 विधीयमाने वाक्यम्भिद्येत! न हि, तदानीमेकोऽर्थः विधीयते!
 अतो निमित्तार्थाः श्रुतयः—इत्येवं प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘आधाने सर्वश्लेषत्वात्’ प्रापकाख्याधानस्यै-
 तानि श्रवणानि। कुतः?। सर्वकर्मणां श्लेषभूतम् आधानम्—
 इति न श्रुतिलिङ्गादीनामन्यतमेनोच्यते, किं तर्हि, अग्नीनां
 सर्वश्लेषत्वात्, तच्छ्लेषत्वाच्च आधानस्य। किमतः?। यद्येवम्,
 अग्नयः कामश्रुतिभिः प्राप्नुवन्ति, न आधानम्—इति। ‘ननु
 अग्नीनामभ्युपाय आधानम्—इति’। उच्यते,—नैतेषामर्ज्जने
 आधानमेवैकोऽभ्युपायः, किं तर्हि यथान्येषां द्रव्याणाम् उपादाने

* ‘प्रतीतो भवति’—इति का० क्री० पु० ॥ .

भा. क्रयणादयश्चाभ्युपायाः, एवमग्नीनामपि—इति न नियोगतः
उःपाइनमेव, तेन पक्षे आधानं प्राप्नोति, पक्षे न; यतरस्मिन्
पक्षे अप्राप्तिः, ततरः पक्ष उत्पत्तिं प्रयोजयिष्यति ब्राह्मणादी-
नामाधानस्य, ब्राह्मण आत्मार्थमादधीत—इति यदा एतद्वनं,
तदा आत्मार्थमेवाहित आह्ववनीयादयो भवन्ति, नान्यथा ।
एव च सति, न ह्याचमेण याचितेन वा कर्माण्यग्निहोत्रादी-
न्यनुडातयानोति गम्यते; तेन अह्वयिम् एव केवलस्येति
साधकः—इति निश्चीयते । कथञ्च आत्मार्थता आधानस्य
गम्यते?—इति । कर्मभ्रमाये हि क्रियाकले आदधीत—
इत्येतदात्मनेपदं सम्भवति । असत्यस्मिन् वचने कामश्रुतिपरि-
पक्षे नाधानस्यात्मार्थता भवेत् ।

अपि च सतीषु एतास्वाधानश्रुतिषु न कामश्रुतयः ब्रह्मवन्ति
अपराम् आधानश्रुतिं कल्पयितुम्, यथा मांसस्य आधानस्य
पुनःश्रुतयः एता भवेयुः, असतीषु एतासु आधानश्रुतिम् अपरि-
गृह्णन्तः कामश्रुतयोश्चक्यान् अग्निहोत्रादीन् वदन्ति—इति
परिगृह्णीयुराधानश्रुतिं; सतीष्वेतासु येषामाधानम् उक्तम्,
तान् अधिहृत्योत्तरकालाः कामश्रुतयो भवन्ति—इति गम्यते ।

“अत्र आह,—अस्ति केवलस्य आधानस्य विधायिका श्रुतिः,
—‘एवं सपत्नं भ्रातृथमवर्त्ति सद्धते, य एवं विद्वानग्निमाधत्ते’—
इति, तथा प्राप्तस्य निमित्तार्थानि ब्राह्मणादीनां श्रवणानि
भविष्यन्ति । ‘उच्यते,—सम्भारविधानार्था पुनः श्रुतिरेषा’ ।
न—इति ब्रूमः,—भिन्नं हि इदं वाक्यम् सम्भारविधानवाक्यात्,
अन्यो हि अर्थ आधत्ते—इति, अन्यः ‘अप उपसृजति’—इति,
एकार्थविधाने हि एकं वाक्यम् भवति, भिन्नौ चेमावर्थौ, तस्मात्
अत्र वाक्यभेदः—इति” ।

उच्यते,—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीतेत्यस्यां श्रुतौ सत्यां
पुनःश्रुतिः केवलस्याधानस्य अविधायिका, अपामुपसृजन्तु

भा. विधीयते, तदेकस्मिन्नर्थे विधीयमाने नानेकार्थं भवति । 'ननु
 आधानस्यैतद्विधानं, गुणार्था सा पुनःश्रुतिः' । न—इति ब्रूमः,
 —सा ब्राह्मणादिसम्बद्धा प्रथमा श्रुतिः, इयं केवला पुनःश्रुतिः ।
 कुतः? सा हि शब्देन विदधाति, तत्र लिङ्गमुच्चरन्तीं
 पश्यामः, इयं प्रश्नस्तमाधानम्—इत्याह; ततः प्रश्नस्तता-
 माधानस्यानुमन्यामहे । एवं च, वसने ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत
 —इत्येषा विधायिका श्रुतिः—इति ब्रूमहे, नैतरत्प्रशंसा-
 वचनमस्मत्पक्षं बाधते, शक्यते हि अन्येन विहितं अन्येन
 प्रश्नस्तम्—इति वदितुम् । यदि त्वेतत् विधायकम्—इत्युच्येत,
 ततोऽस्मत्पक्षं विरुद्धेत । कथम्? अज्ञातस्य ज्ञापनं विधानमे-
 तत्, यदि प्राशंसावचनेन अपूर्वं विज्ञाप्येत, तदा लिङ्गा नापूर्वं
 ज्ञापितं भवेत्, तत्रापूर्वज्ञापनवचनः शब्दः उपरुध्येत ! न तु
 लिङ्गा विहिते प्रशंसावचनमुपरुध्यते, विहितेऽपि हि वाक्या-
 न्तरेण प्रशंसावचनमवकल्पते । अपि च यत् लिङ्गा विधानं, तत्
 श्रुत्या, वाक्येन तु प्रशंसा गम्यते, श्रुतिश्च वाक्याद्बलीयसी ।

'ननु इदमपि वाक्यम्.—ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत—इति' ।
 उच्यते,—स्वपदार्थम् अत्र श्रुतिः विदधात्याधानं, ब्राह्मणादि-
 सम्बन्धेन परपदार्थं प्रशंसति,—य एवं सफलं भ्रातृश्रमं अवर्ति
 सङ्घते—इति । 'ननु अनेकगुणविधानं त्वया वाक्येनाध्ववांसतं
 भवति' । नैष दोषः,—अगुणविधिपरे हि वाक्ये भवत्यनेक-
 गुणविधानम्,—इत्युक्तं,—“तद्गुणास्तु विधीयेरन् अविभागात्
 विधार्थं न चेदन्त्येन श्रिष्टाः” (६३)—इति । तस्मात् ब्राह्मणादि-
 संयुक्ता विधायिका श्रुतिः, इयमपि केवलस्याधानस्य पुनःश्रुतिः
 सम्भारविधानमुपक्रमितुम्—इति सिद्धम् ।

यत् उक्तम् (१७६।१७),—अनेकगुणविधाने वाक्यम्भिद्येत
 —इति, यदीमौ गुणविधानविशिष्टौ विधीयेयातां, भवेत् वाक्य-
 भेदः, दाभ्यान्तु विशेषणाभ्यां विशिष्टमेकमाधानं विधायित्यते,

भा. तेन न भविष्यति वाक्यभेदः । तस्मात् ब्राह्मणादीनामाधानस्य प्रापकानि अब्रणानि—इति सिद्धम् ॥ (२ । ३ । ३ अ० ॥)

अथ दाक्षायनादीनाम् गुणताधिकरणम् ।

स. अथनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपबन्धात् ॥ ५ ॥ (पू० १ ॥)

भा. दर्शपूर्णमासौ प्रहृत्यामनन्ति,—‘दाक्षायण्यज्ञेन यजेत प्रजाकामः, साकंप्रस्थाप्येन* यजेत पशुकामः, संक्रमयज्ञेन यजेतास्त्राद्यकामः’—इति । तत्र सन्देहः,—किं दर्शपूर्णमासयोरेव गुणात्फलम्, उत कर्मान्तरम् एवज्ञातीयकमिति ? । किं प्राप्तं ?—कर्मान्तरम् इति । कुतः ? । संज्ञोपबन्धात्, यद्यपि प्रकरणात् यजतिर्ब्रह्माश्च स एव पूर्वप्रहृतो यागः—इति गम्यते, तथापि नासावेवंसंज्ञकः—इति यागान्तरं विधेयं गम्यते ॥

स. अगुणाञ्च कर्मचोदना ॥ ६ ॥ (पू० २ ॥)

भा. न च, अत्र गुण उपबध्ते कश्चित्, यद्विधानार्था चोदना भवेत्, यदि च न यागान्तरम्, आनर्थक्यमेव । अपि च, यदि गुण उपबध्ते, ततो यागगुणसम्बन्धो गम्यते—इति तदनुष्ठानं विधीयेत—इति अननुबध्दमाने यागमात्रं गम्यते—इति तदनुष्ठानं विहितं गम्यते ॥

स. समाप्तं च फले वाक्यम् ॥ ७ ॥ (पू० ३ ॥)

भा. इतश्च कर्मान्तरम् । कथं ? । फले समाप्तं वाक्यं,—प्राजाकामो यजेत—इति, प्रजाकामस्य याग उपायो विधीयते ; विधीयते चेत्, कर्मान्तरम् ॥

* साकंप्रस्थाप्येन इति का० क्री० पाठः ।

स. विकारो वा प्रकरणात् ॥ ८ ॥ (सि० ॥)

भा. दर्शपूर्णमासयोरेवाधिकार एवञ्जातीयकः स्यात् दाक्षायण-
यज्ञादिः, एवम्प्रकरणमनुगृहीतं भवति ॥

स. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ९ ॥ (सि० हे० ॥)

भा. लिङ्गमपि एतमर्थं दर्शयति,—‘त्रिंशत् वर्षाणि दर्शपूर्ण-
मासाभ्यां यजेत, यदि दाक्षायण्याजो स्यात्, अथो अपि
पञ्चदशैव वर्षाणि यजेत, अथ हि एव सा सम्पद्यते, द्वे हि
पौर्णमास्यौ यजेत द्वे अमावस्ये, अथ हि एव खलु सा सम्पत्
भवति’—इति । यदि दाक्षायणयज्ञो दर्शपूर्णमासावेव, एवं
तर्हि त्रिंशत्सम्पदा प्रयोजनं, ततः तस्य त्रिंशत्सम्पदनुपयो
युज्यते, तस्मात् अपि न कर्मान्तरम् ॥

स. गुणात्संज्ञोपबन्धः ॥ १० ॥ (आ० नि० ॥)

भा. यदुक्तं संज्ञोपबन्धात् कर्मान्तरम्—इति, यदि दाक्षायणशब्दो
न केनचिदपि प्रकारेण दर्शपूर्णमासवचनः शक्यते कल्पयितुम्,
ततः उच्येत कर्मान्तरम्—इति; शक्नोति तु आटन्तिगुणसम्बन्धा-
ददितुं,—अयनम्—इत्याटन्तिः उच्यते, दक्षस्य इमे दाक्षाः,
तेषामयनं दाक्षायणं । कः पुनर्दक्षः? । उत्साही । तथा
साकंप्रस्थाप्येऽपि,—सहप्रस्थानं गुणसम्बन्धः, एवं सर्वत्र । शक्यते
चेत् दर्शपूर्णमासयोगुणसम्बन्धो वदितुम्, किमिति स एव यागः
प्रतीयमानोऽन्यः—इत्युच्यते ? किमिति वा प्रकरणं बाध्यते ? ॥

स. समाप्तिरविशिष्टा ॥ ११ ॥ (आ० नि० २ ॥)

भा. यदुक्तम्,—फले वाक्यं समाप्तम्,—प्रजाकामादेर्यागानुष्ठानं
विधोयते—इति; नैवम्, अविशिष्टा फले समाप्तिः, यानि

भा. अन्यानि मुक्तसंज्ञयानि गुणे फलस्य विधायकानि वाक्यानि गुणस्य फलवचनानि पर्यवसितानि (यथा दध्ना इन्द्रियकामस्य ज्ञज्ञयात्,—इत्येवमादीनि), तेरेतद्विशष्टम्, अत्रापि हि* गुणात्फलम् उच्यते । 'कथं नैतदेवं सम्बधते,—प्रजाकामस्य यज्ञमनुतिष्ठेत्—इति?' । कथं तर्हि प्रजाकामस्य आष्टत्तियज्ञ-मनुतिष्ठेत्—इति, आष्टत्तियज्ञः—इति यज्ञाष्टत्तिसम्बन्धोऽनुष्ठा-तयो निर्द्दिश्यते, न यज्ञः? । तस्मात् प्रकृतयोर्दर्शपूर्णमासयो-गुणात्फलम् उच्यते,—न यागान्तरं विधीयते—इति । एवं साकंप्रस्थाप्ये संक्रमयज्ञे च द्रष्टव्यम्—इति ॥ (२ । ३ । ४ अ० ॥)

अथ त्र्यदेवतायुक्तानाम् यागान्तरताधिकरणम् ।

ख. संस्कारश्चाप्रकरणेऽकर्मशब्दत्वात् ॥ १२ ॥ (प्र० पू० ॥)

भा. अनारभ्याधीयते किञ्चित्,—'वायद्यं श्वेतमालभेत भूति-कामः,† सौथं चर्षं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः'; दर्शपूर्णमासयो-रप्यामनक्ति,—'ईषामालभेत,‡ चतुरो मुष्टीञ्चिर्वपात्'—इति । तत्र अयमर्थः सांज्ञिकः,—किं दर्शपूर्णमासिके आलम्भे आलम्भो गुणविधिर्दर्शपूर्णमासिके च निर्वापे निर्वापो गुणविधिरत न प्रकृतिमपेक्षते इतरश्वेतवरश्चेति? यदा न प्रकृतिमपेक्षते, तदापि किं यावदुक्ते. उत यजिमती एते कर्मणी—इति? ।

किं तावत् प्राप्तं?—प्रकृतयोरालम्भनिर्वापयोगुणविधी—इति । कुतः? । अकर्मशब्दत्वात्, न अत्र कर्मणो विधायकः

* अत्राप्यन्यत् गुणात् फलमिति पाठः का० क्री० पु० ।

† भूमिकाम इति का० क्री० पाठः ।

‡ ईशा शकटमती नाङ्गुलवद्दार्घ्यः काष्ठविशेषः । तस्या आलम्भः स्पर्श इति माधवः ।

भा. ब्रह्मोऽस्ति । 'ननु आलभेत निर्वपेत्—इति च' । नैतौ विधातारौ अविदितस्यार्थस्य वक्ता विधायको भवति, न चैतयोरविदितोऽर्थः,—आलम्भः कर्त्तव्यः, निर्वापः कर्त्तव्यः—इति । तस्मात् अनुवदितारौ । किमर्थम् अनुवदतः ? । आलम्भने श्वेतं विधातुं, निर्वापे च चक्षुः । तस्मात् न आलम्भान्तरं निर्वापान्तरं च ; प्रकृतयोरेव गुणविधी—इति ॥

स. यावदुक्तं वा, कर्मणः श्रुतिमूलत्वात् ॥ १३ ॥

(द्वि० प० ॥)

भा. न चैतदस्ति,—प्राकृतयोर्गुणविधी—इति, किं तर्हि आलम्भान्तरं विधीयते—इति निर्वापान्तरञ्च, यदि आलम्भनिर्वापौ विधीयेते, ततो न प्राकृतौ तौ विहितौ । यदि न विधीयेते, ततः प्राकृतौ लक्ष्येते, यावालम्भनिर्वापौ कर्त्तव्यौ—इति, ततः तौ लक्षयित्वा श्वेतो विधातव्यो भवति, चक्षुश्च, तौ च भूतिकामस्य ब्रह्मवर्चसकामस्य च—इति दावप्यथा विधेयौ स्यातां, तत्र वाक्यम्भिद्येत । अथ वा योऽसौ विधायकः ब्रह्मः, स लक्षयितव्योपयुक्तः—इति विधायकाभावादेकोऽप्यर्थो न ब्रह्मते विधातुम् । 'अथ स एव लक्षयिष्यति, तेनेव च विधायिष्यते गुणः—इति' । न, मिथो विधानलक्षणसम्बन्धोऽवकल्पते । 'अथ धात्वर्थोऽनुवादः, प्रत्ययो विधातुमिष्यते—इत्युच्यते,—य आलम्भः स एतद्गुणः कर्त्तव्यः—इति' । तथापि न प्राकृतौ लक्ष्येत, लौकिकोऽपि हि आलम्भोऽस्ति, प्रत्ययार्थेऽनूद्यमाने प्राकृतोऽनूद्येत—इति, स हि कर्त्तव्यो निर्घातो न लौकिकः, अतो न प्राकृतानुवादो घटते—इति यावदुक्तं (आलम्भमात्रं निर्वाप-मात्रं च) अपूर्वं कर्त्तव्यं, कर्मणः श्रुतिमूलत्वात्,—श्रुतिमूलं हि कर्म—इत्युक्तं,—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः—(३)—इति ; तस्मात् कर्मान्तरे ॥

स. यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेतेषां कर्मसम्बन्धात् ॥ १४ ॥ (सि० ॥)

भा. यदुक्तं,—न प्राज्ञतयोगुणविधी—इति, एतत् गृह्णीमः। यत् उक्तम्,—आलम्बमानं विधीयते, निर्वापमानं—इति, एतदपजानीमहे, यजिमती एते कर्मणी—इति। कुतः?। द्रव्यफलभोक्तृसंयोगात् (द्रव्यदेवतासंयोगात्), द्रव्यदेवतासंयोगोऽप्यविधीयते,—भूतकामस्य ब्रह्मवर्चसकामस्य च। कथं?। न हि, इदमेव उच्यते,—श्वेतम् आलभेत—इति, यदि श्वेतावदेव उच्यते,—ततः श्वेतालम्बसम्बन्धः अवगम्यते, इह हि श्वेतं वायव्यमालभेतेत्युच्यते, तेन श्वेतवायव्यसम्बन्धो विधीयते, यथा पटं वयेति पटवयनसम्बन्धो विधेयोऽवगम्यते, पटं दीर्घं वयेति पटस्य दीर्घता विधीयते, दीर्घशब्दप्रयोगात्, एवमिहापि सौर्यवायव्यशब्दप्रयोगात् द्रव्यदेवताभिसम्बन्धो विधेयः—इति गम्यते, इतरथा देवताशब्दः प्रमादसमाम्नातः—इति गम्येत।

‘ननु अत्रापि श्वेतं वायव्यं कुर्यात्, तं चालभेत—इत्यर्थद्वयविधानात् भिद्येतेव वाक्यम्’। न,—इति ब्रूमः, न चालभेत—इत्यस्यायमतिभारो, यत् द्रव्यदेवतासम्बन्धेन पुरुषप्रयत्नं ब्रूयात्, तं चालभेत्यर्थविशिष्टं; अत्यूयैव हि पुरुषप्रयत्नो विशिष्टो गम्यते, वाक्येन च द्रव्यदेवताश्रयः—इति न अत्र दाभ्यां वाक्याभ्यां प्रयोजनं, यथा रक्तमश्वं योजयेति यदा गुणविधिपरं भवति वाक्यम्, तदा दाभ्यां वाक्याभ्यां प्रयोजनं, गुणद्वयविधाने; अथ श्लोणमानयेत्युच्यते, तत्र गुणविधिपरं वाक्ये पर्यवसिते एव गुणद्वयविधानं, अत्यूयैव विशिष्टगुणद्रव्यस्य प्रतीतत्वात्, न भवत्येकस्य वाक्यस्य अतिभारः, एवमिहापीति। सम्बन्धस्य बङ्गभिः पदैर्विशिष्ट एक एवोच्यते—इत्येकार्थत्वं, विभज्य-

भा. मानानि च अत्र पदानि साकाङ्गणि—इत्युपपन्नमेकवाक्यत्वं,
न च, यागमन्तरेण देवताय द्रव्यं सङ्कल्पितव्यम्, - इत्येष
सम्बन्धोऽवकल्पते । तस्मात् यजमती एते कर्मणी—इति ॥

सू. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १५ ॥ (सि० हे० ॥)

भा लिङ्गं खल्वधेतमर्थं दर्शयति, सोमारौद्रं चरुं निर्वपेदिति
प्रवृत्त्य, परिश्रिते याजयेत्—इति परिश्रयणविधिः, एतस्य
वाक्ये यजतिशब्देन सङ्कीर्तनमवकल्पते, यदि यजमती एते
कर्मणी; अथ प्रज्ञतौ गुणविधानं यावदुक्तं वा, यजतिशब्देनानु-
वादो न अवकल्प्येत! तस्मात् अवगच्छामो यजमती—इति ॥
(२।३।५ अ० ॥)

अथ वत्सालम्भादीनां संस्कारताधिकरणम् ।

सू. विशये प्रायदर्शनात् ॥ १६ ॥

भा. किम् इह उदाहरणं?। न तावत् सूत्रेणैव परिगृहीतं, यथा,
'अवेष्टौ यज्ञसंयोगात् क्रतुप्रधानम् उच्यते' (२।३।३ सू०)—
इति । नापि च सार्थं प्रतिज्ञातं, यथा, 'अयनेषु चोदनान्तरम्'
(२।३।५ सू०)—इति । केवलं विशये (संशये) प्रायदर्शनं
हेतुः—इति निर्दिश्यते, कस्यायं हेतुः?—इति न विजानीमः ।
प्रकृतं यजिमदेतत्कर्म—इति, तदपि न सम्बन्धमानमिव
पश्यामः, तदेतदगमकं सूत्रमेव तावदनर्थकम् । अथ का अत्र
प्रतिज्ञा? कश्च सन्देह?—इति वक्तव्यम् । वृत्तिकारवचनात्,
प्रतिज्ञां संशयञ्च अवगच्छामः । अत्र भगवानाचार्य इदमुदा-
हृत्य—'वत्समालभेत, वत्सनिकान्ता हि पशवः'—इति, इमं
संशयमुपन्यस्यतिस्त्व, —'किं यजिमदमिधान एष आलभतिः,
उतालम्भाच्चवचनः—इति?। उपपद्यते चैतत् उदाहरणम्,

भा. संज्ञयश्च । तत्र च पूर्वपक्षं प्रतिजानीतेऽहम्,—‘यजिमदभिधानः’
—इति । इदं तु प्रत्युदाहरणस्यैव पूर्वस्य अधिकरणस्य, न
अत्र पूर्वपक्षेण अतीव प्रयोजनं, तथापि पुरुषाणामुच्चारणबुद्धि-
विज्ञेयानालोच्य भवति मन्दानां सामान्यतोदृष्टेनाप्याशङ्का,
सापि निवर्त्तनीया, न हि, मन्द्बिषेण दृष्टिकेनापि दृष्टो
स्त्रियेत न जातुचित् कदापि, तत्र चिकित्सा नादरेण कर्त्तव्या
भवेत्! अतस्तां निवर्त्तयितुम् पूर्वपक्षमुपन्यस्यतिः,—आल-
भतिरस्माभिः प्राणिसंयुक्तो यजिमदभिधानो दृष्टः, अयमपि
आलभतिः प्राणिसंयुक्तः एव, तेनायमपि यजिमदचन एव—
इति भवति कस्यचित् आशङ्का । अथ वा यजिमदभिधानो दृष्टः
आलभतिः प्राणिसंयुक्तः, तस्य अयमनुवादो वत्सविधानार्थः,
तथा च फलम् न कल्पयितव्यं भविष्यति—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अस्मिन् संज्ञये आलम्भमात्रं* संस्कारः ।
कृतः? । प्रायदर्शनात्, यत्र अन्वान्यपि संस्कारकर्माणि प्राय-
भूतानि—इत्युच्यन्ते, तत्रैतदपि श्रूयते । प्रायादपि चार्थनिश्चयो
भवति, यथा, अग्रप्राये लिखितोऽग्रः—इति गम्यते । ‘ननु
लिङ्गं प्रायदर्शनं, कथम् अनेन सिद्धिः?—इति’ । उच्यते,—
यथा प्रायदर्शनेन सिध्यति, तथा वर्णयितव्यम् । ‘कथं च प्राय-
दर्शनं हेतुः?’ । न्यायतः प्राप्तौ सत्याम् । कः पुनर्न्यायः? ।
देवतासम्बन्धाभावात् न यागवचनोदृष्टार्थत्वाच्च,—वत्स आ-
लम्भमानो गां प्रस्तावयिष्यति—इति । तस्मादेवंन्यायप्राप्ते
प्रायदर्शनं द्योतकं भवति । तस्मात् आलम्भमात्रं संस्कारः ॥

स. अर्थवादोपपत्तेश्च ॥ १७ ॥

भा. अर्थवादश्च भवति,—‘वत्सनिकान्ता हि पञ्चवः’—इति,

* आलम्भश्च स्पर्शरूपः ।

भा. यस्मात् वत्सप्रिया पञ्चवः, तस्मात् वत्स आलम्ब्यः—इति, यदि
गां प्रस्तावयितुम् आलम्ब्यते, तत्र एतद्वचनम् अवकल्पते, अथ
संज्ञपयितुम्, तत्र एवञ्जातीयकं वचनं नोपपदेत्! तस्मादपि
आलम्बमात्रं संस्कारः—इति सिद्धम् ॥ (२।३।६ अ० ॥)

नेवारचरोराधानार्थताधिकारश्चम् ।

ख. संयुक्तस्त्वर्थशब्देन तदर्थः श्रुतिसंयोगात् ॥ १८ ॥

भा. अस्ति अग्निः, तत्र नेवारश्चर्भवति,—इत्युक्त्वा, यदेनश्चर-
मुपदधाति—इति समामनन्ति। तत्र सन्दिश्यते,—किं चरुत्या-
गार्था (यागं कृत्वा अवशिष्ट उपधातयः), उत उपधानार्थं
एव?—इति। यागार्थः—इति ब्रूमः,—चरोर्हि प्रसिद्धं कार्यं
यागो नोपधानम्। ‘उचरते,—यद्यपि यागार्थता चरोः प्रसिद्धा,
तथापि देवतावचनसम्बन्धाभावात् यजतिशब्दासम्बन्धाच्च न
यागार्थता—इति गम्यते’। तदुचरते,—तस्यैव वाक्यशेषे श्रूयते,
—‘दृहस्पतेवा एतदन्नं यज्ञीवाराः’—इति, तेन देवतावचनेन
सन्निहितेनेकवाक्यता भविष्यति—इति दृहस्पतिदेवताक उप-
धातयः—इति। तस्मात् यागार्थश्चरः—इत्येवं प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘संयुक्तस्त्वर्थशब्देन’ (कार्यशब्देन उप-
दधातीति) ‘तदर्थः’ एव स्यात् (उपधानार्थः)। उपदधाति-
ना चास्य प्रत्यक्षमेकवाक्यत्वम्, परोक्षं देवतावचनेनानुमेयम्,
चरमुपदधाति—इति हि प्रत्यक्षं वाक्यम्। वाहस्पत्यमुप-
दधाति—इत्यानुमानिकम्। तस्मात् कृत्श्चश्चरुपधातयः,
ततश्चत् किञ्चित् इज्यायां विनियुज्येत, तदग्यञ्च श्रुतम् अग्यञ्च
कृतं भवेत्। यत्तु वाहस्पत्या नीवाराः—इति, अर्थवादः सः—
इति। यत्तुक्तं,—प्रसिद्धा चरोर्यागार्थता—इति, प्रसिद्धिर्वाक्येन
वाच्यते। तस्मात् उपधानार्थः—इति सिद्धम् ॥ (२।३।७ अ० ॥)

त्वाङ्गपानीवतस्य पर्यङ्गिकारणगुणकत्वाधिकारणम् ।

स. पानीवते तु पूर्वत्वाद्भवच्छेदः ॥ १६ ॥

भा. त्वाङ्गं पानीवतं विधायेदमुच्यते,—यत् ‘पर्यङ्गिहृतं पानीवतम् उत्सर्गजन्नि’—इति । तत्र सन्देहः,—किं त्वाङ्गस्य पर्यङ्गिहृतस्यैष उत्सर्गो विधीयते, उत तस्मात् यागान्तरम्?—इति । यदि पर्यङ्गिहृतम् उत्सर्गजन्नि—इति पदद्वयं परस्परं सम्बद्धं, ततः त्वाङ्गस्योत्सर्गः, अथ पानीवतशब्द उत्सर्गजतिना सम्बन्धेत, ततो यागान्तरम् ।

किं तावत् प्राप्तम्?—यागान्तरम्—इति । कुतः? । पूर्वः त्वाङ्गः पानीवतश्च, उभयविश्लेषणविशिष्टः कथं पानीवतशब्देन अनूद्येत । अपि च त्वाङ्गस्योत्सर्गो विधीयमाने पर्यङ्गिहृतम्—इति विश्लेषणं न अवकल्पेत ! अतो ब्रूमः,—पर्यङ्गिहृतस्य पानीवतता विधीयते, स एव यागः—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—न कर्मान्तरं, पूर्वस्य एव उत्सर्गिहृतशब्देन अवच्छेदो विधीयते । किमेवं भवित्यति? । यजिमत्ता तावत् कल्पयित्वा न भविष्यति, उत्सर्गजतिशब्दश्च अत्रा उत्सर्गं विदधत् वाक्येन न बाधितो भविष्यति, कर्मान्तरपक्षे वाक्येन पानीवततायां विधीयमानायामर्थात् प्राप्त उत्सर्गो धातुना अनूद्येत । अपि च पर्यङ्गिहृतस्य पानीवतता पूर्वस्य विदितैव, सा विधातुम् न शक्यते ; तस्मात् पूर्वस्य कर्मणोऽवच्छेदः । यत्पूर्वम्,—त्वाङ्गस्य उत्सर्गो विधीयमाने पर्यङ्गिहृतम्—इति विश्लेषणं तावत् नावकल्पेत—इति, नैष दोषः,—अतद्यमेवात्र पानीवतशब्दो नासौ विश्लेष्यते, अत एव ‘त्वाङ्गः पानीवत उभयविश्लेषण-विशिष्टः केवलं पानीवतशब्देन लक्षणयाऽनूद्येत’—इति न दोषः । तस्मात् अवच्छेदः—इति सिद्धम् ॥ (२ । ३ । ८ अ० ॥)

अदाभ्यादीनां यद्गणनाधिकारकम् ॥

स. अद्रव्यत्वात् केवले कर्मशेषः स्यात् ॥ २० ॥

भा. न कस्यचिदपि प्रकरणे श्रूयते,—‘एष वै हविषा हविर्यजते योऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते’—इति, तथा ‘परा वा एतस्यायुः प्राण एति योऽंशुं गृह्णाति’—इति। तत्र सन्देहः,—किं यागान्तरमेतदग्रहणकम्. उत ज्योतिष्टोमयागे यद्द्विविधिः ?—इति।

किं प्राप्तम् ?—यागान्तरम्— इति। कुतः ?। अपूर्वनामधेय-संयोगात्, न प्रकृतावेतन्नामधेयको यागोऽस्ति, न यद्द्विः कश्चित् योऽभ्यस्येत! तस्मात् यागान्तरम्। ननु द्रव्यदेवतं न श्रूयते। माभूत् द्रव्यदेवतं, साक्षादेव यजतिशब्दो विद्यते। तस्मात् कर्मान्तरम् अदाभ्यसंज्ञकम्, अंशुसंज्ञकं च यागं करोति—इत्येवं प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अद्रव्यदेवताके केवले नामधेये श्रूयमाणे ब्रूमः, ज्योतिष्टोमे एव यद्द्विभ्यासविशेषविधानम्—इति। कुतः ?। एतत् तावत् यद्द्विस्य नामधेयं न यागस्य, यद्द्विणेन साक्षात्-सम्बन्धात्, व्यवहितत्वात् यागस्य। अंशुः—इति च मुक्तसंशय-मेव यद्द्विनामधेयं, न च यद्द्विभेदे यागभेदो भवति, न च, द्रव्यदेवतं श्रूयते! यतो गृह्णातिर्यजिमदचनो* भवेत्, यदप्युक्तं,—साक्षात् अत्र यजतिशब्दो विधायकः—इति, नैवं शक्यं कर्मान्तरं विधातुम्, विहितयागवचनो हि सः, विशेषाभावात्। तस्मात् यजतिना ज्योतिष्टोम एव उच्यते, अंशुदाभ्यशब्दाभ्या-मपि अपरौ यद्द्विभ्यासौ विधीयेते—इति सिद्धम् ॥ (२। ३. ६ अ०) ॥

* यजतिवचन इति का० सं० पु० ॥

अग्निचयनस्य संस्कारताधिकरणम् ॥

ख. अग्निस्तु लिङ्गदर्शनात् क्रतुशब्दः प्रतीयेत ॥ २१ ॥

(पू०) ॥

भा. अस्त्यग्निः, 'य एवं विद्वानग्निश्चिनुते'—इति, एवं विधाय श्रूयते,—'अथातोऽग्निमग्निष्टोमेनैवानुयजति, तमुक्थेन, तमति-राचेण, तं षोडश्रिणा'—इत्येवमादि। तत्र सन्देहः,—किम-यमग्निशब्दो यागवचनो ज्योतिष्टोमादिभ्यः कर्मान्तरं चिनुते—इत्याख्यातेन विधीयते, उत द्रव्यवचनो ज्योतिष्टोमादिषु गुणविधानम्?—इति।

किं प्राप्तम्?—यागवचनः—इति। कुतः?। 'लिङ्गदर्शनात्', लिङ्गं हि दृश्यते,—अग्नेः स्तोत्रमग्नेः ब्रह्मम्—इति 'तथा, षडुप-सदोऽग्नेः चित्यस्य भवन्ति'—इति, यस्य स्तोत्रं ब्रह्ममुपसदस्य तस्याग्निशब्दो वाचकः—इति गम्यते, यागस्य एतत् सर्वं, तस्मात् यागवचनः—इति। 'ननु लिङ्गमसाधकं, प्राप्तिश्चर-ताम्'—इति। अत्र उच्यते,—अथातोऽग्निमग्निष्टोमेनैवानुयजति—इति यागमभिनिवर्त्तयति—इत्युच्यते, तम् अग्निमिति विद्वि-नष्टि। तस्मात् अग्निसंज्ञकः—इति गम्यते। अनुशब्दोऽप्युपसर्गो यजतेर्विशेषक एवमुपपद्यते, यद्यग्निर्यागः; तस्मात् क्रतुशब्दः प्रतीयेत ॥

ख. द्रव्यं वा स्यात् चोदनायास्तदर्थत्वात् ॥ २२ ॥ (सि० ॥)

भा. द्रव्यं वा अग्निशब्देन उच्येत। कतमत् द्रव्यम्?। यदेतत् उक्त्वा, अत्र हि एष प्रसिद्धः। चिनुते—इत्येषा हि चोदना चयनार्था न यजत्यर्थं ब्रह्मोति वदितुम्, चयनेनैवं संस्कारते चित्तौ स्थापयति—इति। अनुशब्दस्य पश्चादर्थो भविष्यात्, चयने निर्दृष्टे पश्चादग्निष्टोमेन यागेन यजतीति ॥

घ. तत्संयोगात् क्रतुस्तदास्थः स्यात्तेन धर्मविधानानि ॥

॥ २३ ॥

भा. यत्तु लिङ्गदर्शनम् उक्तम्,—यागवचनोऽग्निशब्दः—इति, तत्
तेष्वेव लिङ्गसयुक्तेषु वचनेषु, न सर्वत्र, तेषु चित्याग्निसंयोगात्,
यागे लक्षणशब्दः, तेन क्रतुवचनानि *तद्धर्मावधानानीत्य
दोषः ॥ (२।३।१० अ० ॥)

मासाग्निहोत्रादीनां क्रत्वन्तरताधिकारश्चम् ।

घ. प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् ॥ २४ ॥

भा. कुण्डपायिनामयने श्रूयते,—‘मासम् अग्निहोत्रं जुहोति, मासं
दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते’—इत्येवमादि । तत्र सन्दिश्यते,—किं
नियते अग्निहोत्रे नियतयोश्च दर्शपूर्णमासयोर्मासो विधीयते
कालः, अथ किं नियताग्निहोत्रात् नियताभ्याश्च दर्शपूर्णमा-
साभ्यां कर्मान्तरविधानम् ?—इति ।

किं तावत् प्राप्तं ?—नियतेषु कालविधिः—इति । कुतः ? ।
कालविधिसरूप एव शब्दो मासम्—इति । कथम् कालविधि-
सरूपता ? । यत् अग्निहोत्रं जुहोति—इति विदितं, मासमित्य-
विदितम् । एवं च अग्निहोत्रशब्दो दर्शपूर्णमासशब्दस्य न
अर्थान्तरवृत्तौ भविष्यतः, तस्मात् कालविधिः । ‘ननु कुण्ड-
पायिनामयनप्रकरणं बाधेतैवम्’ । कामं बाधतां, वाक्यं हि
बलवत्तरम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—प्रकरणान्तरे श्रूयमाणं वाक्यं यस्य प्रकरणे,
तस्य वाचकं भवितुमर्हति । ‘ननु प्रत्यक्षोऽग्निहोत्रस्य दर्शपूर्ण-

* तानि न अथवचनानीत्यदोष इति का० सं० पृ० ।

भा. मासयोश्च गुणविधिः' । न,—इत्युच्यते । कथम्? । उपसङ्गि-
 श्चरत्वेति ह्यक्का इदमभिधीयते, न च, उपसदोऽग्निहोत्रस्य
 दर्शपूर्णमासयोश्च सन्ति । तस्मात् अशक्यः तत्र मासवधः ।
 'अथ उच्यते,—उपसदोऽपि विधीयन्ते'—इति । तथा गुण-
 विधानार्थेऽस्मिन् वाक्ये अनेकगुणविधानात् वाक्यम् भिदेत !
 अस्मिन्पक्षे पुनरतद्वत् अग्निहोत्रशब्दो न कर्म दिशेद्यति, तेन
 वाक्यभेदो न भविष्यति । तस्मात् कर्मान्तरम्—इति सिद्धम् ॥
 (२ । ३ । ११ अ० ॥)

आग्नेयादिकाम्येष्टप्रधिकारणम् ।

स्र. फलं चाकर्मसन्निधौ ॥ २५ ॥

भा. अनारभ्य किञ्चिच्छ्रूयते 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत् इक्ष्वाकः,*
 अग्नीषोमीयमेकादशकपालं निर्वपेद्ब्रह्मवर्षसकामः, ऐन्द्राग्नेयमेका-
 दशकपालं निर्वपेत्प्रजाकामः'—इति । अत्र सन्दिह्यते,—किं
 प्राहृतेष्वाग्नेयादिषु फलं विधीयते, उत प्राहृतेभ्यः कर्मान्तरा-
 ल्येतानि ? ।

किं प्राप्तं?—प्राहृतेषु फलविधिः—इति । कुतः? । विदिता
 आग्नेयादयः प्रत्यभिज्ञायन्ते, तस्मात् तेषामनुवादः फलसम्ब-
 न्धार्थः—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—फलं च भेदकं अकर्मसन्निधौ श्रूयमाणम् ।
 कथम्? । अनुवादे सति न शक्येत फलं विधातुम्, विधायकस्य
 अभावात्, न हि, अविधीयमानो हि उपायो रक्षो भवति—
 इति गमयते ॥ अपि च इक्ष्वामे अत्र विधीयमाने कामस्य

* इक्ष्वाकः तेजस्वाम इति माधवः ।

भा. अनित्यत्वात्, आग्नेयादीनां नित्यत्वात्सम्बन्धो न अवकल्पेत !
एवं सर्वत्र । तस्मात् कर्मान्तराणि ॥ (२ । ३ । १२ अ० ॥)

अवेष्टेरन्नाद्यफलकत्वाधिकारणम् ॥

ख. सन्निधौ त्वविभागात् फलार्थेन पुनःश्रुतिः ॥ २६ ॥

भा. अस्त्यवेष्टिः,—‘आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति’—
इत्येवमादिः, तां प्रकृत्योच्यते,—‘एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत्’—
इति । तत्र सन्देहः,—किं कर्मान्तरमवेष्टेः, उतावेष्टिरेवेति ? । किं
प्राप्तं,—कर्मान्तरम्—इति, उक्तेन न्यायेन । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—
सन्निधौ फलार्थेन पुनःश्रुतिः अवेष्टेरेव, न कर्मान्तरम्—इति ।
कुतः ? । अविभागात्, एतयेत्येष शब्दो न शक्नोति अवेष्ट्या विभक्तं
यागमन्यं वक्तुम्, सन्निहितस्य प्रतिनिर्देशक एष शब्दः । तस्मात्
अवेष्टेरेवान्नाद्यकामस्य विधीयते—इति । किं प्रयोजनम् ? ।
यदि अवेष्टिः, आग्नेयादीनि हवींषि; अथ कर्मान्तरम्, अन्य-
हविष्को यागः—इति ॥ (२ । ३ । १३ अ० ॥)

आग्नेयद्विरुक्तेस्तुत्यर्थताधिकारणम् ॥

ख. आग्नेयमुक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयेत ॥ २७ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः ‘आग्नेयोऽष्टाकपालोऽभावास्यायां पौर्णमास्यां
चाचुरतो भवति’—इति विधाय पुनरुच्यते,—‘आग्नेयोऽष्टा-
कपालोऽभावास्यायां भवति’—इति । तत्र सन्देहः,—किम्
अभावास्यायां द्विराग्नेयेन यष्ट्यं, उत सहात् ?—इति । किं
प्राप्तम् ?—‘आग्नेयमुक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयेत’, एकस्यैवं
पुनःश्रुतिः अविशेषात् अनर्थकं हि स्यात्—इति ॥

स. अविभागात् कर्मणा द्विरुक्तेर्न विधीयते ॥ २८ ॥

(सि० १ ॥)

भा. नैतदस्ति,—पुनरभ्यसितश्चः आग्नेयः—इति । कुतः? । न, अभ्यासस्य वाचकः शब्दोऽस्ति—इति । ‘ननु आग्नेयः पुनरुचरितः परं कर्म विधास्यति’ । न—इति ब्रूमः,—शब्दः पुनरुचरितो न ‘पुनरर्थः कर्त्तव्यः’—इति ब्रूतोति वदितुम्, योऽस्य प्रथमम् उचरितस्यार्थः, अतस्तद्वोऽप्युचरितस्य स एवार्थो भविष्यति, नान्यः । ‘ननु विहितमेव पुनरविशिष्टं विदधत् अनर्थको भवति’ । भवतु कामम् अनर्थकत्वं, न त्वन्व्यं ब्रूतोति वदितुम्, भवेत् उपपन्नम् अनर्थकत्वं, न त्वर्थान्तरवचनता । तस्मात् न द्विरभ्यस्येत—इति ॥

स. अन्यार्था वा पुनःश्रुतिः ॥ २९ ॥ (सि० २ ॥)

भा. अथ वा, न अनर्थका पुनःश्रुतिः, अर्थवादायां भविष्यति,—इत्युच्यते । ‘किमर्थवादेन प्रयोजनं? यदा पूर्वैषैव वाक्येन सार्थवादेन विहितः आग्नेयः, कमन्यमर्थं विधातुम् श्रुतिः प्रयुज्येत? श्रुतिमार्त्तं यत् न कस्यचिद्विधानार्थं, तत् अनर्थकम्,—इत्युक्तम्, ‘आग्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यम् अतर्धानाम्’ (३६ पृ०)—इति, श्रुतश्चाश्रुतश्च तावानेव सोऽर्थः, यथा श्रुता च अश्रुता च देवता अङ्गभावं साधयति, एवमेतत्—इति । तदुच्यते—‘अन्यार्था वा पुनःश्रुतिः’, न आग्नेयं विधातुम्, ऐन्द्राग्नविधानार्था, आग्नेयोऽष्टाकपालोऽभावास्यायां भवत्येव, न केवलेनाग्निना स साधुर्भवति—इति इन्द्रसहितोऽग्निः समीचीनतरः, तस्मात् ऐन्द्राग्नः कर्त्तव्यः—इति ॥ (२ । ३ । १४ अ० ॥)

इति आचार्य्य-श्रवरस्वामिनः हाती मीमांसाभाष्ये द्वितीयस्य अध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ * * ॥

द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।



अथ यावज्जीविकाग्निहोत्राधिकारकम् ।

स. यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः प्रकरणात् ॥ १ ॥
(पू०) ॥

भा. बहुचन्नाह्मणे श्रूयते,—‘यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति’—इति, यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत’—इति । अत्र सन्देहः,—किं कर्मधर्माभ्यासो यावज्जीविकता, उत कर्तृधर्मो नियमः चोद्यते यावज्जीविकता?—इति । कथं कर्मधर्माभ्यासः, कथं वा कर्तृधर्मो नियमः?—इति । यदि जुहोतिः अनुवादः, यावज्जीवम्—इति विधिः; ततः कर्मधर्माभ्यासः, यदि विपरीतं, ततः कर्तृधर्मो नियमः—इति । किं तावत् प्राप्तम्,—कर्मधर्माभ्यासः । कुतः? । प्रकरणात्,—यदि इयं वचनव्यक्तिः,—जुहोतियजति-शब्दौ अनुवादौ, यावज्जीवम्—इति च विधिः, ततः प्रकरण-मनुगृह्यते, तस्मात् अभ्यासः । एवं ह्यत्वा सचसंस्तवो युक्तो भविष्यति, ‘जरामयं वा एतत् सचं यदग्निहोत्रं, दर्शपूर्णमासौ च’—इति दीर्घकालसामान्यात् । तस्मात् अभ्यासः ॥

स. कर्तृर्वा श्रुतिसंयोगात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा. अत्र ब्रूमो,—यावज्जीविकोऽभ्यासो न स्यात्, कर्तृधर्मो नियम-श्रूयते इति । कुतः? । श्रुतिसंयोगात् । एवं श्रुतिपरिच्छिन्नोर्थो भविष्यति, इतरथा लक्षणा स्यात् । कथं? । यावज्जीवनं, तावता कालेन कुर्यात्—इति, तदेतत्प्रदोषपरिसमाप्तमग्निहोत्र-मनभस्य, न शक्यते यावज्जीवनकालेन कर्तुम्, पौर्णमास्य-मावास्थापरिसमाप्तौ च दर्शपूर्णमासौ । यदि उच्येत—‘जीवन-कालस्यैकदेशेऽपि ह्यतं तेन कालेन ह्यतं भवति’—इति । नैतदेवम्,

भा. अर्थप्राप्तं हि तत् न विधातव्यम् ब्रह्मेन, जीवनपरिमितः कालो यः, तेन परिसमापयितव्यम्—इति अर्थाद्भ्यासः, स हि कर्तव्यतया श्रूयते, न चासौ जुहोतियजतिभ्यामुच्यते, लक्षणाया तु गम्यते । यावज्जीवं जुहुयात्, यावज्जीवमभ्यस्येत्—इति, श्रुतिश्च प्रकरणाद्ब्रह्मीयसी । यदि इयं वचनव्यक्तिरस्य वाक्यस्य, यावज्जीवम्—इत्यनुवाहो जुहोतियजति—इति च विधानम्,—इत्येवं यजतिजुहोतिब्रह्मदौ स्वार्थावेव भविष्यति, यावज्जीवब्रह्मदोऽपि जीवनवचन एव, नाभ्यासलक्षणो भविष्यति—इति जीवने निमित्ते कर्म विधोयते, जीवंश्वेत् होतव्यम्—इति, जीवनं निमित्तं, न कालः, नियतनिमित्तत्वात् नियतं कर्म तेन उच्यते,—कर्तुर्धर्मो नियमश्चोद्यते—इति ॥

स. लिङ्गदर्शनाच्च, कर्मधर्मे हि प्रक्रमेण नियम्येत, तच्चानर्थकमन्यत् स्यात् ॥ ३ ॥ (हे० १) ॥

भा. लिङ्गं च भवति 'अपि ह वा एष सर्गाद्योकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजो पौर्णमासीममावास्यां वा अतिपातयेत्' इति । कथं लिङ्गं? । कर्मधर्मे हि प्रक्रान्तं सचं यावज्जीवनकालेन परिसमाप्येत, न तत्र कालातिपातः स्यात् । तत्र चानर्थकमन्यत् स्यात् प्रायश्चित्तादि विधीयमानम् ॥

स. व्यपवर्गं च दर्शयति, कालश्चेत्कर्मभेदः स्यात् ॥ ४ ॥ (हे० २) ॥

भा. व्यपवर्गस्य (समापनस्य) दर्शनं भवति,—'दर्शपूर्णमासाभ्याम् इहा सोमेन यजेत'—इति; यदि दर्शपूर्णमासाभ्याम् इहा सोमस्य कालोऽस्ति, यत्नं न यावज्जीवनकालेन तौ परि समाप्येते । अथ जीवनं निमित्तम्, उपपद्यते कर्मभेदः, दर्शपूर्णमासौ परिसमाप्य सोमं कर्मान्तरं कुर्यात्—इति ।

भा. अपि च 'आहिताग्निर्वा एष यः अग्निहोत्रं जुहोति न दर्शपूर्ण-
मासौ यजेत, या आहुतिभाजो देवतास्ता अनुधायिनीः करोति'
—इति अनुधायिनीवचनं भवति, नियतः य आहुतिभागः,
तस्मिन् अदीयमाने अनुधायिनीवचनं भवति। यस्त्वनियत
आहुतिभागः तमनुधायन्ति, इदं नो भविष्यति—इति, निय-
तश्च भागो नियमपक्षे भवति, न काम्यपक्षे, कर्मधर्मे च काम्य-
मग्निहोत्रं च दर्शपूर्णमासौ च, तस्मात् नियमपक्षः। अपि च
श्रूयते,—'जरामर्त्यं वा एतत् सचं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च,
जरया ह वा एताभ्यां निर्मुच्यते—मृत्युना च'—इति जरा-
मरणनिर्मोचनावधारणवचनं च नियमपक्षे उपपद्यते। काम्य-
पक्षे हि अप्रयोगादपि मुच्यते ! ॥

ख. अनित्यत्वात् तु नैवं स्यात् ॥ ५ ॥ (हे० ३) ॥

भा. तु शब्दोऽन्वाचये, इतश्च पन्थामः, कर्तुर्द्धर्मो नियमश्चोद्यते—
इति। यदि पूर्वस्य होमस्य गुणविधिर्भवेत् स एवैकः पूर्वा-
ग्निहोत्रहोमोऽनित्यः स्यात्, कामसंयोगेन श्रुतो नान्यः कश्चित्
नित्यः, तत्र लिङ्गं विवक्षेत,—'जरामर्त्यं' वा एतत् सचं यदग्नि-
होत्रं दर्शपूर्णमासौ, जरया वा एताभ्यां निर्मुच्यते मृत्युना च
—इति। कथं विवक्षते? जरामरणनिर्मोचनावधारणवचनं
नियमपक्षे उपपद्यते, काम्यपक्षे अप्रयोगादपि मुच्यते ! ॥

ख. विरोधश्चापि पूर्ववत् ॥ ६ ॥ (हे० ४) ॥

भा. इतश्च पन्थामो न पूर्वाभ्यासो गुणश्चोद्यते—इति। कुतः?।
विरोधात्, विरोधो भवति, दर्शपूर्णमासविकाराः सौर्यादयो-
ऽपि यावत्जीवमभ्यसित्या भवेयुः! सोऽनारभ्यार्थः प्रतिज्ञातः
स्यात्! अतोऽपि पन्थामो नियमः—इति सचसंस्तवश्च सन्तत-
भावमुपपद्यते ॥

घ. कर्तुंस्तु धर्मनियमात्कालशास्त्रं निमित्तं स्यात् ॥ ७ ॥
(यु०) ॥

भा. यदि कर्तुं धर्मो नियमस्योद्येत, ततो जीवनं निमित्तं, जीवने निमित्ते कर्म विधीयते । तच्च प्रयोगे परिसमाप्तं कर्म, तथा च्यपवर्गस्य दर्शनमवकृप्तं भवति, तस्मात् कर्तुं धर्मो नियमस्योद्येत—इति सिद्धं भवति ॥ (२ । ४ । १ अ० ॥)

अथ सर्वशाखाप्रत्ययेककर्मताधिकारम् ।

घ. नाम—रूप—धर्मविशेष—पुनरुक्ति—निन्दा—ऽशक्ति—समाप्तिवचन—प्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनात् शाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यात् ॥ ८ ॥ (पू०) ॥

भा. इह शाखान्तराण्युदाहरणं, काठकं कालापकं पैम्पलादकम्—इत्येवमादीनि । तच्च सन्नेहः, किमेकस्यां शाखायां यत् कर्म अग्निहोत्रादि श्रूयते, तच्छाखान्तरे पुनः श्रूयमाणमिद्येत तस्मात्, उत न भिद्येत ? । भिद्येत—इति पन्थामः । कुतः ? । नामभेदात्, एकं काठकं नाम, अन्यत्कालापकं नाम, एवं—नामभेदाद्भेदः । 'ननु ग्रन्थनामैतत्' । सत्यं, कर्मणामपि—इति ब्रूमः,—कर्मभिरप्येवमादीनां सामानाधिकारण्यम् एकविभक्तित्वं च—इति ।

रूपभेदाच्च, एकस्यां शाखायाम् अग्नीषोमीयमेकादशकपालम् आमनन्ति, एकस्यां द्वादशकपालं, एवं—भिन्नं रूपं, कथमिव न कर्मान्तरं भविष्यति ।

धर्मविशेषाच्च, कारीरीवाक्शान्यधीयानास्तैत्तिरीया भूमौ भोजनमाचरन्ति, अपरे शाखिनो नाचरन्ति, तथा अग्निमधी-

भा. याज्ञाः केचिदुपाध्यायस्थोदकुम्भानाहरन्ति, अपरे न, अश्वमेध-
मधीयानाः केचित् अश्वस्य घासम् आहरन्ति, अपरे न, परेऽन्यं
धर्ममाचरन्ति, अश्वघासादेरेकेषामुपकारम् आकाङ्क्षति अश्व-
मेधादिः, एकेषां न आकाङ्क्षति, स एवैकः कथं न आकाङ्क्षेत्
कथं वा अन्यत् आकाङ्क्षितुमर्हति, अतो गम्यते अन्यत्—इति ।

पुनरुक्तिप्रसङ्गाच्च, यदि सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म, एकस्यां
शाखायां विहितस्य कर्मणः शाखान्तरे वचनं पुनरुक्तम् अनर्थकं
स्यात् ! न तु भेदपक्षे एष दोषोऽस्ति, तस्मात् अपि कर्मभेदः ।

निन्दावचनाच्च, “प्रातःप्रातरनृतन्ते वदन्ति पुरोदया जुह्वति
ये अग्निहोत्रं दिवाकीर्त्यम् अदिवा कीर्तयन्तः सूर्या ज्योतिर्न
तदा ज्योतिरेषाम्”—इति केचित् शाखिनोऽनुदितहोमं
निन्दन्ति, अपरे पुनरुदितहोमं निन्दन्ति, ‘यथागतथये प्रदु-
तायान्नमाहरेयुस्तादृक् तत् यदि उदिते जुह्वति’—इति, सर्व-
शाखाप्रत्यये विरुद्धं, न तु कर्मभेदे, तस्मात् अपि भेदः—इति ।

अशक्तेश्च, न शक्नुयुः खल्वपि सर्वशाखाप्रत्ययमुपसंहरन्तुम्,
तत्रानारभ्योर्था विधीयते—इति प्रतिज्ञातं भवेत्, शक्यं तु
कर्मभेदे, अतः कर्मभेदः—इति ।

समाप्तिवचनाच्च, असमाप्तेऽपि समाप्तेर्वचनं भवति, केचिदाहुः,
अचास्माकमग्निः परिसमाप्यते—इति, अपरेऽन्यपरिसमाप्तिं
द्यपदिशन्ति, तदेककर्म त्वे नोपपद्यते, न हि तच्च परिसमाप्येत,
अन्यच्च न ; भेदे तु युक्तं, तस्मात् भेदः—इति ।

प्रायश्चित्तविधानाच्च, केचित् अनुदितहोमव्यतिक्रमे प्राय-
श्चित्तमा मनन्ति, केचित् उदितहोमव्यतिक्रमे वृद्धे च प्रायश्चित्तं,
न च कर्मैकत्वे उभयथा वृद्धिः सम्भवति, कर्मभेदे तु यदनुदिते
होमकर्म, तदुदिते वृद्धम्, इतरदप्युदिते, तस्मात् अपि भेदः ।

अन्यार्थदर्शनाच्च, इदं श्रूयते, ‘यदि पुरा द्विदीक्षायाः स्रः
यदि वैषां गृहपतिः गृहपतेर्वानुसर्षिषः—इति, त एनमेव

भा. दृष्टत्सामानं क्रतुमुपेयुष्येत् शेषां रथन्तरं, अथ यदि अदिदी-
क्षाणाः—इति दृष्टवतामनिष्टपूर्वाणां च द्वादशाहे दर्शनमुप-
पद्यते यदि कर्मभेदः, एककर्मत्वे नावकल्पते। कथं?। ताण्डके
श्रूयते,—‘एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां, यज्ज्योतिष्टोमो, य
एतेनानिष्ठाभ्यान्थेन यजेत गर्त्तपत्यमेव तज्जायेत प्रवामीयते’
—इति, तत् सर्वत्र स्यात्, तत्रादिदीक्षाणां द्वादशाहे दर्शनं
नोपपद्यते, तस्मात् अपि कर्मभेदः ।

अथापरं लिङ्गदर्शनं, ‘यत्पक्षसम्मितां पिनुयात् कनीयांसं
यज्ञक्रतुमुपयात् कनीयसीं प्रज्ञां कनीयसः पशून् कनीयोऽन्नाद्यं
पापीयान् स्यात्, अथ यदि वेदिसम्मितामिनोति’—इति पक्ष-
सम्माने प्रतिषिद्धे वेदिसम्मानस्य दर्शनं भवति, तत्तु कर्मभेदे
उपपद्यते, पाक्षिकस्य वेदिसम्मानस्य दर्शनं एककर्मत्वे नोप-
पद्यते। कथम्?। एके हि समामनन्ति, ‘रथाक्षमाशाणि
यूषाक्षराखानि भवन्ति’—इति, तत् सर्वत्र स्यात्, तत्र च नो
पक्षसम्मानं नो वेदिसम्मानं स्यात्, वेदिसम्मानदर्शनं नोप-
पद्यते, तस्मात् अपि कर्मभेदः ।

अपरञ्च लिङ्गदर्शनं, केषाञ्चित् ज्योतिष्टोमे श्रूयते, हे संस्तु-
तानां विराजमतिरिचयेते इति, परेषां तिस्रः संस्तुतानां
विराजमतिरिचयन्ते—इति एककर्मत्वे विरोधः, नानाकर्मत्वे
कस्मिंश्चित् ज्योतिष्टोमे द्वे, कस्मिंश्चित् तिस्रः, तस्मात् कर्मभेदः—
इति ।

अपि च सारस्वते श्रूयते, ‘ये पुरोडाशिनस्ते उपविशन्ति ये
साम्नायिनस्ते वत्सान् वारयन्ति’ । साम्नायिन इष्टप्रथमयज्ञाः,
पुरोडाशिनो विपरीताः, उभयेषां सारस्वतेदर्शनम् अवकल्पते
कर्मभेदे, एककर्मत्वे सर्वेषां ज्योतिष्टोमपूर्वत्वं स्यात्, तत्र दर्शनं
नोपपद्यते ।

अपि च श्रूयते,—‘उपहृत्यो निबन्धः, अग्निष्टोमो यज्ञः रथन्तर-

भा. सामा, अश्वः श्यावो दक्षिणा, परेषां श्रूयते, 'उपहृद्योऽग्निरुक्तः, उक्त्यो यज्ञो दृष्टत्सामा, अश्वः श्वेतो वक्त्रललाटो दक्षिणा'— इति, कर्मैकत्वे रथन्तरवचनं दृष्टवचनं चानर्थकं, आखादय-प्रत्ययत्वात् दृष्टत्सामा रथन्तरसामा वा स्यात्, स चायं प्रह-तित एवंलक्षणकः प्राप्तः, नानाकर्मत्वे तु अन्यो दृष्टत्सामाभ्यो रथन्तरसामा इति युक्तं भवति, तस्मात् आखान्तरे कर्मभेदो भवितुमर्हति ॥

स. एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात् ॥ ९ ॥

(सि०) ॥

भा. नचैतदस्ति; यदुक्तं आखान्तरेषु कर्मभेदः—इति, सर्वआखा-प्रत्ययं सर्वब्राह्मणप्रत्ययस्यैकं कर्म, अर्थसंयोगस्याविशेषात्, तदेव प्रयोजनमुद्दिश्य तदेव विधीयमानं प्रत्यभिजानीमः। रूपमप्यस्य तदेव द्रव्यदेवतं, पुरुषप्रयत्नश्च तादृश एव चोद्यते, नामधेयं चाविशिष्टं, तेन तदेव कर्म सर्वआखादिषु—इति प्रत्ययः ॥

स. न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वात् ॥ १० ॥

(पू० नि० १) ॥

भा. यदुक्तं (१९७।१४ प०) नामभेदः—इति, परिहृतं (१९७।१६ प०) तत् ग्रन्थनामतः—इति। अथ यदुक्तं, (१९७।१७ प०) कर्मणोऽपि नामसामानाधिकरण्यदर्शनात्—इति। नैव दोषः, —ग्रन्थसंयोगात् कर्म काठकादि, न कर्मसंयोगात् ग्रन्थः काठकः। कथं गम्यते?। यत् कर्म काठकादिसंयुक्तं, तत् काठ-कादिशब्देनोच्यते। किमतोऽपि?। यत् ग्रन्थसंयोगात् काठकं कालापकं कर्मोच्यते, एकत्वेऽपि काठकग्रन्थसंयोगात् काठकं, कालापकग्रन्थसंयोगात् तु कालापकं भविष्यति ॥

स. सर्वेषाञ्चैककर्मोऽ स्यात् ॥ ११ ॥ (यु० १) ॥

भा. यदि ब्रह्मभेदाद्भेदो भवेत्, ब्रह्मैक्यात् तर्हि कर्मैक्यं भवेत् । तत्र काठकब्रह्माभिधानादैक्यं भवेत् अग्निहोत्रस्य दर्शपूर्णमासयोः ज्योतिष्टोमस्य च, तच्छब्दत्वात्, नचैतदेवं ! तस्मादपि अभेदः ।

स. इतकं चाभिधानम् ॥ १२ ॥ (यु० २) ॥

भा. इदानीन्तनञ्चेतदभिधानं भवेत्, अस्य न पूर्वमासीत्, यतः प्रभृति कठस्य प्रह्लाष्टं वचनं, ततः प्रभृति प्रहृत्तं, पूर्वं नासीद्भेदः, इदानीं भेदः—इति विशङ्कम् ॥

स. एकत्वेऽपि परम् ॥ १३ ॥ (पू० नि०) ॥

भा. एककर्मत्वेऽपि रूपभेदो (१६७।१८ प०) भवति वचनात्, न च, वाचनिके रूपभेदे, असत्यामपि भेदबुद्धौ कर्मणो भेदोऽध्यवसीयेत ॥

स. विद्यायां धर्मशास्त्रम् ॥ १४ ॥ (पू० नि०) ॥

भा. अथ यो धर्मविशेष उक्तः (१६७।२१ प०), विद्याग्रहणार्थः सः, न कर्मण उपकारकः । कथं गम्यते ? । अत्यादीनामभावात्, विद्यासंयोगाच्च न कर्मप्रयुक्तः—इति ॥

स. आग्नेयवत्पुनर्वचनम् ॥ १५ ॥ (आश०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—यथा अमावास्यायामाग्नेयस्य पुनश्चक्षुदोषात् मध्यमः पक्षो निरस्तः, एवमयमपि तस्मादेव दोषात् कर्मैकत्वपक्षो निरसितः,—इति, एतत्परिहर्तव्यम् । (इत्याभाषान्तं सूत्रम्) ॥

स. अद्विर्वचनं वा श्रुतिमंयोगाविशेषात् ॥ १६ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. नैव खल्वेतत्तद्विर्वचनं, स एवायमर्थः पुनः आवितोऽग्निहोत्रादि-
र्वङ्गहास्यो बङ्गभिस्तु पुरुषैः, नचैकोऽर्थो बङ्गभिश्चरमानः पुनश्चो
भवति ! यदि भवेत्, एकस्मिन्नेव वेदे बङ्गभिश्चरमाने भवेत्,
तस्मात् न बङ्गकर्मसमवायोऽयम्, एकमेवेदं कर्म—इति* ॥

स. अर्थसन्निधेश्च ॥ १७ ॥ (यु० १) ॥

भा. अर्थसन्निधेश्च शाखाशब्द उपपन्नो भविष्यति, शाखा इव
होमाः शाखाः, तत् यथा वृक्षस्य शाखाः, एवमिहापि वृक्ष-
स्थानीयस्य वेदस्य शाखाः । किं शाखासारूप्यं ? । यथा
नानावस्थानं, नचैकैकस्यां ह्यत्सं पुष्पं फलं सन्निहितम्, एव-
मिहापि, नैकैकस्यां ह्यत्सं गुणकारुण्डं सन्निहितम्,—इत्यर्था-
सन्निधेः शाखाशब्दोपपत्तिः । तस्मादप्येकं कर्म—इति ॥

स. न चैकं प्रति शिष्यते ॥ १८ ॥ (यु० २) ॥

भा. न च, यत् काठकेऽग्निहोत्रं, तत् काठकमेवैकं पुरुषं प्रति
विधीयते ! तैत्तिरीयस्यापि तद्विहितमेव, पुरुषविशेषवचना-
भावात्, यच्चाग्निहोत्रस्य किञ्चित् अङ्गं विधीयते, सर्वावस्थस्य तत्
अग्निहोत्रस्य, यच्च काठकस्याग्निहोत्रं, तच्च तैत्तिरीयकस्य—
इति, विशेषवचनाभावात्, तस्मात् सर्वशाखाभिरेकं समाप्तं
कर्माचरते—इति ॥

* “अत्रान्तरे वाक्वासमवायादिति भाष्यकारस्य सूत्रं अयम् । तत्रेदं
व्याख्यायते, नैकस्मिन् पुरुषे शाखान्तरवाक्यं समवेति” इति वार्त्तिक-
छदादिस ।

सू. समाप्तिवचनं संप्रेक्षा ॥ १९ ॥ (यु० ३) ॥

भा. अत्र अस्माकम् अग्निः परिसमाप्यते—इति उत्प्रेक्षितारो भवन्ति,—अन्वारोहेषु मैत्रायणीयानाम् अग्निः परिसमाप्यते, अस्माकं तेषु न परिसमाप्यते—इति, यदि अन्यदेव मैत्रायणीयानां, अन्यत्र तेषां, कथं ते ब्रूयुरेष्वस्माकं न परिसमाप्यते—इति, एकत्वमुपपन्नं, तेषामपि हि ते सन्ति ॥

सू. एकत्वेऽपि पराणि निन्दाशक्तिसमाप्तिवचनानि ॥
२० ॥ (पू० नि०) ॥

भा. न हि निन्दा (१९८।९ प०) निन्द्यं निन्दितम् प्रपुज्यते । किं तर्हि निन्दितादितरत्प्रशंसितम्, तत्र न निन्दितस्य प्रतिषेधो गम्यते । किन्तु इतरस्य विधिः, तत्र एकस्मिन् अग्निहोत्रे द्वौ कालौ विहितौ विकल्प्येते, अतो न कश्चिद्विरोधः ।

तथा असमर्थानां (१९८।१५ प०) एकस्मिन्नपि वेदे विहित-
हृत्स्वमङ्गजातम् उपसंहृतम् अशक्तिः, समर्थानाम् सर्वत्राखाभ्यो-
ऽप्यागमितमधिकं विधिमुपसंहृतम् शक्तिः अस्ति—इति तेनैक-
कर्मत्वेऽपि न विरुद्धम्—इति ।

तथा एकस्मिन्नपि कर्मणि किञ्चित् वस्तु (१९८।१८ प०)
समाप्तम्,—इति—हृत्वा समाप्तिशब्दः प्रयुज्यते, यथा, आर्ध्वर्यं
समाप्ते ज्योतिष्टोमस्य, समाप्तो ज्योतिष्टोमः—इति भवति ।

सू. प्रायश्चित्तं निमित्तेन ॥ २१ ॥ (आश०) ॥

भा. यदुक्तं, (१९८।२२ प०)—उदितहोमस्यापि प्रायश्चित्तान्ता
नाष्टद्वता* गम्यते, अनुदितहोमस्यापि, तदेकत्वे विरुध्यते,

* 'नाविरुद्धता' इति का० प्रा० पु० ।

अविबुद्धं नानात्वे इति, तत् परिहर्तव्यम् । (आभाषान्तं सूत्रम्) ॥

स. प्रकृमादा नियोगेन ॥ २२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. वाङ्मदः पक्षं व्यावर्तयति । नैष दोषः, उदिते ह्योष्यामीति-
प्रकान्ते अन्यथा क्रियमाणे भवति दोषः, तच्च प्रायश्चित्तस्य
विषयो भविष्यतीति कर्मैकत्वेऽपि न दोषः ॥

स. समाप्तिः पूर्ववत्त्वात् यथाज्ञाते प्रतीयेत ॥ २३ ॥
(पू० नि०) ॥

भा. पूर्ववति समाप्तिवचनं भवति, यत्प्रारब्धं तत् परिसमाप्यते,
तच्चास्माकं परिसमाप्तोऽग्निरिति योऽस्माभिर्ज्ञायते, प्रारब्धञ्च
परिसमाप्यते इत्यभिप्रायः ॥

स. लिङ्गमविशिष्टं सर्वशेषत्वान्नहि तच्च कर्मचोदना
तस्मात् द्वादशाहस्याहारव्यपदेशः स्यात् ॥ २४ ॥
(पू० नि०) ॥

भा. यदुक्तं, (१६८।२६ प०)—यदि पुरा दिदीक्षाणा इति,
द्वादशाहे इष्टप्रथमयज्ञानामनिष्टप्रथमयज्ञानां च दर्शनं कर्मभेदे
उपपद्यते, न सर्वशाखाप्रत्ययैककर्मणि—इति । नैष दोषः,
यदि दिदीक्षाणा द्वादशाहेन, अदिदीक्षाणा द्वादशाहेनेत्येवं
तत्, न हि सामवेदे ज्योतिष्टोमस्य विधानम् । किमतोऽपि ? ।
यच्च विहितस्तथानूद्यते, तेन कर्मभेदेऽपि सर्वज्योतिष्टोमानामेष
धर्मः प्रायश्चित्तं नाम । अतो नानाकर्मपक्षेऽप्यवश्यं द्वादशाह-
स्याहारव्यपदेशः कल्पनीयस्तस्माद्दोषः ॥

स. द्रव्ये चाचोदितत्वात् विधीनामव्यवस्था स्यात् निर्द्देशाच्चवतिष्ठेत तस्मात् नित्यानुवादः स्यात् ॥ २५ ॥
(पू० नि०) ॥

भा. द्रव्ये च (अग्नौ) अचोदितत्वात् एकादशिन्याः* सम्मानपरिमाणं प्रति नैषा व्यवस्था स्यात्, नैवाग्रावेकादशिनी चोद्यते, कुतः पक्षसम्मानं (१९९। ८ प०) वेदिसम्मानं वा स्यात् ? इयमप्येतत् परार्थं कीर्त्यते, पञ्चवेकादशिनीविधानार्थं, यदि पक्षसम्मिता स्यादयं दोषः स्यात्, वेदिसम्माने न दोषो भवेत्, क्व एतत्सङ्कटमध्यवसानमर्हति ?—एकस्मिन् यूपे एकादश पञ्चवो नियोक्तव्याः—इति, वाचस्तोमादिषु तु यूपैकादशिन्यामस्य नित्यानुवादत्वात् रथाक्षमात्राण्येव यूपान्तरालानि भविष्यन्ति, नित्यानुवादत्वाच्चासत्यपि पक्षसम्माने वेदिसम्माने वा एकादशिनीविधानार्थं वचनमुपपद्यते एवेति न दोषः ॥

स. विहितप्रतिषेधात्पक्षेऽतिरेकः स्यात् ॥ २६ ॥
(पू० नि०) ॥

भा. अतिरात्रे गृह्णाति षोडशिनमिति विहितः षोडशी, नातिरात्रे गृह्णाति षोडशिनमिति प्रतिषिद्धः, तेन पक्षे† इयोः स्तोत्रीययोरतिरेकः, पक्षे तिष्ठृणाम्, तस्माद्दोषः (१९९। १७ प०)। कथं पुनरयं इयोस्तिष्ठृणां वा अतिरेकः ?। चिह्नत् वह्निष्पवमानं, तत् तावत् नवकं ; पक्षदशान्याज्यानि, तानि

* 'एकयूपे एकादश पञ्चवः' इत्यस्य विधेः श्रेणीभूतः पक्षसम्मानादिरिति ॥

† वैकल्पिके षोडशिनि अक्रियमाणे इयोरतिरेकः, क्रियमाणे त्वेकविंशतिप्रपञ्चात् तिस्रो भवन्ति तस्मादविरोधः' इति वार्त्तिकमजानुसन्नेयम् ।

भा. तावत् चत्वारि, तेन सा षष्टिः; पञ्चदशो माध्वन्दिवः पवमानः,
 तथा पञ्चदशसंख्यया सह, पूर्वया च नवसंख्यया चतुरशीतिः।
 सप्तदशानि पृष्ठानि चत्वारि, सप्तदश आर्भवः पवमानः,
 पञ्चसप्तदशकानि तानि—इति पञ्चाशीतिः। पूर्वया चतुर-
 शीत्या सदैकोनसप्ततिशतं। एकविंशं यज्ञायज्ञियं, तथैक-
 विंशत्या सह तस्य नवतिशतं स्तोत्रियाः—इति ब्राह्मणवाद्ः।
 अग्निष्टोममाचमभिप्रेत्य उच्यते, 'सा विराट् सम्पूर्णा विराट्—
 इति दशकाद्याः, चय एकविंशका उक्त्यपर्यायाः, सा त्रिषष्टिः;
 एकविंशः षोडशी, तथा एकविंशत्या सह चतुरशीतिः;
 पञ्चदशका रात्रिपर्यायाश्चयः, तथैकैकपर्यायः चतुःस्तोत्रः, तत्
 अशीतिशतं सम्पूर्णा विराट्। त्रिष्टयन्तरं पञ्चसाम, तन्नक्तं,
 ततश्चतुरशीतेरेकं नवकमागच्छति, तथा तिस्रः संस्तुतानां
 विराजमतिरिच्यन्ते, यदा षोडशी न गृह्यते, तदा एकविंशत्या
 विना द्वे संस्तुतानां विराजमतिरिच्येते, एवमेककर्मत्वेऽपि
 खिङ्गमुपपद्यते ॥

स. सारस्वते विप्रतिषेधात् यदेति स्यात् ॥ २७ ॥

(पू० नि०) ॥

भा. यदुक्तं, (१९९। २२ प०)—पुरोडाशिनं साम्नायिनं च
 सारस्वते दर्शनं भवति—इति, ज्योतिष्टोमपूर्वकत्वात् सर्वकर्मणां,
 विप्रतिषिद्धमेतदिति, तेन यदा साम्नायिनः पुरोडाशिनः—
 इति कल्प्यते ॥

स. उपहृद्येऽप्रतिप्रसवः ॥ २८ ॥ (आश०) ॥

भा. अथ यदुक्तं, (२००। १ प०)—उपहृद्ये षड्दशन्तरविधानं प्रह-
 तिप्राप्तमेव, एककर्मत्वे प्रतिप्रसवतयापि असम्भवादिधीयमान-
 मनर्थकं स्यात्—इति, तत्परिहृत्तव्यम्। (आभाषान्तम् सूचम्) ॥

स. गुणार्था वा पुनःश्रुतिः ॥ २६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. यदा रथन्तरसामा, तदा अश्वः श्वेतो दक्षिणा, यदा
वृदत्सामा तदा वक्त्रललाट इति ॥

स. प्रत्ययं चापि दर्शयति ॥ ३० ॥ (यु०) ॥

भा. यदा न सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्मेति, कथमेकस्यां शाखायां
समाग्नायतेऽन्यस्यां गुणे विधीयते? यथा नैषायणीयानां
समिदादयः प्रयाजा न समाग्नायन्ते, अथच गुणाः श्रूयन्ते,—
'ऋतवो वै प्रयाजाः समानीय ह्येतथाः'—इति । तथा येषां
शाखिनां कुटसरसीति* अश्मादानमद्यो नाग्नातः, तेषामपि
हि वृश्यते,—कुटुटोऽसीत्यश्मानमुपादत्ते, कुटसरसीति वेति ।
तस्मादेकं कर्म—इति प्रतीमः ॥

स. अपि वा क्रमसंयोगाद्दिधिपृथक्कमेकस्यां व्यवतिष्ठेत ॥
३१ ॥ (आ०) ॥

भा. यो अन्यशाखावस्थितान् विधीनुपसंहरति, स सशाखावि-
हितं क्रममुपसंहरति, तेन शाखान्तरेषु कर्मभेद इति ॥

स. विरोधिना त्वसंयोगादैककर्म्यं तत्संयोगाद्दिधीनां
सर्वकर्मप्रत्ययः स्यात् ॥ ३२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. उच्यते, नैष शाखान्तरविहितानामैककर्म्यं सति विरोधिना
संयोगः । न हि क्रमो वाक्येन विरुध्यते, दुर्बलो हि क्रमः, बल-
वदाक्यं, वाक्येन च शाखान्तरीयाणामुपसंहारः । तस्मात् सव-
शाखाप्रत्ययं सर्वशाखाणामप्रत्ययस्यैकं कर्म चोच्यत इति सिद्धं भवति ॥
इति भट्टशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य
चतुर्थः पादः ॥ समाप्तोऽयं द्वितीयाध्यायः ॥

* कुटसरसीति का० सं० ॥

तृतीये अध्याये प्रथमः पादः ॥



प्रतिज्ञाधिकारणम् ॥

सू. अथातः शेषलक्षणम् ॥ १ ॥

भा. नानाकर्मलक्षणं वृत्तं, अनन्तरं शेषलक्षणं वर्त्तयिष्याम,—
कः शेषः? केन हेतुना शेषः? कथं च विनियुज्यते?—इति,
श्रुत्यादीनि च विनियोगे कारणानि—इति वक्ष्यते, तेषां च
बलवद्बलवत्ता, एतत्तात्पर्येणान्यदप्युपोद्घातादिना ॥ (३।१।
१ अ०) ॥

अथ शेषत्वकारणसहितशेषलक्षणधिकारणम् ॥

सू. शेषः परार्थत्वात् ॥ २ ॥

भा. इह सूत्रे शेषस्य लक्षणं, येन च हेतुना शेषः—इत्युच्यते,
तदुभयमाश्रायते । यः परस्योपकारे वर्त्तते, स शेषः—इत्यु-
च्यते, तत् यथा, ये परार्थाः, ते वक्त्रारो भवन्ति,—शेषभूता
वयमिह—इति । 'ननु योऽपि प्रधानभूतः, सोऽपि कदाचित्
परार्थे वर्त्तते, यथा उपाध्यायः प्रधानभूतः शिष्याणां विद्या-
विनयाधाने वर्त्तते' । सत्यं वर्त्तते, यस्तु अत्यन्तं* परार्थः, तं
वयं शेषः—इति ब्रूमः, यथा, गर्भदासः कर्मार्थ एव खामिनो-
ऽनष्टांश्च क्रीयते, वक्ष्यति—इत्येव । 'ननु गर्भदासस्यापि
स्वामी संविदधानो गुणभावमायात्' । न—इति ब्रूमः,—आत्मन
एवासौ संविदधानो गुणभावं गच्छति, मान्तरियकत्वात् गर्भ-

* क्वचित् अत्यन्तपरार्थ इति पाठः एवं परञ्च ।

भा. हासस्वोपकरोति, अमशुद्धो वा ; वस्त्वस्वनां परार्थः, तं वचं श्रेयः इति—ब्रूमः ।

अथ तत्र किं दृष्टं ? । “वैस्तु द्रव्यं विकीर्ष्यते गुणः तत्र प्रतीतिः” (११४ पृ० । ८ सू०)—इति, तत्र अपूर्वार्थता चावर्णिता, दृष्ट-प्रयोजनानामाश्वातानाम् । इह तु सर्वेषामेव श्रेयासां लक्षण-मुच्यते ॥ (३ । १ । २ अ०) ॥

श्रेयससाधिकाख्यम् ।

स. द्रव्यगुणसंस्कारेषु वादरिः ॥ ३ ॥

भा. वादरिराचार्यः अत्र द्रव्यगुणसंस्कारेष्वेव श्रेयसशब्दः—इति मने, न यागफलपुरुषेषु । द्रव्यं क्रियार्थं, यदि प्रयोजनवती क्रिया, अर्थात् सा द्रव्येण निर्वर्तयितव्या, तस्या निर्दोषनिर्दोषादृते न भवति—इति तर्जिर्दोषे द्रव्यमेवितथं भवति, तस्मात् क्रियार्थं द्रव्यम् । गुणः ब्रह्मोति विद्विष्टं द्रव्यं सोदितं लक्षयितुम्, लक्षितेन च तेन प्रयोजनं, विद्विष्टस्य क्रियासाधनत्वात्, तस्मात् सोऽपि द्रव्यदारेण क्रियाया उपकरोति—इति क्रियार्थ एव । संस्कारो नाम स भवति, तस्मिन् ज्ञाने पदार्थो भवति योग्यः कस्यचित् अर्थस्य, तेनापि क्रियायां कर्तव्यायां प्रयो-जनम्—इति सोऽपि परार्थः । तस्मात् द्रव्यगुणसंस्काराः परार्थ-त्वात् श्रेयभूताः ।

न तु यागफलपुरुषाः । यागः तावत् कर्तव्यः पुरुषस्य, न हि, तस्मिन् निर्वर्तिते किञ्चित् अपरमस्ति कर्तव्यं । स हि पुरुषार्थः, यद्व्यक्तं द्रव्यादि, तत् तदर्थं तस्य श्रेयभूतं, स तु न किञ्चिद्भिनिर्वर्तयितुम् क्रियते । फलमपि न तेन क्रियते, तस्मिन् तु ज्ञाने स्वयमेव तत् भवति । तस्मिन् ज्ञाने फलमस्य भवति—इत्येतावत् गम्यते, नास्ति ब्रह्मो यागेन क्रियते

भा. फलमिति । तस्मात् यागो न श्रेषभूतः कस्यचित् अर्थस्य । फलमपि न पुरुषं प्रत्युपदिश्यते, यः स्वर्गं कामयते, स यागं कुर्यादित्येतावत् ब्रह्मेनोपदिश्यते, नात्मनः परस्य वा—इति, स्वर्गं प्रतीक्षामात्रेण स्वर्गकामः—इति भवति, तस्मात् पुरुषं प्रति गुणभावेन न श्रूयते स्वर्गः, तस्मात् सोऽपि न श्रेषभूतः । न चेत् फलयागौ गुणभावेन चोद्येते, कस्य पुरुषः प्रधानभूतो भवति ? प्रत्यक्षस्यास्य द्रव्यत्वात् कर्म प्रति गुणभावः । तस्मात् द्रव्यगुणसंस्कारेष्वेव श्रेषभावं वादरिर्मेने—इति ॥

स. कर्माण्यपि जैमिनिः, फलार्थत्वात् ॥ ४ ॥

भा. जैमिनिस्तु खल्वाचार्यः कर्माण्यपि श्रेषभूतानि मन्यतेस्म, न वादरिरीवावधारणामनुमेने, स हि दृढश्च,—न यागः कर्त्तव्य-तया चोद्यते, फलकामस्य तु तत्साधनोपायत्वेन—इति । एवं श्रुतोऽर्थः परिगृहीतो भविष्यति, अर्थवांशोपदेशः ; एनमेवार्थं षष्ठेऽध्याये सूत्रैरेव साधयिष्यति, इह तु तत्सिद्धेर्नैव फलार्थत्वेन श्रेषभावं यागस्यापादयतिस्म । तस्मात् अनवधारणा द्रव्यगुण-संस्काराः श्रेषभूताः, यागोऽपि श्रेषभूतः फलस्यति—इति ॥

स. फलं च पुरुषार्थत्वात् ॥ ५ ॥

भा. फलमपि पुरुषं प्रत्युपदिश्यते, यः, स्वर्गो मे भवेत्—इत्येवं कामयते, तस्य यागः ; न यः स्वर्गः, स आत्मानं लभेत—इति । कुतः ? । आत्मनेपदप्रयोगात्, कर्त्तृभिप्राये एतत् भवति, क्रिया-फलमनुभवेत् कथं पुरुषः ?—इति यागः प्रयुज्यते । तस्मात् फलं पुरुषार्थं यागात् श्रूयते, नात्मनिर्दृश्यार्थम् । तस्मात् श्रेषभूतम्—इति ॥

कै. पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् ॥ ६ ॥

भा. पुरुषोऽप्यौदम्बरीसम्मानादिषु गुणभूतः श्रूयते । तस्मात्
अनवधारणा एषा,—द्रव्यगुणसंस्कारेषु श्रेयस्त्वं वाहरिर्मेने—
इति ।

अथ इदानीम् अत्रभवान् हत्तिकारः परिनिश्चिकाय,—
द्रव्यगुणसंस्कारेष्वेव नियतो यजिष्यति श्रेयभावः, आपेक्षिक
इतरेषाम्; यागस्य द्रव्यस्यति प्रधानभावः, फलस्यति गुणभावः,
फलस्य यागस्यति प्राधान्यं, पुरुषस्यति गुणता, पुरुषस्य फल-
स्यति प्रधानता, औदम्बरीसम्मानादि प्रति गुणत्वम् । तस्मात्
सम्मता अवधारणा,—द्रव्यगुणसंस्कारा यागस्यति नियोगतो
गुणभूता एव—इति ॥ (३ । १ । ३ अ०) ॥

निर्वपणादीनामर्थानुसारेण व्यवस्थितविषयताधिकारत्वम् ।

स. तेषामर्थेन सम्बन्धः ॥ ७ ॥ (नि०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ,—‘दर्शपूर्णमासाभ्याम् स्वर्गकामो यजेत’
—इति । तत्र श्रूयन्ते धर्माः,—निर्वपणम्, प्रोक्षणम्, अवहननम्
—इत्येवमादयः औषधधर्माः; तथा, उत्पवन—विलापन—
यहणासादनादय आज्यधर्माः; तथा, ब्राह्मणहरणं, गवां प्रस्था-
पनं, गवां प्रस्तावनम्—इत्येवमादयोऽपि शान्ताख्यस्य । तेषु
सन्देहः,—किं सर्वे, औषधे आज्ये साम्नाख्ये च कर्तव्याः, उत
ये यत्र क्रियमाणा अर्थवन्तः, ते तत्र कर्तव्याः?—इति ।

‘ननु संयुक्ता एव श्रूयन्ते, यथा, व्रीहीनवहन्ति, तण्डुलान्
पिनष्टि—इति’ । वादं संयुक्ताः, अवघातादयस्तु पदार्था
विधीयन्ते श्रुत्या, वाक्येनैषां व्रीह्यादिसंयोगः, अतोऽस्ति संज्ञयः ।

भा. किं तावत् प्राप्तम् ?—तेषाम् अर्थेन सम्बन्धः, अर्थेन प्रयोजनेन, ये यच्च क्रियमाणाः प्रयोजनवन्तः, ते तच्च कर्त्तव्याः। प्रथनादय आन्ध्रसाक्षात्कारयोः अनुपकारकाः—इति न तच्च करणीयाः। एवम् उत्पवनादय औषधसाक्षात्कारयोः, आखाहरणादय आन्ध्रौषधयोः। 'ननु श्रूयन्ते सर्वे सर्वत्र'। एतदेव न जानीमः,—श्रूयन्ते न श्रूयन्ते—इति, तद्विचारयितव्यम्। वद्यपि श्रूयन्ते, तथाप्यनुपकारकत्वात् नैव कर्त्तव्या भवेयुः ॥

स. विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात्संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणा-
विशेषाच्च ॥ ८ ॥ (पू०) ॥

भा. उच्यते,—योग्यात् प्राप्तः स्यात्, स यच्च प्रयोजनं तच्चैव क्रियेत; शब्देन तु सर्वेभ्यो पदार्था विहिताः, तेन न, यच्च केवलं प्रयोजनं प्रत्यक्षं दृश्यते, तच्चैव कर्त्तव्याः। क्व तर्हि?। यच्च यच्च विहिताः, ते चामी सर्वत्र विहिताः गम्यन्ते। कुतः?। 'संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च', सर्वेषां तावदान्ध्रौषध-साक्षात्कारानामपूर्वेण साध्यसाधनसंयोगोऽविच्छिद्यः, यच्च क्रिय-माणा अपूर्वस्य कृता भवन्ति—इति विज्ञायते। तथा प्रकरणा-मविच्छिद्यं,—यस्मिन् विहिताः सर्वेषां विहिता भवन्ति—इति गम्यते, अतः सर्वे सर्वत्र कर्त्तव्याः, यत्तु अमी न सर्वेषोपकुर्वन्ति—इति, विधानसामर्थ्यात् सर्वेषोपकारकाः—इति गम्यते। सचायमदृष्ट उपकारो भविष्यति ॥

स. अर्थलोपादकर्म स्यात् ॥ ९ ॥ (सि०) ॥

भा. नैतत्,—सर्वे सर्वत्र करणीयाः—इति, ये यच्च नोपकुर्वन्ति, न ते तच्च क्रियामर्हन्ति—इत्युक्तमेव। 'ननु विधानसामर्थ्यात् सर्वे सर्वेषोपकरिष्यन्ति'। न—इति ब्रूमः ॥

स. फलन्तु सहचेष्टया शब्दार्थोऽभावाद्धिप्रयोगे स्यात् ॥

१० ॥ (यु०) ॥

भा. नास्ति विधानं, येन सर्वे सर्वत्रोपकुर्वन्ति । न च प्रत्यक्षा-
दिभिः उपकारमवगच्छामः । अर्थापत्तिरपि नियोगतः तत्रैव
भवेत्, यत्रैव शब्देन चोदना भवति, नाग्यथा । यदि च
प्रथनादीनामाज्यसाम्नाख्ययोः अनुपकुर्वताम् अपि तत्प्रकरणे
सामान्नायोऽनुपपन्नो भवेत्, ततोऽर्थाद्दृष्ट उपकारः कल्पयेत्,
ते त्ववयव्यं सामान्नानीया औषधार्थं, फलं हि सहचेष्टयाऽवहन-
नादिकया अवगम्यते तुषविमोचनादि, प्रयोजनं च तेन, न
तस्माद्भृते पुरोडासः सिध्यति, सति च अस्मिन् अर्थवान्
प्रकरणे सामान्नायः, अर्थवति च तस्मिन् न अदृष्टकल्पनायां
प्रमाणमस्ति—इत्यतो न शक्यम् कल्पयितुम् । यदि च तत्र
तद्दुस्वादिनिष्पादनं दृष्टं न अभविष्यत्, ततो विप्रयोगे
तद्दुस्वादीनामभावात् उपकारस्य शब्दार्थमात्रम् दृष्टोपकारा-
नपेक्षं कर्तव्यम्—इत्याज्यसाम्नाख्ययोः अपि क्रियमाणानाम-
दृष्टमभविष्यत् । तस्मात् न प्रथनादयः सर्वत्र । एवम् उत्-
पवनादयः ब्राह्मणहरणादयश्च । तस्मात् न, सर्वे सर्वत्र
कर्तव्याः, प्रथनादयो नाज्यसाम्नाख्ययोः, औषधे एव ते,
उत्पवनादय आज्यस्य, न औषधसाम्नाख्ययोः, ब्राह्मणहरणा-
दयश्च साम्नाख्यस्य, नाज्यौषधयोः—इति सिद्धम् ॥ (३।१।
४ अ०) ॥

स्फ्रादीनां संयोगानुसारेण व्यवस्थितत्वाधिकरणम् ॥

स. द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात्तदर्थमेव चोद्येत ॥ ११ ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासी, तत्र सामानन्ति, 'स्फ्रास्य कपालानि च

भा. अग्निहोत्रहवणो च अर्पे च छाण्णाजिनं च ब्रह्म्या च उलूखलञ्च
 मुसलञ्च दृषद्युपला च एतानि वै द्वा यज्ञायुधानि—इति ।
 तत्र सन्दिह्यते,—किं यो य इह ब्रह्मते एभिः कर्तुम्, तस्मै
 तस्मै पदार्थायैतानि समाग्नातानि, उत यत् येन संयुक्तम्,
 तस्मै एव?—इति । किं तावत् प्राप्तम्? यत् येन ब्रह्मम्—
 इति । कुतः? । एवं विधयो भवित्यन्ति तथार्थवन्तः, इतरथा
 ते अनुवादा निष्प्रयोजनाः, प्रकरणाविशेषश्च सर्वपदार्थान्प्रति,
 'यज्ञायुधानि'—इति च यज्ञसंयोगो अविशिष्टः । तस्मात्
 सर्वे सर्वत्र—इत्येवं प्राप्तम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'द्रव्यं च उत्पत्तिसंयोगात् तदर्थमेव चोद्येत',
 यो येन पदार्थेन सद्योत्पत्तिवाक्येन संयुक्तः स पदार्थः तेनैव
 कर्तव्यः, यथा 'स्थेनोद्धृति'—इत्युद्धनार्थता स्थस्य वाक्येन,
 तत् उद्धरणं न स्थ्यादन्येन कर्तव्यम् । यदा चैवं, तदा प्राप्त
 एव स्थः, तस्यायमनुवादो भवितुमर्हति,—'एतानि वै द्वा
 यज्ञायुधानि'—इति । एवमेकैकस्य अनुवादः, तेन तेन वचनेन
 प्राप्तस्य । यथा,—'कपालेषु अपयति, अग्निहोत्रहवण्या हवीषि
 निर्वपति, अर्पेण विविनक्ति, छाण्णाजिनम् अधस्तात् उलूखलस्या-
 वस्तृणाति, ब्रह्म्या* दृषद्युपदधाति, उलूखलमुसलाभ्याम् अव-
 ह्मति, दृषदुपलाभ्यां पिनष्टि'—इति । प्रकरणात् सर्वानि
 सर्वत्र प्राप्त्युः, वचनात् यथावचनं, यज्ञायुधब्रह्मदोऽपि सामा-
 न्येन प्रयोजनं विदधत् तत् वाक्येनैव, परञ्च हि सामान्यवचनेन
 विशेषविधानं भवति, प्रत्यक्षं तु विशेषवचनेन विशेषविधानम् ।
 तस्मात् यत् येन उत्पत्तया संयुक्तम्, तत् तत्रैव विनियुज्यते—
 इति सिद्धम् ॥ (३।१।५ अ०) ॥

* ब्रह्म्यायां दृषदमुपदधातीति का० प्रा० पु० ।

सारख्यादिगुणानामसङ्गीर्षताधिकारश्चम् । (सारखिन्यायः) ।

स. अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्मान्वियमः स्यात् ॥ १२ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे क्रयं प्रहृत्य श्रूयते,—‘अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहा-
यन्या* सोमं क्रीणाति’—इति । तत्र सन्देहः,—किम् अरुणिमा
हृत्प्रकरणे निविशेत, उत क्रय एवैकहायन्याम्?—इति ।
‘कथं पुनः ‘अरुणया क्रीणाति’—इत्येवं विस्पष्टे क्रयसम्बन्धे
गम्यमाने संशयः?—इति’ । उच्यते,—इह हि गुणम् अरुणि-
मानममूर्त्तम् सन्तं क्रियायाः करणम्—इति शब्द उपादिशति,
यत् करणाभिधायिन्या तृतीयाविभक्त्या संयुज्य निर्द्दिशति,—
‘अरुणया’—इति, न च, अमूर्त्तीर्थः क्रियायाः साधनं भवितु-
मर्हति ! अतोऽसम्बन्धं क्रीणातिना अरुणगुणस्यावगच्छामः,
न च, अशकनीयमर्थं प्रमाणभूतः शब्दोऽभिधास्यति—इत्येवं
प्रकल्पना कदाचित् उपपद्येतापि ! केनचित् प्रकारेण सम्बन्धः
—इति वचनप्रामाण्यप्रकारान्वेषणे बुद्धिर्भवति, तत् यदि परं,
विचारयन्तः क्रियासम्बन्धसामर्थ्यमवगमिष्यामः, एकवाक्यतया
क्रय एव अरुणिमानं निवेद्यिष्यामः, अथ त्वप्रमाद्यद्विरन्वि-
ष्यमाक्षो न कथञ्चन सम्बन्ध उपपत्स्यते, ततो वाक्यभेदमभ्युप-
गम्य प्रकरणाधर्ममेनमध्यवसास्यामः ; तस्मात् अवय्वं विचारणी-
यमेतत्—इति ।

किं तावत् प्राप्तम् ? हृत्प्रने प्रकरणे निवेशः । कस्मात् ? ।
संयोगतोऽविशेषात्, प्रकरणाविशेषाच्च । ‘ननु प्रकरणात् वाक्यं
बलीयो भवति—इत्येकवाक्यत्वात् अरुणिमा क्रयेण सम्भत्स्यते’
—इति । नैतदेवम् अवगम्यते, न हि वचनशतेनाप्यनार-

* क्वचित् एकहायिन्या इति पाठः एवं परत्रापि ।

भा. भ्योऽर्थः ब्रह्मो विधातुम्, यो हि ब्रूयात्,—उदकेन इग्धयम्, अग्निना क्षेदयितव्यम्—इति, किं च वचनप्रयोजनसामञ्जस्यम-
श्रुवीत्? न चामूर्तोऽर्थः क्रियायाः साधनम् उपपद्यते । तस्मात्
अव्ययया क्रीणाति—इति सम्बन्धाभावादेकवाक्यता न भवति
—इति ।

‘ननु नैवायं गुणवचनः, किं तर्हि द्रव्यवचनः । कुतः?।
श्रीसिद्धसम्बन्धात्; द्रव्यविशेषा ज्ञेते श्री पुमान् नपुंसकम्—
इति, श्रीयां यत् प्रातिपदिकं वर्तते, तस्मात् श्रीप्रत्ययो भवति
—इति, श्रीप्रत्ययं च ‘अव्ययया’ इत्युपलभामहे । तस्मात्
द्रव्यवचनः, अव्ययशब्दः’—इति । तदेतदपेक्षं, तदेव हि
द्रव्यमव्ययिणा परिच्छिद्यमानम् अव्ययशब्दाभिधानीयतां लभते,
तदेवान्यगुणकं नाव्ययशब्दः ब्रह्मोऽर्थमिवदितुम्, अव्ययिमानमेष
शब्दो न व्यभिचरति, व्यभिचरति पुनर्द्रव्यम्, अव्यभिचारि
च कारणं कारणवताम् इष्टम् । अतोऽस्य गुणः स्वार्थः—इति
गम्यते, तदस्य प्रत्यक्षतो गुणवचनता गम्यते, श्रीप्रत्ययदर्शनात्
तु नूनम् अव्ययया प्रातिपदिकं द्रव्यवचनम् इत्यनुमानं, प्रत्यक्षं
च अनुमानाद्दृष्टीयः, तस्मात् गुणवचनः । कथं तर्हि श्रीप्रत्यय-
सम्बन्धः? । भवति हि गुणवचनस्य अपि श्रीसिद्धता, यथा च
अव्ययया बुद्धिः, एवम् अव्ययया—इति । गुणवचनश्चेत् क्रीणातिना
न सम्बन्धते । तस्मात् वाक्यभेदं ज्ञात्वा प्रकरणे सर्वस्मिन्नेव
सन्निवेशः—इति ।

‘अथ यदि क्रीणातिना न सम्बन्धते, तस्मिन् एव वाक्ये
एकहायनीशब्देन सम्भत्स्यते, न भवित्यति वाक्यभेदः—इति’ ।
तत् न, केवलं हि गुणम् अव्ययशब्दोऽभिधाति, न द्रव्यगुणौ;
केवलं च द्रव्यमेकहायनीशब्दो, न गुणसहितम्—इति तयोः
सम्बन्धस्य वाचिकां षष्ठीमन्तरेण कथं सम्बन्धो गम्यते? । ‘आह,
—अन्तरेणापि षष्ठीम्, एकविभक्तिनिर्द्देशात् सामानाधिकरण्यम्

आ. अवगमिस्थामः, यथा नीलमुत्पलम्—इति' । तदनुपपन्नं, कृपात्
अरुणशब्दस्य गुणवचनता, कल्पनीयन्तु एकविभक्तिसंयोगात्
एकहायनीशब्दसन्निधानाच्च तदेकवाक्यतामभ्युपगम्य एकहा-
यनीशब्दसामानाधिकरण्याः; न च, सिद्धात् वाक्यं बलीयः ।
तस्मात् अश्वदेतत् ।

'तच्च उच्यते, यदा केवलगुणवचनतायां शब्दः प्रवर्तमानो
नान्येन सम्बन्धं लभते, तदाऽनुपदेशकत्वात् आनर्थक्यं माभूत्
—इति द्रव्यपरतामापद्यते, तस्यामवस्थायामेकविभक्तियुक्तैक-
हायनीशब्देन सन्निहितेनैकवाक्यतामापद्यमानः समानाधि-
करणो भवति, तथा च ज्ञत्वा, नीलमुत्पलम्—इत्युपपद्यते,
स चायम् अरुणशब्दः तस्यामवस्थायां वर्तते, न हि अस्य
स्वार्थमभिदधत इतो विच्छिन्नस्य प्रकरणेऽप्यर्थवत्ता । कुतः ? ।
येनैव हेतुना सम्बन्धते क्रीणातिना न, नामूर्त्तीर्थः क्रियायाः
साधनं भवति—इति ; न च, क्रियासाधनैर्द्रव्यैः, न हि,
केवलगुणवचनः शक्नोति द्रव्यमभिधातुम्—इति स एव हेतुः
प्रकरणसम्बन्धाभावेऽपि, तत्रापि सम्बन्धमानः क्रियाभिर्वा
सम्बन्धेत, तत्साधनैर्वा द्रव्यैः, तच्चोभयमप्यनुपपन्नम् । अतः अन-
र्थकत्वपरिजिहीर्षया सन्निहितेनैकहायनीशब्देनारुणशब्दः
सम्बन्धते, नास्ति वाक्यभेदः' ।

नैतदेवं, न ह्ययमरुणशब्द एकहायनीविशेषणं भवितुमर्हति ।
किं कारणं ? । कारणविभक्त्या तृतीयया समुच्चरितोऽर्थः, तेनैतेन
तृतीयाश्रुतिसामर्थ्यात् क्रियाविशेषणेन भवितव्यम्, कारकाणां
हि क्रियया सम्बन्धी न द्रव्येण—इति । स एष श्रुतिसाम-
र्थ्यात् क्रियाविशेषणम्, एकवाक्यत्वात् एकहायनीविशेषणं ;
श्रुतिश्च वाक्याद्बलीयसी, तस्माच्चास्यैकहायनीसम्बन्धः—
इति ।

'ननु च गुणस्य क्रियासम्बन्धाभावात् अविचक्षिता कारक-

भा. शक्तिः*—इति एकहायनीसम्बन्धोऽयमध्वसितः' । एवमधि-
 नोपपद्यते,—यदि कारकाभिधानम् अविवक्षितम्—इति गुण-
 शब्देनैतेन द्रव्यम् अभिधातुमिष्यते, तदा प्रातिपदिकार्थस्या-
 द्यतिरेकः—इति प्रथभाविभक्तिः प्राप्नोति । न हि तृतीयान्त-
 स्तमभिसम्बन्धं शक्नोति वक्तुम्, न चान्यथानुपपत्तिः—इत्यन्यो-
 ऽस्यानुपपद्यमानोऽर्थः शक्यते कल्पयितुम्, यथा, अग्नौ तिष्ठति
 माणवकः—इत्युक्ते उवलनेऽनुपपद्यमानो न अग्ने गवि वा
 कल्प्यते, अग्निसमीपवचन एवाध्वसीयते ; तद्विद्वाभ्यप्रथ-
 मान्तः शब्दो न कथञ्चिदप्यद्यतिरिक्ते प्रातिपदिकार्थं भवितु-
 मर्हति—इति । तस्मात् काममनर्थकोऽवगम्यतां नास्यैकहा-
 यनीसम्बन्धोऽध्वसातथः ।

‘आह,—न ब्रूमो,—न कारकम् अक्षणाशब्देनाभिधीयते—
 इति, अक्षम् अक्षणगुणविशिष्टमेतेन कारकमभिधीयते । कदा-
 चित् तु किञ्चित् विधित्सितं भवति, कदाचित् उपसर्जनीभूतोऽर्थो
 विधित्सितः, प्रधानोभूतोऽनुवादः ; तत् यथा, दण्डी—इति
 उपसर्जनीभूतदण्डकपुरुषप्रधानकः शब्दः अवगम्यते, कदाचित्
 तु निर्द्घाते पुरुषे दण्डगुणविधानार्थम् उच्चार्यते,—दण्डी प्रैषा-
 नन्वाह—इति ; तथा, ‘लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति’
 —इति । एवमिहापि यद्यनुपसर्जनभूतोऽक्षो गुणः, प्रधानभूतं
 कारकं ; तथाप्यनूदिते कारकोऽक्षगुणविधानार्थं वचनं युज्यते ।
 तस्मात् एकहायनीसम्बन्ध उपपद्यते, नास्ति वाक्यभेदः’—इति ।

नैतत्सारं, अथ हि एकहायनीक्रीणात्प्योरनवबुद्धं सम्बन्धं
 बोधयितुमयमेकहायनीशब्द उच्यते ; † स एष कथमिव अक्षणा-
 शब्देन सम्बन्धते, तदेतदभिहितमपि पुनःपुनः पर्यनुयुज्यते ।

* कारकविभक्तिरिति प्रा० पु० ।

† उच्यते इति क्वचित् ।

भा. 'कथं पुनरेकहायनीशब्दस्य क्रीणातिना, अरणगुणेन च समाने समभित्याहारे क्रीणातिना सम्बन्धोभ्युपगमनीयः, न पुनः आरण्येन?—इति'। शब्दप्रामाण्यात्,—भवति हि क्रिया-सम्बन्धस्य वाचिका विभक्तिरेकहायनीशब्दमनु निविष्टा, न तु गुणसम्बन्धस्य वाचिका । 'का पुनः क्रियासम्बन्धस्य वाचिका, का वा गुणसम्बन्धस्य?—इति'। कारकलक्षणा क्रियासम्बन्धे विवक्षते भवति द्वितीयादिः, अविवक्षिते पुनः कारके, सम्बन्ध-मात्रविवक्षायां वृष्टे । न च अत्र वृष्टीं पश्यामः, पश्यामस्तु खलु तृतीयाम्, अतः क्रीणातिना सम्बन्धमभ्युपगच्छाम एक-हायनीशब्दस्य, नारणाशब्देन—इति ।

'कथं तर्हि भवति अत्र सम्बन्धो,—नीलमुत्पलम्—इति' । उच्यते,—भवति, न तु श्रुतिलक्षणः, किं तु वाक्यलक्षणः, उत्पलशब्दसन्निधाने तदपेक्षी नीलशब्दस्तेनैकवाक्यतामभ्युप-गच्छन् न अजडत्वार्थवृत्तिः उत्पलविशेषाभिधानपर उच्चार्य-माणः सम्बन्धमभ्युपैति ।

'नन्विहापि वाक्यलक्षणः तद्देव अरण्येना समं सम्बन्ध एकहायन्या युज्यते' । न—इति ब्रूमः,—श्रुतिर्हि वाक्याद्गुणी-यसी, श्रुतिश्चास्याः क्रियासम्बन्धमाह, न गुणसम्बन्धम् । 'यदि पुनः श्रुतिसामर्थ्यात्, क्रियासम्बन्धोभ्युपगम्येत, एकवाक्यत्वात् अपि गुणसम्बन्धः' । नैवं शक्यं, यो ह्यन्येन सह सम्बन्धमुच्चार्यते, न तत्समीपगतोऽप्यन्यः तेन सह सम्बन्धमर्हति, यथा, भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्येति भार्याविशेषणार्थम् उच्चार्यमाणो राजशब्दो न पुरुषेण सम्बन्धते, तद्वदिह क्रयाविशेषणार्थम् उच्चार्यमाण एकहायनीशब्दो नारणाशब्देन सम्बन्धमर्हति ।

'आह,—सत्यमेवमेतत्, असत्यामाकाङ्क्षावामानन्तर्यमकारणं, सर्वत्र तु बाधिते पदार्थे वाक्यार्थ उपपद्यते, नान्यथा, सामान्य-वृत्ति हि परं, विशेषवृत्ति वाक्यं, सामान्येनाभिप्रवृत्तानां

भा. पदार्थानां वद्विशेषवस्थानं, स वाक्यार्थः, तदेतत् उक्तं, (१।१।
२५ सू०)—“तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोर्धस्व तन्नमित्त-
त्वात्”—इति, तत्र प्रत्यक्षादिभिः पदार्था, वाक्यार्थः पुनरानु-
मानिकः, तदेतत् श्रवणम्यतां,—केवलस्यार्थवृत्ति पदमनुपदे-
कम्—इति पदान्तरेण सन्नहितेनैकवाक्यत्वमभ्युपैति, नान्यथा
—इति, तद्विद् यद्यप्येकहायनीशब्दः क्रीणातिना सम्बन्ध-
मानः ज्ञातार्थो न पदान्तरेण सम्बन्धमाकाङ्क्षति, अत्रसाशब्दः
तु पदान्तरेण सम्बन्धम् अलभमानः अनर्थकः—इत्येकहायनी-
शब्देनैकवाक्यतामभ्युपैति। ननु उक्तं,—क्रियासम्बन्धार्थो, ना-
शणासम्बन्धार्थः—इति।

‘आह,—अशणाशब्दस्य आनर्थक्यपरिहारायोभयसम्बन्धार्थः
—इति वदामः, अन्यार्थमपि ज्ञातमन्यार्थमपि शक्नोति कर्तुम्,
तत् यथा, ब्राह्मण्ये कुल्याः प्रणीयन्ते, ताभ्यश्च पानीयं पीयते
उपस्पृश्यते च। एवमिहापि क्रयसम्बन्धार्थमेकहायनीशब्द
उच्चार्यमाणोऽशणाशब्देन सह सम्भत्स्यते, न किञ्चित् दुष्यति।
तस्मात् न वाक्यभेदः—इति। नैतदस्ति, यद्यप्ययमशणाशब्दः
अनर्थको माभूत्,—इत्येकहायन्या सम्बन्धेत, तथापि सर्वस्मिन्
प्रकरणे निवेष्टुमर्हति, नचैनं सोमं क्रीणाति—इत्येष शब्दः
शक्नोति विवेष्टुम्, न हि अयं विवेक्षणत्वेन उच्चार्यते, किं तर्हि
अपूर्वोऽयं विधीयते।

‘ननु अपूर्वोऽपि विधीयमान एकहायनीशब्दवत् इतरेण
सम्भत्स्यते। कथं?। प्रयोजनाय हि उच्चार्यमाणः शब्दो ज्ञेयार्थः,
तस्यै तावत्प्रयोजनाय अवकल्प्यते, सन्नहितस्य बुद्धौ भवति,
तेन बुद्धौ सन्नहितेन शक्यते साकाङ्क्षः शब्दः सम्बन्धयितुम्—
इति। नैतदेवं, यो हि असम्बन्धमानः अनर्थको भवति, स
सम्बन्धते, नान्यः। कुतः एतत्?। सम्बन्धमाने हि सामान्यं
विवेक्षेत्रस्येषाम्भेत, तत्र वाक्येन स्मृतिः कीदृशिता स्यात्। न चायम्

भा. असम्बन्धमानः क्रीणातिना अनर्थको भवति, प्रकरणगताभिः एकहायनीभिः* अभिसम्भत्स्यते ।

‘ननु एतत् उक्तं,—प्रकरणेष्वप्यस्य सम्बन्धोऽनुपपन्नः—इति’ । नानुपपन्नः, एकस्मिन् वाक्येऽन्योऽर्थः विधीयमानो नान्येन सम्बन्धते, वचनव्यक्तिभेदात्, अन्या हि वचनव्यक्तिर्विधीयमानस्य, अन्या गुणेन सम्बन्धमानस्य । अज्ञातवत् ज्ञाप्यते विधीयमानोऽर्थो, ज्ञातवत् अनूद्यते गुणसम्बन्धार्थं, न च सहादुच्चार्यमाणो ज्ञातवत् अज्ञातवच्च भवितुमर्हति, एकहायनीशब्दः क्रमे विधीयमानोऽज्ञातवत् स्यात्, अश्लेषशब्देन सम्बन्धमानश्च ज्ञातवत् । वाक्यभेदे पुनर्न दोषो भवति, प्रकरणे तु वाक्यान्तरैः क्रियाद्रथ्यान्तराणि च प्राप्तानि, तैः इदं वाक्यान्तरविहितं सम्बन्धते, तच्च अन्यस्मिन् विधीयते, अन्यस्मिन् वाक्येऽनूद्यते—इत्युपपन्नं भवति । तस्मात् संबोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च सर्वस्मिन् प्रकरणे द्रष्टेयु निवेशः—इति ।

एवं प्राप्ते ज्ञूमः,—‘अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोः ऐककर्म्याभियमः स्यात्—इति, यच्च अर्थैकत्वं श्रूयते द्रव्यगुणयोः, तच्च द्रव्यगुणावेकस्मिन् षडार्थे नियम्येयातां । कुतः ? । ऐककर्म्यात् एककार्यत्वात्, एकं हि कार्यं द्रव्यगुणयोः श्रूयते क्रयसम्बन्धः । कथमेतत् अवगम्यते ? । एकवाक्यत्वात् । कथमेकवाक्यत्वं ? । अणया पिङ्गाण्या एकहायन्या—इति अपर्यवसितोऽर्थः साकाङ्गत्वाद्भिधातृप्रतिपन्नोः, सोमं क्रीणातीति तु पर्यवस्यति, तयोरेवं नैवस्तुक्त्वात् । यद्येककार्यता किमिति विकल्पो न भवति ? । नैतदेवम् ‘एकार्थास्तु विकल्परन्’—इति विकल्पधर्माणौ प्राप्तः—इत्यसुक्तेऽर्थं पर्यनुयोगः । कथं ? । पर्यनुयोगो नाम स भवति, यः स्वपक्षं साधयति, विपक्षस्य च प्रतीपमाचरति, न च

* एकहायनीभिरिति आ० सो० पुस्तके नास्ति ।

भा. विकल्पोऽस्मत्पक्षस्य प्रतीपमाश्रयति, क्रय्येणाश्विमासम्बन्धः—
इत्येष नः पक्षः । न च विकल्पो नानाकार्यत्वात् ।

‘ननु इदानीमेव उक्तम्,—एकं कार्यम्—इति, तथापि
विकल्पम्,—एवं हि पूर्वमभिहितं,—अमूर्त्तत्वात् गुणो न क्रियया
सम्बन्धते—इति, इदानीं विपरीतमभिधीयते,—उभावपि द्रव्य-
गुणौ एकार्थौ क्रयमभिनिर्वर्त्तयतः—इति’ । उच्यते, नैतद्द्वन्द्वम्,
न च विकल्पः, एकं कार्यं, सामर्थ्यभेदस्तु, साक्षात् हि द्रव्यं
क्रियां प्रत्युपकरोति, गुणस्तु विशिष्टानां साधनम् । ‘यद्येवं, न
तर्हि गुणः क्रियामभिनिर्वर्त्तयति, साधनस्य असौ विशेषकः—
इति’ । नैतदेवं, गुणस्य क्रियामभिनिर्वर्त्तयत एतदेव सामर्थ्यं,
यत् साधनं विशिष्यात् । आकाङ्क्षति च क्रिया साधनविशेषणं,
चिह्नभूतो हि गुणः साधनं लक्षयति, असति चिह्ने न लक्षयेत,
—कतमत्साधनं क्रियायाः?—इति, ततः क्रियां नाश्वस्येम
कर्तुम्—इति भवति क्रियासाधनं गुणः । नचैवं सति विकल्पो
भवति, यथा अधिकरणस्य कर्त्तादीनां च, अधिकरणं हि
कर्त्तादीनि धारयति, तान्यधायमाणानि न अङ्गवन्ति क्रिया-
मभिनिर्वर्त्तयितुम्, तथा कर्त्ता करणादीनि समाधत्ते, तान्य-
समाहितानि न अङ्गवन्ति स्वं स्वमर्थमभिनिर्वर्त्तयितुम् । यस्मिंस्तु
साधनोपकारे कार्यं तस्मिन्नेव उपकारेऽन्यत्साधनं विधीयते,
तत्र विकल्पो, यथा ‘त्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत’—इति, उभयेपि
तण्डुलनिर्दृत्यर्थाः ।

‘एवं तर्हि तदेवेदं सङ्घातं भवति, एकहायनीविधानं,
तद्द्विशेषणं च अश्वणो गुणः, तत्र स एव दोषो वाक्यभेदः प्रसज्येत
—इति’ । न ब्रूमः,—अश्वणाशब्द एकहायनीशब्देन सम्बन्धते
—इति, किं तर्हि क्रीणातिनैव सम्बन्धते, एवं हि श्रूयते,—
अश्वणगुणेन क्रयमभिनिर्वर्त्तयेत्—इति, यथा च तेन निर्वर्त्तयते,
तथा वतितथम् भवति, न चाविशिष्यन् साधनं, गुणः क्रिया-

भा. मभिनिर्बर्त्तयतीत्यर्थात् साधनविश्लेषणतां प्रतिपद्यते, यथा
स्थाव्यां पचेत्—इति क्रियासाधनत्वेन निर्दिष्टेर्थात् सम्भवने
धारणे च स्थालीं थापारयति तददिहापि द्रष्टव्यम् । तस्मात्
नास्ति वाक्यभेदप्रसङ्गः—इति ।

‘नन्वेवम् अपि वाक्यम्भिद्येत । कथं ? । प्रत्येकं वाक्यपरि-
समाप्तिर्दृष्टा—इति, यथा देवदत्त—यज्ञदत्त—विष्णुमित्रा
भोज्यन्ताम्—इति प्रत्येकं भुजिः समाप्यते, यथा च यस्य
पिता पितामहः सोमं न पिवेत्—इति । एवमिहाप्यक्षय्या
क्रीणाति, एकहायन्या क्रीणाति—इति । नैतदस्त्वत्पक्षस्य
बाधकं, एवमपि क्रये एव अक्षणिमा निवेद्यति, न सर्वस्मिन्
प्रकरणे—इति । ‘सत्यमेव दोषो न भवति, किं तु अनक्षण्यापि
एकहायन्या क्रयः प्राप्नोति, अक्षण्या चानेकहायन्या, तत्र
यदुक्तं द्रव्यगुणयोर्नियमः—इति, सा प्रतिज्ञा हीयते’ । न
तर्हि ब्रूमः,—वाक्यभेदः—इति । कथं ? । क्रयस्य हि द्रव्या-
क्षणिमानौ उपदिश्येते, न क्रयः तयोः । न च, प्रधानं प्रतिगुणं
भियते, प्रतिप्रधानं हि गुणो भियते—इति, अस्ति चार्थं
दृष्टान्तः,—समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः—इति, यथा गर्गाः शतं
दण्ड्यन्ताम्—इति, तथा अभिषुत्य ऊत्वा भक्षयन्ति—इति ।
तस्मात् उभयविश्लेषणविशिष्टः क्रयो विधीयते ।

‘कथं पुनः तस्मिंश्च इतरस्मिंश्च दृष्टान्ते सति एकान्तेन
अवधार्यते,—समुदाय एव वाक्यपरिसमाप्तिर्न प्रत्यवयवम्—
इति । अत्र ब्रूमः,—इह द्रव्याक्षणिमानावुभावपि क्रियासम्ब-
द्धानुपलभ्येते परस्पररेणासम्बद्धौ, क्रयोर्पि द्रव्याक्षणिमाभ्यां
विशिष्ट उपलभ्येते नान्यतरेण, तत्र यदि द्रव्यपरम् अक्षणिमपरं
च भवति वचनम् इदं, ततः प्रत्यवयवम् असंज्ञ्यं क्रयसम्बन्धः ;
अथ क्रयविधित्सयाभिधीयते, ततो यथैवायम् एकहायनीवि-

भा. त्रिष्टः, एवम् अष्टाविष्टः—इति नियमतः* उभयसम्बन्धो-
भ्युपगमनीयः। न च, अत्र द्रव्यावृत्तिमानौ ईप्सितौ, ईप्सितस्तु
क्रयः, तेन हि ज्योतिष्टोमद्रव्यं सोमः परिप्राप्यते,† द्रव्यावृत्ति-
मानौ क्रयार्थौ सन्नावोप्सितौ स्यातां, नान्यथा। तस्मात् क्रयो
विधीयते, स च नान्यतरविष्टः प्रतीयते—इति समुदाये
वाक्यपरिसमाप्तिः इह निश्चीयते। यदा चैवं, तदा न, एक-
हायनीम् मुक्त्वा अन्यत् द्रव्यं क्रयसाधनमस्ति, न चारणात्
अन्यः साधनस्य विशेषको गुणः—इति, नियमः सिद्धो भवति।

‘अत्र वदामः,—यदि क्रयस्य साधने गुणोऽभिसम्बन्धमुपैति,
तदा वाक्ये भिन्नेऽपि क्रयसाधनत्वात् अष्टाविष्टा अष्टान् द्रव्ये
न निवेद्यते, किमर्थम् एकवाक्यता प्रवक्षेन साध्यते?—इति’।
तदेतत् अभिधीयते,—भिन्ने हि वाक्ये एकहायनीसाधनकः
क्रयोऽवबुद्धो भवति, अष्टाविष्टसाधनमपि क्रयान्तरं, न तस्मिन्नेवै-
कहायनीसाधने क्रये अष्टाविष्टा विहितो भवति, तत्र यत्
क्रयान्तरम् अष्टाविष्टगुणविष्टं, तच्चात् प्राप्तम् अन्यदपि साधनं
भवति, तदपि विष्टं अष्टाविष्टो गुणः तेन सम्बन्धितः! एक-
वाक्यत्वे तु तत् परिहृतं भवति। तस्मात् साधु अभिधीयते,—
अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोः ऐककर्म्यात् नियमः स्यात्—इति ॥ (३।
१। ६ अ०) ॥

सर्वेषां ग्रहादीनां सम्मार्गाद्यधिकरणम्। (ग्रहैकत्वन्यायः)।

स. एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात् ॥ १३ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमः,—‘य एवं विष्टान् सोमेन यजते’—इति।

* नियोगत इति प्रा० पू०।

† परिसमाप्यते इति प्रा० पू०।

भा. तत्र श्रूयते,—‘दश्रापविषेण* यद्दं सम्मार्ष्टि’—इति, तथा अग्निहोत्रे श्रूयते,—‘अग्नेस्तृणान्यपचिनोति’—इति, तथा दर्श-पूर्वमासयोः श्रूयते,—‘पुरोडाशं पर्यग्निकरोति’—इति । तत्र सन्देहः,—किमेकस्य यद्दस्य, एकस्य अग्नेः, एकस्य पुरोडाशस्य च सम्मार्जनादि कर्तव्यम्, उत सर्वेषां यद्दणां सर्वेषाम् अग्नीनां सर्वेषां पुरोडाशानाम्?—इति । किं प्राप्तम्?—एको यद्दः, एकोऽग्निः, एकः पुरोडाशः इह यद्दीतव्यः । कुतः? । श्रुति-संयोगात्, एकत्वश्रुतिसंयुक्ता एते पदार्थाः, एकं हि द्रव्येषु श्रूयते, इन्द्रस्य च हि कर्मणि वत् इन्द्र आह, तत् अस्माकं प्रमाणं, यथा यन्मुखात्मेत—इत्युक्ते एक एव यन्मुः पुमांश्चात्प्रयते, एवम् अत्रान्येको यद्दः सम्मार्जनीयः, एकस्य अग्नेस्तृणान्यपचेवानि, एकः पुरोडाशः पर्यग्निकर्तव्यः—इति ॥

सू. सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि लक्षणम् ॥ १४ ॥
(सि०) ॥

भा. नैतदस्ति,—यद्दादिव्येकत्वयुक्तेष्वमी पदार्थाः कर्तव्याः—इति, सर्वे यद्दाः सम्मार्ष्टव्याः, सर्वेभ्योऽग्निभ्यस्तृणान्यपचेवानि, पुरोडाशमात्रं पर्यग्निकर्तव्यम्—इति । कुतः? । यद्दव्यात्या द्रव्यं लक्षयित्वा सम्मार्गादि विधीयते, अविशिष्टं च लक्षणं सर्वद्रव्येषु, तत्र न गम्यते विशेषः,—को यद्दः सम्मार्ष्टव्यः, को न—इति, सामान्यावगमादिशेषानवगमाच्च सर्वप्रत्ययः । तथा अग्निपुरोडाशानामपि । ‘ननु एकवचनं श्रूयते, तत् विशेष्यति’ । नैतदस्ति, एकत्वं हि श्रूयमाणं यद्दादिव्येकत्वं ब्रूयात्, न द्वितीयादीन् प्रतिषेधेत्, एकत्वस्वायी वाचको न द्वितीयादेः

* दश्रापविषं वासःखल इति माधवः ।

भा. प्रतिषेधकः, तेन अप्रतिषिद्धे द्वितीयादौ सामान्यवचनेन प्राप्तम् सम्मार्जनादि किमिति न ज्ञिषेत् ।

‘तत्र एतत् स्यात्, एकवचनम् इह श्रूयमाणं प्राप्ते एव एकस्मिन् इधे, द्वितीयादिषु च, किमन्यत् कुर्वात् अन्वतः परिसङ्ख्यायाः, न चेदेकवचनं परिसङ्ख्यीत द्वितीयादीन्, अनर्थकमेव स्यात्, ब्रह्मोति च द्वितीयादीन् निवर्तयितुम्, यथा, ‘श्रूयवाभिधानोमादत्ते’—इति गर्दभाभिधानं परिसङ्ख्ये, एवम् अपि इष्टव्यम्—इति’ ।

नैतदेवं, तत्र मन्वस्याभिधान्याश्च यः सम्बन्धः, तदभिधान-परम् वचनम्,—‘इमामगृणन्’—इत्यश्रूयवाभिधानीम्—इति, न अनेन मन्वेण, ‘आदत्ते’—इति लिङ्गैर्नैवादाने प्राप्तत्वात् मन्वस्य परिसङ्ख्या युक्ता । इह पुनर्यदेकवचनं इधे श्रूयते, तत् श्रूयमाणमप्यविधीयमानत्वेन न निवर्तकं भवितुमर्हति, यथा, कश्चित् ओदनं निर्दिश्य ब्रूयात्,—व एनं भक्षयेत् कश्चित् श्वा मार्जारो वा, स निवारयितव्यः—इति, तत्र यदि भक्षयं निमित्तत्वेन विधीयते, न, श्वमार्जारसम्बन्धः, ततः काकोऽप्या-गच्छन् निवारयते, श्रूयमाणेऽपि अग्नि मार्जारे वा श्वमार्जार-सम्बन्धस्य निमित्तत्वेनाविधीयमानत्वात् । एवम् इहाप्येक-त्वसम्बन्धस्य अविधीयमानत्वात् श्रूयमाणेऽप्येकत्वे षड्मार्गं संवृज्येत—इति ।

न च, अत्र द्रव्यैकत्वसम्बन्धविधायकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति । ‘ननु सम्मार्जि—इति’ । नञ्चेतत् द्रव्यैकत्वसम्बन्धस्य विधायकम् । कस्य तर्हि ? द्रव्यसम्मार्गसम्बन्धस्य विधायकम्, एवं श्रुत्या स्वपदार्थो विहितो भवति, इतरथा वाक्येन परपदार्थो विधी-येत । श्रुत्यसम्भवे च वाक्यं क्रमते, न सम्भवन्तां श्रुतौ । अतोऽविधीयमानं विशेषणत्वेन, एकत्वं न द्वितीयादीन् प्रति-षेद्धमर्हति । एवं सति न, द्वितीय.दौ सम्मार्गादि द्विवचनम्

भा. अचीदितं भवति, प्रतिविद्धं वा, यद्येव हि तत् एकस्य श्रुतम् अवगम्यते, तथा द्वितीयादेरपि ।

अयं चापरो दोषः,—न तदेकत्वं द्रव्यस्य सम्मार्गादौ विषये नियम्येत, न हि, सम्मार्गादिः, यस्मिन् द्रव्ये एकत्वं नियम्येत, तस्य विशेषणत्वेन भवति, विधीयते हि अत्र सम्मार्गादिः, न प्राप्तो लक्षणत्वेन द्रव्यस्याग्नायते, न हि, यौगपद्येन विधातुम् शक्यते, लक्षणत्वेन च उच्चारयितुम्; प्रसिद्धसम्बन्धो हि श्लोति लक्षयितुम्, न चाविहित एवञ्जातीयकः शब्दाव-
गम्यः प्रसिद्धसम्बन्धो भवति, विधीयते च सम्मार्गादिः, तस्मात् न विशेषकः, न चेत् विशेषकः, न द्रव्ये एकत्वं नियम्यते—इति शक्यम् आश्रयितुम् ।

‘अथ एकत्वं सम्मार्गं उच्यते’ । तथापि इयी गतिः स्यात्, एकत्वं प्रधानं, सम्मार्गो वा, तच्च उभयमप्यनुपपन्नम्,—न तावत् एकत्वस्य सम्मार्गः शक्यते कर्तुम्; न च, द्रव्ये क्रियमाणः एक-
त्वस्योपकरोति केनचित् प्रकारेण; न च, एकत्वस्योपकृतेन किञ्चित् प्रयोजनम् अस्ति, न हि, तत् गुणभूतम् श्रुतम् । ‘अथ एकत्वं सम्मार्गं प्रति गुणभूतम्—इति’ । तदपि न । कथं? । अमूर्त्तत्वात्, न हि तत् सम्मार्गं निष्पादयति । यद्यप्यन्यत् अमूर्त्तं क्रियां निष्पादयति साधनं विशिषत्, तथाप्येतत् न भवितुमर्हति, न हि, अत्र यद्दः सम्मार्गार्थः, सम्मार्गोऽत्र यद्वाय चोच्यते, स हि प्रयोजनवान्, कल्प्यप्रयोजनः सम्मार्गः । यदि यद्दः सम्मार्गस्योपकुर्यात्, तदुपकारिण उपकरोति—इति सम्मार्गस्य उपकारकमेकत्वं भवेत्, न त्वेतद्देवम् । तस्मात् एकत्वसम्मार्गयोः असम्बन्धः ।

‘ननु प्रधानभूतमपि यद्वादि सम्मार्गं निष्पादयत्येव, अतः तत्साधनं तच्च विशिषत् तदुपकरिष्यति, यथा इन्द्रार्थे इधनि पयसि च प्रणीता धर्माः पाके ऊपकुर्वन्ति । परिधानार्थं च

भा. परिधौ यूपधर्मा बन्धने । तस्मात् अथम् असमाधिः—इति ।
 अथ उच्यते,—न ब्रूमः,—अतदर्थं साधके न ब्रह्मवन्तुपकर्तुम्
 —इति, किं तर्हि?—यदा प्रधानभूतं यद्वादि लक्षणात्वेन
 उच्यते, न तदा एकत्वस्य यद्वादिना सम्बन्धः, न सम्मार्गा-
 दिना—इति । कथं? यावत् इह लक्षणात्वेन किञ्चित् उच्यते,
 संवादः तत्र भवति, न तु तद्विधीयते विज्ञानाय । ‘किमर्थं तर्हि
 उच्यते? । अन्यत्तस्य किञ्चित् विधायिष्यते—इति, तदेतत्
 यद्वादि लक्षयित्वा तस्य सम्मार्गादि विधीयते । तत् यदीकत्व-
 सम्बन्धोऽपरो यद्वादि सम्मार्गादौ वा पदार्थं विधीयेत, इयोः
 सम्बन्धयोर्विधानात् भिद्येत वाक्यम् । अथोच्यते,—यद्वादि
 लक्षयित्वा तस्य एकत्वसम्बन्धो विधीयते, न सम्मार्गादि-
 सम्बन्धः—इति, तथा च सम्मार्गादीनाम् अश्रवणं प्रमादः,—
 इत्यभ्युपगतं स्यात्, नचैतदेवम् । तस्मात् उभाभ्यामेकवचन-
 स्यासम्बन्धः—इति । एवमेतदेकत्वं यद्वादि न किञ्चित् उपकारं
 करोति, न सम्मार्गस्य, एवमेव सदनूद्यते । तस्मात् नैतत्
 किञ्चित् अपि कर्तुम् विवक्ष्यते—इति सर्वेषां यद्वादीनां सम्मा-
 र्गादि कर्तव्यम्—इति । कुतः? संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणा-
 विशेषाच्च ।

‘यदि अविष्यतेमेकत्वं, कथं तर्ह्येकवचनमुच्यते? ननु
 ब्रह्मणु विवक्षितेषु ब्रह्मवचनेन भवितव्यम्’ । उच्यते,—न वयमे-
 तद्विचारयामः,—एकवचनमुच्चारयितव्यम्, न उच्चारयितव्यम्
 —इति, उच्यतेमात्रे सति किं प्रतिपत्तव्यम्?—एकस्मिन् एव
 सम्मार्गादि, उत सर्वेषु?—इति, तत्र सर्वेस्त्विति स्थापितम् ।
 अपि च, न विभक्तेर्वचनमेव एकं प्रयोजनं, किं तर्हि?—
 कारकसम्बन्धोऽपि, अविष्यते एकत्वे कारकसम्बन्धार्थमस्य
 उच्चारणम् भविष्यति । तस्मात् नानर्थकम् ।

अपि च, यद्वादि प्रातिपदिकार्थः एकत्वं विभक्त्यर्थः । ‘किमतः ?

भा. यद्येवम् । एतत् अतो भवति,—प्रातिपदिकार्थगतं हि विभक्तिः
 समर्थं अत्यैव वदति । 'अथैवं सति किं न, सम्मार्गेण
 सम्भन्स्यते ?—इति' । तेन हि सम्बन्धमानं वाक्येन सम्बन्धेत,
 न च, अत्या, अन्येन सम्बन्धमानं वाक्येनाच्छिद्य अन्येन
 सम्बन्धमर्हति । असम्बन्धमानस्तु एकत्वेन सम्मार्गो, यदि
 मैकत्वविशिष्टः क्रियते, न किञ्चित् विपर्ययं भवति, नचैकत्ववि-
 शिष्टः सम्मार्गादिः, यद्वादिमात्रस्य च विधीयते—इति किमिति
 द्वितीयस्य तृतीयस्य च न क्रियेत—इति ॥

स. चोदिते तु परार्थत्वाद्यथा—श्रुति प्रतीयेत ॥ १५ ॥
 (आ० नि०) ॥

भा. अथ वदुक्तं, (२२५।१० प०)—यथा, पशुमासभेत—इति
 एक एव पशुः पुंपशुञ्चासभ्यते, एवमिदमपि—इति, अस्त्यथ
 वैपरीत्वम् इह यद्वायंः सम्मार्गः, तत्र पुनर्यागार्थः पशुः । किमेवं
 सति भवति ? । सो यागार्थं परिच्छिनत्ति*, स यागस्योपक-
 रोति, अपरिच्छिन्नेन न शक्यो यागः कर्तुम्—इति, न तु यच्छेण
 केनचिद्विशिष्टेन सम्मार्गः कर्तव्यः, यत् यद्दं विशिषत् सम्मार्ग-
 स्योपकुर्यात्, पशोश्च एतदेकत्वं यागं प्रत्युपदिशयते । 'ननूक्तं,
 (२२५।७ प०)—प्रातिपदिकार्थगतं समर्थं विभक्तिः अत्यैवाभि-
 वदति—इति, यागे एतत् वाक्येन विधास्यति, तत्र वाक्यात्
 श्रुतिर्वच्यसी—इत्युक्तम् । सत्यं, यत्र श्रौतोऽभिसम्बन्धो विव-
 द्यते, अविषयमात्रे च वाक्यावगतः सन् अपर्युद्दिश्यतो भवति,
 तस्मात् एकः पुंपशुञ्चासभ्यते—इति, यद्वैकत्वं न सम्मार्गस्योप-
 करोति—इति न यद्दं शक्योति विशिष्टम् । तस्मात् अविषयितम्
 —इति ॥ (२।१।७ अ०) ॥

* 'परिच्छिन्नत्ति' इति पाठः आ० सो० पु० । एवं का० की० पु० ।

अथ चमसादौ सम्मार्गाद्यप्रयोगाधिकारकम् ॥

स. संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात् ॥ १६ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमः, तत्र श्रूयते,—‘इन्द्रापविषेण यद्दं सम्मार्ष्टि’—इति । तत्र एषोर्ध्वोऽधिगतः,—सर्वे यद्वाः सम्मार्जितथाः—इति । इदमिदानीं सन्दिश्यते,—किं? चमसा अपि सम्मार्ष्ट्याः उत न?—इति ।

किं तावत्प्राप्तम्?—चमसाद्यपि सर्वं सम्मार्ज्यम्—इति । कुतः? । ‘संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च’—इति, यथैव हि यद्वाणामपूर्वसम्बन्धः, एवं चमसानामपि, यथैव च यद्वाः अस्मिन् प्रकरणे, एवं चमसा अपि । तस्मात् सर्वत्र सम्मार्गः ।

‘ननु यद्वाः श्रूयन्ते, ते चमसानां निवर्तका भविष्यन्ति’ । उच्यते,—प्रदर्शनार्थं यद्वाः यद्वाः भविष्यति, यद्वाहि सोमपाचन, यस्मिन् गृह्यमाणः सोमो व्यवसिच्येत,—इत्येवम् आश्रयते, तत्सर्वं सम्मार्जितकम् ; यथा भोजनकालो वर्तते, स्थालानि सम्भृज्यन्ताम्,—इत्युक्ते, यानि यानि भोजने उपयोगमर्हन्ति, तानि तानि सर्वाणि सम्भृज्यन्ते, स्थालयद्वाः लक्ष्यार्थम्—इति गम्यते ; एवमिन्द्रापि द्रष्टव्यम्—इति ।

‘उच्यते, लोकेर्ध्वलक्षणः संव्यवहारः, येन येनार्थः सम्भृष्टेन, उक्तोऽनुक्तो वा स स सम्भृज्येतैव । इह तु वेदे ब्रह्मलक्षणः, ब्रह्मस्य यद्वाः सम्मार्गमाह, तत्र किमर्थं श्रुतौ सम्भवन्तयां यद्वाः लक्षणया कल्प्यते’ । उच्यते, सम्मार्ष्टि—इति सम्मार्गे पुष्यप्रयत्नं विधातुमेव ब्रह्मः ब्रह्मोति अक्षणेनैव, यद्वासम्बन्धे तु वाक्येन, श्रुतिस्तु वाक्याद्वाः लक्ष्यतीति । तस्मात् लक्षणया यद्वाः ब्रह्मो वर्ण्यते, न, यद्वाः श्रुतः—इति, तेन, यो यः सम्मार्जन-संस्कारार्थः स स सम्मार्जितकः, न यद्वाः एव व्यवतिष्ठेत एवञ्जा-तीयको गुणः—इति ॥

स. व्यवस्था वा अर्थस्य श्रुतिसंयोगात्, तस्य शब्दप्रमाख-
त्वात् ॥ १७ ॥ (सि०) ॥

भा. अथतिष्ठेत वा यद्देश्वेव सम्मार्गो, न, चमसेष्वपि प्रसज्येत—
इति। कुतः?। 'अर्थस्य श्रुतिसंयोगात्', श्रूयमाणो हि यद्दो
न उत्सृष्टव्यः, उत्सृज्यमाने श्रुतिरेव बाधते यद्दम्—इति,
प्रमत्तगीतं तत्रभवतामित्यवगम्यते, न च एतन्नराख्यं! तस्मात्
यद्दशब्देन यद्दं लक्षयित्वा तस्य सम्मार्गसम्बन्धो विधीयते।
न चाविदधत् सम्मार्गं, ज्ञप्नोति तस्यम्बन्धं विधातुम्, अतो
विदधात्येव एष शब्दः सम्मार्गं। न च श्रुतिर्बाधित्वते। कुतः?।
सम्मार्ष्टि—इति सम्मृजिगतं पुष्यप्रयत्नं श्रुत्या ज्ञप्नोति विधा-
तुम्, न तत्र कश्चिद्विज्ञेयः, उत्पाद्यमाने वा सम्मृजौ, परेष वा
सम्बन्धमाने—इति; तेन न यद्दसम्बन्धेषु श्रुतिर्बाधिता भवति,
अतो यद्देश्वेव सम्मार्गो अवरथातुमर्हति—इति।

'ननु अपूर्वसंयोगाविज्ञेयात् प्रकरणाविज्ञेयाच्च चमसेष्वपि
प्रसज्यते, न यद्देश्वेवास्य विधानम्—इत्युक्तम्'। अथ उच्यते,
प्रकरणवद्भिः एकवाक्यतां कृत्वा ज्ञप्नोति तत्र विधातुम्, न,
अकृत्वा एकवाक्यतां; सा च प्रकरणात् अनुमीयते, इत्थं पुन-
र्यद्दशब्देन यद्द प्रत्यक्षा, तस्मात् न प्रकरणे विधानं, यद्द-
कत्वसम्बन्धे पुनरुत्सृज्य सार्थं, न ज्ञप्नोति विधातुम्। तस्मात्
वैषम्यमस्य, यद्दकत्वविधानेन। यदुक्तम्,—यथा स्वाद्यानि
सम्मृज्यन्ताम्—इति लक्षणा, तद्विज्ञेयापि—इति, परिहृतमे-
तत् लोके कर्माद्यं लक्षणं, शब्दलक्षणं पुनर्वदे—इति ॥ (३।१।
८ अ०) ॥

सप्तद्वारत्रितायाः पशुधर्माताधिकारश्चम् ।

स. आनर्थक्यात्तदङ्गेषु ॥ १८ ॥

भा. वाजपेये श्रूयते,—‘सप्तद्वारत्रिवाजपेयस्य यूपो भवति’—
इति । तत्र सन्देहः,—किं सप्तद्वारत्रिता वाजपेयस्य अर्द्ध-
पाचे निविशते, उत पशोर्धूपे निविशते?—इति । किं तावत्
प्राप्तम्?—अर्द्धपाचे—इति । कुतः? वाजपेयस्य यूपभावात्,
यत् वाजपेयस्य अस्ति पात्रं यूपसदृशं, तत्र भवितुमर्हति,
अस्ति च षोडशपात्रं, तत्र खादिरत्वात् अर्द्धत्वाच्च यूपसदृशं,
तत्र निवेशे सति वाजपेयशब्द आह्वयेन भवति, इतरथा
वाजपेयाङ्गे पशुयागे लक्षणाया वाजपेयशब्दो हतः—इति
मन्वेत । ‘ननु त्वत्पक्षेऽपि यूपशब्दो लक्षणावोर्द्धपाचे’ । उच्यते,
सर्वथा वयं लक्षणाशब्दाच्च मुच्यमानहे ; मत्पक्षे तु वाजपेयप्रकर-
णम् अनुगृह्यते, तस्मात् अर्द्धपाचे निवेशः—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘आनर्थक्यात् तदङ्गेषु,’ वाजपेयशब्दः तावत्
सोमवागविशेषवचनः, तस्य साक्षात् यूपेन न प्रबोजनम्, अस्ति
तु तस्वाङ्गं पशुयागः, तस्य तु पशुधर्म्युम् यूपेन कार्यं । साक्षात्-
वाजपेययूपस्य यदि सप्तद्वारत्रिता विधीयते, तस्वाभावात्
अनर्थकमेव वचनं प्राप्नोति, तत् अनर्थकं माभूत्—इति योऽस्य
पशुयागे यूपः, तत्र निवेशमर्हति । अर्द्धपाचे च यूपशब्दो
लक्षणाया स्थात् । ‘नन्विरतस्त्रिषुपि वक्षे वाजपेयशब्दो लक्ष-
णया’—इति । ‘न—इति ब्रूमः, वाजपेये एव वाजपेयशब्दो
भविष्यति, ब्रह्मति च स पशुयूपं विशेदुं, सोऽस्याङ्गस्योप-
कारकः, वक्ष्य यस्योपकारिण उपकरोति, भवति स तस्य सम्बन्धो
मुख्येनैव सम्बन्धेन, न च, एकान्तरितः—इतिज्ञात्वाऽसम्बन्धो
भवति, यथा देवदत्तस्य नप्ता—इति, पुत्रेण च असावन्तरितः,
अथच देवदत्तेन मुख्येनैव सम्बन्धेन सम्बन्धः । तस्मात् एव एव

पक्ष आश्रयस्योः, न हि एतस्मिन्पक्षे कस्मिदपि लक्षणाग्रहो भवति—इति ॥ (३।१।९ अ०) ॥

अभिक्रमवादीनां प्रयाजमात्राङ्गताधिकारबन्धम् ।

स. कर्तृगुणे तु कर्मासमवायात् वाक्यभेदः स्यात् ॥
१९ ॥ (पू०) ॥

भा. इत्थंपूर्वमाश्रयोः प्रवाजवाक्ये श्रूयते,—‘अभिक्रमं जुहोत्य-
भित्त्या’—इति । तत्र सन्देहः,—किमभिक्रमस्य प्रयाजेष्वेव
निविञ्जते उत ह्यत्स्ने प्रकरणे?—इति । किं तावत्प्राप्तं? कर्तृ-
गुणोऽभिक्रमणे ब्रूमः,—वाक्यभेदः स्यात्—इति, कर्मणा कर्मणो-
ऽसमवायात् । अभिक्रमणं कर्म अमूर्तं, न तत्कर्म ह्वनं साधयितुं
शक्नोति, तस्मात् न तेनैकवाक्यतां याति । अतः सर्वस्मिन्
प्रकरणे निविञ्जते, संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च—
इति ।

‘ननु अनेन एव हेतुना अन्यस्मिन्नपि न निवेद्यते’ ।
उच्यते, अन्यत्र पुरुषैः सम्भत्स्यते । ‘ननु प्रयाजेष्वपि पुरुषैः
सम्बन्धेत्’ । नैतदेवं, जुहोति—इति ह्वने एव शब्दः पुरुषप्रयत्नं
विधातुम् शक्नोति, न पुरुषाभिक्रमणसम्बन्धम् । ‘ननु अन्य-
त्रापि पुरुषाभिक्रमणसम्बन्धस्याविधानम्’ । नैव दोषः, अन्यत्र
प्रकरणाग्नानादङ्गभावे निर्घाते प्रयोगवचनोऽस्य कर्तव्यतां
वक्ष्यति । तस्मात् सर्वस्मिन् प्रकरणेऽभिक्रमणस्य निवेद्यः—
इति ॥

स. साकाङ्क्षन्त्वेकवाक्यं स्यादसमाप्तं हि पूर्वेषु ॥ २० ॥
(सि०) ॥

भा. नैतदस्ति,—यदुक्तमभिक्रमणं प्रकरणे निविञ्जते—इति ; प्रया-

भा. जेष्वेव भवितुमर्हति । कुतः ? । तैः सहास्यैकवाक्यता यतः, साकाङ्क्षमेतत् पूर्वेण पदेनासमाप्तम् वाक्यम्, 'अभिक्रानं जुहोति'—इत्यत्र पर्यवस्यति, प्रकरणाच्च वाक्यम्बलवत्—इति प्रयाजेष्वेवाभिक्रमणं निविशते । 'ननु अभिक्रमणममूर्त्तत्वात् होमनिर्दत्तावसमर्थम्—इत्युक्तम्' । उच्यते, साक्षात् असमर्थम्, कर्त्ता सम्बन्धमानं श्रद्ध्यति निर्वर्त्तयितुम् । कथं ? । अभिक्रमणेन समासीदेति आह्ववनीयं कर्त्ता, इयमभ्युपायभूतं होमस्य, दूराद्वाभिप्रसार्य हस्तं, जुहुयात्, समासीदेत् अन्वाभिक्रमणेन । तस्मात् अभिक्रमणमुपकरोति होमस्य,—इत्यवगम्यते । अतः प्रयाजेष्वेव निवेशः—इति ॥ (३।१।१० अ०) ॥

उपवीतस्य प्राकरबिकाङ्कताधिकरणम् ।

घ. सन्दिग्धे तु व्यवायाद्वाक्यभेदः स्यात् ॥ २१ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः सप्तमाष्टमयोर्ब्राह्मणानुवाकयोः सामिधेन्य उक्ताः, नवमे निविदः, दशमे काम्याः सामिधेनीकल्पाः,—'इदं कामस्यैतावतीरनुब्रूयात्, इदं कामस्यैतावतीः'—इति, एकादशे च यज्ञोपवीतमाग्नात्,—'उपच्यते देवलक्ष्ममेव तत् कुषते'—इति । तत्र सन्देहः,—किं सामिधेनीरेवानुब्रुवाण उपच्येत, उत प्रकरणे सर्वानेव पदार्थाननुतिष्ठता उपच्येत—इति । कुतः संशयः ? । उपवीतं सामिधेनीनां प्रकरणे समाग्नातम्, अथ निवृत्ते वा तासां प्रकरणे ?—इति न ज्ञायते ।

'ननु दर्शपूर्णमासयोरेव प्रकरणम् इदं, परप्रकरणे सामिधेन्यः श्रूयन्ते' । सत्यं परप्रकरणे श्रूयन्ते, तथापि तासामवाप्तरप्रकरणम् अपरं, भवति हि, सामिधेनीरनुब्रूयात्—इति विशेषाकाङ्क्षः वचनं, येन तत्सन्निधावभिधीयमानं तस्य—इति ज्ञायते । 'कथं पुनर्निवृत्तं तासां प्रकरणम्—इत्याशङ्कते ?' ।

षा. निविस्पदानि तासां प्रकरणं व्यवदधति—इति । 'यद्येवं, कथम्, अनुवर्त्तते प्रकरणम्—इत्याशङ्का? । परस्तास्त्रिविदां, सामिधेनीगुणा एव काम्या विधीयमानाः श्रूयन्ते, यद्दन्तरं यज्ञोपवीतमाग्नातं, तेनानिष्टत्तं सामिधेनीनां प्रकरणम्—इति भवति मतिः । अतः परप्रकरणे निविद्ः समुपनिपतिता न व्यवदधति । यथा द्वादशोपसत्ताः श्वीनधर्मा ज्योतिष्टोम-प्रकरणे—इति । तेन भवति सन्देहः ।

अस्मिन् सन्देहे किं तावत्प्राप्तम्?—सामिधेनीप्रकरणम् अनिष्टत्तं, तत्र उपवीतं समाग्नातम्—इति । कुतः? । काम्यानां सामिधेनीकल्पानामानन्तर्यवचनात्, हृदयमनुविपरिवर्त्तमानासु सामिधेनीषु उपवीतमामनन्ति, कर्तुंश्च वासोविन्यासमात्रं गुणो भवति उपवीतं नाम, किं कुर्वता तत् कर्त्तव्यम्?—इति भवति तत्र पदार्थाकाङ्क्षा, तत्र बुद्धौ सन्निहितेनाविप्रलक्षणेन सामिधेनीवाक्येन एकवाक्यतामुपगम्य सामिधेनीषु—'उपवीतं उपव्ययते' इत्येष शब्दो विदधाति—इति गम्यते ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—न, अस्मिन् सन्देहे यस्त्वयोक्तः, स निर्णयः ; अस्मिन् सन्देहे वाक्यभेदः—इति निर्णयः—इति । कुतः? । 'व्यवायात्', इह समाप्तस्य सानुबन्धस्य सामिधेनीवाक्यस्य, अस्य च 'उपव्ययते'—इति वचनस्य, निविदां विधायकेन सामिधेनीभिः असम्बन्धेन ग्रन्थेन व्यवधानं भवति, यस्य च पर्यवसितेऽपि वचने तत्सम्बन्धमेवार्थान्तरं प्रक्रमन्ते, न तत्र अननुष्टत्तं प्रकरणम्, आगच्छति हि तत्सम्बन्धाभिधाने हृदयम् । यत्र तु पर्यवसिते वचने तत्सम्बन्धमेवार्थान्तरं प्रक्रमन्ते, न तत्र बुद्धौ पूर्वः पदार्थः सन्निधीयते । न च, बुद्धावसन्निहितेनैक-वाक्यता भवति ! द्वाभ्यां हि बुद्धाभ्यां पदार्थाभ्यां वाक्यार्थः सञ्जन्यते, नान्यतरेण, सन्निधौ समाग्नानस्यैतदेव प्रयोजनं, कथम् उभाभ्यां पदार्थाभ्यां विभिन्नां बुद्धिमत्पादयेयुः?—इति ।

भा. अनन्तरावबुद्धेन सह वाक्यार्थः ब्रह्मते कर्तुम्, असम्बन्धपदोच्चारणे च नानन्तरावबुद्धो भवति । तस्मात् व्यवहितेन सह नैकवाक्यता भवति—इति ।

‘अथान्येन प्रकारेण ध्यानादिना पूर्वपदार्थम् अवगम्य, वाक्यार्थं सङ्गनयेत्’ । अवैदिकः स पुरुषबुद्धिपूर्वको वाक्यार्थो भवेत्, यथा, अन्यस्यादनुवाकादाख्यातपदं गृहीत्वा, अन्यस्याच नामपदं यो वाक्यार्थः सङ्गन्यते, तादृशं तत् भवेत्, यत्र अन्येन ध्यानादिना पूर्वपदार्थम् अवगम्य, वाक्यार्थं सङ्गनयेत् । तस्मात् नासम्बन्धार्थव्यवधाना एकवाक्यता भवति—इति निश्चीयते; तस्मात् न सामिधेनीभिः एकवाक्यतोपवीतस्य—इति । ‘ननु सामिधेनीकल्पानाम् अनन्तरबुद्धानां सञ्जिधावुपवीतमाग्न्यायते, तेन सामिधेनीभिः सम्भत्स्यते—इति । न—इति ब्रूमः,— अतिदृप्तमेव हि सामिधेनीनां प्रकरणं निवृत्पदैर्ध्ववधानात् । वाक्येन हि सामिधेनीकल्पाः काम्याः सम्बन्धमुपगच्छन्ति, न प्रकरणम् अनुवर्तते, न च, पुनःकल्पवचनेन सामिधेन्यः प्रहृता भवन्ति! न हि, तत्र तासां वचनं,—कर्त्तव्याः—इति, किं तर्हि, संख्याभिः सम्बन्धयितव्याः—इति, तदपि वाक्येन, न प्रकरणेन । तत्र अप्रहृतास्तु सामिधेनीषु यस्य एकवाक्यता गुणस्य सामिधेनीभिर्नास्ति, न तस्य ताभिः सम्बन्धः । तस्मात् प्रकरणे यदनुष्ठेयं तत् यज्ञोपवीतिना—इति सिद्धम् ॥ (३।१। ११ अ०) ॥

वारब्धवैकङ्कतादिपाचाणां ह्यत्त्वयागगुब्धताधिकारबम् । (मिथोऽसम्बन्ध-
न्यायः) ॥

स्र. गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात् ॥ २२ ॥

भा. अग्रप्राधेये वारण—वैकङ्कतपाचाणि अहोमार्थानि होमार्थानि

भा. च श्रूयन्ते,—‘तस्मात् वारणो वै यज्ञावचरः* स्यात्, न त्वेतेन जुहुयात्, वैकृतो यज्ञावचरः स्यात् जुहुयादेतेन’—इति । न च वारणवैकृतानां पाषाणामग्नशाधेयेन सम्बन्धः । कुतः ? । यज्ञावचरवचनात्,† यज्ञस्य एतानि पाषाणि, वाक्येन प्रकरणं बाधित्वा भवन्ति । तत्र एष सन्देहः,—किं पवमानेष्टेषु निवि-
 ब्रन्ते, उत दर्शपूर्णमासादिषु सर्वयागेषु?—इति । किं तावत् प्राप्तम् ? पवमानश्च विष्विति । कुतः ? । उक्तमेतत् (पू० अ०) प्रधानेऽसम्भवोपहार्यः तद्गुणे कल्प्यते—इति, अग्नशाधेयप्रकरणे च समाग्नानात्पवमानश्च विषां तद्गुणता । तस्मात् पवमान-
 हविःषु—इत्येवं प्राप्तम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—गुणानां समत्वात्, पवमानश्च विषाम्, अग्नशाधेयस्य च न परस्परेण सम्बन्धः ; यथा आधानमग्नेगुणः संस्कारार्थः, एवं पवमानश्च वीष्यपि अग्नेरेव गुणभूतानि ; कस्तत्र परस्परेण सम्बन्धः?—इति । यदुक्तं,—आधानस्य प्रकरणे समाग्नानायन्ते—इति, यद्यपि समाग्नानायन्ते, तथापि प्रकरणं बाधित्वा वाक्येन अग्नेर्भवन्ति । किम् इह वाक्यम् ? । ‘यदा-
 ह्ववनीये जुहोति तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति’—इति ।

‘ननु आह्ववनीयोऽत्र यागस्याधिकरणत्वेन गुणभूतः श्रूयते’ । सत्यम्, अधिकरणमाह्ववनीयः, तथापि त्वाह्ववनीयार्थं एव यागः, प्रयोजनवत्त्वात् आह्ववनीयस्य, निष्प्रयोजनत्वात् पव-
 मानश्च विषाम् । कथम् एषां निष्प्रयोजनता ? । फलाश्रवणात् । ‘कल्प्यं फलम्—इति चेत्’ । सत्यं कल्प्यम्, अग्निसंस्कारस्तु तत्फलं, न स्वर्गः, स्वर्गे कल्प्यमाने हिरदृष्टं कल्प्येत,—इति भाष्य

* ‘यज्ञावचरः यज्ञप्रचारहेतुः’ इति माधवः ॥

† ‘अग्न्याधानस्य यजतिषोदनारहितत्वादयज्ञत्वम्’ इति अधिकः
 पाठः का० सं० पु० । एष पाठः अत्र भवितुं युक्तः ॥

भा. स्वर्गा भवति, तस्व च आहवनीयेन अपरोऽवृष्टः संस्कारः—
इति । तस्मात् अग्रार्थता पवमानहविषा, नैषामाधानेन
सम्बन्धः । तस्मात् नाधाने श्रूयमाणं, पवमानहविषां भवितु-
मर्हति । किं तर्हि सर्वयागेषु दर्शपूर्णमासप्रभृतिष्वाधानस्य
प्रधानभूतेषु निवेशः?—इति ॥ (३।१।१२ अ०) ॥

वार्चनप्राद्यनुवाक्यानामाव्यभागाङ्कताधिकरणम् । (वार्चनीत्यायः) ।

स. मिथश्चानर्थसम्बन्धात् ॥ २३ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘वार्चघ्नी पौर्णमास्याम् अनूचेते,
वृधन्वती अमावस्यायाम्*—इति । तत्र सन्देहः,—किमनुवा-
क्यादित्वस्य प्रधाने निवेशः, उताज्यभागयोः?—इति । किं
तावत्प्राप्तम्?—प्रधाने—इति । कुतः? । पौर्णमासीसमभित्या-
हारात्, अमावस्यासमभित्याहाराच्च । प्रधानं पौर्णमासी च
अमावस्या च नाज्यभागौ । तस्मात् साक्षादाक्यात् प्रधानस्य
—इति प्राप्तम् ।

तत्र ब्रूमः,—मिथः सह द्वाभ्यामनुवाक्याभ्यां न प्रधानस्य
कार्यमस्ति, यत्र तु द्वे अनुवाक्ये, तत्र तयोर्वार्चघ्नुता वृधन्वता
च विधीयते, प्रधाने च एका अनुवाक्या, तत्र द्वित्वं वार्चघ्नुतां
वृधन्वतां च विदधत् वाक्यम्भिद्येत ! आज्यभागयोस्तु द्वे प्राप्ते
आग्नेयी सीमी च, तत्र वार्चघ्नुतां वृधन्वतां केवलां गृह्यति
विधातुम् । ‘ननु प्रधानगामित्वेऽपि द्वयोः प्रधानयोः द्वे अनु-
वाक्ये, आग्नेयस्य अग्नीषीमीयस्य च—इति’ । उच्यते,—एका

* “वार्चघ्नीयुगलं वृधन्नतीयुगलन्तु होमकार्ण्डे आज्यभागयोः क्रमे
‘अभिर्दृचाश्चि जङ्घन्तु’ इत्यनुवाक्येनाकातम्” इति माधवः ॥

भा. वार्त्तधी आग्नेयी, एका सौमी, तथा वृधन्वत्यौ, तत्र या आग्नेयी, सा विधीयमाना सम्बन्धेत न सौमी; अभावस्थार्या तावत् नास्त्येव, पौर्णमास्यामध्यधीषोमीये एव क्रियमाणे क्रियेत, तत्राप्येकदेवत्या न ब्रह्मयात् देवतादित्वे कार्यं कर्तुम्। 'अथ उभे अग्नीषोमीये प्राप्ते—इति'। न, एकस्य यागस्य द्वाभ्यामनुवाक्याभ्यां प्रयोजनम्। उपादेयत्वेन हि अनुवाक्या चोद्यते, तत्र एकत्वं विवक्षितं, तेन तत्रापि न हे। तस्मात् आद्यभागयोर्निवेशः—इति ॥ (१।१।१३ अ०) ॥

मुष्टीकरणादीनां द्वात्प्रकारिकाङ्गताधिकरणम् ।

स. आनन्तर्यमचोदना ॥ २४ ॥ (सि०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'मुष्टीकरोति वाचं यच्छति दीक्षितमा-वेदयति'—इति, तथा 'हस्तौ अघनेनिक्ते *उलपराजिंस्तृणाति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं मुष्टीकरणं वाग्यमश्च आवेदनार्थम्, उत द्वात्प्रकरणे निवेशः?—इति' तथा, हस्तावनेजनं किम् उलपराजिंस्तरितुम्, उत प्रकरणे सर्वपदार्थान् कर्तुम्?—इति। किं तावत्प्राप्तम्?—हस्तावनेजनं हस्तसंस्कारार्थं, वाग्यमः पुरुषसंस्कारार्थः, आमस्यमाण एकाग्रो भवति, पदार्थाननु-तिष्ठति, तेन केषां केषां पदार्थानाम् इमे संस्कारौ इत्या-काङ्क्षा अस्ति, सत्यामाकाङ्क्षायामानन्तर्येण निराकाङ्क्षीकरणं। तस्मात् आनन्तर्यात् आवेदनार्था वाग्यमो मुष्टीकरणं च, हस्तावनेजनं चोपपराजिंस्तरितुम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—सर्वेः प्रकरणाधीतैः सम्बन्धः—इति।

* 'वेद्यामास्तरितुं सम्पादितस्तृणस्य उलपराजिः' इति माधवः ॥

भा. कुतः ? वाक्यभेदात् । कथं वाक्यभेदः ? अर्थद्वयस्याभिधानात्, न हि, दीक्षितम् आवेदयितुम्—इत्यस्मिन् अर्थे आवेदयति—इति, न च स्तरितुम्—इत्यस्मिन् अर्थे स्तृषाति—इति; स्मरणमपि विधीयते अवेनेजनं च; मुष्टीकरणं वाग्यमस्य विधीयते, आवेदनं च । न च, एषां परस्परेण कश्चित् सम्बन्धोऽस्ति, न च, पदार्थाकाङ्क्षायाम् सत्यामानन्तर्यमेकवाक्यत्वे कारणं भवति, तस्मात् प्रकरणधर्मा एवज्ञातीयकाः ॥

ख. वाक्यानाञ्च समाप्तत्वात् ॥ २५ ॥ (यु०) ॥

भा. स्वेन स्वेन पदसमूहेन परिपूर्णमेकं वाक्यं, तथा अपरं, तथा सर्वाणि यान्युदाहृतानि । तस्मात् विस्पष्टमर्थद्वयं, विभागे च निराकाङ्क्षता, तेन वाक्यभेदः । अतः संयोगतोऽविज्ञेयात् प्रकरणाविज्ञेयाच्च ह्यस्ने प्रकरणे निवेद्यः—इति ॥ (३।१।१४ अ०) ॥

चतुर्धाकरणस्याग्नेयमात्राङ्कताधिकारकम् ॥

ख. शेषस्तु गुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयेत मिथस्तेषाम-
सम्बन्धात् ॥ २६ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्वमासवोः समाम्नायते,—‘आग्नेयं चतुर्धा करोति’—इति । तत्र सन्देहः,—किमाग्नेयेऽग्नीषोमीये ऐन्द्राग्ने च सर्वत्र चतुर्धाकरणं? किं वा आग्नेये एव?—इति । किं प्राप्तम्?—शेषस्तुर्धाकरणम्, आग्नेयम्—इति देवतागुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयते, अग्नीषोमीयेऽपि स्यात्, ऐन्द्राग्नेऽपि । कुतः? । तौ अपि आग्नेयौ, यस्याग्निर्देवता, अन्या च भवति, असावाग्नेयः; तत् यथा, या ङित्यस्य ङवित्यस्य च माता, सा ङवित्यस्य

भा. भवति, एवमिहापि । यदि आग्नेयस्य अग्नीषोमीयस्य च पुरोडासस्य मिथः सम्बन्धो न भवेत्, तत आग्नेय एव चतुर्द्वाकरणं व्यवतिष्ठेत, भवति तु सम्बन्धः, तस्मात् अथवस्था, यथा आग्नेयस्य मस्तकं विभज्य प्राञ्चिचम् अवद्यति—इति सर्वेभ्यः प्राञ्चिचावदानम्, एवं चतुर्द्वाकरणमपि ॥

ख. व्यवस्था वा अर्थसंयोगात् लिङ्गस्वार्थेन सम्बन्धात् लक्षणार्था गुणश्रुतिः ॥ २७ ॥ (सि०) ॥

भा. वाङ्मदः पक्षं व्यावर्त्तयति, व्यवतिष्ठेत वा चतुर्द्वाकरणम् आग्नेये एव, न साधारणं भवितुमर्हति । कुतः ? । अर्थसंयोगात्, अग्निना देवतया अर्थनैकदैवत्यस्य संयोगः, न द्विदैवत्यस्य अग्नीषोमीयस्य ऐन्द्रास्य च—इति । कुतः ? । यस्य हि अग्नीषोमी देवता, उभयविशेषणविशिष्टः सङ्घस्यः क्रियते, तस्याग्निः सोममपेक्षमाणो देवता, न निरपेक्षः, यस्य च अग्निः सोममपेक्षमाणो देवता, न तस्मात् तद्धित उत्पद्यते, समर्थानां हि स उच्यते, सापेक्षं च असमर्थम् । तस्मात् न तद्धिताग्नेन निरपेक्षाग्निदैवत्येन द्विदैवत्यस्य अभिधानम् । अतो यत्र निरपेक्षोऽग्निदैवता, तत्र एव चतुर्द्वाकरणम्—इति, देवतालिङ्गस्य हि सामर्थ्येन संयोगो भवति तद्धितार्थस्य, नास्ति सामर्थ्यं ।

अथ यदुक्तं, यथा प्राञ्चिचावदानं सर्वेभ्यः क्रियते, एवं चतुर्द्वाकरणमपि—इति, युक्तं प्राञ्चिचावदानेन तत्र एव सम्बन्धः क्रियते,—आग्नेयस्य प्राञ्चिचमवद्यति—इति । 'कथं तर्हि आग्नेयस्य मस्तकं विभज्य ?'—इति । एकं श्लेषाकारं प्राञ्चिचमवद्यति—इति, द्वितीयमाग्नेयस्य मस्तकं विभज्येति, तत्र आग्नेयस्य मस्तकात् अवद्यति—इति गम्यते, अन्यस्य मस्तकात्, अन्यस्मादेति अनियमः । यदि तु तत्र केवलाग्निदैवत्यो न अभविष्यत्, तदा आनर्थक्यपरिहाराय द्विदैवत्योऽप्यवहित्यत ।

भा. यत्तु, डित्थस्य माता—इति, युक्तं तथाप्यासङ्गि मातृत्वं, ततो
 जातो डित्थः, एतावता सम्बन्धेन, माता इत्युच्यते, न अत्र
 किञ्चित् अपेक्ष्यते । स च तावांस्तत्र सम्बन्धोर्गस्त—इति
 डित्थस्य माता—इति युक्तं वचनम् ॥ (३।१।१५ अ०) ॥

इति श्रीभट्टशबरस्वामिनः ह्यतौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्या-
 ध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

तृतीये अध्याये द्वितीयः पादः ।



अथ सवनप्रकाशकमन्त्राणां मुखे विनियोगाधिकारश्चम् । (वहिन्यायः) ।

स. अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तस्माद्दु-
त्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात् ॥ १ ॥

भा. इह मन्त्रा उदाहरणं,—‘वर्हिर्देवसदनं दामि’—इत्येवमा-
दयः । किं मुखेय एवाभिधेये मन्त्राणां विनियोगः, उत गौणेऽपि ?
—इति । कः पुनर्मुखः को वा गौणः ?—इति । उच्यते,—
यः ब्रह्मादेवावगम्यते, स प्रथमोऽर्थो मुखः, मुखमिव भवति
—इति मुख इत्युच्यते, यस्तु खलु प्रतीतादर्थ्यात् केनचित्
सम्बन्धेन गम्यते, स पश्चात्भावाज्जघनमिव भवति—इति
जघन्यः, गुणसम्बन्धाच्च गौणः—इति ।

“यद्येवं सर्व एव मुखः, सर्वो हि ब्रह्मात् गम्यते, यथैव हि
अग्निर्ज्वलति इत्युक्ते ज्वलने सप्तत्ययः, एवमेवाग्निर्माणवकः—
इति ब्रह्म एव उच्चारिते माणवके सप्तत्ययः । ‘अथ उच्येत
यस्मिन् निरुपपदात् ब्रह्मात् सप्तत्ययः स मुखः, यस्मिन्
सोपपदात् स गौणः’—इति । नैतत् युक्तम्,—यस्य हि ब्रह्मस्य
रूपं कस्यचित् अर्थस्य निमित्तं, सोपपदस्यापि तदेव रूपं,
निरुपपदस्यापि; न च ब्रह्मं निमित्ते सति नैमित्तिकेन न
भवितुम् । ‘किमतः?’ यद्येवम्, इदं न ब्रह्मते वदितुम्,—
उपपदादृते न सोऽर्थो भवति, उपपदे तु सञ्जाते सोऽर्थः
सञ्जनिष्यते—इति । न चासौ समुदायार्थः ब्रह्मते विज्ञातुम्,
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि विभागोऽवगम्यते । ‘अथ, वाक्यार्था-
ध्यम्,—इत्युच्येत’ । नैवं ब्रह्मं, न हि अगणितः पदार्थो भवति

भा. वाक्यार्थः। तदेवं कृष्यताम्,—अग्निशब्द एव अयं उवलनवचनः
 अग्निशब्द एव माणवकस्याभिधाता—इति; तस्मात् न गौणो
 मुखः—इति कश्चिद्विशेषः। ‘अथोचरते, यः सुष्ठु प्रसिद्धः स
 मुखः, यो मनागिव, स गौणः’—इति। इदमपि नोपपद्यते,
 प्रसिद्धिर्नाम प्रज्ञानम्, न च प्रज्ञाने कश्चिद्विशेषोऽस्ति। ‘अथो-
 चरत, यस्य बह्वक्षः प्रयोगोऽस्ति स मुखः, अल्पक्षः प्रयुज्यमानो
 गौणः’—इति। नैतदेवम्, अल्पश्रोत्रोऽपि प्रयुज्यमानो नासति
 सामर्थ्यं प्रत्याययेत्, अतः सोऽपि शब्दात्प्रतीयते—इति मुख्य
 एव”।

अथ उचरते,—अस्ति अथ विशेषः, माणवको न अग्निशब्दात्
 प्रतीयते। कथमवगम्यते?। उक्तम् (१।३।३६ सू०) ‘अन्या-
 यश्चानेकार्थत्वम्’—इति। कथं न विपर्ययः?। उचरते,—अना-
 कृत्यैव माणवकप्रत्ययं उवलनम् अग्निशब्दात् प्रतियन्तो कृष्यन्ते,
 न त्वनाकृत्य उवलनं, माणवकम् अग्निशब्दात् प्रतियन्ति। कुतः
 एतत्?। यो योऽग्निसकृन्नो विवक्ष्यते, तच्च तच्चाग्निशब्दो नियतः
 —इति। अत एव विगतसाकृत्त्यादपयन्तु कृष्यते। अतोऽग्नि-
 साकृत्त्वमस्य प्रकृतौ निमित्तं न च उवलने अप्रतीति तत्साकृत्त्व्यं
 प्रतीयते। तस्मात् उवलनस्य अग्निशब्दो निमित्तं न माणवकस्य;
 तस्मात् उवलने मुखो न माणवके। एवमेव तृणप्रत्ययस्य
 वर्द्धिःशब्दो निमित्तं न तृणसकृन्नप्रत्ययस्य। तदेवं हैते सति
 मुख्यपरता शब्दस्य, उत गौणपरतापि?—इति युक्तो विचारः।

किं तावत्प्राप्तम्?—मुखेन गौणे च विनियोगः। कुतः?।
 उभयस्य शक्यत्वात् उभयमपि वर्द्धिःशब्देन शक्यते प्रत्याय-
 यितुम्, तृणं च तृणसकृन्नं च, तृणं साक्षात्, तृणसकृन्नं तृणप्र-
 त्ययेन। यच्च नाम दर्शपूर्णमासयोः साधनभूतेन वर्द्धिःशब्देन
 शक्यते प्रत्याययितुम्, तत् सर्वं प्रत्याययितव्यं विनिगमनायां
 हेत्वभावात्।

भा. -अपि च एवं आश्रीयमाणे पूषाद्यनुमस्यणादीनि दर्शपूर्ण-
मासाभ्यां नोत्सृज्यन्ते* तत्र एव गौणेन अभिधानेन प्रकृतां
देवतामभिवद्ध्यन्ति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—मुख्य एव विनियोक्तव्यो मद्यः न गौणे—
इति । कुतः? । उभयाञ्चकृत्वात्, प्रकरणे हि समाग्नानात्
प्रधानेन एकवाक्यतामुपैति, तत्रैतदापतति यत् ब्रह्मयात् अनेन
मन्त्रेण साधयितुम्, तथा साधयेत्—इति । स चासावर्थाभि-
धानसंयोगात् ब्रह्मोत्पुपकुर्तुम्, न गौणमर्थं ब्रह्मोत्पुभिधातुम्,
तस्मात् न गौणे विनियोगः ।

‘ननु मुख्यप्रत्यायात्, ब्रह्मते गौणः प्रत्याययितुम्’ । सत्यमेतत्,
मुख्यप्रत्यायनेन एवास्य प्रयोजनवृत्ता निर्दृष्टा—इति न गौणं
प्रति विनियोगे किञ्चित् प्रमाणमस्ति । मुख्ये विनियोगेन
त्वानर्थक्यं परिह्रियते, परिह्रियते आनर्थक्यं न गौणाभिधानमा-
पतति, न हि, अनभिधाय मुखं, गौणमभिवदति ब्रह्मः । अतः
प्रमाणाभावात् न गौणे विनियुज्येत ।

अपि च गौणस्य प्रत्यायने सामर्थ्यात् बह्वोऽभ्युपायाः प्राप्नु-
वन्ति, सामर्थ्यं च ब्रह्मैकदेशः—इत्युक्तम् (१ । ४ । ३०) ‘अर्थादा
कल्पनैकदेशत्वात्’—इति तत्र मन्त्रे नियोगतो गौणं प्रति
विनियुज्यमाने उपायान्तरं, विना प्रमाणेन बाधेत । ‘मन्त्रा-
ग्नानं प्रमाणम्’—इति चेत् । न तस्य उपायान्तरनिवृत्तौ
सामर्थ्यमस्ति । ‘ननु मुखेऽपि विनियुज्यमानस्य एष एव
दोषः’ । न इत्युच्यते,—यदि मुखेऽपि न विनियुज्येत, नैष
प्रधानस्योपकर्थात् तत्र चास्योत्पत्तिः अनर्थिका एव स्यात् ।
तस्मात् अस्ति गौणे मुखे च विशेषः । अपि च यो गौणे
मर्थं विनियुङ्क्ते, स वक्तव्यः,—किमर्थं मुखं प्रत्याययति?—

* ‘नोत्सृज्यन्ते’ इति क्वचित् पाठः ।

भा. इति, स चेत् ब्रूयात्,—नान्यथा गौणप्रत्ययोऽस्ति—इति, प्रति-
 ब्रूयादेनम्,—अन्वेष्येऽपि गौणप्रत्ययस्याभ्युपायाः सन्ति—इति ।
 अथ स एवम् अभियुक्तः प्रतिब्रूयात्,—मुख्यप्रत्ययोऽपि पाक्षिको-
 ऽभ्युपायः—इति, ब्रूयादेनं,—न तर्हि नियोगतो गौणे विनि-
 योजनीयः, यदा गौणप्रत्ययाय मुख्यमुपादत्ते, तदैतदापत्तितं
 भवति,—मुख्य एव विनियोगः—इति । अर्थेन च प्रतीतेन
 प्रयोजनं, न प्रत्यायकेन मक्षेण, अतोऽन्वेष्येनाभ्युपायेन गौणः
 प्रत्याययितव्यः, न स एव मक्ष आदर्तव्यः । अथापि मक्षेण
 प्रत्यायकेन प्रयोजनं स्यात्, तथापि मुख्यप्रत्यायनेनैव निर्दत्तं
 प्रयोजनम्—इति नतरां गौणे विनियुज्येत । तस्मात् मुख्य-
 गौणयोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः—इति सिद्धम् ॥

ख. संस्कारकत्वादचोदितेन स्यात् ॥ २ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—‘पूषाद्यनुमक्षणादीनाम् उत्कर्षा न भविष्यति’
 —इति, युक्तः तेषाम् उत्कर्षः, संस्कारको हि मक्षः, सोऽसति
 संस्कार्येऽनर्थकः—इति यच्च अर्थवान् तच्च नाययिष्यते, न च
 कश्चित् दोषो भविष्यति ॥ (३।२।१ अ०) ॥

इन्द्रप्रकाशकमन्त्रानां गार्हपत्ये विनियोगाधिकरणम् । (गार्हपत्यन्यायः) ॥

ख. वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात् ॥ ३ ॥

भा. अप्तौ श्रूयते,—‘निवेद्यनः सङ्गमनो वसूनाम्—इत्यैन्द्रा
 गार्हपत्यमुपतिष्ठते’*—इति । तच्च सन्देहः,—किम् इन्द्रस्योप-
 स्थानं कर्तव्यम्, उत गार्हपत्यस्य ?—इति । ‘कुतः पुनर्गार्ह-
 पत्यमुपतिष्ठते—इत्येवं विस्पष्टे वचने संशयः ?’—इति । उच्यते,

* ‘जेषाश्चित्तु कदाचनस्तरीरसीत्येषा पश्यते’ इति वाचिकम् ।

भा. —यद्धि वाक्येनोपस्थानं तत् स्तुतिप्रचनेन संस्कारणं न समीप-
स्थानमात्रं, न च, ऐन्द्रेण मन्त्रेण अग्नेः अभिधानं ब्रह्मते कर्तुम् ।
अतो गार्हपत्यम् उपतिष्ठते—इति न गार्हपत्यार्थमुपस्थान-
मेतत्—इति जायेत ब्रह्मा,—गार्हपत्ये उपस्थानार्थो भवेत्—
इति, तादृशस्य शब्दो नास्ति, तृतीयान्तः सप्तम्यन्तो वा ।
तस्मात् विचारः,—कथम् उपपन्नं भवति ?—इति ।

किं तावत्प्राप्तम्?—सामर्थ्यात् इन्द्रोपस्थानं, अशक्यत्वाच्च
गार्हपत्योपस्थानस्य । ‘कथं द्वितीया विभक्तिः ?—इति’ चेत् ।
अविवक्षितेऽपि तार्था वा सम्बन्धमात्रप्रधाना । यद्वा उपस्थान-
विवक्षेणं सम्बन्धात् गार्हपत्यशब्दः । तस्मात् गार्हपत्यविशिष्ट-
मुपस्थानम् इन्द्रार्थं कर्तव्यम्—इति । गार्हपत्यस्य देशेन
विशिष्टयात् मुख्यमेव कार्यं मन्त्रणम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—वचनाश्वयथार्थम् ऐन्द्री स्यात्, नैतदस्ति
इन्द्रार्थम् उपस्थानम्—इति, अथार्थम् ऐन्द्री स्यात् । कुतः ? ।
वचनसामर्थ्यात्, वचनमिदं भवति,—ऐन्द्र्या गार्हपत्यम् उप-
तिष्ठते—इति, गार्हपत्ये द्वितीया विभक्तिः प्राधान्यम् आह,
किमिव वचनं न कुर्यात्, नास्ति वचनस्यातिभारः । तस्मात्
गार्हपत्यार्थम् उपस्थानम् ॥

स. गुणाद्वाप्यभिधानं स्यात् सम्बन्धस्याशास्त्रहेतु-
त्वात् ॥ ४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. “अत्राह नन्वेतदुक्तं,—न ऐन्द्रेण मन्त्रेण गार्हपत्योपस्थानं
भविष्यति—इति । उच्यते,—वचनात् भविष्यति । “आह,
न वचनश्रुतेनापि ब्रह्ममेतत्, इन्द्रशब्देन अग्निं प्रत्याशयेत्—
इति ब्रूवन् विहन्येत, यथा अग्निना विहन्येत—इति, उदकेन
दीपयेदीति, न हि आश्वहेतुकः शब्दार्थयोः सम्बन्धो भवति,
नित्योऽसौ लोक्तोऽवगम्यते—इत्युक्तं, (१।१।५ सू०)—‘श्रौत्प-

भा. त्तिकस्तु ब्रह्मस्यार्थेन सम्बन्धः—इति । ‘ननु ब्रह्मलक्षणो-
ऽपि भवति ब्रह्मार्थयोः सम्बन्धः ह्यविमः, यथा देवदत्तो यज्ञदत्तः
—इति’ । भवति कश्चित्, यत्र सम्बन्धस्य विधायकं वाक्यं भवति,
न त्वेतदाक्यं ब्रह्मार्थयोः सम्बन्धस्य विधायकं, गार्हपत्यस्य
इन्द्रब्रह्मो नामेति, कथं तर्हि प्रसिद्धसम्बन्धेन इन्द्रब्रह्मेन
गार्हपत्यम् उपतिष्ठते—इति, न च ब्रह्मते परब्रह्मेन परो
वदितुम्, किमत्र वचनं करिष्यति?” ।

अत्र उच्यते,—‘गुणादाप्यभिधानं स्यात् सम्बन्धस्यात्राह-
हेतुत्वात्’—इति, यद्यपि न इदं वाक्यं ब्रह्मार्थसम्बन्धस्य विधाने
हेतुभूतं, तथाप्यनेन इन्द्रब्रह्मेन ब्रह्मं कर्तुम्,—गार्हपत्याभि-
धानम् । कुतः? । गुणसंयोगात् गौणमिदम् अभिधानं भवि-
ष्यति, भवति हि गुणादप्यभिधानं यथा सिंहो देवदत्तः
अग्निर्माणवकः—इति । एवमिहाप्यनिन्द्रे गार्हपत्ये इन्द्रब्रह्मो
भविष्यति, अस्ति चास्य इन्द्रसादृश्यं, यथैव इन्द्रो यज्ञसाधनम्,
एवं गार्हपत्योऽपि—इति । अथवा इन्द्रतेः ऐश्वर्यकर्मण इन्द्रो
भवति, भवति च गार्हपत्यस्यापि स्वस्तिम् कार्यं ईश्वरत्वं ।
तस्मात् इन्द्रब्रह्मेन यः प्रत्याययतेर्ध्वः स प्रतीतः सादृश्यात्
गार्हपत्यं प्रत्याययिष्यति, ऐश्वर्यात् वा प्रत्याययिष्यति—
इति न दोषः ॥ (१।२।२ अ०) ॥

आज्ञानप्राकाशकमन्वानाम् आज्ञाने विनियोगाधिकारकम् ॥

इ. तथा ह्यज्ञानमपीति चेत् ॥ ५ ॥ (पू०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र इदं समाम्नायते, ‘हविष्ठादेहि*—

* वा हविः सम्पादयति सा हविष्ठात् तामेनां सम्बोधाध्वर्युदेहीति
ब्रूते’ इति माघवः ।

भा. इति चिरवचुन् आकलयति—इति । तत्र सन्देहः,—किमेव मद्योऽवहृन्ति प्रत्युपदिश्यते, उत हृन्तिः अस्य कालं लक्षयति ? —इति । कथं हृन्तिं प्रत्युपदिश्यते ? कथं वा कालं लक्षयेत् ? । यद्येवं सम्बन्धः क्रियेत,—हृविष्कृदे ह्येत्यवघ्नसिति, ततो हृन्तिं प्रत्युपदिश्यते, अद्यावन्नन् आकलयति—इति, ततोऽस्य कालं लक्षयति—इति । किं तावत्प्राप्तम्?—तथा आकानमपि, यथा ऐञ्जी गार्हपत्यं प्रत्युपदिश्यते, एवमेव मद्यो हृन्तिं प्रत्युपदिश्यते । एवं श्रुतिः अनुगृहीता भवति, इतरथा लक्षणा स्यात्, हृन्तिकालस्य मद्यस्य च सम्बन्धो भवेत्, न हृन्तेर्मद्यस्य । एवं च सत्याकलयति—इत्ययमनुवादः, आकानं करोति, यो हि एहि—इति ब्रूते स आकलयति, तत्र केनचित् गुणेन मद्यो हृन्तिं प्रत्याययिष्यति, तस्मात् नाकाने विनियोक्तव्यः ॥

भा. न कालविधिश्चोदितत्वात् ॥ ६ ॥ (सि०) ॥

भा. नैतदस्ति,—हृन्तिं प्रत्युपदिश्यते—इति । किं तर्हि ?—काललक्षणा स्यात् । कुतः ? । चिराकलयति—इति चित्त्वमत्र विधीयते, यद्यस्मिन्नेव वाक्ये मद्यो विधीयते, अनेकगुणविधानात् वाक्यम्भिद्येत ! तस्मात् नैवमभिसम्बन्ध एवमवघ्नन्—इति, कथं तर्हि, अवघ्नन् आकलयति—इति । ‘ननु अस्मिन्नपि पक्षे मद्यो विधीयते कालञ्च, तत्र स एव दोषो भवेत् । न—इति ब्रूमः,—अवघ्नन्नकाल एवार्थेन हृविष्कृदाकानतया, तथायमेव सम्बन्धोऽनूद्यते, केवला तु चिरादृत्तिर्विधीयते । यत्तु काल-लक्षणार्थः शब्दः—इति । नैव दोषः, लौकिकी हि लक्षणा, मद्योऽपि च रूपादेवाकाने प्राप्तः, सोऽप्यनूद्यते एव, चोदितञ्च वाक्यान्तरेखावघातः शङ्कोति कालं लक्षयितुम् । तस्मात् आकाने विनियोक्तव्यः—इति ॥

ख. गुणाभावात् ॥ ७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. (इदं पदोत्तरं सूत्रम्) । 'अथ कस्मात् न गुणाववहन्ति
ब्रूते? हविष्करोति हि अवहन्ति; तस्मात् हविष्कात् । किमेवं
भविष्यति? । रूपादेवावहन्तौ मये प्राप्ते केवलं चिरादन्तिमेव
वक्ष्यति न भविष्यति वाक्यभेदः'—इति । अथ उच्यते,—गुणा-
भावात् गौणमभिधानमवहन्तौ न सम्भवति—इति, नञ्चसौ
आहृतोऽस्ति—इत्यवगच्छति, तत्र अदृष्टार्थम् आह्वानं स्यात् ।
यजमानस्य पत्न्यां हविष्करोति दृष्टार्थम् आह्वानम् । तस्मात्
न हन्तिमद्यः—इति ॥

ख. लिङ्गञ्च ॥ ८ ॥ (यु० १) ॥

भा. लिङ्गं च भवति, 'वाग्वै हविष्करोतिमेव एतत् आह्वयति'—
इति, न च वाचोऽवहन्तिना सादृश्यमस्ति, अस्ति तु यजमानस्य
पत्न्या, सा हि स्त्री, वागिति च स्त्रीलिङ्गः शब्दः, अवहन्तिस्तु
न स्त्री न पुमान् न नपुंसकम्—इति । 'ननु अवहन्तेरपि
स्त्रीलिङ्गः शब्दोऽस्ति,—क्रिया—इति' । अथ ब्रूमः,—न नियो-
गतोऽवहन्तेः स्त्रीलिङ्गः शब्दः, पुंलिङ्गोऽपि तस्यास्ति,—अवघातः
—इति, नपुंसकलिङ्गोऽपि,—कर्म—इति । अपि च, पत्न्याः
स्वरूपेण सादृश्यम्, अवहन्तेः पररूपेण शब्देन । तस्मात्
पत्न्यां हविष्करोति लिङ्गमनुरूपतरं भवति ॥

ख. विधिकोपश्चोपदेशे स्यात् ॥ ९ ॥ (यु० २) ॥

भा. अवहन्तिमद्ये सति अस्मिन् मद्ये विधन्तरकोपः स्यात् । 'अप-
हृतं रक्ष इत्यवहन्ति अपहृता यातुधाना इत्यवहन्ति'—इति ।
तत्र पक्षे अभावात् नित्यवत् श्रुतिः उपपद्येत, तस्मात् अवधुम्

भा. —इति काखलक्षणार्थः । मयोऽप्यङ्गानार्थः—इति ॥ (३ । २ ।
३ अ०) ॥

अग्निविहरणादिप्रकाशकमन्त्रानां तत्रैव विनियोगाधिकारम् ॥

स. तथोत्थानविसर्जने ॥ १० ॥

भा. उद्योतिष्ठोमे श्रूयते,—‘उत्तिष्ठन् अन्वाह, अग्नीदग्नीन्विहर’—
इति, तथा, ‘व्रतं क्लृप्ततेति वाचं विष्टजति’*—इति । तत्र
सन्देहः,—किमुत्थानं वाग्विसर्जनं च प्रतिमन्त्रयोरुपदेशः, उत
कालार्थः संयोगः ?—इति । अत्र पूर्वाधिकरणन्यायोऽतिदिश्यते,
यः तत्र पूर्वः पक्षः, स इह पूर्वः पक्षः ; यः तत्र सिद्धान्तः स
इह सिद्धान्तः । अग्नीदग्नीन्—इत्येवमुत्तिष्ठन् अन्वाह—इति,
व्रतं क्लृप्त—इत्येवं वाचं विष्टजति—इति पूर्वः पक्षः । लक्षण-
भावात्, उत्तिष्ठन् अन्वाह—इति सिद्धान्ते सम्बन्धः । व्रतं क्लृप्त
—इत्युच्यमाने वाचं विष्टजति—इति । वाक्येन पूर्वः पक्षः,
खिङ्गेन सिद्धान्तः ।

यद्यपि च ब्रह्मते, उत्थानक्रियाग्नीदग्नीन् विहरेति वक्तुम्,
उत्थानेन अग्निरिष्यते, वक्रिष्य विष्ट्रियते—इति । व्रतं क्लृप्त
—इति च वागभिधानं । तथाप्यदृष्टार्थं वचनं भवति—इति
न मन्त्रयोः उत्थानविसर्जनार्थता कल्प्येत । कल्प्यमानायां च
मन्त्रान्तरं विहितं बाधेत,—‘याः पञ्चनामृषभो वाचः’—इति ।
अपि च उत्थानवाग्विसर्गौ प्रतिमन्त्रौ विधीयमानावदृष्टार्थौ
स्यातां, प्रेषणे तु दृष्टार्थौ । तत् लक्षणैव अत्र न्याय्या ॥ (३ ।
२ । ४ अ०) ॥

* व्रतं चरतेति वाचो विष्टजतीति पाठः आ० सो० पु० ।

सूक्तवाकस्य प्रस्तरप्रहरणाङ्गताधिकारखम् । (प्रस्तरप्रहरणन्यायः) ।

घ. सूक्तवाके च कालविधिः परार्थत्वात् ॥ ११ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्भपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति’*—
इति । तत्र सन्देहः,—किं सूक्तवाकः प्रस्तरप्रहरणम् प्रत्युप-
दिश्यते, उत, इयं काललक्षणा?—इति । तदुच्यते, काल-
लक्षणा—इति । कुतः? । सूक्तवाकस्य देवतासङ्गीर्तनार्थत्वात्,
प्रस्तरप्रहरणं च प्रत्यङ्गतेः, प्रस्तरस्य च सुग्धारणार्थत्वात् ॥

च. उपदेशो वा याज्याशब्दो हि नाकस्मात् ॥ १२ ॥ (सि०) ॥

भा. उपदेशो वा प्रस्तरप्रहरणम् प्रति मन्त्रस्य स्वात्, एवं श्रुति-
विहितोर्ध्वो भवति, सूक्तवाकेन—इति करणविभक्त्यव्यवहारात्,
इतरथा लक्षणा स्वात्, सूक्तवाकेन लक्षणेन प्रस्तरं प्रहरेत्
—इति । एवं च कृत्वा याज्याशब्दः उपपन्नो भवति, सूक्तवाक
इव याज्या, प्रस्तर आङ्गतिः—इति ॥

घ. स देवतार्थस्तत्संयोगात् ॥ १३ ॥ (पू० नि०)

भा. यदुक्तम्,—देवतासङ्गीर्तने सूक्तवाकः समर्थो, न प्रस्तरप्रहरणे
—इति । उच्यते,—न, देवतावचनं प्रहरणेन न सम्बन्धते,
प्रहरणं हि यजिः, मासवर्णिको देवताविधिः,—इत्यभि-
सम्बन्धः । ‘अग्निरिदं हविरजुषतावीष्टयत्’—इत्येकं देवताम्
चनुमान्य, ‘आज्ञास्तेयं यजमानः’—इत्युक्त्वा, ‘इदमिदम्
आज्ञास्ते—इति च यदनेन हविषा आज्ञास्ते तदस्य स्वात्’—

* ‘इदं यावापथिवी भद्रमभूत्’ इत्यादिमन्त्रः सूक्तवाकः । दर्भमुष्टिः
प्रस्तरः, तस्य प्रहरणम् अग्नौ प्रक्षेपः इति माधवः ।

† तदज्ञात् इति का० सं० पू० ।

भा. इति प्रस्तरं हविर्निर्दिशति, अग्न्यादींश्च देवताविशेषान्, तेन प्रहरतिर्यजतिः । एवं सूक्तवाक्येन प्रस्तरः प्रहर्तुम् शक्यते, यदि प्रहरतिर्यजतिः, अग्न्यादिदेवताकश्च । तस्मात् सूक्तवाक्यस्य हरतिसंयोगेऽपि देवतार्थता घटते एव । यदि 'अग्निरिदं हविरजुषतावीष्टधत्'—इत्येवमाद्येव श्रूयेत, न, 'आम्नास्तेयं यजमानः'—इत्येवमादीनि अपराणि, ततोऽग्न्यादय एवेष्टानान्तरिताः इत्येव पर्यवसितं वाक्यं भवेत् । यतस्तु खलु आम्नास्तेयं यजमानः इत्येवमादीन्यपराणि श्रूयन्ते, तेन इह पर्यवसानम्, अग्न्यादयः पुरोडाशादिभिः इष्टाः, अपरं तु यजमान आम्नास्ते तदनेन प्रस्तरेण प्राप्नुयात्—इति ।

'ननु सत्सुप्येतेषु देवतासंकीर्त्तने एव पर्यवस्येत्, पुरोडाशादिभिः इष्टा अग्न्यादयः, तत एव यजमान आयुरादीन्यपि आम्नासानः प्राप्नुयात्—इति । उच्यते,—उभयथा सम्बन्धे सति प्रहरणे विनिबोक्तव्यः, खिङ्गं च न बाधितं भविष्यति, वाक्यं चानुपशील्यते—इति ।

अथ वा 'अग्निरिदं हविरजुषत'—इति प्रस्तरः एव हविर्निर्दिश्यते ; एवम् 'इदम्'—इति सन्निहितवचनमुपपन्नं भविष्यति—इति ॥

ॐ प्रतिपत्तिरिति चेत्, खिष्टकृद्दुभयसंस्कारः स्यात् ॥

१४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. 'अथ सुग्धरणे विनियुक्तस्य प्रस्तरस्य प्रहरणं प्रतिपत्तिः'—इत्युच्यते । तत्र प्रतिवचनं,—खिष्टकृद्देतत् स्यात्—इति, यथा, इज्यार्थात् पुरोडाशात्, वचनप्रामाण्यात् खिष्टकृत् इज्यते, यागश्च स भवति,* प्रतिपाद्यते च पुरोडाशः, एवं

* यागश्चैव सम्भवति इति का० सं० पु० ।

भा. प्रतिपाद्येत् एव हि प्रस्तरः, यागश्च निर्वर्त्यते—इति न दोषः ।
 प्रतिपाद्यमानोऽपि हि त्यज्यते, प्रत्यक्षतः प्रतिपाद्यते, वचना-
 दिज्यां साधयति—इत्येवं गम्यते । तस्मात् सूक्तवाकः प्रहरति-
 मद्यः—इति ॥ (३।२।५ अ०) ॥

सूक्तवाकानामर्थानुसारेण विनियोगाधिकारश्चम् । (सूक्तवाकन्यायः) ।

स. छत्सोपदेशादुभयच सर्व्ववचनम् ॥ १५ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः,—‘सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति’—इति श्रूयते ।
 तत्र सन्देहः,—किं पौर्णमास्यां छत्सः सूक्तवाकः प्रयोक्तव्यः,
 छत्सोऽमावास्यायाम्, उत यथासामर्थ्यं निष्कृत्य यथायथं
 प्रयोगः?—इति । तदुच्यते,—‘उभयच सर्व्ववचनम्’—इति ।
 कुतः? । छत्सो हि मद्यः सूक्तवाकः—इत्युच्यते, स पदेनापि
 विना, सूक्तवाको न स्यात्, तत्र सूक्तवाकन न प्रहृतं भवेत् ।
 तस्मात् उभयच छत्सः सूक्तवाको वदितव्यः ॥

स. यथार्थं वा शेषभूतसंस्कारात् ॥ १६ ॥ (सि०) ॥

भा. ये पौर्णमासीदेवतावाचिनः शब्दाः, ते पौर्णमास्यां प्रयोक्तव्याः,
 न अमावास्यायां, ये अमावास्यादेवतावाचिनः, ते अमावा-
 स्यायां, न पौर्णमास्याम् । शेषभूतमर्थं संस्कुर्वन्तो मद्या उप-
 कुर्वन्ति, नान्यथा इत्युक्तम् (३।२।२ सू०) । तस्मात् ये यथोप-
 कुर्वन्ति, ते तत्र प्रयोक्तव्याः—इति न छत्सः पौर्णमास्यां, न
 छत्सश्चामावास्यायामिति ॥

स. वचनादितिचेत् ॥ १७ ॥ (आ०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—वचनमिदं* भविष्यति,—सूक्तवाकेन प्रहरति—

* वचनादिदं भविष्यति इति का० सं० पु० ।

भा. इति, तत्र पदेनापि जनेन न सूक्तवाकेन प्रहृतं भवेत्, हात्स्वरय
हि सूक्तवाकस्योपदेशः—इति । तदुच्यते,—

ख. प्रकरणाविभागादुभे प्रति हात्स्वरशब्दः ॥ १८ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. उभे पौर्षमास्वमावास्ये प्रति एष हात्स्वरशब्दः उभयोः
प्रकरणात् उभयोरसौ हात्स्वर उच्यते, अवयवेऽवयवे—इति ।

‘नैतदेवं, न हि सापेक्षाणाम् इतिकर्त्तव्यतया सम्बन्धः, न हि,
इतिकर्त्तव्यता एतद्विशिष्टा श्रूयते, इतिकर्त्तव्यताविशिष्टास्त्वेते
गम्यन्ते । कुतः ? । न हि, इतिकर्त्तव्यतां प्रति कर्माणि विधीयन्ते,
फलम् प्रति तेषां विधिः, इतिकर्त्तव्यता तु कर्मणां विधीयते,
तत्र सन्निधानाविशेषात्, कस्य किं विधीयते, कस्य न?—इति
न गम्यते विशेषः, साधनत्वेन च सर्वेषां निर्द्देशात् इतिकर्त्तव्य-
तायाः सन्निधानाच्च, वचनाच्चास्य,* प्रकरणलिङ्गस्याविशेषात्,
एकैकस्य हात्स्वनं प्रकरणं निराकाङ्क्षस्य, न सहायमपेक्षमाणस्य ।
तस्मात् एकैकं प्रति हात्स्वरः सूक्तवाक उपदिश्यते, स विभागेऽपि
प्रधानानां, हात्स्वर एव प्रयोक्तव्यः—इति यानि यत्र अनर्थकानि
पदानि, तान्यपि तत्र प्रयोक्तव्यानि अदृष्टाय भविष्यन्ति, सूक्त-
वाकेन प्रहुरति—इति वचनात्, नास्ति वचनस्यातिभारः,
गुणेन वा केनचित् अभिधानं तासां देवतानां निर्वर्त्तयिष्यन्ति
—इति ।

अत्र उच्यते,—नैतदेवं, उक्तं,—मुख्यमेव कार्यं मन्त्राणां,
न गौणम्—इति, संस्कारार्थत्वात् वा उत्कर्षो न्यायः, न
गौणमभिधानम्—इति । कस्तर्हि हात्स्वरसंयोगस्य समाधिः
उच्यते?—इति । एष समाधिः, न ह्येतदेकं वाक्यम्, यः

* अवचनाच्चास्य इति आ० सो० पु० ।

भा. छात्रः सूक्तवाकः, बह्वन्येतानि वाक्यानि, येषां प्रधानदेवता-
 भिधायीनि पदानि मध्ये, साधारणानि तत्रपदानि पुरस्तात्
 उच्चार्यन्ते, तथा परस्तात्; यथा 'अग्निरिदं हविरजुषतावी-
 वृधत महोज्यायोक्तताग्नीषोमाविदं हविरजुषेतामवीवृधेताम्'
 —इत्येवमादीनि; तेषां पुरस्तात्तत्त्वं,—यथा 'इदंवावापृथिवी'
 —इति, परस्तादपि यथा,* 'अस्यामृधेत्'—इति, तान्येतानि
 सर्वाणि सूक्तवचनेन सूक्तवाकशब्दं लभन्ते। न च, तेषां समुदायः
 कश्चिदर्थं वहति। तस्मात् न समुदायः सूक्तवाकः, न च,
 साक्षात्साधनं, सूक्तवाकसामान्यस्य एकत्वात्, सूक्तवाको वर्त्तते
 इत्येकवचनं भवति। सूक्तवाकेन प्रसतरं प्रहरति—इति तु येन-
 केनचित् सूक्तवाकेन प्रष्ट्रियमाणे यथाश्रुतं ज्ञातं भवति, तस्मात्
 न समुदायः सूक्तवाकः। यत्तु, अमावास्यादेवतावाचीनि
 पदानि, न पौर्णमास्यां प्रयुज्यन्ते, न तत्र सूक्तवाकशब्दो बाध्यते,
 प्रकरणं तत्र लिङ्गेन बाधितं भवति, तत्र न्यायमेव। तस्मात्
 पौर्णमास्याममावास्यायां च विभज्य सूक्तवाकः प्रयोक्तव्यः—
 इति ॥ (३।२।६ अ०)॥

काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डानां काम्यमात्राङ्गताधिकारश्च ॥

ख. लिङ्गक्रमसमाख्यानात्काम्ययुक्तं समाम्नानम् ॥ १६ ॥

भा. इह काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डम् उदाहरणम्, 'इन्द्राग्नी
 रोचनादिवः, प्रवर्षणिभ्यः, इन्द्राग्नीनवतिं पुरः, स्रष्टृषुचम्'—
 इत्येवमाद्या ऋचः। अपरा अपि काम्या इष्टवः,—'ऐन्द्राग्-
 मेकादशकपालं निर्वपेत्, यस्य सजाता वियायुः, ऐन्द्राग्मेका-
 दशकपालं निर्वपेत् भ्रातृश्वान्, अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालं

* यथेत्यामिति आ० सो० पु०।

भा. निर्वपेत् सङ्ग्रामः, अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालं निर्वपेत् सपत्नमभिद्रोष्वन्—इत्येवमाद्याः । तदेता याज्यानुवाक्याः प्रति सन्द्देशः,—किं यावत् किञ्चित् ऐन्द्राग्रं कर्म, तत्र सर्वधानेन ऐन्द्राग्नेन याज्यानुवाक्यायुगलेन भवितव्यम्, उतैतस्यामेव ऐन्द्राग्रं इष्टौ काम्यावाम्?—इति । एवं वैश्वानरीययो-
र्याज्यानुवाक्ययोः, एवं सर्वत्र ।

किं तावत्प्राप्तम्?—यावत्किञ्चित् ऐन्द्राग्रं वैश्वानरीय-
मग्नीषोमीयं जातवेदसं च सर्वपैता याज्यानुवाक्या भवेयुः ।
कुतः? । लिङ्गात् । ‘ननु क्रमसमाख्याने विशेषके भविष्यतः’ ।
सत्यं, तथापि क्रमं समाख्यां च ज्ञोति लिङ्गं बाधितुम्—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—लिङ्गक्रमसमाख्यानात् तास्वेव काम्यास्त
एता याज्यानुवाक्याः—इति गम्यते, य एव हि लिङ्गक्रमः
एषां कर्मणां, स एवासां याज्यानुवाक्यानां, तेन तासामेव
ताः ज्ञेयभूताः—इति ।

‘ननु, लिङ्गं बलवत्तरम्—इत्युक्तम्’ । सत्यमेतत्, इह तु
समाख्या बलीयसी, न ज्ञेयाः समाख्यानाकृते एषां काम्यानां
कर्मणां प्राप्नुवन्ति, न भिन्नदेवानां कर्मणाम् । कुतः? । समाख्या-
मन्तरेण आसां चर्चा याज्यानुवाक्यात्वमेव न विज्ञायते, कुतः
भिन्नदेवानां कर्मणां याज्यानुवाक्या भविष्यन्ति?—इति, या
च एषां समाख्या, सा काम्यानामेव याज्यानुवाक्यात्वमाचष्टे न
सर्वेषाम् । यदि समाख्या नाद्रियते, याज्यानुवाक्यात्वमेव एषां
न भवति, यदि आद्रियते, तदा काम्यानामेव, एवं हि तत्
समाख्यायते,—काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डम्—इति ।

‘अथ किमर्थम् उभयमुपदिश्यते,—लिङ्गक्रमात्—इति, समा-
ख्यानात्—इति च’ । अस्ति तत्र पाधिह्यतीयं ज्ञातपतीयं च
कर्म, सामिधेनीकार्यमप्यस्ति, याज्यानुवाक्याकार्यमपि । यदि
लिङ्गक्रमात्—इत्येतावदेवोच्येत, सामिधेनीकार्येऽपि लिङ्गेन

भा. तासां विनियोगः स्यात् । 'अथ किमर्थं लिङ्गक्रमौ व्यपदि-
श्येते?' । सर्वा याज्यानुवाक्याकार्ये एव विनियुञ्चेरन्,
सामिधेनीषु विनियोगो न स्यात् । अथ पुनः समाख्यानात्
लिङ्गक्रमाच्च निर्दृष्टे याज्यानुवाक्याकार्ये, सामिधेनीषु विनि-
योगः सिद्धो भवति, यथा अग्निवारुण्या इष्टेः क्रमेऽतीते
सौमारौद्रीणामनागते, मनोर्हचस्ताः सामिधेनीषु धारया
इत्युच्यन्ते, तथा,—'पृथुयाजास्तं सम्बाधे'—इति दे धारये
कल्प्येते । तस्मात् उभयं व्यपदेष्टव्यम्—इति ॥ (१।२।७ अ०) ॥

अग्नीध्रोपस्थाने प्राक्तानां मन्वाणां विनियोगाधिकारश्च ॥

ख. अधिकारे च मन्त्रविधिरतदाख्येषु शिष्ट-
त्वात् ॥ २० ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'आग्नेय्या अग्नीधमुपतिष्ठते,* ऐन्द्रया
सदः, वैष्णव्या ह्यविर्धानम्—इति । तत्र सन्देहः,—किं प्रकृता-
भिरिवलिङ्गवतीभिरुपस्थातव्यम्, उत दाशतयीभ्यः एवंलिङ्गा
आगमयितव्याः ?—इति ।

किं तावत्प्राप्तम्?—प्रकरणे च मन्वो लिङ्गेन विधीयमानो
दाशतयीभ्य एवागमयितव्यः, आग्नेयी—इत्येवमादिभिर्हि शक्या
दाशतय्योऽभिवदितुम् । यश्चायं प्रकृतः, स कार्यान्तरे विनियुक्तो,
न इच्छाप्युपदेशमर्हति ; उपदिष्टोपदेशो हि न न्यास्यः
एवञ्जातीयकस्य । कथञ्जातीयकस्य ? । यः कस्मिंश्चिद्विशेषेणो-
पदिष्टः, नासौ सामान्येन लिङ्गेन अन्यत्रोपदेशमर्हति । कथं ? ।
यदि तत् लिङ्गं तस्य लक्षणत्वेन, ततः स विशिष्टो लक्ष्येत

* उपसृष्टेत् इति आ० सो० पु० ।

भा. येनानेन एवंलिङ्गेन एतत् करोति—इति, ततो नोपदिष्टो भवति; अथ उपदिश्यते,—एवंलिङ्गेन करोति—इति, ततो न लक्ष्यते, तेन उपदिष्टस्य एवञ्जातीयकस्य एवञ्जातीयकः पुनरुपदेशो न न्वाच्यः, तस्मात् दाञ्जतया लिङ्गवन्तो मखा यद्दीतव्याः ।

“ननु प्रकरणसामर्थ्यतः प्रकृता यद्दीतुम् न्याय्याः” । न—इत्युच्यते, लिङ्गं हि प्रकरणाङ्गलीयः । ‘आह, विरोधे सति लिङ्गेन प्रकरणं बाधेत, न च एतयोर्विरोधः, न वयं प्रकरणमनु-जिघृक्षन्तः प्रकृतं लिङ्गवन्तम् उपाददाना लिङ्गम् उपबाधेमहि । यदि तु प्रकृतं विलिङ्गम् उपददेमहि, ततो बाधेमाहि लिङ्गम्; उभयं सम्पादयिष्यामः प्रकरणं लिङ्गञ्च’ । नैतदेवं,—लिङ्गेन प्रत्ययो भवति, दाञ्जतयेनापि कर्त्तव्यम्—इति, दाञ्जतयोऽपि हि आग्नेयीशब्देन शक्यन्ते वदितुम्, स प्रत्ययो लिङ्गजनितो यत् मिथ्येति कल्प्यते, तत् प्रकरणानुरोधात्; स चेत् प्रकरणम् अनुबध्यते, मिथ्या—इति कल्प्यते, अथ नानुबध्नेत सम्यक्—इति, तस्मात् विरोधः; विरोधे च प्रकरणदौर्बल्यम् ।

‘उच्यते, तत् लिङ्गवन्ताग्नेनेन उपस्थानेन अनुयद्दीतव्या, न दाञ्जतयी मखव्यक्तिः, सा च प्रकृते मखे उपादीयमाने निरव-शेषा उपात्ता भवति, दाञ्जतव्यां पुनर्मखव्यक्तौ उपादीयमानायां प्रकरणात् या मखव्यक्तिः प्राप्नोति, सा बाधिता भवति, असति विरोधे । न च, इह लिङ्गप्रकरणयोर्विरोधः, प्रकरणात् व्यक्तिः प्रतीयते, लिङ्गात् सामान्यं, अन्या च व्यक्तिः, अन्यत् सामान्यम् । तस्मात् प्रकृतो लिङ्गवान् उपादेयः—इति । उच्यते, सत्यमेवमेतत् प्रकृते उपादीयमाने प्रकरणं न बाधितं भवति, लिङ्गमध्यनुगृहीतम्, लिङ्गजनितस्तु प्रत्ययः कश्चित् मिथ्या—इति कश्चितो भवति । ‘ननु व्यक्तिरपदार्थः, कथं यत्तावनु-पादीयमानायां प्रत्ययो बाधेत?’ । उच्यते, एतदेव न

भा. विज्ञानीमः लिङ्गवत्ता अपाङ्गं न वेति, किन्तु तद्धितनिर्देशोर्ध्वं, तत्र देवताया मन्त्रो लक्ष्यते, मन्त्रव्यक्तिर्हि साधनं, न सामान्यं नाम किञ्चिदपरं, देवतैव अपि सामान्यम्, यथासाधनं लक्ष्यतथम्। न च गम्यते विज्ञेयः,—अयमसौ मन्त्रो नायमसौ—इति, अनवगम्यमाने विज्ञेये सर्वे तच्छिङ्गा यद्गीतव्याः इति दास्यतव्यामपि मन्त्रव्यक्तौ भवति प्रत्ययः, स प्रकरणानुरोधेन बाधेत! इत्यन्याय्यम्। एवं सति न दास्यतव्य एव उपादातव्याः भवन्ति, प्रकृतमप्युपादहीरन्। 'नन्वेतदुक्तं, कार्यान्तरे प्रकृतस्य उपदेशो नासावर्थान्तरे उपदेश्यते'—इति। उच्यते, न नियोगतः स एव अर्थान्तरे वर्तते, स चान्यस्य सामान्येन लिङ्गेन, नैवं सति किञ्चित् दुष्यति। 'नन्वेतत् दुष्यति,—न उभयमनुगृहीतं भवति लिङ्गं प्रकरणं च'। सत्यं, न अनुगृहीतं भवति, किन्तु अननुपाद्यमेव प्रकरणं लिङ्गप्रत्ययविवक्षत्वात्। अपि च न लिङ्गं प्रकरणं वा अनुपहीतथम्—इति, तत्परिच्छिन्ने प्रवृत्तिर्भवति, बहवगम्यते,—'एतत् पश्यवत्'—इति, तत्र प्रवर्तते। 'किमतो बध्येव?'। एतदतो भवति, न लिङ्गम् अनुगृहीतं क्वचित्,—इत्यपरस्मिंस्तत्परिच्छिन्ने न प्रवृत्तिर्भवितुमर्हति। तस्मात् दास्यतव्यो यद्गीतव्याः—इति गम्यते ॥

ख. तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम् ॥ २१ ॥ (सि०) ॥

भा. तदाख्यो (उद्योतिष्ठोमसमाख्यातः) एव यद्गीतव्यः। कुतः?। प्रकरणोपपत्तिभ्याम्, प्रकृतो हि असौ, प्रकृतप्रत्ययस्य न्याय्यः। कथं?। न उद्योतिष्ठोमं प्रति मन्त्रस्य व्यापारविधानम् उपपद्यते, प्राप्तत्वादेव, व्यापारविज्ञेयविधानं तु उपपद्यते, अप्राप्तत्वात् व्यापारविज्ञेयस्य, अनपेक्ष्य च प्रकरणं दास्यतव्ये विधीयमाने वाक्यम्भिद्येत!—उपरिधानं च कुर्यात्, तच्चैवल्लिङ्गेन—इति ॥

स. अनर्थकश्चोपदेशः स्यादसम्बन्धात्फलवता, न ह्युप-
स्थानं फलवत् ॥ २२ ॥ (यु० १) ॥

भा. 'ननु च प्रकरणात् ज्योतिष्टोमस्य उपकारकं स्यात्' । यदि
उपस्थानज्योतिष्टोमसम्बन्धो विवक्ष्येत, तदा उपस्थानं ज्योति-
ष्टोमे उपदिश्येत, प्रकरणात् तेनैकवाक्यताम् इयात् । यदा
तु खलूपस्थानस्य मन्त्रसम्बन्धो विवक्ष्यते सर्वापस्थानेषु, तदा
मन्त्रः प्राप्नोति, प्रकरणं बाधित्वा, न प्रकरणं विशेषकं भवितु-
मर्हति, उभयसम्बन्धे वाक्यभेदः । अस्मत्पक्षे न पुनरर्थं दोषः,
येन आग्नेयेन ऐन्द्रेण वा ज्योतिष्टोमे व्यापारः क्रियते, तेन
उपस्थानव्यापारविशेषः तदा ज्योतिष्टोमिको* विधीयते अन्यत्
सर्वमनुस्यते—इति न दोषो भवति । अथवा अग्नीध्र-हविर्धान-
सदःसम्बन्धमात्रं विधीयते, उपतिष्ठते—इत्ययमनुवादः, अनेन
मन्त्रेण अग्नीध्रमुपतिष्ठते—इति समासीइति—इत्यर्थः । तस्मात्
प्रकृता मन्त्रा एवज्ञातीयका उपादातव्याः—इति ॥

स. सर्वेषां चोपदिष्टत्वात् ॥ २३ ॥ (यु० २) ॥

भा. यदप्युक्तमुपदिष्टा हि ते प्रकृता कार्यान्तरे—इति । तदुच्यते,
—उक्तोत्तरमेतत् । अपि च न केनचित् नोपदिष्टाः, सर्वे वाच-
स्तोमे आश्रित्वेन ब्रह्म्यमाने सर्वेऽनुस्यति, तेन न प्रकृते कश्चिदि-
शेषः । तस्मात् प्रकृतस्य एव यद्वचम् ॥ (३ । २ । ८ अ०) ॥

* ज्योतिष्टोमिक इति का० सं पु० ।

भक्षमवायां यथाशिक्षं ग्रहणादौ विनियोगाधिकारणम् ।

ख. लिङ्गसमाख्यानाभ्यां भक्षार्थताऽनुवाकस्य ॥ २४ ॥

(पू०) ॥

भा. भक्षमद्यः श्रूयते,—‘भक्षे हि मा विन्न दीर्घायुत्वाय ब्रह्मनु-
त्वाय रायस्पोषाय वर्षसे सुप्रजास्त्राय । एहि वसो पुरोवसो
प्रियो मे हृद्दोऽस्यश्रिवनोस्त्वा वाङ्मयां सध्यासं । नृचक्षसन्त्वा
देव सोम सुचक्षा अवश्लेषम् । ह्रिन्वमे गाषा हरिवोगणान्मे
मावितीतृषः, श्रिवो मे सप्तर्षीन् उपतिष्ठस्व मा मेऽवाङ्नाभि-
मतिगाः मन्द्राभिभूतिः केतुर्यज्ञानां वाग्जुषाणा सोमस्य तृप्यतु
वसुमङ्गणस्य बद्रमङ्गणस्य आदित्वमङ्गणस्य सीमदेवते मतिविदः
प्रातःसवनस्य माध्वन्दिनस्य सवनस्य तृतीयसवनस्य गायत्र-
च्छन्दसश्चिदुपच्छन्दसो जगच्छन्दसोऽग्निङ्गतइन्द्रपीतस्य नराशंस-
पीतस्य पितृपीतस्य मधुमत उपहृतस्थोपहृतो भक्षयामि’—
इत्येवमादिः । तत्र सन्देहः,—किं ह्यत्स एषोऽनुवाको भक्षणे
विनियोजनीयः, उत कश्चिदस्य अवयवोऽन्यथापि?—इति ।

किं प्राप्तम्?—लिङ्गसमाख्यानाभ्यां भक्षार्थता अनुवाकस्य,
सर्वोऽनुवाको भक्षणे विनियोजनीयः । कुतः? । भक्षयामि—
इत्येष ब्रह्मो व्यक्तं भक्षणे विनियोजनीयः, भक्षसमेष ब्रह्मोति
वदितुम्, नान्यत् किञ्चित् । अन्यानि चास्य पदानि भक्षण-
विश्लेषणवचनान्येष, यत्र यत्र भक्षयामि—इति, तत्र तत्र
प्रयुज्यन्ते ।

‘ननु एहि वसो—इत्येवमादि सध्यासम्—इत्येवमन्तं यद्-
णार्थं, स्वेन पदसमूहेन परस्पराकाङ्क्षिणा एकार्थं, विभिन्नं
भक्षणवाक्यात् । नृचक्षसम्—इत्येवमादि अवश्लेषम्—इत्येव-
मन्तमवश्लेषवचनं । ह्रिन्वमे गाषाहरिवः—इत्येवमादि च

भा. मा मेऽवाङ्नाभिमतिगाः—इत्येवमन्तं सम्यग्जरणार्थम् । तत्
बहुत्वादर्थानां, बहुनि वाक्यानि, कथमेतत् शक्यं वदितुम्
सर्वमिदमेकं वाक्यं भक्षणे विनियुष्यते—इति ।

उच्यते,—सर्वाण्येतानि भक्षणविशेषणानि—इत्युक्तम् । ‘आह
एवमपि भिद्येत वाक्यं विशेषणविशेषणाणां युगपद्वचनासम्भ-
वात्’ । उच्यते, न विशेषणानि विवक्ष्यामो, विशेषणैर्यद्दृष्टा-
वेक्षणादिभिर्विशिष्ट एकोऽर्थो विवक्ष्यते । ‘नैवं सम्यक् भवति,
विशेषणवचनानामविवक्षितस्वार्थवचनता, भक्षणविशेषणपरता
च—इति, लक्षणाया तु गम्यते ; श्रुतलक्षणाविवक्षे च श्रुत-
न्यास्या, न लक्षणा, तस्मात् न एकं वाक्यम्—इति’ ।

अथोच्यते, यस्म्यमी गृहणादयो बहुवोऽर्थो गम्यन्ते, न तु
सर्वे ईप्सिताः—इति, भक्षणमेव एकं प्रत्याययितव्यम्, तादृ-
श्रुतं, विशेषणान्यश्रुतानि, न तैः प्रतीतैः प्रयोजनं, प्रयोजनं च
यावत् पदसमूहस्य एकं, तावदेकं वाक्यम् । तस्मात् विशिष्ट-
भक्षणार्थमेतत् एकं वाक्यम्, इति भक्षणे विनियोक्तव्यम् ।
समाख्यानं च भवति,—भक्षानुवाकः—इति, हात्त्वस्य अनुवाको
नावयवः ।

‘ननु च समाख्या लौकिकः शब्दः कथं वैदिकमङ्गं निर्यस्यति’
—इति । यद्यपि लौकिकः, तथाप्यनादिः तस्यानुवाकेन
सम्बन्धः । किमतो यद्येवम् ? । एतदतो भवति, भक्षणसमभि-
व्याहृतमनुवाकं ब्रूते, समभिव्याहारास्य सति सम्बन्धे भवति,
यथा पाचको खावकः—इति समभिव्याहारात् सम्बन्धमनु-
मास्यामहे । ‘आह नानुमानगम्य एवञ्जातीयकेष्वङ्गभावो,
विधानाद्देवावगम्यते, नान्यथा, न च समाख्या विधात्री’ ।
अत्र उच्यते, समाख्या सम्बन्धिनौ बुद्धौ सन्निधिमुपनेष्यति,
प्रयोगवचनो विधास्यति—इति । तस्मात् हात्त्वोऽनुवाको भक्षणे
विनियोक्तव्यः—इति ॥

ख. तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य चोदित-
त्वात् ॥ २५ ॥ (सि०) ॥

भा. नैतदेवं,—ह्यत्थोऽनुवाको भक्षणे विनियुज्यते—इति, रूपात्
पक्षणावाक्यं यद्वेषे विनियुज्येत एहि—इत्येवमादि संधासम्—
इत्येवमन्तम् । नृचक्षसम्—इत्येवमादि च अचक्षेयसम्—इत्येव-
मन्तं दर्शने । कुतः? । मुख्यार्थमेवं तत् वाक्यं भवति, इतरथा
लक्षणार्थता स्यात्, मुख्यार्थता च न्यास्या न लक्ष्यार्थता ।

‘उचरते, विशेषणानामभिधाने, न किञ्चित् अस्ति प्रयोजनम्
—इत्युक्तम्’ । अचोचरते,—नैव एतानि विशेषणानि, पृथगेव
एतानि यद्वेषादीनि स्वैस्वैर्वाक्यैश्चरन्ते—इति । कुतः? । अस्ति
हि तैः प्रतीतैः प्रयोजनं, चोदितानि हि तानि, कानिचित्तु
पृथग्वाक्यैः, कानिचिदर्थप्राप्तानि, तान्यवश्यं प्रकाशयित्तयानि,
तानि प्रकाशयिष्यन्ति एतानि वाक्यानि ; रूपं च एषां तत्-
प्रकाशनसामर्थ्यम्, अतो नानार्थत्वात् न एकं वाक्यम् उचरते ।
‘ननु भक्षणावाक्यश्रेणीभक्तुमप्येषां रूपम्—इति’ । उचरते,
बाढमस्ति रूपं, न तु तद्विशेषणान्येतानि कल्पन्ते । कस्य
हेतोरदृष्टार्थानि तथा भवन्ति? उत्तैरनुक्तैर्वा विशेषणैस्तावानेव
सोऽर्थः, इतरथा यद्वेषादीनि प्रकाशयिष्यन्ति, तथा दृष्टार्थानि
भविष्यन्ति । तस्मात् रूपोपदेशाभ्याम् अपकर्षो भवेत् केषाञ्चित्
अच—इति ॥ (३।२।६ अ०) ॥

अथ मन्त्राभिभूतिरित्यादेः भक्षयामीत्यन्तस्य एकशस्त्रताधिकारणम् ॥

ख. गुणाभिधानान्मन्त्रादिरेकमन्त्रः स्यात् तयोरेकार्थ-
संयोगात् ॥ २६ ॥

भा. भक्षानुवाके श्रूयते,—‘मन्त्राभिभूतिः केतुर्थज्ञानां वाग्जु-

भा. वाणा सोमस्य तृप्यतु । वसुमद्गणस्य सोमदेवते मतिविदः प्रातः-
सवनस्य गायत्र्यच्छन्दसोऽघ्निकृत इन्द्रपीतस्य मधुमत उपहृत-
स्योपहृतो भक्षयामि—इति । तत्र सन्देहः,—किम् मन्त्रादिः
तृप्यतु—इत्येवमन्त एको मन्त्रः, वसुमद्गणादिरपरः, उत मन्त्रा-
दिर्भक्षयाम्यन्त एक एव मन्त्रः?—इति । किं तावत्प्राप्तम्?—द्वौ
मन्त्रौ, द्वौ ज्ञेतावयौ, अन्या तृप्तिरन्यत् भक्षणं, ततोऽर्थभेदात्
वाक्यभेदः । तदुक्तं,—‘तस्य रूपोपदेशाभ्याम् अपकर्षार्थस्य
चोदितत्वात्’—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—गुणाभिधानात् मन्त्रादिरैकमन्त्रः स्यात्—
इति, तृप्तिर्भक्षणविशेषणत्वेन अभिधीयते—इति, भक्षयामि
वाक् तर्ष्यति—इति ।

‘ननु तृप्यतु—इत्येषोऽन्यः शब्दः, अन्यस्य तर्ष्यति—इति,
एषा भविष्यन्ती क्रियायाम् उपपदभूतायां भवति—इति,
तत्र द्वयोः क्रिययोरस्ति सम्बन्धो भक्षयामि वाक् तर्ष्यति—इति,
इह पुनर्भक्षयामि तृप्यतु—इति नास्ति कश्चित् सम्बन्धः’ ।
उच्यते, न ह्ययं विधौ तृप्यतु—इति विश्चयते । क्व तर्ष्यति? ।
प्रार्थनायां वा प्राप्तकाले वा,—यदि भक्षयामि वाक् तर्ष्यति—
इति एवमभिसम्बन्धः क्रियते, यदि वा भक्षयामि वाक् तर्ष्यति—
प्राप्तः कालः—इति, तेन विशेषणविशेष्यभावात् एकार्थतायाम्
एकवाक्यत्वे मन्त्रैक्यमुपपद्यते । ‘ननु निराकाङ्क्षे एते वाक्ये
भङ्क्ता रूपं साकाङ्क्षे क्रियते’ । अत्र उच्यते,—यद्यप्येते वाक्ये
भिन्नार्थे निराकाङ्क्षे हावर्थावभिवदेयातां, तथापि भक्षणस्य
प्रकाशनं वृष्टं प्रयोजनं न तर्पणस्य, इति ज्ञात्वा ऐकार्थमेव
भवेत्, किमङ्ग पुनर्गुणभावे गम्यमाने एवात्र । तस्मात् गुणाभि-
धानात् मन्त्रादिरैकमन्त्रः स्यात्—इति ॥ (३ । २ । १० अ०) ॥

इन्द्रपीतस्येत्यादिमन्त्रानां सर्वेषु भक्षणेषु ऊहेन विनियोगाधिकारश्चम् ॥

सू. लिङ्गविशेषनिर्देशात् समानविधानेष्वनैन्द्राणाम-
मन्त्रत्वम् ॥ २७ ॥ (पू०) ॥

भा. एष एव मन्त्र उदाहरणम्,—इह च प्रदानानि ऐन्द्राणि
अनैन्द्राणि च विद्यन्ते, तेषां भक्षणान्यपि सन्ति । तत्र सन्देहः,
—किम् ऐन्द्रेषु अनैन्द्रेषु च मन्त्रः, उत ऐन्द्रेष्वेव मन्त्रः, अनैन्द्रा-
णाम् अमन्त्रकं भक्षणम्?—इति । किं तावत्प्राप्तम्? अनैन्द्राणाम्
अमन्त्रकं भक्षणम्—इति । कुतः? । समानविधानान्येतानि
प्रदानानि, तेषु 'इन्द्रपीतस्य'—इति मन्त्रोऽनिन्द्रपीतं न शक्नोति
वदितुम्, न च समानप्रकरणे ऊहः सम्भवति, अस्ति वचने
अन्यार्थानभिधानात् । तस्मात् अमन्त्रकं भक्षणम् एवञ्जाती-
यकेषु—इति ॥

सू. यथादेवतं वा तत्प्रकृतित्वं हि दर्शयति ॥ २८ ॥
(सि०) ॥

भा. अथ वा यथादेवतम् ऊहेन लक्षयितव्यम् । कस्मात्? ।
ध्रुवचमसा हि प्रकृतिभूताः । के पुनर्ध्रुवचमसाः? । ये शुक्रा-
मन्थिप्रचारे सवनमुखीयाः, ऐन्द्राः ते भवन्ति, तेषां प्रकृतिभूतं
प्रदानं, विहृतिभूतान्यन्यानि । कथम् अवगम्यते? । तत्प्रकृतित्वं
हि दर्शयति । कथं? । अनुष्टुप्कन्दसः—इति षोडशिनि
अतिरात्रे भक्षमन्त्रं नमति—इति । किमत्र दर्शनं? । नमति
—इति विपरिणामं दर्शयति ।

'ननु वचनमेतत् स्यात्' । न—इत्युच्यते, नैतत् नमति—
इति श्रूयते, कथं तर्ह्येवं नमति—इति, अनुष्टुप्कन्दसः—इति
भक्षमन्त्रं नमति—इति, स एष ऊहो विकारेषु उपपद्यते,

भा. तस्मात् एते विकाराः अतोऽनैन्द्रेष्वपि चोदकप्राप्तौ मद्य ऊहि-
तयो भवति । 'उच्यते,—विकारा एते—इति लिङ्गमपादितम्,
न्यायोऽभिधीयताम्—इति' । उच्यते,—ऐन्द्रः सोमो गृह्यते
मीयते च, तेन ऐन्द्रेषु सोमोऽनैन्द्रेषु सोम एव नास्ति—इति
सर्वे सोमधर्मा ऐन्द्रेष्वेव, अधर्मका इतरे साकाङ्गाः । कथं पुन-
र्हायते,—ऐन्द्रः सोमो गृह्यते मीयते च—इति ? । मद्यवर्णात्,
इन्द्राय त्वा वसुमतः—इत्येवमादिर्मद्य ऐन्द्रं सोमं वदितुम्
ब्रूति—इति नान्यम् । तस्मात् ऐन्द्रः सोमः, तेन ऐन्द्रेषु
सोमधर्माः, अग्नानि तु प्रदानानि साकाङ्गाणि, अतो धर्मान्
ग्रहीष्यन्ति—इति न्यायः । तस्मात् यथादेवतमूहितयो मद्यः
—इति । एवं स्थितं तावदपर्यवसितं, तत एव सति चिन्तान्तरं
वर्तिष्यते ॥ (३।२।१९ अ०) ॥

अभ्युन्नीतसोमभक्षणे इन्द्रस्याप्युपसक्त्याधिकारश्चम् ।

स. पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वेषामुपसक्त्यां द्विशेषत्वात् ॥ २६ ॥
(पू० १) ॥

भा. सन्ति पुनरभ्युन्नीताः सीमाः, मुक्रामन्धिप्रचारे एव सवन-
मुखीयाः, तेषां होतुर्वषट्कारेऽनुवषट्कारे च चतुर्भिर्मध्यतः-
कारिणां चमसैर्ज्जत्वा होत्रकाणां चमसैः सहात् सहात् वषट्कारे
एव ज्जत्वा पुनः सन्नेष्वेव पात्रेषु सोमोऽभ्युन्नीतः, एवं हि तत्र
अध्वर्युः सम्येस्यति, 'मध्यतःकारिणां चमसाध्वर्यवो वषट्हाते-
ऽनुवषट्हाते जुहुत होत्रकानां चमसाध्वर्यवः सहात्* ज्जत्वा
मुक्रस्याभ्युन्नीयोपावर्त्तधम्—इति । तत्र होत्रका नानादेवता
यजन्ति, नैत्रावरुणो मित्रावरुणौ 'मित्रं वयं हवामहे—इति,

* 'सहात्सहात्' इति का० सं० पू० ॥

भा. ब्राह्मणाच्छंसी इन्द्रं 'इन्द्र त्वा वृषभं वधम्'—इति, पोता मरुतः 'मरुतो यस्य हि जये'—इति, नेष्टा त्वष्टारं पत्नीस्य, 'अग्ने पत्नीः इन्द्रावह'—इति, आग्नीध्रोऽग्निम् 'उक्षां नायवर्षां नाय'—इति। तत्र तैत्तिरसैः पूर्वस्त्रिन् वषट्कारे इन्द्र इष्टः पुनरभ्युक्षीय मिषाववृणाद्या देवता इष्टाः, ज्ञेयः तत्र इन्द्रस्य मिषाववृणादीनां च। तत्र सन्देहः,—किं प्रस्थितदेवतायास्य इन्द्रस्य मिषाववृणादीनां उपलक्षणम्, उत इन्द्रो नोपलक्षणवितथः?—इति।

किं तावत्प्राप्तम्?—पुनरभ्युक्षीतेषु सर्वेषाम् उपलक्षणम्। कस्मात्?। द्विज्ञेषत्वात्, चमसे चमसे तत्र इयोः ज्ञेयः, प्रकृतौ यस्यै उक्तं, तच्छेषः तत्पीतः—इत्युक्तं, इन्द्रापि तद्देव वदितथम्। तस्मात् चमसे चमसे इयोः उपलक्षणम् ॥

स. अपनयाद्वा पूर्वस्य अनुपलक्षणम् ॥ ३० ॥ (पू० २) ॥

भा. अपनीतं प्रस्थितदेवतायाः ज्ञेयं मन्यामहे। कुतः?। मिषाववृणादिभ्यः तत्पाचस्थम् अभ्याश्रायते। कथमेतत्?। उच्यते,—मिषाववृणादयो हि इच्छन्ते, तत् यथा आचार्यज्ञेयं देवदत्तो भुङ्क्षानो यदि ज्ञेयं पूर्णकाय प्रयच्छन्ति, पूर्णको देवदत्तमुपलक्षयति, देवदत्तज्ञेयं भुञ्जे—इति नाचार्यज्ञेयम्। तस्मात् न प्रस्थितदेवता इन्द्र उपलक्षणवितथः—इति ॥

स. ग्रहणाद्वापनयः स्यात् ॥ ३१ ॥ (सि०) ॥

भा. नचैतदस्ति, इन्द्रो नोपलक्षणीयः—इति, तस्यापि चक्षुषी ज्ञेयः प्रत्यक्षमवगम्यते। 'ननु अपनीतः—इति'। उच्यते,—नासावपनीयते। सल्लङ्घितान् चमसानभिद्रोणकलत्रात् गृह्णाति, सज्ञेयश्चमसो लक्षणमन्यस्योक्षीयमानस्य, ततश्चमसस्यो ह्येतुम् उञ्जेतथः प्रेषितो वा। यत्तु 'यद्यमाणा देवताः प्रति आश्रा-

भा. वितः—इति । उच्यते,—आश्राव्यते तत्र देवताभ्यो नत्विदं वा तदेति, तेन बद्धोतुम् गृहीतं तत् आश्रावितम्—इति गम्यते । न च, आश्रावणवेषायां देवताभिसम्बन्धः, यत् यत् देवताभिसम्बद्धं, तत् आश्राव्यते, तस्मात् अस्ति इन्द्रश्रेयः, उच्यते च । अतः सर्वेषामुपलक्षणम्—इति । कृत्वाचिमौषा, न अत्र प्रयोजनं वक्तव्यं, पूर्वाधिकरणस्य एव एतत्प्रयोजनमवधार्यते ॥ (३।२।१२ अ०) ॥

पात्नीवतभक्षणे इन्द्रादीनामनुपलक्षणाधिकरणम् ॥

स. पात्नीवते तु पूर्ववत् ॥ ३२ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति पात्नीवतो यद्दः, यदुपांशुपाषेणाययणात् पात्नीवतं गृह्णाति—इति, द्विदेवत्यानां श्रेषा आययणस्थाख्यामुपनीताः, ततः पात्नीवतो गृह्णाते । अथ उते पात्नीवते, तच्छ्रेषे भक्ष्यमाणे भवति सन्देहः,—किम् इन्द्रवात्वादय उपलक्षयितव्या नवा?—इति । किं तावत्प्राप्तम्?—उपलक्षयितव्याः । तेषामपि असौ श्रेषो यथा प्रस्थितदेवतायाः—इति ॥

स. ग्रहणाद्वापनीतं स्यात् ॥ ३३ ॥ (सि०) ॥

भा. अपनीयते हि स श्रेष इह, न यथापूर्ववत्, तत्र हि पाषण्डक्षणात्वेन सङ्कीर्त्यते न सोमो याज्ञात्वेन, इह त्वाययणात् गृह्णाति—इति, स्थालीस्थः सोमो निर्दिश्यते होतुम्, यद्यन्माह देवतां प्रति । 'ननु स्थाल्यामाययणो नाययणश्च, तत्र यस्तस्मात् आययणात् गृह्णाते, स पात्नीवतः, यस्तु सम्पातात्सौ पात्नीवतः'—इति । उच्यते,—आययणोऽपादानं, तस्मात् योऽपैति आययणो नाययणो वा, स सर्वः पात्नीवतः, आययणाच्च एव सर्वोऽपेतः ।

भा. 'ननु अनाययणादप्यपेतः'। नैष दोषः, आययणात्तावदपेतः तेनासी पूर्वदेवताभिः पीतः—इति न ब्रह्मते वक्तुम्; यो हि इन्द्रार्थस्य सोमस्वावयवः शेषः स इन्द्रपीतः—इति प्रह्लातौ उचरते, इहापि तद्देव पूर्वदेवतार्थस्यावयवो वहितव्यः। 'ननु योऽसौ पूर्वदेवतार्थः, तस्यैवायमवयवः'। न—इति ब्रूमः, —न हि ऊतस्वावयवो दृश्यते। 'ननु प्रह्लातावपि ऊतस्वावयवो न दृश्यते'। उचरते,—ऊताऊतस्य समुदायस्य तत्र अवयव उपलक्ष्यते तद्देवतस्य। 'ननु इहापि समुदाय एवासीत् तद्देवतस्यः, तस्यैवायमवयवः'। न—इत्युचरते, आसीदयं समुदायः तद्देवतस्यः, इदानीं तस्य अवयवोऽन्यदेवतयो जातः, तेन समुदायः तद्देवत्यत्वादपेतः।

'आह पूर्वदेवतापीतस्यास्वावयव आसीत्तेन भूतपूर्वगत्वा भविष्यति'। उचरते,—प्रह्लातौ न भूतपूर्वगत्याभिधानं कृतम्, इहापि तद्देव न कर्तव्यमिति। अपि च इन्द्रदेवत्यस्तत्र 'इन्द्रपीतः'—इत्युक्तं, अनपनीता च तस्य इन्द्रदेवत्यता, अस्य पुनः पूर्वदेवतासम्बन्धोऽपगतः। तस्मात् न अत्र पूर्वदेवता उपलक्षणीयाः—इति ॥ (३।२।१३ अ०) ॥

पालीवतशेषभक्षे त्वष्टरनुपलक्षणीयताधिकारणम् ।

स. त्वष्टारन्तूपलक्षयेत्पानात् ॥ ३४ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति पालीवतः सोमः, तत्र मद्यः, 'अग्राह पालीवम्* सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब'—इति। तत्र सन्देहः,—किं त्वष्ट्रा उपलक्षयितव्यो न वा?—इति। किं प्राप्तम्?—उपलक्षयितव्यः। कुतः?। पानात्, पानं श्रूयते,—'सजूर्देवेन त्वष्ट्रा

* पालीवत् इति पाठः का० क्रो० पु०। पालीवाः इति का० सं० पु०।

भा. सोमं पिव'—इति । तेनायम् अग्नये पक्वीवते सद् त्वद्वा दीयते—इति नम्यते । अस्मै च येन सद् दीयते, उभाभ्यां तद्दीयते, एवं तत्सद्द्वयं भवति, यथा देवदत्ताय यद्दत्तेन सद् अतं दीयताम्—इत्युक्ते, तपोभाभ्यामपि दीयते ; तस्मात् इवाङ्गोऽप्यसौ सोमः—इति त्वष्टा उपलक्षयितव्यः । असावपि इन्द्र इव पिवति—इति ॥

स. अतुल्यत्वात् नैवं स्यात् ॥ ३५ ॥ (सि०) ॥

भा. नैतदेवं, ब्रह्मप्रमाणका वयं, यत् ब्रह्म आह, तदस्माकं प्रमाणं, ब्रह्मज्ञायेः पक्वीवतः पानमाह त्वष्टुः सद्भावमात्रं, न हि अननुष्ठीयमाने सद्भावः सिध्यति—इति त्वष्टरि पानमनुमीयते । 'ननु त्वष्ट्रे पानं* चोदितम्' । सत्यं, चोदितं मद्यवर्णेन, न चोदनया । चोदना हि 'पक्वीवतं गृह्णाति'—इति, लोके तु कार्यं कृद्वा चोदितम् अनुष्ठीयत एव, लोकतश्च एतत् परिच्छिन्नं, नैवज्ञातीयकेन वाक्येन, त्वष्टुः सोमः हतो भवति—इति ॥ (३।२।१४ अ०) ॥

पक्वीवतशेषभक्षे त्रिंशतामबुपलक्षणाधिकारकम् ॥

स. त्रिंशच्च परार्थत्वात् ॥ ३६ ॥

भा. तस्मिन् एव पक्वीवते मद्यः,—'येभिः अग्ने सरथं यत्सर्वाक् नानारथं वा विभवो ज्ञात्वाः । पक्वीवतस्त्रिंशतं चीञ्च देवाननु-
ष्वधभावद्वा मादयस्व'—इति । तच्च सन्देहः,—किं यच्चिंशतो

* दानमिति पाठः का० सं० पु० ॥

† चोदितमचोदितमपि इति पाठः का० सं० पु० ।

‡ माधवीये अग्निस्रधमिति पाठः । तत्र अग्निस्रधमनप्रदानमित्यर्थः ॥

भा. देवानामुपलक्षणं कर्तव्यम्, उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—
 चयस्त्रिंशत् देवानुपलक्षयेत् । कथं? । दीयते हि सोमः चय-
 स्त्रिंशते देवेभ्यः; एवं हि, 'अग्निमग्नीदधीच्छति, आयाहि
 अग्नेर्वाचीनं, चयस्त्रिंशता देवैः सह समानं रथमधिष्ठाय
 नानारथैर्वा विभवन्ति हि ते अशवाः । तदिदमनुष्वधमावह
 चयस्त्रिंशतं पत्नीवतः देवान् आगमय तर्पय च'—इति । अथ
 हि अग्निमग्नीदधीच्छति चयस्त्रिंशतो देवानां तृप्तये—इति
 गम्यते, यत्प्रधानस्य अथ मवः, तत्परः सोमः, तस्मात् उच्यते,
 —चयस्त्रिंशत् देवा उपलक्षयितव्याः—इति ।

'ननु चोदनायां पत्नीवान् केवलोऽग्निदेवतात्वेन श्रूयते' ।
 सत्यं, चोदनायां पत्नीवान् देवतात्वेन श्रूयते, न तु देवतान्तरं
 निषिध्यते । किमतो यद्येवम्? । एतदतो भवति, मास्रवार्णिकाः
 चयस्त्रिंशत् देवा अविबद्धाश्चोदनायां प्रतीयन्ते—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—न चयस्त्रिंशत् देवा उपलक्षयितव्याः—इति,
 न अथ मवे अग्निः आह्वाता परिवेष्टा वा तर्पयिता वा अधेप्यते ;
 न अथ चयस्त्रिंशत् देवेष्विष्टेषु प्रयोजनं निर्वर्त्यते । कः तर्हि
 ब्रूयः? । पत्नीवान् । कुतः एतत्? । स हि चोद्यते,—पत्नीवतं
 गृह्णाति—इति । 'ननु मास्रवार्णिकानां चयस्त्रिंशतो देवानामथ
 सङ्कीर्तनम्' । उच्यते,—परार्थत्वेन ताः सङ्कीर्त्यन्ते । कथं? ।
 न हि अप्रक्तम् अग्नेः, तत् भवति, न च परकीयस्य दानम्
 अवकल्पते । तस्मात्, त्वममूभ्यः चयस्त्रिंशत् देवताभ्यो देहीत्य-
 समङ्गसं वचनं, अग्नये त्वनेन दानम् उक्तं भवति । कथं? ।
 ईशानो हि विलम्बयति* इत्थं, तदिह विलम्बनं सङ्कीर्तयन्
 त्वमस्य ईशानः—इति प्रत्यापयति ।

* विलम्बयति इत्थं तदिह विलम्बनमिति पाठः का० सं० पु०
 एवं परच ।

भा. 'ननु माद्वस्य—इत्युच्यते, न विलम्बय—इति' । उच्यते,
—न हि माद्यन्ति देवताः, तस्मात् महकरस्यहीर्त्तनम् अदृष्टाय
स्यात्, दृष्टाय तु त्यागस्यहीर्त्तनं लक्षणाया, लक्षणा हि
अदृष्टकल्पनाया उच्यते, प्रमाणात् हि वा भवति । 'ननु
त्यागेऽपि लक्ष्यमाशेषिः कर्त्ता अधीप्यते' । तदुच्यते,—अग्नेः
अप्यशेषणाददृष्टावैव, तस्मात् अग्नेः ऐश्वर्यकरणमेतत् वाक्यं
लक्षयति—इति न्याय्यम् । अपि च पत्नीवते सोमश्चोद्यते,—
पत्नीवतं गृह्णाति—इति ।

'ननु उक्तं, माद्यवर्णिकं न प्रतिषेधति चोदना—इति' ।
उच्यते,—तदपि माद्यवर्णिकं नास्ति—इत्युक्तम् । अपि च
सामर्थ्यात् प्रतिषेधति—इति गम्यते, न हि सापेक्षः पत्नी-
वच्छब्दः, तद्धितार्थेन संलक्ष्यते, तस्मात् केवलः पत्नीवान् देवता
—इति । एतच्चोदनावज्ञेन मद्यो वर्णनीयः । तस्मात् यथैवा-
स्माभिर्वर्णितो मद्यः, तथैव भवितुमर्हति—इति पत्नीवांश्च अग्निः
अग्ने पत्नीवन्—इति सामानाधिकरण्येन निर्दिश्यते । तस्मात्
अग्निः उपलक्षयितव्यो न चयच्छिञ्चत् देवताः—इति ॥ (३ । २ ।
२५ अ०) ॥

भक्ष्येऽनुवषट्कारदेवताया अनुपलक्ष्याधिकारकम् ॥

ख. वषट्कारश्च कर्तव्यत् ॥ ३७ ॥

भा. अस्ति अनुवषट्कारदेवता, 'सोमस्याग्ने वीहीत्यनुवषट्
करोति'—इति । तत्र सन्देहः,—किमनुवषट्कारदेवता उप-
लक्षयितव्या, न वा?—इति । किं प्राप्तम्?—उपलक्षयितव्या—
इति, न तत्र पारार्थ्यं किञ्चित् पूर्ववत् उपलक्ष्यते । तस्मात्
उपलक्षयितव्या—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अनुवषट्कारदेवता
नोपलक्षयितव्या, कर्तव्यत्, यथा कर्त्ता नोपलक्ष्यते,—होतृपीत-

भा. स्यादध्युपीतस्य—इति, एवमेवानुवषट्कारदेवतापि, न हि सा प्रकृतौ उपलक्षिता, यच्च नाम प्रकृतौ कृतं, तदिह करणीयम् । तस्मात् नोपलक्षयितव्या—इति ॥ (३।२।१६ अ०) ॥

अनैन्द्राणाममश्वकभक्षयाधिकरजम् ॥ (हत्वापिन्तारूपम्) ॥

स. छन्दःप्रतिषेधस्तु सर्व्वगामित्वात् ॥ ३८ ॥

भा. स्थितादुत्तरम् उच्यते*,—नैतदस्ति,—यदुक्तमूहेन मश्वत् भक्षणं कर्त्तव्यम्—इति, अमश्वकं भक्षणं कर्त्तव्यम् । कस्मात्? । उच्यते,—समानविधानत्वात्, नास्ति अश्व प्रकृतिविह्वतिभावः । कथं? । प्रकरणस्य तुल्यत्वात्, यस्मिन्मुक्तं, छन्दःप्रतिषेधः स इत्युच्यते, तृतीयसवनत्वात् जगतीच्छन्दसः—इति प्राप्ते अनुष्टुप्छन्दसः—इति षोडश्रिणि भक्षमश्वं नमति—इति समानविधानेऽप्यवकल्पते । यत्तूक्तम्, (२६७।४ प०)—ऐन्द्रः सोमो गृह्यते मीयते च—इति, नैते ऐन्द्रा अनैन्द्राश्च भिक्षा यागाः, एकस्यैव एतेऽभ्यासविशेषाः, न चाभ्यासविशेषाणां धर्माः गुणत्वात्, सर्वे एते यागधर्माः । तेन हत्वा यागस्य चोद्यन्ते सोमधर्माः, सोमश्चेति । यच्च, इन्द्रो गृह्यते मीयते च—इति, इन्द्रस्य मश्वान्नानात् मश्वेण भक्षणं प्रकाशयितव्यम्, इतरासां देवतानाम् धानादिना—इति । तस्मात् अनैन्द्राणाम् अमश्वकं भक्षणम्—इति ॥ (३।२।१७ अ०) ॥

* उक्ताभ्यः पञ्चभ्यः हत्वापिन्ताभ्यः पूर्व्वक्षिप्तेवाधिकरखे योऽयमनिन्द्रेष्वमश्वं भक्षणमित्येवंरूपः प्रथमः पक्षः तमेव मनसि निधाव हत्वापिन्तानां अयमभिधीयते इति माधवः ।

ऐन्द्राग्रभक्षस्यामख्यताधिकारकम् ।

स. ऐन्द्राग्रे तु लिङ्गभावात् स्यात् ॥ ३९ ॥ (पू०) ॥

भा. एवं स्थिते चिन्तयते,—अस्ति तत्र ऐन्द्राग्रः सोमः,—ऐन्द्राग्रं गृह्णाति—इति । तत्र सन्देहः,—किं मख्यत् भक्षणम्, अमख्यं वा?—इति । किं प्राप्तम्?—ऐन्द्राग्रे तु मख्यः स्यात्, यस्य हि इन्द्राग्नी देवता तस्य इन्द्रः, ब्रह्मते हि स इन्द्रपीतः—इति अपदेष्टुम्, यस्य हि अवयवान्तरम् इन्द्रेण पीतं, स इन्द्रपीतः, तस्य इन्द्राग्निभ्यां पिवद्भ्यां पीतमवयवान्तरम् इन्द्रेण । तस्मात् मख्यत् भक्षणम्—इति ॥

स. एकस्मिन् वा देवतान्तरादिभागवत् ॥ ४० ॥ (सि०) ॥

भा. न अस्य अवयवान्तरम् इन्द्रेण पीयते, न च अवयवान्तरेण इन्द्रपीतेन तत्पीतं भवति, तेन पीतः—इति लक्षणाद्ब्रह्मोऽयम् इन्द्रम् उद्दिश्य यः सङ्कल्पितः इन्द्रो यस्य देवता—इति, यथैव च साकाङ्गस्य तद्वितार्थेन असम्बन्धः, एवं समासोऽपि इन्द्रपीतस्य—इति साकाङ्गस्य नावकल्पते, तदुक्तं, 'अवस्था वार्थसंयोगात् (३।१।२७ सू०)—इति ।

'आह, ननु तेनैवाधिकरणेनैतद्गतं किमर्थं पुनश्चिन्तयते'?—इति । उच्यते,—यत् तत्र विचारितं सिद्धमेव तत् । 'कथं पुनर्विचार्यते? नैव साकाङ्गस्य देवतासम्बन्धः—इति' । नैव इह देवतासम्बन्धः—इति पूर्वः पक्षः, पानमाषसम्बन्धोऽपि—इति, पानमाषसम्बन्धेन यत्र हाभ्यां पीयते, तत्रैकेन देवतासम्बन्धः—इत्युत्तरः पक्षः, तस्मात् न पुनरुक्तम्—इति ॥ (३।२।१८ अ०) ॥

गायत्रच्छन्दसः—इत्यादिमन्त्राणामनेकच्छन्दस्को विनियोगाधिकारश्चम् ।

स. छन्दश्च देवतावत् ॥ ४१ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्मिन् मन्त्रे गायत्रच्छन्दसः—इत्युच्यते, तत्र चन्द्रेहः,—
किमेकच्छन्दसि सोमे मन्त्रः, उत नानाच्छन्दस्वपि?—इति ।
उच्यते, छन्दश्च देवतावत्, यथा अन्यसहितेन्द्रे न मन्त्रः, एव-
मनेकच्छन्दस्के सोमे न स्यात् मन्त्रः—इति । अथापि हि
गायत्रच्छन्दसः—इति विशेषणस्य समासो नाधिकार्यते ॥

स. सर्वेषु वाऽभावादेकच्छन्दसः ॥ ४२ ॥ (सि०) ॥

भा. सर्वेषु वा मन्त्रः स्यात् । कुतः? । अभावादेकच्छन्दसः, नैव
कश्चित् एकच्छन्दाः सोमोऽस्ति, तेन यथाभूतोऽर्थः, तथाभूतस्य
छन्दो विशेषणं, तस्मात् अनेकच्छन्दस्के सोमे मन्त्रः स्यात्—
इति ॥ (३।२।१६ अ०) ॥

एकादशाधिकारबोद्धव्य उपसंहारः ।

स. सर्वेषां वैकमन्त्रप्रमैतिशायनस्य भक्तिपानत्वात्
सवनाधिकारो हि ॥ ४३ ॥

भा. बहुक्तम्,—अनैग्रहणम् अमन्त्रकं भक्षणम्—इति, तत् न,
सर्वेषां समन्त्रकं भक्षणम्—इति, यथासामानातश्च मन्त्रः स्वात् ।
न इन्द्रपीतः—इति सोम उच्यते, किं तर्हि? सवनं, प्रातः-
सवनशब्देन सामानाधिकारव्यात् । 'ननु सोमेऽपि षष्ठी' ।
सत्यम् अस्ति षष्ठी, न तु तेन सामानाधिकारव्यम् । नासा-
विन्द्रेण सोमः पीतः, नापि इन्द्राय दत्तः, अन्य एव पीतो
दत्तो वा, स गत एव; न चातीतः समुदायो व्यपदिश्यते,

भा. प्रत्यक्षवचनो हि अयं शब्दः; सवने तु न होषः, इन्द्रपीतं
 भवति सवनं, यत्र इन्द्रेण पीतम् । तस्मात् अनैन्द्रोऽपीन्द्रपीत-
 सवनेऽन्तर्भवति—इति शक्यते मदेण वदितुम् । शक्यत चेत्
 समानविधाने कश्चिन्नमसो न भविष्यति । भक्त्या श्चपीतः
 पीतः—इत्युच्यते । एवमेव ऐतिहायन आचार्या मन्यन्तेऽपि ।
 अस्माकमप्येतदेव मतम् । आचार्यग्रहणम्, तस्मात् आगतम्—
 इति तस्य सङ्गीर्त्यर्थम् ॥

इति श्रीशबरस्वामिनः स्मृतौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्या-
 यस्व द्वितीयः पादः ॥

तृतीये अध्याये तृतीयः पादः ।



अथोषैस्वादीनां वेदधर्मताधिकारव्यम् ॥

सू. श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात् ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘उषैर्षचा क्रियते उषैः साम्ना उपांशु यजुषा’—इति । तत्र सन्देहः,—किम् ऋगादिजातिमधिकृत्य एते ब्रह्माः प्रवृत्ताः, उत वेदमधिकृत्य?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—जाताधिकारः स्यात् । कुतः? । श्रुतेः, एषां ब्रह्मानां श्रवणादेव जातिं प्रतिपद्यामहे, तेन उपांशुत्वं जात्याऽधिकृतया सम्बध्यते, वेदानामधिकारकः ब्रह्मो नास्ति—इति । अपि च ऋग्वेदव्यतिक्रान्तानामृषां यजुर्वेदे उषैः प्रयोगो भविष्यति, इतरथा तस्या एव ऋच उभौ धर्मौ वैकल्पिकौ स्याताम्, तत्र पक्षे बाधः स्यात्; प्रकरणञ्च एवमनुगृहीतम् भवति, इतरथा वेदसंयोगे सर्वस्मिन् अपि क्रतौ उपांशुत्वं स्यात् । तस्मात् जाताधिकारा एते ब्रह्माः—इति ॥

सू. वेदो वा प्रायदर्शनात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा. वेदं वा अधिहृत्येदमुच्यते । कुतः? । प्रायदर्शनात् । किमिदं प्रायदर्शनात्—इति? । वेदप्राये वाक्ये वेदोपक्रमे निगम्यमाना इमे ब्रह्माः श्रूयन्ते, ‘प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत् स तपोऽतप्यत, तस्मात् तपस्ते पानात् चयो देवा अश्रज्यन्त अग्निर्वासु-रादित्यः, ते तपोऽतप्यन्त तेभ्यस्ते पानेभ्यः चयो वेदा अश्रज्यन्त अग्नेर्षग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात् सामवेदः’—इत्येवमुपक्रम्य निगमने इदं श्रूयते, ‘उषैर्षचा क्रियते उषैः साम्ना

भा. उपांशु यजुषा—इति ; एतस्मात् कारणादेभिः प्रकृतैरुपांशवादि कर्तव्यम्, न जात्या ऋगादिभिः—इत्युच्यते । कुतः एतद्वगम्यते ? वाक्योपसंहारे श्रुतत्वात्, यस्मादित एते वेदा जाताः, तस्मात् एतैरुपांशवादि कर्तव्यम्—इति, ऋगादिभिरपि वेदवचनैरेवोपसंहारेण भवितव्यम् ; इतरथा वाक्यमेव नावस्येत् तत्रानर्थका एव भवेयुः, तस्मात् वेदाधिकाराः—इति ॥

स. लिङ्गाच्च ॥ ३ ॥ (यु० १) ॥

भा. लिङ्गमप्यस्मिन् अर्थे भवति, यथा ऋगादयः शब्दाः श्रुतवन्ति वेदमभिवदितुम्—इति, 'ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव ईयते । यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्ये अङ्गः । सामवेदेनास्तमये महीयते । वदैरमून्यैश्चिभिरिति* सूर्यः,—इति, द्वौ वेदौ सहीर्य्य, ऋक्-शब्दं च त्रिषु पादेषु, चतुर्थे पादे उपसंहरति, वङ्गवचनेन, वेदैरमून्यैश्चिभिरिति सूर्यः—इति ऋक्शब्दं वेदवचनं दर्शयति । तस्मात् अपि पश्यामः ; वेदाधिकारा एते शब्दाः—इति ॥

स. धर्मोपदेशाच्च न हि द्रव्येण सम्बन्धः ॥ ४ ॥ (यु० २) ॥

भा. धर्मोपदेशश्च भवति साम्नः, उचैः साम्ना—इति, स वेदाधिकारपक्षे युज्यते । जाताधिकारे तु ऋच उचैस्त्वेन साम्न उचैस्त्वं सिद्धम्, नास्य सामद्रव्येण सद् सम्बन्धो वेदितव्यः, तस्मात् अपि वेदाधिकाराः—इति ॥

स. त्रयीविद्याख्या च तद्विदि ॥ ५ ॥ (यु० ३) ॥

भा. त्रयी यस्य विद्या स त्रयीविद्यः, यः त्रीन् वेदानधीते, स एव प्रख्यायते । त्रयीति त्रैष शब्द ऋक्सामयजुःषु प्रसिद्धः, यदि

* अमून्य इति का० सं० पु० ।

भा. ऋक्सामयजूषि—इति चो वेदा उच्यन्ते, एवं तद्विद्भि चवी-
विद्याया युज्यते, भवति च । तस्मात् वेदाधिकारा एते ॥

स. व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति चेत् ॥ ६ ॥ (आ०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—ऋग्वेदमतिक्रान्तानामृषां यजुर्वेदेऽप्युचैस्त्वं
भविष्यति—इति, तत्र मत्पक्षे यथाश्रुतः प्रयोगो भविष्यतीति
यदुक्तं, तत्परिहृतमिति । (अभाषानं सूत्रम्) ॥

स. न सर्वस्मिन्निवेशात् ॥ ७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैव दोषः, सर्वस्मिन् ऋग्वेदे उचैस्त्वं सर्वस्मिंश्च यजुर्वेदे
उपांशुत्वं, तत्र यदि ऋग्वेदव्यतिक्रान्ताया ऋषो यजुर्वेदे
उपांशुत्वं भवति—इति नैतद्भूष्यति; वेदधर्मः सन् ऋक्धर्मः
—इति, वेदस्य च न धर्मद्वयेन सम्बन्धः ॥

स. वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्येत ॥ ८ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. यदुक्तं,—प्रकरणमेवमनुगृहीतं भवति—इति, वेदसंयोगात्
वाक्येन प्रकरणे बाध्यमाने न दोषो भविष्यति ॥ (३।३।
१ अ०) ॥

आधाने गानस्योपांशुताधिकारश्चम् ।

स. गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः ॥ ९ ॥

भा. अस्ति आधानं,—‘य एवं विद्वानग्निमाधत्ते’—इति । तत्
याजुर्वेदिकं, तत्र सामगानमामनन्ति,—‘य एवं विद्वान् वार-
चन्तीयं गायति, य एवं विद्वान् यज्ञायज्ञीयं गायति, य एवं
विद्वान् वामदेव्यम् गायति’—इति । तत्र सन्देहः,—किमाधाने
सामगानमुख्यैः, उत उपांशु ?—इति ।

भा. उच्चैः—इति प्राप्तम्। कुतः?। सामवेदेनैतत् क्रियते यत् वारवन्तीयादिभिः, तस्मात् उच्चैरेतानि सामानि गेयानि—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—गुणानुरोधेन वा मुख्यं अतिक्रमेत्, मुख्यानु-
रोधेन वा गुणम्—इति गुणो अतिक्रमितव्यो न्यास्यः मुख्यस्या-
नुगृहीतव्यः—इति। कुतः?। मुख्यार्थत्वात् गुणस्य, गुणस्या-
नुष्ठानेन मुख्यः सगुणः कथं स्यात्?—इति गुणे प्रवर्तते,
गुणप्रवृत्त्या चेत् मुख्यस्य गुणहानिर्भवति, गुणप्रवृत्तौ फलमेव
नावाप्तं भवति। अथ प्रधानं सगुणं करिष्यामि—इति गुणे
प्रवृत्तमानो गुणस्य गुणं विनिपातयति,* नास्य स्वार्थां हीयते,
नासौ गुणं सगुणं कर्तुम् प्रवर्तते, गुणश्च सामगानं, प्रधान-
माधानं, आधानस्य याजुर्वेदिकत्वात्, उपांशुता गुणः, स गुण-
धर्ममुच्चैस्त्वं सामवैदिकं बाधते। तस्मात् उपांशु सामानि
गेयानि—इति ॥ (३।३।२ अ०) ॥

ज्योतिष्टोमस्य याजुर्वेदिकताधिकरणम् ।

ख. भूयस्त्वेन उभयश्रुति ॥ १० ॥

भा. यजुर्वेदे ज्योतिष्टोमं सामानन्ति,—‘ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो
यजेत’—इति, तथा सामवेदेऽप्यस्य एवमेव सामानानं; सहाच
ज्ञातायां बुद्धौ द्वितीयं गुणार्थं श्रवणं भवति। तच्च सन्देहः,—किं
याजुर्वेदिकमाग्नानं क्रियार्थं; सामवैदिकं गुणार्थं उत विपरी-
तम्?—इति। यतरसाग्नानं क्रियार्थं तद्गर्भा भविष्यन्ति। किं
तावत् प्राप्तम्?—सामवैदिकं क्रियार्थं याजुर्वेदिकं धेत्यनिश्चयो
विज्ञेयानवगमात्—इति ।

* विनियोजयति इति का० क्री० पु० ॥

भा. एवं प्राप्ते ब्रूमः,—भूयस्त्वेन गुणानां परिच्छिद्येत, यत्र भूयांसो गुणाः समाग्नताः, तत्र क्रियार्था चोदना—इति गम्यते, यत्र हि कर्त्तव्यतया चोदना, तत्र इतिकर्त्तव्यता आकाङ्क्षयते, यत्र चाकाङ्क्षिता इतिकर्त्तव्यता, तत्र इतिकर्त्तव्यतावचनं न्यास्यम् । ये च भूयांसो गुणाः, सा इतिकर्त्तव्यता, तदितिकर्त्तव्यतालिङ्गेन कर्त्तव्यताचोदनामनुमीमहे, यथा बह्वेषु राजप्रतिमेषु उप-विष्टेषु यस्य इवेतं कृत्वा बालव्यजनं च, स राजेत्यवगम्यते, अनाख्यातोऽपि राजलिङ्गेन । एवं कर्त्तव्यतालिङ्गेन गुणानां भूयस्त्वेन ज्योतिष्टोमस्य याजुर्वेदिकस्य चोदना अनुमीयते । तस्मात् ज्योतिष्टोमस्योपांशुप्रयोगः, यजुर्वेदेन हि ज्योतिष्टोमः क्रियते, यत्नेन चोद्यते । अचोदितं न ब्रूयते कर्त्तुम्—इति ॥ (३ । ३ । ३ अ०) ॥

प्रकरणस्य विनियोजकताधिकरणम् ।

ख. असंयुक्तं प्रकरणादितिकर्त्तव्यतार्थित्वात् ॥ ११ ॥

भा. उक्तानि विनियोगकारणाणि श्रुतिर्लिङ्गं वाक्यम्—इति । श्रुतिः एन्द्रा गार्हपत्यम्—इति द्वितीया विभक्तिः, लिङ्गं मन्त्रेषु वचनसामर्थ्यं वर्द्धिर्देवसदनं दामि—इति, वाक्यम् अरण्यया क्रीणाति—इति । अथ किमेतावन्नेव विनियोगकारणानि ? । न—इत्युच्यते, किमपरं कारणम्?—इति प्रश्नैर्नैवोपक्रमः, भवति च प्रश्नैर्नैवोपक्रमो, यथा का नामेयं नदी ? को नामार्थं पर्वतः ? किमिदं फलम्?—इति ।

तदुच्यते,—असंयुक्तं प्रकरणात्, इतिकर्त्तव्यतार्थित्वात्, यत् असंयुक्तं श्रुत्या लिङ्गेन वाक्येन वा, तत् प्रकरणात्, इतिकर्त्तव्यतार्थित्वात्; यदितिकर्त्तव्यताकाङ्क्षणः सन्निधौ पूरणसमर्थमुप-निपतति यत् वचनं, तत् तेन प्रकृतेन सहैकवाक्यतां याति ।

भा. तस्मात् प्रकृते विनियुज्यते, किमिहोदाहरणं? किं च प्रयोजनम्?—इति । दर्शपूर्णमासौ प्रकृत्य श्रूयते,—‘समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इहो यजति, वर्धिर्यजति, खाद्याकारं यजति’—इति, तानि तत्रैव प्रकरणसामर्थ्यात्* विनियुज्यन्ते, न अग्निहोत्रे ज्योतिष्टोमे वा ॥ (३।३।४ अ०) ॥

क्रमस्य विनियोजकताधिकरणम् ।

स. क्रमश्च देशसामान्यात् ॥ १२ ॥

भा. अथ किमेतावन्नेरव विनियोगकारणानि? । न,—इत्युच्यते । किं च? । क्रमश्च देशसामान्यात्,† क्रमवतामानुपूर्वेषोपदिश्यमानानां यस्य पर्याये यं धर्ममामनन्ति, तस्य तं प्रति आकाङ्क्षा अनुमीयते, सत्यामाकाङ्क्षायामेकवाक्यभावः, तस्मात् ततो विनियोगः—इति । किमिहोदाहरणम्? किं च प्रयोजनम्? । आनुपूर्ववतां यागानामनुमन्त्रणेष्वाम्नातेषु उपांशुयाजस्य क्रमे द्बिधर्नामासीति‡ समाम्नातः, तस्य आकाङ्क्षामुत्पाद्य तेन एकवाक्यतां यात्वा तत्र एव विनियोगमर्हति—इति, तथा च ऐन्द्राग्रं कर्म वियातसजातस्य अस्ति भ्यातृत्ववतः, तस्य याज्यानुवाक्यायुगलमप्याम्नायते ऐन्द्राग्रं, ‘इन्द्राग्नी रोचनादिवः प्रवर्षण्यभ्यः’—इत्येकम्, अपरं ‘इन्द्राग्नी नवतिं पुरः

* किं प्रयाजादेः फलं किं वा दर्शपूर्णमासयोरपकरणमित्याकाङ्क्षायां सम्पन्नं वाक्यैकवाक्यतारूपं प्रकरणमिति माधवः ।

† समाजदेशत्वं क्रम इति क्रमस्य स्वरूपं । तत्र द्विविधं पाठकृतमर्थकृतञ्च, तत्र पाठकृतमपि द्विविधं यथासङ्गं सन्निधिश्चेतीति माधवः । अथ उदाहरणं तत एवावगन्तव्यम् ।

‡ द्बिधर्मातकमायुधमिति माधवः ।

भा. श्लथदुत्तम्—इति । तत्र लिङ्गादिनियोगे सिद्धे विशेषविनि-
योगो भवति, पूर्वं युगलं पूर्वस्य ऐन्द्राग्रस्य, उत्तरमुत्तरस्य—
इति, एतत् उदाहरणम् प्रयोजनञ्च—इति ॥ (३।३।५ अ०) ॥

समाख्यायाः विनियोजकताधिकारणम् ॥

स. आख्या चैवं तदर्थत्वात् ॥ १३ ॥

भा. अथ किमेतावन्तेषु विनियोगकारणानि?—इति । न इत्यु-
च्यते । किं च ? । समाख्या चैवं स्यात् । कथं विनियोगकारणम् ?
—इति । समाख्या सति सम्बन्धे भवति, यथा पाचकः लावकः
—इति, तत्र पाचकशब्दमुपलभ्य पचतिना अस्य सम्बन्धः—इति
गम्यते, एवं वेदेऽपीति । अहृतकार्यसम्बन्धं समाचक्षाणं शब्दम्
उपलभ्य भवति सम्बन्धे तस्मिन् सख्यत्ययः । किमिहोदाहरणम्
प्रयोजनञ्च ? । आध्वर्यवम्—इतिसमाख्यातानि कर्माणि अध-
युंषा कर्त्तव्यानि, ह्यौचम्—इति च ह्यौचा ; एतत् उदाहरणम्
प्रयोजनञ्चेति ॥ (३।३।६ अ०) ॥

श्रुत्यादीनां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वाधिकारणम् ॥

स. श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये
पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् ॥ १४ ॥

भा. उक्तानि विनियोगकारणानि, श्रुतिर्लिङ्गं वाक्यं प्रकरणं
स्थानं समाख्यानम्—इति, तेषां समवाये किं बलीयः?—इति
चिन्तयते,—एकार्थदृष्टित्वाद्वाचो युगपत् असम्बन्धात् द्वयोर्द्वयोः
सख्यधारणा । तत्र श्रुतिलिङ्गयोः किं श्रुतिर्बलीयसी आहो-
स्त्रिलिङ्गम्?—इति । किं ? पुनः अचोदाहरणम् । 'ऐन्द्रा

भा. गार्हपत्यमुपतिष्ठते—इति, अत्र चिन्तयते,—किम्? इन्द्रस्य गार्हपत्यस्य वा उपस्थानं कर्तव्यम्—इत्यनियमः, उत गार्हपत्यस्यैव?—इति। यदि तुल्यबले एते कारणे ततो विकल्पः, अथ श्रुतिर्बलीयसी, गार्हपत्य एवोपस्थेयः ।

का पुनः अत्र श्रुतिः? किं लिङ्गम्?। श्रुतिर्गार्हपत्यशब्द-
अवर्णं, लिङ्गं पुनः, 'कदा च नस्तरीरसि नेन्द्रसस्यसि दाशुषे'
—इति इन्द्रशब्दस्य विशिष्टदेवताभिधानसामर्थ्यम्। अथ किं
वाक्यं नाम?। संहृत्य अर्थमभिदधति पदानि वाक्यम्।
'यद्येवमिदमपि वाक्यम्,—ऐन्द्रा गार्हपत्यमुपतिष्ठते—इति,
इदमपि,—कदा च नस्तरीरसीति, उभयत्रापि संहृत्य अर्थ-
मभिदधति पदानि, तेन वाक्यस्य वाक्यस्य चैषा संप्रधारणा, न
श्रुतिखिङ्गयोः, यदि वा श्रुतिखिङ्गवाक्यानि विवेक्तव्यानि, इदं
श्रुतिवाक्ययोः अन्तरम्, इदं लिङ्गवाक्ययोः—इति' ।

तदभिधीयते,—यत् तावच्छब्दस्यार्थमभिधातुम् सामर्थ्यम्,
तखिङ्गं, यदर्थस्याभिधानं शब्दस्य अवणमात्रादेवावगम्यते, स
श्रुत्यावगम्यते, अवर्णं श्रुतिः। एकार्थम् अनेकं पदं वाक्यम्
—इत्युक्तमेव। तदेतत् सर्वेष्वेव वाक्येषु समवेतं विविक्तञ्च
दृश्यते, इह तावत् कदाच नस्तरीरसि—इत्यनेन मन्त्रेण इन्द्र
उपस्थातव्यः—इति, नैतत् कस्यचित् शब्दस्य अवणादेवाव-
गम्यते, नापि शब्दान्तरस्य समीपे उच्चारितस्य सामर्थ्यम्
अस्ति, येनैतत् अवगम्येत। एतस्यां खलु षड्चि इन्द्रशब्दो
विद्यते, यो विशिष्टां देवतामवगमयितुम् शक्नोति, तथा च
अवगमितया प्रयोजनमस्ति—इति, तेन इन्द्रोपस्थाने इन्द्र-
शब्दः प्रयुज्यते, तदेकवाक्यत्वाच्चावशिष्टानि पदानि, न तु

* भो इन्द्र कदापिदपि घातको न भवसि, किन्वाऊतिं दत्तवते
यजमानाय प्रीयसे इत्यर्थं इति माधवः ।

भा. एवमस्यान्वृचि कस्यचिच्छब्दस्य सामर्थ्यात् गार्हपत्यस्य उपस्थानं भवति; अवष्टादेव तु गार्हपत्यशब्दस्य, वयमग्निं प्रतीमो न लिङ्गात्। यदि तु लिङ्गम् बलीयः, इन्द्र उपस्थातथः, यदि गार्हपत्यश्रवणं, ततो गार्हपत्यः।

एवं तर्हि लिङ्गवाक्ये विरुद्धमाने इह सम्प्रधार्ये न श्रुतिलिङ्गे, इन्द्रशब्दस्य चित्रिष्टदेवताभिधानसामर्थ्यात् इन्द्रोपस्थानं, यदि लिङ्गम् बलीयः; अथ नु वाक्यं, गार्हपत्य उपस्थेयः; वाक्यं श्येतत् ऐन्द्रा गार्हपत्यमुपतिष्ठते—इति। नैतदेवं, यद्यप्येतत् वाक्यं श्रुतिरप्यस्ति, या त्वच श्रुतिः, सा लिङ्गेन विरुध्यते, न यत् वाक्यम्। कथं?। बलीयसि अपि हि लिङ्गे, ऐन्द्रोपतिष्ठते—इत्येतत् गार्हपत्यशब्देन सचैकवाक्यतामुपैत्यैव, यदि हि नोपेयात्, ततो लिङ्गेन विरुध्यते, यस्तु गार्हपत्यश्रवणादेवार्थः प्रतीयते, स लिङ्गे बलीयसि परित्यक्तो भवति, मासावुपस्थानेन सम्बध्यते, तदा हि इन्द्रं गार्हपत्यशब्दोऽभिवदेत् अग्निसमीपं वा। अथ नु श्रुतिः प्रमाणं भवति, ततो लिङ्गेन अवगतम् इन्द्रोपस्थानं बाधेत। तस्मात् श्रुतिलिङ्गयोरेवैव विरोधो न लिङ्गवाक्ययोः—इति। अथ वा नाचैकवाक्यत्वात् इन्द्रप्राधान्यं गार्हपत्यप्राधान्यं वा उपस्थानस्य। कुतस्तर्हि?। इन्द्रशब्दवत्त्वात् मन्त्रस्य, इन्द्रप्राधान्यं, द्वितीयाविभक्तिश्रवणात् गार्हपत्यप्राधान्यं, तस्मात् श्रुतिलिङ्गयोर्विरोधः।

किं तावत्प्राप्तम्?—तुल्यबले एते कारणे—इति। कथं?। इदमपि कारणम्, इदमपि, (श्रुतिरपि लिङ्गमपि)। न हि विज्ञानस्य विज्ञानस्य च कश्चिद्विशेष उपलभ्यते रूपं प्रति, अस्य भङ्गुरस्य इव रूपम्, अस्य दृढस्य इव—इति। 'ननु लिङ्गस्य भङ्गुरस्य इव रूपं, सविचिकित्सो हि भवति लिङ्गात् प्रत्ययः, निर्वचिकित्सः अतेः'। नैतत् युक्तं, यतो लिङ्गात्

आ. सविधिकित्सः प्रत्ययः, तस्य च श्रुतेः नैव सम्प्रधारणास्ति । यतस्तु खलु लिङ्गात् निर्बिधिकित्सः प्रत्ययः स श्रुत्या विकल्पितुमर्हति । 'ननु नैव कदाचिद्विङ्गात् निर्बिधिकित्सः प्रत्ययोऽस्ति' । नैतदेवम्,—एवं हि सति नैव लिङ्गम् नाम क्वचित् प्रमाणम् अभविष्यत् । 'कामं माभूत् प्रमाणं, भवति तु संज्ञयो लिङ्गपरिज्ञातेषु अर्थेषु । यदि वा विस्पष्टमेवाप्रामाण्यं न संज्ञयः । कथं ? समर्थमेतत् इममर्थमभिनिर्वर्त्तयितुम्—इति लिङ्गादेतावत् अवगम्यते । न च, यत् यस्य निर्वर्त्तनायालं, तदसत्येव वचने तन्निर्वर्त्तयितुमर्हति, तस्मात् न लिङ्गम् विनियोजकम्—इति ।

अत्राभिधीयते,—प्रकरणवतोऽर्थस्य सञ्चिधाने यमर्थमामनन्ति, स तस्य साधनभूतः—इत्येव गम्यते, कथं खलु उपकरिष्यति ?—इति सन्दिग्धमाने भवति सामर्थ्यात् परिनिश्चयः,—यथायं समर्थः, तत्र शक्यो विनियोज्यम्—इति, तस्मात् भवति लिङ्गम् प्रमाणम्—इति । न च, लिङ्गप्रामाण्ये* विनिगमनायां हेतुः अस्ति । तस्मात् तुल्यबले एते कारणे, कदा च नस्तरीरसि—इतिलिङ्गात् इन्द्र उपस्थातथ्यः, श्रुतेर्गार्हपत्यः—इति । अविरोधात् खल्वपीममेवार्थं प्रतिपद्यामहे । बलीयानपि हेतुर्विरोधमानम् अबलीयांसम्बाधितुमर्हति नाविषङ्गम्, न च कस्यन विरोधो, यत् इन्द्रम् उपतिष्ठेतानेन मद्येण, गार्हपत्यमपि ।

'नन्वयमेव विरोधः,—सहात् उपस्थानं चोदितं, असहात् अभिनिवर्त्त्यते'—इति । 'उपस्थेयभेदात् प्रतिप्रधानमावर्त्तन्ते गुणाः'—इतिन्याय एवैव न विरोधः । 'अयं तर्हि विरोधः,—गार्हपत्ये उपस्थीयमाने अग्निवचन इन्द्रशब्दो गुणं क्रियायोगं वाऽपेक्षमाणो भवितुमर्हति, इन्द्रे तूपस्थातथ्ये निरपेक्ष इन्द्र-

* नञाच प्रामाण्ये इति क्वचित् पाठः ।

भा. वचन एव, 'गौणमुख्योश्च मुखे सम्प्रत्ययः'—इति। न—
इति ब्रूमः,—विरोधे मुखेन गौणः बाधेत, न च कश्चित्
विरोधः, युगपदभिधाने हि विरोधेवाताम्, इह च अन्यस्मिन्
प्रयोगे अग्निवचनोऽन्यस्मिन् इन्द्रवचनः। अतः तुल्यबले एते
कारणे—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अतिलिङ्गयोः अतिबलीयसी। कुतः?।
'अर्थविप्रकर्षात्'। किमिदमर्थविप्रकर्षात्—इति?। अर्थस्य
विप्रकर्षोऽर्थविप्रकर्षः। कः पुनरर्थः अत्यर्थः?। गार्हपत्यमुप-
तिष्ठते—इति सन्निल्लष्टः अत्यर्थः, इन्द्र उपस्थेयः—इति विप्र-
ल्लष्टः। कथं?। कदा च नस्तरीरसि—इत्यनेन मन्वेण इन्द्र
उपस्थातव्यः—इति न श्रूयते। सत्यपि इन्द्राभिधानसामर्थ्ये
वचनाभावात् अनुपस्थानीय इन्द्रः—इत्येव गम्यते।

'ननु इदम् उक्तं,—प्रकरणान्नानादङ्गम्—इत्यवगम्यते,
सामर्थ्यात् विनियोगः'—इति। नैतदस्ति, उक्तमेव एतत्,—
(१।२।५ सू०) धर्मस्य शब्दमूलत्वात् अशब्दमनपेक्षं स्यात्
—इति, यदेतत्प्रकरणं लिङ्गम् च उभयमध्येतदशब्दम्। न
चातिक्रान्तप्रत्यक्षविषये एवंलक्षणके अर्थे शब्दमन्तरेण परि-
च्छेदोऽवकल्पते। अतो मन्यामहे,—विप्रल्लष्टं अत्यर्थात् लिङ्गम्
—इति। 'यद्येवं अतिर्यच विरोधिनी न विद्यते, तथापि
न लिङ्गादर्थपरिच्छेदः, तत्रैतदेव नास्ति लिङ्गम् प्रमाणम्—
इति। कुतः एवैतेन अतिर्विरोत्स्यते—इति, तत्र अति-
लिङ्गयोर्बलीयस्त्वं प्रति सम्प्रधारणैव नोपपद्यत—इति ब्रूमः'।

अत्र उच्यते,—इतिकर्मव्यतार्थिनः प्रकरणवतोऽर्थस्य सन्निल्ला-
वुपनिपतितो मन्व आम्नानसामर्थ्यात् इतिकर्मव्यताकाङ्क्षस्य
वाक्यशेषतामभ्युपेत्य एतेन मन्वेण यजेत—इति। किमुक्तं
भवति?। यागेन अभीप्सिते साध्यमानेऽनेन मन्वेणोपकुर्यात्—
इति, न चान्तरेण इन्द्राभिधानम् अयं मन्व उपकृतम् शक्नोति,

भा. तेनैतदुक्तं भवति, अनेन इन्द्रोऽभिधातव्यः—इति । अतः अति-
मूल एवायमर्थः । 'यदि अतिमूलो, न अत्यन्तरेण बाधितुम्
शक्यः । तदेतत् लिङ्गं यदि वा नैव प्रमाणं, यदि वा अत्या
विकल्पितुमर्हति'—इति । नाम्यप्रमाणं भविष्यति, नापि विक-
ल्पिष्यते—इति ब्रूमः । कथं? अतिलक्षणोऽयमर्थ इत्युपपादितं,
तस्मात् न अप्रमाणम् । यतस्तु खल्वानुमानिकीमेकवाक्यतां
लिङ्गसामर्थ्यं च अपेक्ष्य औतोऽयमर्थः, यत्,—इन्द्रस्य उप-
स्थानमनेन मन्त्रेण—इत्यवगम्यते, प्रत्यक्षा तु अतिगार्हपत्यम्
उपतिष्ठते—इति, स एषोऽर्थविप्रकर्षः । प्रथमं तावत् लिङ्ग-
ज्ञानं, ततः सामर्थ्यात् ब्रह्मेन अयमर्थोऽभिहितो भवति, तदेतत्
अतिविरोधे न अवकल्पते, विस्पष्टं हि अवगतमेतत्,—अनेन
मन्त्रेण गार्हपत्य उपस्थेयः—इति, तत्र विज्ञातमेतदेवमयमु-
करोति मन्त्रः—इत्येतस्मिंश्च निर्ज्ञाते ह्यतसामर्थ्ययोर्वाक्यप्रक-
रणयोर्नैतदेवं कल्पयितुम् शक्यम्, इन्द्रोपस्थानं ब्रह्मेनाभि-
हितम्—इति । तस्मात् अर्थविप्रकर्षात् अत्या लिङ्गं बाधते
—इति ।

विकल्पस्य चान्याय्यत्वात्, अन्याय्यश्च विकल्पः, तत्र हि
अभावः पक्षे नित्यवच्च, ऐन्द्रा गार्हपत्यम् उपतिष्ठते—इति
अयमाद्ये यदभावः पक्षे परिकल्प्यते, तदस्युतं भवति, अस्युतं
च हीयते, यावांश्च अस्युतस्यार्थस्योत्सर्गं दोषः, तावान् अस्युत-
परिकल्पनायाम्, उभयत्र हि प्रसिद्धिर्बाधते । तस्मात्
अन्याय्यत्वात् विकल्पस्य अतिलिङ्गयोः अतिबलीयसी इत्यव-
गच्छामः ।

अथ यदुक्तं,—सति विरोधे न्याय्यो बाधः, न च अपास्ति
विरोधः—इति, अयमस्ति विरोधः, यदह्यतसामर्थ्ययोर्वाक्य-
प्रकरणयोः इन्द्रोपस्थानवाचिनी अतिर्भवति, ह्यतसामर्थ्ययोस्तु
नावकल्पते, न च वाक्यप्रकरणाभ्यां युगपत् ह्यतसामर्थ्याभ्याम्

भा. अज्ञातसामर्थ्याभ्यां च शक्यं भवितुम्, तस्मात् विरोधः, विरोधे च श्रुतिर्लिङ्गाद्बलीयसी—इति ।

लिङ्गवाक्ययोर्विरोधे किमुदाहरणम्?। 'स्योनन्ते सदनं ह्यणोमि धृतस्य धारया सुषेवं कल्पयामि । तस्मिन् सीदामृते प्रतिष्ठितं व्रीह्याणां मेघं सुमनस्यमानः'—इति । अथ सन्देहः, —किं ह्यत्सो मद्य उपस्तरणे पुरोडाशासादने च प्रयोक्तव्यः, उत कल्पयाम्यन्त उपस्तरणे, तस्मिन् सीदेत्येवमादिः पुरोडाशासादने?—इति । यदि वाक्यं बलीयः, ततः ह्यत्स उभयच । कथं?। सुषेवं कल्पयामि—इत्येतदपेक्ष्य, तस्मिन् सीदेत्येवमादिः पूर्वेण एकवाक्यतामुपैति,—यत् कल्पयामि, तस्मिन् सीद—इति । अथ लिङ्गं बलीयः, ततः कल्पयाम्यन्तः सदनकरणे । कथं?। स्योनन्ते सदनं ह्यणोमि—इति, सदनकरणमभिवदितुमयमलम्—इति । तस्मिन् सीदेत्ययमपि पुरोडाशं सादयितुम्—इति, सादने विनियुज्यते ।

किं तावत्प्राप्तम्?—तुल्यबले एते कारणे—इति, यथा लिङ्गं प्रति श्रुतेर्बलीयस्त्वमुक्तं, न तथा वाक्यं प्रति लिङ्गस्य उच्यते । अथ वा वाक्यमेव लिङ्गाद्बलीयः । कुतः?। तद्धि श्रुत्यापि बाध्यते, न च बलीयः कारणं शक्यते बाधितुम् । तेन अस्व भङ्गुरतामध्यवस्यामः, यस्त्वेकेन बाध्यते, शक्योऽसावग्येनापि बाधितुम्—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—लिङ्गवाक्ययोर्लिङ्गं बलीयः—इति । कुतः?। 'अर्थविप्रकर्षात्' । कोऽर्थविप्रकर्षः?। प्रकरणवतः सन्निधावाग्नात् दर्शपूर्णमासाङ्गमयं मद्यः—इत्यवगम्यते, तस्मिन् सीदेति पुरोडाशासादनाभिधानसामर्थ्यात् सादने विनियुज्यमाने ह्यतसामर्थ्यं मद्याग्नात्—इति, नास्ति प्रमाणं येनोपस्तरणेऽपि विनियुज्येत । तथा स्योनन्ते सदनं ह्यणोमि—इत्येषोऽपि प्रकरणाग्नात्सामर्थ्यादेव दर्शपूर्णमासाङ्गतामापन्नः

भा. सामर्थ्यादेवोपस्तरणे विनियोगात् कृतप्रयोजनो न पुरोडाशा-
सादने विनियोगमर्हति, न हि अस्मिन् वियुज्यमानस्य
किञ्चित् अपि प्रयोजनमस्ति । एवमुपस्तरणे तस्मिन् सीदे-
त्यस्य नास्ति सामर्थ्यम् । पुरोडाशासादनेऽपि स्योनन्ते
इत्यस्य । पूर्वेण एकवाक्यतामुपेत्योपस्तरणे सामर्थ्यं, पूर्वस्य
परेण एकवाक्यत्वात् सादने, न तु स्वरूपेण उभयोः, तदेषोऽर्थ-
विप्रकर्षः ।

यत्तु स्योनन्ते इत्यस्य प्रत्यक्षं सादनकर्मणोऽभिधानसामर्थ्यं,
तत् मुख्यम् । तस्मिन् सीदेत्यस्य पुनः पूर्वेण स हि एकवाक्यता-
मुपगतस्य भवति जघन्यं । तदत्र पूर्वस्य मन्त्रस्य अभिधान-
सामर्थ्यात् उपस्तरणे विनियोग उक्तो भवति—इति, सन्निल्लष्टो
लिङ्गस्य श्रुत्यर्थः, उत्तरस्य तु उपजनितेऽभिधानसामर्थ्ये ततः
श्रुत्यर्थः—इति लिङ्गान्तरितो विप्रल्लष्टो भवति । एवम् उत्तरस्य
सादने सन्निल्लष्टः पूर्वस्य च लिङ्गान्तरितः । तस्मात् अर्थ-
विप्रकर्षात् लिङ्गवाक्ययोर्लिङ्गं बलवत्तरम्, ततः स्योनम्—इत्येष
शब्दो यद्यपि उत्तरेण आकाङ्क्षितः—इति सादनेऽपि प्रयोग-
मर्हति, तथापि भित्वा वाक्यम् उपस्तरणे एव विनियोक्तव्यः,
तस्मिन् सीदेत्येष च सादने ।

‘ननु स्योनन्ते इत्यस्य शब्दस्य यथैव उपस्तरणाभिधान-
सामर्थ्यम्, एवम् उत्तरेण एकवाक्यतामुपगन्तुम् सामर्थ्यम्,
सामर्थ्यं च लिङ्गम्—इत्युच्यते । तस्मात् भिद्यमाने वाक्ये
लिङ्गमेव बाधितं भवति—इति* । सत्यमेवम्, एतदपि लिङ्गं,
लिङ्गमपि खल्वेतदेवंलक्षणकं विप्रल्लष्टार्थमेव भवति, लिङ्गात्
एकवाक्यता, तस्मात् अभिधानसामर्थ्यं, ततः श्रुत्यर्थः—इति
विप्रल्लष्टार्थता, विप्रल्लष्टार्थता च बाधने हेतुभूता । तस्मात् न

* बाधितं भवतीति जघन्यम् । एतदपीति पाठः का० सं० पु० ।

भा. उत्तरेणैकवाक्यतां यास्यति—इति । एवं तस्मिन् सीदेत्युत्तरं न पूर्वेषाणि ।

अपि च उत्तरेणैकवाक्यतामुपगतस्य न किञ्चित् अपि कृष्ट-
मस्ति कार्यं, उपस्तरणप्रत्यायनन्तु कृष्टम् । कुतः? । अतत्वात्
उपस्तरणस्य सादनस्य च । एवम् उत्तरस्य सादनप्रत्यायनं,
न तु पूर्वैकवाक्यतायां, न च, एतौ पूर्वोत्तराभ्याम् एक-
वाक्यतामन्तरेण पृथक् यथायथं कार्यं न कुपतः । तस्मात्
पूर्वः पूर्वच विनियोजनीयः, उत्तरः उत्तरच—इति ।

‘अथ यदुक्तं,—अत्यापि तद्बाधितम्—इति वाक्येन अपि
तद्बाधितव्यम्—इति’ । नैतदेवं, न हि बाधितस्यान्येन अपि
बाधनमेव न्यार्यं, बाधितं हि अनुगृहीतव्यमर्थवत्त्वात्, अतिं
प्रति विप्रलक्ष्यार्थम्, वाक्यं प्रति सन्निलक्ष्यार्थम्, तस्मात् लिङ्गं
बलीयः—इति ।

अथ वाक्यप्रकरणयोर्विरोधे कथम्?—इति । किं पुनः प्रक-
रणं नाम? । कर्त्तव्यस्य इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षस्य वचनं प्रकरणम् ।
प्रारम्भो हि स तस्या वचनक्रियायाः, स एष विधादि-
विधन्तापेक्षः । वाक्यनूक्तमेव । तयोर्विरोधे किमुदाहरणम्? ।
सूक्तवाकनिगदः । तत्र हि पौर्णमासीदेवता अमावास्या-
देवताश्चाग्नाताः, ताः परस्परेण एकवाक्यतां नाभ्युपयन्ति,
तत्र लिङ्गसामर्थ्यात् पौर्णमासीप्रयोगात् इन्द्राग्निश्च उल्कष्ट-
द्योगमावास्यायां प्रयोक्तव्यः । अथ इदानीं सन्निहते, योऽस्य
ज्ञेयः ‘अवीदधेतां महोऽध्यायो क्राताम्’—इति, स किं यावत्-
ह्यत्वः सूक्तवाके समाग्नातः, तावत्ह्यत्वः उभयोः पौर्णमास्य-
मावास्थयोः प्रयोक्तव्यः, प्रकरणं बलवत्तरम्—इति, उत यत्र
इन्द्राग्निश्च उल्कष्टव्य नीतः, तत्र एव प्रयोक्तव्यः, वाक्यं बल-
वत्तरम्—इति । एवं सर्वेषु संशयः ।

किं तावत्प्राप्तम्?—बुल्यबले एते कारणे—इति । कुतः? ।

भा. इतरचापि आकाङ्क्षा, इतरचापि, तुल्यायाम् आकाङ्क्षा
नास्ति विनिगमनायां हेतुः, तस्मात् तुल्यबले—इति । अथ
वा वाक्यं दुर्बलं, बाधितं हि तच्छिद्धेन ।

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः,—प्रकरणात् वाक्यं बलीयः । कथं? अर्थ-
विप्रकर्षात् । कोऽर्थविप्रकर्षः? वाक्ये एकैकं पदं विभक्त्यन्तर्गतं
साकाङ्क्षं भवति, ह्यस्त्वं परिपूर्णं भवति, तच्च प्रत्यक्ष एकवाक्य-
भावः, प्रकरणे त्वप्रत्यक्षः । कथम्? इतिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य
समीपे उपनिपतितं पूर्णमिति* तस्य प्रकृतस्य साकाङ्क्षत्वमव-
गम्यते, नैकवाक्यभूतम् इत्यनुमीयते । एकवाक्यतया चाभि-
धानसामर्थ्यमवकल्प्य अभिहितोऽयमेवं भवति—इति परि-
कल्पना । एषोऽर्थविप्रकर्षः,—यत् वाक्यस्य समासज्ञा श्रुतिः,
प्रकरणस्य विप्रकृष्टा । तस्मात् 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति'
—इति षोडशोऽक्षरानाममावास्यादेवतावाचिनां च
निष्कृष्य प्रयोगे तच्छेषाणामपि निष्कृष्य प्रयोगः, तेन यद्यपि
प्रकरणसामर्थ्यात् षोडशोऽक्षरानाममावास्या-
देवतावाचिभिः सह एकवाक्यता अनुमीयते, प्रत्यक्षा तु
अमावास्यादेवतापदैः सह, न च प्रत्यक्षविरोधे अनुमानं
सम्भवति । अर्थवति च प्रकरणे यज्ज्ञाते न निराकाङ्क्षाणाम्
आकाङ्क्षा ब्रवीत्यपवादधितुम् ।

अथ यदुक्तं,—शिद्धेनापि हि तद्बाध्यते, अतः प्रकरणेनापि
बाधितमथम्—इति, न, यदन्येनापि बाध्यते, तत् भङ्गुरमन्थ-
चापि इत्यवगन्तव्यम् । अथ भङ्गुरं, प्रमाणमेव नाभविष्यत्;
किञ्चित् तु प्रति कस्यचित् प्रभावः, वाक्यस्य प्रकरणं प्रति
बाधकशक्तिर्न तु शिद्धं प्रति, शिद्धं प्रति विप्रकृतार्थमेतत् प्रकरणं
प्रति सन्निकृष्टार्थं, तेन वाक्येन प्रकरणं बाध्यते—इति ।

* परिपूर्वमधीति आ० सो० पु० एवं का० क्री० पु० ।

भा. अथ प्रकरणस्य क्रमस्य च विरोधे किमुदाहरणम्?। राज-
सूयप्रकरणेऽभिषेचनीयक्रमे श्रौतःश्रेष्ठास्थानादि आग्नातं, यदि
प्रकरणं बलवत्, सर्वेषां तदङ्गम्, यदि क्रमः, अभिषेचनीयस्यैव ।
किं तावत्प्राप्तम्?—तुल्यबले एते कारणे—इति । कुतः?। न
तावत् विशेषमुपलभामहे, येनावगच्छाम इदं बलीयः—इति ।
तस्मात् तुल्यबले एते कारणे—इति । अपि च प्रकरणं वाक्येन
बाधितं, तस्मात् बाधेत क्रमेणापि—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—प्रकरणं क्रमात् बलीयः । कुतः?। अर्थ-
विप्रकर्षात् । कोऽत्रार्थविप्रकर्षः?। प्रकरणवतः साकाङ्क्षत्वात्
तत्सन्निधानाग्नातेन परिपूर्णेनाप्यवकल्पेत एकवाक्यत्वम्, न
तु क्रमवतः क्रमे आग्नातेन, अनेकस्याग्नायमानस्य सन्निधि-
विशेषाग्नातमात्रं हि क्रमः, तत्र सन्निधिविशेषाग्नातसाम-
र्थ्यात् क्रमवतः सन्निधावाग्नातस्यानुपलभ्यमानमेव आकाङ्क्षा-
वन्वमस्ति—इत्यवगतमथम् । प्रकरणे तु प्रकरणवतः प्रत्यक्षम्,
न च प्रकरणवता क्रमवता च यौगपदेन एकवाक्यता सम्भव-
त्याग्नातस्य—इति विरोधः । तत्र प्रकरणे प्रत्यक्षं साकाङ्क्षत्वं,
क्रमः आनुमानिकं बाधितुमर्हति, साकाङ्क्षत्वात् एकवाक्यत्वम्,
एकवाक्यत्वाद्भिधानसामर्थ्यं, सामर्थ्यात् अत्यर्थः—इति सन्नि-
च्छदः प्रकरणस्य अत्यर्थो, विप्रच्छदः क्रमस्य । तस्मात् क्रम-
प्रकरणयोः प्रकरणं बलवत्तरम्—इति ।

अथ यदुक्तं,—वाक्येनापि हि तत् बाधितम्, अतोऽन्येनापि
तत् बाधितमथम्—इति, नैतत्, बाधितस्यानुपलब्धौ न्याय्यो, न
बाधितं बाधितमथम्—इति ।

अथ क्रमसमाख्यायोर्विरोधे किमुदाहरणं? किं बलवत्तरम्?—
इति । पौरोडाशिकम्—इतिसमाख्याते काण्डे साम्नास्यक्रमे
'शुन्धर्धं दैव्याय कर्मणे'—इति शुन्धनार्थो मन्त्रः समाग्नातः ।
तत्र सन्दिच्छते,—किं समाख्यानस्य बलीयस्त्वात् पुरोडाश-

भा. पाचाणां शुब्धने विनियोक्तयः, उत क्रमस्य बलीयस्त्वात्
साम्नाय्यपाचाणाम्?—इति । किं तावत्प्राप्तम्?—तुल्यबले एते
करणे स्याताम् । कुतः? । अविज्ञेयात्, यदि वा समाख्यैव
बलीयसी, बाधितो हि क्रमः प्रकरणेनापि इति ।

एवं प्राप्ते क्रमः,—क्रमो बलीयान् । कुतः? । अर्थविप्रकर्षात् ।
कः पुनरर्थविप्रकर्षः? । निर्घाते प्रकरणेन केनापि सदैक-
वाक्यत्वे यत् सन्निधावाग्नायते, तत्र आकाङ्क्षां परिकल्प्यते,
नैकवाक्यतेत्यवगम्यते, लौकिकस्य शब्दः समाख्या, न च, लोक
एवंविधेषु अर्थेषु प्रमाणम् । तस्मात् क्रमो बलीयान्—इति ।

‘यद्येवं भवत्येवंलक्षणकेषु क्रमेण विनियोगः, न तु अर्थ-
विप्रकर्षात् क्रमो बलीयान् । कथं? । इयोर्हि प्रमाणयोर्बलीयस्त्वं
प्रति सम्प्रधारणं, नचैवं सति समाख्या प्रमाणं, लौकिकत्वात्
शब्दस्य, पुरुषस्य प्रमाणात् भवति—इति’ । नैव दोषः, न
अत्राङ्गभावः पुरुषप्रामाण्यात् गम्यते, पौरोडाशिकशब्दः एतस्य
काण्डस्य,—इत्येतदत्र पुरुषप्रमाणकं, भवति च अस्मिन् [अर्थे
पुरुषः प्रमाणं, यथा साम्नाय्यक्रमे आग्नानं पुरुषप्रमाणकम्,
यथाप्रकरणमेकवाक्यत्वं, वेदशब्दस्यायम्—इति । न हि एते-
ऽनिन्द्रियविषया अर्था उपपद्यन्ते, एष्वभियुक्तानां प्रामाण्यं, ये
त्वनिन्द्रियविषयास्तेष्वभियुक्ता न प्रमाणम् । तस्मात् समाख्या
कारणं, कारणत्वे च सति बलीयस्त्वं परीक्ष्यम्—इति ।

‘उच्यते अर्थविप्रकर्षः तर्हि वक्तव्यः समाख्यायाः’ । अयमर्थ-
विप्रकर्षः । उपदिश्यते हि क्रमे समाग्नानात् साम्नाय्यसम्बन्धो,
नोपदिश्यते समाख्यायां, शब्दमुच्चार्यमाणम् उपलभ्य अर्थापर्याया
नूनमस्ति—इति कल्प्यते । तस्मात् पूर्ववदेवार्थविप्रकर्षात्
क्रमेण साम्नाय्य बाध्यते—इति ।

‘अथ यत्तत्र तत्रोच्यते,—इदमनेन बाध्यते, इदमनेन—इति
तत्र यत् बाध्यते, तत् किं बाधकविषयं प्राप्तम् उत अप्राप्तम्?—

भा. इति । किं चातः ? । अद्यप्राप्तम्, किं बाध्यते ? । अथ प्राप्तं, किं शक्येत बाधितम् ? । प्राप्तं बाधकविषयं पूर्वविज्ञानम्—इति ब्रूमः । कथं ? । सामान्यस्य कारणस्य विद्यमानत्वात् । अथ कथं निवर्त्तते ? । मिथ्याज्ञानम्*—इति प्रत्ययान्तरं भवति । किन्तु खल्वमिथ्याज्ञानस्य स्वरूपं ? । अस्य बाधकः प्रत्ययो विमृश्यमाणस्य अपि नोपपद्यते, न तत् मिथ्या । तदेतेषां श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानानां पूर्वं, पूर्वं यत्कारणं तत्परं परं प्रति बलीयो भवति, न एतस्य उत्पन्नस्य विमृश्यमाणस्य बाधकं विज्ञानान्तरमस्ति । तस्मात् तेषां समवाये (विरोधे) परदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्—इति ॥ (३।३। ७ अ०) ॥

द्वादशोपसत्ताया अहीनाङ्गताधिकारम् ॥

स. अहीनो वा प्रकरणाङ्गीणः ॥ १५ ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमं प्रकृत्य समामनन्ति,—‘तिष्ठ एव साङ्गस्योपसदो द्वादशाहीनस्य’—इति । तत्र सन्देहः,—किं द्वादशोपसत्ता ज्योतिष्टोमे उत अहीने?—इति । किं तावत्प्राप्तम्?—ज्योतिष्टोमे—इति । कुतः ? । प्रकरणात्, एवं प्रकरणमनुगृहीतं भवति । ‘ननु वाक्येन बाध्यते’ । न बाध्यते, अहीनशब्देन ज्योतिष्टोमं वक्ष्यामः । कुतः ? । न हीयते इत्यहीनः, दक्षिणया क्रतु-करणैर्वा फलेन वा न हीयते, तेन ज्योतिष्टोमोऽहीनः । वा-शब्देन संज्ञयो निवर्त्तते ॥

* नैव निवर्त्तते मिथ्याविज्ञानमिति प्रत्ययान्तरं भवति । किन्तु खल्वपि मिथ्याज्ञानस्य स्वरूपमिति पाठः का० सं० पु० ।

† एकेन अङ्ग निष्पाद्यत्वात् साङ्गो ज्योतिष्टोमः, दीक्षादिवसादूर्ध्वं सोमाभिषवदिवसात् पूर्वं कर्त्तव्या होमा उपसद इति माधवः ।

स. असंयोगात् मुख्यस्य तस्मादपकृष्येत ॥ १६ ॥ (सि०) ॥

भा. अपकृष्येत इदं प्रोपसता । कुतः ? असंयोगात् ज्योतिष्टो-
मेन । कथम् असंयोगः ? अहीनेन एकवाक्यत्वस्य प्रत्यक्षत्वात् ।
'ननु ज्योतिष्टोमः एव गौणोऽहीनः' । न,—इत्युच्यते, न हि
मुख्यसम्भवे गौण्यद्वयमर्हति । 'ननु नञ्समासो भविष्यति' ।
न—इति ब्रूमः,—तथा सति आदुरहात्तोऽहीनशब्दोऽभविष्यत्,
मधीदात्तस्त्वबम् । तस्मात् प्रकरणं बाधित्वा अहीनस्य धर्मः ।
अपि च व्यपदेशो भवति,—तिस्र एव साङ्गस्योपसदो
इदंशाहीनस्य—इति, यद्यन्यः साङ्गोऽन्यश्चाहीनः, तत एवं
व्यपदेशोऽवकल्पते, विद्यते च व्यपदेशवचनं, तस्मात् अहीनस्य
—इति ॥ (३।३।८ अ०) ॥

कुलायादौ प्रतिपदोऽत्त्वर्वाधिकारश्चम् ।

स. द्वित्वबहुत्वयुक्तं वा चोदनात्तस्य ॥ १७ ॥ (सि०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'युवं हि स्थः सःपती—इति द्वयो-
र्यजमानयोः प्रतिपदं* कुर्यात् । एते अष्टयमिन्द्रः†—इति
बहुभ्यो यजमानेभ्यः—इति । तत्र सन्देहः,—ज्योतिष्टोमे एव
निविशेते प्रतिपदौ, उत द्वियज्ञं कश्चित्कुलायादिं बहुयज्ञश्च
द्विरावादिमुत्कृष्ये?—इति । किं प्राप्तम्?—द्वित्वबहुत्वयुक्ते
(ज्योतिष्टोमेन असंयोगात्) उत्कृष्येयातां प्रतिपदौ, न हि

* स्तोत्रस्य उपक्रमे पठनीयाष्टयं प्रतिपच्छब्दोऽभिधत्ते इति माधवः ।

† अष्टयमिन्द्रः इति पाठः आ० सो० पु० । तथा का० क्री० पु० ।
एवं उत्तरत्रापि ।

भा. ज्योतिष्टोमस्य द्वौ यजमानौ श्रूयते, यथा कुषायस्य, 'एतेन राजपरोद्धितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्'—इति ॥

स. पक्षेणार्थकृतस्येति चेत् ॥ १८ ॥ (पू०) ॥

भा. इति चेत् पश्यसि,—प्रतिपदावुत्क्रष्ट्ये—इति, नैतदेवं, प्रकरणं हि बाधेत । 'बाधताम् असंयोगात् द्वाभ्यां यजमानाभ्यां बहुभिश्च यजमानैः ज्योतिष्टोमस्य'—इति चेत् । असत्यपि वचनेर्थात् द्वौ यजमानौ भविष्यतः, य एको न ब्रह्मयति, ससहायः स उपक्रंस्यते, अवश्ययष्ट्ये सति यथा ब्रह्मते, तथा यष्ट्यम्—इति बाधित्वापि काश्चित् प्राप्तिं यजमानः सहायमुपादास्यते, एवं प्रकरणे प्रतिपदौ भविष्यतः, तस्मात् नोत्क्रष्ट्ये—इति ॥

स. न प्रकृतेरेकसंयोगात् ॥ १९ ॥ (पू० नि०) ॥

भा. प्रकृतिर्हि ज्योतिष्टोमः, प्रत्यक्षाः तत्र धर्मा आग्नाताः, न कुतश्चिदोदकेन प्राप्यन्ते । किमतः? । यद्येवं, प्रत्यक्षश्रुता न ब्रह्मा बाधितुम् । विद्यतौ तु चोदकप्राप्ताः सन्त आनुमानिका बाधेरन्—इति, विवक्षितं हि ज्योतिष्टोमे कर्तुरेकत्वं प्रत्यक्षश्रुतं न सामर्थ्येन बाधेत । यत्रापि हि अवश्यकर्तव्यता श्रूयते, तत्राप्येक एव यजमानः श्रूयते,—'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत'—इति । तस्मात् ज्योतिष्टोमात् उत्क्रष्ट्ये एते प्रतिपदौ—इति ।

'अथ कस्मात् पत्न्यभिप्रायमेतत् न भवति? एकस्यां पत्न्यां यजमाने च, युवं हि स्थः—इति, इयोर्वज्रपु वा पत्नीषु एते अष्टपमिन्दवः—इति, यथा 'क्षौमे वसानावग्निमादधीयाताम्'—इति क्षौमवसानपरं वचनम्, एवमिहापि प्रतिपदिधानपरम् । उच्यते,—असम्भवात् तत्र मुख्यस्य, लक्षणाशब्दः पंखो

भा. वाचकः खियाम्, इह तु द्वियञ्जे वज्रयञ्जे च सम्भवति न लक्षणाशब्दो भवितुमर्हति, वज्रयञ्जो यजमानेभ्यः—इति । यदप्येतत् द्विवचनं द्वयोर्यजमानयोः—इति, अत्रापि यः, एक-शेषः पुमान् खियेति असावपि लक्षणाशब्द एव । अपि च, उपास्यै गायता नर इति प्रतिपदोर्निरवकाशत्वमेव स्यात्, तस्मात् उत्क्रष्ट्ये एते प्रतिपदौ—इति सिद्धम् ॥ (३।३। ९ अ०) ॥

जाघन्या अगत्वर्षाधिकरत्नम् ।

ख. जाघनी चैकदेशत्वात् ॥ २० ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति’*—इति । तच्च संज्ञयः,—किमेतद्विधानं दर्शपूर्णमासयोः, उत पत्नी?—इति । कथं दर्शपूर्णमासयोः? कथं च पत्नी?—इति । यदि जाघन्यां पत्नीसंयाजा विधीयन्ते ततः उत्कर्षः, अथ पत्नीसंयाजेषु जाघनी विधीयते ततो दर्शपूर्णमासयोरेव । किं प्राप्तम्?—उत्कर्षः । कुतः एतत् उल्लेख्यते? । जाघन्यां पत्नी-संयाजा विधीयन्ते—इति । कथं? । शब्दात् पत्नीसंयाजानां विधानम्, वाक्येन जाघन्याः, शब्दस्य बलवान्-न वाक्यम् ।

‘ननु पत्नीसंयाजा विहिता एव’ । सत्यं विहिताः, जाघ-न्याम् इदानीं पुनर्विधीयन्ते, सा तत्सम्बद्धा कर्त्तव्येत्युच्यते । एवं सति दर्शपूर्णमासयोः पत्नीसंयाजा विनापि जाघन्या न विगुणाः, जाघनी तु तच्च प्रतिपाद्यते । तस्मात् यच्च जाघनी प्रयोजनवती तच्च तस्याः प्रतिपत्तिः, पत्नी च सा, न दर्शपूर्ण-

* जाघनी पत्नीः पुच्छं । पत्नीशब्दोऽत्र आङ्गतिचतुष्टयात्मकस्य कर्मज्ञो नामधेयैकदेश इति माधवः ।

भा. मासयोः । एकदेशश्च जाघनी प्रतिपाद्यमाना न पशुं प्रयोच्यते, तस्मात् अस्य विधानस्य उत्कर्षः—इति ॥

स. चोदना वाऽपूर्वत्वात् ॥ २१ ॥ (सि०) ॥

भा. जाघनी वा पत्नीसंयाजानां गुणत्वेन विधीयते । कुतः ? । अपूर्वत्वात्, अप्राप्ता जाघनी पत्नीसंयाजानां गुणत्वेन । तत्र खड्गदेन पत्नीसंयाजा विहितता जाघनीसम्बन्धः तेषाम् अविहितः, यत्र च सम्बन्धो विधीयते, तत्र अन्यतरस्य अन्यत्र विधानं, सम्बन्धो नाग्नरीयकः । यदा सम्बन्धस्य विधानं नाग्नरीयकौ सम्बन्धिनौ, यत्रोभौ लक्षणत्वेन, तत्र खड्गदेन सम्बन्धो विधीयते, यत्र त्वन्यतरो लक्षणत्वेन, तत्र एकं लक्षयित्वा अन्यतरो विधीयते, लक्षणत्वेन च अत्र पत्नीसंयाजाः । कथम् अवगम्यते ? । पत्नीसम्बन्धात् न सर्वो यागः, कश्चिदेव तु लक्षयते यस्य पत्नयः साधनत्वेन ।

‘अथ कस्मात् न जाघनीं लक्षयित्वा पत्नीसंयाजा विधीयते ? । न अस्य अपूर्वस्य यागस्य पत्नयः ब्रह्मणे विधातुम्, जाघन्यां तु लक्षयमाणयां यागे सपत्नीके विधीयमाने वाक्क्षम्भिद्येत । अस्ति त्वत्र विहितः सपत्नीको यागो यः पत्नीभिर्लक्षयते । तस्मात् यागं लक्षयित्वा जाघनी विधीयते । यत्तु, वाक्क्षेन जाघनीविधानं श्रुत्या यागस्य—इति, तदिह यागविधानं न सम्भवति—इत्युक्तम्, वाक्क्षभेदप्रसङ्गात्, तस्मात् जाघनीविधानम् । एवञ्चेत् दर्शपूर्णमासयोर्विना जाघन्या विगुणः पत्नीसंयाजयागः स्यात्, तस्मात् अनुत्कर्षः—इति ॥

स. एकदेश इति चेत् ॥ २२ ॥ (आभा०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—एकदेशो जाघनी न पशुं प्रयोच्यते, तस्मात् उत्कर्षः—इति, तत् परिहर्तव्यम् ॥

स. न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः ॥ २३ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. न प्रकृतौ दर्शपूर्णमासयोर्जाघनी श्राद्धेण उच्यते । एवं पञ्चोर्निष्पन्नया जाघन्या पत्नीसंयाजा यदृथाः—इति । अवि-
त्रिष्टा जाघनी विधीयते, सा सम्भवति दर्शपूर्णमासयोः क्रीत्या-
प्यानीयमाना, तस्मात् अनुत्कर्षः—इति ॥ (३।३।१० अ०) ॥

सन्तर्दनस्य संस्थानिवेशाधिकरणम् ।

स. सन्तर्दनं प्रकृतौ क्रयणवदनर्थलोपात् स्यात् ॥
२४ ॥ (पू० पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे अभिषवणफलके प्रकृत्य श्रूयते,—‘दीर्घसोमे
सन्तर्दनात् धृत्या’*—इति । तत्र सन्देहः,—किं सन्तर्दनं ज्योति-
ष्टोमे एव, आहोस्त्रिदीर्घकालेषु सोमेषु ?—इति । उच्यते,—
नैतत् सुप्तायं प्रकृतौ, तस्मात् नोत्सृज्येत—इति । ‘आह
नन्वसन्तर्दनमपि श्रूयते,—असन्तर्णे भवत—इति’ । उच्यते,—
क्रयणवत् विकल्पिष्यते, यथा ‘द्विरस्येन क्रीणाति गवा
क्रीणाति’—इत्येवमादीनां विकल्पः, एवमत्रापि विकल्पो भवि-
ष्यति,—सन्तर्दनम् असन्तर्दनं वा भविष्यति—इति ॥

स. उत्कर्षो वा, ग्रहणाद्विशेषस्य ॥ २५ ॥ (पू० सि०) ॥

भा. उत्सृज्यते वा सन्तर्दनं, गृह्यते हि विशेषो,—‘दीर्घसोमे

* सोमयागविशेषो दीर्घसोमः । अन्योन्यविद्योगेन श्रैथिल्यं मा
भूदिति दृढसंश्लेषः सन्तर्दनमिति माधवः ॥

† एते चात्र पक्षाः सम्भवन्ति,—किं मुद्ग एव ज्योतिष्टोमे निवेशः,
दीर्घयजमानके वा, अथ वा उक्थादिसंस्थाखेव, अथवा सत्राहीनयोरेव,
उत ज्योतिष्टोमान्यमात्रे? इति वार्तिकम् ॥

भा. सक्तृद्यात्—इति ; ज्योतिष्टोममपेक्ष्य सचाणि कालतो दीर्घाणि भवन्ति ॥

सू. कर्तृतो वा विशेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ २६ ॥ (आ०) ॥

भा. नोत्प्राप्येत वा सक्तृदनं ज्योतिष्टोमात् । एवं प्रकरणम् अनुगृहीतं भवति, दीर्घसोमब्रह्मश्च कर्तृतो भवित्यति,—दीर्घस्य यजमानस्य सोमो दीर्घसोमः—इति ॥

सू. क्रतुतो वार्थवादानुपपत्तेः स्यात् ॥ २७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नचैतदस्ति,—ज्योतिष्टोमे सन्निवेशः—इति, दीर्घकाले सोमे क्रियेत, क्रतुत एव दीर्घत्वं न कर्तृतः । कुतः ? । अर्थवादानुपपत्तेः, धृत्या—इत्यर्थवादो भवति, धारणायेत्यर्थः, दीर्घकाल सोमे पुनःपुनर्यावभिरभिहृन्त्यमाने सोमाभिषवणफलकयोर्द्वारणब्रह्मायाम् धृत्या—इत्यर्थवाद उपपद्यते, तस्मात् उत्कर्षः—इति ॥

सू. संस्थाश्च* कर्तृवद्धारणार्थाविशेषात् ॥ २८ ॥ (पू०) ॥

भा. इदं पदोत्तरं सूत्रम् । कानि पदानि ? । 'अथ किमर्थम् संस्थासु न निवेशः ? तथा सति प्रकरणम् अनुगृहीतम् भवित्यति, दीर्घसोमब्रह्मश्च ; दीर्घकालो हि अग्निष्टोममपेक्ष्योक्त्यादिषु संस्थासु सोमः'—इति । उच्यते,—न संस्थासु दीर्घकालत्वेऽपि सोमेत्यर्थवाद् उपपद्यते, तावानेव हि तत्र सोमो 'द्वन्नमुष्टीर्मिमीते—इति' वचनात् । तत्र धारणे न निवेशः कश्चित्, तस्मात् उत्कर्ष एव ॥

* संस्थासु इति पाठः केवसं कां सं० पु० ।

स. उक्थ्यादिषु वार्थस्य विद्यमानत्वात् ॥ २९ ॥ (सि०) ॥

भा. नचैतदस्ति,—उत्कर्षः—इति, प्रकरणानुपपत्त्यादनुत्कर्षः, दीर्घ-
सोमशब्दस्य दीर्घकालत्वात् उपपद्यते, तथाप्यधिकोऽग्निष्टोमात्
सोमः, प्रदानानि हि विवर्द्धन्ते, तान्यविष्टके प्रदेये न ब्रह्मानि
विवर्द्धयितुम्, पूर्णे च यद्दे यद्ब्रह्मदो भवन्ति, तेन न ब्रह्मानि
न्यूनानि पात्राणि यद्दीतुम् । तस्मात् दारणाब्रह्मायां धारणा-
मात्रंसितथं भवति, तत्र धृत्या—इत्युपपद्यते—इति ॥

स. अविशेषात् स्तुतिर्व्यर्थेति चेत् ॥ ३० ॥ (आ०) ॥

भा. इति चेत् पश्यसि,—संस्थास्यपि अर्थवादोऽवकल्पते प्रदेय-
विष्टक्या—इति, नैतदेवं, व्यर्थेव हि स्तुतिर्भवेत् । कुतः? ।
सोमाविशेषात्, यावानेव अग्निष्टोमे सोमः, तावानेवोक्थ्यादिषु
अपि संस्थासु, उक्थ्यादिष्वपि द्ब्रमुष्टिरेव सोमो गृहीतव्यः ।
'नन्वर्थात् प्रदेयं विवर्त्स्यति'—इति । द्ब्रमुष्टिः स कथं ब्रह्मेत
विवर्द्धयितुम्? त्रिपर्वेति च पर्वसङ्ख्यानियमात् न ब्रह्मो बड-
पर्वा यद्दीतुम्, तस्मात् धारणाविशेषादर्थवादानुपपत्तिः संस्थासु
स्यात्, तस्मात् उत्कर्षः ॥

स. स्यादनित्यत्वात् ॥ ३१ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदस्ति,—उत्कर्षः—इति, संस्थासु स्यात्, प्रकरणानु-
पपत्त्यात् । अर्थाच्च प्रदेयविष्टक्या दारणाब्रह्मायाम् अर्थवादः
उपपद्यते, केन प्रकारेण प्रदेयं विवर्द्धयते—इति, विप्रहृष्टपर्वा
सोमो यद्दीष्यते । अपि च तृतीये सवनेऽग्नुरेकोऽभिषूयते, तस्य
प्रमाणं च नाम्नातं, तमनेकपर्वाणं स्थूलपर्वाणं च यद्दीष्यति,

भा. तेन प्रदेयविष्टद्विर्भविष्यति, अतोऽर्थवादोऽवकल्पिष्यते, तस्मात्
संस्थासु* निवेशः—इति सिद्धम् ॥ (३।३।११ अ०) ॥

प्रवर्गनिषेधस्य प्रथमप्रयोगविषयताधिकरणम् ।

स. सङ्ख्यायुक्तं क्रतोः प्रकरणात् स्यात् ॥ ३२ ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे प्रवर्ग्यं प्रकृत्य समाग्नयते,—‘न प्रथमयज्ञे
प्रष्टङ्गात् द्वितीये तृतीये वा प्रष्टङ्गात्’—इति । तत्र सन्देहः,
—किं ज्योतिष्टोमे सर्वेष्वेव प्रयोगेषु न प्रवर्जितव्यम्, उत प्रथमे
प्रयोगे प्रतिषेधः?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—ज्योतिष्टोमे
प्रतिषेधः । कुतः? यज्ञसंयोगात्, प्रथमज्ञेन यज्ञोऽभिधीयते
ज्योतिष्टोमः, तस्य हि प्रथमसंयोगः, एवं समाग्नयते,—‘एष
वाव प्रथमो यज्ञानां यत् ज्योतिष्टोमो य एतेनानिहा अथान्येन
यजेत’—इति । यज्ञानां प्रथमः—इति कृत्वा प्रथमज्ञेन
ज्योतिष्टोमोऽभिधीयते, एवं च प्रकरणमनुगृह्यते, यदि क्रतोरेष
वादः । तस्मात् संख्यायुक्तः प्रतिषेधो ज्योतिष्टोमस्य प्रवर्ग्यं
प्रतिषेधेत्—इति ॥

स. नैमित्तिकं वा कर्तृसंयोगास्तिङ्गस्य तन्निमित्तत्वात् ॥

३३ ॥ (सि०) ॥

भा. न चैतदस्ति,—यज्ञस्य एष वादः—इति, चतुर्ष्वपि वेदेषु
न, प्रथमयज्ञ इत्येवंसंज्ञकः कश्चित् यज्ञोऽस्ति, भवति तु प्रथमो

* अतः अविशेषात् संस्थासु द्विरात्रादिषु च उत्कर्षः । न च
संस्थास्त्रेवेति अमितव्यम् अविशेषादेव इति शास्त्रदीपिका । नत्वत्र
संस्थास्त्रेवेत्यवधारयिष्यमित्यादि तत्र दीर्घसोमत्वाविशेषात् सत्राहीने-
ष्वपि तुल्यमिति सर्वधर्मतेत्यन्तं वार्त्तिकस्यात्रानुसर्तव्यम् ॥

भा. यज्ञस्य प्रयोगः, कर्तृसंयोगात्, पूर्वस्य द्वितीयादीनपेक्ष्य प्रथम-
शब्दो भवति, स प्रयोगस्य उपपद्यते, न क्रतोः । प्रयोगः
श्रवणात् गम्यते, क्रतुः प्रयोगसम्बद्धत्वात्, श्रुतिश्च बलीयसी न
लक्षणा । तस्मात् प्रथमे प्रयोगे न प्रवर्जितश्चम्—इति ।

अथ यदुक्तं,—ज्योतिष्टोमेन सामानाधिकरण्यात् तद्वचनः—
इति, लक्षणया सामानाधिकरण्यम्—इति तत् परिहृतम् ।
वस्तु प्रथमयज्ञः—इति यज्ञशब्देन सामानाधिकरण्यम्, तदपि
यज्ञशब्दस्य बागवचनत्वात् अस्मान्पक्षस्य अबाधकम् ॥ (३ । ३ ।
१२ अ०) ॥

पौष्णपेषणस्य विकृतौ विनियोगाधिकारणम् ।

ख. पौष्णाम्पेषणं विकृतौ प्रतीयेताचोदनात्प्रकृतौ ॥ ३४ ॥

भा. इत्पूर्वमाश्रयोः समामनन्ति,—‘तस्मात् पूषा प्रविष्टमागोऽ-
दन्तको हि सः’—इति । तत्र सन्देहः,—किं पौष्णाम्पेषणं प्रकृतौ,
उत विकृतौ?—इति । किं प्राप्तम्?—प्रकृतौ—इति । कुतः? ।
प्रकरणात् । ‘ननु प्रकृतौ पूषणं न कस्यचित् हविषो देवतां
समामनन्ति—इति’ । उच्यते, प्राकृतीं काञ्चित् देवतां पूष-
शब्दो वक्ष्यति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अत्र पौष्णं हविरस्ति, तत्र तस्य पेषणं
विधातुम् शक्यं, न च प्रकृतौ ब्रूषास्ति, तस्मात् उत्क्राष्टयं
पेषणम्—इति । यदुक्तम्,—काञ्चित् देवतां पूषशब्दो वक्ष्यति
—इति, ब्रूयात्, यद्यन्यथापि मुखः पूषा न स्मात् । ‘नन्वन्यत्र
क्रियमाणे प्रकरणम् उपरुध्येत’ । उपरुध्यतां, वाक्यं हि अस्यो-
परोधकम् । अथ वा नैव अत्र सन्देहः, एवमेव प्राप्तम् उच्यते,
—पौष्णं पेषणं विकृतौ न प्रकृताविति, नास्ति पुष्णः प्रकृतौ

भा. चोदना—इति । 'किमर्थं प्राप्तम् उच्यते?' । उत्तरत्र कथा वर्तियते ॥ (३।३।१३ अ०) ॥

पौष्णपेषणस्य चरावेव निवेशाधिकारश्चम् ।

स. तत्सर्वार्थमविशेषात् ॥ ३५ ॥ (पू०) ॥

भा. पौष्णं पेषणं प्रकृतौ श्रूयमाणं विहृतौ इत्युक्तं । तत्र सन्देहः,— किं चरौ पञ्चौ पुरोडाशे च, उत चरावेव?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—तत् सर्वत्र स्याच्चरौ पञ्चौ पुरोडाशे च । कुतः? । अविशेषात्, न कश्चिद्विशेष आश्रीयते, तस्मात् सर्वत्र—इति ।

स. चरौ वा, अर्थोक्तं पुरोडाशेऽर्थविप्रतिषेधात्पशौ न स्यात् ॥ ३६ ॥ (सि०) ॥

भा. चरौ पौष्णं पेषणं विनियुज्येत, पुरोडाशे तावत् पेषणम् अर्थादेव प्राप्नोति, नैवान्यथा पुरोडाशो भवति, तदर्थं तावत् न वचनं । पञ्चौ च न स्यात्, हृदयादिषु पिष्यमाणेषु तेषाम् आकारविनाशः स्यात् । तत्र को दोषः? । 'हृदयस्यापेक्षयति'—इति न हृदयादवदायिष्यते, तथान्यदप्यवदानं न यथा-श्रुतादवदास्यते ।

'ननु ब्रह्मते पिष्टेभ्योऽपि हृदयादिभ्योऽवहातुम्' । न—इति ब्रूमः, आकारा हृदयादयो, न मांसानि, उक्तमेतत् 'आहतिः ब्रह्मार्थः' (१।३।३३ सू०)—इति । यद्यपि पुनः तदाहतिकः क्रियते, तथाप्यस्योत्सादनप्रदेशं प्रति मुञ्च्युः, तस्मात् चरौ पौष्णं पेषणं भविष्यति इत्येवमर्थं वचनम् ॥

स. चरावपीति चेत् ॥ ३७ ॥ (आ०) ॥

भा. इति चेत् पश्यति भवान्,—अर्थविप्रतिषेधात् न पश्यन्म—

भा. इति ; ननु चरावयर्थविप्रतिषेधो, विश्वदसिद्धे ओदने चरब्रह्मदम्
उपचरन्ति, पिष्यमाणो हि पिष्टकं यवागूर्वा स्यात् खलिर्वा ॥

स. न पक्तिनामत्वात् ॥ ३८ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अचोचयते,—सत्यं विश्वदसिद्धे ओदने चरब्रह्मदः प्रयुज्यते,
विश्वदसिद्धः* चरदीयते—इति, न त्वस्य विश्वदसिद्धिर्निमित्तम् ।
यदि विश्वदसिद्धिर्निमित्तं स्यात्, न पिष्टसिद्धे प्रयुज्येत ! तथापि
हि प्रयुज्यते,—पिष्टकचरः साध्यते—इति, अतोऽन्यदेतयोः सा-
मान्यं, तन्निमित्तम्, तदेतत् उच्यते,—न पक्तिनामत्वात्—इति,
न चरौ विप्रतिषेधः । कथम् ? । पक्तिनामत्वात्, पक्तिनामैतत्,—
चरः—इति । अनवस्थावितान्तरूपमपाकेन अभिनिर्वर्यस्य भवति
चरब्रह्मदो वाचकः, तेन पिष्टे ओदने विश्वदौदने च प्रयोक्तारो
भवात्,—चरः—इति । पक्षोक्तमेव प्रयोजनम्, पूर्वपक्षे पञ्चा-
वपि पेषणं, सिद्धान्ते चरावेव ॥ (३।३।१४ अ०) ॥

पौष्णपेषणस्यैकदेवत्ये निवेशाधिकरणम् ।

स. एकस्मिन्नेकसंयोगात् ॥ ३९ ॥ (सि०) ॥

भा. पौष्णं पेषणं विहृतौ भवति चरावेव—इत्युक्तम् । अथ इदानीं
सन्दिह्यते,—किमेकदेवत्ये पौष्णे एतत् भवति, उत द्विदेवत्ये-
ऽपि ?—इति । किं द्विदेवत्य उदाहरणम् ? । राजसूये उत्तरे
त्रिसंयुक्ते सौमापौष्णे एकादशकपाले ऐन्द्रापौष्णश्चरः श्यावो
दक्षिणा—इति, तत्र ऐन्द्रापौष्ण उदाहरणम् । किं प्राप्तम् ?
—एकदेवत्यस्य एव पेषणम्—इति । कुतः ? । केवलसंयोगात्,
यथा चतुर्द्वाकरणे ॥

* चरः सिद्धः, चरदीयते इति पाठः आ० सो० ।

ख. धर्मविप्रतिषेधाच्च ॥ ४० ॥ (हे०) ॥

भा. द्विदेवत्ये विप्रतिषिधेत धर्मः, पूषणः पेषणं, न इतरस्य, तत्र यदि पूषणो भागः पिष्येत, अपिष्ट इतरस्य स्यात्, तत्र विषमः पाको भवेत्, पाकनिमित्तञ्च चरञ्चद्दः स विप्रतिषिधेत । 'अथ अविरोधं मन्यमाना अपरस्यापि भागं पिष्युः' । भागसंभोद्धः स्यात् । तत्र को दोषः ? । अन्यस्य भागोऽन्यस्मै अवदीयेत ! तथाऽप्यथान्युतं क्रियेत, तस्मात् अप्येकदेवत्ये पेषणम्—इति ॥

ख. अपि वा सद्वितीये स्याद्देवतानिमित्तत्वात् ॥ ४१ ॥
(पू०) ॥

भा. देवतानिमित्तमेतत् पेषणं श्रूयते,—पूषा प्रपिष्टभागः कर्मण्यः—इति, स च द्विदेवत्येऽपि भागे विष्यमाणे प्रपिष्टभागः क्षतो भवति, न यथा चतुर्द्वाकरणे, तत्र हि तद्वितो निरपेक्षस्य भवति, न सद्वितीयस्य, एन्द्रपीतः—इति समासोऽपि निरपेक्षस्य, न सद्वितीयस्य, इह तु प्रपिष्टञ्चद्दस्य भागञ्चद्देन सद्धान्यपदार्थो बद्धवोद्धिः समासः, एषोऽपि समर्थयोरेव, न त्वत्र द्विदेवत्ये कश्चिदेवजातीयको दोषः । तस्मात् एकदेवत्ये द्विदेवत्येऽपि वा चरावस्य भागः पेष्य एव ॥

ख. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ४२ ॥ (हे०) ॥

भा. लिङ्गमप्येवं भवति,—'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि'—इति, देवतानिमित्तं पेषणम्—इति स्तुतिर्दर्शयति । तथा 'सौमापौषणं चरम् निर्वपेक्षेमपिष्टं पशुकामः'—इति नेमपिष्टतां दर्शयति । तथा अङ्गं पिष्टमर्द्धमपिष्टं भवति द्विदेवत्वत्वाय—इति देवतानिमित्तमेव पेषणं दर्शयति ॥

स. वचनात्सर्वपेषणं तं प्रति शास्त्रवत्त्वादर्याभावात्
द्विचरावपेषणं भवति ॥ ४३ ॥ (पू० आ० नि०) ॥

भा. इदं पदोत्तरं सूचम्, नेमपिष्टं भवति—इति कस्यात् एतत्
न वचनम्?—इति, उच्यते, यदि वचनमेतत् भवेत् सौमा-
पौष्णमाचमनूद्य सर्वत्र पेषणं विदधाचरौ पशौ पुरोडाशे च,
तत्र सोमापौष्णस्य चरसम्बन्धे नेमपिष्टसम्बन्धे च उभयस्मिन्
विधीयमाने वाक्यम्भिद्येत ! तस्यात् यो यः सौमापौष्णः तत्र
तत्र नेमपिष्टता, 'तं प्रति' (सौमापौष्णमात्रं प्रति) शास्त्रवत्त्वं
अर्द्धपेषणस्य, पुरोडाशेऽर्थात् सर्वपेषणे प्राप्ते अर्थाभावाच्च पशौ
चरौ वा अपेषणे प्राप्ते वचनम् इदं भवेत् । तत्र चरस्यदो न
विवक्षितस्वार्थः स्यात्, प्रदर्शनार्थः कल्प्येत, पेषणानुवादपक्ष
पुनर्नैव विरोधो भवति, तस्यात् भवत्येव लिङ्गम् । 'ननु अङ्ग-
नाम्नभावात् पशोरपेषणम्' । न—इति ब्रूमः,—अर्द्धपेषणे न
अङ्गनाम्नः अपिष्टादवदास्यते, पेषणं च अट्टुष्टार्थम् ॥

स. एकस्मिन् वार्थधर्मत्वादैन्यामवदुभयोर्न स्यादचोदि-
तत्वात् ॥ ४४ ॥ (पू० नि०) ॥

भा. एकदेवत्ये वा पौष्णं पेषणं भवितुमर्हति, न ऐन्द्रापौष्णे ।
कुतः? । नैव देवताधर्मो विधीयते, पूष्णे भागः पिष्ट उप-
योक्तव्यः—इति । कस्य तर्हि? । अर्थस्य धर्मः । कः पुनरर्थः? ।
यागः । कथमवगम्यते? न देवताधर्मः—इति । उच्यते, न
हि तस्य भागोऽस्ति ।

'ननु यत् देवतायै दीयते, तत् तस्या भागो भवति' । उच्यते,
एतत् हि देवताम् उद्दिश्य त्यज्यते, न च त्यागमात्रेण देवता-
स्त्वं भवति, परिग्रहणेन हि स्वस्वामिसम्बन्ध आपद्यते, न च
परिगृहीतं देवत्येति किञ्चन प्रमाणमस्ति । यच्च यं भजते, स

भा. तस्य भागः, न च हविर्देवता भजते, तस्मात् नास्ति पूष्णो भागः ।

अथापि कथञ्चित् भवेत् भागः, तथापि न देवताया धर्मः पेषणं भवितुमर्हति, निःप्रयोजनो हि तथा स्यात् अयागधर्मत्वात् । 'कथं तर्हि प्रकरणान्तरे समाग्नातो यागधर्मो भविष्यति?—इति' । उच्यते, वाक्यसंयोगात् । 'ननु च देवतया एष संयोगः श्रूयते न यागेन'—इति । उच्यते,—भागाभावात् अनर्थकत्वाच्च न देवतासंयोगः—इत्युक्तम् ।

'तथापि तु यथा यागसम्बन्धो भवति, तथा वक्तव्यम् । तदुच्यते, अयमत्र पूष्णो भागः यः पूष्णमुद्दिश्य त्यज्यते, यस्य द्रव्यस्य त्यागे पूषा देवता, नचैन्द्रापौष्णे भवति पूषा देवता, न स चरः पूष्णः स्वत्वेन सम्बन्धते, तस्मात् ऐन्द्रापौष्णे न कश्चिदस्ति पूष्णश्चरणा सम्बन्धः, केवले तु पूष्णि देवताभूते तस्मै सङ्कल्पितो भागो भवति । कथं? । यमुद्दिश्य सङ्कल्पो भवति स तस्य भागः—इति प्रसिद्धिरेषा, तेन यद्यपि पूषा स्वेनोच्चारणेन इन्द्रापूष्णोः उपकारकमुच्चारणं कुर्वन् उपकारको भवेत्, तथापि न तस्य द्विदेवत्यो भागः—इत्युच्यते, असङ्कल्पनात् । केवले पूष्णि देवतायां चरोः पेषणं क्रियते, न ऐन्द्रापौष्णेषु द्विदेवत्येषु—इति ॥

ख. हेतुमात्रमदन्तत्वम् ॥ ४५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. यदुक्तम्,—अदन्तको हि—इति देवताधर्मं दर्शयति—इति; अथवाद् एष इतरस्मिन् अपि पक्षे उपपद्यते ॥

ख. वचनं परम् ॥ ४६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ अपरं यत्कारणम् उक्तं,—नेमपिष्टम्—इति द्विदेवत्ये पेषणं दर्शयति, अर्द्धपिष्टं भवत्यर्द्धमपिष्टं द्विदेवत्यत्वायेति

भा. देवताधर्मं दर्शयति—इति ; अचोच्यते, एवं सति वचनमिदम-
 प्राप्ते भवतीति । 'नन्वनेकार्थविधानमेकं वाक्यं प्राप्नोति' ।
 उच्यते, सति पक्षान्तरे अनेकार्थविधिः पक्षान्तराश्रयणेन
 परिह्रियते, असति पुनः पक्षान्तरे उच्चारणार्थक्यप्रसङ्ग-
 परिजिहीर्षयाऽनेकार्थं वाक्यमभ्युपगन्तव्यं भवति । तस्मात् न
 द्विदेवत्ये पेषणम्—इति सिद्धम् ॥ (३।३।१५ अ०) ॥

इति श्रीशिवरत्नामिनः ज्ञातौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्या-
 यस्य तृतीयस्वरणः समाप्तः ॥

तृतीये अध्याये चतुर्थः पादः ।

अथ निवीतस्यार्थवादताधिकारकम् ।



घ. निवीतमिति मनुष्यधर्मः शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ॥

१ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोराम्नातं,—‘निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितृणामुपवीतं देवनामुपच्यवते देवलक्ष्ममेव तत् कुर्वते’—इति । निवीतं मनुष्याणाम् इत्यत्र सन्देहः,—किमर्थं विधिरतार्थवादः?—इति । यदा विधिः, तदा किमर्थं पुरुषधर्मः उत कर्मधर्मः? । अथ यत्प्रकरणे मनुष्याणां, तत्र विधिः, उत मनुष्यप्रधाने कर्मणि निविद्यते?—इति ।

किं प्राप्तम्?—विधिर्मनुष्यधर्मस्य—इति, यदि विधिरेवम-पूर्वमर्थं विदधदर्थवान् भवति, इतरथा अर्थवादमात्रम् अन-र्थकम् । विधिश्चेत् पुरुषधर्मो ‘निवीतं मनुष्याणाम्’—इति पुरुषप्रधानो निर्देहः । कथमवगम्यते? । न अत्र मनुष्या विधीयन्ते, मनुष्याणाम् निवीतं विधीयते, न चाविहितम् अङ्गम् भवति, यदि मनुष्या अपि विधीयेरन् वाक्यम्भिद्येत । तस्मात् निवीतं मनुष्याणाम् उपकारकम् ।

‘ननु प्रकरणात् दर्शपूर्णमासयोः उपकारकम् । प्रकरणात् हि वाक्यं बलवत्तरम् । अपि च गुणभूतेषु मनुष्येषु कारक-सम्बन्धस्य विवक्षितत्वात् तृतीया भवेत्, षष्ठी त्वेषा सम्बन्ध-लक्षणा, तत्र गुणभूतेषु मनुष्येषु मनुष्यग्रहणं नैव कर्त्तव्यम् स्यात्, मनुष्यैरेव तत् क्रियमाणं क्रियेत, मनुष्यप्रधानपक्षे तु कर्त्तव्यम् ॥

स. अपदेशो वा, अर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥ २ ॥ (आ०) ॥

भा. अपदेशः—इति ज्ञायमानस्य वचनम् । स एष न विधिः अनुवाद एषः । कुतः ? । अर्थस्य विद्यमानत्वात् । प्राप्त एवार्था, —यत् निवीतं मनुष्याणाम्, निवीतं हि मनुष्याः प्रायज्ञः स्वार्थं कुर्वन्ति, तस्मात् अनुवादः ॥

स. विधिस्त्वपूर्वत्वात् स्यात्* ॥ ३ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. विधिरेव भवेत्. तथा प्रयोजनवान्, इतरथा वादमात्रम् अनर्थकम्. पूर्ववान् अनुवादो भवति, अयं त्वपूर्वो,—यत् नियमेन निश्चातव्यम्—इति ॥

स. स प्रायात्कर्मधर्मः स्यात् ॥ ४ ॥ (२य पू०) ॥

भा. यदुक्तं,—विधिः इति, एतत् गृह्यते, यत्तु मनुष्यधर्मः—इति, तत् नानुमतम् ; क्रतुधर्मोऽयं प्रकरणात्, प्रकृत्य एव हि कर्मप्रायेषु धर्मेषु उच्यमानेष्वेतदभिधीयते, तस्मात् कर्मधर्मः ॥

स. वाक्यशेषत्वात् ॥ ५ ॥ (२य पू० यु०) ॥

भा. निवीतं मनुष्याणाम् इत्यस्य वाक्यशेषः समाख्या,—आध्वर्यवम्—इति, यदि दर्शपूर्णमासयोः शेषः, ततोऽध्वर्युणा कर्तव्यम्, तत्र समाख्याऽनुगृहीष्यते ॥

स. तत्प्रकरणे, यत्तत्संयुक्तमविप्रतिषेधात् ॥ ६ ॥
(३य पू०) ॥

भा. 'उच्यते,—प्रकरणात् समाख्यानाच्च कर्मधर्मो विज्ञायते,

* विधिस्तु पूर्ववत्त्वात् स्यादिति पाठः का० सं० पू० ॥

भा. वाक्यात् मनुष्यधर्मः, तस्मात् उत्कर्षमर्हति'। न—इति ब्रूमः,
—प्रकरणे एवाभिनिविष्टमानस्य मनुष्यप्रधानतावकल्पिष्यते ।
कथं?। यत् दर्शपूर्णमासयोर्मनुष्यप्रधानं, तच्च निवेद्यतेऽन्वा-
हार्यकर्मणि, प्रकरणं च एवमनुष्यहीन्यते, वाक्यञ्च ॥

ख. तत्प्रधाने वा तुल्यवत्प्रसङ्गानादितरस्य तदर्थत्वात् ॥

७ ॥ (४र्थ पू०) ॥

भा. न एतदस्ति,—प्रकरणे निवेष्टः—इति, मनुष्यप्रधाने कर्मणि
निवीतं स्यात् आतिथ्ये । कुतः?। तुल्यवत्प्रसङ्गानात्, तुल्यानि
च एतानि प्रसङ्गायन्ते । यस्मावत्, उपवीतं देवतानामुपपद्यते
—इति, तत्प्रकृतयोर्दर्शपूर्णमासयोः उपवीतं विदधाति । यत्
प्राचीनावीतं पितृणाम्—इति, तत् पितृप्रधाने कर्मणि प्राची-
नावीतं विदधाति । यदप्येतत्, निवीतं मनुष्याणाम्—इति,
तदप्यातिथ्ये निरपेक्षं विदधाति । 'कथं गम्यते?—मनुष्य-
प्रधाने विदधाति—इति' । मनुष्याणाम्—इति षष्ठ्यन्तेन
सम्बन्धात् । 'मनुष्याणामेव प्राप्नोति, न मनुष्यप्रधाने' ।
उच्यते, मनुष्याणाम् कल्प्यमाने फलं कल्पनीयं, मनुष्यप्रधाने
पुनः षष्ठी भविष्यति, सम्बन्धश्च एवमवकल्पिष्यते, फलं च एवं
न कल्पनीयम्, तदुक्तं, (२।१।४३ सू०)—समेषु वाक्यभेदः
स्यात्—इति ।

'ननु मनुष्यप्रधानेन सहैकवाक्यतां प्राप्तम्, पुनः प्रकृताभ्यां
दर्शपूर्णमासाभ्यामेकवाक्यतां यास्यति' । न हि द्वौ सम्बन्धौ
एकस्मिन् वाक्ये विधीयते, भिद्येत हि तथा वाक्यम् । इतरस्य
मनुष्यदृष्टस्य निवीतसम्बन्धार्थत्वात्, तेनैव सहैकवाक्यता
भविष्यति प्रत्यक्षेण शब्देन, तदेकवाक्यतया च अर्थवत्त्वे सति
न प्रकृतेन एकवाक्यता अवकल्प्यते । तस्मात् प्रकरणं बाधित्वा
आतिथ्ये निवेद्यते—इति ॥

ख. अर्थवादो वा प्रकरणात् ॥ ८ ॥ (सि०) ॥

भा. नैतदस्ति,—विधिः स च मनुष्यप्रधाने कर्मणि—इति ।
मनुष्याणाम्—इति मनुष्यसम्बन्धोऽत्र श्रूयते, न मनुष्यप्रधानेन
कर्मणा सम्बन्धः, मनुष्यप्राधान्ये च सति फलं कल्पनीयम् ;
आतिथ्यकर्मणा त्वनिर्दिष्टेन अप्रकृतेन अनुभवेन सम्बन्धेत ।
तत्र को दोषः? । प्रकरणात् उत्पद्येत सम्भवन् तत्र । 'कथं
सम्भवः?—इति चेत्' । अर्थवाद एषः स प्रकृतं स्तुवन् प्रकरणे
सम्भविष्यति, विधिः सन् उत्पद्येत । तस्मात् न विधिर्मनुष्य-
प्रधाने कर्मणि—इति ॥

ख. विधिना चैकवाक्यत्वात् ॥ ९ ॥ (यु०) ॥

भा. इतश्च न विधिः । कुतः? । विधिना एकवाक्यत्वात्,—
'उपच्ययते देवस्तस्यमेव तत्कुरुते'—इत्येष विधिः, अनेनास्य
सचैकवाक्यता भवति, यदि इतरोऽपि विधिः स्यात्, वाक्य-
म्भिद्येत, न हि विधेश्च विधेश्चैकवाक्यता भवति, वचनव्यक्ति-
भेदात् । तत्र एकवाक्यतारूपं बाधेत । किमेकवाक्यतारूपम्? ।
निवीतं मनुष्याणाम्—इति प्राप्तानुवादः । प्राप्तस्य किमर्थेन
पुनर्वचनम्? । उपवीतस्तुत्यर्थेन । कथमुपवीतस्तुतिः? । निवी-
तम् अयोग्यं देवकर्मणि दर्शपूर्णमाससंज्ञके, मनुष्याणां हि तत ;
तथा प्राचीनावीतं पितृणाम्, न देवकर्मणि ; उपवीतं तु तत्र
योग्यं, तस्मात् उपच्ययत्यम्—इति । यथा, यादृशोऽस्य वेशः,
तादृशो नटानां, यादृशो देवदत्तस्य तादृशो ब्राह्मणानाम्—
इति, देवदत्तवेशप्रशंसार्थम् इतरवेशसङ्कीर्तनम् । एवम्, इहा-
प्युपच्ययत्यस्तुत्यर्थेन निवीतसङ्कीर्तनम् ; नास्त्यत्र विधायकः
शब्दो,—निवीतं मनुष्याणां कर्तव्यम्—इति । 'आतिथ्य-
प्रयोगवचनं, तस्य कर्तव्यताविधायकम्—इति चेत्' । नैतदेवं,

भा. स्तुत्यर्थेनार्थवत्त्वे सति न शक्यं कल्पयितुम्, परोक्षं हि तत्
 आनर्थक्यपरिजिहीर्षया कल्पयेत्, परिहृते त्वानर्थक्ये इह
 पुनर्न किञ्चित् कल्पनीयम्, तस्मात् अर्थवादः; एवं च वाक्येन
 अविशङ्गं प्रकरणम् अर्थवत् भवति ॥* (३।४।१ अ०) ॥

द्विग्विभागस्यानुवादताधिकरणम् ।

स. द्विग्विभागश्च तद्वत्सम्बन्धस्यार्थहेतुत्वात् ॥ १० ॥

भा. ज्योतिष्टोमं प्रहृत्य श्रूयते,—‘प्राचीं देवा अभजन्त दक्षिणां
 पितरः प्रतीचीं मनुष्या उदीचीमचुराः’—इति । (अपरेषाम्,
 ‘उदीचीं रुद्राः’—इति) तत्र सन्देहः,—किं विधिवतार्थवादः ?

* “अतः परं षट् सूत्राणि भाष्यकारेण न लिखितानि । तत्र
 व्याख्यातारो विवदन्ते, केचिदाहुः विस्मितानीति । लिखितो ग्रन्थः
 प्रचीन इत्यपरे । फलत्वादुपेक्षितानीत्यन्ये । अनाद्यत्वादित्यपरः, तथा
 च द्विग्विभागश्च तद्वदिति निवीताधिकारस्यातिदेशस्तदागन्तव्यादुपपत्त्यते
 इति । अन्तरकारैस्तु सर्व्वेयाख्यातानि । सन्नि च जैमिनेरेवं
 प्रकाराख्यप्यन्यन्तसारभूतान्यपि सूत्राणि ; व्यवहिततिदेशाच्च पानव्या-
 प्य तद्वदित्यादिषु आश्रिताः । तस्मात् सूत्रार्थमात्रं व्याख्येयम् । तत्र
 केचित् शीर्ष्यधिकरणानि कल्पितानि, अपरैश्चत्वारि” इत्यादि वार्तिक-
 मत्रानुसन्धेयम् । यानि सूत्राणि न सन्ति, तानि एतानि,—‘उपवीतं
 लिङ्गदर्शनात् सर्व्वधर्मः स्यात् । १ । न वा प्रकरणस्य दर्शनम् । २ ।
 विधिर्वा स्यादपूर्व्वत्वात् । ३ । उदक्त्वात्पूर्व्वत्वात् । ४ । सतो वा लिङ्ग-
 दर्शनम् । ५ । विधित्तु धारणेऽपूर्व्वत्वात् । ६ ।’ इति । एतेषां सूत्राणां
 व्याख्या वार्तिकादवधार्या ॥

† उदीचीं रुद्राः’ इति । अपरेषामुदीचीम् मनुष्या इति—इति
 पाठः का० क्री० पु० ॥

भा. विधिः सन् किं मनुष्यधर्मः, उत कर्मधर्मः? अथ वा प्रकरणे मनुष्यप्रधाने कर्मणि निवेद्यः? किं वा आतिथ्ये?—इति ।

किं तावत् प्राप्तम्?—दिग्विभागश्च तद्वत्सम्बन्धस्य अर्थहेतुत्वात्, य एष दिग्विभागः, स निवीतवत् विचार्यः, यो निवीते पूर्वपक्षः, स इह पूर्वपक्षो, यो मध्यमः, स मध्यमः, यः सिद्धान्तः, स सिद्धान्तः । अर्थवत्त्वात् विधिर्मनुष्यसम्बन्धात् मनुष्यधर्मः—इति पूर्वपक्षः । प्रत्यङ्मुखा उदङ्मुखा वा पृष्ठत आदित्यं प्रांशु पदार्थान् अनुतिष्ठन्ति मनुष्याः—इत्यनुवादः । विधिरेव प्रकरणानुग्रहाच्च ज्योतिष्टोमधर्मः, वाक्यप्रकरणानुग्रहाय ज्योतिष्टोमे मनुष्यप्रधाने दक्षिणाद्यापारे निवेद्यः—इति अपरः पक्षः । भिन्नत्वात् वाक्यानाम् आतिथ्ये निवेद्यः—इति अपरं मतम् । अर्थवादोऽयं प्रकरणानुग्रहाय, 'प्राचीनवंशं करोति'—इत्यनेन विधिना एकवाक्यत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्—इति सिद्धान्तः ॥ (३।४।२ अ०) ॥

परुषि दितादीनामनुवादताधिकरणम् ।

स. परुषि दित-पूर्ण-घृत-विदग्धश्च तद्वत् ॥ ११ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोरान्नातं,—'यत् परुषि दितं* तत् देवानाम्; यदन्तरा, तत् मनुष्याणां; यत् समूलं, तत् पितृणाम्'—इति । तथा, यो विदग्धः, स नैर्ऋतः; योऽश्रुतः, स रौद्रः; यः श्रुतः, स सदेवत्यः; तस्मात् अविदग्धता अपयितव्यं सदेवत्वाय'—इति । ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'यत् पूर्णं, तत् मनुष्याणाम् उपरि, अधो देवानामधः पितृणाम्'—इति । तथा,—'धृतं

* परुषि पर्वणि दितं खण्डितमिति माधवः ॥

भा. देवानां मस्तु* पितॄणां निःपक्षं मनुष्याणाम्—इति । तत्र मनुष्यसम्बन्धेषु, रौद्रे च सन्देहः,—किं मनुष्याणां धर्मा विधयः, उत कर्मधर्मा अनुवादाः? । अथ यत् प्रकरणं मनुष्यप्रधानं, रौद्रं च तत्र निविज्ञेरन्, उत आतिष्ये, उत अर्थवादः?—इति ।

किं तावत् प्राप्तम्?—एतान्बपि तदत्, यो निवीते पूर्वः पक्षः स एतेषां पूर्वः पक्षः, वो मध्यमः स मध्यमः, यः सिद्धान्तः स एव सिद्धान्तः । अर्थवत्त्वात् मनुष्यसम्बन्धाच्च विधयो मनुष्यधर्माश्च—इति पूर्वः पक्षः, उपरि मूले च अनियमात् लाघवम्, अष्टतं रोगदत्त्वात् रौद्रं, पूर्णेषु च चक्षत्वात् लाघवम्, एवं, घृतं शिरसि निहितं मनुष्याणां सुखकरमेव, अर्थप्राप्तत्वात् अनुवादः—इत्युत्तरः पक्षः । विधिः, कर्मधर्मप्राप्तात् समाख्यानाच्च कर्मधर्मः—इति पक्षः । अन्वाहार्ये दक्षिणासु च—इति वाक्यप्रकरणानुपहात्पक्षः । आतिष्ये—इति वाक्यभेदप्रसङ्गात् । अर्थवादः—इति, प्रकरणात् विधिना एकवाक्यत्वात्—इति, 'पर्व प्रतिलुनाति उपरि विलात् गृह्णाति नवनोतेनाभ्यङ्क्ते अविद-हता अपयितव्यम्—इत्येभिः सहैषामेकवाक्यभावः । तस्मात् एते न विधयोर्भवादाः—इति ॥ (३ । ४ । ३ अ०) ॥

अनृतवदननिषेधस्य क्रतुधर्मताधिकारणम् ॥

स. अकर्म क्रतुसंयुक्तं संयोगान्नित्यानुवादः स्यात् ॥ १२ ॥
(पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोराम्नायते,—'नानृतं वदेत्'—इति । तत्र सन्देहः,—किमयं प्रतिषेधो दर्शपूर्णमासिकस्य पदार्थस्य

* मस्तु दधिभवं मद्यम् । निःपक्षं शिरसि प्रक्षेप्तमीषद्विषीनं नवनोतं तक्रं वा इति माधवः ॥

भा. प्रकरले एव निवेद्यः, अथ प्रायेण प्राप्तस्य कर्मणः पुरुषं प्रति प्रतिषेधः पुरुषधर्मोऽयम्?—इति । किं प्राप्तं?—पुरुषधर्मः स्यात्, पुरुषस्यायम् उपदिश्यते न दर्शपूर्णमासयोः । कुतः? । पुरुषप्रयत्नस्य अवशात्, वदेत्—इति वदनमनुतिष्ठेत्—इति श्रुत्या गम्यते, तस्य पुरुषसम्बन्धः श्रुत्यैव, कर्मसम्बन्धः प्रकरणात्; श्रुतिश्च प्रकरणात् नलीयसी, इतरथा वदनं भवति—इत्येतावत्यर्थे वदनम् अनुतिष्ठेत्—इत्यविवक्षितस्वार्थः परार्थो विधेयो भवेत्, पुरुषस्योपदेशे पुनर्विवक्षितस्वार्थ एव शब्दः, तस्मात् पुरुषस्य उपदेशः, यस्य च उपदेशः, तस्यायं प्रतिषेधः । स चायमर्थ उपनयनकाल एव पुरुषस्य प्रतिषिद्धः, तेन संयोगेन अयं नित्यानुवादः ।

‘नन्वेषा श्रुतिः तस्या स्मृतेर्मूलम्’ । नैषा तस्या मूलं भवितुमर्हति, यदि इयं तत्मूलिका भवेत्, दर्शपूर्णमासयोः—इति स्मर्येत, उपनयनकाले एव च अस्य उपदेशारो भवन्ति । अपि च पुरुषधर्मः इत्युपदिशन्ति, तस्मात् नैषा स्मृतिरतः श्रुतेरिति ॥

स. विधिर्वा संयोगान्तरात् ॥ १३ ॥ (सि०) ॥

भा. विधिर्वायं दर्शपूर्णमासयोर्नानृतं वदेत्—इति, न अनुवादः । कुतः? । संयोगान्तरात्, नियमानुष्ठानेन पुरुषस्य सम्बन्धः स्मर्यते, पदार्थप्रतिषेधेन इह संयोगः पुरुषस्य, कथम् अन्यत् श्रूयमाणम् अन्यस्यानुवादो भविष्यति, तस्मात् विधिः प्रतिषेधस्य अयम् । ‘आह गृह्णाम एतत्,—विधिः—इति; पुरुषधर्मः—इति तु गृह्णामः पुरुषप्रयत्नस्य श्रुतत्वात्’ । अत्र ब्रूमः,—सर्वेषु आख्यातेषु क्रियानुष्ठानं श्रूयते न कारकं किञ्चित् । कथमेतत् गम्यते? । प्रत्ययात्, यतः क्रियामनुष्ठेयां प्रतीमः ।

‘ननु कर्मारमपि प्रतियन्ति’ । सत्यं प्रतियन्ति, न तु शब्दात् । कुतः तर्हि? । अर्थात्, यदा क्रिया अनुष्ठातव्या विधीयते,

भा. तदा अर्थात् कारकव्यापारो गम्यते, यस्वार्थात् गम्यते, न स
 श्रौतः, यश्च न श्रौतो न स वाक्यात् गम्यते, कथमसौ प्रकरणं
 बाधिष्यते ।

‘आह,—‘प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः’—इत्याचार्यो-
 पदेशात् कर्त्ता शब्दार्थः कर्म चेत्यवगम्यते, ‘कर्त्तरि शप्, कर्मणि
 यक्’—इति प्रत्यायार्थं कर्त्तारं कर्म च समामनन्ति आचार्याः,
 तस्मात् शब्दार्थः कर्त्ता कर्म च—इति’ ।

उच्यते,—न आचार्यवचनात् सूत्रकारवचनात् वा शब्दार्थो
 भवति, प्रत्यायादसौ गम्यते । अनुष्ठेया च क्रिया प्रतीता सती
 कारकाणि प्रत्याययति—इत्यवगतमेतत् । अपि च, नैव कर्त्ता
 प्रत्ययार्थः कर्म वेति आचार्या आहुः । ‘ननु कर्त्तरि कर्मणि
 च लकारः श्रूयते’ । नासौ कर्त्तरि कर्मणि वा श्रूयते किं तु
 ‘एकस्मिन्, एकवचनं, द्वयोर्द्विवचनं बहुषु बहुवचनम्—इति
 तत्र अपरं वचनं, तत्र एवमभिसम्बन्धः क्रियते,—एकस्मिन्
 कर्त्तरि द्वयोः कर्त्तारंबहुषु कर्त्तृषु—इति । एवं कर्मण्येकत्वादि-
 सम्बन्धः । तत्र नैवं भवति,—कर्त्तरि भवति एकस्मिंश्च—इति,
 कथं तर्हि ?—कर्त्तरि एकस्मिन् एकवचनं, क्तुः एकत्वे—
 इत्यर्थः । एवं द्वित्वे बहुत्वे, कर्मणि च । एवं वर्ण्यमाने
 लौकिकन्यायानुगतः सूत्रार्थो वर्णितो भवति, सूत्राक्षराणि च
 न्यायानुगतानि भवन्ति, आगमोऽपि चायमेव । यदा एकत्वा-
 दयो विभक्त्यर्थाः, तदा कर्मादयो विशेषणत्वेन—इति ।

‘ननु एतदप्यस्ति यदा कर्मादयो विभक्त्यर्थाः, तदा एकत्वा-
 दयो विशेषणत्वेन—इति’ । उच्यते,—अर्थप्राप्ता हि कर्मा-
 दयस्ते न भवन्ति शब्दस्य अभिधेयभूताः, न तु एकत्वादयोर्ध्यात्
 प्राप्नुवन्ति, तेन ते शब्दार्थभूताः, तस्मात् यद्यपि विशेषणम्
 एकत्वादयः, तथापि विशेषणमेव अभिधीयते, यथा ‘हिरण्य-
 मालिन ऋत्विजः प्रचरन्ति’—इति हिरण्यमालित्वं विशेषण-

भा. त्वेन, तथापि तदेव विधीयते, तस्मात् कर्तुः एकत्वं ब्रह्मार्थं न कर्ता ।

‘ननु कर्तुः एकत्वात् एकवचनं, कर्तुर्द्वित्वात् द्विवचनं, कर्तुर्बहुत्वात् बहुवचनं, तेन नूनं कर्ता ब्रह्मार्थः—इति गम्यते’ ।
उच्यते,—नैतदनुमानात् ब्रह्मं, कर्ता अनुष्ठेयक्रियावगमादेव अवगम्यते—इति प्रत्यक्षं; तप्तावत् केनचित् न बाध्यते; एकवचननिर्देशे कर्षकत्वं गम्यते, द्विवचननिर्देशे कर्तुर्द्वित्वं, बहुवचननिर्देशे कर्तुर्बहुत्वं, तदपि प्रत्यक्षं, कतरद्वानुमानं बाधितुमर्हति—इति, यथा आह्लातिवचने ब्रह्मे द्विवचने इत्यभेदोऽवगम्यते, एकवचने इत्यैकत्वम्, एवम् इहापि इष्टव्यम् । तस्मात् न श्रौतः, न चेत् श्रौतः, न प्रकरणं बाधित्यते ।

यत्तु ‘पुरुषप्रयत्नोऽनर्थको भवति कर्मधर्मपक्षे प्रयोगवचनेन कर्तव्यतावचनात्’—इति । तदुच्यते,—अङ्गं सत् प्रकरणेन गृह्येत, न चाविहितम् अङ्गं भवति, तस्मात् अङ्गत्वाय विधातव्यम्, अस्मिन् अपि पक्षे; अतो मन्यामहे,—प्राकरशिकस्य अयं निषेधः—इति । तस्मात् तत् अङ्गं, यदनृतं तत् न वाच्यम्—इति, तेन यत् सङ्कल्पितं, तदङ्गं, तदेव कर्तव्यं, त्रीह्मियं सङ्कल्प्य न यवमयः प्रदेयः ।

‘आह यदा उभयोः अपि पक्षयोर्नानृतं वदितव्यं, तदा को विचारेणार्थः?’—इति । उच्यते,—पूर्वस्मिन्पक्षे पुरुषधर्मः, तत्र भेदे स्मार्त्तं प्रार्थस्मिन्पक्षे, सिद्धान्ते दर्शपूर्णमासधर्मः, तत्र भेदे याजुर्वेदिकं प्रायस्मिन्पक्षम् ॥ (३।४।१ अ०) ॥

जङ्गम्यमानधर्मानां प्रकारखे निवेशाधिकारणम् ।

स. अहीनवत्पुरुषस्तदर्थत्वात् ॥ १४ ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘अङ्गिरसो वा इत उत्तमा सुवर्गं

भा. लोकमायन्तेऽप्यु दीक्षातपसी प्रावेश्यस्तीर्थे ऋति तीर्थमेव हि सजातानां भवति*—इति । दर्शपूर्णमासयोराम्नायते,— 'तस्मात् जज्ञभ्यमानोऽनुब्रूयात् मयि दक्षक्रतू—इति, प्राणापानावेवात्मन्धत्ते—इति । तत्र सन्देहः,—किमयं धर्मः प्रकरणे निविशते, उत पुरुषस्य उपदिश्यते?—इति । किं तावत्प्राप्तम्?—'अहीनवत् पुरुषः, तदर्थत्वात्', एष विधिः प्रकरणात् उत्कृष्येत । कुतः? । पुरुषश्रुतेः,—ब्रूयात्—इति पुरुषप्रयत्नस्य विवक्षितत्वात् ।

'ननु प्रकरणं बाध्यते' । उच्यते, बाध्यतां प्रकरणं, वाक्यं त्वस्य बाध्यकं, जज्ञभ्यमानसंयोगात्, प्रकरणात् दर्शपूर्णमासयोः उपदिश्यते—इति गम्यते, वाक्यात् जज्ञभ्यमानस्य, वाक्यञ्च प्रकरणात् बलीयः । तस्मात् उत्कृष्येत—इति । फलमप्यामनन्ति,—प्राणापानावेवात्मन्धत्ते—इति, स च संयोगो बाध्यते । तस्मात् पुरुषधर्मः, प्रकरणात् उत्कृष्येत अहीनवत्, यथा अहीनसंयोगात् द्वादशीपसत्ता प्रकरणात् उत्कृष्यते, एवं जज्ञभ्यमानसंयोगात् मयि दक्षक्रतू—इतिवचनम् ॥

ख. प्रकरणविशेषाद्वा तद्युक्तस्य संस्कारो द्रव्यवत् ॥ १५ ॥
(सि०) ॥

भा. न वा उत्कृष्टव्यम् । कुतः? । प्रकरणविशेषात्, प्रकरणयुक्तः एव जज्ञभ्यमानो वचनेन संस्क्रियते, यथा यवादिद्रव्यं प्रोक्षणा-

* 'सुवर्गे लोकमायन्ते' इत्यतः 'अप्यु दीक्षां यज्ञसा प्रावेशयन् अप्यु ऋति साक्षादेव दीक्षातपसी अवश्ये तीर्थे ऋति तीर्थे हि ते तां प्रावेशयन् तीर्थे ऋति तीर्थमेव सजातानां भवति' इति पाठः का० श्री० पु० ॥

† गात्रविनामेन विदारितमुखः पुरुषो जज्ञभ्यमान इति माधवः ॥

भा. दिना । 'ननु न शक्नोति प्रकरणं जङ्गभ्यमानशब्दम् एकदेशे-
ऽवस्थापयितुम्, वाक्यं हि प्रकरणात् बलवत्तरमिति' । उच्यते,
न ब्रूमः,—जङ्गभ्यमानशब्दः प्रकरणेन अप्राकरणिकात् पुरुषात्
निवर्त्यते—इति ; किं तु फलं तत्र कल्पनीयम् । 'ननु प्रत्यक्षं
श्रूयते फलं,—प्राणापानावेवात्मन्धत्ते—इति' । न—इति ब्रूमः,
—न अत्र विधायकं शब्दम् उपलभामहे, य एषः,—प्राणापा-
नावेवात्मन्धत्ते—इति, वर्तमानापदेश एष, न विधायकः ;
स्तावकस्तु भवति मद्यवचनस्य, तस्मात् दर्शपूर्णमासाभ्याम्
अन्यत्र एतत् न फलवत् । अतः पुरुषस्य दर्शपूर्णमासौ कुर्वतः
संस्कारकर्म—इति गम्यते ।

'आह पुरुषसंस्कारकर्म—इति गृह्यते, दर्शपूर्णमासावेव
कुर्वतः—इत्येतत् न । कथं ? । योऽपि हि अन्यत्र दर्शपूर्ण-
मासाभ्यां, जङ्गभ्यते, सोऽपि जङ्गभ्यमानशब्देन उच्यते एव । न
च, प्रकरणेन व्यावर्त्यते,—इत्येतत् उक्तम्, तस्मात् उत्हायते' ।
अत्र उच्यते, नैव व्यावर्त्यते, संस्कारेण तु तेन नास्ति प्रयोजनम् ।
'ननु प्रकरणे पुरुषसंस्कारेणापि नास्ति प्रयोजनम्' । उच्यते,
संस्कारपुरुषो दर्शपूर्णमासावनुष्ठास्यति । 'आह उत्कर्षेऽपि सति
संस्कारोऽन्यत् अनुष्ठास्यति' । उच्यते,—नान्यस्य संस्कारो गुणो
भवति, अप्रकृतत्वात् । 'आह प्रकृतस्यापि न गुणः, वाक्येन
पुरुषधर्मः इत्यवगमात्' । उच्यते, आनर्थक्यात् न पुरुष-
धर्मोऽवगम्यते । तस्मात् अस्य प्रकृताभ्यां दर्शपूर्णमासाभ्याम्
एकवाक्यता, न अन्येन फलवतापि कर्मणा, प्रकरणाभावात्,
तस्मात् नोत्कर्षः ।

यत्तु, प्रकरणे निवेशः—एतस्मिन्पक्षे ब्रूयात्—इत्यनुष्ठान-
वचनम् अविबक्षितस्वार्थम्—इति, एवं सति अत्यनुवादो भवि-
ष्यति, न पुरुषसम्बन्धविधानस्य प्रयोजनम् अस्ति—इति ॥

सू. व्यपदेशादपकथ्येत ॥ १६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुपवर्णितं,—द्वादशोपसत्ता यथा उत्कृष्यते, तथेदमपि उत्कृष्यते—इति । उच्यते, तद्धि वाक्येन अहीनानां व्यप-
दिश्यते, फलवन्तश्च अहीनाः, न च, तत्र व्योतिष्टोमेऽहीनशब्दः,
गौणत्वात्, व्यपदेशाच्च,—‘तिस्र एव साङ्गस्योपसदो द्वादश
अहीनस्य’—इति । ततो युक्तं, द्वादशोपसत्ता यत्, प्रकरणात्
उत्कृष्यते, न तु इह पुरुषसम्बन्धो निःप्रयोजत्वात्, अन्यस्य
च प्रबोजनवतः प्रकरणोभावात् ॥ (३।४।५ अ०) ॥

अवगोरवादीनां पुमर्थताधिकरणम् ।

सू. श्रयौ* च सर्व्वपरिदानात् ॥ १७ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘देवा वै श्रयुम् वार्हस्पत्यमब्रुवन्
इहं नो वह’—इति प्रकृत्य, वचनमिदं भवति,—‘किं मे
प्रजायाः?—इति तेऽब्रुवन् यो ब्राह्मणायावगुरेत् तं ब्रूतेन
यातयात् यो निहनत् तं सहस्रेण यातयात् यो लोहितं
करवत् चावतः प्रस्कन्ध पांशून् संगृह्णात् तावतः सम्बत्सरान्
पितृलोकं न प्रजानीयात्—इति । तस्मात् न ब्राह्मणायाव-
गुरेत् न हन्यात् न लोहितं कुर्यात्—इति ।

तत्र सन्देहः,—किं दर्शपूर्णमासयोरवगोरणप्रतिषेधः, उत
पुरुषस्य उपदिश्यते?—इति । किं प्राप्तम्?—प्रकरणात् दर्श-
पूर्णमासयोरवगोरणादिप्रतिषेधः,—न दर्शपूर्णमासयोर्ब्राह्मणस्य
अवगोरितव्यम् बधो वा कार्यो लोहितं वा प्रस्कन्दनीयम् ।
अन्य उपाय आस्थातव्य आनतये, तेनाम्बाहार्येणानमन्ति—

* संवाचिति ब्राह्मणावगोरवादिप्रतिषेधवाक्योपलक्ष्यमिति वार्तिकम् ॥

भा. इति प्रकरणात् प्राप्नोति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अयौ च प्रकरणात् उत्कर्षः । कस्मात्? । सर्वपरिदानात्, सर्वावस्थस्य ब्राह्मणस्यायं प्रतिषेध उक्तः, न दर्शपूर्णमासगतेनेव नावगोरणादि कर्तव्यम्—इति । ‘ननु प्रकरणात् दर्शपूर्णमासधर्मोऽयम्’ । सत्यं प्रकरणात्, एवं वाक्येन अवगुरमाणस्य धर्मः, वाक्यं च प्रकरणात् बलीयः ।

‘ननु जङ्गभ्यमानस्य इव प्रकरणे निवेशो भवेत्’ । न—इत्युच्यते, तत्र फलं कल्पनीयं, इह कृतम्, अस्ति हि अत्र विधायकविभक्तिः,—इतेन यातयात्, सहस्रेषु यातयात्, स्वर्गं लोकं प्रजानीयात्—इति, तस्मात् उत्कर्षः एवजातीयकस्य—इति ॥ (३।४।६ अ०) ॥

मलवद्वासःसंवादनिषेधस्य पुरुषधर्माताधिकरणम् ।

स. प्रागपरोधात्* मलवद्वाससः ॥ १८ ॥ (सि०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘मलवद्वाससा न संवदेत्, नास्या अन्नमद्यात्’—इति । तत्र सन्देहः,—किं मलवद्वाससा सह दर्शपूर्णमासाङ्गस्य संवादस्य प्रतिषेधः, उत पुरुषस्य सर्वत्र प्रतिषेधः?—इति । किं प्राप्तम्?—प्रकरणात् दर्शपूर्णमासयोः प्रतिषेधविधिः ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—मलवद्वाससा सह संवाद उत्कृष्येत प्रकरणात् । कस्मात्? । प्रागपरोधात्, एवं श्रूयते,—‘यस्य व्रत्येऽहनि पत्नी अनालम्बुका स्यात् तामपहृष्य यजेत’—इति । यन्मया च सह संवादोऽध्वर्यादर्शपूर्णमासयोः अस्ति,—‘पत्नि पत्नि एष ते लोकः’—इति, प्रसज्यमानः प्रतिविष्येत, स चाप्राप्त

* अपरोधादिति क्वचित् पाठः एवं भाष्येऽपि ।

भा. एव प्रागपरोधात् अपनीयतां यागमनुतिष्ठताम्, कथं संवादः प्रसज्येत? यतः प्रतिषेधमर्हेत् । तस्मात् उत्सृज्येत मलवदाससा सङ्घ संवादः ॥

स. अन्नप्रतिषेधाच्च ॥ १९ ॥ (हे०) ॥

भा. अन्नप्रतिषेधश्च भवति,—‘नास्या अन्नमद्याद्भ्यञ्जनं वै खिया अन्नम् - इत्युपगमनप्रतिषेधः एष विधीयते, स च प्रकरणे न प्रसक्तः—इति, प्रकरणान् उत्सृष्टः पुषधर्म एष निश्चोयते ॥ (३।४।७) ॥

सुवर्षधारणादीनां पुषधर्मताधिकरणम् ।

स. अप्रकरणे तु तद्धर्मस्ततो विशेषात् ॥ २० ॥ (सि०) ॥

भा. अनारभ्य श्रूयते,—‘तस्मात् सुवर्षे हिरण्यं भार्यं दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृथो भवति’—इति । ‘सुवाससा भवितथं रूपमेव विभर्त्ति’—इति । तत्र किं प्रकरणधर्मः उत पुषधर्मः?—इति संशयः । अत्र उच्यते,—‘अप्रकरणे तु तद्धर्मः, ततो विशेषात्’, पुषधर्मः एवजातीयकः स्यात् । कुतः?। ‘ततः’ (प्रकरणाधीतात्) विशेषोऽस्य, नायं प्रकरणाधीतः, यदि अप्रकरणे समाग्नान्तः, सर्वप्रकरणधर्मः स्यात्, अप्रकरणे समाग्नान्तं न कश्चित् विशेषं कुर्यात् । तस्मात् एवजातीयकः पुषधर्मः—इति ॥

स. अद्रव्यत्वात्तु शेषः स्यात् ॥ २१ ॥ (पू०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षव्यावृत्तौ । न पुषधर्मो भवेत्, अग्निहोत्रादीनां शेषः स्यात् । कस्मात्?। अद्रव्यत्वात्, नात्र द्रव्यदेवतं श्रूयते, यद्भवणात् भार्यं यद्व्ययम्—इति परिकल्प्येत । असति तु द्रव्यदेवतासम्बन्धे विभर्त्तिरयं धारणावचनः संस्कारवाची,

भा. संस्कारश्च श्रेषभूतस्य अवकल्पते नान्यथा, तस्मात् कर्मणाम्
अग्निहोत्रादीनाम् श्रेषः । एवं, सुवाससा भवितव्यम्—इति ॥

स. वेदसंयोगात् ॥ २२ ॥ (पू० यु० १) ॥

भा. आर्ध्ववम्—इति वेदसंयोगः श्रेषभूतस्य युज्यते, श्रेषभूतो
हि अर्ध्वुणा क्रियते, न पुरुषधर्मः,* दर्शपूर्णमासादीनां हि
कर्मणां साङ्गानामङ्गानामर्ध्वुः कर्त्ता । तस्मात् अपि कर्मधर्मा
एवञ्जातीयकाः—इति ॥

स. द्रव्यसंयोगाच्च ॥ २३ ॥ (पू० यु० २) ॥

भा. द्रव्यपरश्च अत्र भवति निर्देष्टः,—सुवर्णम् भार्यम्—इति
द्वितीयार्थसंयोगात् । द्रव्यसंस्कारश्च कर्मश्रेषषचे प्रयोजनवान्,
अनर्थकः पुरुषधर्मे ॥

स. स्याद्वासस्य संयोगवत् फलेन सम्बन्धस्तस्मात् कर्मैति
शायनः ॥ २४ ॥ (पू० नि०) ॥

भा. स्यात् वा फलेन एवञ्जातीयकानाम् सम्बन्धः पुरुषधर्मः—
इत्यर्थः, सुवर्णस्य वाससो वा धर्मा भवन् निःप्रयोजनः स्यात् ।

‘ननु संस्कारेण सुवर्णेन वाससा च कर्म सेत्स्यति’ । नैतदेवं,
सुवर्णस्य अङ्गं न कर्मण उपकुर्यात् ; अतुत्यादीनामभावात् न
कर्माङ्गम् । तस्मात्, दुर्वर्णास्य भ्वातृथो भवति—इत्येवमादिना
एवञ्जातीयकानाम् फलेन सम्बन्धः ।

‘ननु वर्त्तमानापदेशोऽयम्’ । सत्यमेवमेतत्, आनर्थक्यपरि-
हाराय फलसोदनया सम्बन्ध एषितथो भवति । अन्यस्माच्च
एषितव्यादेकवाक्यगतस्य विपरिणामो लघीयान् । कुतः ? ।

* पुरुषप्रधान इति का० सं० पु० ।

भा. प्रत्यक्षा तेनैकवाक्यता, परोक्षा अन्वेन, विपरिणामस्य वर्तमानकालस्य अविबक्षा, सम्बन्धस्य च तात्पर्याभावसामन्। तस्मात् एवञ्जातीयकः प्रधानकर्मापदेशः स्यात्, यथा प्रजापति-ब्रतानां फलेन सम्बन्धः,—‘एतावता ह्येनसाग्भियुक्तो भवति’—इति। एवम् अत्रापि द्रष्टव्यम्। तस्मात् एवञ्जातीयकः पुष्प-धर्मः—इति ॥ (३।४।८) ॥

जयादीनां वेदिककर्माङ्गताधिकारश्चम्।

ख. शेषो प्रकरणेऽविशेषात् सर्वकर्मणाम् ॥ २५ ॥ (पू०) ॥

भा. इह कर्मसंयुक्ता होमा जयाद्य उदाहरणम्। ‘वेन कर्मणा ईत्सत् तत्र जयान् जुहुयात्,* राद्रुधतो जुहोति’—इति, ‘अभ्यातानान् जुहोति’—इति। तत्रेते किं सर्वकर्मणाम् ह्यभ्यादीनाम् शेषभूताः, उत वैदिकानाम् अग्निहोषादीनाम्?—इति। शेषत्वं तु निर्घातकर्मसम्बन्धात्, फलाश्रवणाच्च। किं तावत् प्राप्तम्?—सर्वकर्मणाम् शेषाः, विश्वेषानभिधानात्—इति ॥

ख. होमास्तु व्यवतिष्ठेरन्नावनीयसंयोगात् ॥ २६ ॥ (सि०)

भा. न चेत्तदस्ति,—सर्वकर्मणाम् कर्षणादीनामप्यङ्गभूताः—इति, होमा एते, अतो व्यवतिष्ठेरन्, आहवनीयसंयोगो भवति होमेषु,—‘यदाहवनीये जुहोति तेन सोऽभ्यामीडः प्रीतो भवति’—इति, तेन यस्याहवनीयः, तस्य एते अङ्गम्। न

* ईत्सत् सिद्धिमिच्छेत्। पितृस्य खाद्या इत्येवमादयो जयाः। ऋतावाङ्मियादयो राद्रुधतः। अग्निर्भूतानामित्यादयोऽभ्याताना इति माधवः।

भा. च, ह्यस्यादीनि आह्वनीये वर्तन्ते, न च, एषां गार्हपत्योऽस्ति, यतः प्रणीते आह्वनीयः स्यात् । तस्मात् न कर्षणादीनाम् जयादयः ॥

स. शेषश्च समाख्यानात् ॥ २७ ॥ (हे०) ॥

भा. इतश्च पश्यामो वेदिकानाम् शेषभूताः—इति । कुतः ? । समाख्यानात्, आर्ध्वयवम्—इति हि समाख्याते वेदे जयादयः समाग्नाताः सन्तोऽर्ध्वयुग्णं करिष्यन्ते । कर्षणादिषु अर्धयोः अभावात् अनर्ध्वयुग्णापि क्रियमाणाः समाख्यां बाधेरन्, तस्मात् वेदिकानाम् शेषभूताः—इति ॥ (३।४।६ अ०) ॥

वैदिकान्श्रवप्रतियद्दे इष्टिकसंख्यताधिकरञ्जम् ।

स. दोषात्स्विष्टिलौकिके स्याच्छास्त्राद्भि वैदिके न दोषः स्यात् ॥ २८ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्त्यश्वप्रतियद्देष्टिः,—‘वरुणो वा एतं गृह्णाति, योऽश्वं प्रतिगृह्णाति*, यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्, तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्’—इति । तत्र सन्देहः,—किं लौकिकोऽश्वप्रतियद्दे इष्टिः, अथ वैदिके?—इति । कः पुनर्लौकिकोऽश्वप्रतियद्दे ? को वा वैदिकः ?—इति । लोके भिद्यमानो वा अभिद्यमानो वा यथाश्वं लभते, तत्र लौकिकाश्वप्रतियद्दे । वैदिकोऽपि, पौण्डरीकोऽश्वसदृशं दक्षिणा ज्योतिष्टोमे गौश्याश्वश्च—इति ।

तत्र उच्यते,—वैदिकत्वसामान्यात् वैदिके—इति प्राप्ते,

* अथ प्रतियद्दशब्दो दानपर इति माधवः ॥

भा. उच्यते,—‘दोषास्त्रिविष्टलौकिके स्यात्’, दोषो हि श्रूयते,—
 वक्षणे वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति—इति, स चायम्
 अनुवादो यत्र दोषः, तत्र—इति, स च लौकिकेऽश्वप्रतिग्रहे
 श्रुद्वात् अन्यस्मात् वा पापकर्मणः हतो भवति—इत्युपपद्यते,
 दोषसंयोगात् लौकिके—इति गम्यते । ‘आह न दोष-
 सङ्कीर्तनं प्रायश्चित्तविषयविशेषणं, किन्तु प्रायश्चित्तस्तुत्यर्थेन’ ।
 उच्यते,—दोषनिर्घातार्थं सत्येवं स्यात्, वक्ष्यप्रमोचनम् इदं
 कर्म, तत् लौकिके भवितुमर्हति, लोके वक्ष्यग्रहणस्य विद्यमान-
 त्वात्, वैदिके त्वश्वप्रतिग्रहे तत् न स्यात्, आश्वाद्धि (वचनेन)
 तस्य कर्त्तव्यता अवगम्यते । यदि च ततः पापं स्यात्, न
 तस्य कर्त्तव्यता अवगम्येत, अकर्त्तव्यम् हि पापफलम् ।

‘ननु वैदिकेऽपि प्रतिग्रहे अप्रतिग्राह्यात् प्रतिगृह्यतः पाप-
 मस्ति’ । उच्यते,—भवेद्देवं, यदि प्रतिग्रहस्य कर्तुरिष्टिर्भवेत्,
 सा तु खलु यथा हेतुकर्तुः, तथोत्तराधिकरणे वक्ष्यामः । तस्मात्
 न वेदचोदितेऽश्वप्रतिग्रहे इष्टिः,—इत्येतावत् इह अधिकरणे
 सिद्धम् ॥

ख. अर्थश्रादो वा अनुपपातात्* तस्माद्यज्ञे प्रतीयेत ॥

२६ ॥ (सि०) ॥

भा. न च एतदस्ति, यदुक्तम्,—‘यः श्रुद्वादन्यस्मात् वा पाप-
 हतो लोकेऽश्वं प्रतिगृह्णीयात् स एतामिष्टिं निर्वपेत्’; स हि
 वक्ष्यगृह्यतः इत्युच्यते, जलोदरेण यो गृह्णीतो, यस्य उदरं
 जलवृद्ध्या श्लथति; जलोदरम्—इत्येव लोके तत् प्रसिद्धम्,
 न च, तस्य अश्वप्रतिग्रहो लौकिको निदानम्—इति प्रति-

* अनुपपातादिति पाठः का० सं० पु० । एवं भाष्येऽपि परच ॥

भा. ज्ञायते, न च, अनेन विधीयते ; तस्मात् न अश्वप्रतिपद्दात्
जलोदरोपपातः ।

‘अथ पापं वरुणशब्देन उच्यते, वृणीते—इत्येषोऽभिप्रायः—
इति’ । तदा प्रसिद्धौ न्यक्तायां क्षेत्रमात्रं, वृण्वत् वरुणशब्देन
उच्यते, तत्र याज्ञेयपि प्रतिपद्दे वरुणगृहीतः स्यात्, रक्षणा-
पोषणविचिकित्सादिना क्षेत्रेन नैष पक्षो थवतिष्ठेत्,—लौकिके-
ऽश्वप्रतिपद्दे—इति, प्रसिद्धिश्च बाधेत । तस्मात् अर्थवाद एवः,
—यावत् वरुणगृहीतस्य वरुणोन्मोचने श्रेयः, तावत् एतेन
—इति उपमानेन एषा स्तुतिः, योऽस्य प्रतिपद्दः, तत् वरुण-
यद्दणमिव, या इष्टिः, सा तदुन्मोचनीव, यथा वरुणगृहीतेन
उन्मोचनम् अवश्यकर्तव्यम्, तादृगेवैतत्—इति, तस्मात् यद्दे
प्रतीयेत । लौकिके इष्टि फलं कल्पनीयम्, वैदिके यस्मिन्
अश्वप्रतिपद्दः, तस्याङ्गभूता भविष्यति, तत्र प्रयोगवचनेन सह
एकवाक्यता सम्बन्धात् अवकल्प्यमाना, परोक्षायाः फलवचनेन
सह एकवाक्यताया लघीयसी—इति युक्तम् इष्टिः वैदिके दाने
—इति ॥ (३।४।१० अ०) ॥

दातुर्वाचसीष्टप्रधिकारखम् ।

ख. अचोदितं च कर्मभेदात् ॥ ३० ॥ (पू०) ॥

भा. ‘यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्, तावतो वारुणान् चतुष्कपा-
लान् निर्वपेत्’—इति । तत्र एतत् समधिगतं,—वैदिके अश्व-
प्रतिपद्दे इष्टिः—इति । अथ इदानीं सन्दिश्यते,—किं प्रति-
पद्दकर्त्रा कर्तव्या, यस्मै दीयते ; उत हेतुकर्त्रा, यो ददाति?—
इति । किं प्राप्तम्?—‘अचोदितं च कर्मभेदात्’, न दानस्य
कर्तः इष्टिश्चोद्यते, प्रतिपद्दकर्तुः तमवगच्छामः,—यावतोऽश्वान्

भा. प्रतिगृह्णीयात् तावत्सुतुष्कपालान् वाहलान् निर्वपेत्—इति, तस्मात् प्रतिगृह्णीयात् ऋत्विजा कर्त्तव्या—इति ॥

ख. सा लिङ्गादात्विजे स्यात् ॥ ३१ ॥ (सि० ॥

भा. नैषा प्रतिगृह्णति, किं तर्हि हेतुकर्तुः स्यात् । कुतः ? । लिङ्गात् । किं लिङ्गम् ? । पूर्वपदानाम् उत्तरैः परैर्बोधार्थम् अभिसम्बन्धः, इदं श्रूयते,—‘प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्’—इति, प्रजापतिः अश्वस्य दाता कीर्त्तितः, वरुणः प्रतिगृह्णीता, ‘स सां देवतामाच्छत्’—इति, ‘सः’—इति सापेक्षं पूर्वप्रहृतं वाक्यशेषमपेक्षते, सः—इति प्रजापतिं प्रतिनिर्दिशति—इति तेन सह एकवाक्यतां याति । सामानाधिकरण्याच्च प्रजापतेरेव प्रतिनिर्दिशोऽवकल्पते, न तु वरुणस्य, वैयधिकरण्यात् । ‘स पर्यदीर्यत’—इत्येयोर्ऽपि प्रजापतिमेव प्रतिनिर्दिशति पूर्वप्रहृतं, तेन च सह एकवाक्यतां याति । स एवैतं वाहणं सुतुष्कपालमपश्यत्—इति प्रजापतिरेव—इति, निरवपत् प्रजापतिरेव—इति, ततो वै स वरुणपात्रात् अमुच्यत प्रजापतिः । ‘वरुण एतं गृह्णाति’—इति हेत्वपदेशोऽप्यम,—यस्मात् एव प्रजापतिर्वरुणाय अश्वं दत्त्वा परिदीर्णः, तस्मात् योऽश्वं प्रतिगृह्णाति (प्रयच्छति) तं वरुणो गृह्णाति, स परिदीर्यते—इति । यतस्तु वाहणेन प्रतिमुक्तः, तस्मात् अन्येनापि अश्वं प्रयच्छता वाहणो निर्वपत्यः,—इत्यश्वस्य दातुर्वाहणी इष्टिः प्रशस्यते, कर्त्तव्या अनेनाख्यातेन । तस्मात् अश्वं दत्त्वा वाहणीम् इष्टिं निर्वपेत्—इति ।

‘आह, ननु यः अश्वं प्रतिगृह्णाति स निर्वपेत्—इत्युच्यते’ । एवं सत्यन्यथोपक्रान्ते वाक्ये अन्यथोपसंहृते उपक्रमोऽप्यनर्थकः स्यात्, उपसंहारोऽपि । तस्मात् उपक्रमे वा शब्दार्थ उपसंहारवशेन कल्पनीयः, उपसंहारे वा उपक्रमवशेन । तत्र

भा. 'प्रजापतिर्वक्षणायाश्चमनयत्'—इति, वक्षणात् अश्चमन् प्रत्य-
गृह्णात्—इति उपसंहारानुरोधेन कल्प्येत, यदा उपक्रमवशेन
उपसंहारं, 'योऽश्वं प्रतिगृह्णाति'—इति, योऽश्वं प्रतिपाद्यति
—इति?। तत्र 'मृच्छं वा पूर्वं चोदनात् लोकवत्'—इति
प्रथममनुगृहीतत्वं निरोधाभावात्; पश्चात्तत्र तु विरोधात्
लक्षणाया कल्पनीयम् ।

अपि च,—'प्रजापतिर्वक्षणायाश्चमनयत्'—इति वक्षणात्
अश्वं प्रत्यगृह्णात्—इति बह्वसमङ्गसं कल्पयितव्यम् । 'प्रतिगृ-
ह्णाति'—इत्येष शब्दः, प्रतिपाद्यति—इत्येतत् अर्थम् अज्ञोति
यथा-कयाचित् अज्ञा वक्तुम्, यो हि तत् आचरति, येन च
क्रिया प्रणाद्यापि सिध्यति, स तस्याः क्रियायाः कर्ता—इति
ब्रह्मते वदितुम्, यथा षड्भिर्ह्रलैः कर्षतीति संविधानं कुर्वन्
विलेखनमकुर्वन्नप्युच्यते, तत्समथम् आचरति—इति । एवम्
इहापि स प्रतिपद्यसमर्थम् आचरति (यो ददाति); तस्मात्
ददत् प्रतिगृह्णाति—इति ब्रह्मते वदितुम् । तस्मात् अथ्ववधार्यं
इदमवच्छिन्नम्, इदत् प्रतिगृह्णाति—इत्युच्यते, तस्य च वाक्यी
इष्टिः—इति ॥ (३।४।११ अ०) ॥

वैदिकपानव्यापदि सौमेन्द्रचरविधानाधिकरणम् ।

स. पान-व्यापञ्च तद्वत् ॥ ३२ ॥ (पू०, ॥

भा. इदं समामनन्ति,—'सौमेन्द्रं चरं' निर्वपेत् श्यामाकं सोम-
वामिनः—इति । तत्र सन्देहः,—लौकिकस्य सोमपानस्य
वमने सौमेन्द्रश्चरः, उत वैदिकस्य?—इति । किं लौकिकं
सोमपानम्? किं च वैदिकम्? । उच्यते,—वैदिकं सोमपानं
ज्योतिष्टोमे तद्विहितेषु च, लौकिकं सोमपानं यत् सप्तरात्रेषु

भा. दक्षरात्रेषु धातुसाम्यार्थमासेष्यमाने सोमे । किं तावत् प्राप्तम् ?
 —‘पानव्यापञ्च तदत्’, लौकिके वमने इष्टिर्भवितुमर्हति, न
 वैदिके, तदत्—इति पूर्वः पञ्चः प्रतिनिर्दिष्टः,—यथा तत्र
 दोषसंयोगेन अवणात्, लौकिकेऽवप्रतियद्दे—इत्युक्तम्, एवम्
 इहापि दोषसंयोगेन अवणं भवति,—‘इन्द्रियेण वा एष वीर्येण
 वृथ्यते यः सोमं पिबति’—इति लोके धातुसाम्यार्थमासेष्विते
 वमनेन विनष्टे धातुसाम्यव्यापदा इन्द्रियेण वृथ्यरूपपद्यते,
 ब्राह्मणो वैदिके न दोषः स्यात्, तत्र, शेषः पातयः—इति
 ब्रह्मदासोदिते निर्दिष्टे नास्ति दोषः । यद्यपि वम्यते, तथापि
 पानक्रिया तत्र निर्वर्णिता, कृतो वचनार्थः—इति न दोषः
 स्यात् । तस्मात् लौकिकस्य सोमपानस्य व्यापदि सौमेन्द्रः
 स्यात् ॥

स. दोषात्तु वैदिके स्यादर्थोऽपि लौकिके न दोषः
 स्यात् ॥ ३३ ॥ (सि०) ॥

भा. वैदिकस्य पानस्य व्यापदि भवितुमर्हति, न लौकिकस्य ।
 कस्मात् ? । ‘दोषात्’, दोषसम्बन्धोऽत्र श्रूयते,—‘इन्द्रियेण वा
 एष वीर्येण वृथ्यते’—इति । लौकिके पुनर्धातुसाम्याद्यर्थं
 क्रियमाणे न किञ्चित् दुष्यति, वमनाय एव हि तं पिबन्ति
 लोके । अथापि अयमर्थवादः, तथापि फलकल्पनापरीहाराय
 वैदिके एव—इति कल्पना न्याय्या ॥ (३।४।१२ अ०) ॥

सौमेन्द्रचरोऽयं जमानपानव्यापदिष्वयताधिकारणम् ॥

स. तत्सर्व्वेषां विशेषात् ॥ ३४ ॥ (पू०) ॥

भा. तदेतत् सोमपानव्यापदि सौमेन्द्रं कर्म, सर्व्वे वमने स्यात्,
 आर्त्विजे याजमाने च । कुतः ? । अविशेषात्, न विशेषः

भा. कश्चित् आश्रीयते,—अस्य वमने स्यात्, न अस्य—इति, तस्मात् सर्वत्र भवेत् ॥

ख. स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥ ३५ ॥ (सि०) ॥

भा. स्वामिनो वा वमने स्यात् । कुतः? । तदर्थत्वात्, तदर्थं कर्म (यजमानार्थं), यत्र सोमो वम्यते, यत् त्वच्च सोमेन्द्रं कर्म; तदपि तदर्थमेव; इदं हि सोमवामिन उपकाराय श्रूयते, तत् सोमवामिनः, यत् यजमानस्य उपकर्तुम् ब्रह्मोति नार्त्विजः, न हि तत् ऋत्विगर्थं कर्म, यत्र सोमो वम्यते । अथ उच्येत,—‘सोमवामिनोऽध्वर्याहोतुर्वा आत्मीया ऋत्विजः, तदीयेषु अग्निषु निर्वर्त्तयिष्यन्ति’—इति । तथा सति यदि वा दृग्द्व-सोमस्य कर्मणो न अङ्गं, न सोमवामिनोऽध्वर्याहोतुर्वा, तत्र अत्यन्तगुणभूता अध्वर्यादयः स्वैर्ऋत्विग्भिः कारयन्तो न फलं प्राप्नुवन्ति, तदर्थं च क्रियमाणं न यजमानस्य उपकारे वर्त्तते—इति न ऋत्विजो वमने क्रियेत ॥

ख. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ३६ ॥ (हे०) ॥

भा. लिङ्गं च भवति, यजमानस्य सोमवामिनः—इति । कथं? । ‘सोमपीथेन* वा एष दृग्धते यः सोमं वमति’—इति । यजमानः, सोमसंस्कारे विनष्टे विगुणमस्य कर्म—इति दृग्धते, न कथाञ्चित् ऋत्विजो दृग्धिः । ऋत्विजो यस्य सोमं वमति—इति वमनेन सम्बन्धः स्यात्, न यः सोमं वमति—इति । तस्मात् अपि पश्यामो यजमानस्य वमने सोमेन्द्रम्—इति ॥ (३।४।१३ अ०) ॥

* पीथेन इति का० क्री० ए० ॥

आग्नेयाद्याकपालचरोर्द्धवदानमात्रस्य होतव्यताधिकारकम् ॥

ख. सर्व्वप्रदानं हविषस्तदर्थत्वात् ॥ ३७ ॥ (पू०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र समाम्नायते,—‘यत् आग्नेयोऽद्या-
कपालोऽग्नावास्यायां पौर्षमास्यां चाचुरतो भवति’—इति । तत्र
सन्देहः,—किं ह्यत्स्नं हविः, अग्नये प्रदातव्यम्, उत शेषयितव्यं
किञ्चित्, किञ्चित् दातव्यम्?—इति । किं प्राप्तम्?—ह्यत्स्नं
हविः प्रदीयेत । कुतः? । तदर्थत्वात्, ‘पुरोडाश आग्नेयः
कर्त्तव्यः’—इति वचनम् । तस्मात् सर्व्वं प्रदातव्यम्—इति ॥

ख. निरवदानात्तु शेषः स्यात् ॥ ३८ ॥ (सि०) ॥

भा. निष्कृष्यावदानं निरवदानं । तद्धि श्रूयते,—‘विर्हविषो-
ऽवद्यति’—इति । अपरमपि वचनं,—‘इवदानं जुहोति’—
इति, तेन इवदानमात्रं होतव्यम्, अन्यत्परिशेषणीयम् ॥

ख. उपायो वा तदर्थत्वात् ॥ ३९ ॥ (आ०) ॥

भा. न चेतदस्ति,—इवदानमात्रं होतव्यम्—इति, यत् जुहोति,
तत् द्विरवखण्डनेन संस्कर्त्तव्यम्—इति, होतव्ये द्विरवखण्डन-
मात्रं विधीयते, न अद्विरवखण्डितस्य होमः प्रतिषिध्यते, ह्यत्स्नं
च होतव्यमिति तदेवं न्यार्य्यं, नान्यथा ॥

ख. कृतत्वात्तु कर्मणः सकृत्स्यात् द्रव्यस्य गुणभूत-
त्वात् ॥ ४० ॥ (आ० नि०) ॥

भा. उच्यते,—यदा द्विरवखण्डनविशिष्टं होमे श्रुतं, तदा सकृद-

* ‘अवदेयञ्च अङ्गुष्ठपर्व्वमात्रम्, तथा च कल्पसूत्रकारः आग्नेयस्य
पुरोडाशस्य मध्यादङ्गुष्ठपर्व्वमात्रमवदानं तिरस्त्रीनमवद्यतीति’ इति
माधवः ॥

भा. वदानं (यावत् श्रुतं) तत्सर्वं कृतं, तदा न अपरं द्रव्यमस्ति—इति पुनर्यागो न आवर्त्तितव्यः । कथं ? तद्वि द्रव्यं याग-निर्हृत्यर्थं, न द्रव्यं यागेन सम्बन्धयितव्यम्—इति, यदि हि यागेन हविः सम्बन्धयितव्यं स्यात्, ततो यागेन इवदाने सम्बन्धिते अपरमपि सम्बन्धनीयमस्ति—इति, तत्सम्बन्धार्थं पुनर्यागः आवर्त्तित ! न तु बागो द्रव्यसम्बन्धार्थः, किं तर्हि, द्रव्यं यागे गुणभूतं, यागः कथं निर्हृत्तिमुपेयात् ?—इति द्रव्य-मुपादीयते । तेन निर्हृत्ते यागे सिद्धे च पुष्यार्थं न नियोगेन गुणानुरोधेन प्रधानावृत्तिर्युक्ता—इति ।

‘कथं न द्रव्यं प्रधानं, येन आवृत्तिर्न भवेत् ?’ । ततो यागात् फलम्, ‘भूतमव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते’—इति । न च, यागेन द्रव्यस्य उपकारो निर्वर्त्त्यते प्रत्यक्षः कश्चित्, तस्मात् इवदानं कृत्वा श्रेषयितव्यम्—इति । यत्तु उक्तं,—आग्नेयं हविः—इतिवचनात्, सर्वं होतव्यम्*—इति गम्यते—इति, तत्र आनुमानिको होमसम्बन्धः, इह तु प्रत्यक्षो हिरवदाने । अपि च अहोमसम्बन्धेऽपि तद्विषयस्य उपपत्तिः,—ततो गृही-तव्यम्—इति । सामान्यं खलु आग्नेयः—इति, इवदानं जुहोति—इति विशेषः । तस्मात् श्रेषयितव्यं किञ्चित्—इति ॥

स. शेषदर्शनाच्च ॥ ४१ ॥ (हे०) ॥

भा. ‘शेषात् इडामवद्यति शेषात् खिष्टकृतं यजति’—इत्यनु-वादात् अस्ति शेषः—इति पश्यामः ॥ (३।४।१४ अ०) ॥

* सर्वप्रदानमिति पाठः का० सं० पु० ।

सर्वशेषैः खिद्यद्गदगुणानाधिकारकम् ।

ख. अप्रयोजकत्वादेकस्मात् क्रियेरन् शेषस्य गुणभूत-
त्वात् ॥ ४२ ॥ (पू०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र शेषकार्याणि ऐङ्गमाश्लेषसौविष्ट-
हृदादीनि । तत्र सन्देहः,—किं हविषो हविषः कर्त्तव्यानि,
उतैकस्मात् हविषः ?—इति । किं प्राप्तम् ?—अप्रयोजकत्वात्
एकस्मात् क्रियेरन्, अप्रयोजकानि शेषकार्याणि हविषाम्,
यदि शेषकार्यैः प्रयुक्तानि, भवेयुः सर्वाणि प्रयुक्तानि—इति
सर्वेभ्यः क्रियेरन् अन्यार्थानि त्वेतानि, न अवश्यं शेषकार्येषु
विनियोक्तव्यानि, सन्निधानान्तु यतः—कुतश्चिदनुष्ठातव्यानि,
शेषो हि साधनममीषाम्—इति ॥

ख. संस्कृतत्वाच्च ॥ ४३ ॥ (हे०) ॥

भा. सहाच्च एवञ्जातीयकेन शेषकार्येण संस्कृतं प्रधानम्—इति-
हृत्वा न अपरस्मादपि कर्त्तव्यम्—इति ॥

ख. सर्वेभ्यो वा कारणाविशेषात्, संस्कारस्य तदर्थ-
त्वात् ॥ ४४ ॥ (सि०) ॥

भा. सर्वेभ्यो वा हविर्भ्यः शेषकार्याणि कर्त्तव्यानि । कुतः ? ।
कारणाविशेषात्, यत् एकस्य हविषः शेषकार्यक्रियायां कारणं,
तत् सर्वेषां, स हि शेषः प्रतिपादयितव्यः, यस्य एव न
प्रतिपाद्यते, तस्य तेन संस्कारेण वर्जनं स्यात्, तस्मात् सर्वेभ्यः
कर्त्तव्यानि—इति ॥

ख. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ४५ ॥ (हे०) ॥

भा. लिङ्गं च दृश्यते,—‘देवा वै खिद्यद्गतमनुवन् ह्यं नो वद्

भा.—इति, सोऽब्रवीत् वरं दृष्टौ भागो मेऽस्त्विति, दृष्टीष्वेति तेऽब्रुवन्, सोऽब्रवीत् उत्तरार्द्धादेव मङ्गं सहात् सहादवद्यात्— इति वोप्सादर्शनम् । तस्मात् सर्वेभ्यः श्लेषकार्याणि^१—इति ॥ (३।४।१५ अ०) ॥

प्राथमिकश्लेषात् खिलहृदाद्यनृशानाधिकारणम् ।

ख. एकस्माच्चेत् यथाकाम्यविशेषात् ॥ ४६ ॥ (पू०) ॥

भा. अथ ह्यत्वाचिन्ता । यदा एकस्मात् भवेयुः, किं तदा यतः— कुतश्चित्, उत प्रथमात्?—इति । किं प्राप्तम्?—यतःकुतश्चित्—इति । कुतः? । न कश्चिद्विशेष आश्रीयते—इति, तस्मात् अनियमः—इति ॥

ख. मुख्याद्वा पूर्वकालत्वात् ॥ ४७ ॥ (सि०) ॥

भा. मुख्याद्वा कर्त्तव्यानि । कुतः? । पूर्वकालत्वात्, ततः कर्त्तव्येषु नास्ति निमित्तविघातः, असति निमित्तविघाते नैमित्तिकम् कर्त्तव्यम्—इति, ततः ह्यतेषु द्वितीयादीनां निमित्तविघातः— इत्यक्रिया । तस्मात् मुख्यादेव क्रियेरन्—इति ॥ (३।४।१६ अ०) ॥

पुरोडाशविभागस्य भक्षार्थताधिकारणम् ।

ख. भक्ष्याश्रवणाद्दानशब्दः परिक्रये ॥ ४८ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘इदं ब्रह्मणः, इदं द्योतुः, इदं मध्यर्थाः, इदम् अग्नीधः’*—इति । तच्च सन्देहः,—किमयम्

* ‘अग्नीधस्य’ इति पाठः का० की० पू० ॥

भा. ऋत्विजां विभागः परिक्रयाय, उत भक्षणाय?—इति । किं प्राप्तम्?—परिक्रयार्थो विभागः । कुतः? । भक्षाश्रवणात्, न श्रूयते,—भक्षयितव्यम्—इति, य एव श्रुतस्योत्सर्गे दोषः, स एव श्रुतपरिकल्पणायाम् । कर्मकरेभ्यश्च दीयते, तस्मात् परिक्रये एषः ॥

स. तत्संस्तवाच्च ॥ ४९ ॥ (हे०) ॥

भा. 'एषा वै दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणा'—इति दक्षिणासंस्तवाच्च परिक्रयार्थं मन्यामहे ॥

स. भक्षार्थो वा द्रव्ये समत्वात् ॥ ५० ॥ (सि०) ॥

भा. भक्षार्थ एष विभागः । कुतः? । दानस्य अभावात् । कथम् अभावः? । प्रभवता हि शक्यं दातुम् । न अप्रभवता । कथं न प्रभुत्वम्? । सङ्कल्पितं हि यजमानेन, 'देवतायै एतत्'—इति, न च, देवतायै सङ्कल्पितेन श्रिष्टाः स्वेन एव व्यवहरन्ति । तस्मात् श्रिष्टाचारम् अनुवर्तमानेन अशक्यं प्रभवितुम्, तस्मात् न परिक्रयः ।

'अथ यत् उक्तं,—'न श्रूयते, भक्षयितव्यम्'—इति, यावांश्च श्रुतस्य उत्सर्गे दोषः, तावान् श्रुतपरिकल्पनायाम्—इति । उच्यते,—'इदं ब्रह्मणः'—इत्येवमादिभिर्ब्रह्मादीनां, भागैरभिसम्बन्धः, तत्र भागा ब्रह्मादीनाम् उपकुर्वन्नद्यादयो वा भागानां ; ब्रह्मादिभिर्भागानाम् उपकुर्वन्निर्णे किञ्चित् दृष्टमस्ति, भागैस्तु ब्रह्मादीनाम् उपकारकैः शक्यते केनचित् प्रकारेण दृष्ट उपकारः कर्तुम्, भक्ष्यमाणैः । तस्मात् भक्षणाय विभागः—इति । 'कः पुनः उपकारः? इति चेत्' । तृप्तानां कमशेषपरिसमापने सामर्थ्यं भवति—इति ॥

ख. व्यादेशाद्दानसंस्तुतिः ॥ ५१ ॥

ला. अथ यत् दक्षिणासंस्तवः—इति, व्यादेशसामान्यात् तत्, अपरिक्लप्यार्थेऽपि भविष्यति—इति ॥ (३।४।१७ अ०) ॥

इति श्रीश्रवरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्या-
यस्य चतुर्थः पादः ॥

तृतीये अध्याये पञ्चमः पादः ।



अथ भ्रुवाज्यादिभिः खिद्यद्वादिशेषाननुष्ठागाधिकारश्चम् ।

स. आज्याच्च सर्वसंयोगात् ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र श्रूयते,—‘उत्तरार्द्धात् खिद्यद्वाते समवद्यति’—इति, तथा ‘इडामुपकथयति’—इति, तथा अन्यानि शेषकार्याणि । तत्र सन्देहः,—किं आज्यात् उपांशुयाजद्रथात् खिद्यद्वादिडमवदातथम्, उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—अवदातथम्—इति । कुतः? । सर्वसंयोगात्, साधारणप्रकरणसमाप्तानात् सर्वेषां शेषकार्याणि । अपि च सर्वसंयोगो भवति,—‘तद्यत् सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति’—इति । तस्मात् आज्यादपि शेषकार्याणि क्रियन्ते ॥

स. कारणाच्च ॥ २ ॥ (हे० १) ॥

भा. कारणं श्रूयते,—‘देवा वै खिद्यद्वातमब्रुवन् ह्यथं नो बह—इति, सोऽब्रवीदरं दृष्टै भागो मेऽस्त्विति, दृष्टोऽप्येत्यब्रुवन्, सोऽब्रवीत् उत्तरार्द्धात् एव मद्यं सद्यत् सद्यदवद्यात्’—इति, तुल्यं कारणम् अन्येषाम् आज्यस्य चार्थवादे सङ्गीर्यते । तस्माद्दम्याज्यात् अवदातथम्—इति ॥

स. एकस्मित्समवत्तशब्दात् ॥ ३ ॥ (हे० २) ॥

भा. आदित्ये चरौ प्रायणीये श्रूयते,—‘अग्नये खिद्यद्वाते समवद्यति’—इति, आज्यादेकस्माच्च हविषोऽवद्यति—इति, मिश्रस्य अन्येन हविषा समवद्यति—इति, यदि च आज्यादपि खिद्यद्वातेऽवदीयेत, ततश्चोदकेन प्रायणीये आज्यावदाने क्रियमाणे

भा. समवद्यति—इत्युपपद्यते ; इतरथा चरोरेकस्मात् अवद्यति—
इत्यभविष्यत् ॥

सू. आज्ये च दर्शनात्स्विष्टकृदर्थवादस्य ॥ ४ ॥ (हे० ३) ॥

भा. ध्रौवे च आज्ये स्विष्टकृदर्थवादो भवति,—‘अवदाय अवदाय
ध्रुवां प्रत्यभिघारयति, स्विष्टकृतेऽवदाय न ध्रुवां प्रत्यभिघारयति,
न हि ततः परामाङ्गतिं यच्छन् भवति’—इति, प्रत्यभिघारणस्य
एतत् प्रयोजनं दर्शयति,—‘ततः परामाङ्गतिं ह्योष्यति’—इति ।
सौविष्टकृते वृत्ते ततः पराङ्गतिर्नास्ति—इति न प्रत्यभिघार्येत !
स्विष्टकृदर्थं ध्रुवायां भवति प्रत्यभिघारणम्—इति दर्शयति ॥

सू. अशेषत्वात् नैवं स्यात्सर्वादानात्* अशेषता ॥ ५ ॥
(सि०) ॥

भा. नैवं,—ध्रौवाज्यात् स्विष्टकृदिदम् अवदातथम्—इति ।
कस्मात् ? अशेषत्वात् । कुतो न अस्य शेषः ? । सर्वादानात् ॥

सू. साधारण्यान् ध्रुवायां स्यात् ॥ ६ ॥ (आ० नि० १) ॥

भा. ‘ननु उपांशुयाजायं गृह्यते यत् ध्रुवायां स्विष्टं, तत् शेष-
भूतम् । नैतत्, साधारणं हि तत्, उपांशुयाजाय, अन्येभ्यश्च
प्रयोजनेभ्यः ; यावत् आज्येन यष्ट्यं, तत् तत् आज्यं प्रयो-
जयति ; यस्य यस्याज्यं, तस्य तस्यैवं यद्गीतथं संस्कर्तव्यञ्च—
इति, तस्मात् साधारणं ध्रौवम् आज्यम् । दर्शयति च,—
‘सर्वस्मै वा एतत् यज्ञाय गृह्यते यत् ध्रुवायाम् आज्यम्’—इति ।
‘किमतो यद्येवम्?’—इति । यत् साधारणम् उपांशुयाजाय
अवत्तं ध्रुवायामाज्यं, तेन अन्यानि प्रयोजनानि कार्याणि, न

* सर्वादानादिति पाठः का० क्री० पु० । एवं क० सं० पु० ॥

भा. तु तत् प्रतिपाद्यं, यद्धि क्षतप्रयोजनम् आकीर्णकरम् अवतिष्ठते, तत् प्रतिपादयितव्यम्—इति । अचिच्च, यत्प्रतिपादयितव्यम्, तत्, एवं—प्रतिपादयितव्यम्—इति, यत्तु प्रयोजनवत् उपात्तं तत् न प्रतिपादयितव्यम् । तस्मात् न ध्रुवायां उपांशुयाजस्य सौविष्टक्षतञ्च कश्चित् श्लेषः प्रतिपादनीयः, यथा यत्र एकस्या-मुखायां बहूनामोदनः शृतो भवति, तत्र एकस्मिन् भुक्तवति, न, तस्य श्लिष्टं भृत्येभ्यः प्रतिपादनीयमुच्चायामस्ति—इति गम्यते, प्रयोजनवद्धि तत् । एवम् उपांशुयाजाज्जेषुपि इत्थम्—इति ॥

‘आह जुहुं तर्हि आन्वस्य श्लेषो भविष्यति, चमसवत्, यथा चमसेषु ग्रहेषु च सोमस्य चोदनया—इति’ । तत्र प्रत्याह,—

स. अवत्तत्वाच्च जुहुं, तस्य च होमसंयोगात् ॥ ७ ॥
(आ० नि० २) ॥

भा. ध्रुवायां तावत् नास्ति श्लेषः उपांशुयाजस्य साधारणत्वात्—इत्युक्तम् । ‘अथ कस्मात् न, जुहुं यच्छ्लिष्टं, तेन श्लेषकार्यं ? यथा होमार्थं चमसे श्लेषः’—इति । उच्यते, यत् जुहुमवत्तं, तत् सर्वं होमेन सम्बद्धं, तस्मात् न जुहुं श्लेषः ॥

स. चमसवदिति चेत् ॥ ८ ॥ (आभा०) ॥

भा. इति पुनर्यदुक्तं, तत्परिहर्तव्यम् ॥

स. न चोदनाविरोधाद्द्विविःप्रकल्पनत्वाच्च ॥ ९ ॥
(आ० नि० ३) ॥

भा. नैतदेवम् । कुतः ? । चोदनाविरोधात्, ‘सोमस्य अग्नेर्बोही-त्यनुषष्टकरोति’—इति तत्र चोदना । अपि च, तत्र ‘ऐन्द्र-वायवं गच्छाति—इत्येवमादीनि षड्विधानि न सोमसंयुक्तानि,

भा. हविःप्रकल्पनान्येव, इह पुनर्होमसंयोगः,—‘चतुर्गृहीतं जुहोति’
—इति ॥

ख. उत्पन्नाधिकारात्सति सर्व्ववचनम् ॥ १० ॥
(आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—‘तत् यत्सर्व्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति’—इति ।
उच्यते,—उत्पन्नं श्रेषमधिष्ठत्य एतत् उच्यते, न अविशेषणं,
तस्मात् ये इह श्रेषास्तेभ्यः सर्व्वेभ्यः—इति, यथा सर्व्वः ओदनो
भुक्तः, सर्व्वे ब्राह्मणा भुक्तवन्तः—इति प्रकृतापेक्षः सर्व्वशब्दः, एवम्
अत्रापि—इति ॥

ख. जातिविशेषात् परम् ॥ ११ ॥ (आ० नि० ४) ॥

अथ यदुक्तम्,—‘प्रापणीये केवले चरौ समवत्तशब्दो न अव-
कल्पते, यदि न तत्र चोदकेन आज्यादपि खिष्टहृद्वदानम्’
—इति । उच्यते,—असत्यपि आज्यात् श्रेषकार्ये समवत्तशब्दो
जातिविशेषापेक्ष उपपद्यते, ओदनजातिमाज्यजातिं च अपेक्ष्य;
अनुवादो हि सः, यथासम्भवं च अनुवादः कल्प्येत ॥

ख. अन्यमरेकार्ये ॥ १२ ॥ (आ० नि० ५) ॥

भा. अथ यदुक्तम्—‘खिष्टहृदर्थे ध्रुवायामभिघारणं दर्शयति’—
इति, न तत् खिष्टहृदर्थे, श्रेषाभावात्—इत्युक्तम् । तस्मात्
अयं तस्यार्थः, न हि तत्र आज्यतिं यच्छन् भवति—इति न
रेष्यते, ध्रुवातो यदि आज्यतिः अपरा होतव्या भवेत्, न च
प्रत्यभिघार्येत ! ध्रुवातः किल रिच्येत, न रेष्यते, अपरस्या
आज्यतेः अभावात्, किं प्रत्यभिघारणेन—इति ॥ (३।५।
१ अ०) ॥

साकंप्रस्थाय्ये शेषकर्मामनुष्ठानाधिकरत्नम् ॥

स. साकंप्रस्थाय्ये खिष्टकृदिञ्च तद्वत् ॥ १३ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘साकंप्रस्थायीयेन यजेत’—इति । तत्र सन्देहः,—किं खिष्टकृदिडम् अस्ति, नास्ति?—इति । अस्ति—इति ब्रूमः । कुतः? । दर्शपूर्णमासविकारो हि साकंप्रस्थायीयम्—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—नास्ति—इति । कुतः? । अशेषत्वात्, सर्वादानाच्च अशेषता । कथम्? । एवं तत्र श्रूयते,—‘आज्यभागाभ्यां प्रचर्य्य आश्रेयेन पुरोडाशेन अग्नीध्रे सुचौ प्रदाय सह कुम्भीभिरभिक्रामन् आह’—इति । तस्मात् न ततः शेषकार्यम्—इति ॥ (३।५।२ अ०) ॥

सौचामण्यां शेषकर्मामनुष्ठानाधिकरत्नम् ॥

स. सौचामण्याञ्च ग्रहेषु ॥ १४ ॥

भा. अस्ति सौचामणी, तत्र यद्वाः श्रूयन्ते, आश्विनसारस्वतैन्द्राः, तत्र चोदकेन खिष्टकृदिडं प्राप्तम् । अथ इदानीं सन्देहः,—किं निवर्त्तते, उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—चोदकानुग्रहाय कर्त्तव्यम्—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—सौचामण्यां च ग्रहेषु न कर्त्तव्यम्—इति चशब्देन अतिदिश्यते । कुतः? । अशेषत्वात्, सर्वादानात् अशेषता । तथापि हि यद्देवेवं होतुम् प्रतिष्ठन्ते, यत् पयोयज्ञाश्च सरायज्ञाश्च गृह्णन्ते—इति, यद्दर्थं खल्वपि तत् द्रव्यम् अभिगृहीतमभ्यनुक्रमम् अभ्याश्रावितम् देवतां प्रति । यथा,—‘गृहीतान् यद्दानृत्वज आददते*, आश्विनमधर्यः, सारस्वतं ब्रह्मा, ऐन्द्रं प्रतिप्रस्थाता’—इति, होमार्थम्

* उपाददते इति पाठः का० क्रो० पु० ॥

भा. अशेषादानं भवति, होमसंयोगश्चैषां श्रूयते,—‘उत्तरेऽग्नौ पयो-
ग्रहान् जुहति इच्छिणेऽग्नौ सुरायहान् जुहति’—इति ॥

ख. तदञ्च शेषवचनम् ॥ १५ ॥ (यु०) ॥

भा. एतमेव न्यायं, शेषवचनमुपोद्बलयति । ‘उच्छिनष्टि, न
सर्वं जुहोति’—इति, सर्वहोमे प्राप्ते, प्रतिषेधोऽवकल्पते । वाच-
निकत्वाच्च खिष्टकृदिडं न भवति, तस्य अन्यत्रोपयोगवचनात्,
—‘ब्राह्मणं परिक्रीणीयादुच्छेषणस्य पातारम्’—इति, अपर-
स्यापि शेषस्य वाचनिको विनियोगः,—‘अतातृणायां विष्ठा-
रयन्ति’*—इति ॥ (३।५।३ अ०) ॥

सर्वपृष्ठेऽग्नौ खिष्टकृदिडादीनां सङ्गदगुणानाधिकारकम् ।

ख. द्रव्येकत्वे कर्मभेदात्प्रतिकर्म क्रियेरन् ॥ १६ ॥
(पू०) ॥

भा. अस्ति सर्वपृष्ठेऽग्निः,—‘इन्द्राय राथन्तराय, इन्द्राय वार्षताय,
इन्द्राय वेरूपाय, इन्द्राय वैराजाय, इन्द्राय आकराय’—
इति । तत्र पुरोडाशो बहूनां कर्मणां साधारणः । तत्र सन्देहः,
—किं प्रति-कर्म, खिष्टकृदिडं कर्त्तव्यं, सहादेव वा?—इति ।
किं प्राप्तम्?—चोदनानुग्रहात् प्रति-कर्म, कर्त्तव्यम्, एकस्मिन्
अपि द्रव्ये बह्वत्वात् कर्मणाम् ॥

ख. अविभागाच्च शेषस्य, सर्वान् प्रति अविशिष्ट-
त्वात् ॥ १७ ॥ (सि०) ॥

भा. सहादेव कर्त्तव्यम्—इति ब्रूमः, अविभागात् शेषस्य,—न

* समवनयेदिति पाठः माधवीये । अतातृणा अतस्मिन्ना कुम्भीति
माधवः ।

भा. अथ विभागः सर्वेषां कर्मणां पुरोडाशस्य, उत्तरार्द्धात् खिद्य-
ह्यदवदातथम्, एकस्यासौ उत्तरार्द्धः, ततोऽवदीयमाने न गम्यते
विज्ञेयः,—कस्य अवत्तम्, कस्य न—इति, एवम् इडायामपि ।
तस्मात् सहात् अवदातथम्—इति ॥ (३।५।४ अ०) ॥

ऐन्द्रवायव्यहे द्विःशेषभक्षणाधिकरणम् ।

स. ऐन्द्रवायवे तु वचनात्प्रतिकर्म्म भक्षः स्यात् ॥ १८ ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमः,—‘ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत’—
इति । तत्र ऐन्द्रवायवे ग्रहे सन्देहः,—किं सहात् भक्षणम्, उत
द्विः?—इति । सोमसंस्कारार्थत्वात् सहात्—इति प्राप्ते ब्रूमः,—
ऐन्द्रवायवे द्विर्भक्षयितथम्—इति । कुतः? । वचनात्, वचन-
मिदं भवति,—‘द्विःऐन्द्रवायवस्य भक्षयति, द्विर्ज्ञेयस्य वषट्क-
रोति’—इति, नास्ति वचनस्यातिभारः ॥ (३।५।५ अ०) ॥

सोमे शेषभक्षणाधिकरणम् ।

स. सोमेऽवचनाद्भक्षो न विद्यते ॥ १९ ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे, समामनन्ति सीमान् । तेषु सन्देहः,—किं तेषां
शेषो भक्षयितथः, उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—सोमे भक्षो
न विद्यते । कस्मात्? । अवचनात्, न शक्यम् असति वचने
अथवसातुम् भक्षणम् । तस्मात् सोमशेषो न भक्षयितथः—
इति ॥

स. स्याद्वा अन्यार्थदर्शनात् ॥ २० ॥ (सि०) ॥

भा. भवेत् वा भक्षः, अन्याथै द्वि वचनं भक्षं दर्शयति,—
‘सर्वतः परिहारमाश्विनं भक्षयति, भक्षिताप्यायितांसुमसान्

भा. दक्षिणस्थानसोऽवसन्ने सादयन्ति—इति । न असति. भक्षणे
एवञ्जातीयका भक्षविशेषा सम्भवन्ति ॥

स. वचनानि तु अपूर्वत्वात्तस्मात् यथोपदेशं स्युः ॥ २१ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. 'ननु इन्ननमिदं, प्राप्तिर्वक्तव्या' । उच्यते,—वचनानि तर्हि
भविष्यन्ति,—'सर्वतः परिहारमाश्विनं भक्षयति । तस्मात्
सर्वा द्विजः शृणोति'—इति विशिष्टं भक्षणं विधीयते । अपूर्व-
त्वात् भक्षानुवादो न अवकल्पते । अपि च, एवम् अपूर्वम्
अर्थं विदधतः अर्थवत्ता भविष्यति । तस्मात् यत्र एव विशिष्टं
भक्षणं श्रूयते, तत्र एव भवति, न अतिप्रसज्यते ॥ (३।५।
६ अ०) ॥

चमसिनाम् शेषभक्षाधिकारकम् ॥

स. चमसेषु समाख्यानात्संयोगस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ २२ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे एव श्रूयते,—'प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गा-
तृणां प्र यजमानस्य प्रयक्तु सदस्थानाम्'—इति । तत्र सन्देहः,
—किं चमसिनाम् अस्ति भक्षः, न?—इति । किं प्राप्तम्?—
न—इति ब्रूमः, नातिप्रसज्यते—इति उक्तम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—चमसेषु अस्ति भक्षः—इति । कुतः?।
समाख्यानात्, होतुश्चमसो ब्रह्मणश्चमसः उद्गातुश्चमसः—इति
समाख्याया निर्दिश्यते, होता यत्र चमति चमिष्यति अचमीदा
स होतुश्चमसः । यद्यत्र होता न चमेत् न होतुश्चमसो भवेत्,
तस्मात् चमति—इति ।

'आह, का अस्य लिङ्गस्य प्राप्तिः?—इति' । सामर्थ्यम्—
इति ब्रूमः,—होतुः चमसेन प्रैतथम्, यदि च अत्र होता न

भा. चमेत्, न शक्यं भवेत् होतुश्चमसेन प्रैतुम् । न च, अत्रान्यत्
होता ओदनादि चमिष्यति, सोमचमसः—इति हि तं समा-
चक्षते । अपि च, न तद्दोतुर्द्रव्यं यजमानस्य तत् द्रव्यम्, होतुः
तत्र चमनं कर्त्तव्यम् । सोमे च भक्षयमाणे तेन होमोऽवकल्पते,
पवित्रं हि सोमो, न तस्मिन् भक्षिते पात्रं व्यापद्यते, तत्र
चमसेन शक्यते होतुम् । ‘वचनप्रामाण्यात् उच्छिष्टेन होष्यति
—इति चेत्’ । नैतदेवम् असति अवकाशे वचनं बाधकं भवति,
अस्ति च अवकाशः सोमभक्षणं, तस्मात् चमसिभिर्भक्षयितव्यः
सोमः—इति ।

‘अथ तक्षणादीनि आश्रीयेरन्’ । तथा सम्बन्धापह्नवात्
अतश्चमसतैव स्यात्, द्रव्यान्तरं स्यात् । तस्मात् च अत्राक्षयस्य
सोमं प्रतिषेधति,—‘स यदि राजन्त्यं वैश्यं वा याजयेत्, स
यदि सोमं विभक्षयिषेत् न्यग्रोधस्तिभीराहृत्य ताः संपिष्य
दधनि उन्मृज* तमस्त्रै भक्षं प्रयच्छेत्, न सोमम्’—इति भक्षा-
निवृत्तिं दर्शयति । सा एषा भक्षाशङ्का एवं सत्युपपद्यते, यदि
चमसिनोऽस्ति भक्षः, तस्मात् अस्ति—इति मन्यामहे ॥ (३ ।
५ । ७) ॥

उद्गाहृषां सह सुत्राक्षयेन भक्षाधिकारश्चम् ।

स. उद्गाहृचमसमेकः श्रुतिसंयोगात् ॥ २३ ॥ (१म पू०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमः,—‘ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत’—
इति । तत्र अस्ति,—‘प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातृषाम्’
—इति । अस्ति समाख्यानात् भक्षः—इत्युक्तम् । तत्र सन्देहः,
—किमेकः एष एनं चमसम् उद्गाता भक्षयेत्, इत सर्वं

* उन्मृज्य इति का० क्री० पू० ।

भा. भक्षयेयुः? अथ सुब्रह्मण्यवर्जिताः कृन्वोगा भक्षयेयुः, अथ वा सह सुब्रह्मण्येन?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—एको भक्षयेत् उद्गातृव । कुतः?। 'श्रुतिसंयोगात्', उद्गातृकः श्रुत्या संयुज्यते,—'चमसेन प्रोद्गातृणाम्'—इति ।

'ननु बह्वचनं गूयते,—तेन बह्वो भक्षयेयुः' । उच्यते, श्रूयते बह्वचनं, तत् उद्गातृप्रातिपदिकगतं, तत् विवक्षितं सत् उद्गातृबहुत्वं ब्रूयात्, एकश्लोद्गाता, तच्च बहुत्वं श्रूयमाणम् अपि न शक्नुयात् उद्गातृभेदं कर्तुम् । तस्मात् अविवक्षितं बह्वचनम्, अनुमानं हि एतत्, बहूनां चमसः—इति । कथं?। यत् बहुषु प्रातिपदिकं वर्त्तते, ततो बहुवचनं भवति, बहुवचनं तु ततो कृष्यते, प्रोद्गातृणाम्—इति । तस्मात् नूनं, बहूनां चमसः—इति अनुमानं, प्रत्यक्षं तु एक उद्गाता, न द्वितीयः, न तृतीयः । अनुमानाच्च प्रत्यक्षं कारणं बलवत् भवेत् । तस्मात् एकस्य चमसः, सचोद्गातुः—इति ॥

स. सर्व्वे वा सर्व्वसंयोगात् ॥ २४ ॥ (२य पू०) ॥

भा. सर्व्वे वा भक्षयेयुः, एकस्मिन् उद्गातरि भक्षयति बहुवचनं प्रमादाधीतम्—इति गम्यते, न हि तत् अनुस्यते, न विधीयते—इति । 'ननु सर्व्वेष्वपि भक्षयत्यु उद्गातृशब्दः प्रमादो गम्यते' । उच्यते,—लक्षणायांऽपि तावत् सम्भविष्यति, उद्गातृ-प्रभृतयः—इति ॥

स. स्तोत्रकारिणां वा* तत्संयोगाद्बहुश्रुतेः ॥ २५ ॥
(३य पू०) ॥

भा. 'उच्यते,—नैतदस्ति,—बहूनां चमसः—इति । कुतः?।

* स्तोत्रकारिणो वा इति पाठः का० सं० पू० ॥

भा. उद्गातृशब्दस्य चमसेन सम्बन्धः प्रत्यक्षेण वाक्येन, बह्वचनस्य पुनः उद्गातृशब्देन श्रुत्या सम्बन्धः, अन्येन ऋत्विजा तु बह्वचनस्य नैव कश्चित् अस्ति सम्बन्धः । तस्मात् बह्वनां चमसः इत्यनुपपन्नम्—इति । अत्र उच्यते,—शक्तोत्थयमुद्गातृशब्दो बह्वत्वं वदितुम्, क्रियायोगेन, उद्गायन्ति इत्युद्गातारः । के ते ? प्रस्तोता उद्गाता प्रतिहर्त्ता—इति, तदेतेन बह्वचननिर्द्देशेन आनुमानिकक्रियायोगनिमित्त उद्गातृशब्दो विवक्षित इत्यवगमिष्यामः । बह्वचनं हि एवमवकृप्तं भविष्यति, उद्गातृशब्दस्य । तस्मात् स्तोत्रकारिणां चमसः—इति ॥

सू. सर्वे तु वेदसंयोगात् कारणादेकदेशे स्यात् ॥ २६ ॥
(सि०) ॥

भा. सर्वे छन्दोगाः सहस्रब्रह्मण्या भक्षयेयुः । किमिति ? गानसंयोगात्—इति नायं पक्षः उपपद्यते । कथं ? एकस्तत्र उद्गानेन सम्बन्धः, इतरो गानेन, अन्यद्वि गानम्, अन्यदुद्गानं, गीतिमात्रं गानं लौकिकं वैदिकञ्च ; द्वितीयं साम्नः पर्व, उत्पूर्वस्य गायतंः अभिधेयं प्रसिद्धम् ; तत्र एक एवोद्गीथं करोति—इति एक एवोद्गाता, न बहवः । तस्मात् उद्गानसंयोगात् बहवो भविष्यन्ति—इत्येतदपि नोपपद्यते । कथं ?—तर्हि,—‘वेदसंयोगात्’, औद्गात्रं नाम प्रवचनं, तथा, औद्गात्राणि कर्माणि, औद्गात्रस्य कर्त्ता वा अधेता वा उद्गातेत्युच्यते । कथं ? उद्गातुः कर्म, औद्गात्रम्—इति प्रसिद्धम्, एवञ्चेत् व्यक्तम् औद्गात्रस्य कर्त्ता, उद्गातेति गम्यते । यस्य उद्गाता प्रसिद्धः, तद्विशिष्टं कर्म अनास्थातमपि औद्गात्रम्—इति वदति । शब्दस्य, यस्य औद्गात्रं प्रसिद्धं, स तस्य कर्त्तारमुद्गाता—इति वदति, अनास्थातमपि, यथा यस्योद्दमेघः प्रसिद्धः, स तस्य अनास्थातमप्यपत्यमौद्दमेघिः—इति ब्रूते, यस्य औद्दमेघिः, स तस्य

पितरमनास्थातमप्युदमेघं प्रतिपद्यते । एवम् औद्गात्रसम्बन्धात्
उपपद्यते उद्गातृशब्दः, प्रस्तोतापि उद्गातापि प्रतिहर्त्तापि,
सुब्रह्मण्योऽपि । एवं बह्वचनम् उद्गातृशब्दश्च उभयम् अप्युप-
पन्नं भविष्यति, न च अन्यः कश्चित् दोषः ।

तस्मात् औद्गात्रेण सम्बन्धात्स्ववार उद्गातृचमसं भक्षयेयुः—
इति । यत्र कारणमस्ति, तत्राप्यसुब्रह्मण्या उद्गातारः, यथा,
उद्गातृशब्दः, 'विनिषद्योद्गातारः साग्ना स्तुवते'—इति स्तोत्र-
कारिषु, तथा इदमपि वचनम्,—'उद्गातारो नापद्याहरे-
युवत्तमायामेषोत्तमा'—इति अपसुब्रह्मण्यानामेव ॥ (३।५।
८ अ०) ॥

ग्रावस्तुतोऽपि सोमभक्षार्थाधिकारणम् ॥

ख. ग्रावस्तुतो भक्षो न विद्यतेऽनाम्नानात् ॥ २७ ॥

(पृ०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे ग्रावस्तुत्तामहोतृपुरुषः* । तत्र सन्देहः,—किं स
सोमं भक्षयेत्, न?—इति । उच्यते, ग्रावस्तुत् न भक्षयेत् ।
कुतः? । यतोऽस्य भक्षं नामनन्ति । (हारियोजने चमसि-
नामधिकारः—इति मन्यमान एवं ह स्माह,—नास्याग्नायत
भक्षः)—इति ॥

ख. हारियोजने वा सर्व्वसंयोगात् ॥ २८ ॥ (सि०) ॥

भा. हारियोजनस्य वा ग्रावस्तुतं भक्षयितारं मन्यामहे, एवं
हि आमनन्ति,—'यथा चमसमन्यांश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्ति ।

* चतुर्धां होतृणां मध्ये चतुर्थो ग्रावस्तुत् ।

भा. अथैतस्य हारियोजनस्य* सर्वे एव लिप्सन्ते—इति । यदा हारियोजनस्य सर्वे लिप्सन्ते, तदा यावस्तुदपि—इति ॥

स. चमसिनां वा सन्निधानात् ॥ २९ ॥ (आ०) ॥

भा. वाञ्छब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । नैतदस्ति यावस्तुतो हारियोजने भक्षः—इति, चमसिनां तत्र अधिकारो न सर्वेषाम् । कथम्? । चमसिनाम् एष विभागः, चमसिनः अन्यांश्चमसान्, यथा, 'चमसं भक्षयन्ति'—इत्यनूद्य, चमसिन एव वदति, 'अथैतस्य हारियोजनस्य सर्वे एव लिप्सन्ते'—इति । एकं हीदं वाक्यम्, 'अथैतस्य'—इत्यथञ्चब्दप्रयोगात्, अनन्तरवृत्तमपेक्षते, अथ 'सर्वे एव'—इत्येवञ्चब्दः, सामर्थ्यात् सर्वान् पूर्वप्रकृतानपेक्षते, अतो मन्यामहे,—'यथा चमसमन्यांश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्ति'—इत्यनेन पूर्वेण, 'अथैतस्य हारियोजनस्य' इत्येतस्य एकवाक्यता भवति—इति । तेन चमसिनां सञ्ज्ञितानाम् एष विभागो, यथा चमसमन्यत्र, हारियोजने तु सर्वे एव—इति ॥

स. सर्वेषां तु विधित्वात्तदर्थं चमसिञ्चुतिः ॥ ३० ॥
(आ० नि०) ॥

भा. तुञ्चब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । नैतदस्ति,—चमसिन एव हारियोजने लिप्सन्ते—इति, सर्वे तु विधीयन्ते हारियोजने, सर्वे भक्षयन्ति—इति, न पुनः, चमसिनः—इति सम्बन्धः शक्यते विधातुम्, द्वौ हि सम्बन्धौ एङ्मान् वाक्ये अपूर्वौ न शक्येते विधातुम् । तस्मात् अन्या वचनव्यक्तिः ।

* हरिहरि हारियोजन इत्यनेन मन्वेण गृह्यमाणो यद्दः हारियोजन इति माधवः ॥

भा. का पुनरसौ ?। 'यथा चमसमन्यांश्चमसांश्चमसिनो भक्ष-
यन्ति'—इत्यनुवादः, चमसिनश्चमसान् भक्षयन्तेऽपि, ते भक्षयन्तो
यथा चमसमेव, अथैतस्य हारियोजनस्य न केवलं चमसिनः,
सर्वे एव—इति । किमेवं भविष्यति ?। सर्वशब्दस्य सर्वान् वदन्
न एकदेशे कल्पितो भविष्यति । न च, दौ सम्बन्धौ अपूर्वौ
एकस्मिन् वाक्ये भविष्यतः । तस्मात् एष पक्षो ज्यायान्—इति
'तदर्था' हि एषा 'चमसिभ्युतिः', (हारियोजनस्य प्रशंसार्था)
चमसिनः कीर्त्यन्ते हारियोजनम् प्रशंसितुम् । कथम् ?। महा-
भागो हि हारियोजनः, यस्मात् तत्र सर्वे लिप्सन्ते, अन्यान्
चमसान् एकैकः, न ते महाभागाः, न्यूना हारियोजनात्—
इति ॥ (३।५।९ अ०) ॥

वषट्कारणस्य भक्षनिमित्ताधिकारणम् ॥

स. वषट्काराच्च भक्षयेत् ॥ ३१ ॥

भा. अथ किं समाख्यैवैका भक्षकारणम् ?। न—इति श्रुतः,—
'वषट्काराच्च भक्षयेत्', वषट्कारस्य भक्षणे निमित्तम् । कथम् ?।
वचनात्, एवं हि श्रूयते,—वषट्कर्तुः* प्रथमभक्षः—इति,
भक्षणस्य अप्राप्तत्वात्, न प्राथम्यविधानार्थं एष शब्दः, प्राथम्य-
विशिष्टं भक्षणमेव विदधाति—इति ॥ (३।५।१० अ०) ॥

होमाभिषवयोरपि भक्षनिमित्ताधिकारणम् ॥

स. होमाभिषवाभ्याञ्च ॥ ३२ ॥

भा. अपरमपि कारणं होमाभिषवौ । कथम् ?। हविर्धाने—

* वषट्कर्त्ता होता इति माधवः ।

भा. 'धावभिरभिषुत्याहवनीये ऊत्वा प्रत्यक्षः परेत्य सदसि भक्षान भक्षयन्ति'—इति. न तावत्, एष क्रमो विधीयते, होमे निर्दन्ते ततो भक्षणस्य अप्राप्तत्वात्। इत्यस्य क्रमयोर्विधानात्, अभिषुत्य ऊत्वेति वाक्यम्भिद्येत। अर्थेन च प्राप्तत्वात् अस्य क्रमस्य। न ह्यज्ञते प्रयोजने कश्चित् प्रतिपादनमर्हति। न च, भक्षणाङ्गभावेन होमाभिषवौ चोद्येते। अभिषवस्य होमार्थत्वात्, होमस्य च फलार्थत्वात्। तस्मात् होमाभिषवयोः कर्तृषां भक्षणं विधीयते, येऽभिषुषवन्ति जुहति च, ते भक्षयन्ति—इति ॥ (३।५।११ अ०) ॥

वषट्कर्षादीनां चमसे सोमभक्षाधिकारणम् ।

ख. प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानामव्यक्तः शेषे ॥ ३३ ॥ (प०) ॥

भा. इदं श्रूयते,—'प्रैतु होतुश्चमसः प्र वक्षणः प्रोद्गातृणाम्'—इति। तत्र सन्देहः,—चमसेषु होमाभिषवयो कर्तारो वषट्कर्तारश्च किं भक्षयेयुः, उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—न भक्षयेयुः, प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानां चमसिनः प्रति; 'प्रैतु होतुश्चमसः'—इत्येवमादिभिर्विशेषवचनैः, होमाभिषवकारिणां सामान्यवाक्येन, यः सोमो भक्षणेन संस्कर्तव्यः, स चमसेषु चमसिभिः—इति, अथ इदानीमन्यत् निमित्तं क्व भविष्यति?। 'अव्यक्तः सामान्यनिमित्तः क्व?'। शेषे भविष्यति,—यत्र न चमसिनः ॥

ख. स्यात् वा कारणभावात् अनिर्देशश्चमसानाम् कर्तुस्तद्वचनत्वात् ॥ ३४ ॥ (सि०) ॥

भा. स्यात् वा चमसेषु वषट्कर्षादीनां भक्षः, प्राप्यते हि तेषां तत्र कारणम्, न च प्रतिषिध्यते। 'अनु चमसिनाम् प्रत्यक्षो-

भा. पदेब्राह्मिर्वर्तेरन् । उच्यते,—‘अनिर्देश्यमसानाम् कतुस्तद्व-
चनत्वात्, ‘मैतु होतुश्चमसः’—इत्येवमादयः ब्रह्माः न ब्रह्मवर्णि
वषट्कर्मादीन् प्रतिषेद्धुम्, उपदेष्टारो हि ते, न प्रतिषेद्धारः,
तस्मात् वषट्कर्मादयोऽपि चमसेषु भक्षयेयुः ॥

स. चमसे चान्यदर्शनात्* ॥ ३५ ॥ (यु०) ॥

भा. चमसे चान्यांश्चमसिनो दर्शयति,—‘चमसांश्चमसाध्वर्यवे
प्रयच्छति । तान् स वषट्कर्त्रे हरति’—इति । एको हि
सश्चमसो वषट्कर्त्रे ह्रियते, तेन बहुहरणदर्शनं न अवकल्पते,
यदि वषट्कर्मादयो न चमसेषु भक्षयेयुः । तस्मात् भक्षयन्ति
—इति ॥ (३।५।१२ अ०) ॥

‘अथ यत्रैकस्मिन् पात्रे बहुवो भक्षयन्ति, कः तत्र क्रमः?’—
इति । उच्यते,

होतुः प्रथमभक्षाधिकारकम् ।

स. एकपात्रे क्रमादध्वर्युः पूर्वो भक्षयेत् ॥ ३६ ॥ (पू०) ॥

भा. तस्य हि क्रमो भक्षयितुम्, यस्य हस्ते सोमः ॥

स. होता वा मन्त्रवर्णात् ॥ ३७ ॥ (सि०) ॥

भा. होता वा पूर्वो भक्षयेत्, ‘मन्त्रवर्णात्’, मन्त्रवर्णो हि तथा,
‘होतुश्चित् पूर्वै हविरद्य माश्रत’—इति, तथा ‘होतेव नः
प्रथमः पाहि’—इति ॥

स. वचनाच्च ॥ ३८ ॥ (हे० १) ॥

भा. वचनमिदं भवति,—‘वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः’—इति । वचन-

* इदम् सूत्रम् सूत्रसंग्रहे नाधारि ।

भा. मेव इदम्, न मन्तव्यम्,—अनेकगुणविधानात् अविवक्षितं प्राथ-
म्यम्—इति; अप्राप्तत्वात् प्राथम्यस्य, नायम् अनुवादः, विधि-
रेव; समासेन च विदधतो नानेकगुणविधानं दुष्करम् ॥

स. कारणान्पूर्व्याच्च ॥ ३९ ॥ (हे० २) ॥

भा. प्रथमं हि वषट्करणं निमित्तं होतुः, ततो होमः अभ्यर्थो-
र्निमित्तं, निमित्तानुपूर्व्याच्च नैमित्तिकानुपूर्व्यं क्रमानुरोधः ॥ (१।
५।१३ अ०) ॥

भक्षस्यानुज्ञापूर्वकत्वाधिकरणम् ।

स. वचनादनुज्ञातभक्षणम् ॥ ४० ॥

भा. अथ य एकपात्रे सोमोऽग्नेकेन भक्ष्यते, किं तत्र, अनुज्ञाप्य
अननुज्ञाप्य वा भक्षयितव्यम्, उत अनुज्ञाप्य एव?—इति ।
साधवादनियमे प्राप्ते उच्यते,—अनुज्ञाप्य भक्षयितव्यम्—
इति । कस्मात्? । ‘वचनात्’, इदं वचनं भवति,—‘तस्मात्
सोमो नानुपहृतेन पेयः’—इति, उपहृतानं च अनुज्ञापनम् ।
(प्राप्तिस्त्वमेतत्) ॥ (३।५।१४ अ०) ॥

वैदिकवचनेनानुज्ञापनाधिकरणम् ।

अथानुज्ञातेन भक्षयितव्यम्—इति स्थिते, किं लौकिकेन
वचनेन अनुज्ञापयितव्यम्, उत वैदिकेन?—इति । अनियमात्
लौकिकेन—इति प्राप्ते उच्यते,

स. तदुपहृत उपहृत्यस्वेत्यनेन अनुज्ञापयेत्सिद्धात् ॥ ४१ ॥

भा. अनुज्ञापनसिद्धोऽयम् मद्यः, सिद्धात् अनुज्ञापने समाग्नातः,

भा. सामर्थ्यात् विनियुज्यते, तत्र ह्यतेऽर्थे लौकिको निवर्तते ॥ (३।
५।१५ अ०) ॥

वैदिकवाक्येन प्रतिवचनाधिकारत्वम् ।

स. तत्रार्थात्प्रतिवचनम् ॥ ४२ ॥

भा. एतदवगतम्,—‘तदुपहृत उपहृत्यस्वेत्यनेन अनुज्ञापयेत्’—
इति । अथ प्रतिवचने सन्देहः,—किं लौकिकं प्रतिवचनम् उत,
एतदेव ?—इति । किं प्राप्तम्, एतत् वैदिकं, प्रश्ने विनियुक्तम् ;
लौकिकम् अन्यत् प्रतिवचनं भवितुमर्हति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—
‘तत्र’ एतदेव प्रतिवचनम्—इति ।

‘ननु प्रश्नलिङ्गमेतत् उपहृत्यस्व’—इति । उच्यते,—यदस्य
पूर्वम्,—उपहृतः—इति प्रतिवचनस्य समर्थम्, तत् प्रतिवचन-
कार्यं भविष्यति । ‘आह विपरीतमेतत् समाग्नानं, पूर्वं हि
प्रश्नेन भवितव्यम्, ततः प्रतिवचनेन’ । उच्यते,—‘अर्थात्’, पूर्वं,
प्रतिवचनकार्यं भविष्यति, अर्थां हि क्रमाद्गृहीयान्—इति ॥
(३।५।१६ अ०) ॥

एकपाचाणामनुज्ञापनाधिकारत्वम् ।

स. तदेकपाचाणां समवायात् ॥ ४३ ॥

भा. इदं सन्दिह्यते,—किं यः—कश्चित् अनुज्ञापयितव्यः, उत
समानपाचः—इति । अविशेषाभिधानात् यः—कश्चित्,—इति
प्राप्ते उच्यते,—तत् खल्वनुज्ञापनमेकपाचाणां स्यात् । कुतः ? ।
अनुज्ञापनम् इच्छाङ्गम्, अनुज्ञापनस्य च एतद्रूपम्, यत्र अन्येन
कर्तव्यम् अन्यश्चिकीर्षत्, सोऽनुमन्यस्व—इति ब्रूते, सहभोज-

भा. नादि* वा आचरितुकामाञ्चत्तम् अन्यस्यानुकूलयति । तदेतत् नानापात्रेषु नैव सम्भवति, न हि तत्र अन्येन कर्तव्यम्, अन्यो वा चिकीर्षति—इति, सहभोजनादौ वापदार्थं सम्मानयति । एकपात्रे तु सोमे साधारणे संस्कार्तथ्ये न्यायेन समो विभागो प्राप्नोति, तत्र अविभज्य पीयमाने कदाचित् अन्येन पातय्यम् अन्यः पिवेत्, तत्र अनुज्ञापनं सम्भवति,—त्वया अहं पातय्यं, मया अहं ; कदाचित् अहमभ्यधिकं न्यूनं वा पिवेयं, तदनुज्ञातुमर्हसि—इति, एकपात्रे वा पानं त्वया सहाचरन् अहं तव चित्तप्रसादनं व्याहृत्याम्—इति सम्भवत्यनुज्ञापना । तस्मात् एकपात्रेष्वेव एतत् स्यात्—इति ॥ (३।५।१७ अ०) ॥

स्वयंयद्युर्भक्षास्तित्ताधिकारणम् ।

स्र. याज्यापनयेनापनीतो भक्षः प्रवरवत् ॥ ४४ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमः, तत्र ऋतुयागेषु श्रूयते,—‘यजमानस्य याज्या सोऽभिप्रेष्यति ह्योतरेतत् यजेति स्वयं वा निषद्य यजति’—इति । यदा स्वयं यजति, तदा सन्देहः,—किमस्य भक्षोऽस्ति, नास्ति?—इति. तदुच्यते,—याज्यायाम् अपनीयमानायां नापनीयेत भक्षणम्, ह्योतुरेव तु भक्षणं स्यात्, न यजमानस्य—इति । कुतः? । अन्या हि याज्या अन्यत् भक्षणं, न च, अन्यस्मिन् अपनीयमानेऽन्यत् अपनीयते ! यथा तस्यामेव याज्यायाम् अपनीयमानायां प्रवरो नापनीयते, तददेतदपि—इति ।

‘ननु ‘याज्याया अधि वषट्करोति’—इति, यत्र याज्या, तत्र वषट्कारः, यत्र वषट्कारः, तत्र भक्षणमपि’—इति । न

* सम्भोजनादि इति पाठः का० सं० पु० एवं परच ।

भा. इत्युच्यते,—न तावत् याज्यायाम् अवयवभूतो वषट्कारः, येन याज्याध्यहणेनासौ न गृह्यत । यत्तु, तस्या अधि वषट्करोति—इति, अन्येनापि प्रयुज्यमानाया उपरि होता वषट्करिष्यति, याज्यापनयो हि वचनात्, न वषट्कारापनयः, यावद्वचनम्, वाचनिकं भवत्येव, वचनं हि तद्विषयमेव ॥

स. यष्टुर्वा कारणागमात् ॥ ४५ ॥ (सि०) ॥

भा. यष्टुर्वा भक्षः स्यात् । कुतः ? । कारणागमात्, भक्षस्य कारणं वषट्कारः, स च याज्यायाम् आगच्छन्त्याम् आगच्छति, एवं हि श्रूयते,—‘याज्याया अधि वषट्करोति’—इति ।

‘नन्वेतदुक्तं,—यजमानेनापि प्रयुज्यमानायां होता अधि वषट्करोति’—इति । नैष समाधिः,—अनवानता यष्टयम्, वषट्कारेण यागः क्रियते, न याज्यामात्रेण । तस्मात् आ वषट्कारात् न अवानितथं यजमानेन, अन्यञ्चेत् वषट् कुर्यात्, अवान्यात् याजमानः ! न च यजेत । यष्टये चासौ चोद्यते, न याज्यामात्रवचने, ‘स्वयं निषद्य यजति’—इति साङ्गस्य निषद्ययागे विधानात्* ॥

स. प्रवृत्तत्वात् प्रवरस्यानपायः ॥ ४६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—यथा प्रवरो नापनीयते, एवं भक्षोऽपि—इति । उच्यते,—अब्रह्मत्वात् प्रवरो न अपनीयते, अतिक्रान्तो हि स कथम् अपनीयेत होतुः ? भ्रष्टे चावसरे, अनुष्ठीयमानो यजमानस्य विगुणः स्यात् । न च, विगुणः कथञ्चित् अर्थं साधयेत् ! न अत्र चोदकेन प्राप्नोति । ‘अथोचेरत,—यत् ब्रह्मं तच्चोदकेन प्रापितं, यत् न ब्रह्मं, न तत् प्रापितम्’—इति । प्रवृत्तिरियम्,

* साङ्गे यागे विधानात् इति पाठः का० श्री० पु० ।

भा. अपूर्वस्य अत्र विधानं, यादृशम् उक्तं, तादृशं यदि शक्यते, कर्तव्यम्, यदि न शक्यते, यत्र एव शक्यते, तत्र एव कार्यम्; न यत्र विगुणम्—इति । तस्मात् प्रवरस्थानपायो युक्तो न भक्षस्य—इति ॥ (१।५।१८ अ०) ॥

फलचमसस्य इज्याविकारताधिकारश्चम् ।

ख. फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः श्रुतिसंयोगात् ॥
४७ ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘स यदि राजन्यं वा वैश्यं वा याजयेत्, स यदि सोमं विभक्षयिषेत् न्ययोधस्तिभीः* आहृत्य ताः सम्पिच्य दधनि उन्मृज्य तमस्रै भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम्’—इति । तत्र सन्देहः,—किं फलचमसो भक्षविकारः, उत इज्याविकारः ?—इति, (किं फलचमसं भक्षयेत्—इत्यर्थः, उत फलचमसेन यजेत?—इति) । किं प्राप्तम्?—‘फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः’, भक्षणेन हि श्रुतेन एकवाक्यता भवति—इति,—‘तमस्रै भक्षं प्रयच्छेत्’—इति, न, ‘तेन यजेत’—इतिशब्दोऽस्ति, तस्मात् भक्षविकारः ॥

ख. इज्याविकारो वा संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ ४८ ॥
(सि०) ॥

भा. इज्याविकारो वा फलचमसः (फलचमसेन यजेतेत्यर्थः) । कथम्? । यदेतत् भक्षणं, एतत् सोमसंस्कारार्थं, फलचमस्यापि यदि भक्षणं फलचमससंस्कारार्थं, फलचमसस्यान्यत्र अनुपयोगादनर्थकम् । ‘अथ भक्षणं प्रधानं’ । तथा ‘न सोमम्’—

* ‘स्तिभिनी’ इति माधवीये पाठः । स्तिभीनी मुकुलमिति तत्रार्थः ॥

भा. इत्यनुवादो नावकल्पते । यदि त्विज्याविकारो भवेत्, ततः फलचमससंस्कारोऽवकल्पते । तस्मात् इज्याविकारः ।

‘आह,—कथं यजिसम्बन्धेऽसति इज्याविकारो भविष्यति?’—इति । उच्यते,—अस्ति यजिसम्बन्धः । कथम्?—इति । ‘यदि राजन्यं वा वैश्यं वा याजयेत् न्ययोधस्तिभीः...सम्पिष्य ...तम् अस्मै भक्षं प्रयच्छेत्’, याजयितुम्—इति गम्यते । भक्ष-सम्बन्धे हि न पूर्वम् उत्तरेण सम्बन्धते, यदि सोमं भक्षणेन संस्कारुमिच्छेत् न्ययोधस्तिभीः संस्कार्यात्—इति । तस्मात् न भक्षणसम्बन्धः, यागो हि प्रवृत्तोऽस्ति, तेन सह संभत्स्यते, न दोषो भविष्यति ।

‘ननु तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत्’—इतिवचनात् भक्षसाधनम्—इति गम्यते, न, यागसाधनम्—इति, भक्षशब्दानन्तर्यात् । उच्यते,—श्रूयमाणे सम्बन्धे अनर्थकम्—इति ह्यत्वा प्रवृत्तसम्बन्धः—इत्युच्यते; कथं तु भक्षसम्बन्धः?—इति । यद्धि यागद्रव्यं भक्षयितव्यं, तत् चोदकेन भवति, तस्मात् भक्षसम्बन्धं लभते, भक्षसम्बन्धेन च यागसम्बन्ध एव लक्ष्यते, यदि तेनेज्यते, ततः स भक्षो भवति, तस्मात् भक्षवचनात् सुतरां तेन इज्यते—इति गम्यते, सैषा व्यवधारणकल्पना, ‘तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत्’, तमस्मै भक्षं कुर्यात्—इत्यर्थः, यथा स भक्षो भवति, तथा कुर्यात्—इति, यदि च तेन इज्यते, ततोऽयं भक्षो भवति । तस्मात् तेन यष्टव्यम्—इति ॥

घ. होमात् ॥ ४६ ॥ (हे० १) ॥

भा. होमविशेषवचनं भवति,—‘यदान्यांश्चमसान् जुहोति अथै-तस्य दर्भतरुणकेनोपहृत्य जुहोति’—इति । इज्याविकारे सति दर्भतरुणकेन—इति जुहोती गुणवचनम् अवकल्पते । तस्मादपि इज्याविकारः ॥

ख. चमसैश्च तुल्यकालत्वात् ॥ ५० ॥ (हे० २) ॥

भा. 'यदान्यांश्चमसान् उन्नयन्ति, अथैनं चमसं उन्नयन्ति'—
इति । इज्याविकारे सति उन्नयनदर्शनं युज्यते, न भक्ष-
विकारे । तस्मात् अपि इज्याविकारः ॥

ख. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ५१ ॥ (हे० ३) ॥

भा. इतश्च पश्यामः,—इज्याविकारः—इति । कुतः? । लिङ्ग-
दर्शनात् । किं लिङ्गं भवति? । सोमप्रतिषेधानुवादः,—तमस्मै
भक्षं प्रयच्छेत्, न सोमम्—इति, इज्याविकारे सति सोमो न
भक्ष्यते । तस्मात् पश्यामः,—इज्याविकारः—इति ॥ (३।५।
१९ अ०) ॥

ब्राह्मणानामेव राजन्यचमसानुप्रसर्पणाधिकारत्वम् ।

ख. अनुप्रसर्पिषु सामान्यात् ॥ ५२ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति राजसूये दक्षपेयः, तच्च श्रूयते,—'व्रतं ब्राह्मणाः
सोमान् भक्षयन्ति, दक्षदशैकैकचमसमनुप्रसर्पन्ति'—इति । अथ
राजन्यचमसे सन्देहः,—किं, तं राजन्या अनुप्रसर्पेयुः, उत
ब्राह्मणाः?—इति । किं प्राप्तम्?—राजन्याः—इति । कथम्? ।
दक्षदशैकैकं चमसम् अनुप्रसर्पेयुः—इति अनुप्रसर्पतां सङ्ख्या
विधीयते । एकस्यां राजन्यजातौ दक्षसङ्ख्या विधीयते, राजन्य-
जातिः सैव, तेन तं दक्ष राजन्या अनुप्रसर्पेयुः एवं व्रतं ब्राह्मणा
राजन्याश्च, तेषु व्रतशब्दोऽनुवादः । अनुवादसरूपस्य, व्रतं
भक्षयन्ति—इति । तस्मात् राजन्या राजन्यचमसम् अनुप्रसर्पेयुः
—इति । केचिदाहुः,—'ब्राह्मणराजन्यानामेकस्त्रिंशत्समसे भक्ष्यं

भा. विरुद्धते'—इति । न स दोषः, न हि सोमेन उच्छिष्टा भवन्ति
—इति श्रूयते ॥

स. ब्राह्मणा वा तुल्यशब्दत्वात् ॥ ५३ ॥ (सि०) ॥

भा. ब्राह्मणा वा राजन्यचमसम् अनुप्रसर्पयुः । कथम्? । 'शतं
ब्राह्मणाः सोमं भक्षयन्ति'—इतिविधिः श्रुत्या ब्राह्मणगतामेव
सङ्गमाह । तस्मात् शतं ब्राह्मणाः, तेषां भक्षणार्थम् अनु-
प्रसर्पतामेकैकस्त्रिंशमसे दशदशोपदिश्यन्ते । तस्मात् ब्राह्मण-
शतस्य दश ब्राह्मणा राजन्यचमसम् अनुप्रसर्पयुः—इति ॥

इति श्वरखानिष्ठतौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्य पञ्चमः
पादः समाप्तः ॥

तृतीये अध्याये षष्ठः पादः ॥



अथ सुवादिसु खादिरतादिविधेः प्रकृतिगामिताधिकारणम् ॥

सू. सर्वार्थमप्रकरणात् ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा. अनारभ्य किञ्चित् उच्यते,—‘यस्य खादिरः सुवो भवति स हृन्दसामेव रसेनावद्यति सरसा अस्य आज्ञतयो भवन्ति’। ‘यस्य पर्णमयी जुह्वर्भवति न स पापं लोकं शृणोति’—इत्येवमादि। तत्र सन्देहः,—किं, खादिरता सुवे, पालाशता जुह्वां, प्रकृतौ निविशते, उत प्रकृतौ विहृतौ च?—इति। किं प्राप्तम्?—‘सर्वार्थम् अप्रकरणात्’, प्रकृतिविहृत्यर्थम् एवञ्जातीयकम्। कुतः?। अप्रकरणात्, न कस्यचित् प्रकरणे श्रूयन्ते, तानि वाक्येन सर्वत्र भवेयुः—इति ॥

सू. प्रकृतौ वाऽद्विरुक्तत्वात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा. प्रकृतौ वा निविशेरन् अनारभ्याधीतानि पात्राणि। कुतः?। अद्विरुक्तत्वात्,—एवम् अद्विरुक्तं भविष्यति—इति। द्विरुक्ततायां को दोषः?। असम्भवः—इति ब्रूमः,—यद्वि प्रकृतौ विहृतौ च भवति, अस्ति तत् प्रकृतौ, प्रकृतौ चेदस्ति, चोदकेन एव विहृतिं प्राप्नोति, ततो न अनारभ्य—विधिमाकङ्क्षति। तस्मात् अनाकाङ्क्षितत्वात् अनारभ्य—विधिर्न तत्र विदधाति, तेन ब्रूमः,—प्रकृत्यर्थ एव—इति ॥

सू. तद्वर्जन्तु वचनप्राप्ते ॥ ३ ॥ (पुनः पू०) ॥

भा. अप्रकरणात् प्रकृतिविहृत्यर्थम् एव—इत्युच्यते। यत्तु, चोद-

भा. केन प्राप्नोति—इति अनारभ्य—विधिना प्राप्ते न चोदकम्
आकाङ्क्षति । तस्मात् अनारभ्य—विधिवर्जं चोदकः प्रापयि-
ष्यति, अनारभ्य—विधिवाक्येन प्रत्यक्षेण सुवे खादिरता,
चोदकवाक्येन अनुमानिकेन विद्यतौ, अनुमानिकाश्च प्रत्यक्षं
बलवत् । तस्मात् प्रकृतिविद्यत्यर्थोऽनारभ्य—विधिः ॥

स. दर्शनादिति चेत ॥ ४ ॥ (आ०) ॥

भा. यदि अनारभ्य—विधिश्चोदकात् बलीयान्, अनारभ्य—
विधिना प्राप्ते न चोदकम् आकाङ्क्षति, निराकाङ्क्षे वैहते कर्मणि
चोदको न एव प्राप्नोति, तत्र प्रयाजादीनां दर्शनं नैवोपपद्येत,
दृश्यन्ते च प्रयाजादयः क्वचित्, 'प्रयाजे प्रयाजे ह्यणलं जुहोति'
—इति । अथ चोदको बलीयान् ततः एतद्दर्शनम् उपपद्यते ।
तस्मात् प्रकृत्यर्थोऽनारभ्यविधिः ॥

स. न चोदनैकार्थ्यात् ॥ ५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. न प्रकृत्यर्थः, सर्वार्थः—इति ब्रूमः, अप्रकरणे समाग्नानात् ।
यदुक्तम्, अनारभ्य—विधिना निराकाङ्क्षस्य न चोदकः—इति,
तत् नोपपद्यते, न हि अनारभ्य—विधिश्चोदनां निराकाङ्क्षी-
करोति, प्राप्ते हि चोदके न सुवे खादिरता अनारभ्य—विधिना
शक्या विधातुम् । असति चोदकेऽनारभ्य—विधिरपि नास्ति,
न च अनारभ्य—विधिः सुवं प्रापयति, तस्य च खादिरताम् ।
कुतः ? । 'चोदनैकार्थ्यात्', एकार्था हि चोदना,—'यस्य
खादिरः सुवो भवति'—इति । न च, अत्र सुवः खादिरता
चोभयं विधीयते, सुवस्य सतः खादिरताम् एष शब्द आह,
स च चोदकेन प्राप्तः, तस्मात् अस्ति चोदकः, स हि अनारभ्य
—विधिवाक्यस्य प्रत्यक्षत्वात् तं वर्जयित्वा अन्यं प्रापयति ।
तस्मात् प्रकृतिविद्यत्यर्थः अनारभ्य—विधिः ॥

स. उत्पत्तिरिति चेत् ॥ ६ ॥ (पुनः आ०) ॥

भा. इति चेत् पञ्चयसि,—उत्पत्तिरेषां प्रकृतिविधिभिस्तुल्या, प्रकृतावङ्गानि सङ्क्षेपेण विस्तारेण चोच्यन्ते,—‘पञ्च प्रयाजान् यजति’—इति सङ्क्षेपेण; ‘समिधो यजति’—इत्येवमादिना विस्तारेण। इहापि ‘यस्य खादिरः क्षुवो भवति’—इत्येवमादि-विस्तारः, ‘यस्यैवंरूपः क्षुवः’—इति सङ्क्षेपः। एवंरूपः प्रकृतौ विधिर्दृष्टः, अयमप्येवंरूपः, तस्मात् प्राकृतः—इति सामान्यतो—दृष्टानुमानम्। तस्मात् प्रकृत्यर्थोऽनारभ्यविधिः—इति ॥

स. न, तुल्यत्वात् ॥ ७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवं, न हि, एवञ्जातीयकं सामान्यतो—दृष्टं साधकं भवति, केवलम् अत्र प्राकृतविधिसारूप्यं, न तु प्रकृतावेतत् भवति—इति प्रमाणमस्ति। अपि च विहतावपि सङ्क्षेपविस्ताराभ्याम् अङ्गानि विधीयन्ते,—‘तिस्र आहुतीर्जुहोति’—इति सङ्क्षेपः, ‘आमनमस्यामनस्य देवाः’—इति विस्तारः। अतो वैहताैरभ्यनारभ्य—विधयस्तुल्याः, तस्मात् अयमहेतुः प्रकृति-निवेशस्य ॥

स. चोदनार्थकात्स्न्यात् मुख्यविप्रतिषेधात् प्रकृत्यर्थः ॥
८ ॥ (पू० नि०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। न सर्वार्थोऽनारभ्यविधिः, प्रकृत्यर्थः सः—इति ब्रूमः। कुतः?। चोदनार्थकात्स्न्यात्, ह्यस्त्वं चोदकः प्रापयति, न अनारभ्य—विधिना वैहताम् अपूर्धं निराकाङ्क्षं, पात्राणां हि तत् वाक्येन, न यागानां; यागाश्चोदना-लिङ्गसंयोगात् प्रकृतिमपेक्षन्ते, तथा सहेकवाक्यतां यान्ति। प्राकृतास्तु तान् शक्यवन्ति निराकाङ्क्षीकर्तुम्, न अनारभ्य—

भा. विधयः । तस्मात् अवश्यं चोदक उत्पादयितव्यः, स चेत् उपा-
द्यते, नार्थान्नारभ्य—विधिना । न चासौ प्रकरणादीनाम-
भावात् प्रवर्तमानोऽपि वैहतेन यागेन सम्बन्धते, तस्मात् वैहतेन
कर्मणा न अनारभ्यविधिः सम्बन्धते, तस्य वैहतेन मुख्याय,
अनारभ्यविधिर्वाक्यशेषः, प्रहृतौ वा—इतिप्रतिषेधे चोदक-
सामर्थ्यात्, प्राहते वाक्यशेषे प्राप्ते अनारभ्य—विधिर्न भवि-
ष्यति । तस्मात् अनारभ्य—विधिः प्रहृत्यर्थः—इति ॥ (३ ।
६ । १ अ०) ॥

सामिधेनीनां सप्तदशसङ्ख्याया विहृतिगामिताधिकारकम् ।

ख. प्रकरणविशेषात् प्रहृतौ विरोधि स्यात् ॥ ६ ॥

भा. अनारभ्य, किञ्चित् सामिधेनीनां परिमाणमाम्नातं,—
'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्'—इति । तत्र सन्देहः,—किमे-
सत् प्रहृतौ, उत विहृतौ?—इति । किं प्राप्तम्?—पूर्वेण
न्यायेन प्रहृतौ—इति प्राप्तम्, प्रहृतौ च पाञ्चदश्यामाम्नातं,
तेन विकल्पः—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—विहृतौ एवञ्जातीयको विधिः स्यात् ।
कस्मात्? प्रहृतेः पाञ्चदश्याेन निराकाङ्क्षत्वात् । 'ननु विकल्पो
भविष्यति—इत्युक्तं' । प्रकरणविशेषात् पाञ्चदश्याेन न विकल्पः,
विषमज्ञासनात्, विहृतौ तु आनुमानिकं पाञ्चदश्यां बाधित्वा,
अनारभ्य—विधिवाक्येन प्रत्यक्षेण साप्तदश्यां निवेद्यते । अदि-

* प्र वो वाजा अभि यव इत्याद्या अग्निर्सामिधेनीनां ऋचः सामिधेन्यः
इति माधवः ।

† एवञ्जातीयकं विरोधि स्यादिति पाठः का० सं० पु० ।

भा. शक्तं च एतत् प्रयोगवचन उपसंहरिष्यति । तस्मात् एवञ्जातीयकं विहात्यर्थम् ॥ (३।६।२ अ०) ॥

गोदोहनादीनां प्रकृतिगामिताधिकारकम् ।

ख. नैमित्तिकं तु प्रकृतौ, तद्विकारः संयोग-
विशेषात् ॥ १० ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोराम्नातं,—‘गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्’—इति, तथा, अग्नीषोमीये पशौ श्रूयते यूपं प्रकृत्य,—‘वैखो ब्रह्मवचसकामेन कर्त्तव्यः’—इति । एवञ्जातीयकेषु सन्देहः,—किं प्रकृतौ निवेशः, विहातौ?—इति । किं प्राप्तम्?—विहातौ—इति, प्रकृतिरन्येन पात्रेण यूपेन च निराकाङ्क्षा । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—प्रकृतौ नैमित्तिकं निवेशते, निमित्तसंयोगेन विधानात्, खादिरपालाश्ररौहितका अविशेषेण उक्ताः चमसश्च, गोदोहनं वैखश्च विशेषविहितौ, विशेषविधिना च अविशेष-विधिर्बाध्यते । प्रकरणं सामान्यं, निमित्तसंयोगो विशेषः, सामान्येन यत् प्राप्नोति, तत् परोक्षं लक्षणाया ; यत् विशेषेण, तत् प्रत्यक्षं श्रुत्या, श्रुतिश्च लक्षणाया बलीयसी, प्रत्यक्षं च परोक्षात् । तस्मात् प्रकृतौ एव स्यात् ॥ (३।६।३ अ०) ॥

आधानस्य पवमानेच्छनकृताधिकारकम् ।

ख. इच्छार्थमग्न्याधेयं प्रकरणात् ॥ ११ ॥ (पू०) ॥

भा. सन्ति पवमानेष्टयः,—‘अग्नये पवमानायाष्टाकपालं निर्वपेत् अग्नये पावकायाग्नये श्रुचये’—इति । तासां प्रकरणे, समाम्नातं,—‘ब्राह्मणो वसन्ते अग्निमादधोत’—इति । तत्र सन्देहः,—किम् अग्न्याधेयं पवमानेष्टयर्थम्, उत न?—इति । किं प्राप्तम्?

भा.—इष्ट्यर्थम्—इति । कुतः? । प्रकरणात्, तासां प्रकरणे श्रूयते,
—अतः तदर्थम् ॥

स्र. न वा तासां तदर्थत्वात् ॥ १२ ॥ (सि०) ॥

भा. पवमानेष्टयो हि अग्र्यर्थाः, यदि अग्निः इष्ट्यर्थः स्यात्, ततः
तदर्थम् अग्र्याधेयम् इष्टीनाम् उपकुर्यात् । निष्फलास्तु इष्टयः,
तदर्थम् अग्र्याधेयमपि निष्फलं स्यात् । कथं पुनः अग्र्यर्थता
पवमानेष्टीनाम्? । निष्प्रयोजनत्वादेव, प्रयोजनवत्त्वात् च
अग्नीनाम् । भावयितव्या अपि इष्टयः भूतानाम् अग्नीनाम्
अर्थेन क्रियेरन् । तस्मात् अग्र्याधेयं न पवमानेष्ट्यर्थम् ॥

स्र. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १३ ॥ (यु०) ॥

भा. लिङ्गं दर्शयति, यथा अग्र्यर्था पवमानेष्टयः—इति । किं
लिङ्गम्? । 'जीर्यति वा एष आहितः पशुर्यदग्निः तदेतान्येव
अग्र्याधेयस्य हवीषि संवत्सरे निर्वपेत्, तेन वा एष न जीर्यति,
तेनैव पुनर्नवं करोति तन्न सूक्ष्मम्—इति ॥ (३।६।४ अ०) ।

आधानस्य सर्वार्थताधिकरणम् ॥

स्र. तत्प्रकृत्यर्थं यथान्येऽनारभ्य—वादाः ॥ १४ ॥ (पू०) ॥

भा. तदेतत् आधानं किं प्रकृत्यर्थम्, उत सर्वकर्मार्थम्?—इति
सन्देहः । किं प्राप्तम्?—उच्यते, तत् प्रकृत्यर्थम् । कथम्? ।
यथा अन्ये अनारभ्य—वादाः प्रकृत्यर्थाः, तेनैव हेतुना ॥

स्र. सर्वार्थं वा आधानस्य स्वकालंत्वात् ॥ १५ ॥ (सि०) ॥

भा. सर्वकर्मार्थं वा आधानम् । कोऽर्थः? । सर्वकर्मार्थं यत् अग्नि-
इत्थं, तदर्थमाधानं न प्रकृत्यर्थं । न प्रकृतीः प्रकृत्य श्रूयते; न

भा. च, अस्वाहयोःस्य सन्ति, ये अङ्गभावम् उपपादयन्ति । अन्वेष्टु
अनारभ्य—वादेषु अन्यतो निर्घातेऽङ्गभावे ततो विचारः,—
किं प्रकृतेः अङ्गभूतानि विहृतेः?—इति, तस्मात् तेषु युक्तम् ।
इह तु अङ्गभावे न कारणमस्ति, तस्मात् अग्निप्रयुक्तमाधानं, न
कर्मप्रयुक्तं, सर्वकर्माद्याः अग्रयः—इति 'सर्वार्थम्'—इत्युच्यते ।

अपि च अस्य स्तः—कासो विधीयते, स न विधातव्यः,—
यदा ज्योतिष्टोमस्य प्रयोगः, तदा इदं कर्त्तव्यम्; तदा च
वसन्तः । एवं यदा दर्शपूर्णमासयोः प्रयोगः, तदा कर्त्तव्यम्;
तदा पौर्णमासी अमावास्या वा । अग्रहस्त्यर्धन्तु न प्रकृतिप्रयोगे
क्रियेत, तत्र कासवचनं युक्तं । तस्मात् न प्रकृत्यर्थम् ॥ (३ ।
६ । ५ अ०) ॥

पवमानेष्टीगामसंस्कृतेऽग्नौ कर्त्तव्यताधिकारवम् ।

स. तासामग्निः प्रकृतितः प्रयाजवत् स्यात्* ॥ १६ ॥
(प०) ॥

भा. सन्ति पवमानेष्टयः,—'अग्रये पवमानाय'—इत्येवमाद्याः ।
तत्र सन्देहः,—किं पवमानेष्टिसंस्कृतेऽग्नौ पवमानेष्टयः कर्त्तव्याः,
उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—'तासां' खलु पवमानेष्टीनां
पवमानेष्टिसंस्कृतोऽग्नि प्रकृतितः स्यात् । कुतः? । चोदकसाम-
र्थ्यात्, प्रयाजवत्, यथा आसु प्रयाजा भवन्ति चोदकेन, एवं
पवमानेष्टिसंस्कृता अग्रयोऽपि भवेयुः ॥

स. न वा तासां तदर्थत्वात् ॥ १७ ॥ (सि०) ॥

भा. न वा इष्टिसंस्कारः, अग्नीनां पवमानेष्टिषु स्यात् । कस्मात्? ।

* कश्चित् स्वादिति नास्ति ।

भा. तासां तदर्थात्, ताः पवमानेष्टयोग्यिसंस्कारार्थाः,—इत्युक्तम्, यद्य नाम अङ्गभूतं तद्योदकेन गृह्यते ; अग्निप्रयुक्तस्य पवमानेष्टिसंस्कारो न दर्शपूर्णमासप्रयुक्तः, तेन न योदकेन आह्वयते । अपि च पवमानेष्टयः इष्टिसंस्कारवर्जितां प्रहृतिमपेक्षन्ते, अविहितत्वात् तस्यामवस्थायां पवमानेष्टीनाम् ॥ (३ । ६ । ६ अ०) ॥

उपाकरणवादीनामग्नीसोमीयधर्मताधिकरणम् ।

स. तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः प्रकरणाविशेषात् ॥

१८ ॥ (१ म पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे, पशुः अग्निषोमीयो—‘यो दीक्षितो यद्ग्रीषो-
मोयं पशुमासभते’—इति, तथा सवनीयोऽनुबन्धस्य । सन्ति
च पशुधर्माः,—उपाकरणम् उपानयनम् अक्षया बन्धो यूषे
नियोजनं संक्षपनं विशसनम्—इत्येवमाहयः, ते, किं सर्वेषाम्
अग्नीषोमीयसवनीयानुबन्धानाम्, उत अग्नीषोमीयस्य सवनी-
यस्य वा, उत अग्नीषोमीयस्यैव?—इति । किं प्राप्तम्?—
अविशेषात्, सर्वपशुनाम् । कथम् अविशेषः? । ज्योतिष्टोम-
प्रकरणे सर्वे पशवः समाग्नाताः, तत्प्रकरणापन्नत्वात् सर्वे पशु-
धर्माः सम्बद्धान्ते, न चैषां तत्र कश्चिद्विशेषः ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—सवनीयस्य एते धर्माः भवेयुः, तुल्यः सर्वेषां
पशुविधिः स्यात्, यदि प्रकरणे विशेषो न भवेत्; भवति तु
प्रकरणे विशेषः, सवनीयानां प्रकरणे पशुधर्माः समाग्नाताः,
—‘आग्नेयः पशुरग्निष्टोमे आसभ्यः, आग्नेयो हि अग्निष्टोमः
ऐन्द्राग्रः पशुवक्ष्ये आसभ्यः, ऐन्द्राग्रानि हि उक्थ्यानि ।
ऐन्द्रो वृषिणः षोडशिनि आसभ्यः, ऐन्द्रो वै वृषिणः ऐन्द्रः
षोडशी । सारसती मेधी अतिरात्रे आसभ्या, वाग्वै सरसती’

भा. —इति प्रकृत्य पशुधर्मा आग्नाताः, तस्मात् सवनीयस्य, प्रकरणात् भवितुमर्हति ॥

स. स्थानाच्च पूर्वस्य ॥ १९ ॥ (२य पू०) ॥

भा. यदुक्तम्,—प्रकरणात् सवनीयार्थाः—इति, एतत् गृहीतम्, क्रमाच्च अग्नीषोमीयस्य, तस्य हि क्रमे औपवस्ये अहनि समाग्नातम्, तस्मात् इयोरपि—इति ॥

स. श्वस्त्वेकेषां तच्च प्राक्श्रुतिगुणार्था ॥ २० ॥ (सि०) ॥

भा. एकेषां आखिनां श्वः सवनीयानामाग्नातम्, तदपेक्ष्य इयमेषां गुणार्था पुनःश्रुतिः । 'कः पुनर्गुणः ? यदर्थैषा श्रुतिः' । उच्यते,—पशून् सङ्कीर्त्य, 'यथा वे मत्स्योऽविदितो जनमवधुनुते, एवं वा एते अप्रज्ञायमाना जनमवधुन्वते'—इति एषामविज्ञाने दोषमभिधाय, 'एभिः, कथं सवनानि पशुमन्ति?'—इतिप्रश्नरूपकेण वपाप्रचारो गुणो विधीयते, तदर्थैषा श्रुतिः, वपाप्रचारेण एकवाक्यत्वात् । किमतः ? । यद्येवम्, न, सवनीयानां प्रकरणेन पशुधर्माः, क्रमात् अग्नीषोमीयार्थाः एव—इति । किं पुनः तत् श्व आग्नातम् ? । 'आश्विनं यद्दं गृहीत्वा चिहृता यूषं परिवीयाग्नेयं सवनीयपशुमुपाकरोति'—इति ॥

स. तेनोत्कृष्टस्य कालविधिरिति चेत् ॥ २१ ॥ (आ०) ॥

भा. नैतदस्ति,—क्रमाद्अग्नीषोमीयार्था एव—इति, प्रकरणात् सवनीयार्थाः, पूर्वद्वरेवाग्नातं विधानार्थम्, आश्विनवाक्यं कालगुणविधानार्थम् । कथम् ? । तेन वपाप्रचारेण उत्कृष्टस्य कालः एव विधीयते, प्रातःसवने वपाप्रचारे चोदिते सति पञ्चालम्भोऽपि तच्च एव प्राप्नोति, तच्च कालानियमे प्राप्ते 'आश्विनं यद्दं गृहीत्वा'—इति कालमात्रं विधीयते । 'चिहृता यूषं

भा. परिधीयोपाकरोति—इत्यनुवादः । इतरथा हि परिध्याणस्य कालो विधीयेत, उपाकरणस्य च ; तत्र अनेकगुणविधानात् वाक्यभिद्येत ! तस्मात् सवनीयार्थाः पशुधर्माः—इति ॥

स. नैकदेशत्वात् ॥ २२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवम् अग्नीषोमीयार्था एवैते क्रमात् ; आश्विनकालं हि आम्रानं विधानार्थम् । गुणार्थे एतस्मिन् वाक्यभिद्येत, न विधानार्थं, न हि, वपाप्रचारेणोत्प्लष्टस्य कालविधिः सम्भवति ! एकदेशो हि वपाद्रव्यं तेन सन्निपातिनो वपासंस्कारात्, उत्कर्षोपाकरणम् ॥

स. अर्थनेति चेत् ॥ २३ ॥ (आ०) ॥

भा. आह,—अर्थेन तर्हि उत्प्लष्टस्य कालो विधीयते । ‘मुष्टिना पिधाय वपोद्धरणमासीत् आ-वपाहोमात्’—इति श्रूयते, पूर्वव्युत्प्लष्टं मुष्टिना पिधाय न शक्नुयात् एतावन्तं कालमासीनेन अवस्थानम्, अवश्यमाहारविहारादयस्तेन कर्तव्याः—इति ॥

स. न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥ २४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवं, श्रुतिविप्रतिषेधो भवेदेवम्, न च, श्रुतिविप्रतिषेधः, तृणमुष्टिना पर्णमुष्टिना वा पिधायिष्यते । ‘ननु आस्ते—इत्युपवेक्षणे भवति’ । न अवश्यम् उपवेक्षणे एव, औदासीन्येऽपि दृश्यते, तत् यथा,—गृक्षाणि परिगृह्य आस्ते, क्षेपाणि परिगृह्य आस्ते—इति अनुपवेक्षणेऽपि भवति, व्यापारनिवृत्तौ । इहापि तृणमुष्टिना पर्णमुष्टिना वा पिधाय आ-वपाहोमात् उदासिष्यते । तस्मात् आश्विनकालमाम्रानं विधानार्थं, न सवनीयानां प्रकरणे पशुधर्माः, तस्मात् न सवनीयार्थाः ॥

स. स्थानात्तु पूर्वस्य संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ २५ ॥
(उप०) ॥

भा. नास्ति सवनीयानां प्रकरणम्,—इत्येवं सति पूर्वेषु हेतुना स्थानेन पूर्वस्य अग्नीषोमीयस्य भवितुमर्हति । संस्कारोऽयं पशुयागप्रयुक्तः, न ज्योतिष्टोमप्रयुक्तः, ज्योतिष्टोमप्रयुक्तत्वे न विशेषः पशूनां स्यात्, पशुयागा अपि हि धर्मान् प्रयोक्तुम् अपूर्वत्वात् समर्थाः, प्रकरणवन्तश्च । तस्मात् क्रमात् अग्नीषोमीयधर्माः—इति ॥

स. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २६ ॥ (हे०) ॥

भा. इतश्च पश्यामोऽग्नीषोमीयार्थाः पशुधर्माः—इति । कुतः? । 'लिङ्गदर्शनात्' । लिङ्गम् अस्मिन् अर्थे भवति,—'वपया प्रातः-सवने चरन्ति, पुरोडाशेन माध्विन्द्रे सवने'—इति पशुपुरोडाशं दर्शयति । इतरथा समानविधानेषु सर्वेषु पशुषु अग्नीषोमयोर्देवतयोः संस्कारार्थः सन् पुरोडाशः सामर्थ्यात् अग्नीषोमीयस्य भवेत् न सवनीयस्य, तयोर्देवतयोरभावात्, दर्शयति च । तस्मात् अग्नीषोमीयार्थाः—इति ॥

स. अचोदना गुणार्थेन ॥ २७ ॥

भा. (इदं पदोत्तरं सप्तम्) । 'आह, ननु छिद्रापिधानार्थः पशुपुरोडाशः' । न—इति ब्रूमः, 'अचोदना गुणार्थेन', तस्य छिद्रापिधानार्थेन न चोदना, अर्थवादः सः—इत्युक्तम् । तस्मात् देवतासंस्कारार्थः, तस्मात् अग्नीषोमीयार्थत्वे, सवनीये पुरोडाशस्य दर्शनम् उपपद्यते, न साधारण्ये । तस्मात् अग्नीषोमीयार्थाः पशुधर्माः—इति ॥ (३।६।७ अ०) ॥

शाखाहरणादीनामभवदोद्बन्धनताधिकारणम् ।

स. दोहयोः कालभेदादसंयुक्तं श्रुतं स्यात् ॥ २८ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति सायंदोहः, तथा अस्ति प्रातर्दोहः । सन्ति त
दोहधर्माः शाखाहरणं, गवां प्रस्थापनं, प्रस्तापनं, गोदोहनम्
—इत्येवमादयः, ते किं सायंदोहार्थाः, उत उभयार्थाः?—
इति । किं तावत् प्राप्तम्?—दोहयोः तयोरसंयुक्तं धर्मैः श्रुतं
भवत् । कस्मात्? । सायंदोहस्य हि क्रमे औपवसथ्येऽहनि
शाखाहरणादीन् समामनन्ति, तस्मिन् एवाहनि सायंदोहः ।
तस्मात्, क्रमात् सायंदोहार्थाः दोहधर्माः—इति ॥

स. प्रकरणाविभागाद्वा तत्संयुक्तस्य कालशास्त्रम् ॥
२९ ॥ (सि०) ॥

भा. प्रकरणं हि साधारणम्, यथैव दध्नः एवं पयसः, क्रमाच्च
प्रकरणं बलवत्तरम्, तस्मात् उभयार्था दोहधर्माः । अपि च, न
सायंदोहस्य पूर्वद्वुराग्नानं । क तर्हि? । उत्तरेद्युः । कथम्? ।
एवमामनन्ति—‘ऐन्द्रं दध्मावास्यायाम्, ऐन्द्रं पयोऽमावास्या-
याम्’—इति, अमावास्यायां हि उभयं साङ्गं चोद्यते, स एष
सायंदोहोऽर्थात् पूर्वद्वुरनुष्ठीयते, सभाव एष दध्नो,—यत्
पूर्वद्वुरपक्रान्तम् अपरेद्युरभिनिर्वर्तते । तस्मात् सायंदोहस्य
क्रमे आग्नाताः—इत्येतदेव तावत् नास्ति । अत उभयार्था
दोहधर्माः—इति ॥ (३ । ६ । ८ अ०) ॥

सादनादीनां सवनत्रयधर्मताधिकारणम् ।

स. तद्वत्सवनान्तरे ग्रहास्त्रानम् ॥ ३० ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमः,—‘ज्योतिष्टोमेन सर्गकामो यजेत’—

भा. इति । तत्र ऐन्द्रवायवाद्या यज्ञाः प्रातःसवने दश आम्नाताः, तत्र धर्माः श्रूयन्ते,—‘उपोसेऽन्ये यज्ञाः साद्यन्ते, अनुपोसे ध्रुवाः । दशापवित्रेण यज्ञं समार्ष्टि’—इति । सन्ति अपरे माध्यन्दिने सवने, अपरे तृतीयसवने यज्ञाः, तेषु माध्यन्दिनीयेषु तात्तीयेषु च सवनेषु सन्देहः,—किं सर्वेषु यज्ञधर्माः कर्त्तव्याः, उत प्रातः-सवने ये यज्ञास्तेषु?—इति । किं प्राप्तम्?—प्रातःसवनयज्ञेषु भवेयुः, तेषां क्रमे समाम्नानात् नेतरेषाम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘सवनान्तरे’ प्रातःसवनात्, माध्यन्दिने तृतीयसवने च यज्ञाम्नानं तददेव भवितुमर्हति । सर्वेषां हि तुल्यं प्रकरणं, यत्रैते धर्माः समाम्नाताः, वाक्येन यज्ञमात्रस्य विधीयन्ते, क्रमाच्च वाक्यप्रकरणे बलीयसी । तस्मात् सर्वार्था यज्ञधर्माः—इति ॥ (३।६।९ अ०) ॥

रश्नान्निवृत्तादीनां सर्व्वपशुधर्मताधिकरणम् ॥

स. रश्ना च लिङ्गदर्शनात् ॥ ३१ ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टमे पशुः अग्नीषोमीयः,—‘यो दीक्षितो यद्-ग्नीषोमीयं पशुमालभते’—इति । तत्र रश्ना श्रूयते, रश्ना-धर्माश्च,—‘त्रिटत् भवति, दभंमयी भवति, प्रपिष्टानां कर्त्तव्या च’—इति । तत्र सन्देहः,—किमेते धर्मा अग्नीषोमीयरश्नायाः सवनीयरश्नायाश्च साधारणाः, उत अग्नीषोमीयरश्नाया एव?—इति । किं प्राप्तम्?—प्रकरणात् अग्नीषोमीयरश्नायाः—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—उभयोः साधारणाः—इति । कुतः? । ‘लिङ्गदर्शनात्’, लिङ्गं भवति,—एवमाह,—‘आश्विनं यज्ञं गृहीत्वा त्रिटता यूपं परिषीयाग्नेयं पशुमुपाकरोति’—इति

भा. वसनीयपरिख्याणे रश्मनां दर्शयति, सा यदि साधारणी, तत एतद्दर्शनमवकल्पते । यदि अग्नीषोमीयाथाः, ततो प्राज्ञतात् सवनीयपरिख्याणान् निवर्त्तेत ! सवनीये च परिख्याणान्तर-मप्राज्ञतं, यत्र चिदृत्त्वं दृश्यते । कथम् ? । 'स वै आश्विनं गृहं गृहीत्वोपनिष्क्रम्य यूपं परिव्ययति'—इति ; तत्र यदि न साधारणी रश्मना, वाससा परिख्याणं प्राप्नोति, रश्मनां तु दर्शयति । तस्मात् साधारणी रश्मना, तत्साधारण्याच्च तद्धर्मा अपि साधारणाः । तदेतच्छिङ्गात् रश्मनासाधारण्यम् । कोऽत्र खलु न्यायः ?—इति । उच्यते,—प्रकरणात् अग्नीषोमीयस्य, वाक्यात् यूपमात्रस्य—इति ॥ (३ । ६ । १० अ०) ॥

अंश्वदाभ्योरपि सादनादिधर्मवत्त्वाधिकरणम् ॥

स. आराच्छिष्टमसंयुक्तमितरैः सन्निधानात् ॥ ३२ ॥
(पू०) ॥

भा. दूरात् यत् शिष्यते ज्योतिष्टोमस्य, यथा, औपसदानुवाक्या-काण्डे अंश्वदाभ्यौ । तत्र सन्देहः,—किं ज्योतिष्टोमसमागता यद्दधर्माः कर्त्तव्याः, उत न ?—इति । किं प्राप्तम् ?—न कर्त्तव्याः, असन्निधानात्, यथा, 'पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति'—इति-वचनात्, मैत्रावरुणस्यैव अपणं, न सर्वेषाम्, एवम् इदमपि धर्मजातं प्रकरणस्थानामेव, न सर्वेषाम्—इति ॥

स. संयुक्तं वा तदर्थत्वाच्छेषस्य तन्निमित्तात्वात् ॥
३३ ॥ (सि०) ॥

भा. संयुक्तं वा धर्मैः, एवञ्जातीयकं स्यात्, अप्रकरणस्थमपि । कुतः ? । यतः प्रकरणात् वाक्यं बलीयः । 'ननु अन्यत्र क्रिय-

भा. माहा उद्योतिष्टोमस्य मोपकुयुः। उच्यते,—उपकरिष्यन्ति, अंबवदाभ्ययोः 'तदर्थत्वात्', (उद्योतिष्टोमार्थत्वात्) शेषोऽर्थं यद्बर्धनः, यद्बर्धनमित्तो उद्योतिष्टोमस्योपकारकः, यावान् यद्बो उद्योतिष्टोमस्य उपकरोति, तस्य सर्वस्य भवितुमर्हति। तस्मात् अंबवदाभ्ययोरपि यद्बर्धनाः कर्त्तव्याः—इति ॥

ख. निर्देशादप्रवतिष्ठेत ॥ ३४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. यदुक्तम्,—यथा मैत्रावरुणं पयसा श्रीणाति—इति, तत् युक्तं, अथेते वचनात्, प्रकरणं बाधित्वा व्यवस्थानम्, इह तु विपरीतं, तत्र सर्वेषु यद्बेषु प्रकरणं, विशिष्टेषु वाक्यम्; इह तु सर्वेषु यद्बेषु वाक्यं, विशिष्टेषु प्रकरणम्। तस्मात् अप्रकरणस्थस्यापि धर्माः—इति ॥ (३।६।१९ अ०) ॥

चिचिच्छादीष्टकानामग्रज्ज्जाधिकरणम् ।

ख. अग्रज्ज्जमप्रकरणे तद्वत् ॥ ३५ ॥

भा. अनारभ्याग्निमुच्यते,—'चिचिच्छीषपदधाति, वसिष्ठीषप-
दधाति, भूतेष्टका उपदधाति—इति। सन्ति तु प्रकरणे
इष्टकाधर्माः,—'अखण्डामहृण्णलाम् इष्टकां कुर्यात्—इति,
तथा 'भस्मना इष्टकाः संयुज्यात्—इति। तत्र सन्देहः,—
किम् अप्रकरणे समानातानाम् इमे धर्माः कर्त्तव्याः, उत न ?
—इति। किं प्राप्तम्?—न कर्त्तव्याः। कुतः?। असन्निधानात्।
इति प्राप्ते, उच्यते,—अग्रज्ज्जमेवज्जातीयकं तद्वदेव स्यात्, यद्वत्
यद्वाः, प्रकरणाद्धि वाक्यं बलवत्। अमूर्धां चेष्टकानामग्रर्थ-
त्वात् ॥ (३।६।१२ अ०) ॥

मानोपावहरत्नादीनां सोममाचधर्माताधिकरणम् ।

सू. नैमित्तिकमतुल्यत्वादसमानविधानं स्यात् ॥ ३६ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘स यदि राजन्यं वा वैश्यं वा याजयेत्, स यदि सोमं विभक्षयिषेत्, न्यपोधस्तिभीराहृत्य ताः सम्पिष्य दधनि उन्मृज्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम्’—इति । ज्योतिष्टोमे सन्ति सोमधर्माः,—मानमुपावहरणं क्रयोर्गभिषवः—इत्येवमादयः । तत्र सन्देहः,—किं समानविधाना इमे धर्माः सोमस्य फलक्षमसस्य च, उत सोमधर्माः, फलक्षमसस्य तु तद्विकारत्वात्—इति, (गुणकामानां प्रवृत्तिरप्रवृत्तिर्वा प्रयोजनमधिकरणचिन्तायाः) ।

किं प्राप्तम्?—समानविधानाः प्रकरणाविभागात्—इति प्राप्ते, उच्यते,—नैमित्तिकम् एवञ्जातीयकम् असमानविधानं स्यात् । कुतः? अतुल्यत्वात्, अतुल्यः सोमेन फलक्षमसः,—सोमो नित्यवदाग्नातः, फलक्षमसो नैमित्तिकः । किम् अतः? यद्येवं, धर्मा अपि नित्यवदाग्नाताः न इक्ष्वा अनित्यवत् कर्तुम् । यदि साधारणाः, तत्र अनारभ्योर्था विधीयेत । अपि च नैमित्तिकः फलक्षमसः स सोमधर्मान् गृह्णाति, तत्र धर्माः साधारणाः सन्तः द्विकृताः—इत्युच्यते । तस्मात् असमानविधानाः ॥ (३।६।१३ अ०) ॥

प्रतिनिधिष्वपि मुख्यधर्मानुष्ठानाधिकरणम् ।

सू. प्रतिनिधिश्च तद्वत् ॥ ३७ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति प्रतिनिधिः, अत्रो द्रव्येऽपवरति, यथा व्रीहृष्वपचरत्सु नीवाराः । तत्र सन्देहः,—किं नीवाराः समानविधानाः, उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—‘प्रतिनिधिश्च तद्वत्’,—यथा नैमि-

भा. त्तिकं नित्येन असमानविधानं, एवं प्रतिनिधिः अतुल्यत्वात् ।
का अतुल्यता?। ब्रीह्मिणां विहिताः, न नीवाराणाम्,—इयम्
अतुल्यता, ब्रीह्मिणां विहिताः, नीवाराणाम् अर्थापत्त्या
भवन्ति ॥

ख. तद्वत्प्रयोजनैकत्वात् ॥ ३८ ॥ (सि०) ॥

भा. नैतदस्ति,—असमानविधानः प्रतिनिधिः—इति, तद्वत् स्यात्,
यद्वत् अतः, न प्रकृतिविकारभावः । कुतः?। ब्रीह्मिणं हि
ब्रीह्मिधर्माणां ब्रीह्मिधर्मौ निमित्तं, न च, ब्रीह्मिणस्य स्थाने
नीवारत्वं भवति—इति श्रूयते, तस्मात् न प्रकृतिविकारभावः ।
'कथम् तर्हि नीवारेषु धर्मा भवन्ति?—इति' । उच्यते,—या
ब्रीह्मिण्येन परिच्छिन्ना ब्रीह्मिण्यक्तयः, नीवारेषु ताः सन्ति,
तासामर्थेन ते धर्माः क्रियन्ते, तासां च व्यक्तीनामन्यासां च
ब्रीह्मिगतानां तुल्य एष विधिः । का तुल्यता?। उभयेऽपि
ब्रीह्मिण्यलक्षिताः—इति । तस्मात् समानविधानाः—इति ॥

ख. अत्रास्त्रलक्षणत्वाच्च ॥ ३९ ॥ (यु०) ॥

भा. इतश्च न प्रतिनिधेः श्रुतेन सह प्रकृतिविकारभावः । कुतः?।
अर्थलक्षणत्वात्, अर्थाद्वा प्रतिनिधिः क्रियते, न च, अर्थनैतदव-
गन्तुम् शक्यते,—ब्रीह्मिणस्य स्थाने नीवारत्वं भवति—इति ।
तस्मात् न प्रतिनिधेः श्रुतेन सह प्रकृतिविकारभावो भवति—
इति ॥ (३।६।१४ अ०) ॥

श्रुतेऽपि प्रतिनिधिषु मुख्यधर्मानुष्ठानाधिकरणम् ॥

ख. नियमार्था गुणश्रुतिः ॥ ४० ॥

भा. अथ यः श्रुतः प्रतिनिधिः, तत्र किं सामानविधम् उत न?—

भा. इति । यथा, 'यदि सोमं न विन्देत पूतीकानभिषुणुयात्'—
इति । असामानविध्यम्—इति ब्रूमः, अश्रुतात् ह्येतद्विपरीतम् ।
एवं प्राप्ते, उच्यते,—'नियमार्था गुणश्रुतिः', अत्राप्यर्थलक्षण
एव प्रतिनिधिः, सोमे अविल्यमाने सोमसदृशं द्रव्यं प्राप्तम्,
तत्र सुसदृशे द्रव्ये प्राप्ते ईषत्सदृशं नियम्यते । अन्यस्मिन्
प्रतिनिधातये अन्यत् प्रतिनिधीयते, श्रुतस्य स्थाने ; न याग-
द्रव्यत्वेन ॥ (३।६।१५ अ०) ॥

दीक्षणीयादिधर्माणामग्निष्टोमाङ्गताधिकरणम् ॥

स. संस्थास्तु समानविधानाः प्रकरणाविशेषात् ॥ ४१ ॥
(पू०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमः, तत्र संस्थयाः समाग्नाताः अग्निष्टोमः,
उक्थ्यः, षोडशी, अतिरात्रः—इति । तत्र दीक्षणीयादयो
धर्माः । तेषु सन्देहः,—किं सर्वसंस्थं ज्योतिष्टोमं प्रवृत्त्य
दीक्षणीयादयो धर्मा उक्ताः, उत अग्निष्टोमसंस्थयमभिप्रेत्य?—
इति । किं प्राप्तम्?—सर्वसंस्थासु समानं विधानम् । कुतः? ।
'प्रकरणाविशेषात्, नास्ति प्रकरणे विशेषः, येन ज्ञायेत अग्नि-
ष्टोमसंस्थं प्रवृत्त्य—इति । तस्मात् समानविधानाः संस्थाः—
इति ॥

स. व्यपदेशश्च तुल्यवत् ॥ ४२ ॥ (यु०) ॥

भा. तुल्य इव प्रकरणे व्यपदेशो भवति,—'यदि अग्निष्टोमो
जुहोति, यदि उक्थ्यः परिधिमनक्ति, यदि अतिरात्रः एतदेव
यजुर्जपन् हविर्धानं प्रतिपद्येत'—इति सर्वावस्थस्य विशषवच-
नात् अवगम्यते । यदपि सामान्यं, तदपि सर्वावस्थस्यैव—
इति, यदि हि न समानं विधानम्, अग्निष्टोमसंस्थस्य एव

भा. स्यात्! न इह अग्निष्टोमं सङ्कीर्त्तयेत् असङ्कीर्त्तमानेऽपि धर्मसम्बन्धो भवति—इति, सर्वावस्थस्य कीर्त्तनात् सर्वावस्थ-प्रकरणम्—इत्यवगच्छामः ।

अपि च, श्रूयते,—‘आग्नेयमजमग्निष्टोमे आलभेत, ऐन्द्राग्रं द्वितीयम् उक्ष्ये, ऐन्द्रं वृषिणं तृतीयं षोडश्रिणि’—इति द्वितीयस्य तृतीयस्य च दर्शनं समानविधे घटते । उक्ष्ये हि दे निमित्ते स्तः, अग्निष्टोमस्तोत्रं उक्ष्यस्तोत्रञ्च—इति, तत्र द्वौ नैमित्तिकौ आग्नेयः पशुः, ऐन्द्राग्रश्चेति तेन द्वितीयदर्शनं तत्र युज्यते । एवं षोडश्रिणि अतिरात्रे च । प्रकृतविकारभावे तु प्रत्यक्षश्रुतेः ऐन्द्राग्रादिभिरतिदेशेन प्राप्त आग्नेयो बाधेत! तत्र द्वितीयादिदर्शनं नोपपद्येत! भवति च । तस्मात् सर्वावस्थस्य ज्योतिष्टोमस्य दीक्षणीयादयो धर्माः—इति ॥

स. विकारास्तु कामसंयोगे नित्यस्य समत्वात् ॥ ४३ ॥
(सि०) ॥

भा. नैतदस्ति,—समानविधानाः—इति । किं तर्हि उक्ष्यादयः संस्थाविकारभूताः स्युः, अग्निष्टोमसंस्थमुरीक्षत्य दीक्षणीयादयो धर्माः समाग्नाताः । कुतः? उक्ष्यादीनां कामसंयोगेन श्रवणात्,—‘पशुकाम उक्ष्यं गृह्णीयात्, षोडश्रिणा वीर्यकामः स्तुवीत, अतिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत्’—इति । काम्यो गुणः श्रूयमाणो नित्यमर्थं विकृत्य निवृत्तते । कथं? गुणात् एवञ्जातीयके काम्ये फलनिर्दृष्टिः, पशुकाम उक्ष्यं गृह्णीयात्, न ज्योतिष्टोमकाम उक्ष्ययज्ञकामो वा, यथा पशवो भवन्ति, तथा गृह्णीयात्—इत्यर्थः । कथम्?—इति । तत्र अवश्यम् इतिकर्त्तव्यता अपेक्षितव्या, सन्नधानात् नित्यस्य इतिकर्त्तव्यतयेति गम्यते ।

‘कथम् पुनर्ययम् इतिकर्त्तव्यता, सा नित्यस्य इत्यवधार्यते,

भा. न पुनरस्य एव काम्यस्य, साधारणी वा?—इति । उच्यते,
—यत्र यत्र गुणे कामो भवति, तत्र तत्र क्रियायां साध्यमानायां,
नाग्यथा । सा तत्र इतिकर्त्तव्यता, या अतिकम् उपनिपतति,
सा साधनस्य वा साध्यस्य वा?—इति सन्दिग्धमाना साध्यस्य
भवितुमर्हति, नासौ साध्यस्याभवन्ती साधनेन सम्बध्यते, एवं
हि स इतिकर्त्तव्यताविशेषश्चोद्यते, अनेन साधने साधकमुप-
कुर्यात्—इति, न च अस्ति स प्रकारः, येन असाध्यमानायां
क्रियायां तेन साधकः ह्यतो भवेत् । तस्मात् साधकस्यापि
इतिकर्त्तव्यताविशेषमभ्युपगच्छता, साध्यस्यापि—इत्येतदभ्युप-
गमनीयम्, साध्यश्च ज्योतिष्टोमः, साधिकाः संस्थाः, तस्मात्
ज्योतिष्टोमस्य तावत् सा इतिकर्त्तव्यता—इति सिद्धम् ।

‘अथ कस्मात् न साधारणी? । नित्यवदाग्नात्, यदैव
ज्योतिष्टोमः, तदैव दीक्षा; यदा तु ज्योतिष्टोमे पशुकामः,
तदा उक्थ्यसंस्थाः, सर्वदा ज्योतिष्टोमे धर्माः कर्त्तव्याः, एकदा
उक्थ्यसंस्थाः, तत्र सर्वदा ज्योतिष्टोमस्य धर्माः कर्त्तव्याः, ते
च उक्थ्यादिसंस्थस्य अर्थेन—इति पूर्वमुत्तरेण विरुध्यते, यदि
सर्वदा न उक्थ्यादीनामर्थेन; अथ उक्थ्यादीनामर्थेन न
सर्वदा, उभयं विप्रतिषिद्धम् । तस्मात् न साधारणी । नित्य-
वदाग्नात् च यदि अनित्यस्य स्यात्, नित्यवदाग्नात् तत्
अनित्यं क्रियेत, तत्र नित्यवदाग्नात् बाधेत! तस्मात् नित्य-
संस्थस्य ज्योतिष्टोमस्य, न काम्यस्य उक्थ्यादिसंस्थस्य—इति ॥

स. अपि वा द्विरुक्तत्वात् प्रकृतेर्भविष्यन्तीति ॥ ४४ ॥

(यु०) ॥

भा. ‘ननु अग्निष्टोमसंस्थापि काम्या श्रूयते’ । हे हि तत्र
आग्नाते, एकं नित्यवत्, एकं काम्यम्, तत्र द्वयोर्वाक्ययोः
सामर्थ्यात् नित्य एव सकामो भविष्यति, नित्यताविघातो

भा. नास्ति—इति अग्निष्टोमसंस्थस्य ज्योतिष्टोमस्य दोषणीयादवो
धर्माः भविष्यन्ति—इति ॥

स. वचनात्तु समुच्चयः ॥ ४५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—द्वितीयतृतीयदर्शनं समानविधित्वेऽवकल्पते,
नान्यथा—इति, वचनं तत् भविष्यति, न दर्शनं, ऐन्द्रायः
उक्त्ये द्वितीयो विधीयते, तद्यैन्द्रः षोडशिनितृतीयः ॥

स. प्रतिषेधाच्च पूर्वलिङ्गानाम् ॥ ४६ ॥ (यु०) ॥

भा. इतश्च पश्यामः प्रकृतिकारभावः—इति । कुतः ? । प्रति-
षेधात् पूर्वलिङ्गानाम्,—‘यदि अग्निष्टोमो जुहोति, यदि
उक्त्यः परिधिमनन्ति न जुहोति’—इति होमाभावदर्शनं न
स्यात् । प्राप्ते निमित्ते वचनप्रामाण्यात् सामानविधे ॥

स. गुणविशेषादेकस्य व्यपदेशः ॥ ४७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—व्यपदेशः—इति । एकस्यैवाधिकृतस्य यद्योक्तेन
न्यायेन अयमनधिकृतेन गुणेन व्यपदेशः, अग्निष्टोमयज्ञानु-
वादः—इति ॥ (३।६।१६ अ०) ॥

इति श्रीश्रवरक्षामिहतामीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्य
षष्ठः पादः ॥

तृतीये अध्याये सप्तमः पादः ।



बर्हिरादीनां दर्शपूर्णमासतदङ्गीभयाङ्गताधिकरणम् ।

सू. प्रकरणविशेषादसंयुक्तं प्रधानस्य ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र बर्हिर्बर्हिर्धर्माश्च, तथा वेदिर्वेदि-
धर्माश्च । तत्र सन्देहः,—किं बर्हिरादयो बर्हिरादिधर्माश्च
प्रधानस्य उत अङ्गप्रधानानाम्?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?
—‘प्रकरणविशेषात् असंयुक्तं प्रधानस्य’, प्रधानस्य एवजातीयका
धर्माः । कस्मात्? । प्रकरणविशेषात्, प्रधानानां हि प्रकरणं
नाङ्गानाम्, प्रकरणेन च एषां सम्बन्धः, तस्मात् प्रधानस्य ॥

सू. सर्वेषां वा शेषत्वस्यातत्प्रयुक्तत्वात् ॥ २ ॥ (स्ति०) ॥

भा. सर्वेषां वा अङ्गप्रधानानाम् इमे धर्माः, न अत्र शेषत्वं
प्रकरणात् भवति, उपकारलक्षणं हि तत्, यत् यस्य उपकरोति,
तत्तस्य शेषभूतं, सर्वेषां च अङ्गप्रधानानाम् इमे धर्मा उप-
कुर्वन्ति । कथम् अवगम्यते? । वाक्यात्, ‘वेद्यां हवीषि आसा-
दयति—इति हविर्मात्रं वाक्यात् गम्यते, प्रधानहवीषि प्रक-
रणात्, वाक्यं च प्रकरणात् बलीयः, तस्मात् बर्हिषि हवीषि
आसादयति—इति ।

“आह यदि प्रकरणं वाक्येन बाध्यते, लोकेऽपि बर्हिषाम् इमे
धर्मा उक्ता भवन्ति । ‘तत्र को दोषः?’ । सर्वत्र धर्माः कर्तव्याः
प्राप्नुवन्ति” । उच्यते,—प्रकरणात् दर्शपूर्णमासयोः उपकारका
एव—इति गम्यते । तस्मात् लौकिकेषु न कर्तव्याः ।

‘एवं चेत्, अङ्गान्यपि न दर्शपूर्णमासशब्दानि, तस्मात्
तेष्वपि न प्राप्नुवन्ति’ । उच्यते,—यद्यप्यङ्गानि न दर्शपूर्णमास-

भा. शब्दकानि, दर्शपूर्णमासयोः उपकारकाणि, एषु क्रियमाणा धर्माः दर्शपूर्णमासयोः उपकरिष्यन्ति । तस्मात् अङ्गप्रधानेषु कर्त्तव्याः—इति ॥

स. आरादपीति चेत् ॥ ३ ॥ (आ०) ॥

भा. पिण्डपितृयज्ञेषु बर्हिः धर्मैर्युज्येत, सोऽपि दाते बर्हिषि वर्त्तते, तस्य चापि बर्हिषास्ति प्रयोजनं, तदप्याराष्ट्रिष्टधर्मवत् स्यात् ॥

स. न तत् वाक्यं हि तदर्थत्वात् ॥ ४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. न तस्य बर्हिरेतैर्धर्मैर्धर्मवत्, वाक्यं हि एकं दर्शपूर्णमासाभ्यां सह धर्माणां, तेन दर्शपूर्णमासयोः उपकारका धर्माः यत् दर्शपूर्णमासाथं, तच्च प्राप्नुवन्ति, नान्यत्र । तस्मात् पिण्डपितृयज्ञ-बर्हिषो न भविष्यन्ति ॥

स. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ५ ॥ (हे०) ॥

भा. लिङ्गं भवति,—एवमाह,—‘स वै ध्रुवामेवायेऽभिधारयति, ततो हि प्रथमावाज्यभागौ यच्चयन् भवति’—इति अभिधारणस्य आज्यभागार्थतां दर्शयति ॥ (३।७।१ अ०) ॥

स्वामिसंस्काराणां प्रधानार्थताधिकरणम् ।

स. फलसंयोगात्तु स्वामियुक्तं प्रधानस्य ॥ ६ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे केशश्मश्रुणोर्वपनं पयोव्रतानि तपश्चाग्नातानि, तेषु सन्देहः,—किम् अङ्गप्रधानार्थानि उत प्रधानार्थानि? किं तावत् प्राप्तम्?—अङ्गप्रधानार्थानि—इति पूर्वेण न्यायेन प्राप्तम् ।

भा. एवं प्राप्ते ब्रूमः,—स्वामियुक्तमेतत्, तस्मात् प्रधानस्य । कस्मात्? । फलसंयोगात्, पुरुषस्य यागेन अयं सम्बन्धः,—यागोऽपूर्वस्य दाता, पुरुषः प्रतिग्रहीता । ‘ननु अपरोऽप्यस्ति सम्बन्धः,—यागो निर्वर्त्यः, पुरुषोऽभिनिर्वर्त्तकः’—इति । फलेन तु सम्बन्धो भविष्यति—इत्येवमर्थः पुरुषः श्रूयते, न हि यागं स साधयति, यागः सत्तया संभंस्यते—इति । किमिति तर्हि निर्वर्त्तयतः फलं भवति?—इति । संस्काराश्च संस्कुर्वन्ति—इत्युच्यन्ते, यत् तस्य संस्कर्त्तव्यस्य प्रयोजनं, तत्र सामर्थ्यं जनयन्ति—इति, फलं च यच्चीतुम् पुरुषस्य प्रयोजनं, न यागमभिनिर्वर्त्तयितुम् । तस्मात् ये पुरुषसंस्कारास्ते पुरुषं फलप्रतिग्रहणसमर्थं कुर्वन्ति, न यागनिर्वर्त्तिसमर्थम् । ‘आह, यदि यागनिर्वर्त्तौ न सामर्थ्यं जनयन्ति, कथं तर्हि यागधर्मास्ते भवन्ति’ । उच्यते,—यागस्य स्वार्थं साधयतः साहाय्ये वर्त्तन्ते । कश्च तस्य स्वार्थः? । यदस्य कर्त्ता फलेन सम्बन्धते । तस्मात् स्वामिसंस्काराः प्रधानार्थाः—इति ॥ (३ । ७ । २ अ०) ॥

सौमिकवेद्यादीनामङ्गप्रधानोभयाङ्गताधिकरणम् ॥

स. चिकीर्षया च संयोगात् ॥ ७ ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘षट्चिंशत्प्रक्रमा प्राची चतुर्विंशतिरयेण चिंशत् जघनेन इयति श्चयामहे’—इति । तत्र सन्देहः,—किमेषा वेदिरङ्गप्रधानार्था उत प्रधानार्था?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—चिकीर्षया च संयोगात् प्रधानार्था—इति । का चिकीर्षा? । इयति श्चयामहे—इति । यत् चिकीर्षितं, तस्य अर्थनैषा श्रूयते,—‘श्चयामहे अस्यां कर्त्तुम्’—इति प्रधानं च तस्य चिकीर्षितं न अङ्गानि, प्रधानं हि फलवत् न अङ्गानि ।

भा. 'आह यदे अङ्गानि न चिकीर्षितानि, किमर्थं क्रियन्ते?'—
इति । उच्यते,—अचिकीर्षितान्यग्यङ्गानि क्रियन्ते, यद्यपि
तानि न चिकीर्ष्यन्ते, तथापि तैरचिकीर्षितैरन्यचिकीर्ष्यते ।
तस्मात् तानि क्रियन्ते—इति, यत् चिकीर्षितं, तस्य वेदिः ।
तस्मात् प्रधानार्थेति (स्थितं तावदपर्यवसितम्*) ॥ (३।७।
३ अ०) ॥

अभिमर्शनस्याङ्गप्रधानोभयाङ्गताधिकारणम् ।

स. तथाभिधानेन ॥ ८ ॥ (पू०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र श्रूयते,—'चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभि-
वृशेत्, पञ्चहोत्रा अमावास्याम्'†—इति । तत्र सन्देहः,—किम्
अङ्गप्रधानार्थम् अभिमर्शनम्, उत प्रधानार्थम्?—इति । किं
तावत् प्राप्तम्?—प्रधानार्थम्—इति, प्रधाननामधेयञ्च एतत्,
—पौर्णमासी अमावास्या—इति च । तस्मात् प्रधानस्याभि-
मर्शनम्—इति ॥

स. तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मात्सर्व्वचिकीर्षा स्यात् ॥ ९ ॥
(पूर्वाधिकरणस्य सि०) ॥

भा. (स्थितादुत्तरम्) । यदुक्तं,—प्रधानं चिकीर्षितं न अङ्गानि,
तस्मात् प्रधानस्य वेदिः—इति, तन्न, 'तद्युक्ते फलश्रुतिः', साङ्गात्
फलं श्रूयते, तस्मात् साङ्गं चिकीर्षितं । यद्यप्यङ्गानि न चिकी-

* अस्य सिद्धान्तः पराधिकरणपूर्वपक्षप्रदर्शनान्तरं ९म सूत्रेण
दर्शितः ।

† पृथिवी होतेत्यादिको मन्त्रः चतुर्होत्रा । अग्निर्होतेत्यादिको
मन्त्रः पञ्चहोत्रा इति माधवः ।

भा. धितानि, तथापि वेद्यां कर्त्तव्यानि; अग्यथा न साङ्गं वेद्यां
हृतं भवति ॥

स. गुणाभिधानात्सर्वार्थमभिधानम् ॥ १० ॥ (सि०) ॥

भा. यदुक्तं—प्रधाननामत्वात् पौर्णमासीमवास्या-
शब्दस्य च, प्रधानहविषाम् अभिमर्शनम्—इति । नैतदेवम्,
अङ्गहविषामप्यभिमर्शनं स्यात् । कुतः ? । गुणाभिधानात्, गुणो-
ऽभिमर्शनम्—इत्यभिधानं भवति । कतमत् तदभिधानम् ? ।
यत् गुणोऽभिमर्शनम्—इति ब्रूते । पौर्णमासीममावास्याम्—
इति च द्वितीयान्तम् पौर्णमास्यर्थम् अभिमर्शनं कर्त्तव्यम्, अमा-
वास्यार्थमभिमर्शनं कर्त्तव्यम्—इति, अतो यत्र यत्र क्रियमाणं
पौर्णमास्याममावास्यायां वोपकरोति, तत्र तत्र कर्त्तव्यम्; यत्
यत् पौर्णमास्याममावास्यायां वाभिसम्बध्यते, साक्षात्, प्रणाद्या
वा, तत्र तत्र क्रियमाणं तयोः उपकरोति । तस्मात् प्रधान-
हविषाम् अङ्गहविषां च कर्त्तव्यम्—इति ॥ (३।७।४ अ०) ॥

दीक्षादक्षिणयोः प्रधानार्थताधिकारश्च ॥

स. दीक्षादक्षिणन्तु वचनात् प्रधानस्य ॥ ११ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे दीक्षाः श्रूयन्ते,—‘तिस्रो दीक्षाः’—इति, तथा
दक्षिणाः श्रूयन्ते,—‘तस्य द्वादशशतं दक्षिणाः’—इति । तत्र
सन्देहः,—किं दीक्षादक्षिणम् अङ्गप्रधानार्थम्, उत प्रधाना-
नाम्—इति । किं प्राप्तम्?—पुरुषाणाम् अङ्गप्रधानार्थत्वात्
दीक्षादक्षिणस्य अङ्गप्रधानार्थता—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—
दीक्षादक्षिणं प्रधानस्य । कुतः ? । वचनात्, वचनं हि भवति,
—‘दीक्षाः सोमस्य, दक्षिणाः सोमस्य’—इति, न हि वचनस्य

भा. अतिभारो नाम क्वचित् । तस्मात् दीक्षादक्षिणं वचनात्
सोमस्य—इति ॥

स. निवृत्तिदर्शनाच्च ॥ १२ ॥ (यु०) ॥

भा. निवृत्तिं दीक्षाणां दर्शयति । कथम्? । 'अर्ध्या यत्
पशुना अयाक्षीरथ कास्य दीक्षा?—इति यत् षट्ढोतारं
जुहोति सास्य दीक्षा'—इति असत्यामपि दीक्षायां वचनं
भवति । तस्मात् अङ्गानां दीक्षादक्षिणम्—इति ॥ (२।७।
५ अ०) ॥

अन्तर्वेदेर्यूपानङ्गताधिकरणम् ।

स. तथा यूपस्य वेदिः ॥ १३ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्नीषोमीयः,—'यो दीक्षितो
यदग्नीषोमीयं पशुमात्मते'—इति । तत्र यूपं प्रहृत्य श्रूयते,
—'वज्रो वै यूपो यदन्तर्वेदि मिनयान्तर्दिदंहेत्, यत् बर्हिर्वेद्य-
नवण्डः स्यात् अर्द्धमन्तर्वेदि मिनोति अर्द्धं बर्हिर्वेदि अवण्डो
भवति, न निर्दहति'—इति ।

तत्र सन्देहः,—किम् अन्तर्वेदि—इति यूपान्गभावन वेदिः
उपदिश्यते, उत अर्द्धमन्तर्वेदि अर्द्धं बर्हिर्वेदि—इति देश-
लक्षणार्थम् उच्यते?—इति । कथम् यूपान्गभावेन कथं वा
देशलक्षणा?—इति । यदि यूपान्गस्य वेद्यन्तरस्य च सम्बन्धो
विवक्षितः, एवं वेदिसम्बद्धो यूपः कर्तव्यः, ततो यूपान्गभावेन ;
अथ यस्मिन् देशे मीयमानस्य अर्द्धं वेद्यभ्यन्तरेऽर्द्धं च बर्हिः, स
देश उपदिश्यते, ततो देशलक्षणा ।

किं प्राप्तम्?—'तथा यूपस्य वेदिः', यथा दीक्षादक्षिणं प्रधा-
नस्य, तथा यूपस्य वेदिः, तथा यूपो मातव्यः, तथा मीयमानस्य

भा. अङ्गं वेद्यभ्यन्तरे भवति । एवं वेदिश्रुतिरप्यनुपहीष्यते, इतरथा वेदिश्रवदो लक्षयेत् देवं, श्रुतिलक्षणाविश्रये श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा । तस्मात् यूपान्नभावेन वेदिर्निर्दिश्यते ॥

स. देशमात्रं वाऽशिष्येणैकवाक्यत्वात् ॥ १४ ॥ (सि०) ॥

भा. देशमात्रं वा वेदिश्रवदेन लक्षयते न वेदियूपान्नम् । कुतः ? । 'अशिष्येण एकवाक्यत्वात्', 'अङ्गमन्तर्वेदि मिनोत्यङ्गं बहिर्वेदि'—इत्येतेनैकवाक्यताया, सा ज्ञासितथेन, यदि देशलक्षणा, अथ यूपान्नभावेन वेद्या निर्देशः, ततो न ज्ञासितथो बहिर्वेदिर्निर्देशो भवति; वेद्यां यूपस्य अन्नभावेन उपदिश्यमानायाम्, अङ्गं बहिर्वेदि—इत्येतदुच्चार्यमाणं न कस्मिंश्चित् उपकारे वर्तते ।

'अथ बहिर्वेदिदेशमपि यूपान्नभावेन उपदिशेत्' । वाक्य-
भिद्येत । तस्मात् यूपान्नभावेन वेद्या निर्देशे बहिर्वेदिश्रवदः
सर्वथा न ज्ञासितथः । यदि तु देशलक्षणा, ततो विशिष्टे
देशे लक्षयमाणेऽवश्यवस्तथो बहिर्वेदिश्रवदो भवति, अनुचरमाने
वेद्यभ्यन्तरे यस्मिन् कस्मिंश्च प्रदेशे यूपः—इति गम्यते । अथ
पुनर्बहिर्वेदिश्रवदे श्रूयमाणे, यतरस्मिन्देसे मीयमानस्य अङ्गम्
अन्तर्वेदि अङ्गं बहिर्वेदि, स देशो लक्षयितुमिष्टो भवति, स च
बहिर्वेदिश्रवदेन विना न शक्यते लक्षयितुम्—इति, अवश्यं
ज्ञासितथो भवति । तस्मात् देशलक्षणा—इति ॥ (३।७।
६ अ०) ॥

हविर्दानस्य सामिधेयनङ्गताधिकारवत् ॥

स. स्वामिधेनीस्तदन्वाहुरिति हविर्दानयोर्वचनात्
सामिधेनीनाम् ॥ १५ ॥ (पू०) ॥

भा. उद्योतिष्ठोमे श्रूयते,—'उत यत्पुण्वन्ति सामिधेनीस्तदन्वाहुः'

भा.—इति, हविर्दानयोर्यस्मिन् हविर्दाने सुन्वन्ति, तत् सामि-
धेनीभिः सम्बन्धयेत्*—इत्यर्थः । तत्र सन्देहः,—किं सामि-
धेनीनाम् अङ्गभावेन हविर्दानं चोद्यते, हविर्दानविशिष्टाः
सामिधेन्योऽनुवक्तव्याः, उत हविर्दानेन अमूपामनूच्यमानानां
देशो लक्ष्यते?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—सामिधेनीनाम्
अङ्गत्वेन हविर्दानं चोद्यते,—यस्मिन् हविर्दाने सुन्वन्ति, तत्
सामिधेनीभिः सम्बन्धयेत्—इति, तेन हविर्दानसम्बद्धाः सामि-
धेन्योऽनुवक्तव्याः—इति वचनात् सामिधेन्यङ्गभावे सति हवि-
र्दानश्रुतिः अनुग्रहीष्यते, इतरथा देशं लक्षयेत्—इति ।
तस्मात् सामिधेन्यङ्गं हविर्दानम् ॥

ख. देशमाचं वा प्रत्यक्षं ह्यर्थकर्म सोमस्य ॥ १६ ॥ (सि०) ॥

भा. देशलक्षणार्थं वा एतत् उच्यते,—यस्मिन् सुन्वन्ति, तस्मिन्
देशे सामिधेन्योऽनुवक्तव्याः—इति, प्रत्यक्षं हि अर्थकर्म सोमस्य
तेन क्रियते,—दक्षिणे हविर्दाने सोममासादवर्तते—इति,
सोमासादनार्थं तावदेतत् उपादेयम्, सामिधेन्योऽपि अग्नि-
समिन्धनार्थम् उपादेयाः—इति ; इह त्वेतावत् श्रूयते,—यस्य
हविर्दानस्य समीपे सुन्वन्ति तत्सम्बद्धाः सामिधेन्योऽपि अग्नि-
समिन्धनार्थम् उपादेयाः—इति, तत्र न ज्ञायते, किम् सामि-
धेन्यः सम्बद्धाः हविर्दानस्य उपकुर्वन्ति ? किम् हविर्दानं सामि-
धेनीनाम्?—इति ; तदुच्यते,—सामिधेन्यस्तावद्धविर्दानस्य न
उपकुर्वन्ति, न हि तावत् विधीयन्ते,—सामिधेन्योऽनुवक्तव्याः—
इति । किम् तर्हि?—हविर्दानविशेषसम्बन्धः तासां विधीयते,

* हविर्दानमख्यपगतयोर्दक्षिणोत्तरभागयो रवस्थितयोर्हविर्दाननाम-
कयाः शकटयोर्मध्ये दक्षिणं शकटमत्र यत्तच्छब्दाभ्यामभिधीयते । तस्य
समीपे सोमस्याभिषवः । उतेत्ययं शब्दोऽद्यशब्दार्थं वर्तते इति साधवः ॥

भा. न च अविहितम् अङ्गं भवति, नाप्येवं विधीयते, हविर्धानमा-
सामनुचरमानानां उपादातत्वं सम्बन्धयितुम्—इति । कथं
तर्हि ?—हविर्धानविशेषसम्बन्धो सामिधेनीनां श्रूयते, हवि-
र्धानसम्बन्धो विधीयते, न च सामिधेनीसम्बन्धो हविर्धानस्य
प्राप्तः, यो विशेषार्थमनूद्येत । केन तर्हि हविर्धानस्य सम्बन्धः ? ।
प्रत्यक्षं हि अर्थकर्म सोमस्य, न तु सामिधेनीकर्म प्रत्यक्षं
हविर्धानस्य । भवति तु देशस्य सामिधेनीसम्बन्धः, 'अपरेण
वेदिम्'—इति होतुर्देशो लक्षितः, स उत्तरस्य दक्षिणस्य वा
हविर्धानस्य समासज्ञः, तत्र यत् सुन्वन्ति, तदन्वाहः—इति
उपपद्यते वचनम् । तस्मात् देशलक्षणार्थं हविर्धानग्रहणम् ।

'अथैवमभिसम्बन्धः कस्मात् न भवति ?—यस्मिन् हविर्धाने
सुन्वन्ति, तस्य हविर्धानस्य सामिधेनीसम्बन्धः—इति' । नैवं
शक्यम्, एवं दावर्थो विधातव्यो भवतः, हविर्धानसम्बन्धो
हविर्धानविशेषसम्बन्धश्च, तत्र वाक्यन्भिद्येत । तस्मात् नैवम्
अभिसम्बन्धः—इति ॥

स. समाख्यानं च तदत् ॥ १७ ॥ (यु०) ॥

भा. समाख्यानं च तददेव भवति, यथा अस्माभिर्न्याय उपदिष्टः,
—सोमार्थम् हविर्धानम्—इति ॥ (३।७।७ अ०) ॥

अङ्गानामन्यद्वारानुष्ठानाधिकारणम् ॥

स. शास्त्रफलं प्रयोक्तारि तल्लक्षणत्वात् तस्मात्स्वयं
प्रयोगे स्यात् ॥ १८ ॥ (पू०) ॥

भा. इह कर्माणि उदाहरणम्,—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः',
'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत', 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो
यजेत'—इति । तत्र सन्देहः,—किम् एतानि कर्माणि स्वयम्

भा. अनुष्ठातव्यानि, उत अचोत्सर्गमाचं स्वयं कुर्यात्, श्रेषमन्यः स्वयं वा, उत श्रेषमन्यः एव?—इति । किं प्राप्तम्?—स्वयं प्रयोगे स्यात् । कुतः? । यतः स्वयं—प्रयुञ्जानस्य फलं भवति । कथम् अवगम्यते? । 'तल्लक्षणत्वात्', शब्दोऽस्यार्थस्य लक्षणं,—स्वयं—प्रयुञ्जानस्य फलं भवति—इति । कतमः स शब्दः? । स्वर्गकामो यजेत—इति, यः स्वर्गं कामयते, स एवोच्यते,—यागे कर्त्ता भवन् फलं साधयेत्—इति, साङ्गे च कर्त्ता भवन् फलं प्राप्नोति, तस्मात् स्वयंप्रयोगे स्यात् ॥

ख. उत्सर्गे तु प्रधानत्वात् शेषकारी प्रधानस्य, तस्मात् अन्यः स्वयं वा स्यात् ॥ १९ ॥ (पू०) ॥

भा. उत्सर्गे प्राधान्यमस्ति । कथम्? । य उत्सर्गं करोति तेन सर्वं हतं भवति । कथम्? । परिक्रय उत्सर्गः, तेन आनताः सर्वे कुर्वन्ति । तस्मात् यः परिक्रयं करोति तेन स्वयमेव सर्वं हतं भवति । तस्मात् उत्सर्गमाचं स्वयं कुर्यात्, श्रेषमन्यः स्वयं वा ॥

ख. अन्यो वा स्यात् परिक्रयान्नानाद्विप्रतिषेधात्प्रत्यगात्मनि ॥ २० ॥ (सि०) ॥

भा. श्रेषस्यान्य एव स्यात् कर्त्ता । कुतः? । परिक्रयस्याग्नानत्वात्,—पुरुषानतिप्रकारेषु ब्रह्मेषु प्राप्तेषु परिक्रयो नियतः । तस्मात् परिक्रयेणानतैः सर्वे पदार्थाः कर्त्तव्याः—इति, विप्रतिषिद्धस्यात्मनि परिक्रयः । यदि स्वयं कुर्यात्, अपरिक्रोतेन हतं स्यात्, तत्र परिक्रयान्नानानर्थक्यम्, अदृष्टार्थो वा प्रतिज्ञायेत ! तस्मात् अन्यैः परिक्रोतैः शेषाः पदार्थाः कर्त्तव्याः—इति । उत्सर्गे तु स्वयं कुर्वता सर्वं स्वयं हतं भवति ॥ (३। ७। ८ अ०) ॥

परिक्रीतानाहृत्विजां सङ्ख्याविशेषनियमाधिकारखम् ।

स. तच्चार्यात्कर्तृपरिमाणं स्यादनियमोऽविशेषात् ॥
२१ ॥ (पू०) ॥

भा. तच्च तैः परिक्रीतैः कर्मशेषेभ्य अनियमेन कर्तृपरिमाणं स्यात् ।
कुतः ? । अविशेषात्, न कर्तृपरिमाणे विशेषः कश्चिदाग्न्यायते ;
अर्थेन तत्परिमाणं, यावद्भिरसौ इतिकर्तृव्यता निर्वर्तते, तावतो
दृशीत ॥

स. अपि वा श्रुतिभेदात् प्रतिनामधेयं स्युः ॥ २२ ॥
(सि०) ॥

भा. यावन्ति कर्तृनामधेयानि कर्मणि श्रूयन्ते,—तावन्तो वरीतथाः
भिद्यन्ते, तानि च नामधेयश्रवणानि,—‘तान् पुरोध्वर्युर्विभजति,
प्रतिप्रस्थाता मन्थिनं जुहोति, नेष्टा पत्नीमभ्युदायति, उन्नेता
चमसान् उन्नयति’—इति, तथा, ‘प्रस्तोता प्रस्तौति, उद्गाता
उद्गायति, प्रतिहस्ता प्रतिहरति, सुब्रह्मण्यः सुब्रह्मण्यामाह,
होता प्रातरभुषाकमनुब्रूते, मैत्रावरुणः प्रेष्यति, चानुचाह,
अश्वावाको यजति, यावस्तुत् यावस्तोषीयामन्वाह’—एतावद्भिः
कर्मणि प्रयोजनं, तेन तेभ्यश्चमेतानि यथाश्रुतानि कर्तुम् वरी-
तथाः, एतद्व्यतिरिक्तोऽन्यः पदार्था न विद्यते, योऽपि वाक्येन
नोपदिष्टः, स समाख्या गम्यते । तस्मात् एतावतो दृशीत—
इति ॥

स. एकस्य कर्मभेदादिति चेत् ॥ २३ ॥ (आ०) ॥

भा. एवं चेत् प्रतिज्ञायते,—एतावतो दृशीतेति, तन्न, यो यः
तत्कर्म करिष्यति—इति सङ्कल्पते, स स तत्तच्छब्दाभिधेवो

भा. भवति, एकोऽपि बहून् पदार्थान् कर्तुम् बह्वभिर्नामधेयैः उच्येत,
तस्मात् अनियमः ॥

स. नोत्पत्तौ हि ॥ २४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवम्, उत्पत्तौ पुरुषाणाम्, उत्पाद्यमानेषु पुरुषेषु नाम-
धेयानि भिद्यन्ते,—‘ब्राह्मणं वृणीते, होतारम् वृणीते, उद्गा-
तारम् वृणीते, अध्वर्युं वृणीते’—इत्येवमादि; तस्मात् कर्मणि
तैरेवंनामकैः प्रयोजनम्, अवश्यन्ते वरीतव्याः। तस्मात् एषां
वरणे सङ्कीर्तनं न विधिः। प्रयोजनस्य अभावात् न अनुवादः।
न वेदे तावन्तो वरीतव्याः—इति ब्रूयात्, अनर्थकमेव स्यात्।
ब्रूयति चेदं प्रत्यायायितुम् सङ्ख्याविशेषम्; तस्मात् यः सङ्ख्या-
विशेषो एषां प्रतीयते तदर्थमेतदचनम्। तस्मात् षोडश कर्णारो
वरीतव्याः, सोमः तावत्कृतकश्च स्यात्, एवं दर्शपूर्णमासयोरपि ॥
(३।७।६ अ०) ॥

चमसाध्वर्युणां पृथक्काधिकरणम् ।

स. चमसाध्वर्यवश्च तैर्यपदेशात् ॥ २५ ॥

भा. सन्ति ज्योतिष्टोमे चमसाध्वर्यवः,—‘चमसाध्वर्युन् वृणीत’—
इति। तेषु सन्देहः,—किम् एषामन्यतमाः, उतैतेभ्योऽन्ये ?—
इति। किं तावत् प्राप्तम् ?—एतावतां सङ्कीर्तनात् एषामेवान्य-
तमाः;—इति प्राप्ते ब्रूमः, चमसाध्वर्यवश्चापरे भवेयुः तेभ्योऽन्ये
—इति। कुतः ?। ‘तैर्यपदेशात्’, तैः परिगणितैरेषां यपदेशो
भवति,—‘मध्यतःकारिणां चमसाध्वर्यवो, होचकाणां चमसा-
ध्वर्यवः’—इति।

‘ननु ये एव प्रकृतास्ते चमसाध्वर्यवो भवेयुः’। न—इति
ब्रूमः। कुतः ?। ‘तैर्यपदेशात्’, ‘मध्यतःकारिणां चमसाध्वर्यवो

भा. होषकाणां चमसाध्यवः—इति, षष्ठी सम्बन्धे सति भवति; ऋत्विग्भिस्ते अपदिश्यन्ते, ऋत्विजः तेषां स्वामिनो न यजमानः, यजमानपुरुषेभ्यश्च एतेभ्ये—इति नः प्रतिज्ञातम्, न यजमानेन चमसाध्यवं कर्तुम् वरीतथाः, ऋत्विग्भिस्ते वरीतथाः—इति । अपि च, एषाम् उत्पत्तिवाक्ये एव भेदः,—‘चमसाध्यन्वृणीत’—इति ॥ (३।७।१० अ०) ॥

चमसाध्यूणां बह्वनियमाधिकरणम् ।

स. उत्पत्तौ तु बहुश्रुतेः ॥ २६ ॥

भा. तेष्वेव सन्देहः,—किम् अनियमः,—एको द्वौ बहवो वा, उत बहव एव?—इति । अनियमः—इति प्राप्ते उच्यते,—बहवः—इति । कुतः? । उत्पत्तौ बहुश्रुतेः, चमसाध्यवः—इत्येषाम् उत्पत्तौ बहुश्रुतिर्भवति, तस्मात् बहवः—इति ॥ (३।७।११ अ०) ॥

चमसाध्यूणां दशसङ्ख्यानियमाधिकरणम् ।

स. दशत्वं लिङ्गदर्शनात् ॥ २७ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे चमसाध्यवः, ते च बहवः—इत्युक्तम् । कियन्तो बहवः—इति सन्देहे चयः, बहुवचनसामर्थ्यात्—इति प्राप्ते ब्रूमः,—‘दशत्वं लिङ्गदर्शनात्’, ते दश भवेयुः, तथा हि लिङ्गं ज्योतिष्टोमविकारे दशपेये श्रूयते,—‘दश चमसाध्यवो दशदश एकैकं चमसमनुसर्पन्ति—इति, एतस्मात् कारणात् दशपेयो भवति’—इति ब्रुवन् दश चमसाध्यून् दर्शयति, यदि चयो भवेयुः, एतद्दर्शनं नोपपद्येत । तस्मात् षीन् अतीत्य एषा सङ्ख्या, यदि च दश न भवेयुर्नोपपद्येत एतद्दर्शनं! तस्मात्

भा. भवन्ति द्रव्य, द्रव्यैषां स्वामिनः । तस्मात् प्रयोजनभावात्
द्रव्यसङ्ख्योपादीयते,* तस्यां च उपादीयमानायां अपरापि
सङ्ख्या अनुगृह्यते, तेनापि द्रव्य भवेयुः ॥ (३।७।१२ अ०) ॥

श्रमितुरष्टक्याधिकरणम् ।

ख. श्रमिता च शब्दभेदात् ॥ २८ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति श्रमिता,—‘श्रमितारं उपनयोत’—इति । स किं
सङ्कीर्तितानामन्यतमः, उत अन्यस्तेभ्यः ?—इति । किं प्राप्तम्?
—तेषां वरणे सङ्कीर्तनात्, तेषाम् अन्यतमः,—इति प्राप्ते उच्यते,
—‘श्रमिता च शब्दभेदात्’,—शब्दो भिद्यते,—एवंसंज्ञकेन इदं
कर्म कर्तव्यम्—इति, तस्मात् एवंसंज्ञक उत्पादयितव्यः । अस्य
सङ्कीर्तनात् सङ्ख्याविष्टद्विर्गम्यते, तस्मात् अन्यः श्रमिता स्यात् ।
अपि च, ‘जोमा चोद्धं वैकर्तनं च श्रमितुः तत् ब्राह्मणाय
दद्यात् यद्यब्राह्मणः स्यात्’—इति अब्राह्मणाब्रह्मा भवति, सा
ऋत्विजि नोपपद्यते ॥

ख. प्रकरणाद्दोषपक्षसंयोगात् ॥ २९ ॥ (सि०) ॥

भा. सत्यं सङ्ख्याविष्टद्विर्गम्यते, न तु उत्पद्यमानेषु, या त्वनुत्पत्ति-
स्तेषु गम्यते, तत्र एकस्य कर्मभेदात्—इत्येवमभ्यवकल्पते । यत्तु
उक्तम्,—अब्राह्मणाब्रह्मा भवति—इति, यजमानाभिप्राया सा,
—यदि अब्राह्मणो यजमानः स्यात्—इति । ‘ननु, यदि
अब्राह्मणः स्यात्—इति प्रकृतः श्रमिता सम्बन्धते’ । उच्यते,—
श्रमयति—इति श्रमिता, यौगिक एष शब्दः प्रकृतेष्वभ्यवक-
ल्पते । श्रामिचमप्याभ्यर्थवे समाम्नानात् अभ्यर्थुणा कर्तव्यम् ।

* प्रयोजनाभावात् न द्रव्यसङ्ख्या उपनीयते इति का० सं० पु० पाठः ॥

भा. तस्मात् ज्ञानात् अध्वर्युः ज्ञानिता, एवं सति अप्रहृतो यजमानः सम्बध्यते ॥ (३।७।१३ अ०) ॥

उपगस्यापृथक्काधिकरणम् ॥

सू. उपगाश्च लिङ्गदर्शनात् ॥ ३० ॥

भा. ज्योतिष्टोमे सन्तुपगा नाम, ते शब्दभेदात् सङ्ख्याविष्टिं प्रत्याययन्ति—इत्यध्वर्यादिभ्योऽन्ये—इति प्राप्ते ब्रूमः,—तेषामेव केचित्स्युः—इति । कस्मात्? उत्पत्तौ परिगणनात्, यौगिकत्वाच्च शब्दस्य । लिङ्गमिदं भवति,—‘न अध्वर्युः उपगायेत्’—इति, यद्येभ्योऽन्ये भवेयुर्नाध्वर्युम् प्रतिषेधेत्! अप्राप्तत्वात् । यतस्तु प्रतिषेधति,—अतोऽवगच्छामः,—उत्पत्तौ सङ्कीर्तितानामेवान्यतमः—इति ॥ (३।७।१४ अ०) ॥

सोमविक्रेतुः पृथक्त्वाधिकरणम् ॥

सू. विक्रयो त्वन्यः कर्मणोऽचोदितत्वात् ॥ ३१ ॥

भा. अस्ति सोमविक्रयो तत्र सन्देहः,—स किम् अध्वर्यादीनाम् अन्यतमः, उतैभ्योऽन्यः?—इति । किं प्राप्तम्?—तेषां सङ्कीर्तनात्, तेषाम् अन्यतमः—इति प्राप्ते ब्रूमः,—‘विक्रयो त्वन्यः’ स्यात्—इति, विक्रयो न चोद्यते क्रयश्चोद्यते, तत्र अर्थादिक्रयः, ज्योतिष्टोमस्य च पदार्थान् कर्तुम् अध्वर्यादय उत्पाद्यन्ते, न तु विक्रयो ज्योतिष्टोमस्य श्रूयते । तस्मात् न अध्वर्यादीनामन्यतमः—इति ॥ (३।७।१५ अ०) ॥

ऋत्विगितिनाम्नोऽसर्व्वगामिताधिकरणम् ।

ख. कर्मकार्यात् सर्व्वेषां ऋत्विक्त्वमविशेषात् ॥ ३२ ॥
(पू०) ॥

भा. ये एते पुरुषा ज्योतिष्टोमस्य श्रूयन्ते, ते किं सर्व्वे एते ऋत्विजः, उत केचित् एषाम्?—इति । किं प्राप्तम्,—सर्व्वे । कुतः? । ‘कर्मकार्यात्’, सर्व्वे यागस्य साधनं कुर्वन्ति, तस्मात् सर्व्वे ऋतौ यजन्ति, ये च ऋतौ यजन्ति ते ऋत्विजः, न काश्चिद्विशेष आश्रीयते,—इमे एव ऋतौ यजन्ति—इति ऋत्विजः, इमे न—इति । तस्मात् सर्व्वेषाम् ऋत्विक्त्वम् ।

‘ननु परिसङ्ख्या श्रूयते,—‘सौम्यस्य अध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदश ऋत्विजः’—इति । उच्यते,—परिसङ्ख्यायां बहवो दोषाः सन्तीति, अवयुत्यवादोऽयं भविष्यति ॥

ख. न वा परिसङ्ख्यानात् ॥ ३३ ॥ (सि०) ॥

भा. न वा सर्व्वे । कस्मात्? । परिसङ्ख्यानात्,—एवं हि श्रूयते, ‘सौम्यस्य अध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदश ऋत्विजः’—इति, स एष न विधिः, बह्वतराणां प्राप्तत्वात्, न अनुवादः, प्रयोजनाभावात्, न चेत् परिसङ्ख्यापि, आनर्थक्यमेव स्यात् ।

‘ननु परिसङ्ख्यायां स्वार्थहानं परार्थकल्पना प्राप्तबाधश्च’ । उच्यते,—स्वार्थहानम् अदोषः प्राप्तत्वात् । परार्थकल्पना च प्रत्ययात् । कथं? । बहूनाम् ऋत्विक्त्वो ज्ञाते पुनः सप्तदश-त्विजः—इत्युच्यते, सप्तदशभिर्ऋत्विक्त्वशब्दस्य सम्बन्धः पुनः प्रकाशयते, अधिकैश्च न प्रकाशयते । तत्र विज्ञायते एतत्,—ऋत्विक्त्वशब्दस्य पुरुषैः सम्बन्धे पुनः प्रकाशयमाने सप्तदशभ्यो-भ्यधिका वर्जिताः—इति गम्यते ; तत्र किं सप्तदशभिः सम्बन्धो

भा. विवक्षितः, किम् वा अधिकानाम् वर्जनम्?—इति, सप्तदश-
सम्बन्धस्य अप्रयोजकत्वात् अधिकानाम् वर्जनम् विवक्षितम्—
इति गम्यते ।

‘आह,—ननु प्रतिषिद्धमानेष्वप्यधिकेषु प्रतिषेधो न प्रा-
प्नोति, न हि, ते ऋतौ न यजन्ति, न वा ऋतौ यजन्तो न
ऋत्विजः स्युः!’ । उच्यते,—सत्यं, न, प्रतिषेधात् ऋत्विक्शब्देन
न सम्बन्धते, किन्तु प्रतिषेधसामर्थ्यात् हि ऋत्विक्कार्यं न भवन्ति ।
किं पुनः ऋत्विक्कार्यम्? । ऋत्विज उपवसन्ति—इति, ऋत्विजो
वृणीते, ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति—इति ।

‘आह,—यत् ऋत्विजां कार्यं, कथं तत् केषाञ्चित् ऋत्विक्-
शब्दकानां न स्यात्?’ । उच्यते,—एवं तर्हि द्विविधोऽर्थं ऋत्विक्-
शब्दः,—ऋतुयजननिमित्तः, वरणभरणनिमित्तस्य, तत्र याग-
निमित्तस्य यद्दणम् अनर्थकम्, तस्मात् वरणभरणनिमित्तो गृह्यते
—इति ।

‘आह,—नश्चितरेतराश्रयमेवं भवति,—ये ऋत्विजस्ते वरी-
तथाः, ये क्रियन्ते ते ऋत्विजः—इति तदितरेतराश्रयम्’ । उच्यते,
—न हि ऋत्विजो वृणीते—इत्ययमर्थः,—ऋत्विजः सन्तो वरी-
तथाः—इति, कथं तर्हि?—वरणेन ऋत्विजः क्रियन्ते—इति,
एवं द्वितीयानिर्द्देशो युक्तो भविष्यति,—अध्वर्युं वृणीते—इत्येवं-
लक्षणः । दृष्टार्थता च वरणस्य भविष्यति ।

‘कथम् आत्मेच्छया अध्वर्युर्भवति’—इति चेत् कश्चित् ब्रूयात्,
भवति—इति ब्रूयाम् । कथम्? । एवंशब्दकेनायं पदार्थः कर्त्तव्यः
—इति, नास्त्येवंशब्दकः, यस्य नास्ति, स यदि शक्यते कर्त्तुम्,
कर्त्तव्यो भवति; यथा,—‘जुहा जुहोति’—इति अविद्यमाना
जुहः क्रियते, एवमेतदपि द्रष्टव्यम् । तत्र अर्थादनियमेन
ऋत्विज्शब्दसम्बन्धे कर्त्तव्ये, वरणविशेषेण कर्त्तव्यः—इति निय-
म्यते । तस्मात् न इतरेतराश्रयम् । तस्मात् सप्तदशैव ऋत्विजः

भा. कर्त्तव्याः—इति परिसङ्ख्या, —सप्तदश ऋत्विजः संस्कारैः कर्त्तव्याः—इति ॥

स. पक्षेणेति चेत् ॥ ३४ ॥ (आ०) ॥

भा. एवं चेत् मन्यसे,—यथोक्तपक्षेणैतदेवम् उच्येत, अवयुत्यवाद-
पक्षेण सप्तदशर्त्विजः—इति, तत्परिहर्त्तव्यम् ॥

स. न सर्वेषामनधिकारः ॥ ३५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवं, न अत्र सर्वेषां पुरुषाणां वचनं, यान् अधिष्टत्य
अवयुत्यवादो भविष्यति; यत्र परा सङ्ख्या कीर्त्यते, तत्र
अवयुत्यवादो भवति, यथा, द्वादशकपाले यदष्टाकपालो भवति
—इति, न च, इह परा सङ्ख्या कीर्त्यते । तस्मात् न अव-
युत्यवादः—इति ॥ (३।७।१६ अ०) ॥

दीक्षादक्षिणावाक्योक्तानामेव ब्रह्मादीनां सप्तदशर्त्विजाधिकारश्च ॥

स. नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात् ॥ ३६ ॥

भा. सप्तदश ऋत्विजः—इति समधिगतम् । कतमे ते सप्तदश ?—
इति इदं चिन्तयते । किं प्राप्तम्?—अज्ञानम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः,
—‘नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात्’, दक्षिणासम्बन्धेन
नियम्येरन्, एवं ज्ञान्नायते,—‘ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति’
—इति, एवम् अभिधाय दक्षिणादानक्रमपरे वाक्ये ब्रह्मादयः
श्रूयन्ते,—‘अग्नीधेभ्ये ददाति’—इति, ततो ब्रह्मणे, ततोऽमुष्मै च
अमुष्मै च—इति केचिदेव विशिष्टाः श्रूयन्ते,—एवं ये श्रूयन्ते,
ते तावत् ऋत्विजः, ततोऽभ्यधिका नान्ये भवितुमर्हन्ति, दक्षि-
णाभिर्नियमः—इति ॥

ख. उक्त्वा च यजमानत्वं तेषां दीक्षाविधानात् ॥ ३७ ॥
(यु०) ॥

भा. ये ऋत्विजः ते यजमानाः—इत्येवम् अभिधाय ब्रह्मादीनां दीक्षाक्रमपरे च वाक्ये दीक्षां दर्शयति । कथम्? । ‘अध्वर्यु-
गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति, तत उद्गातारं, ततो
होतारम् । ततः तं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयित्वा अङ्घ्रिनो दीक्षयति,
ब्राह्मणाञ्छंसिनं ब्रह्मणः, प्रस्तोतारम् उद्गातुः, मैत्रावरुणं होतुः ।
ततस्तं नेष्टा दीक्षयित्वा तृतीयिनो दीक्षयति, आग्नीधं ब्रह्मणः,
प्रतिहर्तारम् उद्गातुः, अष्टावाकं होतुः । ततस्तमुन्नेता दीक्ष-
यित्वा पादिनो दीक्षयति, पोतारं ब्रह्मणः, स्रजह्वण्यम् उद्गातुः,
यावस्तुतं होतुः । ततस्तमन्यो ब्राह्मणी दीक्षयति, ब्रह्मचारी
वाचार्य्यप्रेषितः’—इति । दीक्षा च यजमानसंस्कारः । तस्मात्
ब्रह्मादय ऋत्विजः सप्तदश—इति ॥ (३ । ७ । १७ अ०) ॥

—
ऋत्विजां स्वामिसप्तदशत्वाधिकारणम् ।

ख. स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात् ॥ ३८ ॥

भा. एतदुक्तं,—सप्तदश ऋत्विजः—इति, ते च ब्रह्मादयः । तत्र
सन्देहः,—किम् एषां सदस्यः सप्तदशः, उत गृहपतिः? । किं
तावत् प्राप्तम्?—सदस्यः—इति स हि कर्मकरः, इतरः स्वामी ;
यश्च कर्मकरः, स परिक्रेतव्यः, ऋत्विजश्च परिक्रीयन्ते, तस्मात्
सदस्यः सप्तदश ऋत्विक्—इति । अपि च, तस्य चमसमामनन्ति
वरुणं च ; ऋत्विक् वरीतव्यो न स्वामी, तस्मात् सदस्यः सप्तदशः ।

इति प्राप्ते उच्यते,—‘स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात्’, स्वामी
एषां सप्तदशः स्यात् । कुतः? । कर्मसामान्यात्, यज्ञे कर्त्तार
ऋत्विजो भवन्ति, यज्ञे च कर्त्ता गृहपतिः, तस्मात् ऋत्विक्,

भा. यच्चकर्मसामान्यात् । यदुक्तं,—तं समामनन्ति तस्य चमसमा-
मनन्ति वरणं च, तस्मात् सदस्यः सप्तदशः—इति । उच्यते,—
ब्रह्माणमेव ते समामनन्ति, वरणम् अपि चमसश्च ब्रह्माण एव, स
हि सदसिभवः, तस्मात् खामिसप्तदशाः ॥ (३।७।१८ अ०) ॥

आध्वर्यवादिषु आध्वर्यादीनां कर्तृतानियमाधिकरणम् ।

अग्नेः प्रकृतिविकृतिसर्वार्थताधिकरणञ्च ॥

सू. ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वाद्अग्नयश्च स्वकालत्वात् ॥ ३९ ॥
(पू०) ॥

भा. खामिसप्तदशाः ज्योतिष्टोमस्य ऋत्विजः समधिगताः । अत्र
इदानीमयं सन्देहः,—किं सर्वं पुरुषकार्यं तैः कार्यम्, अग्निमिष्य
गार्हपत्यादिभिः अग्निकार्यम्, उत काचिद्व्यवस्था?—इति । किं
तावत् प्राप्तम्?—‘ते सर्वार्थाः, प्रयुक्तत्वात् अग्नयश्च स्वकाल-
त्वात्’, ते वृताः सर्वस्मै पुरुषकार्याय स्युः, अग्नयश्चाग्निकार्याय ।
कुतः? । तैः कार्यैः आकाङ्क्षितत्वात्, प्रति—स्वं ग्रहणमेषाम्
अनुवादः, स्वकालत्वात् अग्नयश्च सर्वार्थाः—इति, समधिगत-
मेतत्* ॥ (३।७।१९ अ०) ॥

* “ये पुनराहवनीयादयः, तेषां सर्वार्थमप्रकृतमेव न च प्रसङ्गादु-
च्यते, स्वकालत्वस्य हेतोरप्यसमर्थत्वात् । न च तस्य उत्तरपक्षे कश्चित्
पक्षस्य हेतोर्वा परामर्शोऽस्ति”, इत्यारभ्य “सिद्धान्तवचनमेवैतत्, निरा-
करणबोध्यभावात् । तस्मादेवं वर्ण्यते, नैतदेवाग्नीनां सर्वार्थत्वं पूर्वपक्षी-
कृतं, किं तर्हि अधिकरणान्तरसूत्रोक्तन्यायेनाधानवदेव पूर्वोत्तरपक्षौ
रचयितव्यौ,—किमाहवनीयादयः प्रकृत्यर्थाः आहोश्चित् प्रकृतिविकृत्य-
पेक्षया? । तत्रप्रकृत्यर्थं यथान्येऽनारभ्यवादाः । प्रकृतौ वा द्विरुक्तत्वादित्येवं
प्राप्तेऽभिधीयते,—अग्नयः सर्वार्था भवेयुः । कुतः? । स्वकालत्वात्
स्वतन्वोत्पत्तिकत्वादित्यर्थः । तदेतत् वक्षितं सर्वार्थं वाधानस्य स्वकाल-
त्वादित्यत्र, इत्येवं वार्त्तिकमत्रानुसर्तव्यम् ॥

आध्वर्यवादिष्वेवाध्वर्यादीनां कर्तृतानियमाधिकरणस्य सिद्धान्तः ॥

स. तत्संयोगात्कर्मणो व्यवस्था स्यात्, संयोगस्यार्थव-
त्त्वात्* ॥ ४० ॥ (सि०) ॥

भा. 'तत्संयोगात्' विशिष्टपुरुषसंयोगात्, अतिष्ठत, ये येन
पुरुषेण समाख्यायन्ते, ते तेन कर्त्तव्याः, एवं तेषां पुरुषसंयोगो-
र्थवान् भविष्यति, आध्वर्यवमध्वर्युणा, ह्यौचं ह्यौचा, औद्गाचम्
उद्गाचा—इति ॥ (३।७।२० अ०) ॥

समाख्यातकर्तृत्वस्यापि क्वचित् बाधाधिकरणम् ।

स. तस्योपदेशसमाख्यानेन निर्देशः ॥ ४१ ॥

भा. किम् एष एवोत्सर्गः?—सर्वं समाख्यातं समाख्यातपुरुषैः कर्त्त-
व्यम्—इति । न—इति ब्रूमः,—तस्य उपदेशादिशेषसमाख्या-
नाच्च निर्देशः । यथोपदेशः,—'तस्मात् मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु-
चाह'—इति । समाख्या,—'पोत्रीया नेष्ट्रीया—इति । एष
समाख्यायाञ्च अपवादः—इति ॥

स. तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥ ४२ ॥

भा. यच्च ह्योतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवत उपशृणुयात्—इति ह्योचे
प्रातरनुवाके समाख्याया प्राप्तं ह्योतारं दर्शयति, तथा इदमपरं
लिङ्गं भवति,—'उद्गीथ उद्गातृणामृचः प्रणवः उक्थशंसिनां

* तदिदं समाख्याविनियोगस्यैवातिप्रसङ्गनिवारणेन श्रेष्ठीभूतं सूत्रं
नाधिकरणान्तरमिति शास्त्रदीपिका ॥

भा. प्रतिहारो अर्धरूपम्—इति, समाख्याकृतं भेदं दर्शयति, तथा इदमपि लिङ्गं भवति,—‘यो वाध्वर्योः स्वं वेदं स्ववानेव भवति, एतत् वाध्वर्योः स्वं यदाश्रावयति’—इति समाख्याकृतं नियमं दर्शयति ॥ (३।७।२१ अ०) ॥

समुच्चितयोर्गुणवचनप्रैषयोर्भेदावरोक्तकृत्वाधिकारकम् ॥

ख. प्रैषानुवचनं मैत्रावरुणस्योपदेशात् ॥ ४३ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्नीषोमीयः,—‘यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमाश्रभते’—इति । तत्र इदं समामनन्ति,—‘तस्मात् मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह’—इति । तत्र संशयः,—किं सर्वानुवचनेषु सर्वप्रैषेषु च मैत्रावरुणः स्यात्, उत यत्र अनुवचने प्रैषः?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—सर्वानुवचनेषु, अविशेषात्, न हि कश्चिद्विशेष आश्रीयते,—अस्मिन् अनुवचने मैत्रावरुणोऽस्मिन् न—इति । तस्मात् सर्वानुवचनेषु सर्वप्रैषेषु च मैत्रावरुणः स्यात् ॥

ख. पुरोऽनुवाक्याधिकारो वा प्रैषसन्निधानात् ॥ ४४ ॥
(सि०) ॥

भा. पुरोऽनुवाक्यां वा मैत्रावरुणोऽनुब्रूयात् । कुतः? । यत्र प्रैषस्य अनुवाक्या च सहोच्यते,—तत्र मैत्रावरुणः, यत्र केवलानुवाक्या न तत्र मैत्रावरुणः, यत्र वा केवलः प्रैषः, तत्रापि न; यत्रोभे समुच्चियेते, तत्र स भवेत्, तथा हि, समुच्चितयोः तं समामनन्ति,—‘तस्मात् मैत्रावरुणः प्रेष्यति च अनु चाह’—इति, चशब्दात् समुच्चितयोः—इति गम्यते ॥

स. प्रातरनुवाके च होतृदर्शनात् ॥ ४५ ॥ (यु०) ॥

भा. इतश्च पश्यामो न सर्वानुवचनेषु मैत्रावरुणः—इति । कुतः ? । यतः प्रातरनुवाके होतारं दर्शयति । कथम् ? । यत्र होतुः प्रातरनुवाकम् अनुब्रुवत उपशृणुयात्, तदाध्वर्युर्गृह्णीयात्—इति । तस्मात् न सर्वानुवचनेषु मैत्रावरुणः—इति ॥ (३ । ७ । २२ अ०) ॥

चमसहोमेऽध्वर्यवोः कर्तृताधिकरणम् ।

स. चमसांश्चमसाध्वर्यवः समास्थानात् ॥ ४६ ॥ (पू०) ॥

भा. सन्ति चमसाध्वर्यवस्तेषु सन्देहः,—किं चमसाध्वर्यवः चमसान् जुहुयुः उत अध्वर्युः ?—इति । चमसाध्वर्यवः—इति ब्रूमः । कस्मात् ? । चमसेषु आध्वर्यवं ते कुर्वन्ति—इति चमसाध्वर्यवः, तस्मात् ते जुहुयुः—इति ॥

स. अध्वर्युर्वा तद्ध्यायत्वात् ॥ ४७ ॥ (सि०) ॥

भा. अध्वर्युर्वा जुहुयात्, एष हि न्यायः,—यदाध्वर्यवपदार्थम् अध्वर्युः कुर्यात्, आध्वर्यवश्च होमः, तस्मात् अध्वर्युर्जुहुयात् । 'ननु चमसाध्वर्यवः—इति विशेषसमास्थानाच्चमसाध्वर्यवो होष्यन्ति'—इति । न—इत्युच्यते,—चमसेष्वेतेऽध्वर्यवत् भवन्ति—इति चमसाध्वर्यवः, यदि तैरध्वर्युर्जुहोति, ततस्तैश्चमसाध्वर्युभिरपि होतव्यम् । यदि चमसाध्वर्यवो जुहुति, न अध्वर्युः; तदा ते न तद्वत् स्युश्चमसाध्वर्यवः । तस्मात् न जुहुयुः—इति ॥

स. चमसे चान्यदर्शनात् ॥ ४८ ॥ (यु०) ॥

भा. चमसे च अन्यं चमसाध्वर्यादर्शयति । कथम् ? । 'चमसांश्च-

भा. मसाध्वर्यव प्रयच्छति, तान् स वषट्कर्षे हरति, अन्यो ऊत्वा चमसाध्वर्यवे प्रयच्छति—इति गम्यते । कथम्? । स वषट्कर्षे हरति, भक्षयितुम्—इति गम्यते । तस्मात् ऊतस्य चमसाध्वर्यवे प्रदानं, यो जुहोति, स प्रयच्छति । तस्मात् अन्यो जुहोति—इति । अपि च, 'यो वाध्वर्योः स्वं वेद स्वानेव भवति, सुग्वा अध्वर्याः स्वं वायव्यमस्य स्वं चमसोऽस्य स्वम्'—इति, न तावदस्य चमसः स्वं, यजमानस्य हि सः । 'चमसोऽस्य स्वम्'—इति ब्रुवन्, अध्वर्याश्चमसेन होमं दर्शयति ॥

स. अशक्तौ ते प्रतीयेरन् ॥ ४६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ कथम्, चमसाध्वर्यवः—इति समाख्यानम्? । उच्यते,— 'अशक्तौ ते प्रतीयेरन्', यदा व्यापृतत्वात्, न शक्नोति अध्वर्युर्होतुम्, तदा समाख्यासामर्थ्यात्ते होष्यन्ति ॥ (३।७।२३ अ०) ॥

इयेनवाजपेययोरनेककर्तृकताधिकारकम् ।

स. वेदोपदेशात्पूर्ववदेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः ॥ ५० ॥
(पू०) ॥

भा. अस्ति श्रीङ्गाचे समाख्यातः इयेनः, आध्वर्यवे वाजपेयः । तत्र सन्देहः,—किं इयेने उद्गातृभिरेव पदार्थाः कर्तव्याः, वाजपेये अध्वर्युभिः, उत उभयत्र नानर्त्विग्भः?—इति । किं प्राप्तम्? —'वेदोपदेशात्' (समाख्यानात्—इत्यर्थः), 'पूर्ववत्,' यथा, आध्वर्यवम्—इतिसमाख्यानात् पदार्थान् अध्वयुः करोति, एवमेव 'वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः', यो येन समाख्याते वेदे उपदिष्टः, तस्य पदार्थाः तेनैव कर्तव्याः; साङ्गः स तत्र उपदिश्यते । तस्मात्, इयेने उद्गातृभिर्वाजपेये च अध्वर्युभिः पदार्थाः कर्तव्याः—इति ॥

स. तद्गृहणाद्वा स्वधर्मः स्यादधिकारसामर्थ्यात् सहाङ्गै-
रव्यक्तः शेषे ॥ ५१ ॥ (सि०) ॥

भा. 'तद्यद्गृहणात्' (प्राज्ञतधर्मयद्गृहणात्) वा 'स्वधर्मः (चोदक-
प्राप्तैः संयुक्तः) स्यात्, चोदकसामर्थ्यात् सहाङ्गैः कुर्यात्—इति
श्रूयते, तानि च अङ्गानि ज्योतिष्टोमे सन्ति अपेक्ष्यन्ते, तत्र
ज्योतिष्टोमे नानात्विजस्तैरस्य सहैकवाक्यता ।

'ननु प्रत्यक्षा समाख्या, चोदक आनुमानिकः' । उच्यते,
—सत्यं, प्रत्यक्षा समाख्या, लौकिकी तु सा, तत्र अनुमाय
वैदिकं शब्दं तेन एकवाक्यता स्यात्, चोदकेन पुनर्विप्रकृष्टाधी-
तया प्रत्यक्षया इतिकर्मव्यतया सहैकवाक्यता । तस्मात् चोदको
बलवन्तरः ।

यत्तूक्तं,—समाख्यानात्—इति । तत्र उच्यते,—'अव्यक्तः शेषे'
समाख्यातो भविष्यति,—यः पदार्थो न चोदकेन प्राप्नोति, तत्र
समाख्याया नियमो भविष्यति । यथा, श्येने 'कण्टकैर्वितुदन्ति'
—इति उद्गातारो वितोत्स्यन्ति, वाजपेये चोषपुटैरर्पयन्ति—
इति अध्वर्यवोऽर्पयिष्यन्ति ॥ (३ । ७ । २४ अ०) ॥

इति श्रीश्रवरस्वामिनः ज्ञातौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्य
सप्तमः पादः समाप्तः ॥

तृतीये अथाये अष्टमः पादः ।



अथ त्रयस्य स्वामिकर्मताधिकरणम् ।

स. स्वामिकर्म परिक्रयः कर्मणस्तदर्थत्वात् ॥ १ ॥

भा. अस्ति परिक्रयः, ज्योतिष्टोमे वादश्वत्तं, दर्शपूर्णमासयोः
अन्वाहार्यम् । तत्र सन्देहः,—किम् अभ्युपेया परिक्रेतया
ऋत्विजः, उत स्वामिना?—इति । किं प्राप्तम्?—समास्थानात्
अभ्युपेया,—इति प्राप्ते ब्रूमः,—‘स्वामिकर्म परिक्रयः’ । कस्मात्? ।
‘कर्मणः तदर्थत्वात्’, फलकामो हि यजमानः, यश्च फलकामः,
तेन स्वयं कर्त्तव्यम्, स यदि परिक्रीणीते, ततः स्वयं सर्वं करोति
—इति गम्यते ; अथ न परिक्रीणीते, न सर्वं कुर्यात् । तस्मात्
स्वामी परिक्रीणीतेति ॥

स. वचनादितरेषां स्यात्* २ ॥

भा. किम् एष एवोत्सर्गः ! । न—इत्युच्यते,—‘वचनात् इतरेषां
स्यात्’ । यत्र वचनं भवति, तत्र वचनप्रामाण्यात् भवति परि-
क्रयः,—‘य एतामिष्टकाम् उपदधात् स चीन् वरान् दद्यात्’—
इति ॥ (३।८।१ अ०) ॥

* इदमधिकरणान्तरमिति माधवीयन्यायमालासम्मतम् । न स्वतन्त्रा-
धिकरणमिति शास्त्रदीपिकासम्मतम् ॥

वपनादिसंस्काराणां याजमानताधिकरणम् ॥

स. संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्यं यथावेदं कर्मवद्व्यवतिष्ठे-
रन् ॥ ३ ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘केचिन्मशू वपते, दतो धावते, नखानि
निह्नन्ते, स्याति’—इति । तत्र सन्देहः,—किम् एवञ्जातीयका
अध्वर्युणा कर्त्तव्याः, उत यजमानेन?—इति । किं प्राप्तम्?—
अध्वर्युणा कर्त्तव्याः, संस्कारा यथावेदं व्यवतिष्ठेरन् समाख्यानात्
पुरुषेण कर्मवत्,—यथा, अन्ये पदार्थाः यस्मिन् वेदे आम्नाताः,
तत्समाख्यातेन पुरुषेण क्रियन्ते, एवम् एतेऽपि—इति ॥

स. याजमानास्तु तत्प्रधानत्वात्कर्मवत् ॥ ४ ॥ (सि०) ॥

भा. यजमानेन वा कर्त्तव्याः । कुतः? । पुरुषप्रधानत्वात् । कथं
पुरुषप्राधान्यम्? । कर्त्तृभिर्प्रायं क्रियाफलं गम्यते, तस्मात् पुरु-
षस्य कर्मकरणसामर्थ्यम् उपजनयन्ति । न च, कश्चित्, (येन
कर्मकरणेन सामर्थ्यम् उपजन्यते) तदर्थं पुरुषान् क्रीणाति—
इति, ईप्सितेभ्यः पदार्थेभ्यः क्रीणाति, येन यस्य सामर्थ्यम्
भवति, तत् तेनैव कर्त्तव्यम्, कर्मवत्, यथा, प्रधानकर्माणं पुरुषा-
र्थानि यजमानस्य भवन्ति, एवमेतदपि—इति ॥

स. व्यपदेशाच्च ॥ ५ ॥ (हे०) ॥

भा. परस्मैपदव्यपदेशश्च भवति,—‘तमभ्यनक्ति, शरेषीकयानक्ति’
—इति च । अन्यो यजमानस्य अङ्गनमभ्यङ्गनं करोति—इति
गम्यते ॥

स. गुणत्वे तस्य निर्देशः ॥ ६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. यदुक्तं,—समाख्यानात् यथावेदम्—इति, नैतदेवम्, ‘गुणत्वे

भा. तस्य निर्देशः, तत्र वयं समाख्यां नियामिकामिच्छामो,—यत्र कर्मणः प्राधान्यम्, यदर्थं क्लेशाः पुरुषाः प्राप्ताः, तत्र समाख्यया नियमः, कल्प्यो हि सम्बन्धो वपनादिभिः, पुरुषाणाम्, अदृष्टार्थत्वात्, कृत्त आरादुपकारकैः, न च, कृत्ते उपपद्यमाने कल्प्यः ब्रह्मः कल्पयितुम् । तस्मात् न पुरुषप्राधान्ये समाख्या नियामिका स्यात् ॥

स. चोदनां प्रति भावाच्च ॥ ७ ॥ (हे०) ॥

भा. चोदना—इत्यपूर्वे ब्रूमः,—अपूर्वं प्रति संस्कारा विधीयन्ते, ते असम्भवात् द्रव्येषु कल्पन्ते, सन्निल्लष्टद्रव्याभावे च विप्रलक्ष्येषु भवेयुः, यदा तु सन्निल्लष्टे द्रव्ये सम्भवन्ति, तदा न विप्रलक्ष्येषु प्रयोक्तव्याः, ह्यतार्थत्वात् । तस्मात् याजमानाः—इति ॥

स. अतुल्यत्वात्समानविधानाः स्युः ॥ ८ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. (इदं पदोत्तरं सूत्रम्) ‘अथ कस्मात् न समानविधाना भवन्ति? अविशेषविधानाद्धि पुरुषमात्रस्य प्राप्नुवन्ति’ । तदुचरते,—नैतत्समानं सर्वपुरुषाणां विधानम् । कुतः? ‘अतुल्यत्वात्’, अतुल्या एते एतद्विधानं प्रति । का अतुल्यता? यत्, यजमानस्य विहिता न ऋत्विजाम् । ‘कथम् यजमानस्य विहिताः—इत्यवगम्यते?’ । अर्था स्वयंप्रयोगे स्यात्—इति ।

‘ननु अविशेषात् ऋत्विजामपि विहिताः’ । प्रयोजनाभावात् अविहिताः—इति पश्यामः । कथम् प्रयोजनाभावः? ऋत्विग्भिः क्रियमाणा न यजमानेन ह्यता न कारिताः, अतदर्थत्वात् परिक्रयस्य ; स्वयंह्यताश्च नार्थिन उपकुर्वन्ति । तस्मात् अप्रयोजनाः, अत ऋत्विजाम् अविहिताः,—एतत् अतुल्यत्वम् । तस्मात् न समानविधानाः—इति ॥ (३।८।२ अ०) ॥

तपसो याजमानताधिकारम् ।

स. तपश्च फलसिद्धित्वास्तीकवत् ॥ ९ ॥

भा. तपः श्रूयते,—‘दृष्टं, नात्राति, चदृष्टं नात्राति’—इति । तत्र सन्देहः,—किम् आर्त्विजं तपः, याजमानम्?—इति । किं प्राप्तम्?—समाख्यानात् आर्त्विजम् तपः—इति प्राप्तम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—याजमानं तपः—इति । कुतः? । फलसिद्धित्वात्, फलसिद्धार्थं तपः, तपःसिद्धस्य यागफलं सिध्यति । कथमेतदवगम्यते? । दुःखं हि तपः, दुःखं च अधर्मफलम्, अधर्मो यागफलस्य प्रतिबन्धको भवति, अत्रेयस्वारो हि सः, तस्मिन् सति न श्रेयो भवितुमर्हति, तस्मात् सोऽपनेतव्यः, फलभोगेन च विरुध्येते धर्माधर्मौ । तस्मात् दुःखफलभोगाय धर्मः श्रूयते । यत्नेन दुःखम् उत्पादयितव्यम्, इदं तत्—इति । एवं दृष्टार्थं भवति, न अदृष्टं कल्पयितव्यम्, तेन फलोपभोगेन शीघ्रेऽधर्मप्रतिबद्धो यागः फलं दास्यति—इति, फलसिद्धिश्च यजमानस्य कर्त्तव्या न ऋत्विजाम् । तस्मात् याजमानं तपः—इति ॥

स. वाक्यशेषश्च तद्वत् ॥ १० ॥ (यु०) ॥

भा. एतमेवार्थं वाक्यशेषोऽपि द्योतयति,—‘यदा वै पुरुषे न किञ्चनान्तर्भवति, यदास्य दृष्टं चक्षुषो नश्यति, अथ मेधतमः’—इति, यदा अनश्ननं, तदा मेधार्हः—इति, मेधश्च यज्ञो, यज्ञश्च त्यागः, त्यागं कर्तुमर्हः तपसा क्रियते—इति वाक्यशेषो भवति, त्यागी च यजमानः । तस्मात् याजमानं तपः—इति ॥

स. वचनादितरेषां स्यात् ॥ ११ ॥ (विशेषः) ॥

भा. किमेष एवोत्सर्गः?—सर्वं तपो याजमानम्—इति । न,

भा. 'वचनात् इतरेषाम्', यत्र वचनं, तत्र ऋत्विजाम्, यथा,—
'सर्वे ऋत्विज उपवसन्ति'—इति ॥ (३।८।३ अ०) ॥

आकाङ्क्षानिरासः, लोहितोष्णीषतादीनां सर्व्वत्विग्धर्मताधिकारश्च ॥

स. गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात् ॥ १२ ॥

भा. अथ यदुक्तं,—समाख्यानात् आत्विजं तपः—इति, गुणत्वात्
न समाख्यया गृह्यते, यत्र पुरुषस्य गुणभावः, तत्र समाख्या
नियामिका ।

एवं वा, श्येने श्रूयते,—'लोहितोष्णीषा लोहितवसना
ऋत्विजः प्रचरन्ति'—इति, तथा वाजपेये श्रूयते,—'हिरण्य-
मालिन ऋत्विजः प्रचरन्ति—इति । तत्र सन्देहः,—किं श्येने
उद्गातृभिर्लोहितोष्णीषता कर्त्तव्या, वाजपेये च अध्वर्युभिर्हि-
रण्यमालित्वम्; उत उभयमपि सर्व्वत्विजाम्?—इति । किं
तावत् प्राप्तम्?—समाख्यानात् श्येने उद्गातृभिर्वाजपेये अध्वर्युभिः
—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात्',
—गुणो लोहितोष्णीषता हिरण्यमालित्वं च, पुरुषः प्रधानं,
अतो लोहितमुष्णीषं हिरण्यमाला च पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयते,
न कर्त्तव्यतया, तस्मात् पुरुषप्राधान्यम्' । किमतः? । यदेवं,
पुरुषाणां प्रधानभावे समाख्या न नियामिका—इत्येतदुक्तम् ।

अपि च, गुणत्वश्रवणात् सर्व्वपुरुषाणामेतद्विधानम्—इति
गम्यते, प्रधानसन्निधौ हि गुणः शिष्यमाणः प्रति—प्रधानम्
उपदिष्टो भवति, तत्र वचनेन प्राप्तम् कथम् समाख्यया विद्य-
मानयापि नियन्तुम् शक्येत? तस्मात् उभयत्र सर्व्वत्विग्भिः
एवजातीयको धर्मः क्रियेतेति—इति ॥ (३।८।४ अ०) ॥

वृष्टिकामनायाः याजमानताधिकरणम् ॥

स. तथा कामोऽर्थसंयोगात् ॥ १३ ॥

भा. उद्योतिष्टोमे समामनन्ति,—‘यद्दि कामयेत वर्षेत्पर्जन्यः—
इति नीचैः सदो मिनुयात्’—इति । तत्र वन्देहः,—किम्
आर्त्विजः कामः, अथ याजमानः?—इति । किमेवं? । यद्दि
कामयेत अध्वर्युः—इति, उत यजमानः?—इति,—एवं संशयः ।
किं प्राप्तम्?—आर्त्विजः कामः, समाख्यानात्, अर्थी प्रहृतो-
ऽध्वर्युः, स वाक्येन सम्बध्यते,—मिनुयात्—इति, तस्मात् आ-
र्त्विजः कामः—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘तथा कामः’ स्यात्,
यथा तपः, (याजमानः कामः—इत्यर्थः) । कुतः? । ‘अर्थ-
संयोगात्’, अर्धेन यागस्य साङ्गस्य, यजमानः फलेन सम्बध्यते
—इति गम्यते । उपपद्यद्विविशेषात् ‘उद्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो
यजेत’—इत्युपपद्यद्विविशेषाच्च मिनुयात्—इत्यध्वर्युः परार्थम्—
इति गम्यते । अथ यदुक्तं,—प्रहृतेनार्थिना सहैकवाक्यत्वात्—
इति, उच्यते, एवमपि प्रहृतेन वाक्येन सहैकवाक्यता, यजमाने
कामयमाने मिनुयात्—इति ॥

स. व्यपदेशादितरेषां स्यात् ॥ १४ ॥ (विशेषः) ॥

भा. यत्र भवति व्यपदेशः, तत्र आर्त्विजः कामो भवति, यथा,
‘उद्गाता आत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयेत, तमा-
गायति’—इति, यद्यात्मने—इति यजमानायेति परिकल्पयेत,
यजमानपद्व्यपदेशं वाच्यं न समर्थितौ स्याताम् । तस्मात्
यजमानव्यपदेशादात्मानमेव उद्गाता प्रतिनिर्दिशति—इति
गम्यते ॥ (३।८।५ अ०) ॥

आयुर्दादिमन्त्राणां याजमानताधिकरणम् ॥

स. मन्त्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत् ॥ १५ ॥

भा. इह एवज्ञातीयका मन्त्रा उदाहरणम्, 'आयुर्दा अग्ने आयुर्म देहि'—इति, 'वर्षादा अग्ने असि वर्षा मे देहि'—इति । एषु सन्देहः,—किम् आर्त्विजा उत याजमानाः?—इति । समाख्यानात् आर्त्विजाः—इति प्राप्तम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—मन्त्राश्च एते तद्वत् भवेयुः, यथा कामः, एवमात्माभिधायिपदं युक्तं भवति । आयुर्म वर्षा मे—इति, आयुर्वर्चः—इत्येवमादिभिः कर्मफलमभिधीयते, अग्ने त्वं कर्मफलं मे साधयेति, तदिह कर्मफलम् उत्साहार्थं सङ्गीत्येते, यजमानश्च तेन उत्सहते, नान्यः, यत् ऋत्विजः कर्मफलं, न तदर्थाग्निः, सिद्धं हि तत्; यत् यजमानस्य तदर्थाग्निः, तच्चासिद्धं सत् आज्ञासितव्यं, यत् उत्साहं जनयति अवैगुण्याय । ऋत्विगपि सिद्धे यत् उत्सहते, तत् यजमानस्य एव कर्मफलाय उत्सहते, तत्र आत्माभिधायिपदं न अवकल्पते, यजमाने च आत्माभिधायिपदं कल्प्यमानम् अगौणं भवति, तस्मात् याजमानाः ॥

स. विप्रयोगे च दर्शनात् ॥ १६ ॥ (यु०) ॥

भा. विप्रयोगे च अग्नीनां प्रवासे उपस्थानमस्ति,—इह एव सन् तत्र सन्तं त्वाग्ने—इति । न च, प्रोषितोऽग्निभ्य ऋत्विक् भवति, कर्म कुर्वत एष वाचकः शब्दः । भवति तु यजमानोऽग्निभ्यः प्रोषितोऽपि यजमानः, संविधाय स अग्निहोत्राय प्रवसति, शक्यते च विदेशस्थेनापि त्यागः कर्तुम्, स एव प्रोषितस्य उपस्थानविशेषं ब्रुवन् यजमानस्य उपस्थानं दर्शयति, तेनैव एवज्ञातीयका यजमानस्य भवेयुः—इति ॥ (३।८।६ अ०) ॥

द्वाम्नातस्योभयप्रयोज्यताधिकरणम् ॥

स. द्वाम्नातेषूभौ द्वाम्नातस्यार्थवत्त्वात् ॥ १७ ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासी, तत्र द्वाम्नाता मन्वा आर्धयवे काण्डे यजमाने च, 'आर्ज्यं येगृह्यते षड्दानां त्वा वातानां यन्वाय धर्माय गृह्णामि'—इत्येवमादयः, तथा सुगृह्यहनमन्वाः,— 'सुचौ ब्यूहति वाजस्य मा प्रसवेन'—इति। तत्र सन्देहः,— किं ते उभाभ्याम् अपि कर्त्तव्या उत आर्धयुणैव?—इति। किं प्राप्तम्?—समास्थानात् आर्धयवाः—इति। इति प्राप्ते उच्यते,— उभावापि तान् प्रयुञ्जीयाताम्—इति। कुतः?। द्वाम्नातस्य अर्थवत्त्वात्, द्वाम्नातां समास्थानात् दावपि कर्त्तारौ गम्येते, तस्मात् द्वौ ब्रूयाताम्। आर्धयुः एतेन प्रकाशितमनुष्ठास्यामि—इति, यजमानो न प्रमदिष्यामि—इति ॥ (३। ८। ७ अ०) ॥

अभिज्ञस्यैव वाचयितव्यताधिकरणम् ॥

स. ज्ञाते च वाचनं न ह्यविद्वान्विहितोऽस्ति ॥ १८ ॥

भा. वाजपेये श्रूयते,— 'कृतीर्यजमानं वाचयति उज्जिसतीर्यजमानं वाचयति'*—इति। अत्र सन्देहः,— किं ज्ञश्च अज्ञश्च संवा वाचयितव्य उत ज्ञ एव?—इति। किं प्राप्तम्?—अविशेषात् ज्ञश्च अज्ञश्च—इति।

इति प्राप्ते ब्रूमः,— ज्ञ एव—इति। कुतः?। न हि अविद्वान् विहितोऽस्ति, यो हि अविद्वान् न आसावधिहतः सामर्थ्याभावात्। 'ननु प्रयोगकाले शिञ्चित्वा प्रयोष्यते, सामर्थ्यात्

* 'आयुर्थज्ञेन कल्पतामित्यादयो मन्वा कृत्तयः' इति माधवः।

जर्जयन्तीर्यजमानं वाचयतीति का० सं० पु० पाठः ॥

अधिक्रियेत—इति' । न—इति ब्रूमः,—वेदाध्ययनात् उत्तर-
काले प्रयोगः श्रूयते, न प्रयोगश्रुतिगृहीतं वेदाध्ययनम् । कुतः ? ।
अनारभ्य-कर्मणि वेदे श्रूयते,—तस्मात् 'स्वाध्यायोऽधेतथः'—
इति, सत्येतस्मिन् वचने, 'अग्निहोत्रं जुहुयात्'—इत्येवमादिभिः
'वेदोऽधेतथः'—इत्येतदुक्तं भवति—इति न ब्रूयते कल्पयितुम् ।
तत्र होमभाषे चोदिते वेदाध्यायी ब्रूतः—इत्यधिक्रियते, न
अविद्वान् । 'क्रियता पुनर्विदितेन विद्वान् अधिक्रियते ?'—इति ।
यावता विदितेन ब्रूतो भवति, यद्योक्तं क्रतुमभिनिर्वर्त्तयितुम् ।
तस्मात् तावत् यो वेद स तेन क्रतुना अधिक्रियते ।

'ननु 'वेदमधीयत—इति वचनात् छात्रो वेदोऽधेतथः—
इति भवति, न वेदावयवेनाधिक्रियते'—इति । उच्यते,—
क्रतूनां ज्ञानार्थं वेदाध्ययनं कार्यं, तत्र अन्यस्मिन् क्रतौ
कर्मयोग्यक्रतुज्ञानं न दृष्टाय भवति, तस्मात् क्रत्वन्तरज्ञानम्
अधिकारेनादर्शयन्, क्रत्वन्तरज्ञानाय क्रत्वन्तरग्रन्थः, सर्वे क्रतवः
कथं ज्ञायेरन्?—पृथक् पृथगिति छात्रस्य वेदस्याध्ययनं श्रूयते,
तस्मात् स्वपदार्थोऽधिक्रियेत—इति । तेनास्वपदार्थज्ञस्य
कर्मैव नास्ति, कथम् असौ वाचेरत । तस्मात् साभभिधीयते,
—इ एव वाचयितथः—इति ॥ (३ । ८ । ८ अ०) ॥

दादब्रह्मदानामाभ्यर्त्यवत्वाधिकारणम् ॥

स. याजमाने समास्थानात्कर्माणि याजमानं स्युः ॥

१६ ॥ (पू०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र कर्माण्याम्नातानि दादब्र, —'वत्सं
चोपावसजति । उखाद्याधिअर्याति । अत्र च हन्ति । दृषदुपले
च समाहन्ति । अधि च वपते । कपालानि चोपहधाति ।

भा. पुरोडाशं च अधिप्रयति, आज्यं च । स्तम्बयजुश्च हरति ।
अभि च गृह्णाति । वेदिं परिगृह्णाति । पत्नीं च सम्प्रश्नति ।
प्रोक्षणीश्चासादयति, आज्यं च । तानि दादन्न इन्दानि
दर्शपूर्णमासयोः*—इति । अत्र सन्देहः,—किमेतान्यध्वर्याः
कर्माणि, उत यजमानस्य?—इति । किं प्राप्तम्?—‘याजमाने
समाख्यानात् कर्माणि याजमानं स्युः,—विशेषसमाख्यानात्
याजमानानि—इति गम्यते, यथा पोचीयं नेद्रीयम्—इति ॥

ख. अध्वर्युर्वा तदर्थो हि न्यायपूर्वं समाख्यानम् ॥ २० ॥
(सि०) ॥

भा. अध्वर्युर्वा कुर्यात् एतानि, तदर्थो हि अध्वर्युः परिकीतः—
इति समाख्यानात् अवगम्यते,—अध्वर्यवे एव सर्वे इमे पदार्थाः
समाग्नाताः, याजमाने एषां इन्दतोचयते, इन्दता च सम-
भ्यान्नक्रिया । तत्र अध्वर्युः पदार्थान् करिष्यति, यजमानेनापि
समभ्यान्नीकरणम्—इत्येतदन्नक्यम् । तत्र अङ्गुणविरोधे च,
तादर्थ्यात्—इति इन्दतागुणो बाधितव्यः । तस्मात् अध्वर्यवा
एते पदार्थाः—इति ।

यदुक्तं, समाख्यानात्—इति, तत् परिहर्तव्यम्, उच्यते,—
‘न्यायपूर्वं समाख्यानं’, समाख्यानात् यजमानेन इन्दता सम्पा-
दयितव्या,—इदं चेदं च सम्पादय—इति यजमानो ब्रूयात् ।
केषुचिच्च अत्र पदार्थेषु यजमानस्यानुमक्षणं, तन्निमित्ता समाख्या
भविष्यति, अपूर्वं त्वपह्नयेत । यदुक्तं,—यथा पोचीयम् नेद्रीयम्
—इति, एवम् अत्रापि—इति ; तदुच्यते,—युक्तं, तत्र विशेष-

* पलाशशाखया वत्सापाकरणमेकं कर्म, दोहनेन सम्पादितं
क्षीरं धारयितुम् पिठरस्थापनमपरं कर्म, तदेतदुभयमेकं इन्द्रम् इति
माधवः ॥

भा. समाख्यानात्, इह तु इन्दता याजमानीया, पदार्थास्तु आ-
ध्वर्यवा एव । तस्मात् अदोषः ॥ (३।८।९ अ०) ॥

होतुराध्वर्यवकरणानुष्ठातृत्वाधिकरणम् ॥

स. विप्रतिषेधे करणः, समवायविशेषादितरमन्यस्तेषां
यतो विशेषः स्यात् ॥ २१ ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्निषोमीयः, तस्य यूपस्य परिध्याणे
मयौ,—एकः,—‘अध्वर्योः परिवोरसि’—इति करणः, अपरो,
—‘होतुर्युवा सुवासाः’—इति क्रियमाणानुवादी । तयोश्चो-
दकपरम्परया कुण्डपायिनामयनम् प्राप्तयोर्भवति सन्देहः,—कः
पुनरसौ?—तत्र षट्विक्समास आग्नातः,—‘यो होता सो-
ऽध्वयुः’—इति, किं करणम् आध्वर्यवं होता कुर्यात्? किं ह्यौचं
क्रियमाणानुवादिनम्?—इति । किं प्राप्तम्?—अनियमः—
इति ।

इति प्राप्ते उच्यते,—विप्रतिषेधे करणः स्यात्,—आध्वर्यवः
परिवोरसि—इति, न क्रियमाणानुवादी होतुर्युवा सुवासाः
—इति । कुतः? । समवायविशेषात्,—हौ तत्र समवायौ,
होतुश्चोदकेन ह्यौचेषु, प्रत्यक्षश्रवणेन आध्वर्यवेषु,—‘यो होता
सोऽध्वर्युः’—इति । एवं प्रत्यक्षम् अध्वर्योः कार्यं चोद्यते, प्रत्यक्षं
चानुमानाद्दलीयः । तस्मात् आध्वर्यवं करणं परिवोरसि—इति
होता कुर्यात् । ‘अथ ह्यौचं विरुद्धं कः कुर्यात्?’ । ‘इतरम्
अन्यः, तेषां यतो विशेषः स्यात्’, अन्यो होतृपुरुष एव स्यात्,
यस्याव्यापृतता प्राधान्यविशेषो वा ॥ (३।८।१० अ०) ॥

प्रेषप्रेषार्थयोः पृथक्कर्त्तताधिकरणम् ॥

स्र. प्रेषेषु च पराधिकारात् ॥ २२ ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र प्रेषः समाग्न्यातः, प्रोक्षणीरासादय इध्मा बर्हिर्दपसादय लुचः सम्मृद्धिः पत्नी सन्नस्य आज्येनो-देहि'—इति । तत्र सन्देहः,—किं एव प्रेषे, स एव प्रेषार्थे, उत अन्यश्च प्रेषे, अन्यश्च प्रेषार्थे?—इति । किं प्राप्तम्?—एक एव प्रेषप्रेषार्थयोः—इति । कुतः?। समाख्यानात्, अन्यः—इति चाश्रुतत्वात् ।

'ननु आत्मनः प्रेषो विप्रतिषिध्यते' । उच्यते, न प्रेषो भविष्यति, प्राप्तकाले खोटं वक्ष्यामः । 'आह, प्राप्तकालेऽपि सति युष्मदादिष्वेवोपपदेषु मध्यमादयो व्यवस्थिताः, न पुण्यसङ्करो भवति' । उच्यते,—सत्यां विवक्षायां युष्मदादिषु मध्यमादयः, यदा तव प्राप्तः कालः—इति विवक्ष्यते, तदा युष्मद्येव मध्यमो न अस्मदि ज्ञेये वा । यदा खलु क्रियायाः प्राप्तः कालः—इत्येतावत् विवक्ष्यते, न तव, मम वेति, न तदा युष्मदादी-नामनुरोधेन मध्यमादयो भवितुमर्हन्ति । न च, इदं युगपत् विवक्षितुम् शक्यते, पदार्थस्य प्राप्तः कालः, तव च—इति, भिद्येत हि तथा वाक्यम् । तेन, यदि वा निश्चाते पदार्थकाले तव कालः—इति शक्यते वदितुम् । यदि वा तवेति निश्चाते पदार्थस्य कालः—इति । तत्र पदार्थस्य कालो वदितव्यो, न तु युष्मदर्थस्य, तेन हि स्मृतेन प्रयोजनम्, स हि कर्त्तव्यः—इति अवगतः, न तु युष्मदर्थः तथा, तस्मात् समाख्यानात् अश्वर्यारेव प्रेषप्रेषार्थौ—इति ।

इति प्राप्ते ब्रूमः,—प्रेषेष्वन्योन्यः तदर्थेषु—इति । कुतः?। 'पराधिकारात्', परस्मिन् हि प्रेषे उपपद्यते, न आत्मनि—इति । 'आह, ननु उक्तं प्राप्तकाले भविष्यति'—इति । उच्यते,

भा. —न, सम्भवति प्रेषे, प्राप्तकालता न्यास्या, तस्या हि युष्मदर्था
गम्यमानो न विवक्षितः—इत्युच्यते, सम्भवति च अत्र प्रैषार्थः ।
तस्मात् प्रैषः, प्रैषश्चेत्, अन्यः प्रैषार्थः—इति सिद्धम् ॥ (३ ।
८ । ११ अ०) ॥

प्रैषप्रैषार्थयोः यथाक्रममाध्वर्यवाग्नीधताधिकरणम् ॥

ब्र. अध्वर्युस्तु दर्शनात् ॥ २३ ॥ (पू०) ॥

भा. अथैवं गते, इति सन्दिह्यते,—किम् अध्वर्युः अग्नीधं प्रेष्येत्,
उताग्नीदध्वर्युम्?—इति । अनियमोऽविशेषात्—इति प्राप्ते
ब्रूमः,—अध्वर्युः उक्तप्रैषार्थकारी स्यात् । कुतः? । ‘दर्शनात्’,
दर्शनं भवति,—‘तिर्यच्चं स्फन्धारयेत् यदन्वच्चन्धारयेत् वक्षो वै
स्फो वक्षे ण अध्वर्युम् क्षिण्वीत’—इति, यः प्रेष्यति तस्य हस्ते
स्फ्यः, स्फेन अध्वर्युम् क्षिण्वीतेति अन्यम् अध्वर्युम्, प्रेषकात्
दर्शयति, तस्मात् अग्नीदध्वर्युम् प्रेष्येत्—इति ॥

ब्र. गौणो वा कर्मसामान्यात् ॥ २४ ॥ (सि०) ॥

भा. नैतदस्ति,—अग्नीधः प्रैषीऽध्वर्योः प्रैषार्थः—इति, किं खलु
अध्वर्युरेवाग्नीधं प्रेष्येत्, एवम् अध्वर्युणा प्रैषः प्रैषार्थस्योभावपि
ह्यतौ भविष्यतः, तत्र आध्वर्यवम्—इति समाख्या अनुगृह्यते ।
तस्मात् अध्वर्युः एव मुख्यं स्यात् । किम् अस्य मुख्यत्वम्? ।
यदनेन सर्वं कर्तव्यं समाख्यानात्—इति । अथ यदुक्तम्,—
अध्वर्युः प्रचरिता वृश्यते—इति । तदुच्यते,—सत्यं वृश्यते,
न त्वस्य प्रैषार्थकरणे प्रमाणमस्ति चिन्तयमानम् । तस्मात् एत-
न्मिथ्यादर्शनम्, यस्य हि दर्शनस्य प्रमाणं नास्ति, ध्यामोहः
सः; यथा शुक्तिकायां रजतविज्ञानम् । अस्ति तु अग्नीधः
प्रैषार्थकरणे प्रमाणम् । तस्मात् अग्नीधः प्रचरिता प्रचरितरि

भा. चाभ्यर्चुंशब्दो वृत्तयते । तस्मात् गौणः, आभ्यर्चये वदे समा-
ग्नान्तात् पदार्थान् करोति—इति ह्यत्वा अभ्यर्चयित्युच्यते,
आग्नीधः—इति । तस्मात् आभ्यर्चयः प्रैषः, आग्नीधः प्रैषार्थः—
इति ॥ (३।८।१२ अ०) ॥

करणमक्षेषु स्वामिफलस्वाप्नासितथ्यताधिकरणम् ॥ (वर्चोऽन्यायः ॥)

ख. ऋत्विक्फलं करणेष्वर्थवत्त्वात् ॥ २५ ॥ (पृ०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोरामनन्ति,—‘ममाग्ने वर्चो विद्भवेष्वस्तु*—
इति पूर्वमग्निं गुह्यति’—इति । तत्र सन्देहः,—किम् ऋत्विक्-
फलमाप्नासितथ्यम्,—अग्ने वर्चो विद्भवेष्वस्तु—इति, उत यज-
मानस्य?—इति । किम् प्राप्तम्?—अभ्यर्चयेव—इति । कुतः? ।
एवं श्रुतिराट्टता भविष्यति, इतरथा लक्षणा स्यात्, आत्मना
यजमानं लक्षयेत् । तस्मात् ऋत्विक्फलमाप्नासितथ्यम्—इति ।
कोऽर्थः? । अनया समिधा धार्यमाणेऽग्नौ यागः सम्भविष्यति,
तत्र विद्भवेषु स्पर्द्धास्थानेषु अहं वर्चस्वी भविष्यामि—इति
अभ्यर्चोर्वचनम्, एवमुत्सङ्गी भविष्यति—इति ॥

ख. स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥ २६ ॥ (सि०) ॥

भा. यजमानस्य वा वचनं तदर्थत्वात् कर्मणः,—यजमानार्थं हि
इदं कर्म साङ्गम्, उपयहविशेषात्, साङ्गस्यास्य प्रयोजनं
यजमानस्य फलनिष्पत्तिर्नाभ्यर्थोः सुप्रवरितुरपि यज्ञः । किम्
अतः? । यद्येवम्, फलसङ्कीर्तनात् फलकर्तृथ्यता गम्यते, तदेतत्

* विद्भिष्टं हवनं येषां मखाणां ते विद्भवास्तेषु वर्चस्तेजसोपल-
क्षितं यत् फलं तत् ममास्त्वित्यर्थः इति माधवः ॥

भा. अग्रगन्धाधानं यजमानस्य फलसङ्कीर्त्तने* क्रियमाणे अनेन मन्त्रेण फलसम्बन्धात् प्रकाशितं ज्ञातं भवति, न आश्चर्ययज्ञःकीर्त्तनेन । तस्मात् यजमानफलमाज्ञासितव्यम्—इति । ‘अथ कस्मात् न याजमान एष मन्त्रो भवति ?—इति । उच्यते,—अग्रगन्धाधानं समाख्यया आश्चर्यवं, तच्चैवं गुणो मन्त्रो करोत्याश्चर्यवः, स उच्यतेऽनेन मन्त्रेण—इति, तस्मात् आश्चर्यवो मन्त्रः । मम वर्चोऽस्त्वित्यपि यजमानस्य वर्चो ममेति अर्पाद्भ्रातृ लक्षणया, यथा, राजनि जयं वर्त्तमानं सैनिका अस्त्राकम्—इति अर्पाद्भ्रातृ, एवम् ॥

स. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २७ ॥ (हे०) ॥

भा. लिङ्गमप्यमुमर्थं दर्शयति, एवं हि आह,—‘यां वै काश्चन ऋत्विज आश्रममाज्ञासते, यजमानस्य एव सा’—इत्याश्रमो यजमानार्थकतां दर्शयति । तस्मात् अपि ब्रूमः,—यजमान-फलमाज्ञासितव्यम्—इति । पञ्चोक्तमेव प्रयोजनम्—इति ॥ (३ । ८ । १३ अ०) ॥

करणमन्त्रेषु कर्मार्थफलस्य ऋत्विग्धर्मताधिकरणम् ॥

स. कर्मार्थन्तु फलन्तेषां स्वामिनं प्रत्यर्थवत्त्वात् ॥ २८ ॥

भा. इदं समधिगतं,—करणेषु मन्त्रेषु स्वामिनः फलमाज्ञासितव्यम्—इति । किमेष एवोत्सर्गः ? । न,—इत्याह, क्वचित् ऋत्वि-जामपि फलमाज्ञासितव्यम्—इति, यत्र कर्मार्थं फलं, यथा,—

* फलं, सङ्कीर्त्तने इति का० सं० पु० ॥

† तत्र एष गुणो मन्त्रः करोतीत्याश्चर्यवः, स उच्यतेऽनेन मन्त्रेणेति का० सं० १० ॥

भा. 'अग्नाविष्णु मावक्रमिषं विजिह्वाथां मा मा सन्ताप्तम्'*—
इति, असन्तप्तोर्ध्वयुः कर्म शक्नोति कर्तुम्, कर्मसिद्धिर्यजमानस्य
उपकारिका—इति अत्विक्फलमाशासितथम् अत्र—इति ॥

सू. व्यपदेशाच्च ॥ २६ ॥

भा. यत्र च व्यपदेशो भवति, तत्रात्विजम्,—दाक्षिण्यस्य हविर्दान-
स्याधस्ताच्चत्वार उपरवाः प्रवेशमुखाः प्रादेशान्तराणाः, तत्र
हृत्तौ प्रवेश्याध्वर्ययजमानमाह, किम् अत्र?—इति, स आह,
—भद्रम्—इति, 'तन्नौ सह'—इत्यध्वयुः प्रत्याहेति व्यपदेशो
भवति, अध्वर्ययजमानस्य च । 'तन्नौ सहेत्युभयोर्वचनम्
अध्वर्युयजमानयोः । तस्मात् अध्वर्युफलमाशासितथमत्र—इति ॥
(३ । ८ । १४ अ०) ॥

द्रव्यसंस्कारस्याङ्गप्रधानार्थताधिकरणम् ॥

सू. द्रव्यसंस्कारः प्रकरणाविशेषात् सर्वकर्मणाम् ॥ ३० ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोर्बहिर्धर्मा वेदिधर्माश्च, तेषु सन्देहः,—किम्
अङ्गप्रधानार्थाः, उत प्रधानार्थाः?—इति । प्रकरणात् प्रधा-
नार्थाः—इति । इति प्राप्ते उच्यते, नैवं, द्रव्यसंस्कारोऽङ्ग-
प्रधानार्था, यथा व्याख्यातमेवोत्तरविवक्षया प्राप्तिरेषा क्रियते
—इति ॥ (३ । ८ । १५ अ०) ॥

* सुक्त्सुवरूपौ अग्नाविष्णु युवां नाभिदेशे धारयन् अहं अध्वर्युः
मावक्रमिषं युवयोरतिक्रमं न हतवान् युवाच्च मत्तो वियुतौ भवतम् ।
ततो मां देहधारिणं मा सन्ताप्तम् मम देहसन्तापं उवरादिरूपं
मा कुशतमिति माधवः ॥

अपूर्वप्राज्ञतधर्माणां विक्रतावसम्बन्धाधिकरणम् ॥

स. निर्द्देशात्तु विक्रतावपूर्वस्यानधिकारः ॥ ३१ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे यमुरग्रीषोमीयो,—‘यो दीक्षितो यदग्रीषोमीयं यमुमालभते’—इति । तत्र श्रूयते,—‘बर्हिषा यूपावटमवस्तु-
णाति आज्येन यूपमनक्ति’—इति । तत्र संज्ञयः, किं तयो-
राज्यबर्हिषोराज्यबर्हिषर्धर्माः प्राज्ञताः कर्त्तव्याः, उत न?—
इति । किम् प्राप्तम्?—कर्त्तव्याः—इति । कुतः? । वाक्यं हि
बर्हिषाचस्याज्यमाचस्य च धर्माणां विधायकम्, तत् इहापि
वाक्यं चोदकेन प्राप्तम्, न चैतत् बर्हिषराज्यं निष्प्रयोजनम् ।
तस्मात् अत्र धर्माः क्रियेरन्—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘निर्द्देशात् विक्रतावपूर्वस्य अनधिकारः’,
—निर्द्दिष्टा एते धर्माः प्रज्ञतौ, यत्र प्रधानस्य उपकुर्वन्ति
प्राज्ञतकार्ययोराज्यबर्हिषोः; ये च प्रधानस्य उपकारिणी
धर्माः, ते इहातिदिश्यन्ते, प्रधानं हि चोदकोपेक्षते, न
धर्मान्, प्रधानस्य हि चोदकेन सामान्यं न धर्माणाम् ।

अपि च, न, अन्यार्थः—इति ज्ञातेन सन्निहितेनाभ्येकवा-
क्यता भवति अन्यसम्बन्धोपपत्तौ सत्याम्, यथा भार्वा राज्ञः,
पुरुषो देवदत्तस्य—इति, किमङ्ग पुनर्विप्रहृष्टेन, निर्द्देशात् खल्व-
ङ्गत्वं प्रधानापेक्षार्यां भवति, केवलमिहातिदेशः क्रियते, पदा-
र्यापेक्षायाम् अङ्गत्वमपि साधयितव्यं स्यात् । धर्माश्चापेक्ष्य-
माणाः साधारणा भवेयुः, तथा जज्ञो नावकल्पेत । लिङ्गविशेष-
दर्शनाच्च व्यवतिष्ठेरन् धर्माः, तत्र दर्शनं नोपपद्येत, ‘वपया
प्रातःसवने चरन्ति, पुरोडाज्ञेन माध्यन्दिने सवने’—इति, तथा
‘न पिता वर्धते, न माता, न नाभिः, प्राणो हि सः’—
इति । तस्मात् यद्वारा प्रज्ञतौ ज्ञताः, तद्वारा एव विक्रतौ,
नान्यद्वाराः । न च, यूपावटस्तरणं प्रज्ञतावस्ति यूपाङ्गनं

भा. वा । तस्मात् न तत्र प्राज्ञता धर्मा भवेयुरपूर्वत्वात् ॥ (३ ।
 ८ । १६ अ०) ॥

विधृतिपविचयोः परिभोजनीयवर्हिषा कर्त्तव्यताधिकरणम् ॥

ख. विरोधे च श्रुतिविशेषादव्यक्तः शेषे ॥ ३२ ॥

भा. दृशपूर्णमासयोरामनन्ति,—‘समावप्रच्छिन्नायौ दभौ प्रादेद्भ-
 माचौ पविचे करोति’, तथा ‘अरक्षिमाचे विधृती करोति’—
 इति । तत्र संग्रहः, किं वेदिस्तरणार्थात् वर्हिषो विधृती पविचे,
 उत अन्यतः?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—वेदिस्तरणार्थान्
 वर्हिषः कार्ये । किं कारणम्? । तद्धि प्रकृतं, धर्मास्याविशेषात्
 सर्ववर्हिषामर्थेन, तस्मात् ततः । इति प्राप्ते ब्रूमः,—अन्यतः
 क्रियेत । कुतः? । विरोधात् । कथं विरोधः? । श्रूयते हि,—
 ‘चिधा तु पञ्चधा तु वा वेदींस्तृणाति’—इति, तत् येनास्तीर्यते,
 कथं तत् विधृतिपविचं क्रियेत, न हि, सम्भवति—एकं स्तरणाय
 विधृतिपविचय च । तदेतत् उपदिष्टवचनमनेकगुणत्वं चोभे
 अन्यसम्भविनी प्रतिज्ञाते स्याताम् । तस्मात् न ततः क्रियेत—
 इति । ‘यदि न ततः, कुतः, तर्हि?’ । अव्यक्त एवञ्जातीयकः
 शेषे, अस्ति तत्र परिभोजनीयं नाम वर्हिः, ततः कर्त्तव्यम् ॥
 (३ । ८ । १७ अ०) ॥

प्राज्ञतपुरोडाशादीनां निधानाधिकरणम् ॥

ख. अपनयस्त्वेकदेशस्य विद्यमानसंयोगात् ॥ ३३ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘पुरोडाशकलमैत्र्वायवस्य पाचे
 निदधाति, धाना आश्विनपाचे, पयस्यां मैत्रावस्यपाचे’—
 इति । तत्र संग्रहः, किमन्यत एवं क्रियेत, उत प्रकृतेभ्यः?—

भा. इति । किं प्राप्तम् ?—पूर्वेण न्यायेमान्यतः—इति । तत्र उच्यते,
—तत एकदेवस्यापनयः । कुतः ? । विद्यमानसंयोगात्, विद्यते
इह तत्र पुरोडाशो धानाः पयस्या च, तत्संयोग एव न्याय्यो
नान्यसंयोगः—इति, पुरोडाशादीनाम् एव संस्कारो न इन्द्र-
वायवादीनाम् । कुतः ? । पुरोडाशादिषु द्वितीयादर्शनात् ।
प्रत्यक्षस्यैकदेवापनयेन उपकारो, न इन्द्रवायवादिसम्बन्धेन,
एवं महतानुषङ्गो भविष्यति, तस्मात् महतस्य उपदेशेन तत्
क्रियेत, न च, अत्र उपदिष्टोदेव आशङ्गोऽनेकगुणभावस्यान्येन
ब्रह्मणे होमोऽन्यस्य प्रतिपाद्यते—इति ॥ (३।८।१८ अ०) ॥

काम्येष्टिषु उपांशुत्वधर्मस्य प्रधानार्थताधिकरणम् ॥

स. विकृतौ सर्वार्थः शेषः प्रकृतिवत् ॥ ३४ ॥ (पू०) ॥

भा. इदमामनन्ति,—‘यद्वाच्यं वै काम्या इष्टयः, ता उपांशु
कर्त्तव्याः’—इति । अत्र संशयः,—किम् अङ्गप्रधानार्थम् उपांशु-
त्वम्, उत प्रधानार्थम्?—इति । किं प्राप्तम्?—‘विकृतौ सर्वार्थः
शेषः’ स्यात्, अविशेषात् अङ्गानाम् प्रधानानां च महतिवत्,
यथा महतौ वेदिधर्मा आञ्जधर्माश्च अङ्गप्रधानार्थाः, एवम्
अत्रापि ॥

स. मुख्यार्थो वा अङ्गस्याचोदितत्वात् ॥ ३५ ॥ (सि०) ॥

भा. प्रधानार्थो वा एष विकृतिषु स्यात् । एवमिदं सर्वार्थम्
उच्येत, प्रकरणं बाधित्वा वाक्येन अङ्गप्रधानार्थम्—इति, तदेव
इदानीं वाक्यं विश्लेषितं,—काम्या इष्टयः—इति, काम्याश्च
प्रधानयागाः, अङ्गयागाः प्रधानार्थाः, तस्मात् अङ्गमचोदितम् ।
यत् कामेन फलवचोद्यते, तत् एवानया उपांशुत्वैतिकर्त्तव्यतया

भा. अनुबध्यते । तस्मात् प्रधानार्थम् उपांशुत्वम् ॥ (३। ऽ।
१९ अ०) ॥

श्येनाङ्गानां नवनीताज्यताधिकरणम् ॥

स. सन्निधानविशेषादसम्भवे तदङ्गानाम् ॥ ३६ ॥

भा. श्येने श्रूयते,—‘वृतनवनीतमाज्यम्’—इति । तत्र सन्देहः,
—किम् नवनीतं प्रधानस्य, उताङ्गानाम्?—इति । किं प्राप्तम्?
—प्रधानस्य, तस्य हि प्रकरणम्—इति वचनप्रामाण्यान्नवनीतेन प्रधानं निर्वर्तयितव्यम्—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—
‘असम्भवे’ एतस्मिन् ‘तदङ्गानां’ (श्येनाङ्गानां) स्यात् । कथम्
असम्भवः? । सोमद्रव्यकत्वात् प्रधानस्य । ‘ननु वचनान्नवनीतं
भविष्यति’ । न श्येने नवनीतं भवति—इत्येष वाक्यार्थः । कः
तर्हि? । श्येने नवनीतमाज्यं भवति—इति नवनीताज्यसम्बन्धो
विधीयते, श्येनाज्यसम्बन्धोऽनूयते । न च, साक्षात् श्येनस्य
आज्यसम्बन्धोऽस्ति, श्येनाङ्गानां तु विद्यते । यस्यास्ति, तस्या-
नूद्य नवनीतं विधीयते, ‘सन्निधानविशेषात्’ ॥

स. आधानेऽपि तथेति चेत् ॥ ३७ ॥ (आ०) ॥

भा. एवं चेत् दृश्यते,—‘श्येनाङ्गानाम् नवनीतम्’—इति, आधा-
नेऽपि पवमानेष्टिषु स्यात् । ता अपि हि श्येनस्य उपकुर्वन्ति,
तत्संस्कृतेऽग्नौ श्येनो निर्वर्तते—इति ॥

स. नाप्रकरणत्वाद्ङस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ ३८ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. न, श्येनस्य प्रकरणे पवमानेष्टयोश्च आधानं वा श्रूयते ।
किमतः? । यद्येवम्, आधानस्य च श्येनस्य च न कस्मिद्दस्ति

भा. सम्बन्धः, अग्नीनामाधानम्. अग्नयश्च श्येनस्य, तस्मात् न पवमानहविःषु नवनीतम् । नैतत्, श्येनाङ्गत्वे निमित्तं, यत् आधानम् अग्नीनाम् उपकरोति, यदि प्रकरणादीनामन्य-तमदस्ति, तत् निमित्तं भवेत् । तस्मात् न श्येनाग्न्याधानयोः सम्बन्धोऽस्ति—इति ॥ (३। ८। २० अ०) ॥

सर्वेषामेव श्येनाङ्गानां नवनीताद्यताधिकरणम् ॥

ख. तत्काले वा लिङ्गदर्शनात् ॥ ३९ ॥ (पू०) ॥

भा. इदमिदानीं सन्दिह्यते,—किं सत्याकालानाम् अङ्गानाम् नवनीतम् उत सर्वेषाम्?—इति । सत्याकालानाम् स्यात्, 'लिङ्गदर्शनात्', इदं श्रूयते,—'सह पशूनालभते'—इति । तत्र पुनर्वचनम्,—'अग्नीषोमीयस्य स्थानेऽग्नीषोमीयः पुरोडाशः, अनुबन्धायाः स्थाने मैत्रावर्षणीयस्य'—इति, हे स्थाने श्रून्ये दर्शयति, तेन अवगम्यते श्येनस्य वचनं सत्याकालानाम् अङ्गानाम् विज्ञेयं विदधाति—इति ॥

ख. सर्वेषां वा अविशेषात् ॥ ४० ॥ (सि०) ॥

भा. सर्वेषामेव च अङ्गानाम् नवनीतं स्यात् । कुतः? । अविशेषात्, असति विशेषे सर्वेषाम् अपि अङ्गानाम्—इति ॥

ख. न्यायोक्ते लिङ्गदर्शनम् ॥ ४१ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. यदुक्तं लिङ्गं,—तत्परिहरणीयम् । नास्ति तावत् प्रमाणं, यत् श्येनस्य वचनं सत्याकालानामङ्गानाम्—इति । किन्तु दर्शनं, तदप्रमाणमूलत्वात् मिथ्यादर्शनं मृगतृष्णावत् । कथं तु मध्ये पशूनामालम्भः?—इति । न्यायात् । को न्यायः? । क्रमानुपपन्नः । एवं वचनवर्जितः क्रमोऽनुगृहीतो भवति—इति ।

भा. तस्मात् सर्वेषाम् अङ्गानाम् नवनीतम्—इति ॥ (३। ८।
२९ अ०) ॥

सवनीयानां मांसमयताधिकरणम् ॥

ख. मांसन्तु सवनीयानाम् चोदनाविशेषात् ॥ ४२ ॥

भा. शाक्यानामयनम् षट्चिंशत्सम्बत्सरम् । तत्र इदं समामनन्ति,
'संस्थिते संस्थितेऽह्नि गृहपतिर्दृगयां याति, स तत्र याग्मृगान्
हन्ति, तेषान्तरसाः पुरोडाशाः सवनीया भवन्ति'—इति । तत्र
सन्देहः,—किं सवनीयानाम् अन्येषाञ्च सम्भवतां पुरोडाशानां
स्थाने तरसा उत सवनीयानामेव?—इति । किं प्राप्तम्?—
सर्वपुरोडाशानां मांसमयता स्यात्, न शक्यते पुरोडाशानां च
मांसमयता विधातुम्, सवनीयशब्देन च पुरोडाशान् विज्ञे-
षयितुम्, भिद्येत हि तथा वाक्यम् । तस्मात् सर्वपुरोडाशानां
मांसमयता—इति ॥

इति प्राप्ते उच्यते,—'मांसं तु सवनीयानां' स्यात्, तरसाः
सवनीया भवन्ति—इति तरससवनीयसम्बन्धो विधीयते, तरसाः
पुरोडाशा भवन्ति—इत्ययं त्वनूद्यते । कुतः एतत्? । सर्वपुरो-
डाशेषु सवनीयशब्दोऽनुवादो न घटते, पुरोडाशशब्दस्तु सवनी-
येष्ववकल्पते । तस्मात् पुरोडाशशब्दोऽनुवादः—इति । तस्मात्
सवनीयानाम् धानादीनाम् स्थाने मांसं 'चोदनाविशेषात्'—
इति ॥

ख. भक्तिरसंनिधावन्याय्येति चेत् ॥ ४३ ॥ (आ०) ॥

भा. इति चेत् पश्यसि,—'सवनीयेषु पुरोडाशशब्दोऽनुवादो
भविष्यति—इति, धानादिषु पुरोडाशशब्दो न वर्तते, भक्तिश्च
अन्यास्या मुखेन सम्भवति ॥

स. स्यात् प्रकृतिलिङ्गत्वात् वैराजवत् ॥ ४४ ॥ (आ० नि०)

भा. प्रकृतौ ज्योतिष्टोमे धानादिषु अर्थं पुरोडाशशब्दो भाक्तः, सन्निहिते प्रयुक्तः, इहापि भाक्त एव प्रयोष्यते, अत्रापि हि सवनीयशब्देन ते सन्निहिताः । प्रकृतौ लिङ्गसमवायाच्छब्द-प्रवृत्तिर्विहतावपि तथैव, यथा, छविणो गच्छन्ति, धजिनो गच्छन्ति—इति । यथा 'उक्थ्यो वैरूपसामा एकविंशः षोडशी वैराजसामा'—इतिप्रकृतिलिङ्गेन सामशब्देन वैरूपपृष्ठो वैराजपृष्ठः—इति गम्यते, एवम् इहापि सवनीयानाम् मांसमयता—इति ॥ (३।८।२२ अ०) ॥

इति श्रीशबरस्वामिविरचिते मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्याय-
स्याष्टमश्चरणः ॥ समाप्तश्च तृतीयोऽध्यायः ॥

चतुर्थे अध्याये प्रथमः पादः ॥



अथ प्रतिज्ञाधिकरणम् ॥

स. अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा ॥ १ ॥

भा. तृतीयेऽध्याये अतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानैः शेषविनियोगलक्षणमुक्तम्* । इह इदानीं क्रत्वर्थपुरुषार्थौ जिज्ञास्येते, —कः क्रत्वर्थः? कः पुरुषार्थः—इति, यापि प्रयोजकाप्रयोजकफलविधयर्थादाङ्गप्रधानचिन्ता, सापि क्रत्वर्थपुरुषार्थजिज्ञासैव । कथम्? । अङ्गं क्रत्वर्थः, प्रधानं पुरुषार्थः; फलविधिः पुरुषार्थः अर्थादः क्रत्वर्थः; प्रयोजकः कश्चित् पुरुषार्थाऽप्रयोजकः क्रत्वर्थः । तस्मात् 'क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा'—इति सूचितम् । तत्र अथातःशब्दो प्रथमे एवाध्याये प्रथमसूत्रे वर्णितौ । अथेति प्रकृतं शेषविनियोगलक्षणमपेक्षते । अतः—इति क्रत्वर्थपुरुषार्थजिज्ञासाविशेषं प्रकुरुते । क्रतवे यः स क्रत्वर्थः, पुरुषाय यः स पुरुषार्थः । जिज्ञासाशब्दोऽपि तत्र एव समधिगतः,—ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा—इति । तदेतत् प्रतिज्ञासूत्रम्,—क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा—इति ॥ (४।१।१ अ०) ॥

अथ क्रत्वर्थपुरुषार्थलक्षणाधिकरणम् वर्णकान्तरद्वयसहितम् ॥

स. यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थलक्षणा-
ऽविभक्तत्वात् ॥ २ ॥

भा. अथ किंलक्षणः क्रत्वर्थः, किंलक्षणः पुरुषार्थः?—इति लक्षणं

* तत्र प्रसन्नार्थम् इत्यधिकः पाठः कं० सं० पु० ॥

भा. वाचं, तथा हि लघीयसी प्रतिपत्तिः, पृष्ठाकोटिन्* उपदेशे गरीयसी ; तदुच्यते,—‘यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य’, (यस्मिन् ह्यते पदार्थे पुरुषस्य प्रीतिर्भवति) स पुरुषार्थः पदार्थः । कुतः? । ‘तस्य लिप्सा’ अर्थेन च भवति, न ब्राह्मेण, क्रत्वर्थो हि ब्राह्मात् अवगम्यते, न अन्यथा ; अविभक्तो हि पुरुषार्थः प्रीत्या, यो यः प्रीतिसाधनः स पुरुषार्थः । पुरुषार्थे लक्षिते तद्विपरीतः क्रत्वर्थः—इति क्रत्वर्थस्य लक्षणं सिद्धम् । (१ म वर्णकम्) ॥

एवं वा सूत्रं वर्ण्यते,—दर्शपूर्णमासयोराम्नायते,—‘अनति-दृश्यं स्तृणाति अनतिदृश्यमेवैनं प्रजया पशुभिः करोति’—इति, तथा, आहार्यपुरीषां पशुकामस्य वेदिं कुर्यात्, वत्सजानुम् पशुकामस्य वेदं कुर्यात्, गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्—इत्येवमादीनि । तत्र संज्ञयः,—किम् एवञ्जातीयकाः क्रत्वर्थाः उत पुरुषार्थाः?—इति । किं प्राप्तम्?—क्रत्वर्थाः—इति । कुतः? । प्रत्यक्ष उपकारस्तेभ्यो दृश्यते क्रतोः, पुरीषहरणं वेदिस्तरणं च, तदुक्तं, (३।१।३ सू०)—‘द्रव्यगुणसंस्कारेषु वादरिः’—इति । तस्मात् क्रत्वर्थाः—इत्येवं प्राप्तम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य’ स पुरुषार्थ एव—इति, प्रीतिस्तेभ्यो निर्वर्तते, तस्मात् एते पुरुषार्थाः—इति । ‘ननु प्रत्यक्षः उपकारः क्रतोर्दृश्यते—इत्युक्तम् । उच्यते,—सत्यं दृश्यते, न तु क्रतोरुपकाराय एभ्यः सङ्कीर्त्तितेभ्यः, फलेभ्य एते श्रूयन्ते, न च, य उपकरोति स शेषः ; यस्तु यदर्थः श्रूयते, स तस्य शेषः—इत्युक्तं (३।१।२ सू०),—‘शेषः परार्थत्वात्’—इति । (२ य वर्णकम्) ॥

एवं वा, द्रव्यार्जनम् उदाहरणम्, इह द्रव्यार्जनं तैस्तैर्नियमैः

* पृष्ठाकोटिन् इति पाठः क० सं० पु० ॥

† ‘एतदुक्तं भवति, स्वयंप्रार्थितसाध्याधीनानुष्ठानः पुरुषार्थस्तदुप-कारार्थः क्रत्वर्थः’ इति तत्परममन्वानुस्मार्त्तम् ॥

भा. श्रूयते, ब्राह्मणस्य प्रतियक्षादिना, राजन्यस्य जयादिना, वैश्यस्य ह्यध्यादिना । तत्र सन्देहः,—किं क्रत्वर्थो द्रव्यपरियहः उत पुरुषार्थः?—इति । किं प्राप्तम्?—क्रत्वर्थो नियमात्, यद्वेष पुरुषार्थः स्यात्, नियमोऽनर्थको भवेत्, प्रत्यक्षेण एतत् अवगम्यते,—नियमादनियमाच्चार्जितं द्रव्यं पुरुषं प्रीणयति—इति, तस्मात् क्रत्वर्थः, कामश्रुतिभिश्चास्य सद्देकवाक्यता दृष्टा, इतरथा, अनुमेयेन फलवाक्येन सद्देकवाक्यतां यायात् । लिङ्गं चापि भवति,—‘अग्रये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्, यस्याहिताग्नेः सतोऽग्निर्गृहान् दहेत्, यस्य हिरण्यं नश्येदाग्नेयादीनि निर्वपेत्’—इत्येवमादि, तद्भिर्द्रव्योपघाते चोद्यते, यदि द्रव्यपरियहः कर्मार्थः, तत एतदपि सति सम्बन्धे कर्मार्थम्—इत्युच्यते, इतरथा असति सम्बन्धे कर्मार्थम्—इत्यनुमीयते, फलं च अस्य कल्प्येत । तस्मात् यजतिश्रुतिगृहीतं द्रव्यार्जनं येन विना यागो न निर्वर्तते, स यागस्य श्रुत्या परिगृहीतः—इति गम्यते । तस्मात् क्रत्वर्थः—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—पुरुषार्थः—इति । एतस्मिन् ह्येते पदार्थे प्रीतिः पुरुषस्य भवति, तस्मात् अस्य लिप्सा अर्थलक्षणा शरीरधारणार्था, यस्य शरीरं ध्रियते, व्यक्तं तस्यास्ति द्रव्यं, शरीरिणश्च यागः श्रूयते, तस्मात् विद्यमानद्रव्यस्य विनियोग उच्यते । न द्रव्यार्जनं श्रुतिगृहीतं, विनापि हि द्रव्यार्जनवचनत्वेन शब्दस्य, यागो निर्वर्तत एव, तस्मात् पुरुषार्थो द्रव्यपरियहः ।

अपि च, यदि ब्राह्मणात् कर्मार्थं द्रव्यार्जनं, तन्नान्यत्र विनियुज्येत तथार्जितम्, तत्र सर्वतस्त्रपरिलोपः स्यात् । अपि च, उपक्रान्तानि सर्वकर्माणि द्रव्यार्जनेन भवेयुः, तत्र एतन्नोपपद्यते,—‘अपि वा एष *सुवर्गाहोकाच्छिद्यते, यो दर्शपूर्णमासयाजी

* स्वर्गादिति का० क्रो० पु० पाठः ॥

भा. सन्नमावास्यां वा पौर्णमासीं वा अतिपातयत्—इति; एवञ्च सति, प्रयोगकालादह्निरेतदङ्गं सदानुपकारकं स्यात् । न च, आधानवत् भवितुमर्हति, तत्र हि वचनं,—‘वसन्तोऽग्निमादधीत’—इति, न चैतत् अङ्गम् ।

अथ यदुक्तं,—नियमवचनम् अनर्थकं, पुरुषार्थे द्रव्यपरिपक्षे सति—इति । उच्यते, नैतावता पुरुषार्थता व्यावर्त्तते, प्रत्यक्षा हि सा, त्वया च परोक्षं युक्तिबुद्ध्या व्यपदिश्यते, न च, परोक्षं प्रत्यक्षस्य बाधकं भवति, तस्मात् नियमवचनात् काममपरम-दृष्टं कल्प्येत, न तु दृष्टद्वानम् । तस्मात् यत् पुरुषस्य प्रयोजनं प्रीतिः, तदर्थं धनस्य अर्जनम्,—इत्येवं च सति, व्रीहिणा यागः कर्मण्यः, प्रीत्यर्थमर्जितेन वा क्रत्वर्थमर्जितेन वा, न अत्र कश्चित् विशेषः; प्रीत्यर्थम् उपार्जितोऽपि व्रीहिः, व्रीहिरेव, कर्मार्थम् उपार्जितोऽपि व्रीहिः, व्रीहिरेव । तस्मात् न प्रयोग-चोदनागृहीतं द्रव्यार्जनम् ।

अथ यदुक्तम्,—अनुमेयेनाप्रकृतेन वा शब्देन युष्मत्पक्षे नियमस्य एकवाक्यता, अस्मत्पक्षे तु दृष्टेन प्रयोगवचनेन—इति । नैष दोषः, अस्मत्पक्षेऽपि दृष्टेन भुजिना, न फलवचनेन । ‘कथं तर्हि?—नियमाददृष्टं भवति—इति गम्यते’ । यथैव भवदीये पक्षे । ‘आह अस्मत्पक्षे फलवत् एकवाक्यभावात् फलवत् उपकरोति—इति गम्यते’ । उच्यते, अस्मत्पक्षेऽपि फलवत् एवैकवाक्यभावः, एतावांस्तु विशेषः,—तव श्रुतं फलं, मम तु दृष्टम्—इति ।

अथ यत् लिङ्गम् उक्तं,—गृहदाहादिषु कर्म श्रूयते—इति । तत्र उच्यते, यद्यपि न क्रत्वर्थं द्रव्यार्जनं, तथापि दाहे निमित्ते फलाय वा कर्माङ्गभावाय वा आमवत्यादीनां विधानम् उपपद्यत एव । तस्मात् पुरुषार्थे द्रव्यार्जनं, प्रीत्या हि तदविभक्तम्—इति ॥ (३ य वर्षकम्) ॥ (४।१।२ अ०) ॥

प्रजापतिव्रतानां पुरुषार्थताधिकरणम् ॥

स. तदुत्सर्गे कर्माणि पुरुषार्थाय, शास्त्रस्यानतिशङ्क्य-
त्वान्नच द्रव्यं विकीर्ष्यते तेनार्थेनाभिसम्बन्धात्
क्रियायां पुरुषश्रुतिः ॥ ३ ॥

भा. इह प्रजापतिव्रतानि उदाहरणम्,—‘नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत
नास्तंयन्तम्’—इत्यादीनि । तत्र सन्देहः,—किं क्रत्वर्थानि
प्रजापतिव्रतानि उत पुरुषार्थानि ?—इति । किं प्राप्तम् ?—
क्रत्वर्थानि—इति । कुतः ? । एवं हि, फलं न कल्पयित्वा
भविष्यति—इति । ननु श्रूयते एवैतेषां फलम्,—‘एतावता
हैनसाध्युक्तो भवति’—इति । उच्यते,—नैतत् फलपरं वचनं,
वर्तमानापदेश एवैष शब्दः—इति, तेन यत्रादित्य ईक्षित्यः
प्राप्तः, तत्रार्थं प्रतिषेधः उद्यतोऽस्तंयतश्च नियमो वा स्यात्
कश्चित् कर्माङ्गभूतः ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—तदुत्सर्गे (प्रीत्युत्सर्गेऽपि) कर्माणि पुरुषार्थाय
भवेयुः, एवञ्जातीयकानि ; कर्तुरेतानि उपादिश्यन्ते, न कर्मणः ।
अर्थप्राप्तेन कर्मा सम्बन्धो यः, स विधित्सतः, न कर्मसम्बन्धो-
विद्यमान एव । ज्ञात्वा च अनतिशङ्क्यं पितृमातृवचनादपि
प्रमाणतरं, स्वयं हि तेन प्रत्येति, इन्द्रियस्थानीयं हि तत्, न
चैवमादिभिर्द्रव्यस्य कश्चित् दृष्ट उपकारः साध्यते । तस्मात् तेन
पुरुषार्थेन अभिसंयोगात् क्रियायाम् एवञ्जातीयकायां पुरुषः
श्रूयते ।

अपि च, पुरुषप्रथमः पदार्थविधिमात्रं लक्षयितुम् उच्चार्येत,
स्वयम् अविर्वाञ्छतः स्यात् ।

अथ यदुक्तं,—यत्रादित्यस्येक्षणं प्राप्तं, तद्यद्यतोऽस्तंयतश्च प्रति-
षेधः—इति, सत्यं प्रतिषेधो न्याप्यः, तथा श्रुतिः अनुगच्छेत,

भा. इतरथा नियमो लक्ष्येत—इति, किन्तु इह नियमः शब्देन श्रूयते,—तस्य व्रतम्—इति, तेन नियम एष,—नोद्यन् आदित्य ईक्षितव्यः—इति । अपि च, 'एतावता ह्येनसा अयुक्तो भवति'—इति पुरुषसम्बद्धो दोषः कीर्त्यते, न कर्मसम्बद्धः । तस्मात् पुरुषार्थानि प्रजापतिव्रतानि—इति । गोलक्ष्यान्यप्येवमेव 'कर्त्तरीकर्ण्यः कर्त्तव्याः'—इत्येवमादीनि ॥

स. अविशेषात्तु शास्त्रस्य यथाश्रुतिफलानि स्युः ॥ ४ ॥
(आ०) ॥

भा. उच्यते,—यद्येवम्,—इमान्यपि पुरुषार्थानि स्युः,—'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, नानृतं वदेत्'—इत्येवमादीनि । अपि च पुरुषप्रयत्नसङ्कीर्त्तनम्, अपि च न द्रव्यं चिकीर्ष्यते—इति ॥

स. अपि वा कारणाग्रहणे तदर्थमर्थस्यानभिसम्बन्धात् ॥ ५ ॥ (नि०) ॥

भा. अपि वा नैतदस्ति,—'समिदादीन्यपि पुरुषार्थानि प्राप्नुवन्ति—इति, कारणाग्रहणे पुरुषार्थानि प्रजापतिव्रतानि भवेयुः, न तत्र श्रुत्यादिकं किञ्चित् कारणं गृह्यते, येन कर्मणाम् अङ्गभूतानि—इति गम्यते, तस्मात् तानि पुरुषार्थानि । अर्थस्य (कर्मणः) न अभिसम्बन्धः प्रजापतिव्रतैः, इह तु समिदादीनां प्रकरणं नाम कारणं गृह्यते, येन कर्मार्थानि—इति विज्ञायन्ते । तस्मात् विषम उपन्यासः, पुरुषप्रयत्नस्यैवं सति अनुवादः ॥

स. तथा च लोकभूतेषु ॥ ६ ॥ (यु०) ॥

भा. लोकेऽपि, निष्पन्नकार्यादिषु प्रयोजनवत्सु यत् असंयुक्तं फलेन श्रूयते, तत् तदङ्गं विज्ञायते—इति मन्यमाना उपवासं जपं वा

भा. उपदिश्य एव कृतिनो मन्यन्ते, न ब्रुवते,—इदमस्य प्रयोजन-
वतोऽङ्गम्—इति, तथा च अपरेऽपि मन्यमाना न दुरक्तं
मन्यन्ते । तस्मात् समिदादीनि कर्माङ्गानि, न प्रजापतिव्रतानि
—इति सिद्धम् ॥ (४।१।३ अ०) ॥

यज्ञायुधानामनुवादताधिकरणम् ॥

स. द्रव्याणि त्वविशेषेणानर्थक्यात् प्रदीयेरन् ॥ ७ ॥
(पू०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्राग्नायते,—‘ष्वश्च कपालानि च
अग्निहोत्रहवणी च श्रुपं च वृष्णाजिनं च शय्या चोलूखलं च
मुसलं च दृषकोपला चैतानि वै दश यज्ञायुधानि’—इति ।
तत्र संज्ञयः,—किम् एतानि द्रव्यानि प्रदातव्यानि उत स्वेन
स्वेनार्थेन सम्बन्धनीयानि? । तदेतत् सिद्ध्यर्थम् इदं चिन्त-
नीयम्,—किम् एष विधिः उत अनुवादः?—इति । विधौ
सति प्रदानमनुवादे सति यथार्थसम्बन्धः । किं प्राप्तम्?—
विधिः—इति, तथा हि प्रवृत्तौ विशेषः, इतरथा वादमात्रम्
अनर्थकम् । प्रदाने च एषां यज्ञायुधशब्दोऽनुगृहीतः,—यज्ञस्य
आयुधानि,—यज्ञस्य साधनानि—इति, इतरथा उद्धननादी-
नामायुधानि भवेयुः श्रवणेन, लक्षणया यज्ञस्य, संख्या च
एवम् श्रवकल्पते,—यागेनैकेन सम्बन्धात्, इतरथा नानार्थ-
सम्बन्धात् दशैतिसंख्या न श्रवकल्पते । तस्मात् प्रदीयेरन्,
अविशेषेण विहितं प्रकरणेन प्रधानस्य भवितुमर्हति ॥

स. स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धो द्रव्याणां पृथगर्थत्वात्, तस्मात्
यथाश्रुति स्युः ॥ ८ ॥ (सि०) ॥

भा. न चैतदस्ति विधिः,—प्रदेयानि—इति, अनुवादः, प्राप्त-

भा. त्वात्,—‘स्फेनोद्धन्ति कपालेषु अपयत्यग्निहोषह्वग्यां निर्वपति
 श्रूर्पण विविनक्ति, हृष्णाजिनमुखलस्य अधस्तादवस्तृणाति,
 श्म्यायां वृषदमुपदधाति, प्रोक्षिताभ्यामुखलमुषलाभ्याम-
 वहन्ति, प्रोक्षिताभ्यां वृषदुपलाभ्यां पिनष्टि—इत्येवं स्वेन
 स्वेन वाक्केनोद्धननादिषु प्राप्नुवन्ति, प्राप्तानां वचनम् अनु-
 वादः। प्रकरणमपि वाक्केन बाधते, यज्ञायुधशब्दश्च अनुवाद-
 पक्षे न्यायः, न विधिपक्षे, गौणो हि स आयुधशब्दः स्थादिषु,
 संस्थापि पाठाभिप्राया भविष्यति, विस्पष्टं च एतत् उद्धना-
 दिभिः स्थादीनि प्रयुक्तानि—इति, भवति हि तत्र विधिः,—
 ‘स्फेनोद्धन्ति’—इत्येवमादिः, न तु यज्ञायुधानि कर्तव्यानीति।
 तस्मात् उद्धननादिषु वाक्केन प्राप्तानामनुवादः—इति ॥

ख. चोद्यन्ते चार्थकर्मसु ॥ ९ ॥ (यु० १) ॥

भा. अर्थकर्मसु चोद्यन्ते पुरोडाशादीनि, तावद्यपि विकल्पेरन्,
 तत्र पक्षे बाधो न समुच्चयः। पुरोडाशादीनां निरपेक्षाणां
 यजिसम्बन्धात्, स्थादीनां च। एवं वा, ‘चोद्यन्ते चार्थकर्मसु’,
 चोद्यन्ते, परिधानोथे कर्मणि,—‘आहिताग्निभिर्दहन्ति
 यज्ञपाचैश्च’—इति, यदि प्रदीयेरन्, तत्र न भवेयुः, तस्मात्
 अपि न प्रदातव्यानि—इति ॥

ख. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १० ॥ (यु० २) ॥

भा. लिङ्गदर्शनेन च,—‘चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो ज्यन्ते,
 त्रयोदशमावास्यायाम्’—इति। तस्मादप्यनुवादः—इति ॥
 (४।१।४ अ०) ॥

पञ्चैकत्वादेर्विवक्षाधिकरणम् ॥ (पञ्चैकत्वन्यायः) ॥

स. तत्रैकत्वमयञ्चाङ्गमर्थस्य गुणभूतत्वात् ॥ ११ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्नीषोमीयो,—‘यो दीक्षितो, यत् अग्नीषोमीयं पशुमालभते—इति, तथा, ‘अनङ्गाहो युनक्ति’—इति, तथा, अत्रमेधे, ‘वसन्ताय कपिञ्जलानालभते’—इति । तत्र सन्देहः,—किं विवक्षितम्, एकत्वं द्वित्वं बहुत्वं च, उत अविवक्षितम्?—इति । तत्र एकत्वमयञ्चाङ्गभूतं न विवक्षितम्,—इत्यर्थः, ‘अर्थस्य गुणभूतत्वात्’, न आलम्बस्य गुणभूता संख्या नियोजनस्य वा । कस्य तर्हि ? । पशोः अनङ्गाहोः कपिञ्जलानां च, विभक्तिर्हि श्रुत्या प्रातिपदिकार्थगतं संख्यार्थं ब्रूते, वाक्येन सा यञ्चाङ्गं ब्रूयात्, वाक्याच्च श्रुतिर्बलीयसी । तस्मात् न यञ्चाङ्गं विवक्षितम्—इति ।

‘आह, मा भूत् यञ्चाङ्गम्, पञ्चादीनामङ्गम् विवक्षितं तथा यीति’ । उच्यते, न, पञ्चादीनामङ्गेन उक्तेन अनुक्तेन वा किञ्चित् प्रयोजनमस्ति, यञ्चाङ्गेन हि अविपन्नेन प्रयोजनम्, विपन्नेऽपि हि पञ्चाद्यङ्गेऽविगुण एव क्रतुर्भवति, यञ्चाच्च फलं न पञ्चादेः । तस्मात् पञ्चादेगुणेन अज्ञातेन ज्ञातेन वा न किञ्चित् प्रयोजनमस्ति—इति, न तत् विवक्षितम्, यत् हि प्रयोजनवत् तत् विवक्षितम्—इत्युच्यते ॥

स. एकश्रुतित्वाच्च ॥ १२ ॥ (यु०) ॥

भा. भवति च किञ्चित् वचनं, येन विज्ञायते,—न तत् विवक्षितम्—इति, ‘यदि सोममपहरेयुरेकां गां दक्षिणां दद्यात्’—इति, यदि हि विवक्षितं भवेत्, न एकामिति ब्रूयात्, गामित्येक-वचनस्य विवक्षितत्वात्, तथा, ‘अवी हे धेनू हे’—इत्यथापि हे—इति वचनं ज्ञापकम्, अविवक्षितम् अवी—इति द्वित्वम्—

भा. इति । 'चीन् लखामान्'—इत्यत्रापि चीनितिबचनं लिङ्गम्, लखामानितिबहुवचनम् अविवक्षितम्—इति ॥

स. प्रतीयते इति चेत् ॥ १३ ॥ (आ०) ॥

भा. एवं चेत् पश्यसि,—अविवक्षिता संख्या—इति, तत् न, प्रतीयते हि संख्या आख्यातवचनस्य अङ्गभूता, यथा 'पशु-मानय'—इत्युक्ते, एक एवानीयते, पशु—इति, द्वी; पशुन्—इति बहव आनीयन्ते, यश्च प्रतीयते स शब्दार्थः, तस्मात् यच्चस्याङ्गभूता संख्या—इति शब्दात् गम्यते, न च शब्दात् गम्यमानम् ऋते कारणात्, अविवक्षितं भवति ॥

स. नाशब्दं तत्प्रमाणत्वात् पूर्ववत् ॥ १४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवं, सत्यं प्रतीयते, न तु अयं शब्दार्थः व्यामोहादेषा प्रतीतिः । कुतः एतत्? वाक्याद्धि यच्चाङ्गम्—इत्यवगम्यते, वाक्यं च श्रुत्या नाश्रुते; तस्मात् अशब्दार्थोऽयं यज्ञे एकत्वा-दीति । अशब्दार्थोऽपि हि प्रतीयते, यथा, पूर्वा धावति—इति, स पूर्व इत्युच्यते, यस्य अपरोऽस्ति, तेन 'पूर्वः' इत्युक्ते, अपरो गम्यते, न तु, अपरो, 'धावति'—इति अवणात् प्रतीयते, एवम् इहापि पशुम्—इत्येकत्वं गम्यते, न तु यज्ञे, यथैव हि पूर्वम्—इत्युक्तेऽपरो गम्यते एव केवलं, न तु स विधीयते कस्मिंश्चिदर्थे; एवम् इहापि संख्या प्रतीयते एव केवलं, न तु कर्त्तव्यतया यज्ञे विधीयते न पशौ ।

'कथं न पशौ विधीयते?—इति चेत्' । विधायकस्याभावात् । 'आख्यातशब्दो विधायको भविष्यति'—इत्येतदपि नोपपद्यते, —द्रव्यदेवतासम्बन्धस्य स विधायकः सन् आलभते—इति न संख्यासंख्येयसम्बन्धं विधातुमर्हति—इति, भिद्येत हि तथा वाक्यम् । तस्मात् अविवक्षिता संख्या—इति ॥

ख. शब्दवत्तूपलभ्यते तदागमे हि तत् दृश्यते तस्य ज्ञानं
यथान्येषाम् ॥ १५ ॥ (सि०) ॥

भा. तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयतिः, न तत् अस्ति,—न यज्ञे संख्या
शब्देन श्रूयते—इति, आख्यातवाचेन हि अर्थे उपलभ्यते,
लोके पशुमानय—इत्येकवचने सति एकत्वपशुविशिष्टमानयनं
प्रतीयते, पशू आनयेति द्वित्वविशिष्टं गम्यते, तत्र हि एकत्व-
मपैति, द्वित्वमुपजायते; यस्य चागमे यत् उपजायते, स तस्य
अर्थः—इति गम्यते, 'तस्य ज्ञानं, यथान्येषां' शब्दानाम्,—
अश्वमानयेति उक्ते अश्वानयनं प्रतीयते, गामानय—इति
गवानयनं, तत्र अश्वोऽपैति गौश्वोपजायते, तेन ज्ञायते,—
अश्वशब्दस्य अश्वोऽर्थो गोशब्दस्य गौः—इति ।

'यदुक्तं,—श्रुत्या वाक्यार्था बाध्यते'—इति, उच्यते, न श्रुति-
व्रते,—वाक्यार्था नास्ति—इति, केवलं तु प्रातिपदिकार्थगतां
संख्यामाह, तादृशो संख्या वाक्येन यज्ञे विधीयते, प्रातिपदि-
कार्थो हि आख्यातवाचेन सम्बध्यते, विभक्त्यर्थोऽपि, तथाहि
तद्विशेषणविशिष्ट आलम्भो गम्यते, तत्र एकार्थत्वात् एकवाक्यम्
अवकल्पते । पशौ हि संख्यायां विधीयमानायामेक आख्यात-
शब्दो न शङ्क्यात्,—आख्यातार्थं विधातुम्, संख्यासंख्येयसम्बन्धं
च । तस्मात् यज्ञे विवक्षिता संख्या—इति ॥

ख. तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥ १६ ॥ (यु० १) ॥

भा. किम्?—इति । 'कर्णा याम्या अवलिप्ता रौद्रा, नभोरूपाः
पाजंन्याः, तेषाम् ऐन्द्राग्रो दग्धमः'—इति, यदि चित्वं विवक्षितं
तदा ऐन्द्राग्रो दग्धमो भवति । तथा 'लृष्णा भौमाः, धूम्रा
आन्तरिक्षाः, दृहन्तो दिव्याः, श्रवणा वैद्युताः, सिद्धास्तारकाः'
—इति प्रकृत्य आह,—'अर्द्धमासानां वा एतत् रूपं यत् पञ्च-

भा. दक्षिनः—इति । तस्मात् अपि पश्यामो,—विवक्षिता संख्या—इति । यत्तु उक्तम्,—‘एकां गाम्’—इत्यविवक्षां दर्शयति—इति । अत्र उच्यते, गोसंख्यासम्बन्धं विधातुम्, एतत् उच्यते, इतरथा हि, गोदक्षिणासम्बन्धो विहितो गम्येत । तस्मात् विवक्षितेऽपि वाच्यमेतत् । अवी द्वे धेमू द्वे चीन्लला-मान्—इति च अनुवादाः ॥ (४।१।५ अ०) ॥

पूर्वाधिकरणांश्च लिङ्गस्य विवक्षितत्वाधिकरणञ्च ॥

ख. तथा च लिङ्गम् ॥ १७ ॥ (य० २) ॥

भा. एवं च ज्ञात्वा समानश्रुतिकं लिङ्गमपि विवक्षितं भविष्यति, तत्र इदं दर्शनम् उपपद्यते,—‘वसन्ते प्रातराग्नेयीं ह्यग्नेयीवामा-लभते, धीष्णे माध्विन्द्रे सिंहीमैन्त्रीं ब्रह्मि अपराह्णे श्वेतां वार्हस्पत्याम्’—इति । तत्र श्रूयते,—‘गर्भिण्यो भवन्ति’—इति, गर्भः स्त्रीणां गुणः, तेन स्त्रियो दर्शयति—इति भविष्यति । तथा ‘अश्व ऋषभो वृष्णर्वस्तः पुष्यः’—इति ते प्राजापत्याः—इति । तत्र श्रूयते,—‘मुष्करा भवन्ति सेन्द्रियत्वाय’—इति, मुष्करत्वं पुंसां गुणः, तेन पुंम्रांसं दर्शयति—इति ।

अधिकरणान्तरं वा,—तथा च लिङ्गम्—इति, संख्याधिकरणं लिङ्गाधिकरणेऽतिवृश्यते । लिङ्गम् अविवक्षितं, श्रुत्या वाक्यस्य बाधितत्वात्, न च, विवक्षितमिव श्रूयते—इति, भवति लिङ्गं, ‘स्त्री गौः सोमक्रयणी’—इति, स्त्रीवचनात् सोमक्रयणी—इत्य-विवक्षितमेव लिङ्गं प्रतीयते । ‘अनु कथं ष्टुगीभामय—इति न ष्टुगः आनीयते?’ । नैवम्, अश्वदन्तु तत्, पूर्वा धावति—इति यथा ।

लिङ्गं विवक्षितं वा वाक्यार्थस्य श्रुत्याऽप्रतिसिद्धत्वात्, ‘तथा च लिङ्गं’ ‘गर्भिण्यो भवन्ति’—इति, तथा च ‘मुष्करा भवन्ति’

भा.—इति । यदुक्तं,—‘स्त्री गौः सोमक्रयस्त्री’—इति, तत्र स्त्रीत्य-
विवक्षितं, तथा ‘प्रजापतये पुरुषान् इस्तिन आलभते’—इति
पुरुषयश्चणम् अविवक्षितं, विस्पष्टो हि न्याय उक्तो लिङ्गविव-
क्षायां । तस्मात् विवक्षितं लिङ्गम्—इति ॥ (४।१।६ अ०) ॥

आश्रयिणामदृष्टार्थताधिकरणम् ॥

क. आश्रयिष्वविशेषेण भावोऽर्थः प्रतीयेत ॥ १८ ॥
(नि०) ॥

भा. आश्रयिणः* पदार्था उदाहरणम् (उत्तमः प्रयाजः यमु-
पुरोडाशः स्विष्टकृत्—इत्येते यागा उदाहरणम्) । एषु
सन्देहः,—किं यजिमात्रं संस्कारो देवतायाः, उत यजिना
अदृष्टं देवतायां क्रियते?—इति । किं प्राप्तम्?—‘आश्रयिषु
अविशेषेण भावोऽर्थः प्रतीयते’—इत्याश्रयिषु एवञ्जातीयकेषु
अपूर्वस्य भावोऽर्थः प्रत्येतथोऽविशेषात् अन्यैराख्यातशब्दैः,—
यजति ददाति उद्धोति—इति, उक्तमेतत् ‘भूतं भव्यायोपदि-
श्यते’ (२।१।४ सू० भा०)—इति ॥

ख. चोदनायान्त्वनारम्भो विभक्तत्वात्तद्व्यन्येन विधी-
यते ॥ १९ ॥ (आ०) ॥

भा. अस्यान्तु चोदनायाम् अनारम्भोऽपूर्वस्य, विभक्तोऽयमाख्यात-
शब्दो,—यो दृष्टार्थः, ततो न अपूर्व, यः खल्वदृष्टार्थः, ततोऽपूर्वम्
—इति, दृष्टार्थश्चायम्, अस्मिन् हि यागे क्रियमाणे देवता

* एकदेशेन अन्यदीयं द्रव्यं देवतामुभयं वा आश्रयन्ति संस्क्रुवन्ति
ये पदार्थास्ते आश्रयिण इति तद्वरत्नम् ॥

भा. स्मर्यते, खिष्टहृत्यपि* द्रव्यं प्रतिपाद्यते, न च अन्येन ब्रह्मेन
अत्र अपूर्वं विधीयते । तस्मात् यजिमात्रं संस्कारः—इति ॥

स. स्याद्वा द्रव्यचिकीर्षायां भावोर्थे च गुणभूतताऽऽश्रयाद्धि
गुणीभावः ॥ २० ॥ (सि०) ॥

भा. स्यात् वा अपूर्वमतः, सत्यामपि देवताचिकीर्षायां, तस्मिन्
देवतासंस्कारार्थे गुणभूतता यागस्य, द्रव्यप्रतिपादेन च, मन्त्रेण
तत्र देवता स्मर्यते, तस्मिन् मन्त्रेण दृष्टेर्र्थे क्रियमाणे त्यागो-
परोऽदृष्टार्थः श्रूयते, तस्य न किञ्चित् दृष्टमस्ति, देवताश्रयात्तु
देवतागतं तत् अपूर्वम्—इति गम्यते ॥ (४।१।७ अ०) ॥

प्रतिज्ञाधिकरणम् ॥

स. अर्थे समवैषम्यतो द्रव्यकर्मणाम् ॥ २१ ॥

भा. अतिक्रान्तः तृतीयविषयः, अतः प्रभृति द्रव्याणां कर्मणां च
'अर्थे' (प्रयोजने) समवैषम्यं वक्ष्यते,—कचित् साम्यं, कचित् वै-
षम्यम्, आमिक्षावाजिनयोर्वैषम्यं, क्रयपांसूनां वैषम्यं, दण्डस्य
मैत्रावरुणधारणे यजमानधारणे च साम्यम्, एवं तत्र तत्र
द्रष्टव्यं, साम्यं वैषम्यं च—इति ॥ (४।१।८ अ०) ॥

* 'खिष्टहृत्यपि' इति क० स० पु० पाठः । 'खिष्टहृत्यापि' इति
का० क्री० पु० पाठः ॥

† द्रव्यकर्मणां दण्डदधानयनादीनामर्थे प्रयोजने साम्यम् उभय-
प्रयुक्तिः, वैषम्यमेकेन प्रयुक्तिरितरेण नेति अतः परं वक्ष्यते इत्यर्थः
इति तत्परत्वम् ॥

तप्ते पयसि दधानयनस्यामिच्छाप्रयुक्तताधिकरणम् ॥
(वाजिनन्यायः) ॥

ख. एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात् ॥ २२ ॥ (पू०) ॥

भा. चातुर्नास्येषु वैश्वदेवे श्रूयते,—‘तप्ते पयसि दधानयति, सा वैश्वदेव्यामिच्छा वाचिभ्यो वाजिनम्’—इति । तत्र सन्देहः,— किं तप्ते पयसि दधानयनम् आमिच्छा प्रयोजयति, न वाजिनम्, उत उभयम्?—इति । किं प्राप्तम्?—उभयम्—इति । कुतः? । यस्मिन् कृते, यत् निष्पद्यते प्रयोजनवत्, तत् तस्य प्रयोजकम्—इति गम्यते, दधानयने च कृते उभयं निष्पद्यते; आमिच्छापि, तत एव वाजिनम् अपि, तत्र अन्यतरार्थं क्रियेत, यदि विनिगमनायां हेतुर्भवेत्, अगम्यमाने विशेषे उभयार्थमानयनम्—इति गम्यते । तस्मात् एका असौ उभाभ्यामपि प्रयोजिता निष्पत्तिः—इति ॥

ख. संसर्गरसनिष्पत्तेरामिच्छा वा प्रधानं स्यात् ॥ २३ ॥
(सि०) ॥

भा. नैतदस्ति,—उभयं प्रयोजकम्—इति, आमिच्छा प्रयोक्त्री । कुतः? । न अत्र यदधिपयोभ्यां निर्वर्त्यते, तद्विः, यदि तद्विः स्यात्, उभयं तरभ्यामेव निष्पद्यते—इति गम्येत विशेषः । किं तर्हि विः?—इति । पयो दधिसंसृष्टं । कुतः एतत्? । सा वैश्वदेवी—इत्युच्यते, न ततो यत् निष्पद्यते—इति ।

‘ननु स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्, आमिच्छा विः, सा च ततो निष्पद्यते, वाजिनञ्च विः, तदपि निष्पद्यते’—इति । न,— इत्युच्यते,—तदेव हि पयः तप्तं दधिसंयुक्तम्, आमिच्छा भवति । तस्मात् स्त्रीलिङ्गम् अदोषः । ‘आह, —यदि पयो दधिसंसृष्टं विः, किं तर्हि उच्यते, आमिच्छा प्रयोजिका?’—इति । उच्यते,

भा.—आमिच्छायां दधिपयसी विद्येते, न वाजिने । कथम् अव-
गम्यते ? । संसर्गरसनिष्पत्तेः, तत्र हि दधिपयसोः संसृष्टयोः
रस उपलभ्यते, तेन तत्र दधिपयसी—इत्यनुमानं भवति,
वाजिने तिक्तकटुको रसः ।

‘आह, तप्ते पयसि दधनि आनीयमाने उभयं भवति, दध्ना
च पयः संसृज्यते वाजिनाच्च विविचयते, तत्र संसर्गश्चिकीर्षितो
न विवेकः—इति, कुतः एतत् ?’ । उच्यते,—शब्दः संसर्गो
दध्ना, अशब्दे वाजिनेन विवेकः पयसः—इति, सर्वनाम च
पूर्वाक्तेन शब्देन एकवाक्यतां याति, इतरस्मिन्पक्षे पयसि
दधानयनं वाजिनविवेकलक्षणार्थं स्यात्, अतिलक्षणाविषये
च अतिर्न्याय्या । तस्मात् अमिच्छार्थं दधानयनम्, आमिच्छा-
शब्दश्च अत्र अनुवादः, आमिच्छैव सा भवति, यत्र तप्ते पयसि
दधानीयते । तस्मात् आमिच्छा प्रयोक्त्री, वाजिनम् अप्रयो-
जकम्—इति ॥

ख. मुख्यशब्दाभिसंस्तवाच्च ॥ २४ ॥ (हे०) ॥

भा. न च, उभयं प्रयोजकं न्याय्यं, न अत्र वचनमस्ति,—इदं
प्रयोजकम् इदं न—इति, असति प्रयोजकेऽनर्थकं भवति—इति
प्रयोजकं कल्प्यते । तत्र एकस्मिन् अपि प्रयोजके सिद्धेऽर्थवति
उपदेशे न अन्यदपि प्रयोजकं भवितुमर्हति, न च, न गम्यते
विशेषः । कथं गम्यते ? । मुख्यशब्दाभिसंस्तवात्, मुख्यशब्दः
संस्तोतुम् न्याय्यः—इति, प्राथम्यात् तस्य तावत् प्रयोजकत्व-
ज्ञानं, तस्मिन् सति प्रयोजके, परिहृतत्वात् आनर्थक्यस्य, न
द्वितीयमपि प्रयोजकं, प्रथमा च आमिच्छा, द्वितीयं वाजिनम्,
तस्मात् आमिच्छा प्रयोक्त्री ।

अपि च मुख्यशब्देन च, आमिच्छा स्तूयते,—‘मिथुनं वै दधि
च शृतं च अथ यत् संसृष्टं मण्डमिव मस्तिवव परि च ददृशे

भा. गर्भ एव सः?—इति, गर्भस्तुता आमिष्ठा, मिथुनस्य च गर्भः प्रयोजको, न गर्भादकम् । तस्मादपि आमिष्ठा प्रयोजिका— इति मन्यामहे । किं भवति प्रयोजनम्? । यदि उभयं प्रयोजकं, वाजिने नष्टे, पुनस्तप्ते पयसि दधि आनेतयम्, अथ वाजिनम् अप्रयोजकं, नष्टे वाजिने लोपो दधानयत्नस्य ॥ (४ । १ । ८ अ०) ॥

गवानयनस्य पदकर्माप्रयुक्तताधिकरणम् ॥

स. पदकर्माप्रयोजकं नयनस्य परार्थत्वात् ॥ २५ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘अरण्या पिङ्गाद्यैकहायन्या सोमं क्रोणाति’—इति । तत्र इदमपरं श्रूयते,—‘षट्पदान्यनुनिष्कामति,*—इति, तथा, ‘सप्तमं पदं गृह्णाति’—इति । इदमपरं,—‘यर्हि हविर्द्वाने प्राची प्रवर्त्तयेयुः तर्हि तेनाद्यमङ्गात्’—इति । तत्र सन्देहः,—किं सोमक्रयणानयनं पदपांस्वर्थम्, उत क्रयप्रयुक्तम्?—इति । किं प्राप्तम्?—नयनात् उभयं निष्पद्यते,—क्रयः पदं च, तस्मात् उभयं प्रयोजकम् । न हि गम्यते विशेषः—इति, तत् उक्तम्, “एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात्” (४ । १ । २२ सू०)—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘पदकर्म अप्रयोजकम्’—इति । कुतः? । यस्मात् नयनं क्रयार्थं, न हि, नयनमन्तरेण विशिष्टे देवे क्रय उपपद्यते ; तस्मात् क्रयेण तावत् नयनं प्रयुक्तम्—इति गम्यते, क्रयप्रयुक्तं चेत्, न पदप्रयुक्तम् अपि भवितुमर्हति ।

अपि च, ‘एकहायन्याः पदपांसवो गृहीतव्याः’—इति नास्ति शब्दः । ‘ननु प्रहृतैकहायनी पदपांसुग्रहणवाक्येन

* निष्कामयतीति आ० सो० पु० पाठः ॥

भा. सम्भन्त्यते' । न—इति ब्रूमः,—‘एकहायन्या क्रीषाति’—
इति विशिष्टेन वाक्येन क्रये उपदिष्टा एकहायनी प्रकृतत्वात्
पदपांसुवाक्येन सम्बध्यते, प्रकरणाच्च वाक्यं बलीयः । अथ
इदानीम, एकहायनी क्रयणार्थं सङ्कीर्त्तिता सती सङ्गिहित-
त्वात् प्रसङ्गम् उपजीवता पदपांसुवाक्येन सम्बध्येत,—याःसी
परार्था, एतस्याः पदं याच्यम्—इति । तस्मात् क्रयप्रयुक्तं
नयनम्, अप्रयोजकं पदम्—इति ।

किं पुनः, चिन्तायाः प्रयोजनं ? । यदि उभयम् एकहायनी-
नयनस्य प्रयोजकं, यदा एकहायन्याः सप्तमं पदं यावणि
निधीयते, तदा पुनः एकहायनी नीयेत सप्तमाय पदाय,
यदा पदं न प्रयोजकं, तदा न एकहायनी पुनः षट्पदान्यनु-
निष्क्रामयितव्या—इति ॥ (४।१।६ अ०) ॥

कपालानां तुषोपवापाप्रयुक्ताधिकरणम् ॥

स. अर्थाभिधानकर्म्म च भविष्यता संयोगस्य तन्निमित्त-
त्वात्तदर्थो हि विधीयते ॥ २६ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘कपालेषु पुरोडाशं अपयति’—
इति, तथा, ‘पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपति’—इति । तच्च
सन्देहः,—किम् उभयं कपालानि प्रयोजयति,—पुरोडाशअपणं
तुषोपवापश्च, उत अपणं प्रयोजकं, न तुषोपवापः?—इति ।
किं प्राप्तम्?—विनिगमनायां हेतोः अभावात् उभयम् ।

इति प्राप्ते उच्यते,—अर्थाभिधानं प्रयोजनसम्बद्धमभिधानं
यस्य, यथा पुरोडाशकपालम्—इति, पुरोडाशाद्यर्थं कपालं
पुरोडाशकपालम् । कथम् एतदवगम्यते ? । पुरोडाशः तावत्
तस्मिन् काले नास्ति, येन वर्त्तमानः सम्बन्धः कपालेन स्यात्,
तेनेव हेतुना न भूतः, स एष कपालस्य पुरोडाशेन भविष्यता

भा. सम्बन्धः, भवित्यता सम्बन्धश्च तन्निमित्तस्य भवति । तस्मात् पुरोडाशेन प्रयुक्तं यत् कपालं, तेन तुषा उपवप्त्याः—इति । एवं च सति चरौ पुरोडाशाभावे यदा तुषानुपवप्तुम् कपालम् उपादीयते, न तत् पुरोडाशकपालं स्यात्, न चेत्, न तेन तुषा उपवप्त्या भवति । तस्मात् न तुषोपवापः कपालानाम् प्रयोजकः, प्रयोजकं तु अपवप्तम्—इति ॥ (४।१।१० अ०) ॥

ब्रह्मलोहितयोः पञ्चावप्रयोक्तृत्वाधिकरणम् ॥

स. पञ्चावनालम्बाल्लोहितशक्तोरकर्मात्वम् ॥ २७ ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्नीषोमीयः, तत्र श्रूयते,—‘हृदयस्य अग्नेर्व्यद्यत्यथ जिज्ञायाः’—इत्येवमादि, तथा, लोहितं निरस्यति, ब्रह्मत्संप्रविधति, स्थक्मिती वर्द्धिरल्लतापास्यति’—इति । तत्र सन्देहः,—किं हृदयादिभिरवदानैः इज्या पशोः प्रयोक्त्री, उत ब्रह्मत्संप्रव्याधो लोहितनिरसमं च तदपि प्रयोजकम्?—इति । किं प्राप्तम्?—‘एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात्’, (४।१।२२ सू०) उभयं प्रयोजकम्—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—पशौ ब्रह्मलोहितयोः अप्रयोजकत्वं, न हि, तदर्थः पशोरालम्बः, ब्रह्मत्संप्रविधति लोहितमपास्यति—इति उच्यते, न पशोः अन्यस्य वा—इति, पशुरग्नीषोमीयो वाक्येन,—‘यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते’—इति, ब्रह्मलोहिते पशोः प्रकरणेन भवेतां, प्रकरणं च वाक्येन बाध्यते । ‘ननु एते ब्रह्मलोहिते प्रतिपाद्येते, तेन यागार्थस्य पशोः न अन्यस्य—इति निश्चयः’ । एवं चेत्, अप्रयोजके ब्रह्मलोहिते—इति । किं भवति प्रयोजनं? । साम्ये सति ब्रह्मलोहिताभावेऽन्यः पशुरालम्बनीयः, ब्रह्मलोहितयोरप्रयोजकत्वे लोपः ॥ (४।१।१९ अ०) ॥

पुरोडाशस्य खिष्टहृत्प्रयुक्तताधिकारणम् ॥

ख. एकदेशद्रव्यश्चोत्पत्तौ विद्यमानसंयोगात् ॥ २८ ॥
(सि०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘उत्तरार्द्धात् खिष्टहृत्ते समवद्यति’—
इति । तत्र सन्देहः,—किं पुरोडाशस्य आग्नेययागः प्रयोजकः,
खिष्टहृत् अप्रयोजकः* उत उभयम्?—इति । किं प्राप्तम्?—
“एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात्”—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—एक-
देशद्रव्यश्च एवञ्जातीयकोऽप्रयोजको भवेत् । कुतः? । ‘विद्य-
मानसंयोगात्’, न, एकदेशकर्म अवयविनं प्रयुङ्क्ते, विद्यमानस्य
अवयविनः एकदेश उपादातव्यः—इति, तत्र अर्थो भवति, न
अवयविनम् उपाददीत—इति, यथेक्षुखण्डम् अस्मै प्रयच्छ,
मोदकशकलम् अस्मै प्रयच्छेति, न इक्षुम् उपाददीत—इति
गम्यते, सत इक्षोः खण्डम् उपाददीत, सतो मोदकाच्छकलम्
उपाददीत—इति । तस्मात् अन्यार्थं द्रव्यं तस्य उत्तरार्द्धात्
अवदेयम्, अस्ति चाग्न्यर्थः पुरोडाशः । तस्मात् खिष्टहृत् अप्र-
योजकः—इति ॥

ख. निर्देशात्तस्यान्यदर्थादिति चेत् ॥ २९ ॥ (आ०) ॥

भा. इति चेत् पश्यसि,—अप्रयोजकः पुरोडाशस्य खिष्टहृत्—
इति, नैतदेवम्, अग्निं प्रति निर्देशात् ‘तस्य’ (पुरोडाशस्य)
खिष्टहृत्पर्यम् अन्यः पुरोडाश उत्पादयितव्यः, यस्य उत्तरार्द्धात्
खिष्टहृत्दिज्यते, तस्य अग्नये सङ्कल्पितस्य नेष्टे यजमानः, कथम्
असौ तदन्यस्यै देवतायै दद्यात् । कथम् अग्निं प्रतिनिर्देशः?
—इति । इदं श्रूयते,—अङ्गिरसो वा इत उत्तमाः सुवर्गं लोक-

* खिष्टहृत्दिज्या अप्रयोजिका इति क० सं० पु० पाठः ॥

भा. मार्यस्ते यज्ञवास्त्वभ्यार्यस्ते पुरोडाशं कूर्मं भूत्वा सर्पं तमपश्यन्-
स्तमब्रुवन् इन्द्राय धियस्व एहस्पतये धियस्व आदित्याय*
धियस्व स नाधियत तमब्रुवन् अग्रये धियस्वेति सोऽधियत यदा-
ग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाक्षुततो भवति—
इति । तस्मात् तेन खिष्टहृतो न सम्बन्धः, एवं चेत् तस्मात्
अन्यत् द्रव्यम् अर्थात् उत्पादयितव्यं, न हि अनुत्पन्नस्य द्रव्यस्य
उत्तरार्द्धा† भवति—इति ॥

स. न शेषसन्निधानात् ॥ ३० ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवं सन्निहितो हि शेषः, यस्मिन् अनुत्पाद्यमानेऽर्थे
न सिध्यति, सोऽर्थादुत्पाद्यते । सन्निहिते च शेषे सति सिध्यति
उत्तरार्द्धात् ग्रहणम् । तस्मात् न अर्थात् द्रव्यम् उत्पादयितव्यं,
यदेव अन्यार्थं द्रव्यं सन्निहितं, तस्य एव उत्तरार्द्धाद्गृहितव्यम्,
उत्तरार्द्धमात्रं हि खिष्टहृते श्रूयते न अमुष्य द्रव्यस्य—इति, न
च एतावता व्यवहारो भवति, सर्वो हि कस्यचित् उत्तरार्द्धः, स
एष सन्निहितमपेक्षते, सन्निहितं च परार्थं । तस्मात् परार्थात्
द्रव्यात् खिष्टहृदिज्या । अतश्चाप्रयोजिका—इति । यदुक्तम्,
अनीशा अनेन न शक्यं दातुम्—इति, तदुच्यते, वाचनिक एष
शेषप्रतिपादनार्थं उत्सर्गः, स शक्यः कर्तुम्, दानं हि उत्सर्ग-
पूर्वकः परस्य स्वत्वसम्बन्धः, स न शक्योऽनीशा अनेन ॥

स. कर्मकार्यात् ॥ ३१ ॥ (यु० १) ॥

भा. कर्मनिमित्तञ्च खिष्टहृतो भागः—इति श्रूयते । कथं? ।
'देवा वै खिष्टहृतम् अब्रुवन् इत्थं नो वहेति सोऽब्रवीदरं दृष्टौ

* अग्निभ्यामिति क० सं० पु० पाठः ॥

† उत्तरार्द्धमिति आ० सो० पु० पाठः ॥

भा. भागोमेऽस्त्विति टणीत्व—इति अनुबन् सोऽब्रवीत् उत्तरार्द्धादेव मन्त्रं सहात्सहादवद्यात्—इति, कर्म कुर्वतो भागोऽयम् उत्तरार्द्धादिति स्तुतिर्भवति, यद्याग्रयस्योत्तरार्द्धादित्युच्यते, ततोऽस्ति कर्मार्थेन भागेन सादृश्यमिदं,—तदाग्नेयं ह्ययं यत् किल वद-स्यति, तच्च सति सादृश्ये स्तुतिरुपपद्यते, प्रयोजकत्वे चासति सादृश्ये स्तुतिसामञ्जस्यं न स्यात् । तस्मात् अप्रयोजकः पुरो-डाग्रस्य खिष्टहाद्यागः—इति ॥

स. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ३२ ॥ (यु० २) ॥

भा. लिङ्गमपि भवति,—‘तत् यत् सर्वेभ्यो ह्यविर्भ्यः समवद्यति, तस्मात् इदमुदरे विश्वरूपमन्नं समवधीयते’—इति, यदि परार्थात् द्रव्यात् सन्निहितादिज्यते, तदा तत्सामानाधिकरण्यात् सर्वेभ्योऽवधीयते—इति उपपद्यते, प्रयोजकत्वे त्वेकस्मादेवाव-दीयेत । तस्मात् अपि अप्रयोजकः ।

तथेदमपरं लिङ्गं,—‘श्रेषात् इडामवद्यति, श्रेषात् खिष्टहातं यजति’—इति । ‘ननु अयं विधिः स्यात्’ । न—इति ब्रूमः,—न अत्र विधिविभक्तिर्वर्तमानापदेशो हि अयम्—इति ॥ (४।१।१२ अ०) ॥

अभिधारणे श्रेषधारणतत्पाचयोरननुष्ठानाधिकरणम् ॥

स. अभिधारणे विप्रकर्षादनुयाजवत्पाचभेदः स्यात् ॥
३३ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति वाजपेयो,—‘वाजपेयेन सारराज्यकामो यजेत’—इति, तच्च श्रूयते,—‘सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते, सप्तदशो वै प्राजापतिः प्राजापतेरास्यै’—इति, प्राजापत्यानाम् क्रतुपशूनां च समुच्चयो वद्यते,—“प्राजापत्येषु चाग्नानात्”—इति । अस्ति

भा. तु प्रकृतौ, 'प्रयाजश्लेषेण हवीष्यभिघारयति'—इति । तत्र सन्देहः,—किं प्राजापत्यानाम् वषा अभिघारयितुम् प्रयाजश्लेषस्य धारणार्थं पात्रम् अपरम् उत्पादयितव्यं, ततः तेन प्राजापत्यानां वषा अभिघारयितव्याः, उत न श्लेषो धारयितव्यः, नैव ततः प्राजापत्यानां वषा अभिघारणीयाः—इति । किं प्राप्तम्?—अभिघारणे प्रयाजश्लेषधारणार्थं पात्रम् उत्पाद्येत, प्रातःसवने च प्रयाजश्लेषो विप्रलक्षकाले माध्वन्दिने सवने, ब्रह्मसामकाले प्राजापत्यानामालम्भः श्रूयते,—'तान् पर्याग्नितान् उत्सृजन्ति, ब्रह्मसामग्न्यालभते'—इति, व्यापृता च जुह्वर्भवति । तस्मात् पात्रान्तरम् उत्पादनीयम्—इति, यथा अनुयाजेषु पृषदाज्यधारणार्थं पात्रम् उत्पाद्यते, 'पृषदाज्येनानुयाजान् यजति'—इति वचनात्, एवमत्रापि—इति ॥

स. न वाऽपात्रत्वादपात्रत्वन्वेकदेशत्वात् ॥ ३४ ॥
(सि०) ॥

भा. न वा प्राजापत्यानां वषा अभिघार्याः । कुतः? । श्लेषाभावात् । 'कथं श्लेषाभावः?—इति चेत्' । अपात्रत्वात् । कथम् अपात्रता? । एकदेशत्वात्, प्रयाजार्थस्य हि गृहीतस्य आज्यस्य स एकदेशः श्लेषः । किम् अतः? । यद्येवं, एकदेशव्यापारः श्रूयमाणो नावयविनमुपादेयत्वेन चोदयति ।

'आह, उत्पत्तिं न चीदयेत्. धारणम् उत्पन्नस्य अर्थात् भविष्यति'—इति । उच्यते, एकदेशत्वात् अभिघारणं द्रव्यमेव न प्रयुङ्क्ते—इत्युच्यते, कृतार्थस्य द्रव्यस्य अयम् एकदेशः प्रतिपाद्यते, न अभिघारणं अर्थकर्म । 'ननु हविषां, द्वितीया-निर्देशात् प्राधान्यं स्यात्' । न—इति उच्यते, अदृष्टो हि हविषाम् उपकारः कल्पेत, आज्यप्राधान्ये पुनजुक्ता रित्वात्वं दृष्टं प्रयोजनम्, आज्यभागार्थेन आज्येन असंसर्गो, जुक्ता

भा. रिक्तया प्रयोजनं, नाभिघृतेन हविषा । तस्मात् प्राजापत्या-
नाम् अभिघारिताभिर्वपाभिः प्रयोजनमेव नास्ति, किमर्थं
श्रेषो धार्यते—इति ॥

स. हेतुत्वाच्च सहप्रयोगस्य ॥ ३५ ॥ (हे० १) ॥

भा. हेतुत्वाच्च अभिघारणस्य, सद्बालभते—इति स्तुतिर्भवति,
'तीर्थं वै प्रातःसवनं, यत् प्रातःसवने पञ्चव आलभ्यन्ते, तीर्थं
एवैतानालभते, सयोनित्वायाथो वपानाम् अभिघृतत्वाय'
—इति अर्थान्तरेण वपाभिघारणम् अनुगृह्यन् न ह्यस्ति—
इति दर्शयति ॥

स. अभावदर्शनाच्च ॥ ३६ ॥ (हे० २) ॥

भा. अभावं खल्वप्यभिघारणस्य दर्शयति,—'सद्या वा एतर्हि
वपा यर्हि अनभिघृता, ब्रह्म वै ब्रह्मसाम, यत् ब्रह्मसामन्यालभते
तेन असद्याः, तेन अभिघृता—इति, सद्यब्रह्मो रूक्षे भाष्यते,
सद्या वपा—इति अनभिघृततां दर्शयति ॥

स. सति सव्यवचनम् ॥ ३७ ॥ (पू०) ॥

भा. आह नैतद्दर्शनं, सति एव हि अभिघारणे भवत्येतत् सव्य-
वचनम्, अस्ति हि वपाया अन्यदभिघारणम्,—'उपस्तृणा-
त्याज्यं हिरण्यशकलं, वपा हिरण्यशकलं ततोऽभिघारयति'—
इति; तस्मिन् सति कथं सद्या भवेयुः? ब्रुते च, तस्मात् नैतत्
शक्यम् अवगन्तुम् रूक्षास्ता वपा कृष्यन्ते—इति, तेन नूनम्
अभिघारणं प्रयाजश्रेषेणास्ति—इति, सत्यस्मिन् अभिघारणे
प्रत्यक्षे, रूक्षास्ताः—इति दर्शनं व्यामोहः—इति ॥

स. न तस्येति चेत् ॥ ३८ ॥ (उ०) ॥

भा. एवं चेत् दृश्यते,—‘सत्यभिधारणे सत्याः—इति वचनम् अलिङ्गम्—इति, न अलिङ्गं, तस्य एतद्वचनं, यत् स्नेहनं करोति । कतमत् तत्? । यत् प्रथमं, प्रथमं हि स्नेहनं करोति, न द्वितीयं; स्निग्धस्य तत् भवति, न च स्निग्धस्य स्नेहनं क्रियते, यथा भवति लोके वादो,—यत् अस्माभिः कान्तारात्त्रि-
गंतैर्देवदत्तस्य गृहे स्निग्धं भुक्तं, तेन वयमरूचाः कृताः—इति, सत्स्निग्धन्येषु स्निग्धेषु एव भोजनेषु, एवं तस्य अरूच्यकरणस्य अभिधारणस्य अभावात् रूचाः—इति वचनम् उपपद्यते, अस्मिंस्तु सति नोपपद्यते । तस्मात् अपि प्रयाजश्लेषेणाभिधारणं प्राजापत्यानां नास्ति—इति ॥

स. स्यात्तस्य मुख्यत्वात् ॥ ३९ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. (इदं पदोत्तरं सूत्रं) । यदि प्रथमस्य अभावात् सत्याः—इति वचनं भवत्यनुपपन्नं, तर्हि अन्यस्य प्रथमस्य विद्यमानत्वात् । कतमत् तत्? । यच्छ्रम्यमाणाया अपरमुदासितायाः । अत्र उच्यते,—‘स्यात् तस्य मुख्यत्वात्’, यत् प्रयाजश्लेषेणाभिधारणं, तस्य एव अभावात् एतदुपपद्यते, सत्यपि श्रम्यमाणाया अभि-
धारणे उदासितायास्तु, यत् तावत् श्रम्यमाणायाः, तत् श्रे-
रर्चीषि दहन्ति, यत् उदासितायाः, तत् श्रम्यवयवा उष्मा-
वयवास्तु नाशयन्ति, सा एषा रूचैव, इदन्तु प्रयाजश्लेषेण*
शीतायाः क्रियते, तत् स्नेहयति, तेन स्निग्धायाः प्रदानकालम-
भिधारणं यत्, तत् न स्नेहयति, तत् इदं स्नेहनस्य अभिधा-
रणस्य अभावात् सत्यतावचनम् उपपद्यते—इति उक्तं, तस्मात्
न प्रयाजश्लेषो धार्यते—इति ॥ (४।१।१३ अ०) ॥

* अनुप्रयाजश्लेषेणेति आ० सो० पु० पाठः ॥

समानयनस्याज्यधर्मप्रयोजकताधिकरणम् ॥

ख. समानयनन्तु मुख्यं स्यात् लिङ्गदर्शनात् ॥ ४० ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘अतिहायेडो बर्हिः प्रति समान-
यति’*—इति। तत्र सन्देहः,—किं समानयनमाज्यस्य धर्माणां
च प्रयोजकम्, उत अप्रयोजकम्?—इति। किं प्राप्तम्?—
अप्रयोजकम्—इति। कुतः?। प्रयाजानुयाजार्थस्य आज्यस्य
अयम् एकदेशः समानीयते—इति, पूर्वेण न्यायेन अप्रयोजकता
प्राप्ता, तदुच्यते,—‘मुख्यं समानयनं लिङ्गदर्शनात्’। किं
लिङ्गं?। ‘चतुर्गृहीतान्याज्यानि भवन्ति, न हि अत्र अनुयाजान्
यद्यन् भवति’—इति आतिथ्यायां श्रूयते,—यदि प्रयाजार्थं
समानयनं, ततः तत्रैकं चतुर्गृहीतं समानीयते, एकम् अप्यनु-
याजानां भवति, ततश्च आतिथ्येडां ता सन्तिष्ठते—इति अनु-
याजाभावे उपपत्तिरिति समानयनार्थम् एकं चतुर्गृहीतं याज्ञं, न तु
अनुयाजार्थम्। तत्र बहूनां चतुर्गृहीतानां दर्शनम् उपपद्यते,
इतरथा हि अनुयाजाभावे न एवोपपत्तिरिति चतुर्गृहीतं, तत्र
चतुर्गृहीतानि—इति बहुवचनं नोपपद्यते, तस्मात् प्रयोजकं
समानयनम्—इति।

‘ननु लिङ्गम् उपदिश्यते, का प्राप्तिः?’। उच्यते,—दृष्टं तत्र
प्रयोजनं प्रयाजौ द्वौ यद्यथौ, तत्र जुह्वाम् आज्येन प्रयोजनं
नोपपत्तिरिति रिक्तायाम्, उपपत्तौ रेचनम् अदृष्टार्थं, जुह्वां निधानं
दृष्टार्थमेव, तेन प्रयाजहोमार्थम् आज्यसमानयनमौपपत्तमाज्यं

* पञ्चानां प्रयाजानां मध्ये तृतीयः प्रयाजः इदृशब्देन बहु-
वचनात्नेन अभिधीयते, तं तृतीयप्रयाजमतिक्रम्य बर्हिनामकं चतुर्थं
प्रयाजं होतुम् उपपत्तिसंज्ञकायां सुवि स्थितं घृतं जुह्वामानेतथामिति
माधवः ॥

भा. प्रयोजयति, तत् अपि हि प्रयाजार्थम् अनुयाजार्थञ्च—इति वक्ष्यते ॥

स. वचने हि हेत्वसामर्थ्ये ॥ ४१ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ कस्मात् न वचनमेतत्,—‘चतुर्गृहीतान्याज्यानि’—इति । उच्यते, वचने हि हेतुरसमर्थितः स्यात्, न हि अचानुयाजान् यक्ष्यन् भवति—इति, यदा समानयनं न प्रयाजार्थम्—इति गम्यते, ‘तदा वचनं, यदा वचनं, तदा न अनुयाजाभावो हेतुः, असति हेतौ, न हि अत्र अनुयाजान् यक्ष्यन् भवति’—इति हेतुवन्निगदो नोपपद्येत । तस्मात् प्रयाजार्थं समानयनं प्रयोजकम् औपभृतस्य आज्यस्य । किं भवति प्रयोजनं ? । प्रयाजार्थं समानयने यावत् प्रयाजार्थं, तावत् सर्वं समानेयम्, अर्हम् औपभृतस्य, अप्रयोजकत्वे न नियोगतोर्हं यावत् तावत् वा ॥ (४।१।१४ अ०) ॥

औपभृतजौहवयोः क्रमेणोभयानुभयार्थताधिकरणम् ॥

स. तचोत्पत्तिरविभक्ता स्यात् ॥ ४२ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘चतुर्जुक्तां गृह्णात्यष्टावुपभृति गृह्णाति’—इति । तत्र सन्देहः,—किं जौहवमौपभृतं च उभयमुभयार्थं, प्रयाजेभ्यश्चानुयाजेभ्यश्च, उत जौहवं प्रयाजेभ्यः, औपभृतम् अनुयाजेभ्यः ? अथ वा औपभृतं प्रयाजेभ्योऽनुयाजेभ्यश्च ?—इति । किं प्राप्तम् ?—उभयमुभयार्थम् । कुतः ? । यद्यदाज्येन क्रियते, तस्मै तस्मै भवितुमर्हत्यविशेषात् ॥

स. तत्र जौहवमनुयाजप्रतिषेधार्थम् ॥ ४३ ॥ (सि०) ॥

भा. नैवम्,—उभयमुभयार्थम्—इति, जौहवं प्रयाजार्थम्, औप-

भा. भृतम् उभयार्थं । कथं ? । 'यत् जुह्वां गृह्णाति, ऋतुभ्यः तत् गृह्णाति, ऋतवो वै प्रयाजाः—इति जौहववचनम् अनुयाज-प्रतिषेधार्थं प्रयाजान् सङ्कीर्तयति ।

आह, ननु नास्त्यचानुयाजप्रतिषेधार्थं वचनं, यदेतत् 'प्रयाजेभ्यः तत् गृह्णाति'—इति, प्रयाजेषु उपदेशकमेतत्, नास्ति अस्य अनुयाजप्रतिषेधे सामर्थ्यम्—इति । उच्यते,—न ब्रूमः, प्रतिषेधकमेतत्—इति । किं तु उत्पत्तिवाक्ये आज्यानां नैव प्रयोजनाभिसम्बन्धः, अनेन वचनेन प्रयाजप्रयोजनता क्रियते जौहवस्य, अनुयाजप्रयोजनतास्य वचनाभावादेव न गम्यते—इति, अनुयाजप्रतिषेधार्थं वचनम्—इति उच्यते ॥

स. औपभृतं तथेति चेत् ॥ ४४ ॥ (आ०) ॥

भा. इति चेत् दृश्यते,—जौहवम् अनुयाजेभ्यः प्रतिषिध्यते, औपभृतम् उभयार्थम्—इति, भवतु जौहवं प्रयाजार्थं, न तु औपभृतम् उभयार्थं, तदपि तथा स्यात्, यथा जौहवं । कथम् ? । एतदपि अनुयाजार्थमेव श्रूयते, 'यत् उपभृति गृह्णाति अनुयाजेभ्यः तत् गृह्णाति क्त्वांसि हि अनुयाजाः'—इति । अनुयाजार्थतास्य—इति ॥

स. स्यात् जुह्वप्रतिषेधान्नित्यानुवादः ॥ ४५ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवम्,—उभयार्थं हि औपभृतम्, एवं हि श्रूयते,—'यत् अष्टावुपभृति गृह्णाति प्रयाजानुयाजेभ्यः तत् गृह्णाति'—इति । 'ननु उक्तम्, अनुयाजेभ्यः तत् गृह्णाति—इत्यनुयाजार्थतास्य'—इति । उच्यते, 'जुह्वप्रतिषेधात् नित्यानुवादः' । उभयस्मिन् (औपभृते जौहवे च) उभयार्थं प्राप्ते जौहवम् अनुयाजेभ्यः प्रतिषिद्धं, नौपभृतं, तत् औपभृतस्य उभयार्थतायां सत्यामनु-

भा. याजार्थतावचनं नित्यानुवादो भवितुमर्हति, न शक्नोति प्रया-
जार्थतां प्रतिषेद्धुम्, प्रत्यक्षश्रुता हि सा, तस्मात् औपभृतम्
उभयाथै । समानयनं च ततो जुक्तां श्रूयते, तस्मात् अपि
प्रयाजार्थता न शक्या बाधितुम् ॥ (४।१।१५ अ०)।

उपभृति द्विचतुर्गृहीताचरणाधिकरणम् ॥

स. तदष्टसंख्यं श्रवणात् ॥ ४६ ॥ (पू०) ॥

भा. 'अष्टावुपभृति गृह्णाति'—इति श्रूयते । तत्र सन्देहः,—किं
तत् औपभृतम् आज्यम् अष्टसंख्येन यज्ञेन संस्क्रियते, उत
चतुःसंख्या गुणभूता द्वयोर्यज्ञयोः?—इति । किं तावत् प्राप्तं?
—अष्टसंख्या गुणभूता, न चतुःसंख्ये दे—इति । कुतः?। श्रव-
णात् अष्टसंख्या श्रूयते, चतुःसंख्या अष्टसंख्यया लक्ष्यते, श्रुति-
लक्षणाविशेषे च श्रुतिर्न्यास्या, तस्मात् अष्टसंख्यं यज्ञेनेतत्
—इति ॥

स. अनुग्रहाच्च जौहवस्य ॥ ४७ ॥ (यु० १) ॥

भा. अनुग्रहवादश्च भवति,—'चतुर्गृहीतं वा एतद्भूक्तस्य आ-
घारमाघार्यं चिरितः प्राचीनं प्रयाजान् यजति समानयते
चतुर्गृहीतत्वाय'—इति चतुर्गृहीतानुग्रहः कथं स्यात्?—इति ।
'किं चतुर्गृहीतं भवति समानयनेन?' । न—इति ब्रूमः, चतु-
र्गृहीतं प्रथममेव तत्, आघारेऽप्याघारिते, यत् अर्वाशिष्टं चतुः-
संख्यमेव तस्य यज्ञमासीत् । 'किं तर्हि चतुर्गृहीतत्वाय?'
—इति । चतुर्गृहीतस्य अनुग्रहार्थम्, अल्पं हि चतुर्गृहीतं
होमायापर्याप्तं, तत्पर्याप्तं कथं स्यात्?—इति । एवं चतुर्गृहीत-
शब्देन अल्पम्—इति लक्ष्यते, अल्पत्वं च बह्वत्वं कस्यचित्
अपेक्षय भवति, यदि हि औपभृतम् अष्टसंख्यमेवं चतुर्गृहीतम्

भा. अल्पं भवति, तत्र चतुर्गृहीतशब्देन अल्पता शक्यते लक्षयितुम् ।
तस्मात् अपि पश्यामः,—श्रौपश्रुते अष्टसंख्या गुणभूता—इति ॥

ख. द्वयोस्तु हेतुसामर्थ्यं श्रवणं च समानयने ॥ ४८ ॥
(सि०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति. हे एते चतुर्गृहीते, एवं हेतुः
समर्थितो भवति आतिथ्यायां,—‘चतुर्गृहीतानि आज्ञानि
भवन्ति, न हि अत्र अनुयाजान् यक्ष्यन् भवति’—इति, असत्-
खण्डानुयाजेषु एतत् अष्टगृहीतमेव श्रौपश्रुतं भवेत्, यदा
अष्टसंख्या गुणभूता, न तदा द्वयोः चतुर्गृहीतयोः सतोः चतु-
र्गृहीतान् आज्ञानि—इति बह्वचनम् आज्ञेषु उपपद्यते ।
तस्मात् चतुर्गृहीते हे—इति ।

‘आह, लिङ्गमेतत् प्राप्तिरुच्यताम्—इति । तत् अभिधीयते,
अनारभ्य उच्यते,—‘चतुर्गृहीतं जुहोति’—इति सर्वहोमेषु,
तेन प्रयाजानुयाजेष्वपि न तदष्टगृहीतेन शक्यते बाधितुम्,
नानाविषयत्वात्; अष्टगृहीतं हि यज्ञे, चतुर्गृहीतं हि होमे,
अस्ति हि सम्भवा, यत्, अष्टगृहीतं गृह्येत, चतुर्गृहीतं ऋयेत,
तदेतत् इह अष्टत्वं यज्ञे भवति, कथं हे चतुर्गृहीते होमे
सम्पादयेत्? तस्मात् हे एते चतुर्गृहीते, अष्टगृहीते गृह्यमाणे
गृह्येते; चतुर्गृहीते हे न अगृहीत्वा अष्टगृहीतं कश्चित् सम्पा-
दयेत् । तस्मात् हे एते चतुर्गृहीते—इति ।

अथ यदुक्तम्,—अष्टगृहीतं श्रूयते, अतिश्च लक्षणाया गरी-
यसी—इति, उच्यते,—उक्तम् अस्माभिः अष्टसंख्यायाः प्रयोजनं,
—कथं हे चतुर्गृहीते स्याताम्?—इति । अपि च, ‘अष्टावुप-
श्रुति गृह्णाति’—इति उपश्रुति समानीते हे चतुर्गृहीते कथं
स्याताम्?—इति, इतरथाऽसत्यशब्दे नानापाचयोर्गृह्येयातां,
तस्मात् अष्टशब्दश्रवणम् अदोषः, साधेतत्,—हे चतुर्गृहीते

भा. उपभृति—इति । प्रयोजनं, द्वयोः चतुर्गृहीतयोः सतोः सम-
नयनेऽङ्गं समानेतद्यं भवति, अष्टगृहीते सति न निरुपेयतीऽङ्गं ;
तथा, यच्च अनुयाजार्थं न यद्दणं, तत्राप्यष्टगृहीतं, यथा पूर्वः
पक्षः; यथा च सिद्धान्तः, तथा चातुर्भास्येषु चतुर्गृहीतम्
उपभृति भवति—इति ॥ (४।१।१६ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये चतुर्थस्याध्यायस्य
प्रथमः पादः समाप्तः ॥ प्रयोजकपादोऽयम् ॥

चतुर्थे अध्याये द्वितीयः पादः ॥



स्वरोच्छेदनाद्यप्रयोजकताधिकरणम् ॥

स. स्वरस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात् ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्नीषोमीयो—‘यो दीक्षितो यदग्नी-
षोमीयं पशुमासभते’—इति, तत्र इदमाग्नातम्,—‘खादिरे
बध्नाति, पालाञ्च बध्नाति, रोहिते बध्नाति’—इति, तत्सन्निधा-
विदमपरमाग्नायते,—‘स्वर्णा पशुमनाक्तं यूपस्य स्वरम् करोति’
—इति ।

अथ इदानीम् इदं सन्दिश्यते,—किं भेदेन यूपात् स्वरः
उत्पादयितव्यः, उत यूपं क्रियमाणमनुनिष्पन्नः शकलो गृही-
तव्यः?—इति । तत्र इदं तावन्नः परीक्ष्यं, किं छेदनाद्युत्पत्तेः
प्रयोजकः स्वरः, उत अप्रयोजकः? । प्रयोजकः चेत्, भेदेन यूपात्
निष्पाद्येत, न चेत् प्रयोजको, यूपं निष्पद्यमानमनुनिष्पन्नः
शकलो गृहीष्यते—इति । ‘स कथं प्रयोजकः स्यात्? कथं वा
न प्रयोजकः?’—इति । यदि एषा वचनव्याप्तिः,—स्वशब्दवाचं
भाव्यते । कथं? । जोषणादिना इतिकर्तव्यताविशेषेण—इति,
ततः,—‘स्वर्णा पशुमनाक्ति’—इति, स स्वररित्यवगतो गृही-
ष्यते, ततः प्रयोजकः । अथैवं विज्ञायते,—‘स्वर्णा पशुमनाक्ति’
—इति अनवगतः स्वरः, एतावदस्य विज्ञायतेऽङ्गत्वेन तेन क्रियते
—इति, इदमपि,—‘यूपस्य स्वरम् करोति’—इति यूपैकदेशं
स्वरकार्येऽङ्गत्वे विनियुङ्क्ते—इति ततोऽप्रयोजकः ।

किं तावत् प्राप्तम्?—‘स्वरः त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात्’,
स्वरं यूपेनैकनिष्पत्तिः स्यात्, यूपम् अनपेक्षमाणस्य स्वरोर्जा-

भा. घणादिना उत्पत्तिः। कुतः?। 'स्वकर्मशब्दत्वात्,—स्वो हि अस्य कर्मशब्दः स्वरताया विधायको भवति, 'स्वरम् करोति'—इति, एवं च यूपकाष्ठावयवस्य स्वरत्वं क्रियते—इति, 'यूपस्य स्वरम् करोति'—इति लक्षणया यूपशब्दः, खदिराद्यवयवस्य—इत्यर्थः। कुतः?। स्वरत्वभावना हि श्रुत्या गम्यते,—'स्वरम् करोति'—इति स्वरम् उत्पादयति—इति, यूपीवयवोपादानं वाक्येन, वाक्याच्च श्रुतिर्गलीयसी—इति। तस्मादेवं वति न नियोगतो यूपकाष्ठादेव स्वरः उत्पादयितव्यः, निरपेक्षात् अन्यस्मात् अपि वृक्षात् कर्त्तव्यो भेदेन—इति ॥

सू. जात्यन्तराच्च शङ्कते ॥ २ ॥ (यु०) ॥

भा. इतश्च निरपेक्षस्य स्वरोत्पत्तिः—इति गम्यते। कुतः?। जात्यन्तरात् अपि आशङ्का भवति, (वृक्षान्तरात्)। कथं?। 'न अन्यस्य स्वरम् कुर्यात्, यदि अन्यस्य वृक्षस्य स्वरम् कुर्यात्, अन्येभ्यः लोकमन्वारोहेयुः, यूपस्य स्वरम् करोति'—इति। न हि यूपमनुनिष्पन्नस्य यद्वृक्षे जात्यन्तराशङ्काभवकल्पते, यूपशकलो हि स्वरकार्ये तदानीं विनियुज्येत। तस्मात् अपि भेदेन यूपात्, स्वरः उत्पादयितव्यः—इति ॥

सू. तदेकदेशो वा स्वरत्वस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ ३ ॥ (सि०) ॥

भा. वाशब्दः पक्षं ध्यावर्त्तयति। यूपैकदेशो हि यूपमनुनिष्पन्नः शकलो यद्हीतव्यः—इति। कस्मात्?। एवमाग्नायते,—'यदि अन्यस्य वृक्षस्य स्वरम् कुर्यात्, अन्येभ्यः लोकमन्वारोहेयुः, यूपस्य स्वरम् करोति'—इति, न च, अत्र अन्यमर्थो विधीयते,—स्वरम् उत्पादयति—इति। किं तर्हि?। स्वरकार्यं कर्तुम् यम् उपादत्ते, तं यूपात्—इति। कुतः?। 'स्वरत्वस्य तन्निमित्तत्वात्, स्वरत्वम् अत्र श्रूयते स्वरः, 'यूपस्य स्वरम् करोति'—

भा. इति । कस्य आत्मीयं?—यूपस्य इति, आत्मीयस्य समुदायस्य एकदेशो भवति, तस्मात् इदम् उच्यते,—अप्राणिनः षष्ठी पञ्चम्यर्थे भवति, यथा, ज्ञाकस्य देहि, ज्ञाकात् देहि—इति, तथा क्वचित् तृतीयार्थे, घृतस्य यजति, घृतेन यजति । पञ्चम्यर्थे, घृतात् यजति, घृतस्य यजति—इति । द्वितीयार्थे वा, सोमस्य पिबति, सोमं पिबति; सोमात् पिबति—इति ।

‘ननु उक्तं,—यूपावयवोश्च वाक्येन विधीयते, श्रुत्या स्वरोः उत्पत्तिः, श्रुतिश्च वाक्यात् बलीयसी’—इति । उच्यते,—सन्धम्, एवं, ‘यूपस्य’—इति तु शब्दोऽविवक्षितार्थो भवति, तत्र श्रुतिः अपि बाध्यते, वाक्यमपि ; न तु अस्मात्पक्षे किञ्चित् अविवक्षितार्थं, ‘स्वप्नं करोति’—इति स्वार्थं एवानुवादो भविष्यति—इति, यूपशकलो विधायिष्यते, स्वप्नशब्दस्याङ्गनार्थेन शकले उपचरितः—इति गम्यते, अवयवप्रसिद्धिश्चैतमर्थं गमयिष्यति, भवति हि ब्राह्मणं,—‘अथ कस्मात् स्वप्नानाम्? एतस्मात् वेधोऽवच्छिद्यते, तदस्यैतत् स्वमिवावर्भवति, तस्मात् स्वप्नानाम्’—इति ॥

ख.

शकलश्रुतेश्च ॥ ४ ॥ (यु० १) ॥

भा. इतश्च यूपमनुनिष्पन्नस्य ग्रहणम् । कुतः? । ‘शकलश्रुतेः’, शकलश्रुतिर्भवति स्वरोः,—‘यः प्रथमः शकलः परापतेत्, स स्वः कार्यः’—इति, शकलस्य एकदेशः, एकदेशस्य अप्रयोजकः, सम्बन्धिशब्दत्वात्, तावता च व्यवहारात् समुदायापेक्षिणः, तत्र प्रकरणात् अन्यार्थेन खदिरादिना जोषणादिकर्मविशिष्टेन यागार्थेन प्रकृतेन अस्य एकवाक्यता,—‘यूपाय खदिरादि जोषयते, क्षिनत्ति, तक्षति च, तत्र यः शकलः प्रथमः परापतितस्तं च स्वप्नशब्दं च करोति’—इति, स्वप्नशब्दं च तत्र अनुवदन्नेव उपचरति । तस्मात् नैतदस्ति,—पृथङ्निष्पत्तिः स्वः—इति,

भा. येन अन्यस्मात् अपि वृक्षात्—इति ब्रह्मते । तस्मात् जात्य-
नाराब्रह्मावचनं नित्यानूवाद् यूपब्रह्मकलस्तुत्यर्थः ॥

स. प्रति-यूपं च दर्शनात् ॥ ५ ॥ (यु० २) ॥

भा. इतश्च न पृथङ्निष्पत्तिः स्वरः । कुतः? । एकादशिन्यां,
'प्रति-यूपं च दर्शनात्', यथा, 'अनुपूर्वं स्वरभिः पशून् समज्य
मथमे रश्नागुणे स्वे स्वे स्वं स्वं यूपब्रह्मकलम् उपगूहति'—इति
स्वरबहुत्वं दर्शयति, यदि च स्वरः पृथङ्निष्पत्तिः स्यात्, एक
एवैकादशिन्यां तत्रैव कार्यं साधयेत् । यूपमनुनिष्पन्नस्य तु
ग्रहणे प्रकृतौ स्वयूपब्रह्मकलेन अङ्गनं कृतम्—इति एकादशिन्या-
मपि चोदकः स्वयूपब्रह्मकलमेव प्रापयति—इति बहुत्वम् उपपन्नं
भवति, स्वयूपब्रह्मकलयहणं च प्राकृतस्य ग्रहणात् अध्ववसीयते,
यादृशोऽसौ प्राकृतः, तादृशोऽसौ ग्रहीतव्यो न विशिष्टः—इति ।
तस्मात् स्वररूपत्वेन प्रयोजकः—इति ॥

स. आदाने करोतिशब्दः ॥ ६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—उत्पत्तिरस्य शब्देन उच्यते,—'स्वरम् करोति'
—इति, एवं च करोतिशब्दोऽवकल्पिष्यते—इति । उच्यते,—
आदाने करोतिशब्दो भविष्यति, 'स्वरम् करोति',—स्वरमादत्ते
—इति, यथा काष्ठानि करोति, गोमयानि करोति—इति
आदाने करोतिशब्दो भवति, एवमिहापि इष्टयम् ॥

पूर्वाधिकरणस्य सङ्गेष्वर्थः ॥

ख. स्वरस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात्* ॥ १ ॥

(पू०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्नीषोमीयः, तच्च श्रूयते,—‘स्वरणा पशुमनक्ति’—इति । अथ एष सन्देहः,—किं स्वरः उत्पत्तिं प्रयोजयति, उत यूपमनुनिष्पन्नस्य ग्रहणम्?—इति । किं प्राप्तम्?—‘स्वरस्त्वनेकनिष्पत्तिः’ स्यात्, प्रयोजयत्युत्पत्तिम्—इति । कुतः? । खोऽस्य कर्मशब्दो भवति, स्वरम् करोति—इति स्वरमुत्पादयतीत्यर्थः । एवं चेत्, उत्पत्तिरस्य शब्दवती । तस्मात् न एकया निष्पत्त्या यूपश्च स्वरश्च निष्पाद्यते—इति ॥

ख. जात्यन्तराच्च शङ्कते ॥ २ ॥ (यु०) ॥

भा. यदि यूपमनुनिष्पन्नस्य ग्रहणं भवेत्, यूपकाष्ठस्य एव स्वरः स्यात्, अन्यदृष्ट्याश्चा नोपपद्येत, भवति च, ‘यदि अन्यस्य दृष्टस्य स्वरम् कुर्यात्, अन्येऽस्य लोकमन्वारोद्देयुर्यूपस्य स्वरम् करोति’—इति, तस्मादपि पश्यामः,—प्रयोजकः स्वरः—इति ॥

ख. तदेकदेशो वा स्वरत्वस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ ३ ॥

(सि०) ॥

भा. यूपमनुनिष्पन्नो वा गृह्येत स्वरः, तदेकदेशो हि एषः, षष्ठी-निर्देशात्,—यूपस्य स्वरम् करोति—इति, यदि हि ह्येदनम् उभयार्थं स्यात्, न स्वरयूपयोः कश्चित् सम्बन्धो भवेत्, तच्च षष्ठी नोपपद्येत, अस्ति तु षष्ठी । तस्मात् यूपैकदेशः स्वरः,

* “व्याख्यानान्तरं तु विस्तरोक्तस्य सङ्गेष्वपमात्रार्थं कृतं भाष्य-कारेणेति न व्याख्यायते” इति तद्वरमपानुसन्धेयम् ॥

भा. अवयवो यूपस्य, स्वर्णनामैकदेशः कर्तव्यः, यथा पुरोडाशत्रकलम्
—इति ॥

स. शकलश्रुतेश्च ॥ ४ ॥ (यु० १) ॥

भा. शकलश्रुतिश्च भवति, 'यः प्रथमः शकलः परापतेत्, स स्वर्णः
कार्यः'—इति, एकदेशास्य अप्रयोजका भवन्ति, न एकदेशे श्रुत्य-
माणे अवयवो कर्तव्यः—इति शब्दो भवति, विद्यमानस्य अव-
यविन एकदेशो गृह्यते, तस्मात् अपि अप्रयोजकः ॥

स. प्रति-यूपं च दर्शनात् ॥ ५ ॥ (यु० २) ॥

भा. प्रति-यूपं च खलु अपि स्वरवो दृश्यन्ते, एकादशिन्यां, यथा,
—'अनुपूर्वं स्वरभिः पशून् समज्य मधमे रश्नागुणे स्वे स्वे
स्वं स्वं यूपशकलम् उपगूहति'—इति, स यदि, स्वर्णान् यूपः
कार्यः—इत्यर्थः 'स्वर्णं करोति'—इति, ततो बहूनां स्वर्णानां
दर्शनम् उपपद्यते । प्रयोजकत्वे स्वरोः,—एक एव समञ्जनार्थं
स्वरः उत्पाद्यते । तस्मात् अप्रयोजकः—इति ॥

स. आदाने करोतिशब्दः ॥ ६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—उत्पत्तिः अस्य शब्देनाभिधीयते—'स्वर्णं
करोति'—इति, करोतिशब्दश्चावकल्पिष्यते—इति । उच्यते,
—आदाने करोतिशब्दः भविष्यति,—'स्वर्णं करोति'—इति
स्वर्णमादत्ते—इति, यथा काष्ठानि करोति, गोमयानि करोति
—इति आदाने करोतिशब्दः भवत्, एवम् इहापि द्रष्टव्यम् ॥
(४।२।१ अ०) ॥

शाखाया आहार्यताधिकरणम् ॥

स. शाखायां तत्प्रधानत्वात् ॥ ७ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते, शाखामधिलक्ष्य,—‘प्राचीमाहरत्यु-
दीचीमाहरति प्रागुदीचीमाहरति’—इति । तत्र सन्देहः,—
किमयं दिग्वादः, उत शाखावादः?—इति । दिग्वादः—इति
प्राप्तम्, तथा श्रुतिशब्दः, शाखावादे लक्षणा—इति । तस्मात्
दिग्वादः—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—शाखावादः—इति । कुतः?।
यदि तावत् अयमर्थः,—प्राची दिगाहर्त्तव्या—इति, ततः,
अश्रुत्योऽर्थः, अथ प्राचीन्दिग् प्रत्याहरणीयेति, ततः का आह-
र्त्तव्या?—इति, वाक्ये शाखाशब्दस्य अभावात् अनुपपन्नोऽर्थ
सम्बन्धः । अथ प्रकृता शाखा—इति, ततः प्राचीशब्देन तस्या
एवाभिसम्बन्धो न्यारयः । कुतः?। प्रत्यक्षा हि प्राचीशब्देन
हरतेः एकवाक्यता, प्रकरणात् शाखाशब्देन भवेत्, उभयथा
अथ प्राचीशब्दे लक्षणया प्रकृतां वा शाखां लक्षयेत्, दिग्वा
वा अनीप्सितत्वात्, विहारदेशमीप्सिततमयुक्तम्* ।

अपि च, प्राची—इति सम्बन्धिशब्दोऽर्थ, सम्बन्धिशब्दाच्च सर्वे
सापेक्षाः, विना पदान्तरेण, न परिपूर्णम् अर्थमभिवदन्ति, सा-
मान्यपदार्थसम्बन्धे च संख्यवहारानुपपत्तिः, सर्वस्य एव देशस्य
कुतश्चित् प्राग्भावात् । तथा शाखाशब्दोऽपि सम्बन्धिशब्दः
‘वृक्षस्य’—इत्येतत् अपेक्षते, यदा वृक्षस्य—इत्येतत् अपेक्षते,
तदा वृक्षस्य शाखा प्राची उदीची प्रागुदीची वा—इति भवति
सम्बन्धः, तथा च संख्यवहारोऽवकल्पते । यत्तु शाखावादे

* “दिग्वा वाऽनीप्सितत्वादित्यर्थं हेतुः, यस्माद्दिग्नीप्सिता
तस्मात् विहारदेशं वा लक्षयेत् शाखां वा” इति वार्तिकम् ॥

भा. लक्षणा—इति, उच्यते,—भवति लक्षणयापि शब्दार्थः। तस्मात्
शाखावादः—इति ॥ (४।२।२ अ०) ॥

छेदनस्य शाखाप्रयुक्तताधिकरणम् ॥

स. शाखायां तत्प्रधानत्वादुपवेधेण विभागः स्याद्वैषम्यं
तत्* ॥ ८ ॥ (सि०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः समाग्नयते,—‘मूलतः शाखां परिवास्योप-
वेधं करोति’—इति। तत्र अयमर्थः सांश्रयिकः, किं शाखा-
छेदनस्य उभयं प्रयोजकं, शाखा उपवेधस्य उत शाखा प्रयो-
जिका! उपवेधोऽनुनिष्पादी?—इति। किं प्राप्तम्?—उभयं
छेदनात् निष्पद्यते, शाखा शाखामूलं च, उभयं च प्रयोजनवत्,
अपेक्षया वत्सापाकरणादि करिष्यते, मूलत उपवेधः, तेन विशेषा-
भावात् उभयं प्रयोजकम्।

इति प्राप्ते उच्यते,—‘शाखायां’ जूमः, ‘तत्प्रधानत्वात्’
(शाखाप्रधानत्वात्) ‘उपवेधेण विभागो’ भवेत्, शाखामनु-
निष्पन्नः गृह्येत। कथं तत्प्रधान्यं?। ‘शाखां परिवास्य’—
इति द्वितीयानिर्देशात्। ‘ननु ‘उपवेधं करोति’—इत्यपि
द्वितीया’। उच्यते,—न अस्मी परिवासयतेः कर्म। कस्य
तर्हि?। करोतेः।

‘आह, कस्मात् एवम् अभिसम्बन्धो न भवति,—शाखां परि-
वास्य मूलत उपवेधं करोति—इति, शाखाशब्दस्य यथैव अपे
तथा मूलोऽपि, तत्र अयमर्थः,—छेदनेन अपमूले विभजेत्।

* ‘वैषम्यं तत्’ इति का० सं० पु० नास्ति।

† “येयं पलाशशाखां छित्वा वृक्षादाहृता, तां पुनःछित्वा मूल-
भागः प्रादेशपरिमितः उपवेधः कार्यः” इति माधवः ॥

भा. किं प्रयोजनं ?। विभव्य मूलम्, उपवेशं करिष्यामि—इति ।
उच्यते,—नैवं, यवहितकल्पना हि एवं भवेत्, अथवधानेन
ब्राखार्थं परिवासनं, वृत्ते तस्मिन् उपवेशकरणम् ।

‘ननु प्रवृत्तत्वात् मूलम् उपवेशशब्देन सम्बन्धते’ । उच्यते,
उभयसम्बन्धे विरोधः, विरोधे च प्रकरणात् वाक्यं बलीयः ।
अथ सन्निहितेन सम्बन्धते, तथापि ब्राखाप्रयुक्तेन—इत्यापतति,
सिद्धमेव,—उपवेशो न प्रयोजयति हेदनम्—इति, एतत् अत्र
वैषम्यम् ॥

स. श्रुत्यपायाच्च ॥ ९ ॥ (यु०) ॥

भा. ‘ब्राखया वत्सानपाकरोति, ब्राखया गाः प्रापयति, ब्राखया
दोहयति’—इत्येवमादिषु ब्राखाप्रहरेषु न उपवेशस्य व्यापारः
ततः ब्राखाशब्दोऽपैति, न हि तत्समूहं ब्राखेत्याचक्षते । किमतः ?।
यत्रैवं यत्र ब्राखाशब्दः, तदर्थं हेदनं, द्वितीयानिर्देशात् । अथापि
मूले ब्राखाशब्दो भवेत्, एवमपि ब्राखाशब्दोपदिष्टेषु न मूलम्,
अमूलपरिवासितत्वात्, यत्रैवं संस्कृतया ब्राखया क्रियते, तदर्थं
हेदनं, न च उपधानं मूलपरिवासितया क्रियते । तस्मात् न
तदर्थं हेदनं । किं भवति प्रयोजनं ?। पौर्णमास्यामपि ब्राखा
उत्पाद्या, यथा पूर्वं पक्षः ; यथा सिद्धान्तः, तथा न उत्पादयि-
तया—इति ॥ (४।२।३ अ०) ॥

ब्राखाप्रहरणस्य प्रतिपत्तिकर्मताधिकरणम् ॥

स. हरणे तु जुहोतिर्योगसामान्यात् द्रव्याणां चार्थशेष-
त्वात् ॥ १० ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः आमनन्ति,—‘सह ब्राखया प्रस्तरं प्रहरति’
—इति । तत्र सन्देहः,—किं ब्राखाप्रहरणं प्रतिपत्तिकर्म, उत

भा. अर्थकर्म?—इति । किं प्राप्तं?—‘हरणे तु जुहोतिः’ स्यात्, अर्थकर्म—इत्यर्थः । कुतः?। ‘योगसामान्यात्’, योगोऽस्याः समानः प्रस्तरेण, ‘सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति’—इति, सहयोगे यत्र तृतीया, तस्य गुणभावो, यत्र द्वितीया तस्य प्राधान्यं । प्रस्तरे च विस्पष्टो यजिः, शाखापि तस्मिन् एव यजौ प्रस्तरस्य विज्ञेयं, समानयोगित्वात् ।

आह, ‘ननु तत्र तत्र गुणभूता शाखा, तस्याः प्रतिपत्ति-
र्न्यास्याः, इतरथानेकगुणभावः प्रसज्येत’—इति । उच्यते,—
‘द्रव्याणां च अर्थशेषत्वात्’ उत्पत्त्या चिकीर्षितस्य शेषभूतान्येव
द्रव्यानि उपदिश्यन्ते, ‘भूतं भव्यायोपदिश्यते’ (२।१।४ सू०
भा०)—इति । तस्मात् अनेकगुणतैव द्रव्याणां न्यास्या—इति ॥

स. प्रतिपत्तिर्वा शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ॥ ११ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘प्रतिपत्तिर्वा’ शाखाप्रहरणं, ‘शब्दस्य तत्प्रधानत्वात्’, शब्दः
अत्र शाखाप्रधानः । कथं?। द्वितीयाश्रवणात् । ‘ननु अन्यत्र
एव सा द्वितीया,—प्रस्तरे, न शाखायाम्’ । उच्यते, प्रस्तरे
द्वितीयार्थः शाखायामपि । कथं?। तुल्ययोगात् सह शाखया,
एवं प्रस्तरः प्रहृतो भवति, यदि शाखापि प्रह्रियते; तेन
तुल्ययोगे सहशब्दोऽर्थः, यदि प्रस्तरः प्रहरणे प्रधानं, शाखापि
प्रस्तरविज्ञेयं, तर्हि तुल्ययोगः, तस्मात् यः प्रस्तरे द्वितीयार्थः,
स शाखायाम् अपि, अतः शाखा प्रधानम् । अपि च, तत्र
तत्र शाखा गुणभूता, तस्यामन्यत्र उपदिश्यमानायाम् अनेक-
गुणभावः । ‘तत्र को दोषः?। दृष्टं कार्यं हित्वा अदृष्टं
कल्पयेत् । हतप्रयोजनायाः शाखाया अपनयनेन वेदिविलेच-
नात्* सुखप्रचारे दृष्टं कार्यं, न तु प्रहरणे किञ्चित् सूक्ष्ममपि
दृष्टमस्ति, तस्मात् प्रतिपत्तिर्न्यास्या ।

* विरेचनादिति क० सं० २ पु० पाठः ॥

भा. आह,—‘ननु तृतीयाश्रवणात् परार्थेन शाखोच्चारणेन भवितुं न्याय्यम्’ । उच्यते, भवेत् एतत् न्याय्यं, यदि निर्घातकाला शाखा स्यात्, ततः प्रस्तरस्य कालपरिच्छेदाय कीर्ष्यमाना परार्था उच्चार्येत, इह पुनः एतद्विपरीतम्,—निर्घातकालः प्रस्तरोग्निर्घातकाला शाखा । तस्मात् सत्यपि तृतीयाश्रवणे प्रस्तर एव शाखायाः कालं परिच्छेत्स्यति, यथा द्वितीया-निर्दिष्टः, तथा शाखा इष्ट्या, यथा तृतीयानिर्दिष्टा, तथा प्रस्तरः; सामर्थ्यं हि बलवत्तरम्—इति ॥

ख. अर्थोऽपीति चेत् ॥ १२ ॥ (आ०) ॥

भा. आह,—ननु गुणभावेऽपि द्वितीया भवति, यथा सक्तु माह-
तैककपालेषु ॥

ख. न, तस्यानधिकारादर्थस्य च कृतत्वात् ॥ १३ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. नेतत् सङ्गादिभिः तुल्यं, ‘तस्य’ सङ्गादेः अन्यत्र ‘अनधि-
कारात्’, इह च शाखया अन्यस्य ‘अर्थस्य कृतत्वात्’ वत्सापा-
करणादेः । आह,—‘ननु पुनरुक्तमेतत् सङ्गादीनां प्रदर्शनं
समाधिञ्च’—इति । उच्यते,—न पुनरुक्तता महान् दोषः,
बहुत्वोऽपि पश्य वेदितव्यं भवति, ग्रन्थभयेन पुनरुक्तं नेच्छन्ति,
अर्थाग्रहणात् विगतः पुनःपुनः अभिधीयमानं बहु मन्यन्ते
एव । किं चिन्तायाः प्रयोजनं ? यदि अर्थकर्म, पौर्णमास्यामपि
शाखोत्पाद्या, अथ प्रतिपत्तिर्नोत्पादयितव्या—इति ॥ (४।२।
४ अ०) ॥

निनयनस्य प्रतिपत्तिकर्मताधिकरणम् ॥

स. उत्पत्त्यसंयोगात्प्रणीतानामाज्यवद्विभागः स्यात् ॥

१४ ॥ (पू०) ॥

भा. हर्षपूर्वमासयोराम्नावते,—‘अपः प्रक्षयस्थापो वै अद्वा अद्वा-
मेवालभ्य यजते’—इति, उभयत्र च प्रणीतानां व्यापारः,—
‘प्रणीताभिर्हवीषि संयौति’—इति, तथा, ‘अन्तर्वेदि प्रणीताः
निनयति’—इति । अत्र सन्देहः,— किम् उभयम् आसां प्रयो-
जकं संयवनं निनयनं च, उत संयवनार्थानां निनयनं प्रति-
पत्तिः?—इति । किं प्राप्तम्?—उत्पत्तिसंयोगो नासां केनचित्
प्रयोजनेन, उभाभ्याम् उत्पन्नानां संयोगः, तस्मात् न गम्यते
विशेषः, अगम्यमाने विशेषे उभयार्थानां विभागोऽर्थं, कश्चित्
यागः संयवने कश्चित् निनयने—इति, ‘आज्यवत्’, यथा
‘सर्वस्मै वा एतत् यज्ञाय गृह्यते यत् ध्रुवायाम् आज्यम्’—
इति ॥

स. संयवनार्थानां वा प्रतिपत्तिरितरासां तत्प्रधान-
त्वात् ॥ १५ ॥ (सि०) ॥

भा. संयवनार्थाः प्रणीताः । कुतः? । तृतीयानिर्देशात्, संयवनेऽपि
गुणभावो, द्वितीयानिर्देशाच्च निनयने प्राधान्यं । चिन्तायाः
प्रयोजनं,—पुरोडाशाभावे प्रणीतानामभावो यथा पयस्या-
याम् ॥ (४।२।५ अ०) ॥

दण्डदानस्यार्थकर्मताधिकरणम् ॥

स. प्रासनवन्मैत्रावरुणाय दण्डप्रदानं कृतार्थ-
त्वात् ॥ १६ ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘वाग्वै देवेभ्योऽपाक्रामत् यज्ञायातिष्ठ-
माना सा वनस्पतीन् प्राविशत्सैषा वाक् वनस्पतिषु वदति,
या दुन्दुभौ या च तूणवे या च वीणार्यां, यत् दीक्षिताय
दण्डं प्रयच्छति वाचमेवावरुण्ये, क्रीते सोमे मैत्रावरुणाय दण्डं
प्रयच्छति’, ‘मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति’—इत्येतत् उदाहरणं।
तत्र संग्रहः,—किं दीक्षितधारणे श्रेषभूतस्य दण्डस्य मैत्रावरुण-
धारणं प्रतिपत्तिः, अथवा अर्थकर्म?—इति । किं प्राप्तम्?—
‘मैत्रावरुणाय दण्डदानं’ प्रतिपत्तिः । कुतः?। दीक्षितधारणे
‘ज्ञातार्थत्वात्’, ‘दण्डेन दीक्षयन्ति’—इति श्रेषभूतस्य अन्यत्र
आपारः प्रतिपत्तिर्न्याय्या, यथा, ‘चात्वाले वृषणविघाणां प्रा-
स्यति’—इति कण्डूयने श्रेषभूतायाः प्रासनं प्रतिपत्तिः, एवम्
अत्रापि द्रष्टव्यं । द्वितीया च दण्डे विभक्तिः । तस्मात् प्राधान्यम्
—इति ॥

स. अर्थकर्म वा कर्तृसंयोगात् स्रग्वत् ॥ १७ ॥ (सि०)

भा. ‘अर्थकर्म वा’ स्यात् । कुतः?। ‘कर्तृसंयोगात्’, कर्तृसंयोगो
भवति, ‘मैत्रावरुणाय दण्डम्’—इति कर्तृदण्डसंयोगो भवति,
तस्मिंश्च दण्डो गुणभूतः, पुरुषः प्रधानभूतः, पुरुषं हि स प्रचरितुं
समर्थं करोति । कथं?। यथा पूर्वं तमोऽविगाहतेऽपः* सर्पति गां
च सर्पे च वारयति अवलम्बनं च भवति, अतः पुरुषप्राधान्यात्
न प्रतिपत्तिः; ‘स्रग्वच्च’ द्रष्टव्यं, यथा ‘स्रजमुद्गात्रे ददाति’—

* तमो विगाहतेऽपः क० सं० पु० पाठः ॥

भा. इति असत्यन्युपकारे पुरुषस्य प्रयोजनवत्त्वात्, निष्प्रयोजनत्वाच्च सजः, भवति पुरुषप्राधान्यम्, एवम् इहापि द्रष्टव्यं । तस्मात् न प्रतिपत्तिः—इति ।

अथ यदुक्तं,—द्वितीयाश्रवणात् दण्डप्राधान्यम्—इति । उच्यते,—“तथा युक्तं चानीप्सितम्”—(१।४।५ पा० सू०) इति द्वितीया द्रष्टव्या । कुतः?। मैत्रावरुणे चतुर्थीनिर्देशात्, सखदाने हि चतुर्थी भवति, सखदानं च कर्मणा अभिप्रेयते, तत्र दण्डाद्भिप्रेततरो मैत्रावरुणः—इति गम्यते ॥

सू. कर्मयुक्ते च दर्शनात् ॥ १८ ॥ (यु०) ॥

भा. ‘दण्डो प्रेषानन्वाह’ इत्यनूद्यते, तेन प्रचरतो दण्डं प्रदर्शयति । तत् अर्थकर्मणि सति उपपद्यते, प्रतिपत्तौ तु दण्डो मैत्रावरुणाय दत्तस्ततोऽपहृज्येत, द्युतं च कर्तव्यम्—इति न तेन प्रयोजनम्—इति न धार्येत, तत्र एतद्दर्शनं नोपपद्यते, तथा ‘अहिरुवां ददति—इति मैत्रावरुणं ब्रूयात् अहिरिव स्येयः’—इति, तथा, ‘मुशस्यन्वाह’—इति, मुशस्यन्वाहं दण्डे प्रसिद्धः, यथा, क्व नु खलु मुशसिनो माणवका गङ्गामवतरेयुः—इति, तस्मात् अपि अथकर्म ॥ (४।२।६ अ०) ॥

पूर्वाधिकरणे आशङ्कानिरासः ॥

तथा प्रासनस्य प्रतिपत्तिकर्मताधिकरणम् ॥

सू. उत्पत्तौ येन संयुक्तं तदर्थं तत्. श्रुतिहेतुत्वात्तस्यार्थान्तरगमने शेषत्वात् प्रतिपत्तिः स्यात् ॥ १९ ॥

भा. यदुक्तं,—यथा दृष्टान्विषाणाप्रासनम्—इति । तत्र उच्यते, —युक्तं तत्र उत्पद्यमानं यत्, येन प्रयोजनेन सम्बद्धम् उत्पद्यते,

भा. तत्, तदर्थमेव न्याय्यं, तस्य अन्यत्र गमने प्रतिपत्तिः—इत्येतत्
उपपद्यते, यदि न दृष्टं प्रयोजनं भवति ; इह तु दृष्टं प्रयोजनं
मैत्रावरुणस्य धारणे, तस्मात् विषममेतत् ।

अथ वा अधिकरणान्तरं, विषाणायाः कण्डूयनं प्रासनं च
उभयमपि प्रयोजकम्—इति पूर्वः पक्षः, 'एकनिष्पत्तेः सर्वं
समं स्यात्' (४।१।२२ सू०)—इति । उत्तरः पक्षः,—कण्डूयने
तृतीयानिर्देशात् विषाणाया गुणभावः, प्रासने च द्वितीया-
निर्देशात्, अन्यत्र च ह्यतार्थत्वात् प्रधान्यम्—इति ॥ (४।२।
७ अ०) ॥

अवभृथगमनस्य प्रतिपत्तिकर्मताधिकरणम् ॥

स. सौमिके च ह्यतार्थत्वात् ॥ २० ॥ (सि०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमेऽवभृथो,—'वारुणेनैककपालेन अवभृथ-
मभ्यवपन्ति'—इति । तत्र अग्नायते,—'वरुणगृहीतं वा एतत्
यज्ञस्य यदृजीवं* यदद्यावाणः यदौन्दुवरी यदभिषवणफलके,
तस्मात् यत्किञ्चित् सोमलिप्तं द्रव्यं तेन अवभृथं यन्ति'—
इति । तत्र संज्ञयः,—किं सोमलिप्तानां द्रव्याणाम् अवभृथगमनं
प्रतिपत्तिः, अथ वा अर्थकर्म?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—
प्रतिपत्तिः—इति । कुतः?। 'ह्यतार्थत्वात्', ह्यतार्थान्येतानि
द्रव्याणि तत्र तत्र, तेषाम् अवभृथगमनं प्रतिपत्तिर्न्याय्या ॥

स. अर्थकर्म वाभिधानसंयोगात् ॥ २१ ॥ (पू०) ॥

भा. अर्थकर्म वा, अभिधानेन संयोगात्, 'तेन अवभृथं यन्ति'—
इति, तेन अवभृथसंज्ञकं निष्पादयन्ति—इति, तृतीया 'तेन'—

* निष्पोडितस्य सोमस्य नीरसो भाग ऋजीवम् इति माधवः ॥

भा. इति, द्वितीया 'अवभृथम्'—इति । तस्मात् सोमलिप्तं गुण-
भूतम्, अवभृथः प्रधानभूतः—इति ॥

स. प्रतिपत्तिर्वा तस्मात्प्रतिपत्तिर्वा तस्मात्प्रतिपत्तिः ॥ २२ ॥
(७०) ॥

भा. 'प्रतिपत्तिर्वा' । कुतः ? । 'तस्मात्प्रतिपत्तिः' एव, एष हि न्यायः,
यत् अन्यत्र हातार्थमन्यत्र प्रतिपाद्यते, तत् इह यदि सोमलिप्तं
द्रव्यम् अवभृथे करणं विधीयते, ततोऽर्थकर्म, अथ सोमलिप्तेन
यानं विधीयते, ततः प्रतिपत्तिः, न हि अत्र सोमलिप्तं विधीयते
अवभृथे, तथा सति अवभृथसोमलिप्तसम्बन्धः 'अभ्यवयन्ति'—
इत्यनेन आख्यातेन विधीयेत, तत्र वाक्येन विधानं स्यात्, न तु
श्रुत्या, यामेभ्युना विधीयमाने श्रुत्या विधानं, तत्परिगृहीतं
भवति, श्रुतिश्च वाक्याद्भूतीयसी, तस्मात् प्रतिपत्तिः । अथ यत्
उक्तम्.—'अर्थकर्म अभिधानेन संयोगात्'—इति । तत्र ब्रूमः,
—एवं सति देशार्था अवभृथश्रुतिः,—'अवभृथं यन्ति'—इति,
अवभृथेन देशं लक्षयति, यस्मिन् देशेऽवभृथः, तं देशं यन्ति—
इति । तस्मात् प्रतिपत्तिः—इति ॥ (४ । २ । ८ अ०) ॥

कर्तृदेशकालविधीनां नियमार्थताधिकरणम् ॥

स. कर्तृदेशकालानामचोदनं प्रयोगे नित्यसमवायात् ॥
२३ ॥ (५०) ॥

भा. इदं श्रूयते,—'पशुबन्धस्य यज्ञक्रतोः षडृत्विजः, दर्शपूर्ण-
मासयोर्यज्ञक्रतोश्चत्वार ऋत्विजः, चातुर्मास्यानां क्रतूनां पञ्च
ऋत्विजः, अग्निहोत्रस्य यज्ञक्रतोः एक ऋत्विक्, सौम्यस्याध्वरस्य
यज्ञक्रतोः सप्तदश ऋत्विजः, तथा, 'समे दर्शपूर्णमासाभ्यां
यजेत, प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत ; पीर्णमास्यां पीर्णमास्या

भा. यजेत, अमावास्यायाममावास्थया'—इति । तत्र सन्देहः,— किं कर्तृदेशकाला विधीयन्ते, उत अनूद्यन्ते?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—'कर्तृदेशकालानाम् अचोदनम्' (अनुवादः) । कुतः? । 'प्रयोगे नित्यसमवायात्', प्रयोगे नित्यसमवेता एते—इति, न, ऋते कर्तृदेशकालेभ्यः, प्रयोगः सिध्यति, तेन प्रयोगचोदनायैव प्राप्तानामनुवादः । 'ननु विषमादिप्रतिषेधार्थमेतद्वचनं भविष्यति' । नेति ब्रूमः, उपदेशकमेवञ्जातीयकं वचनम्, न प्रतिषेधकं, तस्मात् अनुवादः—इति ॥

स. नियमार्था वा श्रुतिः ॥ २४ ॥ (सि०) ॥

भा. उच्यते,—न चैतदस्त्यनुवादः—इति, अनुवादमात्रम् अनर्थकं, यदि विधिः, एवम् अपूर्वम् अर्थं प्रकरिष्यति, तस्मात् विधिः—इति । 'ननु प्रयोगाङ्गत्वात् प्राप्त एव'—इति । उच्यते,— 'नियमार्था' 'श्रुतिः' भविष्यति । कोऽयं नियमः? । अनियतस्य नियतता, प्रयोगाङ्गतया सर्वे देशाः प्राप्नुवन्ति, न तु समुच्चयेन, यदा समः, न तदा विषमः, यदा विषमः, न तदा समः, स एष समः प्राप्तश्च अप्राप्तश्च, यदा न प्राप्तः, स पक्षो विधिं प्रयोजयति, अतो विषमचिकीर्षायाम् अपि समो विधीयते । तस्मात् विषमस्य अप्राप्तिः विधौ सति भवति—इति समो विधीयते । एवम् इतरेष्वपि, तस्मात् विधिः—इति ॥ (४ । २ । ९ अ०) ॥

द्रव्यगुणविधानस्य नियमार्थताधिकरणम् ॥

स. तथा द्रव्येषु गुणश्रुतिरुत्पत्तिसंयोगात् ॥ २५ ॥

भा. (अधिकरणप्रदेशोऽयम्*) । इदमामर्शान्त,—'वायुं श्वेत-

* 'पूर्वाधिकरणोक्तयुक्त्यैवास्य सिद्धेस्तस्यैवांशरूपः' इति टीका ॥

भा. मालभेत भूतिकामः', तथा, 'सोमारौद्रं घृते चर्षं निर्वपेत् शुक्लानां व्रीहोणां ब्रह्मवर्चसकामः', तथा नैर्घृतं चरुम् निर्वपेत् कृष्णानां व्रीहोणाम्—इति । तत्र सन्देहः,—किं श्वेतादिवर्णे विधीयते, उत अनूद्यते?—इति । किं प्राप्तम्?—अनूद्यते, द्रव्यश्रुतिगृहीतत्वात् । विधिर्वा,—पक्षे प्राप्तस्य नियमार्थः—इति । पक्षोक्तं प्रयोजनम् उभयोरप्यधिकरणयोः ॥ (४।२। १० अ०) ॥

अवघातादिसंस्कारविधानस्य नियमार्थताधिकरणम् ॥

स. संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ॥ २६ ॥

भा. (अयमप्यधिकरणप्रदेशः) । दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'व्रीहोर्न अवहन्ति, तण्डुलान् पिनष्टि'—इति, तत् किम्, इमौ विधी, उत अनुवादौ?—इति संशयेऽर्थप्राप्तत्वात्, अनुवादौ—इति प्राप्ते नियमार्थत्वात् विधी?—इति ॥ (४।२।११ अ०) ॥

यागस्वरूपनिरूपणाधिकरणम् ॥

स. यजतिचोदना द्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतार्थत्वात् ॥ २७ ॥

भा. शेषविनियोगः उक्तः, किं तत् प्रधानं? यस्य एते शेषाः—इति । उच्यते,—यजति ददाति जुहोति—इत्येवंलक्षणम् । अथ किंलक्षणको यजतिजुहोतिर्ददातिश्च?—इति । 'यजति-चोदना, तावत् 'द्रव्यदेवताक्रियं',—द्रव्यं देवता च, तस्य द्रव्यस्य क्रिया, (यथा तयोः सम्बन्धो भवति) ; 'समुदाये' (समुद्दितेष्वेषु) यजतिशब्दो भवति, लोके दृष्टोऽनेन पशुपतिः—इति, तेन मन्यामहे,—द्रव्य-देवता-क्रियस्यार्थस्य यजतिशब्देन प्रत्यायनं

भा. क्रियते—इति । लक्षणकर्मणि प्रयोजनं न वक्तव्यम्, ज्ञानमेव
अत्र प्रयोजनम्—इति ॥ (४।२।१२ अ०) ॥

होमस्वरूपनिरूपणाधिकरणम् ॥

स. तदुक्ते श्रवणाज्जुहोतिरासेचनाधिकः स्यात् ॥ २८ ॥

भा. अथ किंलक्षणको जुहोतिः?—इति 'तदुक्ते' (यजत्युक्तेर्धे)
जुहोतिः श्रूयते, आसेचनाधिके, तस्मात् यजतिरेव असेचना-
धिको जुहोतिः, ऊतमनेन—इति एवञ्जातीयके वक्तारो भवन्ति
लोके; वेदेऽपि यजतिचोदितं जुहोतिना अनुवदति,—'सङ्घा-
मिणं चतुर्होत्रा याजयेत्, चतुर्गृहीतमाच्छं हत्वा चतुर्होतारं
याचसीत, पूर्वेण यद्देवाङ्गं जुहुयादुत्तरेणाङ्गम्,—इति ॥

अथ ददातिः किंलक्षणकः?—इति । आत्मनः स्वत्वव्यापृत्तिः
परस्य स्वत्वेन सम्बन्धः । यजति-ददाति-जुहोतिषु सर्वेषु उत्-
सर्गः समानः, तत्र यजतिर्देवताम् उद्दिश्योत्सर्गमात्रं, जुहोतिः
आसेचनाधिकः, ददाति उत्सर्गपूर्वकः परस्वत्वेन सम्बन्धः,—
इत्येष एषां विज्ञेयः—इति ॥ (२।४।१३ अ०) ॥

* “समुदाये ह्यतार्थत्वादित्युक्तोऽर्थं यन्थः, न हि यागशब्दो
द्रव्यदेवताक्रियं चितयमपि ब्रवीति, किं तर्हि यजिधातुवाच्यम्....”
इत्यादि “उच्यते,—न पदार्थलक्षणमिदं, किं तर्हि यजेत स्वर्गकाम
इति साधनत्वेन यागस्य चोद्यमानस्य प्रयोगः कथ्यते, यत् देवतो-
द्देशेन द्रव्यं त्यजति तेन यागोऽनुष्ठितो भवति, न त्यागमात्रे यागः
ह्यतो भवतीति, तस्मात् प्रयोगकथनमेवैतत् सूत्रकारस्य यजतिचोद-
नेत्याह, चोदनेति हि वाक्यमुच्यते” इत्यन्तम् वार्त्तिकमनुसन्धेयम् ॥

† स्थायित्वा इति का० क्री० पु० पाठः ॥

वर्हिषः आतिथ्यादिसाधारण्यधाधिकरणम् ॥

स्रः विधेः कर्मापवर्गित्वादर्थान्तरे विधिप्रदेशः स्यात् ॥

२६ ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘यत् आतिथ्यायां वर्हिः, तत् उपसदां, तत् अग्नीषोमीयस्य’*—इति । तत्र सन्देहः,—किं परद्रव्यस्य उपदेशः (१), उत निरिष्टिकस्य (२), अथ वा धर्मविधिप्रदेशः (३), अथ वा द्रव्यसाधारण्यम्?—इति । किं प्राप्तम्?—(१) ‘परद्रव्यस्य उपदेशः । कुतः? । परद्रव्यस्य उपदेशसदृशः शब्दः,—‘यत् आतिथ्यायां, तत् उपसदाम्’—इति, यथा, यो देव-दत्तस्य गौः, स विष्णुमित्रस्य कर्त्तव्यः—इति देवदत्तात् आच्छिद्य विष्णुमित्राय दीयते—इति, अतः परद्रव्यस्य उपदेशः—इति । न च एतदस्ति, तथा सति आतिथ्यायां तस्य विधानं यत् पूर्वं, तत् अनर्थकं स्यात् ।

(२) ‘एवं तर्हि निरिष्टिकस्य उपदेशः, तेन आतिथ्यायां यत् विहितम्, आतिथ्यायां यत् उपात्तम्’—इति, तथा सत्यर्थवत् आतिथ्यायां तत् वचनं, निरिष्टिकेन तु उपसदः कर्त्तव्या भवन्ति, न च, एष श्रितानामाचारः, न च, सर्वे चोदकप्राप्ता धर्मा भवेयुः, अतो ब्रूमः,—(३) ‘विधेः कर्मापवर्गित्वात् अर्थान्तरे विधिप्रदेशः स्यात्’, तत् वर्हिः परिसमाप्तायाम् आतिथ्यायाम् अपवृत्तं, पूर्वं तत् आतिथ्यायाः, उपसत्काले आतिथ्यासम्बन्धः तस्य नास्ति, भूतपूर्वेषु आतिथ्यया कर्मणा लक्ष्येत, लक्षणा-

* क्रीतं सोमं शकटेश्वस्थाप्य प्राचीनवंशप्रत्यानयनेऽभिमुखो यामिष्टिं निर्वपति, सेयम् आतिथ्या, तत ऊर्द्धं त्रिषु दिनेषु अनुष्ठीयमाना उपसदः, औपवसथ्ये दिनेऽनुष्ठीयमानोऽग्नीषोमीय इति माधवः ॥

भा. शब्दश्च न न्याय्यः । तस्मात् आतिथ्यावर्हिष आङ्गस्याभावात्
यद्वर्मकमातिथ्यावर्हिः, तद्वर्मकम् उपसदाम् अग्नीषोमीयस्य च
—इति न्याय्यम् ॥

स. अपि वोत्पत्तिसंयोगादर्थसम्बन्धोऽविशिष्टानां प्रयो-
गैकत्वहेतुः स्यात् ॥ ३० ॥ (सि०) ॥

भा. अपि वा—इति पक्षो व्यावर्तते । उत्पत्तिसंयोग एव एष
अस्य वर्हिषः, यदि हि उत्पन्नम् आतिथ्यायां वर्हिः विशिष्टं
स्यात्, तस्य धर्मा औपसदे वर्हिषि अतिदिश्येरन्, न तु तदस्ति
केनचित् वाक्येन । एवं प्रहात्य, वर्हिषो विशेषो वक्ष्यते,—
'आश्ववालः प्रस्तरः, विधृती चैक्षथौ—इति, तेन, न पर-
विहितं वर्हिः उच्यते, न निरिष्टिकं, न कुतश्चिद्धर्माः प्रति-
दिश्यन्ते, किं तर्हि?—साधारणममीषां वर्हिः उच्यते,—यत्
आतिथ्यायां विधीयते, तत् एवोपसदाम्, अग्नीषोमीयस्य च
विधीयते—इति अविशिष्टानां वर्हिषा संयोग एकेन सर्वेषां,
यत् आदौ वर्हिलूयते, तत् लवनं सर्वेषाम् अर्थेन, साधारणो
वर्हिषः प्रयोगः । एवं श्रुतिः शब्दस्य, परिगृहीता भविष्यति,
इतरथा धर्मलक्षणा भवेत्, अतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या
न लक्षणा । तस्मात् त्रयाणां साधारणं वर्हिः—इति, पक्षोक्तं
प्रयोजनम् ॥ (४।२।१४ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामिनः द्वातौ मीमांसाभाष्ये चतुर्थस्याध्यायस्य
द्वितीयः पादः ॥

चतुर्थे अध्याये तृतीयः पादः ॥



द्रव्यसंस्कारकर्मणां क्रात्वर्थताधिकरणम् ॥

स. द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः
स्यात् ॥ १ ॥ (सि०) ॥

भा. 'यस्य खादिरः क्षुवो भवति, स च्छन्दसामेव रसेनावद्यति, सरसा अस्य आञ्जतयो भवन्ति । यस्य पर्णमयी जुह्वर्भवति, न स पापं क्षोकं शृणोति'—इति ; यस्याञ्जतयो उपभृत् भवति, ब्रह्मणैवास्यान्नमवरन्धे*, यस्य बैकङ्कती ध्रुवा भवति, प्रत्येवास्य आञ्जतयस्तिष्ठन्ति, अथो ग्रैव जायते, यस्य एवंरूपाः क्षुवा भवन्ति, सर्वाण्येवैनं रूपाणि पशूनाम् उपतिष्ठन्ते, नास्य अप-रूपम् आत्मन् जायते—इति । तथा ज्योतिष्टोमसंस्कारे फल-श्रुतिः, 'यदाङ्गो चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते, तथा, 'केशश्मश्रू वपते, दतो धावते, नखानि निक्षन्ति स्नाति, मृता वा एषा त्वगमेधं वाऽस्येतदात्मनि श्मलं तदेवोपहृते मेध एव मेधम्† एवमुपैति । कर्मणि फलं श्रूयते,—'अभीषू वा एतौ यज्ञस्य यदाधारौ, चक्षुषी वा एतौ यज्ञस्य यदाज्यभागौ, यत् प्रयाजानुयाजा ईज्यन्ते, वर्म वा एतत् यज्ञस्य क्रियते, वर्म यजमानस्य भ्रातृव्यस्य अभिभूत्यै'—इति ।

अत्र सन्देहः,—किम् इमे फलविधयः, उत अर्थवादाः?—
इति । किं प्राप्तम्?—फलविधयः, प्रवृत्तिविशेषकरत्वात् फल-

* स ब्रह्मणैवान्नमवरन्धे इति का० क्री० पु० वाठः ॥

† मेध एव इति आ० सो० पु० पाठः ॥

भा. विधेः, यथा, खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्, पालाशं ब्रह्म-
वर्षसकामस्य, वैश्वमन्नाद्यकामस्य—इति, यथैते फलविधयः,
एवम् इहापि द्रष्टव्यम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—फलार्थवादाः—
इति । कुतः? । ‘परार्थत्वात्,—क्रत्वर्थान्धेतानि, जुहः प्रदाने
गुणभूता, उपभृदुपधारणे, सुवा आन्धधारणे, अङ्गनवपनादि च
यजमाने, आघारावाच्यभागौ प्रयाजानुयाजाश्च आघेयादिषु ।
यदि फलेऽपि गुणभावः स्यात्, अन्यत्रोपदिष्टानाम् अन्यत्र पुन-
र्गुणभाव उपदिष्टः—इति प्रतिज्ञायेत, न चैतत् न्यास्यं, परार्थता
हि गुणभावः, क्रत्वर्थता चैषां शब्देन,—‘जुहा जुहोति’ (जुहा
होममभिनिर्वर्त्तयति)—इति, एवं सर्वत्र । तस्मात् न एते
पुरुषार्थाः ॥

स. उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात् ॥ २ ॥ (यु०) ॥

भा. ‘अथ उच्येत,—पुरुषमपि प्रति गुणभाव उपदिष्टः,—‘यस्य
पर्णमयी जुहर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति’—इत्येवमा-
दिभिर्वाक्यैः—इति । तत्र न । कस्मात्? । ‘उत्पत्तेरतत्प्रधान-
त्वात्’, तत्र, ‘पालाश्या जुहा अ-पापश्लोकश्रवणं क्रियते’—
इति न कश्चित् शब्दः आह, एतावत् श्रूयते,—‘यस्य असौ
भवति, न स पापं श्लोकं शृणोति’—इति, एतावत् अत्र शब्देन
गम्यते,—‘यस्य एवंलक्षणा जुहः, तस्य अ-पापश्लोकश्रवणम्
—इति । तत्र, जुहा तत् क्रियते, जुह्वं तदर्था?—इति,
नैतत् शब्दः आह ।

‘ननु अनुमानादेतत् गम्यते,—ध्रुवं पालाश्या जुहा तत्
क्रियते, यतस्तस्यां सत्यां तत् भवति’—इति । अत्र उच्यते,
—न, एवञ्जातीयकं कार्यकारणत्वेऽनुमानं भवति, कार्यकारण-
सम्बन्धो नाम स भवति, यस्मिन् सति यत् भवति, यस्मिंश्च
असति यन्न भवति, तत्र एव कार्यकारणसम्बन्धः, इह तु तद्भावे

भा. भावो ज्ञातः, न अभावेऽभावः,—‘यस्य पालाशी न भवति तस्य अ-पापश्लोकश्रवणं नास्ति’—इति, न, एवञ्जातीयकः शब्दोऽस्ति, तेन न, नियोगतोऽवगम्यते,—तेन इदं क्रियते—इति, लक्षण-मेतत् पुरुषस्य गम्यते, तस्मात् न अनुमानम् ।

अपि च, यस्यापि जुहः पालाशी भवति, तस्यापि पाप-श्लोकश्रवणं भवति । कथम् अवगम्यते ? प्रत्यक्षतः । ‘ननु एवं सति अग्निहोत्रेणापि फलं न साधेत । न उक्तमात्रेण फलं दृश्यते’—इति । नैष दोषः, न हि तत्र उच्यते,—तावतैव फलं भवति—इति, इह तु वर्तमानायां जुहसत्तायां वर्तमानस्य पापश्लोकश्रवणस्य प्रतिषेधः, तस्मात् न तत्र अनुमानम्,—इदं कार्यं, इदं कारणम्—इति । अग्निहोत्रादिषु तु शब्देनैव कार्य-कारणसम्बन्ध उच्यते,—तस्मात् तत्र तत्कालेऽदृश्यमानेऽपि फले, कालान्तरे फलं भविष्यति—इति गम्यते, न तु एवंजातीयकेषु, तस्मात् न एवञ्जातीयकेभ्यः फलमस्ति—इति ।

‘ननु ‘यस्य पालाशी जुहर्भवति, न स पापं श्लोकं शृणोति’—इत्येवम् उक्ते तत एव तत्फलं भवति—इति गम्यते, तस्मात् इह अपि कालान्तरे फलं भविष्यति’—इति । उच्यते,—सत्यं गम्यते, प्रमाणं तत्र किम्?—इति विचारयामः, न तावत् प्रत्यक्षं, न अनुमानं, न इतरत् दृष्टविषयम् उपमानादि, नो खल्वपि शब्दः—इत्येतत् उक्तम्, वाक्यार्थोऽपि पदार्थोपजनितो भवति, न अभ्यथा, तदुक्तं,—(१ । १ । २५ सू०)—‘तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः’—इति । तस्मात् अ-प्रमाणमूलत्वात् मिथ्याविज्ञानमेतत् । लौकिकेषु वाक्येषु अथैवं गम्यते, तानि हि विज्ञातेऽर्थे प्रयुज्यमानानि अध्याहार्यपदानि गौणानि विपरिणत—अवहितार्थानि च प्रयुज्यन्ते, तस्मात् तत्सादृश्यात् वचनागम्येषु अपि अर्थेषु भवति तत्स्वरूपो मिथ्याप्रत्ययः, यथा मृगतृष्णादिषु ।

भा. अपि च, वर्त्तमानापदेशोऽर्थं, न च, अयमर्थो वर्त्तमानः, तस्मात् न; खादिरसुवादिसङ्घावे तत् फलं भवेत्, तदेवमापतति, —खादिरादौ सति भवति तत् फलं नापि भवति, असत्यपि भवति वा न वा—इति, नैवं विज्ञायत,—कुतः तत् फलम्—इति । तस्मात् एवञ्जातीयकेषु उच्चरितेषु न क्वचित् प्रवृत्तिर्न कुतश्चित् निवृत्तिः—इत्यामर्थक्यमक्रियार्थत्वात् । अर्थवादे तु सति भवति प्रयोजनं खादिरादेः, सुवादिषु कर्मार्थेषु प्रयोजनवत्सु । यदि एषां क्रतुम् प्रति प्रयोजनवत्ता न स्यात्, तत एतदेव फलं कयाचिच्छब्ददृष्ट्या, भवेत् वा न वा?—इति विचार्येत, सति तु पारार्थ्ये नैव काचिच्छब्दप्रवृत्तिराश्रयितुम् शक्यते, कैमर्थ्यं हि सा कल्प्येत । तस्मात् एवञ्जातीयका अर्थवादाः, अर्थवादत्वे च अवत्तमाने वर्त्तमानशब्दः प्रशंसार्थ उपपत्स्यते ॥

स. फलन्तु तत्रधानायाम् ॥ ३ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—यथा, 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्, वेत्वमन्नाद्यकामस्य पालाशं ब्रह्मवर्षसकामस्य'—इति, युक्तं तेषु, विधिविभक्तिः कुर्यात्—इति वीर्यखादिरसम्बन्धस्य विधाची, न च वर्त्तमानापदेशिनी । तस्मात् तत्र अविरोधः—इति, एवं हि पदवाक्यार्थन्यायविद्ः श्लोकमामनन्ति,—

कुर्यात्, क्रियेत, कर्त्तव्यं, भवेत्, स्यात्—इति पञ्चमम् ।

एतत् स्यात् सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम् ॥

—इति । विधिविभक्तिं हि विधायिकां लिङ्गम् मन्यमानाः श्लोकमिमं समामनन्ति । अस्ति चात्र विधिविभक्तिः । तस्मात् अनुपवर्णनमेतत्—इति ॥ (४।३।१ अ०) ॥

नैमित्तिकानां वार्हङ्गिरादीनामनित्यार्थत्वाधिकरणम् ॥

स. नैमित्तिके विकारत्वात् क्रतुप्रधानमन्यत् स्यात् ॥ ४ ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमे नैमित्तिकं,—‘वार्हङ्गिरं ब्राह्मणस्य ब्रह्म-
साम कुर्यात् पाथुरश्रमां* राजन्यस्य, राथोवाजीयं वैश्यस्य’
—इति, तथा अग्नौ नैमित्तिकं,—‘साहस्रं प्रथमं चिन्वानः
चिन्वीत, द्विसाहस्रं द्वितीयं, त्रिसाहस्रं तृतीयम्—इति, तथा
दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्’,
कांस्थेन ब्रह्मवर्चसकामस्य, मार्त्तिकेन प्रतिष्ठाकामस्य’—इत्ये-
तानि नैमित्तिकानि । तेषु सन्देहः,—किम् एतान्येव नैमित्तिक-
कानि नित्यार्थं, उत अन्यत् तत्र तत्र नित्यार्थं?—इति ।

किं प्राप्तमेतान्येव?—इति । कुतः?। अत्र ब्रह्मसामादिभिर-
वश्यं भवितव्यं, चोदितानि हि तानि, सन्निहितानि साधनानि
आकाङ्क्षन्ति, न च, एषां सन्ति विहितानि साधनानि, समीप-
तश्च नैमित्तिकानि उपनिपतन्ति, तैः प्रकृतैः सन्निहितैरेतानि
निराकाङ्क्षीक्रियन्ते—इत्येतत् न्याय्यम् । कथम्?। नैमित्तिकं
हि सन्निहितं, वाक्यात् श्रुतगम्यते, नान्यत् श्रूयते,—यावांश्च
श्रुतस्य उत्सर्गे दोषः, तावानेव श्रुतकल्पनायाम् ।

‘आह, ननु निमित्तार्थानि तानि प्रकृतानि’ । उच्यते,—
नैष दोषः,—अन्यार्थमपि प्रकृतम् अन्येन सम्बध्यते, यथा,
शास्त्रार्थं कुल्याः प्रणीयन्ते, ताभ्यश्च पानीयं पीयते, उपस्पृश्यते
च, एवम् इहापि द्रष्टव्यम् । अथ वा, अस्त्येवाच श्रवान्तरवाक्यं,
यथा, ‘गोदोहनेन प्रणयेत्’—इति, तत् श्रुतकामसम्बद्धं गोदो-
हनेन प्रणयनं प्रापयति । न च, श्रुतमुत्सृष्टम् । योऽप्ययं,

* पाथुरस्यमिति का० क्री० पु० पाठः ॥

भा. 'पशुकामस्य'—इति शब्दः, स पशुकामसम्बन्धं ब्रूयात् कर्तुम्, न अवान्तरवाक्यस्य अर्थं निवारयितुम्, न च, गम्यमानं, विना कारणेन, अविवक्षितम्—इति शब्दं वदितुम्। भवन्ति च द्विष्टानि* वाक्यानि, यथा श्वेतो धावति अलम्बुसानां याता—इति। तस्मात् नैमित्तिकान्येव नित्यार्थे भवितुमर्हन्ति—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'नैमित्तिके' श्रवमाणे क्रत्वर्थम्, 'अन्यत् स्यात्'—इति। कुतः?। 'विकारत्वात्' (विशेषे श्रुतत्वात्—इत्यर्थः), विशेषे हि तत्र नैमित्तिकं श्रूयते, तत्, असति तस्मिन् विशेषे न भवितुमर्हति। यदुक्तम्, अवश्यकसंस्थानि—इति, नैव दोषः,—अवश्यकसंस्थत्वात् करिष्यन्ते। यत्तु, नान्यदेषां विहितं साधनम्—इति, सामान्यविहितं भविष्यति—इति न दोषः। किन्तु तत्?। अभीवर्त्ता ब्रह्मसाम, अष्टादशमखगतोऽग्निः, वारणं प्रणयनपात्रम्। अथ यदुक्तं, सन्निहितैः प्रकृतैर्नैमित्तिकैर्ब्रह्मसामादीनि सम्भत्स्यन्ते—इति। न—इति ब्रूमः,—न हि वार्हङ्गिरादीनां प्रकरणम्। अथोचेत्,—प्रकृतैः स्तोत्रादिभिः सम्बध्यन्ते—इति, एतदपि नोपपद्यते,—यद्यपि प्रकृतानि नित्यानि स्तोत्रादीनि, तथापि वाक्येन निमित्तसंयोगे श्रूयन्ते वार्हङ्गिरादीनि, वाक्यं च प्रकरणाद्गृहीयः। यदुक्तं,—सन्निधानाद्वाक्यादखगतोऽग्निमर्थः—इति, न, एवञ्जातीयको वाक्यार्थः सामान्यं पदार्थं बाधितुमर्हति; निमित्तसंयोगे हि वार्हङ्गिरादीनामर्थवत्ता। तस्मात् तत्र तत्रान्यत् नैमित्तिकात्—इति।

अथ यदुक्तम्,—अवान्तरवाक्येन गोदोहनमपि प्रापितं न शक्यम् उत्सृष्टुम्, षड्ते कारणात्, (अविवक्षितं कल्पयितुम्),

* द्विविधानि इति आ० सो० पु० पाठः ॥

† इदञ्च 'उत्सृष्टुम्' इत्यस्य विवरणम् ॥

भा. द्विष्टं हि तत् भवति—इति । उच्यते,—कारणात् अविवक्षितम् । किं कारणं? । न हि, इदं युगपत् भवति,—परिपूर्णेन च अर्थाभिधानम् अवाप्तरवाक्येन च—इति । कथम्? । प्रणयति—इति प्रपूर्वं नवतौ विधिविभक्तिः स्वपदगतमर्थं श्रुत्या विदधाति, प्रणयनादिसम्बन्धमपि गोदोहनादि श्रुत्या, वाक्येन च । यस्त फलस्य गोदोहनादेश्च सम्बन्धः, स हित्वा श्रुत्यर्थं, केवलेन वाक्येन । ‘अथ, प्रणयनस्य गोदोहनादिसम्बन्धं, गोदोहनादेश्च फलेन सम्बन्धं वदति’—इति उच्यते । न, इरर्थाभिधानात् भिद्येत नितरां वाक्यं, न च एतन्न्याय्यम् ।

यत्तु,—श्वेतो धावति—इत्येवमादि, भवेत् तत्र विशेषानवगमात् उभयार्थावगतिः । इह तु गम्यते विशेषः कमिपदोच्चारणं, स इह श्रौतोऽर्थः । मन्येत ; यदि गोदोहनादेः क्रियासम्बन्धो विवक्ष्यते, कमिपदं प्रमादो भवेत्, न च अयं प्रमादः, नैवावाप्तरवाक्यार्थं विवक्षिते कमिपदसम्बन्धोऽवकल्पते । तस्मात् न द्विष्टं वाक्यं, गोदोहनादि-कमिसम्बन्धः एव अत्र अभिधीयते, न नित्यकार्यं भवितुमर्हति—इति, एवं सर्वत्र ॥ (४। ३। २ श्र०) ॥

दध्यादेर्नित्यनैमित्तिकोभयार्थताधिकरणम् ॥

(संयोग-पृथक्कन्यायः) ॥

स. एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्कम् ॥ ५ ॥ (सि०) ॥

भा. अग्निहोत्रे श्रूयते,—‘दध्ना जुहोति’—इति, पुनश्च ‘दध्नेन्द्रिय-कामस्य जुहुयात्’—इति, तथा अग्नीषोमीये पञ्चावाप्न्यायते,—‘खादिरे बध्नाति’—इति, पुनश्च ‘खादिरं वीर्यकामस्य यूषं कुर्यात्’—इति । तत्र सन्देहः,—किम् अत्राप्यन्यत् नित्यार्थम्,

भा. उत नैमित्तिकमेव?—इति । किं प्राप्तम्?—पूर्वेण न्यायेनान्यत्
—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘एकस्य उभयत्वे’—(नित्यत्वे
नैमित्तिकत्वे च) ‘संयोगपृथक्त्वम्’ कारणं, तत् इह संयोग-
पृथक्त्वम् अस्ति,—एकः संयोगः—‘दध्ना जुहोति’—इति, एकः,
—‘दध्नेन्द्रियकामस्य’—इति, तथा एकः,—‘खादिरे बध्नाति’
—इति, अपरः,—‘खादिरं वीर्यकामस्य’—इति । तस्मात्
नित्यार्थे कामाय च दधि—खादिरादि—इति ॥

स. शेषः इति चेत् ॥ ६ ॥ (आ०) ॥

भा. इति चेत् पश्यसि,—कस्मात् न पूर्वस्य अयमपि शेषो भवति?
यदेतदुक्तं,—‘दध्ना जुहोति’, ‘खादिरे बध्नाति’—इति, तस्य
एव तु दध्नः फलम् इन्द्रियं, तथा खादिरस्य वीर्यं, तच्च इदं
च एकं वाक्यम्—इति ॥

स. नार्थपृथक्त्वात्* ॥ ७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवं,—पृथगेतावर्थो यश्च दधिहोमसंयोगः, यश्च दधि-
न्द्रियसंयोगः, तथा खादिरस्य बध्नातिना संयोगः वीर्येण च,
दावेतावर्थो, दावपि च विधित्सितौ अर्थैकत्वाच्चैकं वाक्यं समधि-
गतम्, इहार्थद्वयेन भिद्येत वाक्यम् । कथं? । जुहोतिसमभि-

* “प्रणयनं हि विधीयमानं पाचाकाङ्क्षमेव विधीयते, तच्च यत्
प्रणयति, केनापि पाचेण, तच्चमसेनेति तस्याकाङ्क्षा निवर्त्तयति ।
अतः प्रणयनस्य युक्तैकवाक्यता प्रयोजनैकत्वात्, इह तु दध्ना जुहो-
तीति होमप्रयोजनेनैव विराकाङ्क्षत्वात् नान्यत् प्रयोजनमपेक्षते,
इतरदपि इन्द्रियेण साधेन निराकाङ्क्षीकृतम्, तस्मात् द्वयोरपि
साध्योः परस्परसम्बन्धो नास्त्यर्थभेदात्” इति वार्त्तिकमचानु-
न्वेयम् ॥

भा. व्याहृता विधिविभक्तिः, असम्भवे औतस्य होमविधानस्य, गुणं समभिव्याहृतं विधातुमर्हति, तदसम्भवे गुणफलसम्बन्धम् । तत्र हि अत्यन्ताय श्रुतिः उत्सृष्टा वाक्यानुरोधेन स्यात्, न च, युगपत् सम्भवासम्भवौ सम्भवतः । तस्मात् यदेव नैमित्तिकं तदेव नित्यार्थम्—इति ॥ (४।३।३ अ०) ॥

पयोव्रतादीनां क्रतुधर्मताधिकरणम् ॥

स. द्रव्याणान्तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः
स्यात् ॥ ८ ॥ (सि०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे समामनन्ति,—‘पयोव्रतं ब्राह्मणस्य, यवागू-
राजन्यस्य, आमिच्छा वैश्यस्य’—इति । तत्र सन्देहः,—किम्
अयं पुरुषधर्मः, उत क्रतोः?—इति । प्रकरणं बाधित्वा वाक्येन
विनियुक्तः पुरुषस्य—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—पुरुषाणां क्रिया-
र्थानां शरीरधारणार्थो बलकरणार्थश्चायं संस्कारो व्रतं नाम,
स क्रतुधर्मो भवितुमर्हति, प्रकरणानुषङ्गाय । ‘ननु वाक्यात्
पुरुषधर्मः’—इति । न—इति ब्रूमः,—तथा सति फलं कल्प्यं,
कृतम् इतरत्र, प्रयोगवचनेनोपसंहरतं हि तत् प्रधानस्य ।
तस्मात् क्रतुधर्मः ॥

स. पृथक्कादवतिष्ठेत ॥ ९ ॥ (यु०) ॥

भा. ‘अथ पुरुषसंयोगः किमर्थः?’ । व्यवस्थापनार्थः—इति ब्रूमः,
—पयोव्रतं ज्योतिष्टोमस्य भवति, तत्तु ब्राह्मणकर्तृकस्य एव, न
अन्यकर्तृकस्य—इति । एवं सर्वत्र ॥ (४।३।४ अ०) ॥

विश्वजिदादीनां सफलत्वाधिकरणम् ॥

(इतः प्रभृति अधिकरणत्रयम् विश्वजिन्न्यायः) ॥

स. चोदनायां फलाश्रुतेः कर्ममात्रं विधीयेत न ह्यशब्दं
प्रतीयते ॥ १० ॥

भा. इदमामनन्ति,—‘तस्मात् पितृभ्यः पूर्वदुः करोति’—इति, तथा, सर्वभ्यो वा एष देवेभ्यः सर्वभ्यः हृन्दोभ्यः सर्वभ्यः पृष्ठेभ्यः आत्मानमागुरते, यः सत्रायागुरते, स विश्वजिता अतिरात्रेण सर्वपृष्ठेन सर्वस्तोमेन सर्ववेदसदक्षिणेन यजेत—इत्येवंलक्षणके श्रुते, भवति सन्देहः,—किं निष्फलमेतत् कर्ममात्रम्, उत सफलम्?—इति । किं प्राप्तं?—निष्फलम्—इति । कुतः? । ‘फलाश्रुतेः’, शब्दप्रमाणके कर्मणि एवञ्जातीयके, ‘न हि अशब्दं प्रतीयते’ ।

‘ननु वैदिकानि कर्माणि फलवन्ति भवन्ति—इत्येवम् उक्तम् । उच्यते,—फलदर्शनाक्तानि फलवन्ति—इति उक्तं, न वैदिकत्वात् । ‘एवं तर्हि कर्त्तव्यतावगमात् फलवन्ति—इति अथ-वस्यामः, सुखफलं हि कर्त्तव्यं भवति’—इति । उच्यते,—प्रत्यक्ष-विरुद्धम् एवञ्जातीयकस्य कर्त्तव्यत्वं, साक्षाद्भि तत् दुःखफलमव-गच्छामः, न च एवञ्जातीयकं प्रत्यक्षविरुद्धं वचनं प्रमाणं भवति, यथा अम्बुनि मउजन्तरलाबूनि, शिलाः भ्रवन्ते, पावकः शीतः—इति । अपि च अनुमानात् अत्र सुखफलता,—यस्मात् कर्त्तव्यम् अतः सुखफलम्—इति, प्रत्यक्षं च अनुमानाद्भलीयः । तस्मात् निःफलम् एवञ्जातीयकम्—इति ।

‘एवं हि अत्र फलं कल्पयेत्, यद्येतत् फलवत्, एवम् उपदेशो-प्यवान् भवति’—इति । उच्यते,—कामं वाक्यम् अनर्थकम्—इति न्याय्यं वचनं भवेत्, भवन्ति हि अनर्थकान्यपि वचनानि,

भा.—दत्र दाडिमानि, षडपूयाः—इत्येवञ्जातीयकानि । ‘ननु विश्वजित्पापारः, सुखफलः’—इति । उत्तरं,—सुखफलं हि भवति अपूर्वं, न व्यापारः, न च, अयम् अपूर्वस्य कर्त्तव्यताम् आह, फलकर्त्तव्यतायां हि सत्यां तत् अवगम्यते, वाक्यार्थस्य फलस्य कर्त्तव्यताम् आह न पदार्थः, न च, अत्र फलसम्बद्धं वाक्यमस्ति । तस्मात् न, अयम् अपूर्वस्य विधायकः शब्दः, व्यापारमात्रमेव* विदधाति, स च व्यापारो न तदात्वे सुखफलः, न अपि आयत्वा, भङ्गित्वात्, सच अपूर्वं कल्पयित्वा फलमेव गम्येत, फलं च कल्पयित्वा अपूर्वम्, एवम् इतरेतराश्रयं भवति, इतरेतराश्रयाणि च न प्रकल्पन्ते । तस्मात् निष्फलम् एवञ्जातीयकम्—इति ।

‘आह,—अथाहारिष्यामहे फलवचनम्† । उच्यते,—न शक्यं परिपूर्णं वाक्ये अथाहर्त्तुम्, परिपूर्णं इदं वाक्यं,— विश्वजित् यागः कर्त्तव्यः—इति, न, किञ्चित् पदमस्ति साकाङ्क्षं, येन अथाहृत्य फलं सम्बन्धेत, यथा‡ अक्षेमेऽपि षधि, भवति विप्रलम्भक उपदेशः,—क्षेमोऽर्थं, यथा गच्छतु भवान् अनेन—इति, परिपूर्णमेव इदं वाक्यं, न अथाहारमर्हति विप्रलम्भक-कर्त्तव्यं, एवम् इदमपि परिपूर्णं वाक्यं न अथाहारमर्हति । अत्र च, अथाहृत्यमाणेन एव इदं वाक्यं सम्बन्धेत, विश्वजित् यागः कर्त्तव्यः, इदं च फलं भवति—इति, दाडिमौ अर्थौ, एकार्थं च वाक्यं समधिस्तम् । तस्मात् अनर्थकम् एवञ्जातीयकं कर्म—इति ॥

* यागमात्रमेव इति का० क्री० पु० पाठः ।

† फलमिति आ० सो० पु० पाठः ।

‡ क्षेमोऽर्थं षन्धा इति का० क्री० पु० पाठः ।

स. अपि वाऽग्निानसामर्थ्याच्चोदनाऽर्थेन गम्येतार्थानां
 ह्यर्थवत्त्वेन वचनानि प्रतीयन्तेऽर्थतो ह्यसमर्था-
 नामानन्तर्येऽप्यसम्बन्धः तस्माच्छ्रुत्येकदेशः सः ॥
 ११ ॥ (सि०) ॥

भा. 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः। न चैतदस्ति,—अफलम्
 —इति, फल—'चोदना अर्थेन गम्येत'। कतमेन अर्थेन?।
 कर्तव्यतावचनेन। 'आह,—ननु व्यापारस्य प्रत्यक्षविषयत्वात्
 कर्तव्यता'। न व्यापारस्य उच्यते। कस्य तर्हि?। व्यापारेण
 अन्यस्य कस्यचित्—इति, भवति तेन दूदानो वाक्यं साकाङ्क्षं,
 तत्र अध्याहारोऽवकल्पते, भवति च अध्याहारेण अपि कल्पना,
 यथा, 'द्वारं द्वारम्'—इति उक्ते, संश्रियताम् अपाश्रियताम्—
 इति। 'कथं पुनः अवगम्यते, इह अध्याहारेण कल्पयितव्यम्?'
 —इति। 'आग्निानसामर्थ्यात्', एवम् इदम् आग्निानम् अर्थ-
 वत् भविष्यति, ज्ञातोति च अर्थमवगमयितुम्। तस्मात् न
 अनर्थकम्।

'ननु यत् पदम् अध्याश्रियते, तत् पौषषेयं, तेन अवगतं च
 अप्रमाणम्'। उच्यते,—न अपूर्वम् अध्याहारव्यापारः, वैदिकेन
 एव अस्य, सह अन्यत्र समाग्नातेन, एकवाक्यताम् अध्वव-
 सामः। 'आह,—न एवं ब्रह्मम्, अन्तिकादुपनिषत्तितं हि पदं,
 वाक्यार्थम् उपजनयितुमलं भवति, न दूरादवतिष्ठमानम्'। अत्र
 उच्यते,—व्यवहितमपि हि, पराणुद्य व्यवधायकम्, आनन्तर्येण
 मनसि विपरिवर्तमानम् अलमेव भवति विशेषम् उपजनयितुम्;
 यथा,

'इतः पश्यसि धावन्तं दूरे जातं वनस्पतिम्।

त्वां ब्रवीमि विशालाक्षि! या पिनक्षि जरद्भवम्' ॥

भा.—इति 'इतः पश्यसि'—शब्दो बुद्धौ भवति, सः, 'दूरे जातं वनस्पतिम्',—एतैः पदैर्यवहितेन 'जरङ्गवम्'—इत्यनेन शब्देन व्यवधायकानि अपोद्य सम्बन्धमानः सम्बन्धते, 'अर्थानां हि अर्थवत्त्वेन' हेतुना यवहितान्यपि 'वचनानि' सम्बन्धन्ते, यानि पुनर् 'अथतो हि' असमर्थानि, तानि 'आनन्तर्येऽपि' सति न परस्परेण सम्बन्धमर्हन्ति, यथा, 'या पिनाञ्च जरङ्गवम्'—इत्येवमादीनि। तस्मात् न पौषषेयता भविष्यति। 'आह, —ननु अत्रापि अपेक्षा पौषषेयी'। उच्यते,—न अपेक्षा वेदे, वेदार्थप्रतिपत्तावभ्युपाय एष भवति, अनन्तरापेक्षायाम् असम्भन्त्याम् 'आग्नांसामर्थात्' इतरापेक्षा वृत्तिराश्रीयते। 'तस्मात् श्रुत्येकदेशः सः', (फलकामपदं दूरेऽपि सत् तस्य वाक्यस्य एकदेशभूतम् इत्यर्थः) ॥

सू. वाक्यार्थश्च गुणार्थवत् ॥ १२ ॥ (यु०) ॥

भा. 'इन्द्राय राज्ञे श्रूकरः'—इति यथा वाक्यान्तरस्थेन विधि-शब्देन गुणविधानं भवति, एवं फलविधानमपि भवितुमर्हति—इति, यथा, 'वसुणो वा एतमग्रे प्रत्यगृह्णात्'—इति व्यवधारण-कल्पना। एतम् इदमपि द्रष्टव्यम् ॥ (४।३।५ अ०) ॥

विश्वजिदादीनामेकफलताधिकरणम् ॥

सू. तत्सर्वार्थमनादेशात् ॥ १३ ॥ (पू०) ॥

भा. 'तस्मात् पितृभ्यः पूर्वदुः करोति'—इति, 'विश्वजिता यजेत'—इति फलवत् एवंविधं कर्म—इत्येतत् समधिगतम्। इदं तु सन्दिश्यते,—किं सर्वफलमेतत् कर्म, उत एकफलम्?—इति। किं प्राप्तं?—'तत् सर्वार्थम्'—इति। कुतः?। 'अनादेशात्',—

भा. न किञ्चित् इह अतिदिश्यते,—इदं नाम फलम्—इति । अस्ति चेत्, विज्ञायेत । तस्मात् सर्वार्थम् अविज्ञेयात् ॥

स. एकं वा चोदनैकत्वात् ॥ १४ ॥ (सि०)

भा. 'एकं' फलं स्यात्, न 'वा' सर्वार्थम् । कुतः ? । 'चोदनैकत्वात्', साकाङ्क्षत्वात् एतत् अर्थिपदेन सम्बन्धते—इत्युक्तं, यच्चानेके-
नापि सम्बन्धुम् ज्ञप्नोति, तत् एकेन सम्बन्धते, एकेन सम्बद्धं सत्
निराकाङ्क्षं भवति, न तत् अपरेणापि सम्बन्धमर्हति । तस्मात्
एकैव कर्तव्यता—चोदना न्याय्या, तस्मात् एकफलता—इति ॥
(४ । ३ । ६ अ०) ॥

विश्वजिदादीनां स्वर्गफलताधिकरणम् ॥

स. स स्वर्गः स्यात्, सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥ १५ ॥
(सि०) ॥

भा. एवञ्जातीयकेष्वेवोदाहारणेष्वेतत् समधिगतम्,—एकं फलम्
—इति । इदम् इदानीं सन्दिश्यते,—किं यत्किञ्चित्, उत
स्वर्गः?—इति । यत्किञ्चित्—इति प्राप्तम्, विज्ञेयानभिधा-
नात्, तत उच्यते,—'स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्',
—सर्वं हि पुत्राः स्वर्गकामाः । कुतः एतत् ? । प्रीतिर्हि स्वर्गः,
सर्वञ्च प्रीतिं प्रार्थयते । 'किम् अतः' । यद्येवम्, अविज्ञेयवचनः
शब्दो न विज्ञेये व्यवस्थापितो भविष्यति, 'यजेत' 'कुर्यात्'—
इति । तस्मात् स्वर्गफलम् एवञ्जातीयकम्—इति ॥

स. प्रत्ययाच्च ॥ १६ ॥ (यु०) ॥

भा. भवति च,—अनादिष्टफले कर्मणि स्वर्गः फलम्—इतिप्रत्ययो
लोके, एवम् उच्यते,—आरामज्ञात् देवदत्तः, नियतोऽस्य स्वर्गः ;

भा. तडागद्यत् देवदत्तः, नियतोऽस्य स्वर्गः—इति । किम् अतो यद्येवम् ? । इत्यमनेन न्यायेन स्वर्गे सम्प्रत्ययो भवति, यस्मात् स्वर्गफलेषु कर्मसु कर्मथेषु फलवचनं नैव उच्चारयन्ति, गम्यते एव—इति । तस्मादपि अवगच्छामः, एवञ्जातीयकेषु स्वर्गः फलम्—इति ॥ (४।३।७ अ०) ॥

रात्रिसत्रस्यार्थवादिकफलकत्वाधिकरणम् ॥

(रात्रिसत्रन्यायः) ॥

स. क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत्कार्णाजिनिः ॥ १७ ॥ (पू०) ॥

भा. रात्रीः प्रकृत्य श्रूयते,—‘प्रतिष्ठन्ति ह वा एते, य एता उपयन्ति; ब्रह्मवर्षस्त्रिनोऽन्नादा भवन्ति, य एता उपयन्ति’—इति । तत्र सन्देहः,—किं ते फलार्थवादाः, उत फलविधयः ? —इति । किम् प्राप्तं ?—फलार्थवादाः—इति ‘कार्णाजिनिः’ मेने । कुतः ? । फलार्थवादसंज्ञा एते शब्दाः—इति । किं सा-रूप्यम् ? । विधिविभक्तेरभावः, ‘अङ्गवत्’, यथा, ‘यस्य खादिरः सुवो भवति, स च्छन्दसामेव रसेनावद्यति’—इत्येवमादिषु ॥

स. फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात् ॥ १८ ॥

(सि०) ॥

भा. ‘आत्रेयः’ पुनराचार्यः एवञ्जातीयकेभ्यः, ‘फलम्’ अस्ति—इति मेने, न, फलार्थवादः—इति । कुतः ? । अश्रुतफलत्वेऽप्य-मीषां, फलचोदनया वाक्यशेषभूतया भवितव्यं । तस्मात् अन्या व्यवहृता संती अथवहृता कल्पनीया, इयं त्वव्यवहृता कृतैव, प्रतिष्ठया ब्रह्मवर्षसत्तया च समभिव्याहार आसां प्रत्यक्षः, विधिविभक्तिमात्रमन्यतोऽपेक्ष्यम् ।

भा. 'आह—कथं केवलं विधिविभक्तिमात्रम् अन्यतो भविष्यति? यत्, अनेन प्रतिष्ठादिना धात्वर्थेन सम्भत्स्यते'—इति। उच्यते, —सह धात्वर्थेन, भविष्यति, न केवलं; तस्मात् अदोषः। अथ वा रात्रीणां या विधायिका विभक्तिः, सा इममपि प्रतिष्ठादिविशेषं विधास्यति प्रयोगवचनेन, स्तुतिर्वा सह प्रतिष्ठादिभिर्विधाची भविष्यति—इति ॥

स. अङ्गेषु स्तुतिः परार्थत्वात् ॥ १९ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—यथा 'यस्य खादिरः सुवो भवति'—इत्येवमादिषु फलश्रुतिः अर्थवादो भवति, एवम् इहापि स्यात्—इति, युक्तं तत्र फलार्थवादः, फलविध्यसम्भवात्, फलार्थवादसम्भवाच्च। तदुक्तं,—इत्थसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिः अर्थवादः स्यात् (४।३।१ सू०)—इति ॥ (४।३।८ अ०) ॥

काम्यानां यथोक्त—काम्यफलकत्वाधिकरणम् ॥

स. काम्ये कर्मणि नित्यः स्वर्गो यथा यच्चाङ्गे कत्वर्थः ॥
२० ॥ (पू०) ॥

भा. काम्यानि कर्माणि उदाहरणम्,—'सौख्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः'—इत्येवमादीनि—इति। तत्र सन्देहः,—किम् एषां स्वर्गः फलं कामस्य, उत काम एव?—इति। किं प्राप्तं?—'काम्ये कर्मणि नित्यः स्वर्गः स्यात्। कथं?। सर्वपुरुषार्थाभिधायी सामान्यवचनः शब्दः न विशेषे अवस्थापितो भवति, शक्यते हि अस्य दूरस्थेनापि स्वर्गकामशब्देन सम्बन्धः। 'आह, —'ननु विशेषकः शब्दः श्रूयते,—ब्रह्मवर्चसकामः'—इति। नैष विशेषकः, उपाधिकर एषः, यथा काष्ठान्याहृतुम् प्रस्थित उच्यते,—भवता ज्ञाकम् अपि आहर्त्तव्यम्—इति, काष्ठाहरणे

भा. शाकाहरणम् उपाधिः क्रियते—इति । किम् इदम् उपाधिः क्रियते?—इति । काष्ठाहरणाधिकारसमीपे द्वितीयं कर्मापधीयते, सति काष्ठाहरणे, इदम् अपरं कर्तव्यम्—इति । एवम्, इहापि स्वर्गफले फलमपरम् उपधीमते,—‘ब्रह्मवर्चसकामो यागेन स्वर्गमभिनिर्वर्त्तयेत्’—इति । न हि, तत्र ब्रह्मवर्चसफलवचनं स्वर्गफलस्य प्रतिषेधकं, ‘यथा, यज्ञाङ्गे क्रत्वर्थः’;—गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्—इति, यः पशुकामः स गोदोहनेन प्रणयनम् अभिनिर्वर्त्तयेत्—इति ॥

सू. वीते च कारणे नियमात् ॥ २१ ॥ (यु०) ॥

भा. ‘वीते च कारणे’, वीतायां फलेच्छायाम् अवाप्ते वा फले समाप्तिनियमो दृश्यते, दृष्टिकामेच्छां,—‘यदि वर्षेत् तावत्येव जुञ्जयात्, यदि न वर्षेत् श्वोभूते जुञ्जयात्’—इति, यदि न स्वर्गः, किमर्थः समाप्तिनियमो भवेत् । तस्मात् नित्यः स्वर्गः—इति ॥

सू. कामो वा तत्संयोगेन चोद्यते ॥ २२ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘कामो वा’ फलं भवेत्, न स्वर्गः, ‘तत्संयोगेन’ अस्य चोदना भवति, न स्वर्गकामसंयोगेन, आनुमानिकोऽस्य स्वर्गकामेन एकवाक्यभावः, प्रत्यक्षस्तु कामवचनेन, प्रत्यक्षं च अनुमानाद्भलीयः । तस्मात् काम एव फलम्—इति ॥

सू. अङ्गे गुणत्वात् ॥ २३ ॥ (आ० नि० १) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—यथा यज्ञाङ्गे—इति, युक्तं, ‘अङ्गे, गुणत्वात्’ । प्रत्यक्षः तत्र क्रतुना संयोगः, कामेन च,—‘यः पशुकामः स्यात्, स गोदोहनेन प्रणयनम् अभिनिर्वर्त्तयेत्’—इति ; न तु अत्र प्रत्यक्षः शब्दोऽस्ति,—यो ब्रह्मवर्चसकामः स्यात्, स यागेन

भा. स्वर्गमभिनिर्वर्त्तयेत्—इति । कथं तर्हि?—यो ब्रह्मवर्षसकामः स्यात्, स तत् यागेन निर्वर्त्तयेत्—इति । तस्मात् न अङ्गवत् भवितुमर्हति—इति ॥

ख. वीते च नियमस्तदर्थम् ॥ २४ ॥ (आ० नि० २) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—वीतयां फलेच्छायाम्, अवाप्ते वा फले समाप्ति-नियमो दृश्यते—इति । तत्र ब्रूमः,—‘वीते नियमः तदर्थं, वीते नियमो भवति, तस्मै प्रयोजनाय । कस्मै? । शिष्टाविगर्हणाय,—उपक्रम्य अपरिसमापयतः,—तदनन्तरमेवैनं शिष्टा विगर्हयेयुः,—प्राक्रमिकोऽर्थं कापुरुषः—इति वदन्तः; ये हि देवेभ्यः सङ्कल्प्य हविः, न यागमभिनिर्वर्त्तयन्ति, तान् शिष्टा विगर्हन्ते, तस्मात् अवश्यं समापयितव्यं, तत्र एतद्दर्शनं युक्तं भवित्यति,—‘यदि वर्षत् तावत्येव जुहुयात्’—इति । तस्मात् काम्यानां काम एव फलम्—इति ॥ (४।३।९ अ०) ॥

दर्शपूर्णमासादीनाम् सर्वकामार्थताधिकरणम् ॥

(इतः प्रभृति अधिकरणद्वयं दर्शपूर्णमासन्यायः) ॥

घ. सार्वकाम्यमङ्गकामैः प्रकरणात् ॥ २५ ॥ (पू०) ॥

भा. इदमाग्नायते,—‘एकस्मै वा अन्या इष्टयः कामाय आह्रियन्ते, सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ’, ‘एकस्मै वान्ये क्रतवः कामाय आह्रियन्ते, सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः’—इति । तत्र सन्देहः,—किम् अङ्गकामैः अङ्गाङ्गकामैश्च सह, अस्य अनुवादः, अथवा विधिः?—इति । किं प्राप्तम्?—अनुवादः—इति, यदेतत् ‘सार्वकाम्यं’, तदनूद्यते, अङ्गकामैश्च अङ्गाङ्गकामैश्च सह, सन्ति हि अङ्गकामाश्च अङ्गाङ्गकामाश्च, यथा ‘आह्वार्यपुरीषां पशुकामस्य

भा. वेदिं कुर्यात्, खननपुरीषां प्रतिष्ठाकामस्य—इत्येवमादयः, तथा,—‘यदि कामयेत, वर्षेत् पर्जन्यः’—इति नोचैः सदो मिनुयात्—इति, तत् विहितमेव इदमभिधीयते,—इत्यनुवादं न्याय्यम् मन्यामहे ॥

स. फलोपदेशो वा प्रधानशब्दसंप्रयोगात् ॥ २६ ॥

(सि०) ॥

भा. फलविधिर्वा । कुतः ? । प्रधानशब्देन फलसंयोगो भवति, —‘सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ’, ‘सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः’—इति च, प्रधानाभिधानेन च प्रधानस्य सर्वफलवत्ता विहिता । तस्मात् न अनुवादः । अथ अङ्गकामान् अङ्गाङ्गकामांश्चापेक्षते, तथा लक्षणशब्दः स्यात्, श्रुतिश्च लक्षणाया गरीयसी । तस्मात् प्रयोगवचनेन विधिः—इति ॥ (४ । ३ । १० अ०) ॥

दर्शपूर्णमासादीनां प्रति-फलं पृथगनुष्ठानाधिकरणम् ॥

(योगसिद्धिन्यायः) ॥

स. तत्र सर्वेऽविशेषात् ॥ २७ ॥ (पू०) ॥

भा. एवञ्जातीयकेषु एव उदाहरणेषु एतत् उक्तं—प्रधाने सर्वे कामानां विधिः—इति । इदम् इदानीं सन्दिश्यते,—किं सहात्-प्रयोगे सर्वे कामाः, उत पर्यायेण ?—इति । किं प्राप्तम् ?—सहात्प्रयोगे ‘सर्वे’ कामाः—इति । कथं ? । सर्वेषां कामानां दर्शपूर्णमासौ निमित्तं, ज्योतिष्टोमश्च—इति, निमित्तं चेत् सर्वेषां कामानां, कोऽत्र खलु कामो न भविष्यति ?—इति । तस्मात् यौगपद्येन सर्वे कामाः—इति ॥

स. योगसिद्धिर्व्यर्थस्योत्पत्त्यसंयोगित्वात् ॥ २८ ॥ (सि०) ॥

भा. न चैतदस्ति, सर्वे युगपत् कामाः—इति, पर्यायो 'योग-सिद्धिः', पर्यायेण भवेयुः कामाः—इति। कुतः?। 'अर्थस्य उत्पत्त्यसंयोगित्वात्' अर्था इमे कामा नाम, न सर्वे एव युगपत् उत्पद्यन्ते, असम्भवो युगपदुत्पत्तेः सर्वेषां, विरोधात्। अथ वा, 'उत्पत्त्यसंयोगित्वात्'—इति न, कामानामेतत् उत्पत्तिवचनम्, उत्पन्नानां लक्षणत्वेन वचनं, ये सर्वे कामास्तेभ्यो दर्शपूर्णमासौ ज्योतिष्टोमश्च—इति, न सर्वे कामाः कर्मणः श्रूयन्ते, ये सर्वे कामास्तेभ्यो हि कर्म विधीयते। तस्मात् न कामानां साहित्यं गम्यते—इति ॥ (४।३।११ अ०) ॥

एवं वा,—

काम्यानामैहिकामुष्मिकफलवत्त्वाधिकारणम् ॥

(वर्णकान्तरम्) ॥

स. तच्च सर्वैऽविशेषात् ॥ २७ ॥ (पू०) ॥

भा. काम्यानि कर्माणि उदाहरणम्,—'सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्म-वर्षसकामः, ऐन्द्राग्रमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः, चित्रया यजेत पशुकामः, वैश्वदेवो साङ्गघ्नायणी* निर्वपेत् घामकामः'—इति, तेषु सन्देहः,—किम् इह लोके कामाः, उत अमुष्मिन् लोके?—इति। किं प्राप्तम्?—'तच्च' (अमुष्मिन् लोके) कामाः, 'अविशेषात्', यथा स्वर्गः, एवम् इमेऽपि, न हि, अनन्तरनिर्दत्ते कर्माणि फलम् उपलभ्यते पशवादि, यच्च अनन्तरम् उपलभ्यते, तत् ततः—इति विज्ञायते, यथा यत्कालं मर्दनं, तत्कालं मर्दन-

* सायहिणीम् इति आ० सो० पु० पाठः।

भा. सुखं ; यच्च कालान्तरे उपलभ्यते, तस्याप्यन्यदेव कारणं प्रत्यर्क्षं, शरीरग्रहणस्य तु न अदृष्टादृते किञ्चित् कारणमस्ति । तस्मात् विशिष्टेन्द्रियशरीरादि फलं पशुसम्बन्धसमर्थं पशुफलात् कर्मणो भवति—इत्येवं बोद्धव्यम् । तद्धि दर्शयति,—‘कैकयो यश्च विवित्सन् दालभ्यम् उवाच अनया मा राष्ट्रप्रतिपादनीयया इच्छा याजयेति, सोऽब्रवीत् न वै सौम्य राष्ट्रप्रतिपादनीयां वेत्थ, अमुष्मै कामाय यज्ञा आश्रियन्ते’—इति जन्मान्तरफलतां दर्शयति । तस्मात् जन्मान्तरफलानि काम्यानि—इति ॥

स. योगसिद्धिर्व्यर्थस्योत्पत्त्यसंयोगित्वात् ॥ २८ ॥
(सि०) ॥

भा. इह एवेषां सिद्धिः योगस्य, उत्पत्त्या योगो न सम्भवति, यः पशुभ्यः कामयते, स एतेन यागेन कुर्वात्—इति, न अत्रैतत् गम्यते,—इह जन्मनि न सम्भवति—इति । यच्च, —अनन्तरं नोपलभ्यते—इति, तन्न, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां न गम्यते, शब्देन त्वस्ति गतिः । यत्तु,—कालान्तरेऽन्यत् कारणम्—इति, न एष दोषः, अन्यदपि भविष्यति एतदपि । यच्च, —‘अमुष्मै कामाय यज्ञा आश्रियन्ते’—इति, अत्र उच्यते,—एवम् अस्य ऋषेर्मतम्,—इह यस्य फलं तेन त्वां न याजयामि, यस्य अमुच्च फलं तेन च याजयिष्यामि—इति । तस्मात् एतत् परिहृतम्—इति ॥ (४।३।१२ अ०) ॥

सौभामण्यादीनां चयनाद्यङ्गताधिकरणम् ॥

स. समवाये चोदनासंयोगस्यार्थवत्त्वात् ॥ २९ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘अग्निं चित्वा सौभामण्या यजेत, वाजपेयेन इहा वृहस्पति-

भा. सवेन यजेत'—इति । तत्र सन्देहः,—किम् अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः एषः, उत कालार्थः संयोगः?—इति । अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः—इति ब्रूमः,—एवं हि श्रुतिविनियुक्तोऽर्थः, इतरथा कालो लक्ष्येत, श्रुतिलक्षणाविज्ञये च श्रुतिन्याय्या न लक्षणा । तस्मात् अङ्गप्रयुक्तं सौचामणी, वाजपेयाङ्गं दृष्टस्पतिसवः—इति ॥

स. कालश्रुतौ काल इति चेत् ॥ ३० ॥ (आ०) ॥

भा. एवं चेत् पश्यसि,—अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः—इति, अथ काल-विधानं कस्मात् न भवति? कालविधिरूपो हि शब्दः 'चित्वा' (चयनेऽभिनिर्दृत्ते)—इति ॥

स. नासमवायात्प्रयोजनेन स्यात् ॥ ३१ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. 'न' एतदेवम्, 'असमवायात्' शब्द—'प्रयोजनेन' (शब्दार्थेन—इत्यर्थः),—शब्दार्थस्त्वयनं, तेन असमवायः स्यात् सौचामण्या, वाजपेयेन च दृष्टस्पतिसवस्य ; प्रकरणं च बाधेत, अङ्गप्रकरणे श्रूयमाणः अङ्गधर्मो गम्यते यागः, वाजपेयप्रकरणे च वाजपेयस्य, इतरथा, तयोः प्रकरणेऽन्यस्य धर्मः कालो गम्येत । तस्मात् अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः—इति ॥ (४।३।१३ अ०) ॥

वैमृधादेः पौर्णमास्याद्यङ्गताधिकरणम् ॥

स. उभयार्थमिति चेत् ॥ ३२ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोरामनन्ति,—'संस्थाप्य पौर्णमासीं वैमृधमनु-निर्वपति'—इति । तत्र सन्देहः,—किम् उभयाङ्गं वैमृधः, कालार्थः पौर्णमासीसंयोगः ; उत अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः?—इति । किं प्राप्तम्?—एवं चेत् उभयार्था वैमृधः । कुतः? । प्रकरणे

भा. उभयोः आम्नानसामर्थात्, कालविधिसारूप्याच्च 'संस्थाप्य'
—इति ॥

स. न शब्दैकत्वात् ॥ ३३ ॥ (सि०) ॥

भा. एकः शब्दः,—'अनुनिर्वपति'—इति, एकस्मिन् एव वाक्ये न
दो सम्बन्धौ ब्रह्मोति विधातुम्,—वैमृधस्य दर्शपूर्णमासाभ्यां,
पूर्णमासीकालेन च । एकार्थत्वात् हि एकं वाक्यं समधिगतम् ॥

स. प्रकरणादिति चेत् ॥ ३४ ॥ (आ०) ॥

भा. प्रकरणात्—इति यदुक्तं,—तत्परिहर्तव्यम् ॥

स. नोत्पत्तिसंयोगात् ॥ ३५ ॥ (सि०) ॥

भा. नैतदेवम्,—एतदेव वैमृधस्य उत्पत्तिवाक्यं, तत् दर्शपूर्ण-
मासाभ्यां वा प्रकरणात् एकवाक्यभावमियात्, प्रत्यक्षं वा
पौर्णमास्या, तत्र प्रत्यक्षसंयोगः प्रकरणात् बलवान्, प्रत्यक्षस्य
पौर्णमास्या संयोगः, परोक्षः कालेन, तस्मात् पौर्णमास्या अङ्गं
वैमृधः—इति ॥ (४।३।१४ अ०) ॥

अनुयाजादीनामाग्निमासतोर्द्धकालताधिकरणम् ॥

स. अनुत्पत्तौ तु कालः स्यात्प्रयोजनेन सम्बन्धात् ॥

३६ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'आग्निमासतात् ऊर्द्धम् अनुयाजैश्चरन्ति',
'प्रहृत्य परिधीन् जुहोति हारियोजनम्'—इति । तत्र सन्देहः,
—किम् अङ्गम् विधीयते, उत कालः?—इति । अङ्गविधाने
श्रुतिः, कालविधाने लक्षणा, तस्मात् अङ्गविधानम्—इति प्र. भे.

भा. ब्रूमः,—अनुत्पत्तिवाक्ये 'कालः स्यात्', अग्निमासतं सोमाङ्गम्, अनुयाजाः पशवङ्गं, तत्र न तयोः परस्परेण सम्बन्धः। तथा, परिधयः पशवङ्गं, हारियोजनम् अन्यदेव प्रधानम्। अनुयाजः अग्निमासतं च प्राप्तम्, आनन्तर्यमेव तयोर्न प्राप्तं, तत् विधीयते ; तथा, हारियोजनस्य परिधिप्रहरणस्य च। एवं च सति, न हारियोजनस्य परिधिप्रहरणेन कश्चित् उपकारः क्रियते, हारियोजनेन वा परिधिप्रहरणस्य। 'ननु परिधिप्रहरणस्य उपरिष्ठाङ्गवेन तस्य उपक्रियेत'—इति। उच्यते, न हि उपरिभावार्थं परिधिप्रहरणम् अनुष्ठेयम्, विद्यते एव एतत् पशवर्थं, तस्मिंश्च सति तस्य उपरिभावो विद्यते एव—इति। तस्मात् कालार्थः सम्बन्धः—इति ॥ (४।३।१५ अ०) ॥

सोमादीनां दर्शपूर्णमासोत्तरकालताद्यधिकरणम् ॥

स. उत्पत्तिकालविशये कालः स्याद्वाक्यस्य तत्प्रधान-
त्वात् ॥ ३७ ॥

भा. इदम् आग्नायते,—'दर्शपूर्णमासौ इहा सोमेन यजेत'—
इति। तत्र सन्देहः,—किम् एतत् अङ्गस्य विधानम्, उत
कालस्य?—इति। किं प्राप्तम्?—श्रुतेः अङ्गस्य। इति प्राप्ते
उच्यते,—अस्मिन् कालाङ्गविधानसंग्रहे 'कालः स्यात्, वाक्यस्य
तत्प्रधानत्वात्', कालप्रधानं हि एतत् वाक्यं, न यागविधान-
परम्, अतत्परतास्य, रूपावचनात्। कथं रूपावचनम्?।
देवताभावात्। कथम् अभावः?। अश्रुतत्वात्, या हि यस्य
श्रूयते, सा तस्य देवता भवति, श्रुत्या हि देवता गम्यते, न
प्रत्यक्षादिभिः। तस्मात् न अपूर्वस्य यागस्य विधानं, कालार्थं
अनुवादे न अयं दोषः,—विहितदेवताको हि अनूयते। तस्मात्

भा. अत्र कालार्थः सम्बन्धः—इति । तच्च दर्शयति—‘एष वै देवरथो यत् दर्शपूर्णमासौ, यद्दर्शपूर्णमासाविद्धा सोमेन यजते, रथस्पष्ट एव अवसाने वरे देवानामवस्थति*’—इति, प्रदर्शिते मार्गे रथेन यातुम् सुखं भवति, एवं दर्शपूर्णमासाविद्धा सोमेन यष्टुम् सुखं भवति, दर्शपूर्णमासप्रहृतीनि तस्य दीक्षणीयादीनि स्वभ्यस्तानि भवन्ति, एवम् अर्थवादोऽर्थवान् भवति ॥ (४।३। १६ अ०) ॥

वैश्वानरेष्टेः पुत्रगतफलकत्वाधिकरणम् ॥

(इतः प्रवृत्ति अधिकरणद्वयं जातेष्टिन्यायः) ॥

स. फलसंयोगस्त्वचोदिते न स्यादशेषभूतत्वात् ॥ ३८ ॥

भा. ‘वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते’—इति । तच्च सन्देहः,—किम् आत्मनिःश्रेयसाय, उत पुत्रनिःश्रेयसाय?—इति । आत्मनिःश्रेयसाय—इति ब्रूमः,—न इमानि फलदानि परस्य भवन्ति कर्माणि । कुतः?। आधाने आत्मनेपदनिर्देशात्, यथा,—‘यदि एकं कपालं नश्येदेको मासः संवत्सरस्य अपेतः स्यात्, अथ यजमानः प्रमीयेत द्वावापृथिवीयम् एककपालं निर्वपेत् । यदि द्वे नश्येयातां, द्वौ मासौ संवत्सरस्य अपेतौ स्यातां, अथ यजमानः प्रमीयेत आश्विनं द्विकपालं निर्वपेत्, सङ्करायोद्वासयति यजमानस्य गोपीधाय’—इति, कपालनाशे निमित्ते आत्मनिःश्रेयसफलं कर्म दर्शयति ; एवम् इहापि द्रष्टव्यम्, तस्मात् आत्मनिःश्रेयसम्—इति ।

* यो दर्शपूर्णमासाविति माधवीयन्यायमालायां पाठः । अवसाने निश्चिते, वरे मार्गे इति माधवः ।

भा. — एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘फलसंयोगो’ न स्यात् पितुः, फलवचनं श्लेषभूतं पुत्रस्य, न पितुः। कथम्?। एवं श्रूयते,—‘वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते, यत् अष्टाकपालो भवति, गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्षसेन पुनाति, यत् नवकपालो भवति, चित्तैवास्त्रिंस्तेजो दधाति, यत् दशकपालो विराजैवास्त्रिन् अस्त्राद्यं दधाति, यत् एकादशकालः चिष्टुभैवास्त्रिन् इन्द्रियं दधाति, यत् द्वादशकपालो जगत्यैवास्त्रिन् पशून् दधाति। यस्त्रिन् जाते एताम् इष्टिं निर्वपति, पूत एव स तेजस्वी अस्त्राद् इन्द्रियावी पशुमान् भवति’—इति, यो जातः, तत्र फलं श्रूयते, नास्ति वचनस्य अतिभारः। तस्मात् पुत्रस्य फलम्—इति।

यदुक्तं,—न परस्य फलदान्येतानि कर्माणि—इति, तदुच्यते, यत् पुत्रस्य फलम्, आत्मनः सा प्रीतिः, तस्मात् आत्मनेपदं न विरुध्यते, एतामेव आत्मनः प्रीतिमभिप्रेत्य भवति वचनम्,—‘आत्मा वै पुत्रः’—इति,

‘अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादभिजायसे।

आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्’—
इति ॥

स. अङ्गानान्तूपघातसंयोगो निमित्तार्थः ॥ ३६ ॥

(आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—‘यदि एकं कपालं नश्येत्’—इत्येवमादि। तत्र उच्यते,—‘अङ्गानाम् उपघातसंयोगो निमित्तार्थः’ उपपद्यते, नान्यथा, न हि, कपाले नष्टे तदन्वेषणार्था इष्टिर्युक्ता, न हि, काकिन्यां नष्टायां तदन्वेषणं कार्षापणेन क्रियते ॥ (४।३। १७ अ०) ॥

एवं वा,—

• वैश्वानरेष्टेर्जातकर्मात्तरकालताधिकरणम् ॥

सू. अज्ञानान्तूपघातसंयोगो निमित्तार्थः ॥ ३६ ॥

भा. 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते'—इति । तच्च सन्देहः,—किं जातमात्रे, उत ह्यते जातकर्मणि?—इति । जातमात्रे—इति ब्रूमः,—सम्प्राप्ते हि निमित्ते नैमित्तिकेन भवितव्यम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—ह्यते जातकर्मणि—इति । कुतः? । सामर्थ्यात्, ह्यते हि जातकर्मणि प्राञ्जनं तस्य विधोयते, यदि प्राक् जातकर्मणः, इष्टिः क्रियते, प्राञ्जनकालो विप्रहृष्येत, तच्च अस्य शरीरधारणं न स्यात्! अथ यदुक्तम्,—सम्प्राप्ते निमित्ते हि नैमित्तिकेन भवितव्यमिति । उच्यते,—'अज्ञानान्तूपघातसंयोगो निमित्तार्थः',—'उपघातः' पुत्रजन्म, तत् भूतं निमित्तम्, न तत्कालोद्भूतम्, तच्च निमित्तम्, ह्यतेऽपि जातकर्मणि नापैति । इतरस्मिन् पक्षे कालोऽपेयात्, लक्षणा चास्मिन् पक्षे स्यात् । तस्मात् ह्यते जातकर्मणि—इति ।

"अथ किमन्तर्द्वाहे यस्मिन्-कस्मिन् वा अहनि, उत स्वकाले?—इति । किम् प्राप्तम्?—यस्मिन्-कस्मिन् वा अहनीति,—एवम् अनियमः प्राप्तः । अत्रोच्यते,—पौर्णमास्याममावास्यायां वा । कुतः? । श्रुतेः, एवं हि श्रूयते,—'य इद्वा पशुना सोमेन वा यजेत, स पौर्णमास्याम् अमावास्यायां वा यजेत'—इति । नातिभारो वनस्य, इतरस्मिन् पक्षे कालोऽपेयात्! लक्षणाप्यस्मिन् पक्षे स्यात्! अन्यस्यां तिथावन्तर्द्वाहे वा कुर्वन् सर्वानि अज्ञानि उपसंहर्तुम् न शक्नुयात्! कालं श्रौचश्च

* एतच्च अधिकरणान्तरमिति माधवाभिप्रायः ॥

भा. नोपसङ्गहीयात्! तस्मात् अतीते दशाहे षोर्णमास्याममा-
वास्यायां वा कुर्यात्—इति ॥ (४।३।१८ अ०) ॥

सौत्रामण्याद्यङ्गानां स्वकालकर्त्तव्यताधिकरणम् ॥

स. प्रधानेनाभिसंयोगादङ्गानां मुख्यकालत्वम्* ॥

४० ॥ (पू०) ॥

भा. 'अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत', 'वाजपेयेन इद्वा
दृष्टस्पतिसवेन यजेत'—इति, अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः—इत्युक्तम्,
एतत् इदानीं सन्दिश्यते,—किं चितमाचे, तत्रमथे एव कर्त्तव्यम्,
उत स्वकाले कर्त्तव्यम्?—इति, तथा वाजपेये किं दृष्टस्पतिसवे,
उत स्वकाले?—इति। 'मुख्यकालत्वम्' अनयोः स्यात्। कुतः?।
प्रधानकालत्वात् 'अङ्गानाम्', एको हि कालः प्रधानानाम्
अङ्गानां च—इति वक्ष्यते,—'अङ्गानि तु विधानत्वात् प्रधानेन
उपदिश्येरन्'—इति, अग्निचयनं कृत्वा न तावति एव स्यातव्यं,
सौत्रामणोसंज्ञकोऽपरो यागः कर्त्तव्यः—इति। तथा, वाजपेयम्
अभिनिर्वर्त्य न एतावता कृती स्यात्, दृष्टस्पतिसवसंज्ञकं यागम्
अभिनिर्वर्त्तयेत्—इति ॥

स. अपष्टत्ते तु चोदना तत्सामान्यात् स्वकाले स्यात् ॥

४१ ॥ (सि०) ॥

भा. 'अपष्टत्ते' यागे चोद्यते यागान्तरम् इदम्, अपष्टत्तिश्च सर्वेषु
यागाङ्गेषु अकृतेषु न भवति†, न, यथा भवान् मन्यते,—

* इदञ्च अधिकरणम् वार्तिक-तत्परम-शास्त्रदीपिकाषु अत्र नोद्धि-
खितम् ॥

† कृतेषु भवति इति का० क्री० पु० पाठः ॥

भा. यागमात्रे निर्दृष्टे—इति । कुतः ? । करणविभक्त्या संयोगात्,—
 'वाजपेयेन इच्छा' (वाजपेयेन फलस्य व्यापारं कृत्वा), साङ्गेन
 च व्यापारो गम्यते न निरङ्गेन, भवेत् तस्मिन् प्रयोगः, यदि
 वाजपेयम् अभिनिर्वर्त्य—इतीप्सितभावो वाजपेयस्य स्यात्,
 ततः प्रधानमात्रं वाजपेयसंज्ञकम् अभिनिर्वर्त्य—इति गम्येत,
 न तु एवमस्ति । तस्मात् यथोक्तानि सर्वाण्यङ्गानि कृत्वेत्यर्थः ।
 एवं चेत्, निर्दृष्टे प्रयोगे, अतिक्रान्ते वाजपेयकाले यागः प्रयुज्यते,
 तस्य चोदनासामान्यात्, ज्योतिष्टौमिके विध्यन्ते प्राप्ते स्वेन
 चोदकप्राप्तेन कालेन भवितव्यम्, सौत्रामण्याः चोदनासामा-
 न्यात्, दर्शपूर्णमासकालेन—इति ।

'आह,—'वाजपेये तावत् 'इद्धा'—इतिवचनात् यागम्
 अभिनिर्वर्त्य—इति गम्यते, अग्नौ तु नोपपद्यते, तत्र 'चित्वा'—
 इतिवचनात् चयनम् अभिनिर्वर्त्य—इत्यर्थः स्यात् । उच्यते,
 —नैतदेवम्,—'अग्निं चित्वा'—इति हि श्रूयते, (अग्निं चयनेन
 संस्तव्य—इत्यर्थः), 'अग्निः'—इति उवल्लनोऽभिधीयते, न तस्य
 स्थलस्थापनमात्रम् उपकारः, यदि स्थलस्थिते यागो भवति,
 ततश्चयनेन अग्नेः उपकारोऽस्ति, 'तमभिनिर्वर्त्य'—इति स्थल-
 स्थितेऽग्नौ यागमभिनिर्वर्त्येति गम्यते, यावत् स्थलस्थितेऽग्नौ
 यागो न भवति, न तावदाग्निः चयनेनोपक्रियते । येन अग्नि-
 र्यजमानस्य उपकरोति, सोऽग्निरुपकारो न स्थलस्थापनमात्रम् ।
 तस्मात् तत्रापि यागम् अभिनिर्वर्त्य—इति गम्यते ॥ (४) ३ ।

• १६ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये चतुर्थस्थाध्यायस्य
 तृतीयः पादः समाप्तः ॥

चतुर्थे अध्याये चतुर्थः पादः ॥



राजसूयेज्यानां विदेवनाद्यङ्गकत्वाधिकरणम् ॥

ख. प्रकरणशब्दसामान्याञ्चोदनानामनङ्गत्वम् ॥ १ ॥
(पू०) ॥

भा. सन्ति अनुमत्यादीनि ऐष्टिकानि कर्माणि,—मल्हादयः पशवः, पवित्रादयः सोमाः, वाल्मीकवपायां ह्योमः—इत्येषामादीनि दार्ष्टिकानि; तथा,—‘यष्टौह्रीं दीचति, राजन्यं जिनाति, शौमःश्रेणमाख्यापयति अभिषिचते*’—इति, एतेषां सन्निधौ श्रूयते,—‘राजसूयेन खाराज्यकामो यजेत’—इति, स एव रूपवतां यागानां सन्निधौ अरूपः शब्दः श्रूयमाणः समुदायवाचकः समधिगतः। तत्र सन्देहः,—किं सर्वेषाम् अनुमत्यादीनां समुदायस्य राजसूयशब्दो वाचकः, उत केषाञ्चिद्वचकः केषाञ्चित् न?—इति। किं प्राप्तम्?—सर्वेषां वाचकः—इति। कुतः?। ‘प्रकरणशब्दसामान्यात्,—प्रकरणशब्दः सर्वेषां समानो राजसूयेन—इति, राजा तत्र सूयते, तस्मात् राजसूयः, राज्ञो वा यज्ञो राजसूयः, तत् प्रकरणसन्निधाने सति, विशेषभावे च सर्वेषां वाचको भवितुमर्हति, यस्य राजसूयशब्दितः ततः फलं भवति। तस्मात् सर्वाणि प्रधानानि—इति ॥

* मल्हा मधिगच्छतनयुक्ता। यावता वयसा मृष्टे भारं वोढुं शक्तिर्भवति तावदयस्का यष्टौह्री इति माधवः। ‘यष्टौह्रीम्’ इत्यत्र ‘मष्टौह्रीः’ इति आ० सो० पु० पाठः। एवं परत्र ॥

स. अपि वाङ्मनिज्याः स्यस्ततो विशिष्टत्वात् ॥ २ ॥
(सि०) ॥

भा. 'अपि वा'—इति पक्षस्थावृत्तिः। या 'अनिज्याः' ता 'अङ्गं', यथा विदेवनादयः, 'राजसूयसंज्ञकेन यागेन खाराज्यं कुर्यात्'—इत्युच्यमाने यागेनैव खाराज्यं साध्यते, न अयागेन, अयागाच्च विदेवनादयः। तस्मात् अङ्गं भवेयुः, इज्यानां फलवतीनां श्रूयमाणाः—इति ॥ (४।४।१ अ०) ॥

विदेवनस्य ह्यत्स्वरारस्ययाङ्गताधिकरणम् ॥

स. मध्यस्थं यस्य तन्मध्ये ॥ ३ ॥ (पू०) ॥

भा. राजसूयेऽभिषेचनीयमध्ये 'यष्टीर्ही दीव्यति'—इति विदेवनादयः समाह्वनाताः, ते किम् अभिषेचनीयस्य अङ्गम्, उत ह्यत्स्वस्य राजसूयस्य?—इति संशयः। उच्यते,—मथाह्वानात् अभिषेचनीयस्य—इति, तथा आनन्तर्यम् अनुग्रहीष्यते—इति ॥

स. सर्वासां वा समत्वाच्चोदनातः स्यान्नहि तस्य प्रकरणं
देशार्थमुच्यते मध्ये ॥ ४ ॥ (सि०) ॥

भा. 'सर्वासां' चानुमत्यादीनां चोदनानामङ्गं विदेवनादि स्यात्। कुतः?। 'चोदनातः' 'समत्वात्', समाना एता अनुमत्याद्या-च्चोदनाः, ताः सर्वाः फलवत्यश्च प्रधानभूताः; सर्वासाम् आसां 'प्रकरणं', 'न हि' अभिषेचनीयस्य केवलस्य। क्रमात् अभिषेचनीयस्य प्राप्नुवन्ति, प्रकरणात् सर्वासां, प्रकरणं च क्रमाद्गोलीयः। तस्मात् न अभिषेचनीयस्य केवलस्य—इति, अभिषेचनीयस्य तु मध्ये स्थानं विदेवनादीनां, तत्र क्रियमाणाः सर्वासाम् उप-कुर्वन्ति—इति ॥ (४।४।२ अ०) ॥

सौम्यादीनामुपसत्कालकत्वाधिकरणम् ॥

स. प्रकरणाविभागे च विप्रतिषिद्धं ह्युभयम् ॥ ५ ॥
(पू०) ॥

भा. राजसूये उपसदः प्रकृत्य श्रूयते,—‘पुरस्तात् उपसदां सौम्येन प्रचरन्ति, अन्तरा त्वाङ्घ्रिण, उपरिष्ठात् वैष्णवेन’—इति । तत्र सन्देहः,—किम् उपसदङ्गं सौम्यादयः, उत उपसत्कालाः?—इति । उपसदङ्गम्—इति ब्रूमः । कुतः? । उपसत्संयोगस्य श्रुतत्वात्, कालविधौ सति लक्षणा स्यात्, तस्मात् उपसदङ्गम्—इति ।

‘ननु कालवत् अङ्गम् भविष्यति, तथा सति उभयम् अनु-
गृह्येत,—उपसत्संयोगश्च, ‘पुरस्तात्’—इति च कालाभिधानम्,
उपसच्छब्दसंयोगात् उपसदङ्गता भविष्यति, पुरस्ताच्छब्दसाम-
र्थ्याच्च पूर्वादिषु प्रयोगः’—इति । उच्यते,—‘विप्रतिषिद्धं हि
उभयं,—न ज्ञोति ‘उपसदाम्’—इत्येष शब्दः, सौम्यादींश्च
विश्लेषुम्, एकस्मिन् वाक्ये, पूर्वादींश्च, भिद्येत हि तथा वाक्यम् ।
तस्मात् न कालवत् अङ्गम् ॥

स. अपि वा कालमात्रं स्याददर्शनाद्विशेषस्य ॥ ६ ॥
(सि०) ॥

भा. ‘अपि वा’—इति पक्षत्यावृत्तिः । ‘कालमात्रं स्यात्’, न
अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः । कुतः? । ‘अदर्शनाद्विशेषस्य’,—न अन्यैः
कालाभिधानैः अस्य कश्चित् विशेषो लक्ष्यते, ‘आग्निमासतात्
ऊर्द्धम् अनुयाजैश्चरन्ति’—इत्येवमादिभिः, अत्रापि हि सौम्या-
दयो विहिता उपसदोऽपि, इदम् आनुपूर्वम् अविहितम्, तत्
विधीयते । तस्मात् कालमात्रम्—इति ॥ (४।४।३ अ०) ॥

आमनहोमानां साङ्ग्यहायण्यङ्गताधिकरणम् ॥

सू. फलवद्वोक्तहेतुत्वादितरस्य प्रधानं स्यात् ॥ ७ ॥

भा. 'वैश्वदेवो साङ्ग्यहायणीं निर्वपेत् ग्रामकामः'—इति । तत्र आमनहोमाः श्रूयन्ते,—'आमनस्य'*—इति तिस्र आहुतीर्जुहोति—इति । अत्र सन्देहः,—किम् समप्रधानभूता आमनहोमाः साङ्ग्यहायणीष्या, उत अङ्गम् तस्याः?—इति । किं प्राप्तम्?—समप्रधानभूताः—इति । कुतः? । तुल्यहेतुत्वात् इतरस्य, तुल्यं हि यजिमस्त्वं । 'ननु अफला होमाः' । उच्यते,—'ग्रामकामः'—इति अत्र अनुषज्यते । तस्मात् समप्रधानभूताः—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'फलवत् वा उक्तहेतुत्वात् इतरस्य प्रधानं स्यात्,—न चैतदस्ति,—समप्रधानभूताः होमाः इष्या—इति, फलवत् हि अफलस्य प्रधानम्, फलवती चेष्टिः, अफला होमाः ।

'ननु उक्तम्,—अनुषङ्गो भविष्यति'—इति । उच्यते,—न अनुषङ्गः प्राप्नोति । कुतः? । अवायात्, तदुक्तं, (२।१।४८ सू०) —'अवायात् न अनुषज्येत'—इति । केन अवायः? । परिधिमद्वैः,—'उपोऽस्ययस्त्वं देवेष्वधुपोऽहं सजातेषु भूयासं प्रियः सजातानाम् उपश्चेत्ता वसुवित्'—इत्येवमादिभिः, एतान् अनुक्रम्य, 'आमनस्य'—इति तिस्र आहुतीर्जुहोति—इत्यामनन्ति । तस्मात् साङ्ग्यहायण्या अङ्गम् आमनहोमाः—इति ॥ (४।४।४ अ०) ॥

* आमनस्यामनस्य देवा इति क० सं० पु० पाठः । आमनमस्यामनस्य देवा इति का० क्री० पु० पाठः ॥

दधियद्दस्य नित्यताधिकरणम् ॥

घ. दधिग्रहो नैमित्तिकः श्रुतिसंयोगात् ॥ ८ ॥ (१म पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘यां वै काञ्चित् अभ्यर्च्यंश्च यजमानश्च देवतामन्तरितः, तस्या आष्टश्वेत, यत् प्राजापत्यं दधियद्दं गृह्णाति, श्रमयत्येवैनाम्’—इति । तत्र सन्देहः,—किं नित्यो दधियद्दः, उत नैमित्तिकः?—इति । किं प्राप्तम्?—‘दधिग्रहो नैमित्तिकः’ स्यात् ‘श्रुतिसंयोगात्’, देवतामन्तराये निमित्ते श्रूयते, न च नित्यः अन्तरायः । तस्मात् नैमित्तिकः—इति ॥

घ. नित्यश्च ज्येष्ठशब्दात् ॥ ९ ॥ (२य पू०) ॥

भा. यदुक्तम्,—नैमित्तिकः—इति, तत् गृह्यते, किन्तु ‘नित्यश्च’ । कुतः? । ‘ज्येष्ठशब्दात्’, ज्येष्ठशब्दो भवति,—‘ज्येष्ठो वा एष प्रधानां यस्य एष गृह्यते, ज्यैष्ठ्यमेव गच्छति’—इति, ज्येष्ठशब्दश्च प्राधान्ये प्राथम्ये वा स्यात्. एष प्रथमः, न प्रधानम् । यदि नित्यः, एवं प्रशस्यत्वात् उपपद्यते, न जातु चलाचलं हि प्रशंसन्ति । तस्मात् नित्यश्च नैमित्तिकश्च—इति, विनापि निमित्तेन ग्रहीतव्यः, निमित्तेनापि पुनर्—इति ॥

घ. सार्वरूप्याच्च ॥ १० ॥ (यु०) ॥

भा. सर्वरूपता च श्रूयते,—‘सर्वेषां वा एतद्देवानां रूपं यदेष ग्रहो यस्य एष गृह्यते सर्वाण्येवैनं रूपाणि पशूनाम उपतिष्ठन्ते’—इति, न हि देवतारूपम् अस्माकं किञ्चिदन्यत् प्रत्यक्षम्, अन्यत् अतो नित्यत्वात् । तस्मात् अपि नित्यश्च नैमित्तिकश्च—इति ॥

स. नित्यो वा स्यादर्थवादस्तयोः कर्मण्यसम्बन्धाद्भक्ति-
त्वाच्चान्तरायस्य ॥ ११ ॥ (सि०) ॥

भा. यदुक्तम्,—नित्यो नैमित्तिकश्च—इति, तत्र, 'नित्यः' एव
'स्यात्', ज्येष्ठशब्दात् सार्वरूप्याच्च । यदुक्तं,—देवतान्तराये
निमित्ते श्रूयते—इति, न देवतान्तरायो निमित्तत्वेन गम्यते ।
'तयोः' (अभ्यर्चयमानयोः) 'कर्मणि' अन्तरायेण 'असम्बन्धात्',
—न हि एतत् श्रूयते,—अभ्यर्चुणा देवता अन्तरितया यज-
मानेन वा—इति, अनित्यो हि अन्तरायः । न च, एवं-
ज्जदोऽस्ति,—अन्तराये सति दधियहो यहीतथाः—इति, विनैव
संयोगेन, दधियहस्य यहणम्, अन्तरायसमाधानं त्वस्य प्र-
योजनम्—इति, तदेतत् नित्यवत् यहणम्, अनित्यं प्रयोजनम् ।
नित्यं गृह्णीयात्, अनित्यम् अन्तरायं समाधातुम्—इति न
अवकल्पते, तत्र प्रयोजने अनित्यत्वात् यहणे नित्यवत्श्रुति-
र्बाधेत, अर्थवादत्वे तु न बाधते, न हि तत् अन्तरायं समा-
धातुम् गृह्णते, अन्यदेव प्रयोजनम् अस्यास्ति—इति प्रशंसितुम्
अभिधीयते । दधियहस्य तु सोमाङ्गतैव प्रयोजनम्—इति ।

'भक्तित्वाच्च अन्तरायस्य',—भङ्गी च अन्तरायोऽनित्यो नित्य-
प्रशंसार्थं सङ्कीर्त्यते । तस्मात् न एष दोषः, नित्य एव दधियहः
—इति ॥ (४।४।५ अ०) ॥

वैश्वानरस्य नैमित्तिकत्वाधिकरणम् ॥

स. वैश्वानरश्च नित्यः स्यान्नित्यैः समानसङ्ख्यात्वात् ॥
१२ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति अग्निः,—'य एवं विद्वानग्निञ्चिनुते'—इति । तत्र
श्रूयते,—'यो वै संवत्सरमुख्यमभृत्वाग्निञ्चिनुते, यथा सामिगर्भो

भा. विपद्यते, तादृगेव तदार्त्तिमाच्छेत्, वैश्वानरं द्वादशकपालं पुर-
स्तात् निर्वपेत्, संवत्सरो वाग्निर्वैश्वानरो, यथा संवत्सरमाप्त्वा
काले आगते विजायते, एवमेव संवत्सरमाप्त्वा काले आगते-
ऽग्निश्चिनुते नार्त्तिमृच्छेत्—इति, एषा वाग्नेः प्रिया तनूर्स्यत्
वैश्वानरः, प्रियामेवास्य तनूमवकन्धे—इति । तत्र सन्देहः,—
किं नित्यो वैश्वानरः, अथ नैमित्तिकः ?—इति । किं प्राप्तम् ?
—अत्रापि 'नित्यः' एव । अर्थवादः,—उत्पन्नस्य संवत्सराभरणेन
ज्ञातो दोषः, वैश्वानरेण विहन्यते—इति, 'नित्यैः' चास्य
समानसङ्घुत्वं भवति,—'शील्येतानि हवीषि भवन्ति, चय इमे
लोका एषां लोकानामारोहाय'—इति, लोकानां हविषां
सामान्यं नास्ति ; यदि यथा लोका नित्याः चयः, एवम् इमानि
हवीषि नित्यानि शीलि,—एवं लोकैः संस्तवो घटते । तस्मात्
नित्यो वैश्वानरः—इति ॥

स. पक्षे वोत्पन्नसंयोगात् ॥ १३ ॥ (सि०) ॥

भा. उत्पन्नस्य निमित्ते उत्थाभरणे निर्घातेन संयोगः, न अ-
संयुक्तस्य उत्पन्नस्य दोषनिर्घातप्रयोजनता, तस्मात् इह न
दधियहवत् विरोधोऽस्ति, तेन न अर्थवादः, नैमित्तिकः—इति ।

अथ यदुक्तं,—लोकैः समानसङ्घुत्वं नित्यत्वात् उपपद्यते, न
अन्यथा—इति । तत्र ब्रूमः,—चित्वाल्लोकानां हविषां च सामा-
न्यात् अर्थवादो भविष्यति—इति ॥ (४।४।६ अ०) ॥

षष्ठाश्रितेः नैमित्तिकत्वाधिकरणम् ॥

स. षट्चितिः पूर्ववत्त्वात् ॥ १४ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति अग्निः,—'य एवं विद्वान् अग्निश्चिनुते'—इति । तत्र

भा. श्रूयते,—‘संवत्सरो वा एनं प्रतिष्ठायै नुदति योऽग्निश्चित्वा न प्रतिष्ठति पञ्च पूर्वाश्रितयो भवन्ति, अथ षष्ठीश्चितिं चिनुते’*—इति । तत्र सन्देहः,—किं योऽयं नित्य एवाग्निः स एवायं षट्चितिकः उच्यते, उत एकचितिको नैमित्तिकः?—इति । किं प्राप्तं?—तस्मिन् एव नित्ये अग्नौ षष्ठी चित्तिरेषा विधीयते, नित्यायामेव षष्ठ्यामेषोऽर्थवादः,—योऽपि न प्रतिष्ठार्हः, सोऽप्यनया षष्ठ्या चित्या प्रतिष्ठातुमर्हति—इति चितिप्रशंसा । किमर्थमेवं वर्णयते? । षष्ठीशब्दश्रवणात्,—षण्णां हि पूरणी षष्ठी, एकस्यां हि चित्तौ षष्ठीशब्दः न सामञ्जस्येन स्यात् । तस्मात्, षट्चितिकः अग्निर्नित्यः—इति ॥

स. ताभिश्च तुल्यसङ्ख्यानात् ॥ १५ ॥ (यु० १) ॥

भा. ‘ताभिश्च’ पूर्वाभिरस्याः तुल्यवत् ‘प्रसङ्ख्यानं’ भवति । कथम्? । ‘इयं वाव प्रथमा चितिः, ओषधयः पुरीषम्; अन्तरीक्षं वाव द्वितीया चितिः, वयांसि पुरीषम्; असौ वाव तृतीया चितिः, नक्षत्राणि पुरीषम्; यज्ञो वाव चतुर्था चितिः, दक्षिणा पुरीषं; यजमानो वाव पञ्चमी चितिः, प्रजाः पुरीषं; संवत्सरो वाव षष्ठी चितिः, ऋतवः पुरीषम्’—इति, तुल्यानां च तुल्यवत् अनुक्रमणं भवति, यथा,—‘देवा ऋषयो गन्धर्वाः तेऽन्यत आसन् । असुरा रक्षांसि पिशाचाः तेऽन्यत आसन्’—इति, तुल्यवच्च अमूषां चित्तीनाम् अनुक्रमणम् अनया षष्ठ्या । तस्मात् एतया, तत्तुल्यया भवितव्यं, यदि च यस्मिन् एव क्रतौ

* लाङ्गलेन ह्यण्ये ध्याममात्रे भूप्रदेशे नानाविधाभिरिष्टकाभिः पक्षयाकारेण स्थानं निष्पाद्यते, सेयं चित्तिरिति माधवः ।

† अत्र, सर्वत्र ‘वाव’ स्थले ‘वाथ’ इति पाठः आ० सो० पु० । एवं का० सं० पु० ।

भा. ताः, तस्मिन् एवैषा, ततः एताभिः तुल्या । तस्मात् अपि स
एव नित्योग्निः षट्चितिकः—इति ॥

सू. अर्थवादोपपत्तेश्च ॥ १६ ॥ (यु० २) ॥

भा. अर्थवादश्च भवति,—‘षट्चितयो भवन्ति, षट् पुरीषाणि,
तानि द्वादश सम्पद्यन्ते, द्वादश मासाः संवत्सरः, संवत्सर एव
प्रतितिष्ठति’—इति, तत्, एकचितिके अग्नौ न सामङ्गस्थेन
वचनं भवति । तस्मात् नित्य एव षट्चितिकः ॥

सू. एकचितिर्वा स्यादपटक्ते हि चोद्यते निमित्तेन ॥
१७ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘एकचितिर्वा’ (नैमित्तिकः) ‘स्यात्’ । कुतः? । ‘अपटक्ते’
हि यागे ‘चोद्यते’, अप्रतिष्ठया ‘निमित्तेन’,—यो न प्रति-
तिष्ठति, तस्य एषा चितिः उच्यते नैमित्तिकी, सा न नित्या
भवितुमर्हति ।

अपि च ‘अपटक्ते’ यागे ‘चोद्यते’ सा, न वर्तमाने भवितु-
मर्हति । ‘ननु, ‘चित्वा’—इति चयने निर्हन्ते, न यागे’ । उच्यते,
—नैतत् पदार्थे निर्हन्ते ‘चित्वा’—इति, किं तर्हि?—वाक्यार्थे,
—‘अग्निं चित्वा’—इति अग्नेः चयनेनार्थम् अभिनिर्वर्त्य—इति,
ज्ञाते च यागे चयनेन अग्नेः अर्था निर्वर्त्तितो भवति, न अन्यथा ।
षष्ठीशब्दश्च, पञ्च पूर्वाश्रितय उक्ताः, ता अपेक्ष्यावकल्पिष्यते,
तस्मात् निर्हन्ते यागे—इत्युच्यते । तस्मात् वचनात् एकचितिः
अग्निः ॥

सू. विप्रतिषेधात्ताभिः समानसङ्ख्यात्वम् ॥ १८ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. (द्वयोः सूत्रयोः इदम् उत्तरम्,—“ताभिश्च तुल्यसङ्ख्यानात्”

भा. “अर्थवादोपपत्तेश्च”—इति । ‘ताभिः’ (नित्याभिः) ‘समान-सङ्ख्यात्वं’ भविष्यति, अथवादश्च उपपत्स्यते,—पञ्च पूर्वाश्रितयो भवन्ति, याभिरसौ चितिभिः न प्रतितिष्ठते, अथेयं षष्ठी प्रतिष्ठार्थम्—इति; ताश्च सपुरीषा अपेक्ष्य द्वादशत्वेन संस्तवो भविष्यति; ‘विप्रतिषेधात्’ एकस्य, षट्सङ्ख्याया द्वादश-सङ्ख्यायाश्च—इति । अतुल्यानामपि तुल्यवत् अनुक्रमणं भवति, यथा,—‘देवा मनुष्याः पितरः तेऽन्यत आसन्’—इति ॥ (४ । ४ । ७ अ०) ॥

पिण्डपितृयज्ञस्यानङ्गताधिकरणम् ॥

स. पितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्यात् ॥ १६ ॥ (सि०) ॥

भा. अस्ति अमावास्ये कर्मणि पितृयज्ञः,—‘अमावास्यायाम अपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति’—इति, तच्च संशयः,—किम् अमावास्यस्य कर्मणः पिण्डपितृयज्ञोऽङ्गम्, उत अनङ्गम्?—इति । किम् प्राप्तम्?—अङ्गं, फलवत्सन्निधानात् निष्क्रय-वचनाच्च ।

‘आह, ननु फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गं भवति, फलवच्च इदं कल्प्येत स्वर्गण’—इति । उच्यते,—सत्यम्, अमावास्यैकवा-क्यत्वात् न शक्यः स्वर्गः कल्पयितुम्—इति । ‘आह,—काल-वचनत्वात् न कर्मणा एकवाक्यत्वं सम्भवति’—इति । उच्यते,—लक्षणयापि तावत् कर्मैकवाक्यता सम्भवति । स्वर्गे कल्प्ये न लक्षणा, न श्रुतिः । एवं च आमनन्ति,—‘यत् पितृभ्यः पूर्वद्युः करोति, पितृभ्य एतत् यज्ञं निष्क्रीय यजमानो देवेभ्यः प्रतनुते’—इति, अमावास्यां प्रति निष्क्रेतुम् च श्रूयते, तस्मात् तदङ्ग-भूतम्—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘पितृयज्ञः स्वकालत्वात् अनङ्गं स्यात्’,

भा. अनङ्गभूतः पिण्डपितृयज्ञः । कस्मात्? । 'सकालत्वात्,—स-
शब्दाभिहितेन कालेन अस्य सम्बन्धः, न कर्मणा लक्षितेन—
इति, यथा, 'दर्शपूर्णमासाभ्याम् इद्वा सोमेन यजेत'—इति,
यथा, 'तदेतत् पुरस्तात् उपसदां सौम्येन चरन्ति'—इति च,
काले एवायं मुख्यः शब्दो न कर्मणि, कर्मणि लक्षणा, अतिस्य
लक्षणाया बलीयसी । यच्च उक्तं,—लक्षणाया कर्मैकवाक्यता
मविष्यति—इति, तच्च न । कस्मात्? । अनुवादे हि लक्षणा
न्यास्या, न विधौ, विधिश्चायं, तस्मात् न अमावास्याकर्मणा
सम्बन्धः, एकस्मिन् काले द्वे कर्मणि परस्परेणासम्बन्धे—इति ॥

ख. तुल्यवच्च प्रसङ्गानात् ॥ २० ॥ (यु० १) ॥

भा. तुल्यवचान्यैः प्रधानैः प्रसङ्गायते,—'चत्वारो वै महायज्ञाः,
—अग्निहोत्रं, दर्शपूर्णमासौ, ज्योतिष्टोमः, पिण्डपितृयज्ञः'—
इति महायज्ञैः तुल्यवत् प्रसङ्गायते, कास्य महायज्ञता
स्यात्, अन्यतः फलवत्तायाः? तस्मादनङ्गम् ॥

ख. प्रतिषिद्धे च दर्शनात् ॥ २१ ॥ (यु० २) ॥

भा. इतश्च अनङ्गम्,—'प्रतिषिद्धे' अमावास्ये पिण्डपितृयज्ञं
दर्शयति,—'पौर्णमासीमेव यजेत आतृथवान्, न अमावास्या,
हत्वा आतृथम् अमावास्यया यजेत, पिण्डपितृयज्ञेनैव अमा-
वास्यायां प्रीणाति'—इति, असत्याममावास्यायां पिण्डपितृ-
यज्ञं दर्शयति, तदनङ्गत्वे उपपद्यते, तस्मात् अपि न अङ्गं
पिण्डपितृयज्ञः—इति ।

किं प्रयोजनं चिन्तायाः? । यदि पौर्णमास्यामाधानं, ततः
अनन्तरायाममावास्यायां न क्रियते, यथा पूर्वपक्षः; यथा—
तर्हि सिद्धान्तः, तथा कर्त्तव्यः । इदम् अपरं प्रयोजनं,—कुण्ड-
पायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुहोति, मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां

भा. यजेत'—इति, यथा पूर्वः पक्षः, तथा कर्त्तव्यः पिण्डपितृयज्ञः;
यथा सिद्धान्तः, तथा न कर्त्तव्यः—इति। सौकर्मपि उदा-
हरन्ति,—

‘आधानं पौर्णमास्यां चेदृत्ते दर्शं करिष्यते।

अनङ्गं पितृयज्ञस्येत् तत्रैव न करिष्यते’—

इति ॥ (४।४।८ अ०) ॥

रश्ननायाः यूपाङ्गताधिकरणम् ॥

स. पशवङ्गं रश्नना स्यात्तदागमे विधानात् ॥ २२ ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘आश्विनं यद्दं गृहीत्वा श्रिता यूपं
परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशुम् उपाकरोति’—इति। तत्र
संशयः,—किं पशवङ्गं रश्नना, उत यूपाङ्गम्?—इति। किं
प्राप्तम्?—‘पशवङ्गम्’। कुतः?। ‘तदागमे विधानात्’, पशवागमे
हि विधीयते, पशुना अस्याः सम्बन्धः उत्पत्तिवाक्ये श्रूयते,—
‘परिध्याणं कृत्वा उपाकरोति पशुं नान्यथा’—इति; एवं श्रुति-
र्भवति, कालवचने लक्षणा स्यात्,—परिध्याणेन कालो लक्ष्येत
—इति ॥

स. यूपाङ्गं वा तत्संस्कारात् ॥ २३ ॥ (सि०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे प्रत्यक्षो हि यूपस्य संस्कारः, रश्नना हि यां
च यावतीं च द्रदिग्ने मात्रां यूपस्य सञ्जनयति, द्रदिग्ना च
प्रयोजनं यूपस्य। तस्मात् यूपस्य एव द्रदिग्ने रश्नना स्यात्।
द्वितीया च विभक्तिः तत्प्राधान्ये एव भवति, रश्ननार्यां च तृतीया,
तृतीया च गुणत्वे तस्याः, तस्मात् यूपाङ्गम्। यत्तु,—तदागमे
विधानात्—इत्युक्तं, तत्परिहर्त्तव्यम्, उच्यते,—तदागमे विधानं

भा. वाक्यम्, द्वितीया च विभक्तिः श्रुतिः प्रत्यक्षं च, वाक्यं बाधेयाताम्
—इति । यन्तु लक्षणा—इति, श्रुत्यसम्भवे लक्षणापि न्याय्यैव ॥

सू. अर्थवादश्च तदर्थवत् ॥ २४ ॥ (यु०) ॥

भा. एवं च मन्वार्थवादोऽर्थवान् भविष्यति,—‘युवा सुवासाः परि-
वीत आगात् स उ अयेान् भवति जायमानः, तं धीरासः कवय
उन्नयन्ति स्वाधो मनसा देवयन्ते’—इति । तस्मात् यूपाङ्गम
रश्ना—इति ।

किं प्रयोजनं चिन्तायाः? । अग्नौ श्रूयते,—‘एकयूपे एकादश
पशवो नियोज्याः’—इति, प्रति-पशु रश्ना कार्या, यदि पूर्वः
पक्षः; सिद्धान्ते द्वैरश्नन्यमेव । श्लोकमपि उदाहरन्ति,—

‘पशवङ्गं रश्ना चेत्, यद्येकस्मिन् बहून् नियुञ्जीत ।

प्रति-पशु रश्ना कार्या; यूपे चेत्, द्वैरश्नन्यं स्यात्’—
इति ॥ (४।४।९ अ०) ॥

स्वरोः पशवङ्गताधिकरणम् ॥

सू. स्वरुश्चाप्येकदेशत्वात् ॥ २५ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्नीषोमीयः सोमाङ्गभूतः,—‘यो
दीक्षितो यत् अग्नीषोमीयं पशुमालभते’—इति । तत्र श्रूयते,
—‘स्वर्णा स्वधितिना च पशुमनक्ति’—इति । तत्र सन्देहः,
—किं यूपाङ्गं स्वरः, उत पशवङ्गम्?—इति । किं प्राप्तम्?—
यूपाङ्गम्—इति ब्रूमः । कुतः? । ‘एकदेशत्वात्’, एकदेशः स्वरः
यूपस्य—इति श्रूयते,—‘यूपस्य स्वरं करोति’—इति (स्वर्णमन्त्रं
यूपं कुर्यात्—इत्यर्थः); एवं स यूपो भवति—इति, यथा च
घालम् ॥

स. निष्क्रयश्च तदङ्गवत् ॥ २६ ॥ (यु०) ॥

भा. यूपान्गमिव खरम् निष्क्रयवादो दर्शयति,—‘अपश्यन् ह स्र वै पुरा ष्टयो ये यूपं प्रापयन्ति, सम्भज्य सुवन्ते मन्यन्ते, यज्ञ-
वैशसाय वा इदं कर्म—इति ते प्रस्तरं सुवनिष्क्रयम् अपश्यन्,
यूपस्य खरम् अयञ्चवैशसाय’—इति निष्क्रयश्रवणात् तदङ्गता
विज्ञायते । तस्मात् यूपान्गम्—इति ॥

स. पशवङ्गं वार्थकर्मत्वात् ॥ २७ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘पशवङ्गं वा’, तस्य हि अङ्गनार्थेन खरणा प्रयोजनं, तथा
हि श्रूयते,—‘खरणा पशुमनक्ति’—इति, तत् अङ्गनं पशोः,
खरोरुत्पत्तिं प्रयोजयति, यदि तदर्थः एषः खरः, ततो दृष्टं
प्रयोजनम्, अथ यूपार्थः, अदृष्टं प्रयोजनं ततः कल्प्यम् । तस्मात्
पशवङ्गम्—इति ॥

स. भक्त्या निष्क्रयवादः स्यात् ॥ २८ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. कया भक्त्या? एवमाह,—‘यूपः किलाग्नौ प्रक्षेप्तव्यः, यत्
खरः प्रक्षिप्यते, तेन यूपः प्रक्षिप्यते—इति स एष निष्क्रय इव
भवति,—अनया भक्त्या स्तुतिः—इति ।

किं भवति प्रयोजनम्? एकयूपे एकादश पशवो यदा
नियुज्यन्ते, तदा एकस्यैव पशोः समङ्गनं, पूर्वस्मिन् पक्षे; सर्वेषां,
सिद्धान्ते । स्योक्तस्य भवति,—

खर्यूपान्गमिति चेत् एकस्यैव समङ्गनम् ।

बङ्गनामेकयूपत्वे, सर्वेषां तु समङ्गनम्*—

इति ॥ (४।४।१० अ०) ॥

* सर्वेषाम् विपर्यये इति का० श्री० पु० पाठः ॥

आधारादीनामङ्गताधिकारम् ॥

स. दर्शपूर्णमासयोरिज्याः प्रधानान्यविशेषात् ॥

२६ ॥ (पू०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र श्रूयन्ते,—आग्नेयाग्नीषोमीयोपांशु-
याजैर्न्यासान्यास्ययागाः, तथा आधारावाज्यभागौ, प्रयाजा-
नुयाजाः पत्नीसंयाजाः, समिष्टयजुः खिष्टहत्—इति । तत्र
सन्देहः,—किं सर्वे यागाः प्रधानभूता उत केचित् गुणभूताः?—
इति । किं प्राप्तम्?—दर्शपूर्णमासयोर्यावत्य इज्याः ताः सर्वाः
प्रधानभूताः—इति, 'यजेत स्वर्गकामः'—इत्यविशेषेण यागेभ्यः
फलं श्रूयते, फलवच्च प्रधानं, सर्वे चामी यागाः । तस्मात् सर्वे
प्रधानभूताः—इति ॥

स. अपि वाङ्गानि कानिचित् येष्वङ्गत्वेन संस्तुतिः
सामान्योह्यभिसंस्तवः* ॥ ३० ॥ (सि०) ॥

भा. 'अपि वा' 'कानिचित्' 'अङ्गानि' भवेयुः । कानि पुनः
तानि? । येषु अङ्गत्वेन संस्तुतिः, यथा 'अभीषू वा एतौ
यज्ञस्य यत् आधारी, चक्षुषी वा एतौ यज्ञस्य यत् आज्य-
भागौ, यत् प्रयाजानुयाजाश्च इज्यन्ते वर्म्म वा एतत् यज्ञस्य
क्रियते, वर्म्म वा यजमानस्य आतृच्यस्याभिभूत्यै'—इति ।
अभीषू रथस्याङ्गं, चक्षुषी चक्षुष्मतः, वर्म्म वर्म्मवतः, 'सामान्यो
हि अभिसंस्तवो' युक्तः, यदि च अङ्गानि तानि संस्तुतानि,
ततः संस्तवोर्ध्वान् भवति । तस्मात् अङ्गसंस्तुतान्यङ्गानि—
इति ॥

* सामान्येभिसंस्तवः इति का० क्री० पु० पाठः ॥

स. तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ ३१ ॥ (यु०) ॥

भा. एवं च ह्यत्वा अन्यार्थदर्शनम् उपपन्नं भवति,—‘प्रजाजे प्रयाजे ह्यण्यत्वं जुहोति’—इति । न च, प्रयाजान् यजति, न च अनुयाजान् यजति—इति च ॥

स. अविशिष्टन्तु कारणं प्रधानेषु गुणस्य विद्यमानत्वात् ॥
३२ ॥ (आ०) ॥

भा. अविशिष्टमेतत् कारणं संस्तवो नाम, आग्नेयादीनामप्यङ्गत्वेन संस्तुतिरस्ति,—‘शिरो वा एतत् यज्ञस्य यदाग्नेयः, हृदयम् उपांशुयागः, पादावग्नीषोमीयः’—इति, शिरः शिरस्त्वतोऽङ्गं, हृदयं हृदयवतः, पादौ पादवतः’—इति सर्वस्यैव अङ्गत्वेन संस्तुतिः—इति सर्वमेव अङ्गं प्राप्नोति, तत्* प्रधानं न स्यात्, असति प्रधाने कस्याङ्गम्? तस्मात् न एतदङ्गम्—इति ॥

स. नानुक्तेऽन्यार्थदर्शनं परार्थत्वात् ॥ ३३ ॥ (यु०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—‘अन्यार्थदर्शनं परार्थत्वात्’, न तत्साधकं भवति, परार्थं हि तत् वाक्यं, न दृश्यमानस्य प्रयाजादेः प्रापणार्थम्, तस्मात् अन्यदस्य प्रमाणमन्वेष्टव्यं श्रुत्यन्तरं न्यायो वा, तस्मिन् असति, मृगतृष्णादर्शनमिव तत् भवति, संस्तुतिरप्यसति न्याये, असाधिकैव ॥

* तच्च इति का० श्री० पु० पाठः ॥

च. पृथक्त्वे त्वभिधानयोर्निवेशः, श्रुतितो व्यपदेशाच्च,
तत्पुनर्मुख्यलक्षणं यत्फलवत्त्वं, तत्सन्निधावसंयुक्तं
तदङ्गं स्यात्, भागित्वात् कारणस्याश्रुतश्चान्य-
सम्बन्धः ॥ ३४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावृत्तयति। यदुक्तं,—सर्वाणि समप्रधानानि—
इति, नैतदेवं, दर्शपूर्णमासशब्दवाचरानि प्रधानानि कर्माणि।
कुतः?। फलसंयोगात्,—दर्शपूर्णमासशब्दकेभ्यः फलं श्रूयते,—
'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'—इति। कानि पुनर्दर्श-
पूर्णमासशब्दकानि?। येषां वचने पौर्णमासीशब्दोऽभावास्या-
शब्दो वा, आग्नेयादीनि तानि। 'ननु अमावास्याशब्दकानां
नैव फलं श्रूयते'। उच्यते,—'पृथक्त्वे' समुदाययोः 'निवेशः'
एतयोः 'अभिधानयोः',—'पौर्णमासी'—इति च 'अमावास्या'
—इति च, त्रिष्वग्नेयादिषु यः समुदायः, तत्र पौर्णमासीशब्दः,
इतरेषु अमावास्याशब्दः।

'कथं 'पौर्णमासी' 'अमावास्या'—इति च द्विशब्दः श्रूयते?।
द्वयवत् 'व्यपदेशाच्च'। 'कथं तद्व्यपदेशः?। द्विवचननिर्देशात्,
—'दर्शपूर्णमासाभ्याम्'—इति, एकार्थौ च दर्शमावास्या-
शब्दौ। कथं?। 'दर्शो वा एतयोः पूर्वः, पूर्णमास उत्तरस्तयोरथ
यत् पूर्णमासं पूर्वमारभते तत् अथवापूर्वं प्रक्रियते, दर्शपूर्ण-
मासमारभमाणः सरस्वत्यै चक्षं निर्वपेत्, सरस्वते द्वादशकपालम्
अमावास्या वै सरस्वती, पूर्णमासः सरस्वान्, उभावेतौ यथापूर्वं
कल्पयित्वा रभते ऋथै ऋध्नोत्येवाधो मिथुनत्वाय'—इति। तत्र
दर्शशब्देन प्रकृत्या अमावास्याशब्देन ब्रुवन्नेकार्थतां दर्शयति,
ब्रूयते च चन्द्रस्यादर्शनेन अमावास्या दर्शः—इति लक्षयितुम्,
यथा चक्षुषोरभावे सति 'चक्षुष्मान्'—इति चक्षुर्भ्यां लक्षयते।

भा. एतस्मात् व्यपदेशाच्च श्रुतितश्च (लोके श्रवणात्) एकार्थताम् एवाश्वस्यामः। तत् पुनर्मुखलक्षणं, यत् फलवत्त्वं, यदन्यत् तत्सन्निधौ श्रूयते, तत् तदङ्गम्। कथम्?। इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षस्य सन्निधौ श्रूयमाणम्, इतिकर्त्तव्यताविशेषणत्वेन परिपूरणसमर्थं तदङ्गम् भवितुमर्हति; अकल्प्यमाने वाक्यशेषे फलं कल्पयितव्यम् स्यात्—इति।

‘आह, ननु दर्शपूर्णमासफलमेवात्रानुषज्यते’। उच्यते,— शक्यमनुषक्तम्, किन्तु दर्शपूर्णमासवाक्यं साकाङ्क्षमेव स्यात्! अन्या अस्य इतिकर्त्तव्यता श्रुता कल्प्येत! एषामपि प्रयाजादीनामन्या! कल्प्येत*! एतदितिकर्त्तव्यता श्रवणगम्यमाना उत्सृज्येत, तेन अङ्गत्वं, कारणं भागीति, एषाम् अन्येन फलेन सम्बन्धोऽश्रुतः। तस्मात् न सर्वाणि समप्रधानानि, आधारादीनि गुणकर्माणि—इति ॥

स. गुणाश्च नामसंयुक्ता विधीयन्ते नाङ्गेषूपपद्यन्ते ॥

३५ ॥ (यु०) ॥

भा. नामविशेषसंयुक्ताश्च गुणविशेषा विधीयन्ते, यथा,—‘चतुर्होत्रा पूर्णमासीमभिमृषेत् पञ्चहोत्रा अमावास्याम्’—इति, सर्वेषु प्रधानेषु, अस्मिन् समुदाये चतुर्होत्रा, अस्मिन् पञ्चहोत्रा— इतिविभागविज्ञानाच्चेदं नोपपद्येत! भवति चैवंलक्षणकं गुणविधानम्, तस्मात् अस्मत्पक्ष एव—इति। अपि च अङ्गत्वेन आधारादीनां संस्तुतिरूपपक्षा भविष्यति ॥

* अन्यमङ्गमिति का० स्त्री० पु० पाठः ॥

स. तुल्या च कारणश्रुतिरन्यैरङ्गाङ्गिसम्बन्धः* ॥

३६ ॥ (आ०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—आग्नेयादीनामप्यङ्गत्वेन संस्तुतिरङ्गत्वम्
व्यापयेत्—इति, तत्परिहर्तव्यम् ।

स. उत्पत्तावभिसम्बन्धस्तस्माद्ङ्गोपदेशः स्यात् ॥

३७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैष दोषः, प्रधानानामप्येषां सतामुत्पत्त्यपेक्षा शिरादि-
स्तुतिर्भविष्यति—इति, जायमानस्य हि पुरुषस्य अग्रे शिरो
जायते, मध्ये मध्यं, पश्चात्पादौ, एवमाग्नेयोऽथतः, उपांशुयाजो
मध्ये, अग्नीषोमीयः पश्चादिति,—एतस्मात् सामान्याद्देवा स्तुतिः
—इति ॥

स. तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ ३८ ॥ (यु०) ॥

भा. 'चतुर्दश पूर्णमास्यामाहुतयो ह्ययन्ते, त्रयोदश अमावास्या-
याम्'—इति, इतरथा न चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो भवेयुः,
न वा अमावास्यायां त्रयोदश—इति । तस्मात् आग्नेयादीनि
प्रधानानि, आधारादीन्यङ्गानि—इति सिद्धम् ॥ (४।४।
११ अ०) ॥

ज्योतिष्टोमे दीक्षणीयादीनामङ्गताधिकरणम् ॥

स. ज्योतिष्टोमे तुल्यान्यविशिष्टं हि कारणम् ॥

३९ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमो,—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत—इति ।

* रङ्गाभिसम्बन्धैः इति आ० सो० पु० पाठः ॥

भा. तत्र दीक्षणीयादयश्च यागा विद्यन्ते, सौत्वे चाहनि सोमयागः ।
 तत्र सन्देहः,—किम् अत्र यागमार्चं प्रधानम्, उत सोमयागः ?
 —इति । किं प्राप्तम्?—ज्योतिष्टोमे तुल्यानि सर्वाणि भवेयुः ।
 कुतः ? । अविशिष्टं हि कारणं, यागात् फलं श्रूयते, सर्वे चामी
 यागाः, फलवच्च प्रधानम् । तस्मात् ज्योतिष्टोमे सर्वे यागाः
 प्रधानम्—इति ॥

स. गुणानान्तृत्पत्तिवाक्येन सम्बन्धात्कारणश्रुतिस्तस्मा-
 त्सोमः प्रधानं स्यात् ॥ ४० ॥ (सि०) ॥

भा. 'गुणानां तु उत्पत्तिवाक्येन' सम्बन्धो भवति । केषां
 गुणानाम् ? । ज्योतिषां स्तोमानाम् । कतमेन उत्पत्तिवाक्येन
 सम्बन्धो भवति ? । 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इति,
 ज्योतिष्टोमात् यागात् स्वर्गः श्रूयते, न यागमाप्नात् ; यच्च च
 ज्योतीषि स्तोमाः, स ज्योतिष्टोमः । कस्य ज्योतीषि स्तोमाः ? ।
 सोमयागस्य—इति ब्रूमः, एवं हि आग्नायते,—'कतमानि
 वा एतानि ज्योतीषि, ये एते तस्य स्तोमाः,—चिष्टत्पञ्चदश-
 सप्तदशैकविंशः एतानि वा ज्योतीषि, तान्येतस्य स्तोमाः'—
 इति, सोमयागस्य स्तोमा अङ्गं, समभियाहारात्,—'यहं
 वा गृहीत्वा चमसं वा उन्नीय स्तोत्रम् उपाकरोति'—इति,
 ते च स्तोमाश्चिष्टदादयः । कथम् ? । 'चिष्टत् वह्निःपवमानं,
 पञ्चदशान्याज्यानि'—इत्येवमादिभिः श्रवणैः ।

तस्मात् चिष्टदादिस्तोमकः सोमयागः, स ज्योतिष्टोमः—
 इति । यश्च ज्योतिष्टोमः ततः फलं, यतश्च फलं तदेव प्रधानम्
 —इति । 'कथं पुनश्चिष्टदादयो ज्योतीषि* ? । उच्यते,—भवन्तु
 वा ज्योतीषि, मा वा भुवन्, ज्योतिःशब्देन तावत् उक्तानि ।

* ज्योतीषि उच्यन्ते ? । इति पाठः का० मी० पु० ॥

भा. वचनमात्रेणापि शब्दो भवति, विशेषतो लक्षणायाम्। अपि च
 द्योततेर्वा दीप्तिकर्मणो द्योततेर्वा द्योतिःशब्दं लभन्ते, द्योत्यते
 हि तैः शब्दैः, द्योत्यन्ति—इति वा स्तुत्याम्। तस्मात् सोम-
 यागो द्योतिष्टोमः, स च प्रधानं, गुणभूता दीक्षणीयादयः—
 इति ॥

स. तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ ४१ ॥

भा. 'श्विरो वा एतत् यज्ञस्य यत् दीक्षणीया'—इत्येवमादि च
 लिङ्गं दृश्यते, तथा गुणाश्च द्योतिष्टोमविकारे दीक्षणीयादयो
 दृश्यन्ते,—'चतुर्विंशतिमानं श्विरस्यं दीक्षणीयायां दद्यात्,
 प्रापणीयायां द्वे चतुर्विंशतिमाने'—इति, तुल्यत्वे न प्रवर्त्तयि-
 ष्यन्ते दीक्षणीयादयः। तस्मात् अपि सोमयागः प्रधानम्—
 इति ॥ (४।४।१२ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये चतुर्थस्याध्यायस्य
 चतुर्थः पादः ॥ समाप्तश्चायमध्यायः ॥

पञ्चमे अध्याये प्रथमः पादः ॥



अथ क्रमनियमाधिकारणम् ॥ (वर्षकपयसहितम्) ॥

(श्रुतिबलीयस्त्रव्यायः) ॥

सू. श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं तत्प्रमाणत्वात् ॥ १ ॥

भा. चतुर्थेऽध्याये प्रयोजकप्रयोजकलक्षणं दृष्टं, तन्न प्रस्यर्तयम्, इह इदानीं क्रमनियमलक्षणम् उच्यते, तत् श्रुत्यर्थपाठप्रवृत्ति-
काण्डमुखैर्वक्ष्यते, श्रुत्यादीनाम् च बलाबलम्। आदितस्तु
श्रुतिक्रमश्चिन्तयते,—किं यथाश्रुति पदार्थानाम् क्रम आश्च्येयः,
उत अनियमेन?—इति। किं प्राप्तम्?—एकत्वात् कर्तुः,
अनेकत्वाच्च पदार्थानाम्, अवश्यम्भाविनि क्रमे लाघवात् प्रयोग-
माशुभावाच्च अनियमः—इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः।

‘श्रुतिलक्षणम् आनुपूर्व्यं तत्प्रमाणत्वात्’—इति, श्रुतिर्षड्दणम्
अक्षराणां, तन्निमित्तं यस्य क्रमस्य, स साधुः क्रमः, श्रुति-
प्रमाणका हि वैदिका अर्थाः, नैषामन्यत् प्रमाणमस्ति (१।१।
२ सू०)—इत्युक्तम्। ‘किम् इह उदाहरणम्?’। सचे दीक्षा-
क्रमः, ‘ये ऋत्विजस्ते यजमानाः’—इति* उक्त्वा, तेषां दीक्षा-
क्रमं विधत्ते,—‘अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति,
तत उद्गातारं, ततो ह्येतारं, ततस्तं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयित्वा
अर्द्धिनो दीक्षयति, ब्राह्मणाच्छंसिनं ब्रह्मणः, प्रस्तीतारम्
उद्गातुः, मैत्रावरुणं ह्येतुः, ततस्तं नेष्टा दीक्षयित्वा तृतीयिनो
दीक्षयति, आग्नीध्रं ब्रह्मणः, प्रतिहर्तारम् उद्गातुः, अक्षावाकं
ह्येतुः; ततस्तमुक्षेता दीक्षयित्वा पदिनो दीक्षयति, पोतारं

* इत्येवम् इति पाठः आ० से० पु० ॥

भा. ब्रह्मणः, स ब्रह्मण्यम् उद्गातुः, यावस्तुतं होतुः; ततस्तमन्यो ब्राह्मणो दीक्षयति, ब्रह्मचारी वा आचार्यप्रेषितः—इति । अनियमेन क्रमः कर्त्तव्यो, यथा पूर्वः पक्षः; यथा तर्हि सिद्धान्तः, एष एव क्रमः कर्त्तव्यः—इति ।

तत्र आह, 'अन्यास्यं श्रुतिवचनम्'—इति । उच्यते,— किमयं न साधुः? । न, 'न साधुः'—इति ब्रूमः । न्यास्यं तर्हि । 'न ब्रूमः,—न साधुः क्रमः—इति, किं तर्हि?—उक्तस्य पुनर्वचनमन्यास्यम्'—इति । उच्यते,—साधोर्वचनं बड्भो-
ऽप्युच्यमानं न्यास्यमेव, असाधोस्तु सहादप्यन्यास्यम् । 'आह, सहादचनेन ज्ञातस्य पुनर्वचने न प्रयोजनमस्ति'—इति । उच्यते,—भवति अप्रसङ्गरणम् अपि प्रयोजनम्—इत्युक्तम् । 'वृत्तिकारेण तत् कार्यम्'—इति चेत् । सूत्रकारस्याप्यविशेषो वृत्तिकारेण । १ म वर्णकम् ॥

अथ वा अर्थान्तरमेव इदम्, तत्र हि अन्य एव संबन्धो विचारो निर्णयश्च,—श्रुतिप्रमाणको धर्मः, अन्यप्रमाणकः?— इति संबन्धः । प्रत्यक्षादीनाम् अधिगम्य—निमित्तत्वात् न तत्प्रमाणकः, अतीन्द्रियत्वाच्चोदनालक्षणः—इति विचारः । चोदनालक्षणः एव—इति निर्णयः । इह तु सिद्धे तत्प्रमाण्ये थवहारक्रमस्य साधुत्वावधारणम् । २ य वर्णकम् ॥

अथ वा श्रुतिविचारोऽयं,—किं पदार्थाः कर्त्तव्याः?—इति विधानम्, किं वा क्रमो विधीयते?—इति । अनेकार्थविधानानुपपत्तेः क्रमे* अनुवादः पदार्थानां विधिः; अवदानवाक्येष्विव, पदार्थविधानं श्रुत्या, क्रमविधानं वाक्येन, तस्मात् न क्रमो विधीयते—इति पूर्वः पक्षः । 'ननु अवदानवाक्येषु क्रमो विधीयते' । सत्यं विधीयते, पाठेन, न श्रुत्या, 'ये षड्विजस्ते

* क्रमः इति आ० वे० पु० पाठः ॥

भा. यजमानाः—इति तु, दीक्षायाः प्राप्तत्वात्, क्रमविधानार्था
श्रुतिः—इति सिद्धान्तः । तस्मात् अपुनरुक्तम्—इति ॥ इय
वर्णकम् । (५ । १ । १ अ०) ॥

क्रमस्य क्वचिदार्यिकत्वाधिकारकम् ॥

ख.

अर्थाच्च ॥ २ ॥

भा. किम् एव एव उत्सर्गः ? । सर्वत्र श्रुतिवशेनैव भवितुमर्हति—
इति, उक्तं हि,—‘चोदनालक्षणोर्थो धर्मः (१ । १ । २ सू०)—
इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘अर्थाच्च’ (सामर्थ्याच्च) क्रमो विधीयते—
इति, गुणभूतो हि पदार्थानां क्रमो भवति, यस्य यस्य निर्वर्त्य-
मानस्य उपकरोति, स तस्य गुणभूतः, यस्मिंश्चाश्रीयमाणे पदार्थः
एव न सम्पद्यते, न स गुणभूतः, विनापि तेन, न वैगुण्यम् । एवं
प्रत्यक्षः क्रमस्य गुणभावो यत्र, तत्र अर्थेन च एवाश्रयितव्यः,
यथा ‘जाते वरं ददाति, जातमङ्गलिना गृह्णाति, जातमभि-
प्राणिति’—इति, अर्थात् पूर्वमभिप्राणितव्यम्, ततः अङ्गलिना
गृह्णीतव्यः, ततो वरो देयः—इति, तथा विमोकः पूर्वमाग्नातः,
पश्चात्तद्योगः, अर्थात् विषरीतः कार्यः । याज्यानुवाक्ये तु
विपर्ययेण आग्नाते, विपर्ययेण कर्त्तव्ये; न अत्र पाठक्रमो
मीक्षते,* यतो देवतोपलक्षार्थानुवाक्या, प्रदानार्था याज्या ।
‘अग्निहोत्रं जुहोति’—इति पूर्वमाग्नातम्, ‘ओदनं पचति’—
इति पश्चात्; असम्भवात् पूर्वमोदनः पक्तव्यः । प्रैषप्रैषार्थौ तु
विपर्ययेण आग्नातौ, तौ च विपर्ययेण कर्त्तव्यौ ॥ (५ । १ ।
२ अ०) ॥

* अनुमीयते इति पाठः का० त्री० पु० ॥

क्रमस्य ह्यपिदमित्यभिपरचम् ॥

ख.

अनियमोऽन्यत्र ॥ ३ ॥

भा. अन्यस्मिन् विषये क्रमस्य नियमो नास्ति, यथा दर्शपूर्ण-
मासयोर्याजमानानां प्रयाजानुमद्वणादीनाम् नानाशाखांतर-
समाभ्नातानां 'वसन्तमृतूनाम् प्रीणामि'—इत्येवमादीनाम्,
'एको मम'—इत्येवमादीनाञ्च ॥ (५।१।३ अ०) ॥

क्रमस्य ह्यपि पाठानुसारिताधिकरणम् ॥ (पाठक्रमन्यायः) ॥

ख. क्रमेण वा नियम्येत क्रत्वेकत्वे तद्गुणत्वात् ॥ ४ ॥

(सि०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोरभ्नातं,—'समिधो यजति तनूनपातं यजति
इडो यजति बर्हिर्यजति स्वाहाकारं यजति'—इति । तत्र
संशयः,—किम् अनियतेनैव क्रमेण एषाम् अनुष्ठानम्, उत, यः
पाठक्रमः स एव नियम्येत?—इति । किं प्राप्तम्?—नियम-
कारिणः ब्राह्मण्याभावात् अनियमः—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'क्रमेण' एव 'नियम्येत' एकस्मिन् क्रतौ—
इति । कुतः? । 'तद्गुणत्वात्', तद्गुणत्वं हि गम्यते पदार्थानाम्,
यथा, स्थायात्, अनुलिम्पेत्, भुञ्जीत—इति च क्रमेण अनुष्ठानम्
अवगम्यते, वाक्यात् पदार्थानाम्; यथा चादृष्टार्थेषु उपदिश्य-
मानेषु, कश्चित् ब्रूयात्,—'देवाय धूपो देयः, पुष्पाण्यवकरि-
तस्थानि चन्द्रेनानुलेप्यथः उपहारोऽस्मै उपहर्षथः, एवं कृते
देवस्तुष्यति'—इति; तमन्यः प्रतिब्रूते, नैतदेवं, न प्रथमं धूपो
दातव्यः, प्रथमं पुष्पानि अवकरितस्थानि—इति; एवं मन्यते,
—धूपदानस्य प्राथम्यम् अनेन उक्तम्—इति । तस्मात्
वाचनिक एषाम् एष क्रमः—इति ॥

स. अशाब्द इति चेत्, स्याद्वाक्यशब्दत्वात् ॥ ५ ॥ (आ०) ॥

भा. 'इति चेत्' पश्यसि, अथैवं गम्यमाने 'अशाब्दः' एव क्रमः । कथं ? । पदार्थपूर्वको वाक्यार्थः, पदेभ्यश्च पदार्था एव अवगम्यन्ते, न क्रमः । स्यात् एतदेवं, यदि पदार्थानाम्* समूहस्य अवर्णं प्रत्यायकम् अर्थस्य स्यात्, न तु समुदायः प्रत्यायकः,—इत्युक्तं 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः' (१।१।२५ अ०)—इत्यत्र । तस्मात् क्रमस्य वाचकशब्दाभावात् ध्यामोह एष क्रमोऽवगम्यते । एवं चापूर्वासन्तिरनुपहीष्यते, इतरथा सापि विप्रकृष्येते ! घटीयस इव । दर्शयिष्यति च,—'हृदयस्यायेऽवद्यति, अथ जिह्वायाः, अथ वक्षसः'—इति, यदि नियामकः पाठक्रमः, ततो न विधातव्यमेतत्, नियामके हि पाठक्रमे पाठक्रमात् एव प्राप्नुयात् ॥

स. अर्थकृते वानमानं स्यात्, क्रत्वेकत्वे परार्थत्वात्
स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धः, तस्मात्त्वशब्दमुच्येत ॥ ६ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. एकस्मिन् क्रतावेकत्वात् कर्तुः, अनेकास्मिन् पदार्थैर्ग्रहणतत्वात् क्रमस्य, तत्र एष एव क्रमो नियम्येतानुमानेन । कुतः ? । 'परार्थत्वात्' वेदस्य,—परार्थो हि वेदो यद्-यत् अनेन शक्यते कर्तम्, तस्मै-तस्मै प्रयोजनाय एष समाम्नायते, शक्यते च अनेन पदार्थो विधातुम्, शक्यते च क्रियाकाले प्रतिपत्तुम् । तस्मात् वेदः पदार्थांश्च विधातुम् उपादेयः, क्रियाकाले च प्रतिपत्तुम्, न शक्यते विशेषः,—विधातुमयं समाम्नायते, न प्रतिपत्तुम्—इति, अवगम्यमाने विशेषे उभयार्थम् उपादीयते—

* पदात्रासिति आ० से० पु० पाठः ॥

भा. इति गम्यते । प्रतिपत्तुम् च अनेन क्रमेष ब्रह्मते, नान्येन, अत एव च कृत्वा पाठक्रमापचारे, विनष्टः— इत्युच्यते, इतरथा हि, यत् यस्य प्रयोजनं, तस्मिन् निर्बर्त्तमाने एव किं नष्टं स्यात् ? अदृष्टं कल्पेत, तच्च अन्यास्यं दृष्टे सति । तस्मात् स्रग्भ्दः क्रमः,—य एव पदार्थानां वाचकः शब्दः, स एव क्रमस्वापि ॥

ख. तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ ७ ॥ (यु०) ॥

भा. एवं च अन्यार्थं दर्शयति,—‘अत्यस्तमृतस्था उपदधाति । अत्यस्तं षोडशिनं ब्रंसति । आश्विनो दशमो गृह्यते, तं तृतीयं जुहोति’—इति, यदि अनियमेन उपधानं ब्रंसनं च, अत्यस्त-वचनम् अनर्थकं स्यात् ! न हि, कश्चित् अथत्यासः—इति, तथा आश्विनस्य तृतीयस्य होमानुवादो न अवकल्प्येत, यदि पाठक्रमेण नियमः—इति । तथा,—‘अभिचरता प्रतिलोमं ह्येतद्यम्, प्राणानेव अस्य प्रतोचः प्रतियौति’—इति क्वचित् प्रतिलोमं विदधदनुलोमं दर्शयति, तदुपपद्यते, यदि पाठक्रमेण प्रयोगः, इतरथा, सर्वमनुलोमं स्यात्, प्रतिलोमदर्शनं नोप-पद्येत ! तथा ‘चतुर्थोत्तमयोः प्रतिसमानयति’—इति उक्ते सति, ‘अतिहायेडो बर्हिः प्रतिसमानयति’—इति उच्यते, तेन बर्हिषः चतुर्थतां दर्शयति, सा पाठक्रमे नियामकेष्वकल्पते ॥ (५।१।४ अ०) ॥

क्रमस्य क्वचित् प्रथमप्रवृत्तनुसारिताधिकरणम् ॥ (प्रावर्तिकक्रमन्यायः) ॥

ख. प्रष्टव्या तुल्यकालानां गुणानां तदुपक्रमात् ॥ ८ ॥
(सि०) ॥

भा. वाजपेये ‘सप्तदश राजापत्यान् पशून् आलभते’—इति, श्रूयते । तेषु पशुषु चोदकप्राप्ताः प्रोक्षणादवो धर्माः, तच्च

भा. प्रथमः पदार्था यतः-कुतश्चिद्वारब्धः, द्वितीयादिषु भवति संशयः,—किं तत एव द्वितीयोऽपि पदार्थं आरब्धः, उत द्वितीयादिषु अनियमः?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—नियम-कारिणः ब्राह्मण्याभावात् अनियमः—इति ।

एवं प्राप्ते, ब्रूमः,—यतः पूर्वं आरब्धः, तत एव द्वितीयादयोऽपि पदार्था आरब्धव्याः*—इति । कुतः एतत्? । ‘तदुपक्रमात्’, सर्वं हि पदार्थाः प्रधानकालात् न विप्रकृष्टव्याः, प्रधानं हि चिकीर्षितं, ज्ञातं वा तेषां निमित्तं, सहवचनं हि भवति,— ‘पदार्थैः सह प्रधानं कर्तव्यम्’—इति, बह्वपदार्थसमाग्नानात्तु अवश्यम्भावी विप्रकर्षः, तथापि तु यावद्भिर्नाथवहितः शक्यः पदार्थः कर्तुम्, तावद्भिर्व्यवधानम् अवश्यं कर्तव्यम्, ततोऽभ्यधिकेनां न व्यवधातव्यम्—इति, यदि द्वितीयं पदार्थमन्यत आरभेत, ततोऽधिकैरपि व्यवदध्यात्, तथा प्रयोगवचनं बाधेत । ‘ननु तथा सति कश्चिदस्पैर्बहिर्बहिर्भविष्यति’ । उच्यते,— अनुमतानां व्यवधायकानां त्यागेन कश्चित् अभ्यधिको गुणो भवति—इति तस्मात् यतः पूर्वपदार्थं आरब्धः, तत एव उत्तर आरम्भणीयः—इति ॥

स. सर्व्वमिति चेत् ॥ ९ ॥ (आ०) ॥

भा. इति चेत् पश्यसि, प्रधानाविप्रकर्षेण प्रयोगवचनानुपपन्नः— इति, ‘सर्व्वं’ तर्हि गुणकाण्डम् एकस्मिन् अपवर्जयितव्यं, यथा सौर्यादिषु ॥

स. नाकृतत्वात् ॥ १० ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवं, सहप्रयोगे एव हि न अनुष्ठितः स्यात् ॥

* द्वितीयोऽपि पदार्थः आरब्धः इति का० ज्ञी० पु० पाठः ॥

† अभ्यधिकैः इति पाठः का० ज्ञी० पु० पाठः ॥

स. ऋत्वन्तरवदिति चेत् ॥ ११ ॥ (आ०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—यथा ऋत्वन्तरेषु वीर्यादिषु—इति, तत् परि-
हर्तव्यम् ॥

स. नासमवायात् ॥ १२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. न तेषामर्थात् क्रमः प्राप्नोति, यो नियम्येत, अङ्गाश्रयो हि
नियमो भवितुमर्हति, अनङ्गसमाश्रयस्य स्वयमङ्गता कल्प्येत ।
(५।१।५ अ०) ॥

क्रमस्य क्वचित् स्थानानुसारिताधिकरणम् ॥

स. स्थानाच्चोत्पत्तिसंयोगात् ॥ १३ ॥

भा. 'एकविंशेन अतिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत्, चिनवेनौजस्तामं,
षयस्त्रिंशेन प्रतिष्ठाकामम्'—इत्येवमादि श्रूयते । तत्र आगमेन
सङ्ख्यापूरणम्—इति वक्ष्यते । तत्र आगमे क्रियमाणे, किम्
अनियमजक्रमाः* सर्वा ऋच आगमयितव्याः, उत काण्ड-
क्रमेभ्यः?—इति । किं प्राप्तम्?—अनियमेन—इति । कुतः? ।
अतिरात्रे चिनवादिब्रह्मार्थनैताः प्राप्नुवन्ति, तत्र एतासां प्राप्नु-
वतीनाम् पाठक्रमो नास्ति—इति । एवं प्राप्ते उच्यते,—यदासां
समाग्नाये स्थानं, तेनैता अत्र नियम्यन्ते, याः पूर्वं समाग्नाताः,
ताः पूर्वमेव प्रयोक्तव्याः, आनुपूर्वस्य हि दृष्टमेतत् प्रयोजनं,
यदुत्तरस्फुरणं तदपि चिकीर्षितमेव—इति । चिनवादिब्रह्मैः
अतिरात्रे यौगपद्येन आसां प्राप्तेः पाठक्रमस्य अविषयः—

* अनियतक्रमाः इति का० त्री० पु० पाठः ॥

† यदुत्तरस्य अरण्यम् इति का० त्री० पु० पाठः ॥

भा. इति अधिकरणान्तरम्—इति भवति मतिः । समाग्न्यायपाठ-
क्रमादेव अत्र नियमः—इति पुनरुक्तता गम्यते—इति अन्यथा
वर्ण्यते,—

स. स्थानाञ्चोत्पत्तिसंयोगात् ॥ १३ ॥

भा. साद्यस्त्रे* श्रूयते,—‘सह पशूनालभते’—इति । तत्र एषो-
ऽर्थः समधिगतः,—सवनीयकाले चयाणाम् आलम्भः—इति ।
अथ अत्र पाठक्रमात्, किम् अग्निषोमीयः पूर्वम् आलम्भ्यः, उत
स्थानक्रमात् पूर्वं सवनीयः?—इति । किं प्राप्तम् पूर्वम्?—
अग्निषोमीयः—इति । कुतः? । पाठक्रमात् । एवं प्राप्ते ब्रूमः,
—सवनीयः पूर्वं, ‘स्थानात्’, यदि पूर्वम् अग्निषोमीयः स्यात्,
सवनीयस्थानं आह्वयेत् । ‘आश्विनं गृहीत्वा षिटता यूर्ध्वं
परिवीय’—इति । ‘ननु इराचापि पाठक्रमो बाधेत’ । बाधतां,
तस्य हि प्रतिषेधार्थः सहस्रब्दः समाग्न्यातः, अप्रतिषिद्धं च
आश्विनयज्ञस्थानम्, तन्न बाधितव्यम् ॥ (५ । १ । ६ अ०) ॥

अत्रक्रमस्य मुख्यक्रमानुसारिताधिकरणम् ॥

स. मुख्यक्रमेण वाङ्मनां तदर्थत्वात् ॥ १४ ॥

भा. ‘सारस्वती† भवतः, एतत् वै दैव्यं मिथुनम्’—इति श्रूयते ।
तत्र सन्देहः,—किं स्त्रीदेवत्यस्य प्रथमं धर्माः, उत पुंदेवत्यस्य ?
—इति । नियमकारिणः शास्त्रस्य अभावात् अनियमः,—
इति प्राप्ते ब्रूमः,—‘मुख्यक्रमेण वा’ नियमः स्यात्—इति
स्त्रीदेवत्यस्य हि पूर्वं याज्यानुवाक्ययोः समाग्नानं,—‘प्राणो
देवी सरस्वती’—इति । तस्मात् स्त्रीदेवत्यस्य पूर्वं प्रदानेन

* सायस्कः सोमयामविशेषः ॥

† सरस्वती च सरस्वांश, तौ देवते यथोर्थोमयोस्त्री सारस्वती ॥

भा. भवितव्यम्, तस्मात् स्त्रीदेवत्यस्य पूर्वं धर्माः कार्याः, तथा हि प्रधानकालता भवति अङ्गानाम्, इतरथा, यैः पदार्थैर्ध्वधानं सामर्थ्यात् अनुज्ञातं, तेभ्योऽधिकैरपि ध्वधानं स्यात् ॥ (५ । १ । ७ अ०) ॥

अत्रेषु मुख्यक्रमापेक्षया पाठस्य बलीयस्त्वाधिकारत्वम् ॥

घ. प्रकृतौ तु स्वशब्दत्वात् यथाक्रमं प्रतीयेत ॥ १५ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः पूर्वमौषधधर्माः समाग्नान्ताः, ततः आज्यस्य । तत्र सन्देहः,—किम् अग्नीषोमीयधर्माणाम्, मुख्यक्रमेण पूर्वम् आज्यस्य धर्माः कर्तव्याः, उत यथापाठम्?—इति । मुख्यक्रमानुयहेण आज्यस्य पूर्वम्;—इति प्राप्ते ब्रूमः,—प्रकृतौ यथापाठं प्रतीयेत, स्वशब्दो हि तेषां पाठक्रमः, सः अन्यथा क्रियमाणे बाधितः स्यात्, सङ्घत्वस्य पुनश्चपसङ्घाहकः प्रयोगवचनः, स्वक्रमेण पदार्थे सन्निलक्ष्यकाणे न बाधितो भविष्यति । अपि च पाठक्रमे स्वशब्दः,—‘साध्यायोऽधेतयः’—इति, मुख्यक्रमेण प्रयोगवचनेकवाक्यता सूचमा* ॥ (५ । १ । ८ अ०) ॥

ब्राह्मणपाठात् मन्त्रपाठस्य बलीयस्त्वाधिकारत्वम् ॥

ख. मन्त्रतस्तु विरोधे स्यात् प्रयोगरूपसामर्थ्यात् तस्मात् उत्पत्तिदेशः सः ॥ १६ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः, आग्नेयस्य पूर्वं मन्त्रपाठः, उत्तरो ब्राह्मणस्य । तत्र सन्देहः,—कतमः† पाठो बलीयान्—इति । उच्यते,—अनियमः, नियमकारिणः शास्त्रस्य अभावात्—इति ।

* अत्रुतः क्रमः कल्प इत्यर्थः इति वार्तिकम् ॥

† कस्य इति का० क्री० पु० पाठः ॥

भा. एवं प्राप्तौ ब्रूमः,—मन्त्रपाठो बलीयान् । कुतः? । ‘प्रयोगरूप-
सामर्थ्यात्’,—प्रयोगाय मन्त्रस्य रूपसामर्थ्यं, तदस्य सामर्थ्यं येन
मन्त्रः प्रयुज्यते, तस्य च प्रयुज्यमानस्य क्रमो दृष्टाय भवति ।
‘ननु च ब्राह्मणपाठस्य अपि तदेव प्रयोजनम्’ । उच्यते,—
‘उत्पत्तिदेशः सः’,—अपरमपि तस्य प्रयोजनं कर्मात्पर्यर्थं
भविष्यति ॥ (५ । १ । ९ अ०) ॥

प्रयोगवचनात् चोदकस्य बलवत्ताधिकारणम् ॥

स. तद्वचनाद्विकृतौ यथाप्रधानं स्यात् ॥ १७ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति अध्वरकल्पा नामेष्टिः,—‘आग्नावैष्णवम् एकादशकपालं
निर्वपेत्, सरस्वती आज्यभागा स्यात् वार्हस्पत्यञ्चरः’—इति ।
तत्र सन्देहः,—किम् आग्नेयविकारस्य वार्हस्पत्यस्य पूर्वं धर्माः
कार्याः, चोदको बलवत्तरः, प्रयोगवचनात्; उत उपांशुयाज-
विकारस्य प्रयोगवचनो बलवत्तरः, चोदकात्?—इति । किम्
प्राप्तम्?—‘विहृतौ’ अस्यां, ‘यथाप्रधानं स्यात्’, ‘तद्वचनात्’,
—तेषां साक्षाद्वचनक्रमो विहृतौ, तेन सन्नहितानाम् उप-
संहारकः प्रयोगवचनो हि प्रत्यक्षः, तद्वर्माणां च आनुमानिकः
चोदकेन हि स प्राप्तः । तस्मात् प्रत्यक्षः प्रयोगवचनो बलवत्तरः,
तेन चोदक आनुमानिको बाध्यते ॥

स. विप्रतिपत्तौ वा प्रकृत्यन्वयाद्यथाप्रकृति ॥

१८ ॥ (सि०) ॥

भा. मुख्याङ्गक्रम—‘विप्रतिपत्तौ वा’, यथा प्रहृतौ, तथैव विहृतौ
भवितुमर्हति—इति । कुतः? । ‘प्रहृत्यन्वयात्’, यादृशाः प्रहृतौ
धर्मा, तादृशा एव विहृतौ भवितुमर्हन्ति—इति, मुख्यक्रमेण
क्रियमाणा न प्रहृतिवत् हताः स्युः । चोदको हि प्रयोग-

भा. वचनात् मन्त्ररः, स हि उत्पादयति प्रापयति च । प्रापितान्
 अभिसमीच्य प्रयोगवचन उपसंहरति, स प्राप्तेषु उत्पन्नः
 प्राप्तिनिमित्तक उत्तरकालं पूर्वप्राप्तं न बाधितुमर्हति चोदकं,
 प्रत्यक्षोऽपि सन्; कश्चिरङ्गत्वात्, यथाप्राप्तानेवोपसंहरिष्यति ।
 तस्मात् पूर्वं वार्हस्पत्यस्य धर्माः, तत आच्यस्य—इति ॥ (५ ।
 १ । १० अ०) ॥

विद्यतौ क्वचित् उक्तिसंभोगतिदेमाधिकरणम् ॥ (साकमेवौपन्यायः) ॥

घ. विकृतिः प्रकृतिधर्मत्वात्तत्काला स्याद्यथाशिष्टम् ॥
 १६ ॥ (पू०) ॥

भा. चातुर्मास्येषु साकमेधः तृतीयं पर्व, तस्य अवयवाः,—‘अग्रये-
 ष्नीकवते प्रातरष्टाकपाली, मन्त्रः सान्त्पनेभ्यो मध्वन्दिने
 चरः, मन्त्रो गृहमेधिभ्यः सर्वासां दुग्धे सायमोदनम्’—इति ।
 तत्र सन्देहः,—किम् एता इरुक्काला इष्टवः, उत सद्यस्कालाः ?
 —इति । किं प्राप्तम्?—‘विकृतिः’ ‘तत्काला’ भवितुमर्हति
 —इति, ‘यथाशिष्टं’,—यथा प्रकृतिरक्ता, तथा विकृतिः स्यात्,
 प्रकृतिधर्मा हि सा, तस्मात् या विकृतिः, सा इरुक्काला
 भवितुमर्हति*—इति ॥

घ. अपि वा क्रमकालसंयुक्ता सद्यः क्रियेत तत्र विधेरनु-
 मानात्प्रकृतिधर्मलोपः स्यात् ॥ २० ॥ (सि०) ॥

भा. अरुः कालेषु ये पदार्था उचरन्ते, प्रातर्मर्थान्दिने सायम्—
 इति, क्रमेण ते एकस्मिन् अहनि—इति प्रतीयन्ते, यथा देवदत्तः
 प्रातः अपूपं भक्षयति मध्वन्दिने विविधमन्नमश्नाति, अपराह्णे

* या या विकृतिः सा सा इरुक्काला इति चा० को० पु० पाठः ॥

भा. मोदकान् भक्षयति—इति एकस्मिन् अहनि—इति गम्यते ।
तस्मात् सद्वस्त्राला एवञ्जातीयका विद्यतयः, द्वैहकाख्यं हि
चोदकप्राप्तम् आनुमानिकं, प्रत्यक्षरूपया सद्वस्त्रालतया बाधेत ॥

ख. कालोत्कर्ष इति चेत् ॥ २१ ॥ (आ०) ॥

भा. 'इति चेत्' पश्यसि,—प्रातः साङ्गं श्रूयते, तथा मध्यन्दिने
सायं च—इति, उत्कर्षो भविष्यति, यथैतेषु कालेषु साङ्गं, न च,
द्वैहकालताया बाधः, एकस्याङ्गः प्रातरनीकवन्तम् उपक्रंस्यते,
द्वितीयस्य प्रातर्यक्ष्यते । एवं सान्तपनीया* पूर्वद्युर्मध्यन्दिने
उपक्रंस्यते, अपरेद्युर्मध्यन्दिने यक्ष्यते, तथा गृहमेधीये सायम्
उपक्रमणं पूर्वद्युः, सायं यागः अपरेद्युः—इति । 'ननु वाक्यात्
एकमहर्गम्यते'—इत्युक्तम् । उच्यते,—पदार्थसामर्थ्यजनितो हि
वाक्यार्थो भवति, न च, अत्र पदार्थसामर्थ्यम् अस्ति, येनैकम्
अहर्गम्येत ॥

ख. न तत्सम्बन्धात् ॥ २२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवम् । कस्मात्? 'तत्सम्बन्धात्',—एककालसम्बद्धानि
प्रधानानि अङ्गैः सह श्रूयन्ते । कथम् साङ्गं हि प्रधानं प्रातः-
काले श्रूयते, तथा मध्यन्दिने सायं च; न अङ्गानि प्रातः-
कालादिषु । तत्र अन्यकालेषु अङ्गेष्वन्यकालेषु च प्रधानेषु,
न, साङ्गं तेषु कालेषु ह्यतं स्यात् । तस्मात् सद्वस्त्राला एवैता
विद्यतयः—इति । अपि च,—'द्वैहं साकमेधैः'—इति श्रूयते,
तत् सद्वस्त्रालासु उपपद्यते ॥ (५।१।११ अ०) ॥

* सान्तपनीयाः इति पाठः आ० सो० पु० । तत्र क्रियापि सर्वत्र तदमुखा अस्ति ॥

† तत्सम्बन्धात् इति का० श्री० पु० पाठः ॥

अनुयाजानुत्कर्षप्रयाजान्तापकर्षाधिकारणम् ॥ (तदातितदन्वयाः) ॥

ख. अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्यथोक्तमुत्कर्षे स्यात् ॥
२३ ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्ठोमे श्रूयते,—‘आग्निमाहतादूर्ध्वम् अनुयाजैश्चरन्ति’
—इति उत्कर्षः, तथा अग्नीषोमीये पञ्चै, तिष्ठन्तं पशुं प्रयजन्ति
इत्यपकर्षः । तत्र सन्देहः,—किम् उत्कर्षे अनुयाजमात्रम् उत्-
हाष्यते, अपकर्षे च प्रयाजमात्रम्, उत उत्कर्षेऽनुयाजादि, अपकर्षे
च प्रयाजान्तम्?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—यावदुक्तम्,
उत्कर्षापकर्षयोः स्यात् । कुतः? । ‘अङ्गानाम् मुख्यकालत्वात्’,
—एवम् अन्येषां प्रधानकालता भविष्यति—इति । तत्र सह-
त्वस्य प्रापकः प्रयोगवचनः अनुग्रहीष्यते ॥

ख. तदादि वाभिसम्बन्धात्तदन्तमपकर्षे स्यात् ॥
२४ ॥ (सि०) ॥

भा. तदादि उत्कर्षे, तदन्तम् अपकर्षे गम्येत । कुतः? । ‘अभि-
सम्बन्धात्’, यत्* अनुयाजानां परस्तात् समाग्नयते, तत्
प्रधानादन्तरं प्रयोगवचनेन प्राप्तं बाधित्वा पाठसामर्थ्यात्
अनुयाजेभ्यः परस्तात् क्रियते, तथा यस्ततः परः, स ततः
परस्तात् । एवमेक उत्हाष्यमाणः सर्वे गुणकाण्डम् उत्कर्षति,
तथाऽपहाष्यमाणोऽपकर्षति—इति ॥ (५ । १ । १२ अ०) ॥

प्रष्टव्या प्रोक्तवादीनां सैनिकपूर्वभाषिताधिकारणम् ॥

ख. प्रष्टव्या कृतकालानाम् ॥ २५ ॥

भा. ज्योतिष्ठोमे श्रूयते प्रातरनुवाककाशे, ‘प्रतिप्रस्थातः सवनीयान

* यदि इति का० मी० पु० पाठः । एवं परच ‘तथा’ इत्यत्र तदा इत्यपि ॥

भा. निर्वपस्वेति प्रेष्यति—इति सवनीयानाम् निर्वापकालः, अस्ति च वह्निष्पवमाने स्तुते 'अग्नीदग्नीन् विद्धर बर्हिस्तृणीहि पुरोद्भ्रानलङ्घुव'—इति । तत्र सन्देहः,—किं प्रातरनुवाककाले सवनीयान् निरूप्य प्रचरणीहोमादयः सौमिकाः पदार्थाः, उत पौरोडाशाः प्रागलङ्करणत्?—इति । किं प्राप्तम्?—अनियमः, नियमकारिणः शास्त्रस्य अभावात् ।

—इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः,—'प्रष्टत्या ह्यतकालानाम्',—ह्यत-कालानाम् पदार्थानाम् प्रष्टत्या नियमः स्यात्, प्रयुज्यमानमेव हि पूर्वपदार्थम् अभिनियच्छति, स तस्य परस्तात् समाग्नातः, परस्तात् कर्त्तव्यः; सौमिकस्य तु पदार्थस्य प्रचरणीहोमस्य वचनात् क्रमो बाधितः, अलङ्करणं च वह्निष्पवमानस्य परस्तात् समाग्नातं, तस्मात् तस्य पूर्वः पदार्था निर्वपणादीनामन्तः, तत उत्तरे सौमिकाः पदार्थाः कर्त्तव्याः—इति ॥

स. शब्दविप्रतिषेधाच्च ॥ २६ ॥ (यु०) ॥

भा. शब्दश्च विप्रतिषिध्यते,—'अलङ्घुव'—इत्युक्तेः मोक्षणादीन् प्रतिपद्येत, अस्मत्पक्षे तु, 'अलङ्घुव'—इत्युक्ते अलङ्करणमेव प्रतिपत्स्यते, तत्र अलङ्करणे प्राप्तकाले प्राप्तकालवचनो लोड्गन्तोऽनुयद्दीष्यते । तस्मात् अत्र प्राष्टत्तिकः क्रमः—इति ॥ (५ । १ । १२ अ०) ॥

वैहृतयूपकर्ममात्रापकर्षाधिकरणम् ॥ (यूपकर्मन्यायः) ॥

स. असंयोगात्तु वैकृतं तदेव प्रतिहृष्येत ॥ २७ ॥

भा. अस्ति दर्शपूर्णमासप्रज्ञातिके पञ्चावगोषोमोये वैहृतं यूपकर्म, तत् प्रतिहृष्यते,—'दीक्षासु यूपं ष्चिनत्ति'—इति । तत् प्रतिहृष्यमाणम् अर्वाचीनान्यपि अग्नीषोमीय-प्रणयनादीनि प्रति-

भा. कर्षति, उत न?—इति संशये, प्रतिकर्षति, सम्बन्धात्—इति गम्यते ।

तथा प्राप्ते ब्रूमः,—विहतावश्यधिकं यत्, तत् प्रतिहाष्यमाणं ततोर्वाचीनान्यपि अग्नीषोमीयप्रणयनादीनि न प्रतिक्रष्टुमर्हति । कथम्? । 'असंयोगात्', पाशुकं यूपकर्म, ततः प्राचीनं सौमिकं, न तयोः परस्परेण सम्बन्धः,—न, सौमिकः पदार्थः, पाशुकस्य उपकारकः पशोर्वा, यदि हि तयोः उपकारकः स्यात्, ततस्तस्य उपकुर्वतः क्रमोऽप्यस्य साहाय्यं कुर्वन् गुणभूतः स्यात्, न त्वेतदस्ति, तस्मात् नैषां परस्परेण क्रमे नियमः, अतो यूपमात्रं प्रतिहाष्यते । अपि च यूपमात्रं प्रतिहाष्ये ह्यतार्थे ब्रह्मे सौमिकानाम् स्रक्तमबाधो न भविष्यति—इति ॥ (५ । १ । १४ अ०) ॥

दक्षिणाग्निकसोमानपकर्षाधिकरत्न ॥

स. प्रासङ्गिकं च नोत्कर्षेदसंयोगात् ॥ २८ ॥

भा. उद्योतिष्टोमे श्रूयते,—'आग्निमाहतादूर्ध्वम् अनुयाजैश्चरन्ति'—इति, अनुयाजा उत्कृष्यमाणा दक्षिणाग्निकौ होमौ उत्कर्षन्ति, न?—इति संशयः । सम्बन्धात् उत्कर्षन्ति ।

—इति प्राप्ते उच्यते,—नैतावुत्क्रष्टुमर्हन्ति, ये तयोः स्वे अनुयाजाः, सम्बद्धास्ते, न प्रयुक्ताः परकीयैः, तेषाम् अर्था निर्वर्त्तितः—इति । पदार्थानाम् च क्रमो भवति, न पदार्थप्रयोजनानाम्, यौगपद्येन हि पदार्था उपकुर्वन्ति—इति वक्ष्यामः, पदार्थानाम् च उत्पत्तिः क्रमवती, पृथक्शब्दत्वात् उत्पत्तेः, न पदार्थप्रयोजनस्य, युगपत्प्रयोगवचनेन अभिहितत्वात् । अतोऽनुयाजोत्पत्तेः उत्कर्षिकाया अभावात् दक्षिणाग्निकौ होमौ न उत्कृष्येयाताम्—इति । अपि च अनुयाजमात्रम् उत्कृष्य

भा. कृतार्थे शब्दे दाक्षिणाग्रिकयोर्द्वैतयोः सूक्ष्मबाधो न भविष्यति
—इति ॥ (५।१।१५ अ०) ॥

पुरोदाशाभिवासनात्मस्य दर्शेऽनपकर्षाधिकरणम् ॥

स. तथाऽपूर्वम् ॥ २६ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोर्वेदिः, हविरभिवासनोत्तरकाले समाग्नाता, सा
अमावास्यायां प्रतिहृष्यते,—‘पूर्वेद्युरमावास्यायां वेदिं करोति’
—इति, सा त्वपहृष्यमाणा ततोर्वाचीनान् पदार्थानपकर्षति,
न?—इति संशयः। उच्यते,—सम्बन्धात् प्रतिकर्षति। इत्येवं
प्राप्ते ब्रूमः,—‘तथाऽपूर्वम्’, अप्रकृतिपूर्विकायाम् अमावास्यायां
वेदिकरणं पूर्वेद्युराग्नातम्, उभयोरपि श्वोभूते हविरभिवासनं,
अभिवासनं कृत्वा अमावास्यायां वेदिः कर्तव्यः—इति न अत्या-
दीनाम् अन्यतमत् कारणमस्ति, तस्मात् न अभिवासनात्ताः
प्रतिक्रष्टव्याः—इति, अभिवासने च अपहृष्यमाणे हवींषि
भङ्गी-भवेयुः ॥ (५।१।१६ अ०) ॥

सान्तपनीयाया अग्निहोत्रानुत्कर्षकताधिकरणम् ॥

स. सान्तपनीया तृत्कर्षेदग्निहोत्रं सवनवद्द्वैगुण्यात् ॥
३० ॥ (पू०) ॥

भा. चातुर्मास्येषु साकमेधावयवः सान्तपनीया नाम इष्टिः,—
‘मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यो मध्यन्दिने चर्षं निर्वपति’—इति, सा दैवात्
मानुषात् वा प्रतिबन्धात्* उत्पद्यमाणा अग्निहोत्रम् उत्कषत्,
न वा?—इति संशये, उच्यते,—‘सान्तपनीया तु उत्कर्षेत् अग्नि-

* प्रतिबन्धादिति आ० से० पु० पाठः ॥

भा. होचं सवनवत् वैगुण्यात्, यदि न उत्कर्षेत्, अग्निहोचसवने-
ऽग्निहोचकाले उद्धृते अग्नावग्निहोचं विगुणं स्यात्! तस्मात्
उत्क्रष्टयं, सवनवत्,—यथा प्रातःसवनं दैवात् मानुषात् वा
प्रतिबन्धात्* उत्क्रष्ट्यमाणं माध्वन्दिनं सवनम् उत्कर्षति—इति,
एवम् अत्रापि द्रष्टव्यम् ॥

स. अव्यवायाञ्च ॥ ३१ ॥ (यु०) ॥

भा. एवं सान्तपनीयम् अग्निहोत्रेण न व्यवहितं भविष्यति—
इति, तत्र क्रमोऽनुग्रहीष्यते; क्रमभेदे च दोषः श्रूयते,—‘अप
वा एतत् यज्ञाच्छ्रियते,† यदन्यस्य तदे विततेऽन्यस्य तच्च
प्रतीयते’—इति ॥

स. असम्बन्धात् नोत्कर्षेत् ॥ ३२ ॥ (सि०) ॥

भा. न अग्निहोत्रस्य सान्तपनीया अङ्गं, न सान्तपनीयाया वा
अग्निहोत्रं, तेन नासावग्निहोत्रस्य परस्तात् कर्त्तव्या, अतो न
अग्निहोत्रम् उत्क्रष्टव्यम् ॥

स. प्रापणाञ्च निमित्तस्य ॥ ३३ ॥ (यु०) ॥

भा. प्राप्तं च अग्निहोत्रस्य निमित्तं,—‘सायं जुहोति, प्रातर्जुहोति,
उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति, प्रथमास्तमिते जुहोति, सन्धौ
जुहोति, नक्षत्राणि दृष्ट्वा जुहोति’—इति, तत् न अति-
क्रमितयं, तस्मात् अपि न उत्कर्षः। यदुक्तं,—वैगुण्यम्—इति,
उत्कर्षेऽपि वैगुण्यं कालान्यत्वात्। ‘अङ्गप्राप्तेर्जघन्यः काल-
विधिर्बाधताम्’—इति चेत्। न, कालस्य निमित्तत्वात्,

* प्रतिबन्धादिति आ० सो० पु० पाठः ॥

† यज्ञस्य च्छियते इति का० क्री० पु० पाठः ॥

भा. तदपाये अयुतमेव सर्वं क्रियेत, निमित्तं च, अनुपादेयत्वेन
अवणात्, सप्तमी हि आधारादिष्वसम्भवात् निमित्तसप्तमी
द्रष्टव्या । अथ यदुक्तं, सवनवत् उत्क्रष्टव्यम्—इति, तदुच्यते,—

स. सम्बन्धात् सवनोत्कर्षः ॥ ३४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. सम्बद्धं हि सवनं सवनेन, एकक्रतुसम्बन्धात्, तत् उत्क्रष्टव्यते ॥
(५।१।१७) ॥

उच्यमानरोधेन षोडशोत्कर्षाधिकारश्च ॥

स. षोडशी चोक्त्यसंयोगात् ॥ ३५ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते, षोडशिनं प्रहृत्य, 'तं पराञ्चमुक्त्येभ्यो
विगृह्णाति'—इति, यदा दैवान् मानुषात् वा प्रतिबन्धात्*
उच्यमानि उत्क्रष्टव्यन्ते, किम् तदा षोडशी उत्क्रष्टव्या, न?—
इति भवति संशयः । किं प्राप्तम्?—न उत्क्रष्टव्यः । कुतः? ।
एवं स्तोत्रं स्वस्मिन् काले षोडशिनः कृतं भविष्यति—इति,
—समयाध्यक्षिते सूर्ये षोडशिनस्तोत्रम् उपाकरोति—इति ।
तस्मात् अनुत्कर्षः—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'षोडशी च' उत्क्रष्टव्यः । कस्मात्? ।
'उक्त्यसंयोगात्', उक्त्यसंयोगो हि षोडशिनो भवति,—'तं
पराञ्चम् उक्त्येभ्यो विगृह्णाति'—इति । तस्मात् उत्क्रष्टव्यः
षोडशी । यदुक्तं,—षोडशिनस्तोत्रकालेन अवर्जनं भविष्यति
—इति, उच्यते, स्तोत्रक्रममनुबन्धमानस्य प्रधानक्रमो विरुद्धेत् ।
तस्मात् न स्तोत्रक्रमोऽनुरोद्धव्यः, उभयं न शक्यम् अनुगृहीतुम्,
यद् वा गृहीत्वा चमसं बोद्धीय स्तोत्रम् उपाकरोति—इति

* प्रतिबन्धादिति आ० सो० पु० पाठः ॥

भा. श्रूयते । तस्मात् उत्क्रष्टयः षोडशी—इति ॥ (५।१।
१८ अ०) ॥

इति श्रीब्रह्मरक्षामिनः छतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठमस्याध्यायस्य
प्रथमः पादः ॥

पञ्चमे अध्याये द्वितीयः पादः ॥



राजपेक्षपञ्चमी सर्वेषामेकदोषाकरणादि—वर्मानुष्ठानाधिकरणम् ॥

(पदार्थानुसमयन्यायः) ॥

ख. सन्निपाते प्रधानानामेकैकस्य गुणानां सर्व्वकर्म
स्यात् ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा. राजपेये,—‘सप्तदश राजापत्यान् पशूनासभते’—इति
श्रूयते, अग्नीषोमीये च पश्वी पशुधर्माः समाग्नाताः चोदकेन
प्राप्ताः ; तेषु संशयः,—किम् एकस्य आदेरारभ्य धर्मान्
सर्वान् कृत्वा, द्वितीयस्य पुनरादित उपक्रमितव्याः, अथ प्रथमः
तावत् सर्वेषां कर्त्तव्यः, ततो द्वितीयः?—इति । किं प्राप्तम्?
—‘एकैकस्य’ सर्वे अपवर्जयितव्याः—इति । कुतः? । प्रधाना-
सत्तेरनुग्रहाय, इतरथा प्रधानासन्निविष्टायेत! यथा बज्रमु
अश्वेषु प्रतिगृहीतेषु ये पुरोडाशाः, तेषु नैकजातीयानुसमयः,
एवम् इहापि—इति ॥

ख. सर्व्वेषां वैकजातीयं कृतानुपूर्व्वत्वात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा. एकजातीयानुसमयः कर्त्तव्यः । किम् एवं भविष्यति? । सङ्घत्वं
अनुग्रहीष्यते, तत्सङ्घत्वम् श्रूयते,—‘वैश्वदेवीं कृत्वा पशु
भिस्त्वरन्ति’—इति, एकस्मिन् काले पशूनां प्रचारः ।

‘ननु एवं सति पूर्व्वस्य पदार्थस्य उत्तरः पदार्थः पशवन्तर-
द्यापारेण व्यवधीयते’ । नैष दोषः, एवमपि कृतमेव आनुपूर्व्वं,
—योऽसौ पशवन्तरे व्यापारः स एवासौ, न पदार्थान्तरं,
पदार्थान्तरेण व्यवधानं भवति ॥

स. कारणादभ्यावृत्तिः ॥ ३ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—बहुषु पुरोडाशेषु न एकजातीयानुसमयः—
इति, तत् परिहर्तव्यम्, अत्र उच्यते,—युक्तं तत्र, यत् 'कारणात्
अभ्यावृत्तिः',—एकजातीयानुसमये हि क्रियमाणे सहस्रस्य
अधिअयणे ह्यते प्रथमः सुष्येत्, तस्य च प्रथमं न शक्येत कर्तुम् ॥
(५।२।१ अ०) ॥

अथ वा अधिकरणान्तरम्,—

सहस्राक्षप्रतिपदस्यस्यसे एकैकस्य एकदा सर्व्यघर्षानुष्ठानाधिकरणम् ॥

(काष्ठानुसमयन्यायः) ॥

स. कारणादभ्यावृत्तिः ॥ ३ ॥

भा. अनेकसहस्राक्षप्रतिपदे तद्वानुष्ठानम्—इति पूर्वः पक्षः ।
काष्ठानुसमयोभ्युपेतव्यः*—इति सिद्धान्तः ॥ (५।२।२ अ०) ॥

मुष्टिकपाशादीनाम् समुदायानुसमयाधिकरणम् ॥

स. मुष्टिकपालावदानाञ्जनाभ्यञ्जनवपनपावनेषु
चैकेन ॥ ४ ॥ (पू०) ॥

भा. मुष्णादिषु संग्रहः,—किं मुष्टिना अनुसमयः, उत चतुर्भिः
मुष्टिभिः?—इति । किं प्राप्तम्?—मुष्टिना—इति । कुतः? ।
एकमुष्टिनिर्वापो हि एकः पदार्थः, न चतुर्मुष्टिनिर्वापः ।
कथम्? । एकस्मिन् मुष्टौ निरक्षे यतीभावः पर्यवस्यति, न शक्यं
वदितुम्,—न किञ्चित् निरक्षम्—इति, न च, निरक्षे निर्वापो
न ह्यतः स्यात्, न च मुष्टिमात्रेण निरक्षेण न प्रयोजनं, न हि

* एकस्मिन् कृत्स्नघर्षसमापनं काष्ठानुसमयः इति ॥

† मुष्टिमात्रे निरक्षे इति का० त्री० पु० पाठः ॥

भा. एकस्मिन्, अनिष्टे चत्वारः सम्भवन्ति, मुष्टिसमानाधिकरणो हि चतुःशब्दः, तस्मात् मुष्टिना अनुसमयः कार्यः। एवं,— 'कपासान् उषदधाति'—इति, तथा, 'मध्यादवद्यति पूर्वाङ्गादवद्यति', तथा, 'अङ्क्तेभ्यङ्क्ते वपति पावयति'—इति ॥

ख. सर्वाणि त्वेककार्यत्वाद्देष्टां तद्गुणत्वात् ॥ ५ ॥
(सि०) ॥

भा. सर्वाणि तु समाप्य अनुसमेयात्, नैकमुष्टिनिर्वापः पदार्थः, चतुःसङ्ख्यत्वात् निर्वापस्य। कथं चतुःसङ्ख्यता? चतुःशब्दस्य निर्वपतिना सम्बन्धात्, एवं सह कर्मणा, अनेकगुणविधानं न्याय्यं, इतरथा, मुष्टिसम्बन्धे सति वाक्यभेदः प्रसज्येत! अनिर्वापाङ्गं च स्यात्! तथोपधानादिष्वपि, अष्टाकपालम् एकादशकपालं निर्वपति—इति निर्देशात्। 'द्विरवद्यति चिरभ्यङ्क्ते एकविंशत्या पावयति'—इति सङ्ख्यादीनाम् क्रियागुणत्वं भवति। तस्मात् समुदायेन अनुसमयः—इति ॥ (५। २। ३ अ०) ॥

अवदानस्य प्रदानान्मानुसमयाधिकरणम् ॥

ख. संयुक्ते तु प्रक्रमात्तदङ्गं स्यादितरस्य तदर्थत्वात् ॥ ६ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'द्विर्द्विषोऽवद्यति'—इति। तच्च संशयः,—किं अवदानेन अनुसमयः, उतावदानेन प्रदानान्तेन?—इति। किं प्राप्तम्?—अवदानेन—इति ब्रूमः। कुतः?। पृथक्पदार्थत्वात्, पृथक् पदार्था हि अवदानं, यतीभावस्य पर्यवसानात्, अवद्यतिवचनात्। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'संयुक्ते तु प्रक्रमात् तदङ्गं स्यात्, इतरस्य तदर्थत्वात्', न अवदानं पृथक् पदार्थः, प्रदानस्य स उपक्रमः, इतरथा अवद्यतेः अदृष्टार्थता

भा. स्यात्! सङ्ग्राविशेषविधानार्थम् च पुनर्वचनम्। तस्मात्
पदार्थावयवोऽवदानं, न च अवयवसङ्घर्षं प्रयोगवचनेन उच्यते,
तस्मात् प्रदानान्तेन अनुसमयः—इति ॥ (५।२।४ अ०) ॥

अङ्गनादेः परिच्छाद्यान्मानुसमयाधिकरणम् ॥

घ. वचनात्तु परिच्छाद्यान्तमङ्गनादि स्यात् ॥ ७ ॥
(सि०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे अग्नीषोमीयपञ्चौ यूपस्य अङ्गनाद्याः पदार्थाः
अयन्ते, तेषु यूपैकादशिन्यां प्राप्तेषु संख्यः,—किं अङ्गनादीनाम्
एकैकेन अनुसमयः, उत अङ्गनादिना परिच्छाद्यान्तेन?—इति।
किं प्राप्तम्?—परिच्छाद्यान्तम् अङ्गनादि स्यात्। कुतः?।
'वचनात्', वचनमिदं भवति,—'अङ्गनादि यजमानो यूपं नाव-
च्छजेत् आ-परिच्छाद्यात्'—इति, न च अर्थं, वङ्गवङ्गनादिना
अनुसमयः कर्तुम्, न च अनवच्छेदम्। तस्मात् परिच्छाद्यान्तेन
अनुसमयः ॥

घ. कारणादानवसर्गः स्यात् यथा पाचदृष्टिः ॥ ८ ॥
(पू०) ॥

भा. सङ्घत्वस्य प्रापकः प्रयोगवचनोऽनुपहीष्यते—इति पदार्थेन
अनुसमयः। 'अनवसर्गः' च प्रकृतौ अर्थात् कृतः, साहाय्यं
यजमानेन अध्वर्याः, एवं दृष्टार्थता अनवसर्गस्य, इतरथा
अदृष्टार्थता स्यात्! न च, अर्थात् कृतं चोदकः प्रापयति।
तस्मात् यूपान्तरेणोच्छ्रयितव्येन* कारणेन अवच्छजेत्, यथा
'पृषदाज्येन अनुयाजान् यजति'—इति अर्थात् तस्य धारणार्थं
पाचम्भिद्यते ॥

* उच्छ्रयितव्येन इति का० मी० पू० पाठः ॥

स. न वा शब्दकृतत्वाध्यायमात्रमितरदर्थात्पाच-
विष्टद्धिः ॥ ८ ॥ (पू० नि०) ॥

भा. न वैतत्पदार्थेन अनुसमयः—इति, परिष्ठाणानेन पदार्थ-
काण्डेन अनुसमयः स्यात्, शब्दद्वयं हि प्रकृतौ अनवसर्जनं,
अप्नोति हि ऋतेऽपि यजमानात्, अध्वर्युः यूपमुच्छ्रयितुम् ।
'सौकर्यम्'—इति चेत् । विधिश्च गदो बाधेत ! दृष्टार्थता एवं
हि नियम्येत ! भोजने प्राङ्मुखता इव, अतोऽसम्भवात्, पदार्थ-
काण्डेन अनुसमयः, प्रयोगवचनस्य च न्यायमात्रत्वं, चोदकः
ततो बलीयान्, पाचविष्टद्धिस्त्वर्थात् कर्तव्या ॥ (५।२।
५ अ०) ॥

दैवताद्यवदानेषु पदार्थानुसमयाधिकरणम् ॥

स. पशुगणो तस्य तस्यापवर्जयेत्पश्वेकत्वात् ॥ १० ॥
(पू०) ॥

भा. वाजपेये प्राजापत्याः पशवः । तेषु सन्देहः,—किम् एकैकस्य
पशोर्दैवतानि अवदाय ततः सौविष्टतानि, तत ऐड़ानि ; अथ
दैवतैर्दैवतानामनुसमयः, सौविष्टतैः सौविष्टतानाम्, ऐड़ै-
रैड़ानाम्?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—एकैकस्य दृष्टानि
अवदाय ततो द्योतयं, प्रकृतौ वचनात्, एतद्व्यतं प्राजापत्येष्वपि
चोदकेनैव प्राप्नोति ॥

स. दैवतैर्वैककर्मात् ॥ ११ ॥ (सि०) ॥

भा. न एतदेवम्, 'दैवतैः' दैवतानां, सौविष्टतैः सौविष्टतानाम्,
ऐड़ैरैड़ानाम्—इति । कस्मात्? । 'वैककर्मात्', एवं सद्द्वयं
भवति, यच्च वचनात् प्रकृतौ दृष्टावदानम्—इति, 'दैवतानि

भा. अवदाय न तावति एव होतव्यं, सौविष्टकृतानि अवदेयानि ; सौविष्टकृतानि अवदाय न तावत्येव होतव्यं, ऐहानि अवदेयानि—इति प्रकृतौ श्रूयते, तत् इह दैवतैर्देवतानाम् अनुसमयं कुर्वन्नेनं प्राकृतं धर्मं बाधेत, दैवतानि अवदाय नैव जुहोति, सौविष्टकृतानि अवद्यति—इति ; अथ सौविष्टकृतानि अवदाय नैव जुहोति, ऐहानि अवद्यति—इति । तस्मात् पदार्थमात्रेण अनुसमयः—इति ॥

घ. मन्त्रस्य चार्थवत्त्वात् ॥ १२ ॥ (यु०) ॥

भा. एवं मनोतामसस्तत्रं भविष्यति, इतरथा पर्यायेणैव स्यात् । तस्मात् दैवतैर्देवतानां सौविष्टकृतैः सौविष्टकृतानां ऐहैरैहानाम्—इति ॥ (५।२।६ अ०) ॥

नामावीजेष्टौ उलूखलादीनाम् तन्त्रताधिकरणम् ॥

घ. नानावीजेष्वेकमुलूखलं विभवात् ॥ १३ ॥ (सि०) ॥

भा. अस्ति राजसूये नानावीजेष्टिः,—‘अग्नये गृहपतये सुती-
नामष्टाकपालं निर्वपेत्, सोमाय वनस्पतये त्रयामाकं चक्षुम्—
इत्येवमादि । अस्ति तु तत्र प्राकृतोऽवहन्तिः । तत्र सन्देहः,—
किं तत्रैकम् उलूखलं पर्यायेण, उत यौगपद्येन बह्वनि ?—इति ।
कुतः संशयः ? । यदि कृष्णाजिनाधस्तरणादयः पृथक् पदार्थाः,
ततो भेदः ; अथ कृष्णाजिनास्तरणादिः तण्डुलनिर्दृश्यन्त एकः
पदार्थः, ततः तद्वत्—इति । किं तावत् प्राप्तम् ?—एकम्—
इति । कुतः ? । पर्यायेण ‘विभवात्’,—एकस्य उपादानेन
सिद्धेर्द्वितीयस्य उपादानम् अनर्थकं स्यात् । तस्मात् तद्वत्—
इति ॥

ख. विट्टद्विर्वा नियमानुपूर्वस्य तदर्थत्वात् ॥ १४ ॥ (पू०) ॥

भा. 'विट्टद्विः' उलूखलानां स्यात्, नियतं हि आनुपूर्थं पाठघृतं सद्दत्वे सति उपपद्यते, पदार्थानां च अनुसमयः, पृथक्पदार्थाश्च अधस्तरणादयो यतीभावस्य पर्यवसानात्, अधस्तरणादिभिश्च पदैरभिधानात् । तस्मात् विट्टद्विः—इति ॥

ख. एकं वा तण्डुलभावाद्भन्तेस्तदर्थत्वात् ॥ १५ ॥ (उ०) ॥

भा. 'एकं वा' उलूखलं पर्यायेण स्यात्, एको हि अधस्तरणादिः तण्डुलपर्यन्तः पदार्थः, स्तरणादिर्हन्तेषुपक्रमः फलीकरणान्तश्च तस्यैव शेषः*, यतो हन्तिस्तण्डुलनिष्पत्त्यर्थः, एवं स्तरणादीनां हन्तेश्च न अट्टाद्यर्थता भविष्यति । तस्मात् तद्यम्—इति ॥ (५।२।७ अ०) ॥

अग्नीषोमीयपरौ प्रयाजानुयाजयोः पात्रभेदाधिकारश्च ॥

ख. विकारे त्वनुयाजानां पात्रभेदोऽर्थभेदात् स्यात् ॥ १६ ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः, तत्र श्रूयते,—'पृष-
दाज्येना अनुयाजान् यजति'—इति । तत्र सन्देहः,—किं
प्रयाजानुयाजानाम् एकं पात्रम् आज्यस्य पृषदाज्यस्य च
धारणार्थम्, उत भिद्यते ? किं प्राप्तं?—एकम्—इति । कुतः ? ।
प्रकृतविकं, प्रकृतवत् इहापि एकेन भवितव्यम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'पात्रभेदः' स्यात् । कुतः ? । 'अर्थभेदात्',
शुद्धस्य प्रयाजा अर्थः, पृषतोऽप्यनुयाजाः, पृषति गृह्यमाणे

* फलीकरणादयश्च तस्यैव विशेषाः इति का० श्री० पु० पाठः ॥

† इतिभिन्नमाख्यम् उपदाख्यम् ॥

भा. प्रयाजानां वैगुह्यं, शुद्धेऽनुयाजानाम् । न च, एकस्मिन् पात्रे विविक्तं ब्रह्मं कर्तुम् । मर्यादायामपि क्रियमाणायां प्रदीयमानं संश्लज्येत ! अपि च आकारभेदादुपभृतः उपभृत्त्वं विद्वन्येत ! प्राणिमात्रपुष्करा हि सा, एकपुष्करा च ।

‘अथ उच्येत,—पृषदाज्यमप्याज्यमेव—इति न मिश्रत्वं दोषाय—इति’ । नैतदेवं, प्रहृतौ उत्पवनावेषणयोः प्रयोजनमेतत्, यत् आज्यस्यापरेण द्रव्येण असंसर्गः । एवं चेत् अनुपपन्नं, यत् प्रयाजा पृषदाज्येन द्रव्येण—इति । अपि च, एवं सति अवश्यं हविषः काचित् माषा अपनीयते । न च ब्रह्मं, प्रसावकार्येऽवसितेऽनुयाजायं यद्गीतुम्, प्रहृतावेककालं यद्गुणम्, इहापि एककालमेव कर्तव्यम् । तस्मात् पात्रभेदः—इति ॥ (५ । २ । ८ अ०) ॥

गारिष्ठ्योमस्योपसोमपूर्वताधिकरणम् ॥

ख. प्रहृतेः पूर्वोक्तत्वादपूर्वमन्ते स्यान्न ह्यचोदितस्य शेषाम्नामम् ॥ १७ ॥ (सि०) ॥

भा. अग्नौ नक्षत्रेष्वग्नीं श्रूयते,—‘अग्नये ह्यक्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टा-कपालं निर्वपेत्, सोऽत्र जुहोति, अग्नये स्वाहा, ह्यक्तिकाभ्यः स्वाहा’—इत्येवमादिहोमाः समाग्नाताः । सन्ति तु प्रहृतौ नारिष्ठहोमाः* । तत्र सन्देहः,—किं नारिष्ठहोमाः पूर्वम्, उत उपहोमाः?—इति संशये उच्यते, प्राकृतं पूर्वं, वैकृतमन्ते स्यात्—इति । कुतः? । चोदितस्य परिपूर्णस्य शेष आग्नायते, यथा जातस्य पुत्रस्य क्रीडनकम् ॥

* इह ते तमवो यज्ञयज्ञिया इत्यादि कनैराप्याकृतयो गारिष्ठ्योमाः इति भाष्यः ॥

स. मुख्यानन्तर्यमात्रेयस्तेन तुल्यश्रुतित्वादशब्दत्वात्
प्राकृतानाम् व्यवायः स्यात् ॥ १८ ॥ (पू०) ॥

भा. 'आत्रेयो' मन्यते स्म, 'मुख्यानन्तर्यं' वैद्वतस्य, पश्चात् तु
प्राकृतं प्रयुज्येत। प्रधानानन्तरं विद्वतस्य पाठः प्रत्यक्षः, तस्मात्
पूर्वम् उपहोमाः ततो नारिष्टहोमाः—इति। 'प्राकृतानां
व्यवायः स्यात्', यतः ते न श्रूयन्ते ॥

स. अन्ते तु वादरायणस्तेषां प्रधानशब्द-
त्वात् ॥ १९ ॥ (उ०) ॥

भा. 'वादरायणस्तु' आचार्यो मन्यते स्म, 'अन्ते' वैद्वतानां प्रयोगः
—इति। कुतः?। प्रधानशब्दगृहीतत्वात्, प्राकृतानामङ्गानाम्
प्रधानशब्दगृहीतत्वं, तत्प्रधानशब्दगृहीतानि हि प्राकृतानि
अङ्गानि, तस्मात् च प्रधानशब्दात् परमेतत्,—'सोऽपि जुहोति
अग्रये स्वाहा इत्तिकाभ्यः स्वाहा'—इत्येवमादि। तस्मात्
प्रत्यक्षादेव क्रमात्नारिष्टहोमेभ्यः पराच्च उपहोमाः—इति ॥

स. तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ २० ॥ (यु०) ॥

भा. अन्यार्थाऽपि चैतमर्थं दर्शयति,—'अध्वरस्य पूर्वमथाग्नेरुप
प्रैत्येतत् कर्म, यदग्निर्कर्म'—इति; पश्चात्समाग्नातस्य पश्चात्
प्रयोगं दर्शयति ॥ (५।२।९ अ०) ॥

विदेवनादीनामभिषेकपूर्वताधिकरणम् ॥

स. कृतदेशात्तु पूर्वेषां स देशः स्यात्तेन प्रत्यक्षसंयोगात्
न्यायमात्रमितरत् ॥ २१ ॥

भा. राजसूये श्रूयते,—'अग्निर्दीप्यति त्रीनःशेषमाद्यापयति, अभि-

भा. धिचयते'—इति । तत्र सन्देहः,—किम् देवनादीनामन्ते प्रयोगः, उत अभिषेकात् पूर्वम्?—इति । किम् प्राप्तम्?—'अन्ते तु वादरायणः'—इत्यन्ते प्रयोगः कर्त्तव्यः—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'ह्यतदेवात् अभिषेकात् पूर्वं तु प्रयोगः, ह्यतदेवो हि अभिषेकः, 'माहेन्द्रस्य स्तोत्रं प्रत्यभिधिचयते'—इति प्रत्यक्षानु-पह्यायाभिषेकात् पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । 'न्यायमाचम् इतरत्,—'अन्ते तु वादरायणः'—इति ॥ (५।।२।१० अ०) ॥

सावित्रहोमादीनां दीक्षणीयपूर्वप्रयोगाधिकरणम् ॥

ख. प्राकृताश्च पुरस्ताद्यत् ॥ २२ ॥

भा. अस्ति अग्निः,—'य एवं विद्वानग्निश्चिनुते'—इति । तत्र दीक्षणीयायाः पूर्वं सावित्रहोमाः उखासम्भरणम्, इष्टकाः पशुश्च—इत्येतदाग्नातम् । किं तदेव पूर्वं कर्त्तव्यम्, उत दीक्षणीया?—इति । किं प्राप्तम्?—वैह्यतानामन्ते प्रयोगः, 'अन्ते तु वादरायणः'—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—पूर्वं सावित्र-होमाः, इष्टकाः, पशुखवासम्भरणं च । कुतः? । प्रत्यक्षपाठात्, पुनः तत्र दीक्षणीया आग्नाता, तस्याश्च पुरस्तात् सावित्र-होमा इष्टकाः पशुखवासम्भरणं च । तस्मात् तेषां पूर्वं प्रयोगः—इति ॥ (५।२।११ अ०) ॥

शाक्यमानसंस्काराणां वक्त्रप्रतिभोकात् पूर्वभाविताधिकरणम् ॥

ख. सन्निपातश्चेत् यथोक्तमन्ते स्यात् ॥ २३ ॥

भा. अग्नौ दीक्षणीयायाः परतो वक्त्रप्रतिभोचनादि* आग्नातं,

* कथं इतः सन् उरसि सन्मामः वैवर्हं आभरन्विशेषो वक्त्रप्रत्यार्थ इति भाष्यः ॥

भा. तस्मिन् एव क्रमे चोदकेन दीक्षितसंस्काराः प्राप्ताः । तत्र सन्देहः,—क्रिम् अनियमः, उत पूर्वं वक्त्रप्रतिमोचनादि, उत दीक्षितसंस्काराः?—इति । किं प्राप्तम्?—अनियमः । अथ वा, यथा प्रत्यक्षपाठक्रमात् दीक्षणीयायाः पुरत उखासम्भरणद्वयः, एवं वक्त्रप्रतिमोचनादीनि—इति ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—दीक्षितसंस्काराः पूर्वं कर्तव्याः—इति । कुतः? । दीक्षणीयां प्रति यः पाठक्रमः, यथा च चोदकः, तयोभयेऽपि परस्तात् दीक्षणीयायाः कार्याः । यः तेषां परस्परपेक्षः क्रमः, तत्र न कश्चिदुखासम्भरणस्येव प्रत्यक्षः पाठक्रमः पूर्वत्वम् साधयति । अस्ति तु संस्काराणां प्रकृतौ पूर्वं पाठः, विद्वत्तौ वक्त्रप्रतिमोचनस्य उत्तरः, तेन यद्योक्त एव क्रमः स्यात्, अन्ते वैद्वतम्—इति । ‘अथ किमर्थं सन्निपात आशङ्कते?’ । ननु अयं सन्निपात एव व्यक्तः । असन्दिग्धे सन्दिग्धवचनमेतत्, यथा

‘ईजाना बद्धभियज्ञैर्वाङ्मणा वेदपारगाः* ।

आशाणि चेत् प्रमाणं स्युः, प्राप्ताः ते परमां गतिम्—इति । तस्मात् न दोषः—इति ॥ (५ । २ । १२ अ०) ॥

इति श्रीश्रवरखामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

* आशायाश्च बद्धभुताः इति का० श्री० पु० पाठः ॥

पञ्चमे अथाथे तृतीयः पादः ॥

प्रयाजादीनाम् एकादशादिसङ्ख्यायाः सर्वसम्पाद्यताधिकारवत् ॥

स. विवृद्धिः कर्मभेदात्पृषदाज्यवत्तस्य तस्योप-
दिश्येत ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा. अग्निषोमीये पञ्चौ श्रूयते,—‘एकादश प्रयाजान् यजति एका-
दशानुयाजान् यजति’—इति । चातुर्मास्येषु नव प्रयाजान्
यजति नव अनुयाजान् यजति—इति । अग्नौ श्रूयते, ‘बहुप-
सदः’—इति । तत्र सन्देहः,—किं प्रतिप्रयाजमेकादशसङ्ख्या
प्रत्यनुयाजं च, तथा चातुर्मास्येषु नवसङ्ख्या, तथा अग्नौ
चोपसत्सु षट्सङ्ख्या, उत सर्वसम्पाद्या सङ्ख्या?—इति । किं
प्राप्तम्?—प्रतिप्रधानं सङ्ख्या भिद्यते—इति । कुतः? । भिन्नानि
हि तानि कर्माणि, तानि च प्रधानानि प्रति, सङ्ख्या श्रूयते ;
प्रधानसन्निधौ च गुणः श्लिष्यमाणः प्रतिप्रधानम्भिद्यते, यथा
‘पृषदाज्येनानुयाजान् यजति’—इति प्रत्यनुयाजं पृषत्ता गुणो
भिद्यते, एवम् इहापि—इति ॥

स. अपि वा सर्वसङ्ख्यात्वादिकारः प्रतीयेत ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा. सर्वसम्पाद्या सङ्ख्या कल्प्येत । कुतः? । पृथक्त्वनिवेशिनी हि
सङ्ख्या असति पृथक्त्वोभ्यासेन कल्प्येत, यावत्यसम्भवो भेदस्य,
तावत्येवाभ्यस्येत, यावति सम्भवति, तावति पृथक्त्वनिवेश एव
न्याय्यः, तस्मात् सर्वसम्पाद्यैव सङ्ख्या । यत्तु,—‘पृषदाज्यवत्’—
इति, न, पृषत्ता एकस्य न संभवति, न असौ पृथक्त्वनिवेशिनी,
न च, एकस्य क्रियमाणा सर्वेषां तत्रेणोपकरोति—इति ।

भा. तस्मात् अवश्यं भेत्तव्या, तत्रेण तु उपकरोति सङ्ख्या, इतरा-
पेक्षा हि सा भवति । एवं सति सङ्ख्यत्वस्य प्रापकः प्रयोग-
वचनोऽनुपहृष्यते—इति ॥ (५।३।१ अ०) ॥

प्रथमादीनां तिसृणामुपसदां स्वस्थानादृत्वधिकरणम् ॥

ख. स्वस्थानात्तु विट्धेरन् कृतानुपूर्व्यत्वात् ॥ ३ ॥

भा. उपसत्त्वं सन्देहः,—किम् आट्टतिर्दण्डकलितवत्, उत स्व-
स्थानात् विवर्द्धन्ते?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—आवर्त्त-
नीयानामर्थानामेष धर्मः, यदुत दण्डकलितवत्*, यो हि
उच्यते,—‘चिरनुवाकः पद्यताम्’—इति, स आदित आरभ्य
परिसमाप्य पुनरादित आरभ्यते, तस्मात् दण्डकलितवदा-
ट्टतिः ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘स्वस्थानात्’ विवर्द्धितुमर्हति । कुतः? ।
‘कृतानुपूर्व्यत्वात्’, कृतमानुपूर्व्यम् उपसत्त्वं, ‘प्रथमां कृत्वा
मध्यमा कर्त्तव्या, तत उत्तमा’—इति । तत्र यदि दण्डकलि-
तवर्दाट्टतिः स्यात्, उत्तमां कृत्वा पुनराद्याया अभ्यासे क्रिय-
माणेऽस्थाने सा विट्द्धिः कृता भवति । स्वस्थानविट्द्धौ नैष
दोषः । तस्मात् स्वस्थाने विट्द्धिः—इति ॥ (५।३।२ अ०) ॥

सामिधेनीषु सामन्नामन्ते निवेशाधिकरणम् ॥

ख. समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण धाय्याः स्यु-
र्द्यावापृथिव्योरन्तराले समर्हणात् ॥ ४ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः सामिधेन्यः ‘सामिधेनीरन्वाह’—इति ।

* यथा द्रष्टेन भूप्रदेशं समिधामानः पुरुषः सामूलायं कृत्वा द्रष्टुं पुनः पुनः पातयति,
न तु द्रष्टव्यं प्रत्यवयवम् पृथगादिति करोति इति साधवः ॥

भा. तत्र काम्याः सामिधेनीकल्पाः 'एकविंशतिमनुब्रूयात् प्रतिष्ठा-
कामस्य'—इत्येवमाह्वयः, तत्र आगमेन सङ्ख्यापूरणं वक्ष्यते। तत्र
सन्देहः,—किम् आगम्यनामन्ते निवेशः, उत समिधमानवती*
समिद्धवती च अन्तरेण निवेशः?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—
अन्ते निवेशः, 'अन्ते तु वादरायणः' (५।२।१९ सू०)—इत्यनेन
ग्यायेन—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'समिधमानवतीं समिद्ध-
वतीं च अन्तरेण निवेशः'—इति। कुतः?। 'द्यावापृथिव्योरन्त-
राले समर्हणात्' (संस्तवादित्यर्थः), 'इयं वै समिधमानवती,
असौ समिद्धवती, यदन्तरा, तद्वाय्या' इत्यन्तरिक्षसंस्तुतेऽस्मिन्
अन्तराले विधीयन्ते। तस्मात् न अन्ते स्युः—इति ॥

सू. तच्छब्दो वा ॥ ५ ॥ (सि०) ॥

भा. अथ वा या धार्याशब्दिकाः, ताः तत्र भवितुमर्हन्ति, तेन
शब्देन तत्र संस्तवः, संस्तवाच्च विधानं, यथा, 'पृथुपाञ्जवत्यौ
धार्ये उष्णिक्कुभौ धार्ये'—इति। 'काः पुनरेता धार्याः—
इति नाम? न अस्य शब्दस्य प्रसिद्धिम् उपलभामहे'। उच्यते,
—सामिधेन्यो धार्याः। कुतः?। एवं हि भगवतः पाणिनेर्वचनं
"पाय्य-सान्नाय्य-निकाय्य-धार्या मान-हवि-र्निवास-सामिधे-
नीषु" (३।१।२९ सू०)—इति, अस्मात् वचनात् श्रुतिमनुमिमी-
महे। 'कतमासु सामिधेनीषु?'—इति। उच्यते,—अविशेषात्
'सर्वास्त्विति गम्यते, इह तु 'समिधमानवतीं समिद्धवतीं च अन्त-
रेण धार्याः स्युः'—इति, सर्वासु सामिधेनीषु सतीषु धार्याव-
चनात् विशिष्टानां सामिधेनीनां धार्याशब्दः—इति गम्यते।

'ननु पाणिनिवचनादविशेषेण सर्वा धार्याः'। न—इत्याह,
विशिष्टास्त्रय वचनम् उपपद्यते एव। 'यदि विशिष्टाः, ततः

* समिधमानोऽध्वरः इत्यसौ ऋक् समिधमानवती। समिद्धो अग्न्यादूतेत्यसौ ऋक्
समिद्धवती इति माधवः ॥

भा. काः?—इति। उच्यते,—यासु धार्याशब्दः श्रूयते, ताः तावत् धार्याः, तासु च धार्यासु सतीषु वचनम् अर्थवत् भवति। अर्थ-वति च सति वचने न अन्या धार्याः, प्रमाणाभावात्—इति ॥

स. उष्णिक्कुभोरन्ते दर्शनात् ॥ ६ ॥ (यु०) ॥

भा. 'उष्णिक्कुभोः' च 'अन्ते' प्रयोगो दृश्यते,—'यज्जगत्या परिदध्नादन्तं यज्ञं गच्छेत्, अथ यच्चिष्टुमा परिदधाति नान्तं गच्छति'—इति। 'ननु चिष्टुम् अचान्ते दृश्यते, न उष्णिक्कुभौ'—इति। उच्यते,—चिष्टुभमेवायम् उष्णिक्कुभौ—इति ब्रूते। कथम्?। 'चिष्टुभो वीर्यम्'—इत्येवमन्ते संस्तुतेः 'चिष्टुभो वा एतदीयं यत् उष्णिक्कुभौ'—इति कारणे कार्यवत् उपचारः कृतः ॥ (५।३।३ अ०) ॥

वह्निष्वसाने चागन्तूनां पर्यासोत्तरकालताधिकरणम् ॥

स. स्तोमविष्टौ वह्निष्वसाने पुरस्तात्पर्यासादागन्तवः
स्यस्तथाहि दृष्टं द्वादशाहे ॥ ७ ॥ (पू०) ॥

भा. सन्ति विष्टस्तोमकाः क्रतवः,—'एकविंशेन अतिरात्रेण प्रजा-कामं याजयेयुस्त्रिणवेन ओजस्कामं त्रयविंशेन प्रतिष्ठाकामम्'—इति, तत्र आगमेन सङ्ख्यापूरणं वक्ष्यते। अथ वह्निष्वसाने वैष्टतेषु आनीयमानेषु भवति संशयः। किं वैष्टतानामन्ते निवेशः, उत प्राक् पर्यासात्?—इति। किं प्राप्तम्?—'पुर-स्तात्पर्यासादागन्तवः स्युः, तथा हि दृष्टं द्वादशाहे, 'स्तोचि-यानुरूपौ तृचौ भवतः, दृषण्वन्तस्तृचा भवन्ति, तृच उत्तमः पर्यासः'*—इति इहापि प्राक्पर्यासादागन्तुभिर्भवितथम् ॥

* अयमर्थः प्राक्तानां वह्निष्वसानगतानां त्रयाणां द्वाभ्यां स्तोत्रीयोऽनुरूपः पर्यास-वेति नीहि नामानि, तत्र सोदाकागतयोः अनुरूपपर्यासयोस्तृचयोर्मध्ये दृषण्वन्तस्तृचाः सृचा कर्तव्या इति साधयः ॥

सू. पर्यास इति चान्ताख्या ॥ ८ ॥ (यु०) ॥

भा. पर्यासशब्दस्य अन्तवचनो लोके दृश्यते, यथा, शेषपर्यासः, नदीपर्यासः—इति । एवं पर्यासोऽन्ते कृतो भविष्यति ॥

सू. अन्ते वा तदुक्तम् ॥ ९ ॥ (सि०) ॥

भा. अन्ते वा एवञ्जातीयकं वैकृतं स्यात्, उक्तम्,—‘अन्ते तु वाद-
रायणः’ (५।२।१९ सू०)—इति ॥

सू. वचनानु द्वादशाहे ॥ १० ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—‘तथाहि दृष्टं द्वादशाहे’—इति, तत्परि-
हर्तव्यम् । अथ उच्यते, वचनात् द्वादशाहे भवति, ‘स्तोत्रियानु-
रूपी तृचौ भवतः दृषण्वन्तस्तृचा भवन्ति, तृच उत्तमः पर्यासः’
—इति । न हि वचनस्य अतिभारोऽस्ति ॥

सू. अतद्विकारश्च ॥ ११ ॥ (१ यु०) ॥

भा. न च, अयं तद्विकारः, यत्ततो धर्मान् गृह्णीयात्—इति ॥

सू. तद्विकारेऽप्यपूर्वत्वात् ॥ १२ ॥ (२ यु०) ॥

भा. योऽपि तद्विकारः, तच्चाप्यन्ते एव निवेशः । कुतः ? । ‘अपूर्व-
त्वात्, दृषण्वतां तृचानाम्, दृषण्वन्त एव प्राक्पर्यासात्, यावत्-
वचनं वाचनिकं, न सदृशम् उपसङ्क्रामति ॥ (५।३।४ अ०) ॥

तत्रैवात्रन्तानां सान्नां मध्ये निवेशाधिकरणम् ॥

सू. अन्ते तूत्तरयोर्हृद्घ्यात् ॥ १३ ॥ (पू०) ॥

भा. इहापि विद्वद्ब्रह्मस्तोमकाः क्रतव उदाहरणम् । तत्र उत्तरयोः

भा. पवमानयोः साम्नामागमः—इति वक्ष्यते (१० अ०) । तत्र आगम्यमानेषु सामसु सन्देहः,—किं तेषामन्ते निवेशः, उत गायत्री-वृहत्त्यनुष्टुप्?—इति । किं प्राप्तम्?—‘अन्ते उत्तरयो-र्ह्रधात्’ । उक्तः अत्र न्यायः,—‘अन्ते तु वादरायणः’—इति । तस्मात् अन्ते निवेशः—इति ॥

ख. अपि वा गायत्री-वृहत्त्यनुष्टुप् वचनात् ॥ १४ ॥ सि० ॥

भा. ‘गायत्री-वृहत्त्यनुष्टुप्’ निवेशः । कस्मात्? । ‘वचनात्’, ‘त्रीणि ह्र वै यज्ञस्य उदराणि गायत्री-वृहत्त्यनुष्टुप्ति । अत्र ह्येव आवपन्ति अत एवोदपन्ति*—इति वचनेन अस्ति उपा-लम्भः । तस्मात् न एषाम् अन्ते निवेशः—इति ॥ (५ । ३ । ५ अ०) ॥

गृहेष्टकादीनां क्रतुश्लेषताधिकरणम् ॥

ख. गृहेष्टकमौपानुवाक्यं सवनचितिशेषः
स्यात् ॥ १५ ॥ (पू०) ॥

भा. औपानुवाक्ये काण्डे यद्वा इष्टकासु समाग्नाताः,—‘एष वै ह्रविषा ह्रविर्यजते, यो दाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते’—इति, तथा, ‘परा वा एतस्यायुः प्राण एति योऽंशुं गृह्णाति’—इति, तथा ‘इष्टकाश्चिषिणीरुपदधाति, वज्रिणीरुपदधाति, भूतेष्टका उपदधाति’—इति । तत्र सन्देहः,—किं गृहेष्टकमौपानुवाक्यं सवनश्लेषचितिशेषस्य, अथ किं क्रतुश्लेषोऽग्निश्लेषस्य?—इति ।

* अथमर्थः, सोमस्य विष्टद्वये साक्षात्सामावापः क्रियते, ज्ञासाय च उद्वापः, तावुभौ चावापोद्वापौ गायत्रादिश्लेषे मान्यतेति । ‘उच्चाते जातमन्वसः’ इत्येष मान्दिव-पवमानस्यासृष्टः । स्वाधिष्ठयेत्येष चार्भकपवमानस्य । तावुभौ गायत्री-वृहत्त्यौ, तयो-रावापः न तु विष्टुपञ्जरी-वृहत्त्योरन्यथोद्वापयोः सामावापमीयम् इति भाष्यः ॥

भा. किं प्राप्तम्?—‘सवनचितिशेषः’। कुतः?। यच्चैः सवनानि
आरभ्यन्ते, इष्टकाभिश्चितयः, यच्च येन आरभ्यते तत्तदङ्गम् ॥

स. क्रत्वग्निशेषो वा चोदितत्वाद्चोदनानुपूर्वस्य ॥
१६ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘क्रत्वग्निशेषः’ स्यात्। कुतः?। ‘चोदितत्वात्’, अग्निश्चेतव्यः
श्रूयते,—‘य एवं विद्वानग्निं चिनुते’—इति, न चितिश्चेतव्या,
इष्टकाचयनेन अग्निश्चेतव्यः श्रूयते, ‘अग्निम्’—इति द्वितीया-
निर्द्देशात्, तथा ‘यो दाभ्यं गृह्णीत्वा सोमाय यजते’—इति
अदाभ्यस्य यजतिना सम्बन्धः, तथा अंशोः। तस्मात् सहत्
यागसम्बन्धं कृत्वा कृतार्थः शब्दो भवति, अतं सम्बन्धम् अभि-
निर्वर्त्य। तथा सहदग्निस्सम्बन्धं कृत्वा कृती मन्येत, ‘अचोदना’
चितिसवनयोः, न हि ते कर्त्तव्यतया चोद्येते, परार्थं हि
तयोः अथवा। किं प्रयोजनं?। सवनचितिशेषत्वे, प्रति-सवनं
यद्गृहणं, प्रति-चिति च इष्टकोपधानं। क्रत्वग्निशेषत्वे सहत्
यद्गृहणोपधाने ॥ (५।२।६ अ०) ॥

चित्रिष्णादीनां मध्यमचितानुपधानाधिकरणम् ॥

स. अन्ते स्युरव्यवायात् ॥ १७ ॥ (पू०) ॥

भा. औपानुवाक्ये श्रूयते,—‘चित्रिणीरुपदधाति, वसिष्ठीरुप
दधाति’—इति। तत्र सन्देहः,—किम् एताः पञ्चम्यां चिता-
वुपधेयाः, उत मध्यमायाम्?—इति। किं प्राप्तम्?—पञ्चम्याम
एवेष्टकाः कृतक्रमाः, अन्या नैताभिर्ध्वेष्यन्ते ॥

स. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १८ ॥ (यु०) ॥

भा. आवपनं वा उत्तमा चितिः ‘अन्या इष्टका उपदधाति’—इति ॥

स. मध्यमायान्तु वचनात् ब्राह्मणवत्यः ॥ १९ ॥
(सि०) ॥

भा. नैवेता अन्तयायां चितौ । 'कस्यां तर्हि? । मध्यमायां' ।
कुतः? । 'ब्राह्मणवत्यः' एता इष्टकाः, तासां मध्यमा चिति-
राम्नायते,—'यां वै काञ्चित् ब्राह्मणवतीम् इष्टकाम् अभि-
जानीयात्, तां मध्यमायां चितावुपदध्यात्'—इति । 'ननु सर्वा
एवेष्टका ब्राह्मणवत्यः' । न—इत्याह, अपरा लिङ्गक्रमात्
समाख्यानाच्च । तस्मात् एता नान्ते स्युः—इति ॥ (५ । ३ ।
७ अ०) ॥

लोकमुखातः पूर्वं चिचिष्णासुपधानाधिकरणम् ॥

स. प्राग्लोकम्पृष्णायास्तस्याः सम्पूरणार्थत्वात् ॥ २० ॥

भा. औपानुवाक्ये काण्डे इष्टकाः समाग्नाताः,—'वसिष्ठीरुप-
दधाति, चिचिष्ठीरुपदधाति, भूतेष्टका उपदधाति'—इति ।
तत्र इदं समधिगतं,—मध्यमायां चितावुपधेयाः—इति । तत्र
सन्देहः,—किं प्राक् लोकम्पृष्णायाः*, उत पश्चात्?—इति । किं
प्राप्तम्?—'अन्ते तु वादरायणः'—इति । एवं प्राप्ते उच्यते,—
'प्राक् लोकम्पृष्णायाः तस्याः सम्पूरणार्थत्वात्', सम्पूरणार्थता
तस्याः श्रूयते,—'यदेवास्योर्न, यच्छिद्रं, तत् अनया पूरयति,
लोकं पृष्णं श्छिद्रं पृष्णं'—इति । अपूर्वत्वात् वार्थस्य, विधिरेवार्थ
संस्तवेन—इति गम्यते । तस्मात् प्राक् लोकम्पृष्णायाः स्यात् ॥
(५ । ३ । ८ अ०) ॥

* लोकं इव श्छिद्रं इव इत्यनेन उपधीयमाना इष्टका लोकमुखात् ॥

• इष्टिसंस्कृताग्निहोषाद्यनुष्ठानाधिकरणम् ॥

स. संस्कृते कर्म्म संस्काराणान्तर्दर्थत्वात् ॥ २१ ॥ (पू०) ॥

भा. आधाने सन्ति पवमानेष्टयः । सन्ति च नियतानि कर्माणि, अग्निहोषादीनि । अनियतानि च ऐन्द्राग्नादीनि । तत्र सन्देहः,—किं पवमानेष्टीः कृत्वा कर्माणि प्रतिपत्तयानि, उत आहित-मात्रेषु अग्निषु?—इति । किं प्राप्तम्?—आहितमात्रेषु—इति । कुतः? । आहितमात्रेषु असौ अग्निषु कर्माणि कर्तुम् समर्थो भवति, यथा, 'आहिताग्निर्न क्लिप्तं दार्षा दध्यात्'—इति । दर्शयति च,—'अग्निं वै षष्ठम् अग्निहोषेण अनुद्रवन्ति'—इति आहितमात्रेषु अग्निहोषं दर्शयति । तस्मात् न पवमानेष्टयः प्रतीक्षितव्याः—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—पवमानेष्टिभिः संस्कृतेषु अग्निषु कर्माणि वर्त्तेरन् । कुतः? । 'संस्काराणां तर्दर्थत्वात्', संस्कारशब्दा एते आहवनीयादयः, संस्कारस्य कस्यचित् अभावेन, आहवनीया-दिषु प्रतिपत्तिः स्यात् । तस्मात् संस्कृतेषु अग्निषु कर्माणि—इति ॥

स. अनन्तरं व्रतं तद्भूतत्वात् ॥ २२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. यत्,—'आहिताग्निर्न क्लिप्तं दार्षा दध्यात्'—इत्येवमादिः युक्तं, यत् आहितमात्रेषु क्रियते, आहिताग्नेः तद्भूतम् उच्यते, स च, आहितमात्रेषु आहिताग्निः संष्टतः । तस्मात् 'अनन्तरं व्रतं' स्यात्, 'तद्भूतत्वात्' ॥

स. पूर्वं च लिङ्गदर्शनात् ॥ २३ ॥ (आभा०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—आहितमात्रेषु अग्निहोषं दर्शयति, पूर्वं इष्टिभ्यः—इति, तस्य कः परिहारः?—इत्याभाषान्तं सूचम् ॥

ख. अर्थवादो वा अर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥ २४ ॥ (उ०) ॥

भा. 'अर्थवादः' एषः। कुतः?। 'अर्थस्य विद्यमानत्वात्', विद्यमानो हि तत्र अन्य एव अग्निहोत्रहोमः। कथं होतव्यम् अग्निहोत्रं न ह तव्यम्?—इति मोमांसन्ते ब्रह्मवादिनः। 'यत् यजुषा* जुञ्जयात् अथथापूर्वमाज्जती जुञ्जयात् यदि न जुञ्जयात् अग्निः परापतेत् तूष्णीमेव होतव्यम्'—इति, तस्य तूष्णींहोमस्य प्रसंगार्थाभ्यमर्थवादः ॥

ख. न्यायविप्रतिषेधाच्च ॥ २५ ॥ (यु०) ॥

भा. न्यायविप्रतिषेधश्च भवेत्, यदि अनन्तरम् अग्निहोत्रादयः स्युः, यः पूर्वाक्तो न्यायः, स विप्रतिषेधेत,—'न वा तासां तदर्थत्वात्'—इति। तस्मात् संस्मृते कर्माणि भवेयुः—इति ॥ (५।३।९ अ०) ॥

अग्निचिद्वर्षादिप्रतानां क्रलनेऽनुष्ठानाधिकरणम् ॥

ख. सञ्चिते त्वग्निचिद्युक्तं प्रापणान्निमित्तस्य ॥ २६ ॥
(पू०) ॥

भा. 'अग्निचिद्वर्षति, न धावेन्न स्त्रियमुपेयात्, तस्मात् अग्निचिता पक्षिणो न अञ्जितव्याः'—इत्येवमादयः पदार्थाः श्रूयन्ते। तेषु सन्देहः,—किं सञ्चितमात्रे प्रतिपत्तव्याः उत क्रत्वन्ते?—इति। किं प्राप्तम्?—सञ्चितमात्रे एव—इति। आग्निं यास्यतवान् सोऽग्निचित्—इति तस्य श्रूयमाणाश्चितवतीऽनन्तरमेव प्राप्नुवन्ति, प्राप्ते निमित्ते नैमित्तिकं कर्तव्यम्। तस्मात् अनन्तरमेव ॥

* यपञ्जया इति वा० ऋी० पु० पाठः ॥

ख. क्रत्वन्ते वा प्रयोगवचनाभावात् ॥ २७ ॥ (सि०) ॥

भा. प्रयोगवचनो हि अत्र तान् पदार्थान् प्रापयति, येषां क्रत्वर्थत्वम्; न चैषां क्रत्वर्थत्वमस्ति, पुष्यार्था इति। कथं? प्रतिषेधे पुष्यः श्रूयते,—‘वर्षात न धावेन्न श्रियमुपेयात्’—इत्येवमादि, न च क्रत्वर्थ्या एते प्रसक्ताः, येन प्रतिषेधः क्रतोश्चप-
कुर्यात्।

‘ननु पुष्यार्था अपि चितवतः अवणाच्चयनानन्तरं प्राप्ताः’।
न—इति ब्रूमः,—

ख. अग्नेः कर्मत्वनिर्द्देशात् ॥ २८ ॥ (यु०) ॥

भा. अग्न्यर्थं चयनं तत्, यदग्नेः स्वं कार्यं कुर्वतः साहाय्ये वर्तते, तत् तदर्थं। कश्च तस्य स्वार्थः? यागसिद्धिः, सिद्धे च यागे चयनेन उपहृतं भवति। तस्मात् सिद्धे यागेऽग्निचित्, तेन क्रत्वन्ते—इति ॥ (५।३।१० अ०) ॥

दीक्षाया रक्षिष्वन्ताधिकरणम् ॥

ख. परेणावेदनाद्दीक्षितः स्यात्सर्वेर्दीक्षाभिसम्बन्धात् ॥
२९ ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत् दीक्षिष्यमाणः’—इति, तथा ‘दण्डेन दीक्षयति, मेखलया दीक्षयति, वृष्णाजिनेन दीक्षयति’—इत्येवमादि। तत्र सन्देहः,—किं सर्वेर्दीक्षितो भवति, अथ वा इच्छन्ते दीक्षितः?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—‘सर्वैः’—इति। कुतः?। ‘दीक्षाभिसम्बन्धात्’, दीक्षासम्बन्धो भवति,—‘दण्डेन दीक्षयति, (दीक्षामस्य करोति—इत्यर्थः), यदि इच्छन्ते दीक्षितः स्यात्,

भा. कथम् अस्य दण्डेन दीक्षां कुर्यात्, तेन इच्छा न दीक्षितः ।
न च, अस्य इच्छन्ते दीक्षितशब्दं पश्यामः, आवेदने त्वस्य
दीक्षितशब्दः, तस्मात् न तावति दीक्षितः स्यात् । न च
सम्भवति समुच्चये विकल्पो न्याय्यः, पक्षे बाधः स्यात्, तत्र
प्रयोगवचनो बाधेत । तस्मात् भिन्नेष्वपि दीक्षासम्बन्धवाक्येषु
प्रयोगवचनेन सहैकवाक्यता—इति आवेदनकाले दीक्षितः
स्यात् ॥

स. इच्छन्ते वा तदर्था ह्यविशेषार्थसम्बन्धात् ॥ ३० ॥
(सि०) ॥

भा, 'इच्छन्ते वा' दीक्षितः स्यात्, 'तदर्था हि' सा (दीक्षणार्था) ।
कथं ? दीक्षिष्यमानस्य अदीक्षितस्य सा भवति, यदि तस्या
उत्तरकाले दीक्षितः, एवं सा दीक्षिष्यमाणस्य । तस्मात् वाक्या-
दवगम्यते,—भवति तदा दीक्षितः—इति, दीक्षाकरणे पदार्थं
निर्दिष्टे किमिति न दीक्षितः स्यात् ? वाक्यं हि निरपेक्षं
दीक्षितः—इति ज्ञापयति ।

यत्तु,—दीक्षासम्बन्धो 'दण्डेन दीक्षयति'—इति ; कथं स
दीक्षितत्वे स्यात् ?—इति दण्डेनैवं सम्पादयति—इत्यव-
गच्छामः, यत्तु,—अनन्तरं दीक्षितशब्दो नास्ति—इति ; न
शब्दस्य अप्रयोगः अर्थाभावे हेतुः ; सत्यप्यर्थं तदवसराभावात्
प्रयुज्यते शब्दः । अन्येन च दीक्षितः—इत्यवगम्यते वाक्येन,
'अग्रावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत् दीक्षिष्यमाणः'—इति ।
यच्च,—आवेदनकाले दीक्षितशब्दः—इति ; इच्छन्तेऽपि दीक्षि-
तस्य असावविषद्भुः, प्रयोगवचनस्याविषद्भुः, यतः एकं दीक्षा-
करणम्, अन्यैर्दीक्षितं सम्पादयति—इति गम्यते ॥

ख. समास्थानं च तद्वत् ॥ ३१ ॥ (यु०) ॥

भा. इतश्च पश्यामः, इष्टिर्दीक्षणार्था, इच्छन्ते च प्रवृत्तिः—
इति। कस्यात्?। 'समास्थानं च तद्वत्'—इति यदस्य
उपदिष्टः। कथम्?। दीक्षणीया—इति तादर्थ्यकरी समास्था
भवति, यथा खानीयम् भोजनीयञ्च—इति। तस्याश्च पश्यामः,
इष्टिर्दीक्षणार्था इच्छन्ते च प्रवृत्तिः—इति ॥ (५।३।१९ अ०) ॥

काम्येष्टीनामनियमेनानुष्ठानाधिकरणम् ॥

ख. अङ्गवत् क्रतूनामानुपूर्व्यम् ॥ ३२ ॥ (पू०) ॥

भा. इह काम्या इष्टय उदाहरणम्,—'येन्द्राग्रमेकादशकपालं
निर्वपेत्'—इत्थेवमाहयः, गवाहयः सोमाः, सौम्याहयः वज्रवः।
तत्र सन्देहः,—किं येन क्रमेण अधीताः, तेनैव क्रमेण प्रयोक्तव्याः,
उत अनिबन्धः?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—'क्रतूनामानु-
पूर्व्यं' यत् पाठे, तदेव प्रयोगे भवितुमर्हति, एवं पाठक्रमो-
ऽनुगृहीतो भविष्यति, इतरथा पाठक्रमो बाधेत, तन्मा भूत्—
इति क्रमेण अनुष्ठानतयम् ॥

ख. न वासम्बन्धात् ॥ ३३ ॥ (सि०) ॥

भा. 'न वा', अर्थं क्रमो नियम्येत। कुतः?। 'असम्बन्धात्',
पृथक् पृथक् एषां कर्मणां प्रयोगवचनानि, तानि स्वपदार्थानाम्
उपसंहारकाणि, यो यस्य न उपकारकः, स तस्य न क्रमेण,
न उत्क्रमेण; यो यस्य उपकरोति कस्वचित्, तस्य उपकुर्वतः
क्रमः साहाय्ये वर्तते। न च, इतानि कर्माणि अन्योन्यस्य
उपकुर्वन्ति, तस्यात् न एषां क्रमः साहाय्ये वर्तते। तस्यात्
असम्बन्धः—इति ॥

ख. काम्यत्वाच्च ॥ ३४ ॥ (यु०) ॥

भा. काम्यानि च एतानि कर्माणि, कामाश्च न क्रमेण उत्पद्यन्ते, तेन निमित्तस्य अक्रमत्वाच्च क्रमवन्तः—इति ॥

ख. आनर्थक्याच्चेति चेत् ॥ ३५ ॥ (आ०) ॥

भा. इति यदुक्तम् पूर्वपक्षे, तदेव पुनश्चयते परिहर्तुम्, एवं क्रमेण पाठोऽर्थवान् भविष्यति—इति । एतदाभाषान्तं सूत्रम् ॥

ख. स्याद्विद्यार्थत्वाद्यथा परेषु सर्वस्वारात् ॥ ३६ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. 'स्वात्' अर्थवान् क्रमपाठः, असत्यपि प्रयोगे क्रमे, विद्या-
यद्दृष्टार्थत्वात्,—कर्मावबोधनार्थायां विद्यायां क्रमनियमादुक्तं
तदाश्रयमेव भविष्यति—इति, यथा, त्वत्पक्षे 'परेषु सर्व-
स्वारात्', यस्यापि क्रमोऽङ्गम्—इति पक्षः, तस्यापि सर्वस्वारात्
परेषां सर्वस्वारेण यः क्रमः तस्य अदृष्टार्थता श्रवणं कल्प-
नीया ॥ (५।३।१२ अ०) ॥

यज्ञानामग्निष्टोमपूर्वकताधिकरणम् ॥

ख. य एतेनेत्यग्निष्टोमः प्रकरणात् ॥ ३७ ॥ (सि०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'एष वाव प्रथमो यज्ञानां यत् ज्योति-
ष्टोमः, य एतेनानिद्वा अथान्येन यजेत गर्त्तपत्त्रमेव तज्जायते
प्रवामीयते'*—इति । तत्र सन्देहः,—'यः एतेन'—इति कस्य

* 'एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यत् ज्योतिष्टोमो य एतेनानिद्वा अथान्येन यजेत्
गर्त्तपत्त्रमेव हि तत् जीर्यते प्रवामीयते'—इति साधवीधे पाठः । तथास्यार्थोऽप्यकारि
—'यथा गर्त्तपत्त्रमुच्छ्रितं पचावस्थादिकं पुनर्न ज्ञाप्यपद्युयते, केवलं जीर्यते, तथा,
प्रथममनुष्ठितं यज्ञान्तरं पश्चाच्च गोपयुक्तं, यजमानश्च तेनापराधेन अपसत्युभाम् भवती-
त्यर्थः' इति ॥

भा. अयं वादः?—इति प्रश्नेन एवोपक्रमः । उच्यते,—‘यः एतन्’
—इति अग्निष्टोमस्य वादः । कुतः? । ‘प्रकरणात्’, तस्य हि
प्रकरणे भवति एतद्वचनं, प्रकृतवाचीनि च सर्वनामानि भवन्ति ॥

स. लिङ्गाच्च ॥ ३८ ॥ (हे०) ॥

भा. लिङ्गमपि भवति,—तच्च श्रूयते, ‘यस्य नवतिशतं स्तोत्रीयाः’
—इति, अग्निष्टोमस्य हि भवन्ति नवतिशतं स्तोत्रीयाः ।
कथं? । षष्टत् षष्टिष्वपमानं, पञ्चदशानि आन्धानि, तानि
चत्वारि सा एकोनसप्ततिः । पञ्चदशो माध्वन्दिनः पवमानः,
तेन चतुरशीतिः । सप्तदशानि पृष्ठानि, तानि चत्वारि
साष्टषष्टिः, चतुरशीत्या सह द्विपञ्चाशच्छतं । सप्तदश आर्भवः
पवमानः, तेन षष्ट्यधिकं शतं नव च । एकविंशं यज्ञायज्ञीयम्
—इति तदेतन्नवतिशतम् अग्निष्टोमस्य, तस्मादप्यग्निष्टोमः ॥
(५ । ३ । १३ अ०) ॥

ज्योतिष्टोमविकाराणाम् अग्निष्टोमपूर्वकताधिकरणम् ॥

स. अथान्येनेति संस्थानाम् सन्निधानात् ॥ ३९ ॥ (पू०) ॥

भा. ‘अथ अन्येन’—इति किं संस्थानां वादः, अथ ज्योतिष्टोम-
विकाराणाम् एवैकाहादीनाम्?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?
—‘संस्थानाम्’—इति । कुतः? । ‘सन्निधानात्’, सन्निहिताः
तस्मिन् प्रकरणे संस्थाः, तासां वादः प्रकरणानुपहाय ॥

स. तत्प्रकृतेर्वापत्तिविहारौ हि न तुल्येषूपपद्येते ॥ ४० ॥
(सि०) ॥

भा. ‘तत्प्रकृतेर्वा’ गवादेर्वादः स्यात्, ‘आपत्तिविहारौ हि’
प्रकृतिविकारमात्रेषु ‘उपपद्येते’, न तुल्यशब्देषु एव ज्योतिष्टोम-

भा. शब्दकेषु । नैवम् अभिसम्बन्धः क्रियते,—‘अथान्येन’ ज्योति-
ष्टोमशब्दकेन—इति । कथं तर्हि?—‘अन्येन’—इति प्रकृतात्
इतरत् ब्रवीति, न, स ज्योतिष्टोमेन विशिष्यते, न हि शब्दस्य
अर्थः समीपगतेन ह्यतप्रयोजनेन एकदेशेऽवस्थापयितव्यो भवति,
न हि वाक्येन श्रुतबाधते । अथ, ज्योतिष्टोमादन्येन—
इत्यभिसम्बन्धते, ततो नतरां संस्थावादः । कथं पुनरापत्ति-
विहारौ? । ‘प्रजापतिर्वा अग्निष्टामः, स उत्तरान् एकाहान्
अष्टजत ते इडा अब्रुवन्, न वै स्वेनात्मना प्रभवामः—इति,
तेभ्यः स्वातन्त्र्यं प्रायच्छत्*, तथा च ते प्राभवन् तत् । यथा
वा ‘इदमग्रेर्जातादध्यग्रयो विह्रियन्ते’ । एवं वा, ‘एतस्मात्
यज्ञादन्ये यज्ञक्रतवो विह्रियन्ते, यो वै विष्टदन्त्यं यज्ञक्रतु-
मापद्यते, स तं दीपयति, यः पञ्चदशं, स तं, यः सप्तदशं,
स तं, यः एकविंशं, स तम्—इत्येवमाङ्करेको यज्ञः—इति ।
एते वै सर्वे ज्योतिष्टोमाः भवन्ति—इति । एवं वैहृतानाम्
सङ्कीर्तनात्, तेषामेव वादः—इति गम्यते । कथम्? । ‘अथा-
न्येन’—इति, योऽसावन्यः, तत्र प्राकृतान् धर्मान् विहृतान्
दर्शयति, अतो मन्यामहे, यस्य यतो विहृतिः, तेन अन्येन
—इति ॥

स. प्रशंसा वा विहरणाभावात् ॥ ४१ ॥ (आ०) ॥

भा. यद्येवं न तर्हि तद्विकाराणाम् वादः, तत्र न विहारो नापत्तिः
प्रकरणादिभिः, ते धर्मा ज्योतिष्टोमस्य, यदि हि गवाद्यो
विष्टियेरन् प्रकरणादीनि बाधेरन्, तदापत्तिः प्रत्यक्षविषङ्गा,
‘प्रशंसा’ त्वेषा, आपत्तिविहाराभावात् ॥

* न वयं सेन स्वात्मना प्रभवाम इति तेभ्यः स्वां तनुं प्रायच्छदिति माधवीये पाठः ॥

ख. विधिप्रत्ययाद्वा नह्यकस्मात्प्रशंसा स्यात् ॥ ४२ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. अत्र उच्यते,—यद्यप्यापत्तिविहारौ न विधीयेते, ते तथापि च, दकेन विधीयेते, ये प्रकृतौ कर्त्तव्याः, ते चोदकवचनात् विहृतावपि कर्त्तव्या गम्यन्ते, तदापत्तिविहाराविव यत्र भवतः, तेन अन्येन—इति ज्ञेयते । न ह्येकस्मात् प्रशंसा स्यात्, योऽसावन्यः, स कथम् अनया प्रशंसया लक्ष्येत?—इत्येवमर्था प्रशंसा ॥ (५।३।१४ अ०) ॥

सर्वेषामेकानेकस्तोमकानाम् अपिष्टोमपूर्वकताधिकारकम् ॥

ख. एकस्तोमे वा क्रतुसंयोगात् ॥ ४३ ॥ (पू०) ॥

भा. 'य एतेनानिष्ठा, अधान्येन यजेत'—इति श्रूयते । तत्र एषोऽर्थः समधिगतः,—तद्विकाराणाम् वादः—इति । अथ इदानीं सन्दिह्यते,—किम् एकस्तोमकस्य, अनेकस्तोमकस्य च?—इति । किं प्राप्तम्?—एकस्तोमकस्य वादः । कुतः? । 'क्रतुसंयोगात्', एकस्तोमे क्रतुसंयोगो भवति,—“यो वै चिष्टदन्यं यज्ञक्रतुमापद्यते स तन्दीपयति, यः पञ्चदशं स तं, यः सप्तदशं स तं, यः एकविंशं स तं” । चिष्टदादय एकस्तोमकाः । तस्मात् तेषां वादः—इति ॥

ख. सर्वेषां वा चोदनाविशेषात् प्रशंसा स्तोमा-
नाम् ॥ ४४ ॥ (सि०) ॥

भा. 'सर्वेषां' च एष वादः, एकस्तोमकानाम् अनकस्तोमकानाम् च । कुतः? । अविशेषवचनात् अन्यज्ञदस्य । 'ननु एकस्तोमकाः क्रतवः सङ्कीर्त्यन्ते' । सत्यं सङ्कीर्त्यन्ते, प्रशंसार्थं, न

भा. विशेषार्थम् । कः पुनः प्रज्ञसार्थः ? । 'यो वै चिद्वदन्यं यच्चक्रतु-
मापद्यते स तन्दीपयति', चोदकप्राप्ता धर्मा अभ्यस्ताः प्रहृतौ,
विहृतौ सुखं प्रतिपद्यन्ते ॥ (५।३।१५ अ०) ॥

इति श्रीशिवरक्षामिनः हृतौ मीमांसाभाष्ये पञ्चमस्याध्यायस्य
ततीयः पादः ॥

पञ्चमे अध्याये चतुर्थः पादः ॥



पाठक्रमापेक्षया अत्यर्थयोर्बलवत्त्वाधिकारणम् ॥

क्रमको योऽर्थशब्दाभ्यां अतिविशेषादर्थ-
परत्वाच्च ॥ १ ॥

भा. इह पाठक्रमस्य अत्यर्थक्रमाभ्यां सह बाधां प्रति विचारणम्,
—किं पाठक्रमः ताभ्यां तुल्यः, उत बाध्यते?—इति । किं
प्राप्तम्?—तुल्यबलावेतौ, पाठोऽपि हि कारणं अत्यर्थावपि,
न च प्रामाण्ये कश्चित् विशेषोऽस्ति, तस्मात् अनियमः—इति ।
एवं प्राप्ते ब्रूमः,—पाठक्रमो हि बाध्यते अतः अर्थेन च ।
कुतः? । 'अतिविशेषात्, अर्थपरत्वाच्च' । अतिविशेषः कः? । यच्च
अवणं तच्च प्रत्यक्षं कारणं, पाठक्रमस्तु आनुमानिकः, पाठक्रमेण
स्मरणम्, एवम् अभिनिर्वर्त्तयितव्यम्—इत्यवगम्यते ; तस्यार्थ-
वत्त्वेनैकया उपपत्त्या तस्य एवानुष्ठानं ; अतः पुनः अनुष्ठान-
मेव, एवं भवति—इति प्रत्यक्षादवगम्यते ।

तथा अर्थेन । कुतः? । अर्थपरत्वात्, अर्थार्थं हि सर्वं
(प्रधानार्थं), प्रधानम् अभिनिर्वर्त्तयति—इति सर्वं क्रियते ।
तस्मात् पाठः ताभ्यां बाध्यते ।

किम् उदाहरणं प्रयोजनं च? । अतः 'आश्विनो दशमो
गृह्यते, तं तृतीयं जुहति', अत्र पाठक्रमस्य बलीयस्त्वे तृतीयस्य
पक्षेण, सिद्धान्ते तु दशमस्य । अर्थं, अग्निहोत्रहोमः पूर्वे
आम्नायते, पश्चाच्छ्रवणम् ; एवं कर्त्तव्यम्, यदि पाठो बलवान् ;
सिद्धान्ते अपणं पूर्वं, ततो होमः ॥ (५।४।१ अ०) ॥

मुख्यक्रमेणाग्नेयस्य पूर्वसवदानाद्यनुष्ठानाधिकारकम् ॥

ख. अवदानाभिघारणासादनेष्वानुपूर्व्यं प्रवृत्त्या
स्यात् ॥ २ ॥ (पू०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र पूर्वं दध्नी धर्माः समाग्नताः, पश्चात्
आग्नेयस्य, प्रदानं च आग्नेयस्य पूर्वम् । तत्र सन्देहः,—किं
प्रावृत्तिकेन क्रमेण पूर्वं दध्नी अवदानाभिघारणासादनानि,
उत मुख्यक्रमेण पूर्वम् आग्नेयस्य?—इति । किं प्राप्तम्?—
अनियमः—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अवदानादिषु प्रावृत्ति-
केन पूर्वं दध्नीः—इति । कुतः? । एवम् अनुज्ञातेभ्यो व्यव-
धायकेभ्यो न अव्यधिकोऽन्यो वा व्यवधायकः कल्पितो भवि-
ष्यति, दर्शयति च दध्नीः पूर्वमेव देयम्—इति ॥

ख. यथाप्रदानं वा तदर्थत्वात् ॥ ३ ॥ (सि०) ॥

भा. 'यथाप्रदानं वा' कर्त्तव्यानि, यस्य प्रदानं पूर्वम्, तस्य
अवदानानि पूर्वम्, तस्मात् आग्नेयस्य । कुतः? । प्रदान-
चोदनागृहीतत्वात् अवदानादीनाम्, प्रदानोपक्रमा एते न
पृथक्पदार्था एते—इत्युक्तम् । अभिघारणम् अवदानं च तस्य
प्रदानचिकीर्षयैव क्रियते । आसादनम् अपि प्रदानार्थमव
(आसन्नकरणम्), एवं दृष्टार्थता भवति । तस्मात् मुख्यक्रमेण
अङ्गानाम् प्रयोगः—इति ।

यत्तु, दध्नीः पूर्वं प्रवृत्तिः—इति ; अर्थात् पूर्वं प्रवृत्तिः, न
पाठात् । प्रावृत्तिकाच्च मुख्यक्रमो बलीयान्, मुख्यक्रमे गृह्य-
माणे प्रथम एकः पदार्थो विप्रवृत्तकालः स्यात्, प्रावृत्तिक
पुनर्गृह्यमाणे सर्वेषां विप्रकर्षः । तस्मात् मुख्यक्रमो बलीयान्
—इति । अथ यद्विज्ञम् उक्तम्,—दध्नीः पूर्वम् अवदेयम्—

भा. इति ; अथ उच्यते,—ऋताभिप्रायमेतत् भविष्यति । तस्मात्
अदोषः ॥

ख. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ४ ॥ (यु० १) ॥

भा. लिङ्गम् अपि अस्मिन् अर्थं भवति,—‘स वै ध्रुवामेव अयेऽभि-
धारयति, ततो हि प्रथमावाग्यभागौ यच्चयन् भवति’—इति
तस्मादपि मुञ्चक्रमेण नियमः—इति ॥ (५।४।२ अ०) ॥

इष्टिसोमयोः पौर्वापर्यानियमाधिकरणम् ॥

ख. वचनादिष्टिपूर्वत्वम् ॥ ५ ॥ (पू०) ॥

भा. इष्टिपूर्वत्वं समाग्नान्तं । तच्च सन्देहः,—किम् इष्टिपूर्वत्वं,
सोमपूर्वत्वं वा विकल्पः, अथ वा इष्टिपूर्वत्वमेव?—इति । किं
प्राप्तम्?—‘इष्टिपूर्वत्वम्’ एव स्यात् । कुतः?। ‘वचनात्’,
वचनम् इदं भवति,—‘एष वै देवरथो यत् दर्शपूर्णमासौ, यो
दर्शपूर्णमासौ इहा सोमेन यजते, रथस्पष्ट एवावसाने वरे
देवानामवस्यति’—इति, नास्ति वचनस्य अतिभारः । तस्मात्
इष्टिपूर्वत्वमेव—इति ॥

ख. सोमश्चैकेषामग्नराधेयस्यर्तुनक्षत्रातिक्रमवचनात्
तदन्तेनानर्थकं हि स्यात् ॥ ६ ॥ (सि०) ॥

भा. इष्टिपूर्वत्वम्—इत्येतत् गृह्णीमः, किन्तु ‘सोमश्च एकेषां पुरो
दर्शपूर्णमासयोः स्यात् । कुतः?। ‘अग्नराधेयस्य ऋतुनक्षत्राति-
क्रमवचनात्’,—‘यः सोमेन यच्चमाणोऽग्नीनादधीत, नर्तुम् स
प्रतीक्षेत न नक्षत्रम्’—इति, यः सोमयागं क्रतुमादधीत, स न
प्रतीक्षेत नक्षत्रं नाप्यृतुं तावत्येवादधीत—इति आमन्तर्यम्
उच्यते, इतरथा, ऋतुनक्षत्रातिक्रमवचनम् ‘अनर्थकं स्यात्’,

भा. आनन्तर्येऽनपेक्ष्यमाणे यस्यैव ऋतुनक्षत्रे उक्ते तस्यैव तयोरना-
हरः कीर्तितः स्यात्, तस्मादस्ति सोमाधानयोरानन्तर्यमिति ।
अपि च विस्पष्टा च अद्यतनी विभक्तिः,—‘सोमेन यद्यमाणः’
—इति, सा च न इष्टिपूर्वत्वम् अनुज्ञाय विवक्ष्यते; न तदा
अद्यतनकालविवक्षा, तत्र अयं शब्दो विप्रतिषिधेत । तस्मात्
आनन्तर्यविवक्षेत्यवगम्यते ॥

ख. तदर्थवचनाच्च नाविशेषात्तदर्थत्वम् ॥ ७ ॥ (यु० १) ॥

भा. इतश्च सोमाधानयोः आनन्तर्यम् । कुतः ? । ‘तदर्थवचनात्’,
‘यः सोमेन यजेत स अग्निमादधीत’—इति ‘च’ । सर्वैरप्यसौ
यद्यमाणोऽग्निमाधत्ते सोमेन अग्निहोत्रादिभिश्च, न असति
सोमस्य विशेषे सोमार्थता स्यात् । अयम् असौ विशेषः स्यात्,
यदानन्तर्यं सोमाधानयोः—इति ॥

ख. अयद्यमाणस्य च पवमानहविषां कालनिर्द्देशात्
आनन्तर्याद्विशङ्का स्यात् ॥ ८ ॥ (यु० २) ॥

भा. सोमेन ‘अयद्यमाणस्य च पवमानहविषां’ कालो निर्द्दिश्यते,
—‘यः सोमेन अयद्यमाणोऽग्निमादधीत, स पुरा संवत्सरात्
हवींषि निर्वपेत्’—इति, न खलु कश्चित् अयद्यमाणः, सर्वस्य
विहितत्वात् । तस्मात् अनन्तरम् अयद्यमाणः—इति गम्यते ॥

ख. इष्टिरयद्यमाणस्य, तादर्थ्यं सोमपूर्वत्वम् ॥ ९ ॥
(प्र०) ॥

भा. इदं प्रयोजनसूत्रम् वर्ण्यते । क्षीणमधिकरणम्, किं प्रयोजनं
चिन्तायाः ? । ‘इष्टिः अयद्यमाणस्य’ सोमेन निरभिसन्धिके
आधाने ; तदर्थत्वे तु ‘सोमपूर्वत्वं’, सोमार्थतायां त्वाधानस्य
सोमपूर्वत्वं स्यात् ॥ (५ । ४ । ३ अ०) ॥

ब्राह्मणस्यौषधिसोमोः पौर्णमासिमासिपरत्नम् ॥

ख. उत्कर्षात् ब्राह्मणस्य सोमः स्यात् ॥ १० ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति आधानं, तत्र एषोऽर्थः समधिगतः,—इष्टिपूर्वत्वं सोम-
पूर्वत्वं च—इति । इदानीं सन्देहः,—किं चयाणाम् वर्षानाम्
इष्टिपूर्वत्वं सोमपूर्वत्वं वा, उत ब्राह्मणस्य सोमपूर्वत्वमेव, उत
केवला पौर्णमासी उत्हाष्यते, ब्राह्मणस्य उभौ कल्पौ?—इति ।
अथ वा कर्मान्तरम् इदं, यत् ऊर्ध्वं सोमात्, अथ वा एकं हविः
उत्हाष्यते, ब्राह्मणस्य उभावेव कल्पौ?—इति । किं प्राप्तम्?
—चयाणाम् वर्षानाम् इष्टिपूर्वत्वं सोमपूर्वत्वं वा । कुतः?।
अविशेषात्,—न कश्चित् विशेषमवगच्छामः । एवं प्राप्ते ब्रूमः,
—ब्राह्मणस्य सोमपूर्वत्वं स्यात् । कस्मात्?। 'उत्कर्षात्',
उत्कर्षो हि श्रूयते, 'आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया, स सोमेन
इहा अग्नीषोमीयो भवति, यदेवादः पौर्णमासं हविः, तत्र हि
अनुनिर्वपेत्, तर्हि उभयदेवत्यो भवति'—इति । किम् इव हि
वचनं न कुर्यात् । तस्मात् ब्राह्मणस्य सोमपूर्वत्वमेव—इति ॥

ख. पौर्णमासी वा श्रुतिसंयोगात् ॥ ११ ॥ (सि०) ॥

भा. यदुक्तं, ब्राह्मणस्य सोमपूर्वत्वम् एव—इति, तत्र, तस्य अपि
उभौ कल्पौ । कुतः?। अविशेषात्, न हि कल्पयोः ब्राह्मणस्य
कश्चिद्विशेषः आम्नायते । 'ननु इदानीमेव उक्तं,—ब्राह्मणस्य
उत्कर्षः'—इति । न—इति ब्रूमः,—पौर्णमासीमासस्य तत्र
उत्कर्षः, श्रुतिसंयोगः पौर्णमास्याः तत्र,—'यदेवादः पौर्णमासं
हविः'—इति, यावद्वचनं वाचनिकं, तत्र न न्यायः क्रमते ।
तस्ययोः एकदेशे उत्हाष्टे नूनमपरोऽभ्येकदेशे उत्हाष्यते—इति ॥

स. सर्वस्य वैककर्मात् ॥ १२ ॥ (आ०) ॥

भा. यदुच्यते,—केवला पौर्णमासी उत्हाप्यते—इति । तन्न, छात्रस्य दर्शपूर्णमासकर्मण उत्कर्षः, एवं फलेन सम्बन्धः, इतरथा न स्यात् फलम् । एकदेशत्वात् पौर्णमास्याः, केवलायाम् उत्हाप्यमाणायां अवशिष्टस्य पूर्वच क्रियमाणस्य न फलं स्यात्, एकदेशत्वात्, अफलत्वाच्च उक्तम् अपि न क्रियेत, समुदाये च उत्हाप्यमाणे भवति फलम् । तस्मात् अर्थात् समुदायस्य उत्कर्षः, एवं छात्रोपदेशोर्ध्वान् भविष्यति—इति । तस्मात् सर्वस्य उत्कर्षः, सोमपूर्वत्वम् एव ब्राह्मणस्य—इति ॥

स. स्याद्वा विधिस्तदर्थेन ॥ १३ ॥ (पू० २) ॥

भा. नैतदस्ति, यदेवं समुदायस्य अस्ति वचने उत्कर्षः परिकल्पयेत्, तस्मात् अन्यदेवेवंनामकं कर्म ऊर्द्धं सोमात् स्यात् । एवम् एकदेशस्य अश्रुतं फलं न कल्पयितव्यं भविष्यति, नामधेयानु द्वयोः कर्मणोः एकम्, अक्षाः पादाः माषाः—इति यथा ; पौर्णमासधर्मकं वा कर्मान्तरं चोच्यते—इति कर्मविधानं, श्रुतेः एतत् भवति, तत् वाक्यस्य बाधकम् । तस्मात् कर्मान्तरम्—इति ॥

स. प्रकरणात् कालः स्यात् ॥ १४ ॥ (सि० २) ॥

भा. कर्मान्तरस्य एतदाचकम्—इति प्रामाणाभावः । प्रकृतस्य कर्मणो वाचकम्—इति प्रत्यक्षं, यच्च सप्रमाणकं, तत् याच्यं, अन्यायश्चानेकार्थत्वं । धर्मग्रहणे लक्षणाशब्दः श्रुतिसम्भवे कल्प्यः स्यात् । अपि च अस्य रूपं न गम्यते, रूपावचनात् न कर्मान्तरं । तस्मात् प्रसिद्धेन नाम्ना प्रकृतस्य कर्मणो ग्रहणं कालविधानार्थं स्यात्, फलबन्त्वाच्च छात्रस्य उत्कर्षः, ब्राह्मणस्य

भा. च तथैव । यत्तु, श्रुतिर्वाक्यात् बलीयसी—इति, अत्र उच्यते,
—यत्र फलं न श्रूयते, वाक्यार्थाभि तावत् तत्र गृह्यते; न
च, इह फलस्य श्रवणमस्ति । कल्प्यं फलम्—इति यदि
उच्यते, न तत्, फलवचनम् अन्तरेण । तत्र फलवचनः शब्दः
कल्प्येत, तेन च सहैकवाक्यता । कालवचनेन तु सह प्रत्यक्षेण
एकवाक्यता—इति । तस्मात् न कर्मान्तरं । स्थितं तावदपर्यव-
सितम् अधिकरणम् ॥ (५।४।४ अ०) ॥

नर्तुम् प्रतीचेदित्यादिना सोमकालवाधाधिकरणम् ॥

ख. स्वकाले स्याद्विप्रतिषेधात् ॥ १५ ॥ (सू०) ॥

भा. 'यः सोमेन यक्ष्यमाणोऽग्निमादधीत, नर्तुम् स प्रतीचेत्* न
नक्षत्रम्—इति । अत्र सन्देहः,—किम् आधानस्य अयं काल-
विशेषबाधः, उत सोमस्य?—इति । किं प्राप्तम्?—आधानस्य
कालबाधः, 'स्वकाले स्यात्' सोमः । कुतः? । 'अविप्रतिषेधात्',
अङ्गमाधानं, तस्य कालबाधो न्याय्यः, न प्रधानस्य । 'अङ्ग-
गुणविरोधे च तादर्शात्'—इति वक्ष्यते ॥

ख. अपनयो वाधानस्य सर्वकालत्वात् ॥ १६ ॥ (सि० १) ॥

भा. 'अपनयो वा' आधानात् सोमकालस्य स्यात् । कुतः? ।
'आधानस्य सर्वकालत्वात्', नैवाधाने कश्चित् कालनियमोऽस्ति,
—'यद्दृष्टेवैनं अङ्गोपनमेत्† तद्दृष्टेवै तदधीत'—इति, अप्राप्तमेव
तत् आधानस्य, यत् प्रतिषिध्यते । तस्मात् सोमस्य कालबाधः
—इति ॥

* सूक्ष्मेत् इति माधवीये पाठः । सूक्ष्मतिर्धातुर्दर्शनार्थं वर्तते इति तत्पार्थः ॥

† यत्र उपनमेत् इति माधवीये पाठः ॥

ख. पौर्णमास्यूहं सोमात् ब्राह्मणस्य वचनात् ॥ १७ ॥
(सि० २) ॥

भा. स्थितादुत्तरं । न वा एतदस्ति,—इत्थौ दशपूर्णमासी उत्-
हाष्येते, 'ऊहं सोमात्', केवला पौर्णमासी उत्हाष्यते । कुतः ? ।
'वचनात्', वचनमिदं,—'यदेवादः पौर्णमासं हविः तत्तर्ह्यनु-
निर्वपेत्'—इति, नास्ति वचनस्य अतिभारः । तस्मात् पौर्ण-
मासीमात्रम् उत्हाष्येत । यत्तु फलं नास्ति—इति, समुदायादेव
फलं भविष्यति—इति, वचनादेवविज्ञानात् । तस्मात् अदोषः ॥

ख. एकं शब्दसामर्थ्यात् प्राक्कृत्तविधानात् ॥ १८ ॥
(सि० ३) ॥

भा. 'एकं वा' हविः उत्हाष्येत, न इत्था पौर्णमासी । कुतः ? ।
'शब्दसामर्थ्यात्', एकं हविः उत्क्रष्टुम् शब्दः समर्थः, 'यदेवादः
पौर्णमासं हविः'—इति श्रूयते, यावद्वचनं वाचनिकं, तावद्वचनेन
उत्क्रष्टुम् शक्यते, न अन्यदपि । प्राक्सोमात् इत्थम् विधीयते,
ततो यत् वचनेन उत्हाष्यते, तदूहं सोमात्, यत् न उत्हाष्यते,
तत् प्राग्भवितुमर्हति । तस्मात् एकं हविः उत्क्रष्टव्यं, ब्राह्मणस्य
उभौ कल्पौ—इति ॥ (५ । ४ । ५ अ०) ॥

चाण्डस्य सोमादनृत्कर्षाधिकरणम् ॥

ख. पुरोडाशस्त्वनिर्देशे तद्युक्ते देवताभावात् ॥ १९ ॥
(सि०) ॥

भा. इदं श्रूयते,—'आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया, स सोमेन इह्य
अग्नीषोमीयो भवति, यदेवादः पौर्णमासं हविः तत्तर्ह्यनुनिर्वपेत्,
तद्युभयदेवत्यो भवति'—इति । यस्मात् तस्मिन् काले स

भा. अग्नीषोमीयो भवति, न प्राचीने काले, तस्मात् अदो हविः अनुनिर्वपेत्—इति, अग्नीषोमीयत्वं विधाय दिदेवताकत्वं हेतुत्वेन निर्दिश्यते, तस्मात् अग्नीषोमीयं हविः हेतुमत् स्यात्, न अन्यदेवतार्कं, तदा असौ अग्नीषोमौ यद्युमर्हति, न प्राक्, सास्व देवता—इति भवति पुष्यस्यापि यद्युर्देवताभिसम्बन्धः । तस्मात् पुरोडासः अग्नीषोमीयो न अन्यद्विः—इति सिद्धम् ॥

स. आज्यमपीति चेत् ॥ २० ॥ (आ०) ॥

भा. इति चेत् यद्यसि अग्नीषोमीयत्वात् पुरोडासः—इति, आज्यमपि हि अग्नीषोमीयं । तस्मात् तदप्युत्कृष्येत ॥

स. न मिश्रदेवतत्वादैन्द्राग्नावत् ॥ २१ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. मिश्रदेवतं हि आज्यं,—अग्नीषोमीयं, प्राजापत्यं, वैष्णवम्—इति च, पुरोडासः त्वग्नीषोमीय एव । न तु अत्र मिश्रदेवतस्य वादः, मिश्रदेवतस्य हि प्रागपि भावोऽवकल्प्यते । यद्यपि तदानीं यजमानो न अग्नीषोमीयः तद्देवतार्कः, तथापि आज्यं हविः करिष्यत्येव, प्राजापतिं यचयति, विष्णुं वा । तस्मात् तस्य ऊर्ध्वभावे न एष हेतुः अग्नीषोमीयत्वं नाम । यथा चतुर्द्धाकरणं मिश्रदेवतत्वात् ऐन्द्राग्नेन भवति, तद्वत्तत्र 'आग्नेयः'—इति ऐन्द्राग्ने न शक्यते वदितुम् ; तद्धितः साकाङ्क्षात् न उत्पद्यते—इति । एवम् इह अग्नीषोमीयशब्देन न शक्यम् आज्यं वदितुम् अग्नीषोमीयो हि असौ । तस्मात् शक्यं प्राक् यजमानेन कर्तुम्—इति । तस्मात् न तस्य उत्कर्षोऽग्नीषोमीयता यजमानस्य हेतुः—इति, मिश्रदेवतस्य ग्रहणसामान्यात् 'ऐन्द्राग्नवत्'—इत्युक्तम् ॥ (५।४।६ अ०) ॥

विद्यतानामैन्द्राग्नादीनां सद्यस्काळाताधिकरणम् ॥

स. विकृतेः प्रकृतिकालत्वात्सद्यस्कालोत्तरा विकृतिः
तयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥ २२ ॥ (सि०) ॥

भा. इह वैद्यतानि कर्माणि उदाहरणम्,—‘ऐन्द्राग्नम् एकादश-
कपालं निर्वपेत्’—इत्येवमादीनि । तत्र सन्देहः,—किम् एता
विद्यतयोः सद्यस्काळाः, उत इहकालाः?—इति । किं प्राप्तम्?
—विकृतिः प्राकृतान् धर्मांस्योदकेन गृह्णाति, अतः ते धर्मा
आनुमानिकाः, पौर्णमासी चान्यः कालः; च यदि वा प्रकृत्या
गृह्येत, यदि वा विद्यत्या, असम्भवेऽन्यतरस्थाः कालस्यक्तयः,
तत्र आनुमानिको वैद्यतस्य त्यज्यतां, न प्रत्यक्षभूतः प्राकृतस्य
—इति न्याय्यम् । तस्मात् सद्यस्काळा एता विद्यतयो भवेयुः
—इति ॥

स. द्वैयहकाल्ये तु यथान्यायम् ॥ २३ ॥ (पू०) ॥

भा. ‘द्वैयहकाल्ये’ क्रियमाणे ‘यथान्यायं’ कृतं भवति, तस्मात्
द्वैयहकाल्यं स्यात् । चोदकः तथा अनुगृहीतो भवति, प्रकृतौ
हि श्रूयते,—‘पूर्वेद्युः अग्निं गृह्णाति, उत्तरमहर्देवतां यजेत’
—इति । तस्मात् इहकालम् एकमभिनिर्वर्त्यं, तदहरेवोप
क्रम्यापरेद्युः परिसमापयेत् ॥

स. वचनाद्वैककाल्यं स्यात् ॥ २४ ॥ (उ०) ॥

भा. नैतदेवं,—इहकाला विद्यतयो भवेयुः—इति, सद्यस्काळाः
स्युः । कस्मात्? । वचनमिदं भवति यः,—‘इष्ट्या पशुना
सोमेन आपयणेन वा यज्यमाणः स पौर्णमास्याममावास्यायां
वा यजेत’—इति, साङ्गस्य एतद्वचनम् । तस्मात् साङ्गं पौर्ण-

भा. मास्थामभावास्थार्या वा कुर्वीत—इति गम्यते, तेन सद्यस्त्वाष्टा
विहृतयः ॥ (५।४।७ अ०) ॥

सोमात् साम्नाय्यविकारादीनामुत्सर्पाधिकरणम् ॥

स. साम्नाय्याग्निषोमीयविकारा ऊर्द्धं सोमात्
प्रकृतिवत् ॥ २५ ॥

भा. इह साम्नाय्यविकाराश्च अग्नीषोमीयविकाराश्च उदाहरणम्,
साम्नाय्यविकाराः तावत् यथा, 'आमिच्छा पशुः'—इति, 'अग्नी-
षोमीयम् एकादशकपालं निर्वपेत् त्रयामाकं, ब्राह्मणो वसन्ते
ब्रह्मवर्षसकामः'—इत्येवमादयः। तत्र सन्देहः,—किम् एते
प्रागूर्द्धं च सोमात्, उत ऊर्द्धम्?—इति। किं प्राप्तम्?—प्रागूर्द्धं
च, विज्ञेयानवगमात्। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'ऊर्द्धं सोमात् स्युः
—इति, प्रकृतिर्हि एषाम् ऊर्द्धं सोमात्, चोदकेन एभिरपि
ऊर्द्धं सोमात् भवितव्यम्। साम्नाय्यस्य ऊर्द्धं सोमात्, वचनेन,
—'असोमयाजो सन्नयेत्'—इति। अग्नीषोमीयस्यापि,—
'आग्नेयो ब्राह्मणो देवतया स सोमेन इहा भवति, यदेवादः
पौर्णमासं हविः, तत्तर्ह्यनुनिर्वपेत्'—इति, तर्हि स उभयदेवत्यो
भवति—इति, तदिकृतिः अपि सोमात् ऊर्द्धं भवितुमर्हति ॥
(५।४।८ अ०) ॥

सोमविकाराणां दर्शपर्वमासात् पूर्वम् कर्तव्यताधिकरणम् ॥

स. तथा सोमविकारा दर्शपूर्णाभासाभ्याम् ॥ २६ ॥

भा. सोमविकारा गवाद्य एकाहाः। तेषु सन्देहः,—किं दर्श-
पूर्णमासात् प्रागूर्द्धं च प्रयोक्तव्याः, उत ऊर्द्धम्?—इति। किं
प्राप्तम्?—अनियमः, अविज्ञेयात्। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'तथा

भा. सोमविकाराः, दशपूर्णमासाभ्याम् ऊर्द्धं स्युः, उद्योतिद्योमो
 दशपूर्णमासाभ्याम् ऊर्द्धं भवति,—‘दशपूर्णमासाभ्याम् इद्वा
 सोमेन यजेत’—इति चोदकेन एष धर्मो गवादिषु अप्येकाह्वेषु
 प्राप्नोति । तस्मात् तेऽपि दशपूर्णमासाभ्याम् ऊर्द्धं कर्त्तव्याः
 इति ॥ (५।४।६ अ०) ॥

इति श्रीशिवरत्नानिकृतौ मोमांसाभाष्य पञ्चमस्याध्यायस्य
 चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ समाप्तस्य पञ्चमोऽध्यायः ॥

षष्ठे अध्याये प्रथमः पादः ॥



शामादिकर्माणाम् सर्वादिफलसाधनताधिकारसम् ॥ (अधिकारव्यापः) ॥

स. द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसम्बन्धः ॥ १ ॥
(पू०) ॥

भा. 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत', 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इत्येवमादि समाग्नयते । तत्र सन्देहः,—किं स्वर्गो गुणतः, कर्म प्रधानतः; उत कर्म गुणतः, स्वर्गः प्रधानतः?—इति । कुतः संशयः? । इह 'स्वर्गकामो' अपि निर्दिश्यते, 'यजेत'—इत्यपि । अत्र स्वर्गकामयागयोः सम्बन्धो गम्यते; तस्मिंश्च सम्बन्धे किं यागः साधनत्वेन सम्बन्धते, उत साध्यत्वेन?—इति भवति विचारणा ।

तत्र यदि स्वर्गकामस्य पुरुषस्य यागः कर्त्तव्यतया चोद्यते, 'स्वर्गकामेन यागः कर्त्तव्यः'—इति, स्वर्गच्छाविशिष्टस्य स सिध्यति—इति गम्यते । स्वर्गच्छा तत्र पुरुषस्य यागं प्रत्युपदिश्यते, तेन तस्य स सिध्यति न अन्यस्य—इति,* यः स्वर्गकामः, स शक्नोति पुरुषो यागं साधयितुम् ।

अथ स्वर्गकामस्य कामः कर्त्तव्यतया चोद्यते, ततो यागविशिष्टा कर्त्तव्यता—इति यागः साधकोऽभ्युपगम्यते । स चायम् उभयो-रप्यर्थः एतस्मात् उच्चरितादाक्वात् गम्यते,—यागो वा कर्त्तव्यः कामो वा—इति । न चैतत् यौगपद्येन सम्भवति, यदा कामः, न तदा यागः, यदा यागः, न तदा कामः, वचनव्यक्तिभेदात्;† उपपन्नः संशयः ।

* यस्य स्वर्गः कामः, तस्य सेत्स्यति इत्यधिकः पाठः आ० शो० पु० ॥

† वचनव्यक्तिभेदात्; तस्मात् इति पाठः का० ऋी० पु० ॥

भा. तथा इदम् अपरम् सन्दिग्धं, किं प्रीतिः स्वर्गः, उत द्रव्यम्?—इति, यदि द्रव्यं स्वर्गः, ततः प्रधानं कर्म, द्रव्यं गुणभूतम्। अथ प्रीतिः स्वर्गः, ततो यागो गुणभूतः, स्वर्गः प्रधानम्?—इति। कुतः संशयः?। नास्त्यत्र कामस्य गुणत्वेन प्राधान्येन वा श्रुतिः, सम्बन्धमात्रं तु अस्य यागेन गम्यते, द्रव्यस्य तु कर्मार्थता स्वभावतः, पुरुषप्रयत्नस्य च फलार्थता*।

किं तावत् प्राप्तम्?—स्वर्गो गुणतः, कर्म प्रधानतः—इति। तत्र तान्नद्वर्णयन्ति,—द्रव्यं स्वर्गः—इति। कथम् अवगम्यते?। सर्वेषाम् एव शब्दानाम् अर्थज्ञाने लौकिकः प्रयोगोऽभ्युपायः, तस्मिंश्च लौकिके प्रयोगे द्रव्यवचनः स्वर्गशब्दो लक्ष्यते,—‘कौञ्जिकानि सूक्ष्माणि वासांसि स्वर्गः, चन्दनानि स्वर्गः, इष्टवर्षाः स्त्रियः स्वर्गः’—इति, यद्यत् प्रीतिमत् द्रव्यं, तत्तत् स्वर्गशब्देन उच्यते। तेन सामानाधिकरण्यात् ‘प्रीतिमत् द्रव्यं स्वर्गः’—इति मन्यामहे, ‘उपमानात् शब्दप्रवृत्तिः—इति चेत्’। न हि कस्मिंश्चित् अनुपमिते लोके प्रसिद्धः, यस्य एतदुपमानं स्यात्, तस्मात् नोपमानम्। अतो द्रव्यं स्वर्गः—इति।

‘न—इत्याह, प्रीतिः स्वर्गः—इति, न द्रव्यम्, यभिधारात्, —तदेव हि द्रव्यं कस्याञ्चिदवस्थायां न स्वर्गशब्दोऽभिदधाति; प्रीतिं तु कस्याञ्चिदवस्थायां न, न अभिदधाति। तस्मात् अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् एतदवगम्यते,—प्रीतौ स्वर्गशब्दो वर्तते’—इति।

नैतदस्ति,—प्रीतेरभिधायकः स्वर्गशब्दः—इति। कुतः?। विशेषणत्वात्, यत् विशेषणं, न तच्छब्देन उच्यते। तत् यथा, ‘दण्डो’—इति दण्डनिमित्तः पुरुषवचनः, दण्डोऽस्य

* इत्यस्य कर्मार्थता गम्यते स्वभावतः, पुरुषप्रयत्नस्य च प्रीत्यर्थता इति का० श्रौ० पु० पाठः ॥

† नेत्याह, न हि कस्मिंश्चिदनुपमाने इति का० श्रौ० पु० पाठः ॥

भा. निमित्तं, न अभिधेयः । एवम् एष न प्रीतिवचनः प्रीतिसाधन-
वचनस्तु एष स्वर्गशब्दः—इति ।

‘ननु स्वर्गशब्दो लोके प्रसिद्धो विभिन्ने देशे,—‘वस्मिन् न
उष्णं, न शीतं, न क्षुत्, न तृष्णा, न अरतिः, न ग्लानिः,
पुष्ट्युक्त एव प्रेत्य तत्र गच्छन्ति, नान्ये’ । अत्र उच्यते,—यदि
तत्र केचित् अमृत्वा गच्छन्ति, तत आगच्छन्ति अजनित्वा, तर्हि
स प्रत्यक्षो देशः एवज्ञातीयकः, न तु अनुमानात् गम्यते* ।

‘ननु च अन्ये सिद्धाः केचित् दृष्टवन्तः, ते च आख्यातवन्तः
—इति चेत्’ । न तत्र प्रमाणमस्ति,—‘सिद्धा एवज्ञातीयकाः
सन्ति, ते च दृष्ट्वा आचक्षीरन्’—इति । तस्मात् एवज्ञातीयको
देशं एव नास्ति ।

‘ननु च लोकात् आख्यानेभ्यो वेदाच्च अवगम्यते,—देश
एवज्ञातीयकः स्वर्गः—इति । तत्र, पुरुषाणाम् एवंविधेन देशेन
असम्बन्धात् अप्रमाणं वचः । आख्यानम् अपि पुरुषप्रणीतत्वात्
अनादरणीयम् । वैदिकम् अपि स्वर्गाख्यानं विधिपरं नास्त्येव,
भवति तु विध्यन्तरेण एकवाक्यभूतं स्तुतिपरं । यद्यपि केवल-
सुखश्रवणार्थापस्था तादृशो देशः स्यात्, तथापि अस्मात्पक्षस्य
अविरोधः, प्रीतिसाधने स्वर्गशब्दः इति । तेन देशेन व्यवहारा-
भावात्, कुतः तस्य अभिधायकः स्वर्गशब्दो भविष्यति?—इति ।

यदा प्रीतिमतं द्रव्यं स्वर्गः, तदा ब्रूमः,—‘द्रव्याणाम् कर्मसंयोगे
गुणत्वेन अभिसम्बन्धः’—इति, यागः अत्र कर्त्तव्यः—इति श्रूयते
स्वर्गकामस्य, तत्र अवश्यं स्वर्गस्य यागस्य च सम्बन्धः, तत्र भूतं
द्रव्यम्, भयं कर्म ; भूतस्य च भयार्थता न्याय्या, दृष्टार्थात्वात् ;
न तु भयस्य भूतार्थता, तत्र दृष्ट उपकारः त्यज्येत ।

‘कथं पुनः अवगम्यते,—यागः कर्त्तव्यतया चोच्यते—इति,

* यदि न तत्र केचित् अमृत्वा गच्छन्ति, न च तत आगच्छन्ति अजनित्वा, न तर्हि स
प्रत्यक्षो देशः एवज्ञातीयकः, न अनुमानात् गम्यते इति का० श्रौ० पु० पाठः ॥

भा. यदा कामस्यापि कर्त्तव्यता अस्मात् वाक्यात् अवगम्यते ।
 उच्यते, कामस्य कर्त्तव्यता वाक्यात्, बज्यर्धस्य कर्त्तव्यता श्रुतेः,
 श्रुतिश्च वाक्यात् बलीयसी । तस्मात् अयम् अर्थः,—सर्गकामो
 यागं कुर्यात्—इति सर्गकामस्य यागः कर्त्तव्यः—इति ; कर्त्तव्यश्च
 सुखवान्, अकर्त्तव्यो दुःखवान् ; कर्त्तव्यः—इति चेन्न ब्रूते ;
 तस्मात् सुखफलो यागो भविष्यति, स तु यस्य इच्छा, तस्य
 सिध्यति न अन्यस्य—इति गम्यते । तेन स्वर्गेच्छा यागस्य
 गुणभूता, सर्वस्यापि कर्मणो द्रष्टेच्छा भवति गुणभूता, तथा
 द्रष्टमानेतुम् यतते, दृष्टेनैव द्वारेण ; इह तु स्वर्गसंज्ञकद्रष्टेच्छैव
 नियम्यते, यथैव सा गुणभूता प्राप्ता ; तथैव सती नियम्यते,
 दृष्टेनैव द्वारेण, न अदृष्टेन उपकारेण ; तेन स्वर्गेच्छया गुण-
 भूतया स्वर्गद्रव्यं प्रति यतिष्यते यागं साधयितुम् । अयाम्य-
 दृष्टेन, तथापि न दोषः ॥

स. असाधकं तु तादर्थ्यात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा. तु शब्देन पक्षो व्यावर्धते । तत एतावत् तावत् वर्णयन्ति,—
 प्रीतिः स्वर्गः—इति । कुतः ? । एवम् उक्तम् भवता,—‘प्रीति-
 विच्छिष्टे द्रव्ये स्वर्गशब्दो वर्त्तते’—इति, यद्येवं, पूर्वं तर्हि प्रीती
 वर्त्तितुमर्हति, तां हि स न अभिचरति, अविचरति पुनः
 द्रव्यं,—यस्य एव प्रीतिसाधनस्य द्रव्यस्य वक्ता स्वर्गशब्दः, तदेव
 यदा न प्रीतिसाधनं भवति, तदा न स्वर्गशब्देन अभिधीयते ।
 तस्मात् प्रीतिवचनोऽप्यम् । यत्तु उक्तं,—दण्डिशब्दवत्—इति,
 सोऽपि प्रतीते शब्दात् दण्डे, दण्डिनि प्रत्ययमादधाति, अन्त-
 र्गतः तत्र दण्डशब्दः, स दण्डस्य वाचकः ; इह पुनः स्वर्गशब्दः
 एव प्रीतेः अभिधाता ।

प्रीतिवचनञ्चेत्, यागो गुणभूतः प्रीतिः प्रधानम् । कुतः ? ।
 ‘तादर्थ्यात्’ पुरुषप्रयत्नस्य, प्रीत्यर्थं हि पुरुषो यतते, तेन न

भा. प्रीतिर्यागसाधनम्—इति विज्ञायते । इत्थं हि यागसाधनं, न ऋते इत्थात् यागो भवति, यस्मात् इत्थदेवताक्रिये यजतिशब्दो वर्तते । असत्वामपि प्रीत्या भवति यागः । यदि च यागो न प्रीत्यर्थो भवेत्, असाधकं कर्म भवेत्, साधयितारं न अधि-
गच्छेत्, यो हि प्रीत्यर्थः, स साध्यते नान्यः ।

‘ननु कर्त्तव्यतया यागः श्रूयते’ । उच्यते,—सत्यं कर्त्तव्यतया श्रूयते, कामोऽपि कर्त्तव्यतया अवगम्यते । ‘आह, श्रुत्या यागस्य, वाक्येन कामस्य । न च, उभयोः, वाक्यभेदः प्रसङ्गात्’ । उच्यते, यद्यपि यागः कर्त्तव्यः श्रूयते, तथापि न कर्त्तव्यः, सुखदः कर्त्तव्यो भवति, दुःखदो यागः, तस्मात् प्रत्यक्षेण अकर्त्तव्यः, प्रत्यक्षेण च दुःखदः । ‘कर्त्तव्यतावचनात् अनुमानेन सुखदो भवति’—इति । उच्यते, अनुमानं च प्रत्यक्षविरोधात् न प्रमाणम् । तस्मात् अकर्त्तव्यो यागः, यदि न प्रीत्यर्थः ।

‘अथ अन्येन फलवचनेन सम्भत्स्यते’—इति । उच्यते,—सम्बन्धमानोऽप्यविधीयमानो न समीपवचनमात्रेण फलवान् विज्ञायते । तस्मात् अनर्थको मा भूत्—इति स्वर्गस्य कर्त्तव्यता गम्यते, पुरुषप्रयत्नश्च यागविशिष्टः—इति यागः तस्य करणं स्यात् । तस्मात् सुष्टु उक्तं,—यागो गुणभूतः स्वर्गः प्रधानभूतः—इति ॥

ख. प्रत्यर्थं चाभिसंयोगात् कर्म्मतो ह्यभिसम्बन्धः तस्मात् कर्म्मोपदेशः स्यात् ॥ ३ ॥ (यु०) ॥

भा. न केवलम् आनर्थक्यभयात् यागस्य गुणभावं ब्रूमः, किं-
तर्हि, स्वर्गसंज्ञकमर्थं प्रति करणत्वेन यागो विधीयते । ‘ननु यागः कर्त्तव्यतया श्रुत्या विधीयते’ । सत्यमेवम्, आनर्थक्यं तु तथा भवति, स्वर्गं प्रत्यविहिते यागे, स्वर्गकामः, तस्मिन् निष्फले विधीयमानोऽपि निष्प्रयोजनः स्यात्, तत्र अस्य

भा. उपदेशवैयर्थ्यम्, इयोश्च विधीयमानयोः परस्परेण असम्बन्धयोः वाक्यभेदः प्रसङ्गः । अतो न स्वर्गकामपदेन स्वार्था विधीयते, किंतुहि, उद्दिश्यते । तत्र वाक्यात् अवगतस्य कामस्य कर्त्तव्यता अवगम्यते, यागस्य च करणता । एवं च यागकर्त्तव्यतायां न प्रत्यक्षविरोधो भविष्यति । तस्मात् 'कर्मोपदेशः स्यात्,— कर्म स्वर्गं प्रति उपदिश्यते, न स्वर्गः कर्म प्रति ।

'किम् अतः यदि स्वर्गो न उपदिश्यते?' । एतदतो भवति,— न हि, अनुपदिष्टोऽनर्थप्राप्तस्य गुणो भवति । तस्मात् स्वर्गः प्रधानतः, कर्म गुणतः—इति ।

अपि च, 'यस्य स्वर्गः दृष्टः स्यात्, च यागं निर्वर्त्तयेत्—इति असम्बन्धमिव, अन्यदिच्छति, अन्यत् करोति—इति । 'अथ मतं,—ततः स्वर्गो भवति—इति सम्बन्धात् इदं गम्यते'—इति । न, शब्दप्रमाणकानाम्, अन्तरेण शब्दम्, अवगतिर्न्याय्या । वाक्यात् एव अस्मात् इमं सम्बन्धम् अवगच्छामः, यथा, काष्ठानि आहृतुकामोऽरण्यं गच्छेत्—इति यदि ब्रूयात्, ब्रूयात् एतत्,—दृष्टं तत्र प्रमाणात्तरेणारण्यगमनस्य काष्ठाहरणसामर्थ्यम्—इति ।

'अथ मन्यते,—उपदेशानर्थक्यं भा भूत्—इत्यर्थापत्तिः भविष्यति'—इति । उच्यते, न उपदेशानर्थक्यस्य एतत् सामर्थ्यं, यत् अन्तरेण फलवचनं, यागस्य प्रीतिः फलम् अवगम्येत । कामम् अस्य आनर्थक्यं भवतु, न जातुचित् सामर्थ्यम् अस्य जायते । न हि, दग्धुकामस्य उदकोपादानम् असति दाष्टेऽनर्थकम्—इति दृष्टनशक्तिमस्य जनयेत् । अथ वा, स्वर्गकामस्य यागो विधीयते—इति पश्चान्तरावलम्बेन अस्य अर्थवक्ता भविष्यति ।

'ननु इतरस्मिन् अपि पक्षे स्वर्गकामस्य यागो विधीयते, न यागात् स्वर्गः' । नैतदेवं, तस्मिन् खलु पक्षे स्वर्गं प्रार्थयमानस्य अनुष्ठानम् अनूद्य यागः तस्य उपायत्वेन विधीयते—इति न

भा. दोषः। 'तत् अनुष्ठानं स्वर्गं प्रति—इति नास्ति वचनम्—
इति चेत्। इष्टमर्थं प्रति अनुष्ठानं भवति, स्वर्गकामस्य च स्वर्गः
इष्टः, तदनुष्ठानविशेषयद्दृष्टार्थमेव स्वर्गकामविशेषयद्दृष्टम्—
इति निरवयवम्। तस्मात् स्वर्गकामस्य यागकर्मापदेशः स्यात्,
अतः स्वर्गः प्रधानतः, कर्म गुणतः—इति स्वर्गकामम् अधिष्ठत्य,
'यजेत'—इति वचनम्। इत्यधिकारलक्षणम् इदं सिद्धं
भवति ॥ (६।१।१ अ०) ॥

यागादिषु मनुष्यस्त्रीनाधिकाराधिकारम् ॥

ख. फलार्थत्वात् कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं
स्यात् ॥ ४ ॥ (पू०) ॥

भा. इदमामनन्ति,—'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत, ज्योति-
ष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इत्येवमादि। तत्र सन्देहः,—किं
भावत् किञ्चित् सर्वं, तत् सर्वम् अधिष्ठत्य एतदुच्यते, उत
समर्थम् अधिष्ठत्य?—इति। किं प्राप्तम्?—सर्वाधिकारः,
अविशेषात्। 'ननु दृष्टादयो न किञ्चित् कामयन्ते, कथम्
तेषाम् अधिकारः स्यात्?'। उच्यते, मा भूत् अचेतनानाम्,
तिरस्यस्तु अधिष्ठत्य 'यजेत'—इति ब्रूयात्। 'ननु तिर्यञ्चोऽपि
न किञ्चित् कामयन्ते'। न—इति ब्रूतः, कामयन्ते सुखम्, एवं
हि दृश्यते, घर्मापतप्तः क्षायाम् उपवर्षन्ति, शीतेन पीडिताः
आतपम्।

'आह, ननु तिर्यञ्च आसन्नं फलं चेतयन्ते, न काष्ठान्तरफलं
प्रार्थयन्ते, कालान्तरफलानि च वैदिकानि कर्माणि'। उच्यते,—
काष्ठान्तरेऽपि फलं कामयमाना लक्ष्यन्ते,—मुनः क्तुर्इत्याम्
उपवसतः पश्यामः, श्रेणांश्च अलम्ब्याम्। न चैषां क्वाथाश्वाहा,
नियतनिमित्तत्वात्, नानाहाद्याणामपि तस्मिन् काले दृश्यात्,

भा. समानाहाराणामपि अन्यस्मिन् काले अदर्शनात् । लिङ्गानि च वेदे भवन्ति,—‘देवा वै सचमासत’—इत्येवमादीनि देवतानाम् ऋषीणां वनस्पतीनाम् अधिकारं दर्शयन्ति ।

‘ननु कात्स्न्येन विधिम् उपसंहर्तुम् न शक्नुवन्ति—इति अनधिष्ठाताः’ । उच्यते,—यागं कर्तुम् शक्नुवन्ति केचित्, तस्मात् ‘यजेत’—इत्येवमादीनि अधिकारिष्यन्ति शक्नुवतः, विष्णु-क्रमादिवचनानि तु अशक्तान् न अधिकारिष्यन्ति । तत्र योऽभ्युपदिष्टविष्णुक्रमादिकः स केवलं यागं करिष्यति, कः तस्य दोषः? । इत्यपरिग्रहोऽपि देवयामः, हस्तियामः, ऋषभस्य यामः—इति उपचारात् अस्त्येव—इति । तस्मात् अमनुष्याणामपि शक्नुवताम् अधिकारः—इति ॥

स. कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद्विधिः कात्स्न्येन गम्यते ॥ ५ ॥
(सि०) ॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । न चैतदस्ति,—तिर्यागादीनामपि अधिकारः—इति । कस्य तर्हि? । यः समर्थः ह्यत्स्नं कर्म अभिनिर्वर्त्तयितुम् । न चैते, शक्नुवन्ति तिर्यागादयः ह्यत्स्नं कर्माभिनिर्वर्त्तयितुम्, तस्मात् एषां न सुखस्वाभ्युपायः कर्म—इति ; कथं यो न शक्नते कर्तुम्, सोऽभ्युपायः स्यात्?—इति । न देवानां, देवतान्तराभावात्, न हि आत्मानम् उद्दिश्य त्यागः सम्भवति, त्याग एवासौ न स्यात्, न ऋषीणाम्, आर्षियाभावात्, न भृग्वादयो भृग्वादिभिः सगोषा भवन्ति,* न चैषां सामर्थ्यं प्रत्यक्षम् ।

* “ न च भृग्वादयो भृग्वादिभिः सगोषा इत्येतदयुक्तं भाष्यम्, अनादिर्हि कालोऽस्माकं मीमांसकानाम्, तेन भृगोरपि पूर्वभृग्वात्सङ्घातात्, ततः पूर्वमस्त्येवमेवेति सम्भवत्येव भृगोर्भागवत्त्वमित्यस्त्येव ऋषीणामधिकारः, तस्मात् सगोषात्सङ्घातमनादरणीयम् । देवानां देवतान्तराभावादिति येषां शब्द एव देवताभिप्रेता, तेषामभ्युपायुक्तो ग्रन्थः, शक्नते

भा. अपि च तिर्यञ्चो न कालान्तरफलेन अर्थिनः, आसन्नं हि कामयन्ते। 'ननु च उक्तं, कालान्तरफलार्थिनः तिरस्त्रः पश्यामः, मुनः श्येनांश्चतुर्दश्याम् अष्टम्यां च उपवसतः'—इति। उच्यते, —न जन्मान्तरफलार्थिन उपवसन्ति। 'कथम् अवगम्यते?'। वेदाध्ययनाभावात्, ये वेदमधीयते ते एतद्दिदुः,—इदं कर्म कृत्वा, इदं फलममुच प्राप्नोति—इति, न चैते वेदमधीयते, नापि स्मृतिशास्त्राणि, नाप्यन्येभ्यः अवगच्छन्ति* ; तस्मात् न विदन्ति धर्मम्। अविदांसः कथम् अनुतिष्ठेयुः ; तस्मात् न धर्माय उपवसन्ति—इति।

'किमर्थं तर्ज्ज्वाम् उपवासः?'। उच्यते, रोगात् अरुचि-
रेषाम्?। 'कथं पुनर्नियते काले रोगो भवति'। उच्यते,
नियतकाला अपि रोगा भवन्ति, यथा तृतीयकाश्चातुर्थकाश्चेति।
तस्मात् मनुष्याणाम् अधिकारः—इति। न च तिरस्त्रां द्रव्य-
परिच्छेदः, न हि एते द्रव्यं स्वेच्छया उपयुञ्जना दृश्यन्ते ;
तस्मात् अनीजाना धनस्य। यत्, देवग्रामो हस्तिग्रामः—
इति ; उपचारमात्रं तत्। तस्मात् अपि न तिरस्त्राम् अधि-
कारः—इति।

यानि पुनर्लिङ्गानि,—'देवा वै सचमासत'—इत्येवमादीनि,
अर्थवादाः ते विधिप्ररोचनार्थाः ; विद्यते हि विधिरन्यः तेषु
सर्वेषु, न च विधेर्विधिनैकवाक्यभावो भवति, वचनव्यक्तिभेदात्।
स्तुतिस्तु सा,—इत्थं नाम सचाणि आसितग्रानि, यत् कृतकृत्या
अपि आसते देवाः, आसन्नचेतना अपि तिर्यञ्चः, अचेतना अपि
वनस्पतयः, किमङ्ग पुनर्विदांसो मनुष्याः—इति।

'ननु विष्णुक्रमादिषु अनधिष्ठाताः केवलं यागं करिष्यन्ति'।

श्रीभद्रापीन्द्रशब्दोच्चारणेन च विस्तृतम्। तस्मात् अर्थमेव देवतामित्यभिप्रेत्य एतद्वाक्य-
मिति" इति तन्त्ररत्नम् ॥

* नाप्यथापकेभ्योऽवगच्छन्ति इति का० ऋी० पु० ॥

भा. नैवं, गुणा यागं प्रत्युपदिश्यन्ते, न कर्त्तारं प्रति, तेन यागमात्रे क्रियमाणे वैगुण्यम्—इति न फलसम्बन्धः स्यात् । 'कथं पुनर्यागं प्रत्युपदिश्यन्ते?'—इति चेत् । इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षस्य यागवचनस्याग्निकादुपनिषत्पिताः शक्नुवन्ति तं निराकाङ्क्षीकर्तुम्, इतरथा हि कर्तृन् अधिकुर्वन्सु गुणवचनेषु अनिष्टताकाङ्क्षं फलवचनम्* अनर्थकमेव स्यात् । अमुषङ्गश्च फलवचनम् अभविष्यत्, तत्र साकाङ्क्षत्वात् वाक्यम् उपरोत्स्यते । 'अथ एतदेव वाक्यं समर्थानां सगुणं कर्म विधास्यति, असमर्थानां विगुणम्'—इति । तन्न, सह्यदुच्चारणे उभयशक्तिविरोधात् वाक्यम्भिद्येत, साकाङ्क्षं हि तत् इतिकर्त्तव्यतां प्रति । तस्मात् साङ्गयागोपदेशः सः—इति निरङ्गयागोपदेशाभावः । तस्मात् मनुष्याणामेव अधिकारः—इति ।

प्रयोजनं पक्षोक्तं, केचित् आज्ञः सहस्रसंवत्सरं न नियोगतो दिवसेषु कल्पयितव्यं, पूर्वपक्षे तदायुषां देवतादीनां सम्भवति—इति, सिद्धान्ते तत्र सम्भवदपि दिवसेष्वेव अवकल्पयितव्यम्—इति; तन्नु उपरिष्ठादग्राह्यास्यामः ॥ (६।१।२ अ०) ॥

यागादिषु सोपु सोऽभययोरधिकाराधिकारम् ॥

स. लिङ्गविशेषनिर्देशात् पुंयुक्तमैतिशायनः ॥ ६ ॥

(पू०) ॥

भा. 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'—इत्येवमादि समाग्नयते । तत्र सन्देहः,—किं स्वर्गकामं पुमांसमधिहृत्य 'यजेत'—इत्येष शब्दः उच्चरितः, अथ वा अनियमः,—स्त्रियं पुमांसं च?—इति । किं प्राप्तम्?—पुंलिङ्गम् अधिहृतं मेने 'ऐतिशायनः' । कुतः? । 'लिङ्गविशेषनिर्देशात्' (पुंलिङ्गेन विशेषेण निर्देशो

* प्रकरवचनम् इति आ० सो० प० पाठः ।

भा. भवति स्वर्गकामो यजेत—इति। तस्मात् पुमान् उक्तो यजेत—इति, न स्त्री॥

स. तदुक्तित्वाच्च दोषश्रुतिरविज्ञाते ॥ ७ ॥ (यु०) ॥

भा. 'अविज्ञाते' गर्भे हते भ्रूणहृत्यानुवादो भवति,—'तस्मात् अविज्ञातेन गर्भेण हतेन भ्रूणह्रा भवति'—इति। भ्रूणह्रा पापहृत्तमः, यस्म* उभयोर्लोकयोः उपकरोति, तस्य हन्ता भ्रूणह्रा, यश्च हन्ता भ्रूणह्रा, स यश्चसाधनबधकारी; तस्मात् यश्च भ्रूणह्रन्देन अभिदधति, स हि विभर्त्ति वा सर्वं, भूतिं वा आनयति। अतो भ्रूणह्रा यश्चबधकारी, स पुंयुक्तत्वात् अनुवादोऽवकल्पते, अविज्ञाते गर्भे हन्यमाने कदाचित् पुमान् हन्येत, तत्र यज्ञाधिष्ठितस्य हतत्वात् यश्चबधो भ्रूणहृत्या स्यात्। इतरथा, यदि उभयोः अधिकारः, ततो विज्ञाते च अविज्ञाते च यश्चबधः स्यात्, तत्र अविज्ञातयज्ञस्य अतत्तम्—इति कल्पयेत्। तस्मात् विवक्षिता पुष्पिङ्गस्य वाचिका विभक्तिः—इति।

तथा आचेयीं हत्वा भ्रूणह्रा भवति, आचेयीम् आपन्नगर्भान् प्राङ्ः, 'अच' (कुक्षौ) अस्या विद्यते—इति आचेयी। तस्मात् अपि पुंसोर्धिकारो गम्यते; यथा, 'पशुमालभेत'—इति पुं-पशुरेवालभ्यते, लिङ्गविशेषनिर्देशात्। एवम् इहापि द्रष्टव्यमिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—

स. जातिं तु बादरायणोऽविशेषात्, तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात् ॥ ८ ॥ (सि०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं आवर्त्तयति। नैतदस्ति, पुंसोर्धिकारः—इति, 'जातिं तु बादरायणः' अधिष्ठातां मन्यते सः। 'आह, किमयं

* पुंश्लु इति आ० सो० पु० पाठः।

भा. स्वर्गकामः—इति जातिशब्दः समधिगतः?। न इत्याह।
 कथं तर्हि?। यौगिकः, स्वर्गच्छायोगेन वर्तते। 'केन तर्हि
 शब्देन जातिः उक्ता, या अधिज्ञता—इति गम्यते?'। नैव च
 वयं ब्रूमः, जातिवचन इह शब्दः अधिकारकः—इति, किन्तर्हि,
 स्वर्गकामशब्देनोभावपि स्त्रीपुंसावधिक्रियेते—इति, अतो न
 विवक्षितं पुलिङ्गम्—इति। कुतः?। 'अविज्ञेयात्', न हि
 शक्तोत्येषा विभक्तिः स्वर्गकामं लिङ्गेन विज्ञेयम्। कथम्?।
 लक्षणत्वेन अवणात्,—स्वर्गे कामो यस्य, तम् एष लक्षयति
 शब्दः, तेन लक्षणेन अधिज्ञतो 'यजेत'—इति शब्देन उच्यते।
 तत्र लक्षणम् अविशिष्टं स्त्रियां पुंसि च। तस्मात् शब्देन
 उभावपि स्त्रीपुंसावधिकृतौ—इति गम्यते। तत्र केन अधिकारः
 स्त्रिया निवर्त्यते?।

'विभक्त्या इति चेत्'। तन्न। कस्मात्?। पुंवचनत्वात् स्त्री-
 निष्टतौ अशक्तिः। 'पुंसो विभक्त्या पुनर्वचनम् अनर्थकम्—इति
 चेत्'। न, आनर्थक्येऽपि स्त्रीनिष्टतेः अभावः, परिसङ्गरायां
 स्वार्थहानिः परार्थकल्पना प्राप्तबाधस्तु। न च आनर्थक्यम्,
 निर्द्देशार्थत्वात्। 'तस्मात् अपि प्रतीयेत' जात्यर्थस्य अ-
 विशिष्टत्वात् ॥

५. चोदितत्वात् यथाश्रुति ॥ ६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—'पशुमालभेत'—इति पुंपशुरालभ्यते पुलिङ्ग-
 वचनसामर्थ्यात्, एवमिहापि पुलिङ्गवचनसामर्थ्यात् पुमानधि-
 क्रियते यागवचनेन—इति, तत्परिहरणार्थम्। अत्र उच्यते,—
 न अत्र जातिद्रव्यस्य लक्षणत्वेन श्रूयते, यदि हि लक्षणत्वेन
 श्रूयेत, ततः स्त्रिया अपि यागः उक्तो न पुंवचनेन विवर्त्येत,
 इदं तु पशुत्वं यागस्य विशेषणत्वेन श्रूयते, तत्र पशुत्वस्य
 यागस्य च सम्बन्धो न द्रव्ययागयोः, यथा पशुत्वं यागसम्बन्धम्,

भा. एवं पुंस्त्वमेकत्वं च, सोऽवमनेकविज्ञेप्रणविज्ञिष्टो बानः श्रूयत,
स 'यथाश्रुति' एव कर्त्तव्यः, उवादेयत्वेन 'चोदितत्वात्'।

यच्च,—दोषश्रुतिरविज्ञाते गर्भे हति आचेर्यां च पुंयुक्तत्वेन
—इति, तत्पश्चिद्धर्त्तव्यम्। अथ उच्यते,—अविज्ञातेन गर्भेण
इत्यनुवादः प्रशंसार्थः, आचेर्यो च न हन्त्या—इति, इत्थं
गर्भो न हन्त्यः, यत् अचक्षेनाप्येनस्त्री भवति। पुंस्त्रिभक्तिः
श्रूयमाणा न ज्ञातीति स्त्रियं निवर्त्तयितुम्; किम् अङ्ग पुनः
अविज्ञातगर्भवचनं स्त्रिङ्गम्। तथा गोचमशंसार्थमाचेर्या अवध-
सङ्कीर्त्तनं, न च आपन्नत्वा आचेर्यो, गोचं हि एतत्, न हि
अचक्ष्णदादयं तद्धित उत्पन्नः, समर्थामाम् हि तद्धित उत्पद्यते ;
न च अचक्ष्णदस्य सामर्थ्यमस्ति ॥

ख. द्रव्यवत्त्वात् पुंसां स्यात्, द्रव्यसंयुक्तं, क्रयविक्रयाभ्याम्
अद्रव्यत्वं स्त्रीणां द्रव्यैः समानयोगित्वात् ॥ १० ॥
(पू०) ॥

भा. 'पुंसां' 'तु' 'स्यात्' अधिकारः, 'द्रव्यवत्त्वात्', द्रव्यवन्तो हि
पुमांसो न स्त्रियः, 'द्रव्यसंयुक्तं' च एतत् कर्म, 'वीहिभिर्यजेत,
यवैर्यजेत'—इत्येवमादि। कथम्?। 'अद्रव्यत्वं स्त्रीणां', 'क्रय-
विक्रयाभ्यां', क्रयविक्रयसंयुक्ता हि स्त्रियः, पित्रा विक्रीयन्ते, भर्त्ता
क्रियन्ते, विक्रीतत्वाच्च पितृधनानामनीशिन्यः। क्रीतत्वाच्च भतृ-
धनानाम्। विक्रयो हि श्रूयते, 'भतमधिरथं दुहितृमते दद्यात्,
आर्षे गोमिथुनम्'—इति। न च, एतत् कृष्टार्थं सति आनमने-
ऽकृष्टार्थं भवितुमर्हति। एवं 'द्रव्यैः' समानयोगित्वं 'स्त्रीणाम्' ॥

ख. तथा च अन्यार्थदर्शनम् ॥ ११ ॥ (उदा०) ॥

भा. 'या पत्या क्रीता सती अथान्वीश्वरति'—इति क्रीततां
दर्शयति ॥

स. तादर्थ्यात्कर्मात्तादर्थ्यम् ॥ १२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. 'आह, यदनया भक्तोपसर्षणेन वा कर्त्तनेन वा धनम् उपार्जितं, तेन यच्यते'—इति। उच्यते,—तदप्यस्या न स्वं, यदा हि सा अन्यस्य स्वभूता, तदा यत् तदीयं, तदपि तस्वैव। अपि च, स्वामिनस्तथा कर्म कर्त्तव्यं, न तत्परित्यज्य स्वकर्माहति कर्तुम्, यत् तथा अन्येन प्रकारेण उपार्ज्यते, तत् पत्युरेव स्वं भवितुमर्हति—इति। एवं च स्मरति,—

“भार्या दासश्च पुत्रश्च निर्द्दनाः सर्व एव ते।

यत्ते समधिगच्छन्ति, यस्य ते तस्य तद्धनम्”—इति ॥

स. फलोत्साहाविशेषात् ॥ १३ ॥ (उ०) ॥

भा. तुभ्रदः पक्षं व्यावर्त्तयति। न च एतदस्ति,—निर्द्दना स्त्री—इति, द्रव्यवती हि सा, 'फलोत्साहाविशेषात्, स्मृतिप्रामाण्यात् अस्यया तथा भवितव्यं फलार्थिन्यापि, श्रुतिविशेषात् फलार्थिन्या यद्यथम्, यदि स्मृतिमनुबध्यमाना परवशा निर्द्दना च स्यात्, 'यजेत'—इत्युक्ते सति न यजेत, तच्च स्मृत्या श्रुतिर्बाधेत। न च इतत् ग्वायम्। तस्मात् फलार्थिनी सती स्मृतिनप्रमाणीकृत्य द्रव्यं परिगृह्णीयात् यजेत च—इति ॥

स. अर्थेन च समवेतत्वात् ॥ १४ ॥ (यु०) ॥

भा. 'अर्थेन च' अस्याः समवेतत्वं भवति, एवं दानकाले संवादः ज्ञायते,—'धर्मं च अर्थं च कामे च न अतिचरितव्या'—इति। यत् उच्यते,—'भार्यादयो निर्द्दनाः'—इति, स्मर्यमाणमपि निर्द्दनत्वम् अन्यारथमेव, श्रुतिविरोधात्। तस्मात् अस्मात्पश्यम् अनेन प्रकारेण उच्यते, संखवह्नारप्रसिद्धार्थम् ॥

ख. क्रयस्य धर्ममाचत्वम् ॥ १५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. यत्तु क्रयः श्रूयते,—धर्ममाचं तु तत्, नासौ क्रयः—इति, क्रयो हि उच्चनीचपक्ष्यपणो भवति। नियतं त्विदं दानं ब्रतमधिरथं, शोभनाम् अशोभनाच्च कन्यां प्रति। स्मार्त्तं च श्रुतिविरुद्धं विक्रयं नानुमन्यन्ते। तस्मात् अ विक्रयोऽयम्—इति ॥

ख. स्ववत्तामपि दर्शयति* ॥ १६ ॥ (यु०) ॥

भा. 'पत्नी वै पारिण्यस्य ईष्टे पत्यैव गतमनुमती क्रियते'। तथा भसदा पत्नीः संयाजयन्ति, भसदीर्या हि पत्नयः भसदा वा एताः परगृहाणाम् ऐश्वर्यमवबन्धते—इति ॥ (६।१।३ अ०) ॥

याने दम्पत्योः सहाधिकाराधिकारत्वम् ॥

ख. स्ववतोस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात् ॥ १७ ॥ (सि०) ॥

भा. स्ववन्तावुभावपि दम्पती—इत्येवं तावत् स्थितं। तच्च सन्देहः,—किं पृथक् पत्नी यजेत, पृथक् यजमानः, उत सम्भूय यजेयाताम्?—इति। किं प्राप्तम्?—पृथक्चेन। कुतः?। एकवचनस्य विवक्षितत्वात्, उपादेयत्वेन कर्त्ता 'यजेत'—इति श्रूयते, तस्मात् एकवचनं विवक्षयते, यथा न द्वौ पुरुषौ सम्भूय यजेयाताम्, तथा अत्रापि द्रष्टव्यम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'स्ववतोस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात्', वचना-त्तयोः सहक्रिया। एवं हि स्मरन्ति,—'धर्मं चार्थं च कामे च

* इदं सूत्रं का० श्री० पुस्तके स्ववतया भाषारि ॥

† पत्यैवमनुमतमिति का० श्री० पु० पाठः ॥

‡ जाचन्या पत्नीः संयाजयन्ति इति का० श्री० प० पाठः ॥

भा. नातिचरितथा'—इति, तथा 'सहधर्मश्चरितथः, सहापत्यम् उत्पायितव्यम्—इति । 'उच्यते,—स्मृतिवचनेन न श्रुतिवचनं युक्तं बाधितुम् । न—इति ब्रूमः,—इह किञ्चित् कर्म स्त्रीपुंस-कर्तृकमेव, यथा दर्शपूर्णमासौ ज्योतिष्टोमः—इति, यत्र पत्न्य-वेक्षितेन यजमानावेक्षितेन च आज्येन होम उच्यते, तत्र अन्यतराभावे वैगुण्यम् ।

'ननु पुंसो यजमानस्य यजमानावेक्षितमाज्यं, स्त्रिया यज-मानायाः पत्न्यवेक्षितं भविष्यति'—इति । न—इति आह,— न अयम् ईक्षितृसंस्कारः, ईक्षितुः संस्कारो यदि, तदैवं स्यात् ; आज्यसंस्कारश्च अयं, गुणभूतौ ईक्षितारौ, तत्र अन्यतरापाये नियतं वैगुण्यं, सर्वाङ्गोपसंहारी च प्रयोगवचनः । 'तत्र एतत् स्यात्,—स्त्री यजमाना पुमांसं परिक्रेष्यति आज्यस्य ईक्षितारं, पुमांश्च स्त्रियन्त्ववेक्षिषीम्—इति । तत्र न, पत्नीति हि यज्ञस्य स्वामिनी—इत्युच्यते, न क्रीता ; पत्नी—इति सम्बन्धिब्रह्मदोष्यं, यजमानः—इति च स्वामी, न क्रीतः । तस्मात् स्त्रीपुंसयोरेकम् एवजातीयकं कर्म—इति ।

तत्र श्रुतिसामर्थ्यात् 'यः—कश्चित्, यया—कयाचित् सह सम्भूय यजेत'—इति प्राप्ते इदम् उच्यते,—'यस्त्वया कश्चित् धर्मः कयाचित् सह कर्तव्यः, सोऽनया सह'—इति, तेन न श्रुतिविरोधः स्मृतेः—इति गम्यते । अथ यदुक्तं,—केवलस्य पुंसोर्धिकारः केवलायाश्च स्त्रिया 'यजेत'—इत्येकवचनस्य विवक्षितत्वात्—इति, तत् परिहर्तव्यम् । इदं तावदयं प्रष्टव्यः*,—'यजेत'—इत्येकवचने विवक्षिते, कथं षोडशभि-र्हृत्विग्भिः सह यागो भवति?—इति । एवम् उच्यते, प्रति-

* अत्र "अथ यदुक्तं एकवचनस्य विवक्षितत्वात् केवलयोरेव कर्तव्यम् इत्यस्योक्तं भाष्यकारेणोक्तम्" इत्यादिना "तस्मात् 'इदं तावदयं प्रष्टव्यः' इत्यादि 'यथा चध्वर्युः आध्वर्यवेषु' इत्यन्तं भाष्यं नातीव युक्तम्" इत्यन्तेन सन्दर्भेण तन्त्ररत्नकृता भाष्यं दृष्टानिब निरवकाशः ॥

भा. कारकं क्रियाभेदः, याजमानानेव पदार्थान् परिक्रवादीन् कुर्वन् 'यजते'—इत्युच्यते यजमानः, आर्ध्यवानेव कुर्वन् अर्ध्युर्यजति—इत्येवम् उच्यते, यथा सम्भरणमेव कुर्वती रथाली पत्निं करोति—इत्युच्यते, यस्य च कारकस्य च आत्मीयो व्यापारः, स एकवचने विवक्षिते एकेन कर्त्तव्यो भवति—इति । एवं चेत् यावान् व्यापारो यजमानस्य स तावान्, न सम्भूय कर्त्तव्यः, एकेनैको याजमानोऽपरेणापरः । दादृष्टे वा ज्ञते एकेन षट्पञ्चाशत्, अपरेणापि षट्पञ्चाशत्—इति । इह तु पत्नी-व्यापारः अन्य एव, न तत्र पत्नी प्रवर्त्तमाना यजमानस्य एकत्वं विद्वन्ति, यथा अर्ध्युरार्ध्यवेषु प्रवर्त्तमानाः । अवश्यं च सह पत्न्या यष्टव्यं, मध्यकं हि इदं दम्पत्योर्धनं, तत्र यागोऽवश्यं सह पत्न्या कर्त्तव्यः, इतरथा अन्यतरानिच्छायां त्याग एव न संवर्त्तत, तथा हि द्वितीयया पत्न्या विना त्यागो नैवावकल्पते, यस्य द्वितीया पत्न्यस्ति, तत्र क्रत्वर्थान् एका करिष्यन्ति । कर्त्तृसंस्कारार्थेषु नैव दोषः, सम्भवन्ति हि तानि सर्वत्र—इति ॥

स. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १८ ॥ (यु०) ॥

भा. लिङ्गं खल्वपि दृश्यते, 'योक्त्रेण पत्नीं सन्नद्यति मेखलाया वजमानं मिथुनत्वाय'—इति । यदि स्त्रीपुंसविक्रम, योक्त्रस्य मेखलायाश्च विभागो वाक्वात् गम्यते, मिथुनसंस्तवश्च, तदेतत् स्त्रीपुंससाधनके कर्मण्युपपद्यते, न अन्यथा ॥

ख. क्रीतत्वात्तु भक्त्या स्वामित्वमुच्यते ॥ १९ ॥ (पू०) ॥

भा. स्थितादुत्तरमुच्यते । तुङ्गवद्ः पक्षं व्यावर्त्तयति । नैतदस्ति, यदुक्तं खवती स्त्री—इति, क्रीता हि सा, दृष्टार्थत्वात् अधिरथ-ज्ञतदानस्य, अतो यदस्याः स्वामित्वम् उच्यते, तत् भक्त्या ;

भा. वधा पूर्णकोऽङ्गार्कं बलीवर्हानाम् ईडे—इति, एवं पञ्चपि
पारिणत्यस्य ईडे—इति ॥

स. फलार्थित्वात् स्वामित्वेनाभिसम्बन्धः ॥ २० ॥ (उ०) ॥

भा. नैतदस्ति, क्रयो मुखाः, मौषं स्वामित्वम्—इति, फलार्थिनी
हि सा, स्मृतिर्नादरिष्यते, स्मृत्यनुरोधात् असा स्यात्, अवती
श्रुत्यनुरोधात् ॥

स. फलवत्तां च दर्शयति* ॥ २१ ॥

भा. 'सं पत्नी पत्या सुकृतेन गच्छतां यज्ञस्य धुर्यायुक्तावभूतां ।
सङ्घानानौ विजह्नीताम् अरातीर्दिवि ज्योतिरजरमारभेताम्'
—इति दम्पत्योः फलं दर्शयति । तस्मात् अप्युभावधिकृतौ
—इति सिद्धम् ॥ (६।१।४ अ०) ॥

एकस्यैव पुंसः आधानाधिकाराधिकारस्य ॥

स. इयाधानं च द्वियज्ञवत् ॥ २२ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति आधानं,—'य एवं विद्वानग्निमाधत्ते'—इति । तत्र
इदमामनन्ति,—'क्षौमे वसानावग्निमादधीयाताम्'—इति ।
तत्र एषोऽर्थः सांख्यिकः,—किं द्वौ पुरुषावादधीयातां उतैकः
पुरुषः?—इति । कथं संख्यः? उच्यते,—इह यतत् श्रूयते,
—'वसानावादधीयाताम्'—इति । तत्र वचनमर्थप्राप्तं पुनः
श्रूयते, तत् किं पुंलिङ्गसम्बन्धार्थं, उत क्षौमविध्वर्थम्?—इति
उभयोर्विद्यमानत्वात् भवति संख्यः, बहि लिङ्गसम्बन्धार्थम्,
उभौ पुरुषौ आधाष्येते ; अथ क्षौमसम्बन्धार्थं तत एकः ।

किं प्राप्तं?—'इयाधानं द्वियज्ञवत्' स्यात्, यथा 'एतेन द्वौ

* इदं कथं का० श्री० पुस्तके कथयता माकारि ॥

भा. राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्—इति द्वयोः पुरुषयो-
र्द्वियज्ञो भवति, एवं इराधानं द्वयोः पुरुषयोः स्यात्, ततो-
ऽविशेषात्, 'वसानौ'—इति अवणात् एव पुरुषौ गम्येते; न
पदान्तरगतेन स्त्रीमेव अस्य सम्बन्धः, अत्यवगतं हि अवणात्
अवगतं, पदान्तरसम्बन्धं वाक्यात् अवगतं, अतिस्य वाक्यात्
बलीयसी; वसानशब्दगतस्य अर्थ आधानेन सम्बन्धते, न
स्त्रीमशब्दगतः।

'आह, 'वसानौ'—इति नायं केवलं पुल्लिङ्ग एव, स्त्रीपुंसयो-
रप्यभिधायको भवति, यथा कुक्कुटस्य कुक्कुटी च कुक्कुटी, शूकरस्य
शूकरी च शूकरौ—इति; एवं वसानस्य वसाना च वसानौ
स्याताम्—इति। अत्र उच्यते,—यत्र न अर्थः, प्रकरणं वा
विशेषकं, विधायकस्य शब्दः, नास्ति अनुवादः। तत्र द्वौ पुमांसौ
गम्येते, यथा दावानय—इत्युक्तः पुमांसावानयति; हे आनय
—इति स्त्रियौ, तेन स्त्रियो वाचकमेकारान्तं द्विवचनम्—इति
गम्यते, औकारान्तमपि द्वयोः पुंसोर्वाचकम्—इति। 'यत्र
इदानीं स्त्रीपुंसयोः प्रयुज्यमानमौकारान्तं दृश्यते, तत्र किं
पुमान् सद्वितीयः तस्य निमित्तम्, उत स्त्री सद्वितीयाः?'—
इति। उच्यते,—पुंसि सद्वितीये दृष्टः, यथा ब्राह्मणावानय
—इति, इहापि पुमान् सद्वितीयोऽर्थः। तस्मात् पुंनिमित्तम्
—इति गम्यते।

'अत्र आह, प्रयोगो यदि दृष्टं प्रमाणं द्वयोः पुंसोर्दृष्टः, कथम्
एकस्मिन् स्यात्?'। अत्र उच्यते,—पुंसि च द्वित्वे च दृष्टः—
इति शक्यते वदितुम्, न द्वयोः द्रव्ययोः—इति, पुंभावं द्वित्वं
च एष शब्दः न व्यभिचरति, द्रव्यं पुनर्थव्यभिचरति। अपि च
युगपदधिकरणवचनताया* इन्द्रस्मृतेर्द्विवचनवङ्गवचनोपपत्तेः,

* "व्यभिचरत्वं शब्दस्य प्रतिपाद्यं, तदनेकं यत्र, युगपत् प्रतिपदमुच्यते, तत्रैव इन्द्रः,
नेन धवच्छदिरावित्यत्र युगपदेव धवच्छदिरौ वक्तव्यौ, न पर्यायेण पूर्वं धवः पशान्

भा. प्रमिषयोर्वचणयोः—इति च दर्शनात् । इतरेतरयोगे च अर्थे समासविधानात् इन्द्रापवादत्वात् च एकशेषस्य, यथैव खदिरौ च धवलयौ च—इति निर्द्शनं क्रियते, एवम् अत्रापि द्रष्टव्यम् । तस्मात् पुंसि द्वित्वे च वर्तते—इति गम्यते । न च स्त्रीद्वित्वे दृष्टः ।

‘अत्र आह, नन्वचैव दर्शनात्, स्त्रीपुंसयोर्वाचकः’—इति गम्यते । अत्र उच्यते,—उक्तम् एतत् “अन्यायस्य अनेकार्थत्वम्”—इति पुमान् सद्वितीयोऽस्यार्था भविष्यति, स्त्रीपुंसौ च—इति अन्यायस्यम् । ‘अथ इदानीं सद्वितीयस्य पुंसो विधौ कोऽन्यः सहायः?’—इति । स्त्रिया अनभिधेयत्वात्, अवश्यम्भाविताच्च द्वितीयस्य, अपरः सद्वितीयः पुमान्, एवम् इतरोऽपीतरेण सद्वितीयः, इतरोऽपीतरेण—इति इवैव पुमांसावुपादीयेते । तस्मात् इह द्वौ पुमांसौ आधाने विधीयेते—इति उच्यते ।

‘ननु स्त्रीपुंसयोर्वाचकम् औकारान्तं द्विवचनं स्मरन्ति’ । न एषा स्मृतिरस्ति—इति ब्रूमः । ‘आह, भगवतः पाणिनेर्वचनान्तं स्मृतिमनुमास्यामहे, “पुमान् स्त्रिया” (१।२।६७ पा० सू०)—इति । उच्यते,—न, पाणिनेर्वचनं ‘कुक्कुटौ’—इति औकारः स्त्रीपुंसयोर्वाचकः—इति । कथन्तर्हि, यत्र स्त्रीपुंसयोः सहवचनं, तत्र सद्वितीयो वा पुमान्—इति ज्ञत्वा अकारान्तस्य औकारः प्राप्नोति, सद्वितीया वा स्त्री—इति ज्ञत्वा एकारः । पुंशब्दः तत्र साधुः न स्त्रीशब्दः—इति पाणिनेर्वचनं । “पुमान् शिष्यते”—इति च ब्रूते, तेन सुतरां गम्यते,—पुंसोर्वाचक औकारः—इति । तस्मात् द्वयोः पुंसोः अधिकारः—इति ।

‘ननु स्त्रीमविधानपरमेतत् वाक्यं स्यात्, स्त्रीमसम्बन्धस्य

खदिर इत्येवम् । तेन धवशब्दोऽपीतरसहितस्यार्थाभिधायी, खदिरशब्दोऽपि । तथा सति युग्मपदभिधानमनयोर्भवति, सार्थमात्राभिधाने तु शब्दपौर्वापर्यादर्थाप्यौर्वापर्यमेव स्यात्, तत्र स्मृतिविरुद्धम् इति तन्त्ररत्नमन्त्रावधेयम् ॥

भा. अर्थवत्त्वात्, इतरथा शौमवचनम् अनर्थकं स्यात्। अथ उच्यते, —‘वसानावाद्धीयाताम्’—इति अस्ति सम्बन्धः, न ‘शौमे आद्धीयाताम्’—इति। तस्मात् सञ्चिह्नमपि न तत्सम्बद्धम् आधानेन। ‘आह, वसानशब्देन सह सम्बन्धमानम् अर्थवत् भविष्यति’। वसानसञ्चिह्ने अपि शौमे न विधीयते, विधायकस्य शब्दस्य अभावात्, न हि वसानशब्दो विधायकः, न शौमशब्दः, नानयोः समुदायः। ‘कस्तर्हि विधातुम् शक्नोति?’। ‘आद्धीयाताम्’—इत्यथ या लिङ्।

‘आह, सा खलु विधास्यति?’। उच्यते, सा खलुशब्दगत-माधानं शक्नोति विधातुम्, अत्रणात्, विहितत्वात् आधानस्य, अनर्थक्ये, वसानौ—इति शक्नोति वाक्येन विधातुम्, भवति हि वसानयोः आधानसम्बन्धः, तत्र नात्यन्ताय स्वार्थः परित्यक्तो भवति, शौमवसानसम्बन्धे तु विधातये, ‘आद्धीयाताम्’—इत्याधानम् उत्सृज्य विधानोक्त्यन्ताय श्रुतिं ज्ञप्तात्। आधानसञ्चिह्ने च लिङ्गे विधातये श्रुतिर्विप्रकृष्टं न शौमवसानसम्बन्धं विधातुम् उत्सृजते अर्थविप्रकर्षात्। अपि च उत्सृज्य श्रुतिं, शौमवसानसम्बन्धे विधीयमाने शौमं वसानस्य अङ्गं स्यात् न आधानस्य। तत्र शौमाभावेऽपि न आधानं विगुणम्—इति शौमाभावेऽपि आधानं स्यात्।

‘आह, वसानगुणतायां तर्हि कोऽर्थो विवक्ष्यते?’। उच्यते, —न कश्चित्, अतः एव अस्य पक्षस्य परित्यागः। ‘आह, शौमवसानश्रवणम् इदानीं कथम्?’—इति। उच्यते, न शक्यते उभयं विधातुम् शौमं लिङ्गं च, भिद्येत हि तथा वाक्यम्। तस्मात् अशौमयोः शौमशब्दोऽनुवादः, अर्थप्राप्ते च वसने वसानौ पुमांसौ—इत्यर्थः। ते च प्रायेण विचेष्टमानस्य मलिने शौमसदृशे भवतः, विचेष्टमानस्य वा शब्दवती भवतः—इति। तस्मात् इयोः पुंसोरधिकारः—इति ॥

स. गुणस्य तु विधानत्वात् पत्न्या* द्वितीयशब्दः
स्यात् ॥ २३ ॥ (सि०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्ति, यदुक्तं 'द्वौ पुरुषौ
आदधीयाताम्'—इति, एक एवादधीत; 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नि-
मादधीत'—इति एकवचनं हि विवक्षितं । तस्मात् एक एव
आदधीत । 'ननु इदं वचनं 'द्वौ पुमांसावादधीयाताम्'—
इति' । न—इत्याह, 'गुणस्य तु विधानत्वात्', शौमविधानम्
अस्मिन् वाक्ये न्याय्यं, तथा हि अपूर्वार्थो विहितो भवति,
गम्यते हि विज्ञेयनियमः । इतरथा शौमवचनमनुवादमात्रं
स्यात्, वादमात्रं च अनर्थकं, पक्षे च अनुवादः, न च एक-
पक्षवचन एव शब्दः, गौणत्वे च साधारणं सादृश्यं । तस्मात्
प्रमादाध्ययनमवगम्येत विनैव हेतुना ।

'आह, ननु पुमांसौ विधेयौ, तद्विधाने च न शौमविधानं,
वाक्यभेदो हि तथा स्यात्, श्रुतिगम्यौ च पुमांसौ, वाक्यगम्यं
च शौमं बाधेयाताम्'—इति । अत्र उच्यते,—न पुमांसौ
विधेयौ, प्राप्त एव अत्र सद्वितीयः पुमान् सोऽनूद्यते । कथम्? ।
एकोऽत्र पुमान् श्रूयते, तस्य 'पत्न्या द्वितीयशब्दः स्यात्' । न
च, यत् प्राक् वचनात् गम्यते, तद्विधेयं भवति । तस्मात् शौम-
विधानं, न वाक्यभेदो भवति ।

यदुच्यते, 'न शौमस्य विधायकोऽस्ति'—इति । तदुच्यते,
'आदधीयाताम्'—इति तद्विधास्वति । ननु 'एतत् आधानं
श्रुत्या विधातुम् समर्थं, नान्यत्'—इति । उच्यते,—शब्दान्तरेण
विहितत्वात् आधानस्य न विधायकं, विहितत्वाच्च पुंसः स-

* पत्न्या इति आ० सो० पु० पाठः । पत्न्याम् इति तु का० ऋी० एवं क० च०
प्रथमिपुस्तकत्रये पाठः । किन्तु सर्वत्रैव भाष्ये परत्र 'पत्न्या द्वितीयशब्दः स्यात्' इति
उक्तत्वात् पत्न्या इत्येव पाठः साधुः ॥

भा. द्वितीयस्य, तस्यापि न विधायकम्, अतः तदसम्भवात् क्षीमस्य विधायिका खिड् भविष्यति, वाक्यसामर्थ्यात्। यत्तु 'अस्मिन् पक्षे अत्यन्ताय स्वार्थं जहाति'—इति। न अत्यन्ताय जहास्यति, आधाने वासः क्षीमं कुर्यात्—इति; अस्मिन् पक्षे पुंशब्दः स्त्रीपुंसयोः वृत्तः—इति गम्यते, अस्ति हि तत्र तस्य निमित्तं पुमान् सद्वितीयः, एवमादि च वृद्धा भगवता पाणिनिना सूत्रं प्रणीतं, "पुमान् स्त्रिया" (१।२।६७ पा० सू०)—इति, तस्य विषयः पुंशब्दः शिष्यमाणः साधुर्भवति, न स्त्रीशब्दः—इति। तस्मात् एकः पुमानादधीत न द्वौ—इति ॥ (६।१।५ अ०) ॥

पद्म्या यावदुक्ताशीर्ब्रह्मचर्यादावेवाधिकाराधिकारसम् ॥

ख. तस्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यमनुल्यत्वात् ॥ २४ ॥

भा. 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत, 'उद्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इत्येवमादिषु एतदुक्तं स्त्रीपुंसयोः सहाधिकारः—इति। अथ इदानीं सन्दिह्यते, किं सर्वं याजमानं पद्म्या कर्तव्यम्, उत यावदुक्तमाशीः ब्रह्मचर्यं च?—इति। किं प्राप्तं?—सर्वं याजमानं पद्म्याः स्यात्, सापि हि यजमाना, तुल्यत्वात्। तस्मात् सर्वं तस्याः—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'तस्या यावदुक्तं स्यात्, वचनप्रामाण्यात्, 'आशीः* ब्रह्मचर्यं' च स्यात्। कस्मात्?। 'अनुल्यत्वात्' अतुल्या हि स्त्रीपुंसाः, यजमानः पुमान् विद्वांसु, पत्नी स्त्री च अविद्या च।

'किम् अतः? यद्येवं हि एतत् अतुल्यत्वम्'। एतदतो भवति,

* "आशीःशब्देन केशशशुवपनादयः संस्कारा लक्ष्यन्ते, ते उभयोरपि सम्भवन्ति" इति वार्तिकम् ॥

भा. क्रत्वर्थेषु यानि याजमानानि अवणानि, तेषु उपादेयत्वेन अवणात् विवक्षितं लिङ्गं, तेन तेषु पत्नी न स्यात्, यानि च क्रत्वर्थानि समसकाणि तेषु अविद्यत्वात् पत्नी न स्यात्। 'तत् पत्न्या अध्ययनस्य प्रयोजकं स्यात्—इति यदि उच्येत'। तन्न, असत्यपि प्रयोजकत्वे तस्य निर्द्वन्द्विर्भविष्यति। अस्ति हि तस्य पुमान् निर्वर्तकः, यच्च क्रत्वर्थं, तत् एकेन* येन—केनचित् निर्वर्तयितव्यं। तस्मात् प्रतिषिद्धस्य पत्न्या अध्ययनस्य पुनः प्रसवे, न किञ्चित् अस्ति प्रमाणम्। अतः तदपि पत्नी न कुर्यात्, यास्त्वाग्निषः, यच्च ब्रह्मचर्यं, तत् पुरुषं प्रति गुणभूतं, न तच्च अन्यतरेण कृते सिध्यति, अन्यतरस्य हि संस्कारो ह्येयम्। न च तच्च उपादेयत्वेन यजमानस्य अवणं। तस्मात् लिङ्गमप्यविवक्षितम्। अत आग्नीर्ब्रह्मचर्यं च उभयोरपि स्यात्, यच्च आहृत्य उच्यते, यथा, 'पत्न्या आज्यमवेक्षते'—इति। तस्मात् अतुल्यत्वात् असमानविधाना पत्नी यजमानेन भवितुमर्हति—इति ॥ (६।१।६ अ०) ॥

यामे शुद्धस्नानधिकाराधिकारसम् ॥

ख. चातुर्वर्ण्यमविशेषात् ॥ २५ ॥ (पु०) ॥

भा. अग्निहोत्रादीनि कर्माणि उदाहरणं, तेषु सन्देहः,—किम् चतुर्णां वर्णानां तानि भवेयुः, उत अपशुद्राणां चयाणां वर्णानाम्?—इति। किं तावत् प्राप्तं?—चातुर्वर्ण्यमधिगत्य, 'यजेत', 'जुहुयात्'—इत्येवमादि शब्दम् उच्यते वेदः†। कुतः?। 'अविशेषात्', न हि कश्चिद्विशेष उपादीयते। तस्मात् शुद्धो न निवर्तते ॥

* एकेन इति आ० सो० पुरुषके नास्ति ॥

† इत्येवमादीनामर्थे इति पाठः का० श्री० पु० ॥

स. निर्द्देशाद्वा* चयाणां स्यादग्र्याधेये ह्यसम्बन्धः क्रतुषु
ब्राह्मणश्रुतिरित्याचेयः ॥ २६ ॥ (सि०) ॥

भा. वाङ्मदः पक्षं यावत्तयति, 'चयाणाम्' अधिकारः स्यात् ।
कुतः?। 'अग्र्याधेये' 'निर्द्देशात्', अग्र्याधेये चयाणां निर्द्देशो
भवति, 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, योष्मे राजन्यः, ऋरदि
वैश्यः'—इति, श्रुद्रस्य आधाने श्रुतिर्नास्ति—इत्यनग्निः श्रुद्रः
असमर्थोऽग्निहोत्रादि निर्वर्त्तयितुम् । तस्मात् 'अग्निहोत्रं जुञ्-
यात् स्वर्गकामः'—इत्येधमादिषु श्रुद्रस्य प्रापिका श्रुतिर्नास्ति ।
ब्राह्मणादीन् एवाधिहृत्य सा प्रवर्त्तते, ते हि समर्था अग्नि-
मन्वात्, आहवनीवादयो न श्रुद्रस्य, अविधानात्, संस्कार-
शब्दत्वाच्च आहवनीयादीनाम् । तस्मात् अनधिहृतोऽग्नि-
होत्रादिषु श्रुद्रः—'इत्याचेयः' मन्यते स्म ॥

स. निमित्तार्थेन वादरिः तस्मात् सर्वाधिकारं
स्यात् ॥ २७ ॥ (पुनः पू०) ॥

भा. यदुक्तम्,—अनधिकारः श्रुद्रस्य—इति, तन्न, सर्वं हि अर्थिनम्
अधिहृत्य 'यजेत'—इत्युच्यते, सोऽसति प्रतिषेधवचने श्रुद्रान्न
यावर्त्तते । यत्तु असमर्थोऽग्र्यभावात्—इति, स्यात् एवास्थाग्निः
अर्थप्राप्तः, कामश्रुतिपरिगृहीतत्वात् ।

'अथ आह, ननु अग्र्याधेयचोदना ब्राह्मणादिसंयुक्ता न
श्रुद्रस्य'—इति । उच्यते, 'निमित्तार्थेन' ताः श्रुतयो न प्रापिकाः ।
कथं? । निमित्तस्वभावा एते शब्दाः,—ब्राह्मण आह्वानो वसन्ते,
राज्यन्थो योष्मे, वैश्यः ऋरदि—इति ब्राह्मणादीनां वसन्ता-
दिभिः सम्बन्धो गम्यते, तेन वसन्तादिसम्बन्धार्था ब्राह्मणादयः

* निर्द्देशमात्राद्वा इति क० स० पु० एवं चा० सो० पु० पाठः ॥

† सामर्थ्याभावात् इति पाठः का० श्री० पु० ॥

भा. —इत्येव गम्यते, तथा च आदधातिर्न वाक्येन श्रुद्रात् व्याव-
र्त्तितो भविष्यति । 'तस्मात्' 'नादरिः' 'सर्वाधिकारं' शास्त्रं
मन्यते स्म—इति गम्यते ॥

स. अपि वान्यार्थदर्शनात् यथाश्रुति प्रतीयेत ॥
२८ ॥ (उ०) ॥

भा. अपि वा—इति पक्षो व्यावर्त्तते । यथाश्रुत्येव प्रतीयेत,
ब्राह्मणादयो हि आधाने श्रूयन्ते, तेन ब्राह्मणादिकर्तृकम्
आधानं, वसन्तादिश्रवणाच्च वसन्तादिकालकं । तथा च, इदं
श्रुद्रवर्जितानामेव अनुक्रमणं भवति, 'बार्हद्गिरं ब्राह्मणस्य
ब्रह्मसाम कुर्यात्, पाथुररथं राजन्यस्य, रायोवाजीयं वैश्यस्य'—
इति, श्रुद्रस्य साम न आमनन्ति । तथा 'पयोव्रतं ब्राह्मणस्य,
यवागूराजन्यस्य, आमिच्छा वैश्यस्य'—इति, तथा आधाने
'अष्टसु प्रक्रमेषु ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, एकादशसु राजन्यः,
द्वादशसु वैश्यः'—इति । एवम् अब्रह्मसामकम् अवतकम् अ-
प्रक्रमकं च श्रुद्रस्य प्रयुक्तम् अपि कर्म निष्फलं स्यात् । तस्मात्
न श्रुद्रो जुहुयात् यजेत वा ॥

स. निर्देशात्तु पक्षे स्यात् ॥ २९ ॥ (पुनः पू०) ॥

भा. नैतदेवं,—श्रुद्रस्य अग्नभावात् अनधिकारोऽग्निहोत्रादिषु—
इति । अस्ति हि श्रुद्रस्य आधानं, 'य एवं विद्वानग्निमाधत्ते'—
इति शास्त्रं सामान्येन । इदम् अपि निमित्तार्थं भविष्यति,
तस्मात् सर्वाधिकारं शास्त्रं भवितुमर्हति—इति ॥

स. वैगुण्यान्नेति चेत् ॥ ३० ॥ (आ०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—अब्रह्मसामकं अवतकम् अप्रक्रमकं च श्रुद्रस्य कर्म
प्रयुक्तम् अपि फलं न साधयेत् विगुणम्—इति, तत् परिहर्त्तव्यम् ॥

स. न काम्यत्वात् ॥ ३१ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. न एष परिहारः, काम्यत्वात्, कामयिष्यते शूद्रः अभीवर्त्तं नाम ब्रह्मसाम, तद्धि अनारभ्य किञ्चित् आम्नातं अविशेषेण, 'चक्षुर्विमित आदधात्'—इति अनियतप्रक्रमेषु शूद्रस्य निवम्यते। व्रतेऽपि 'मस्तु शूद्रस्य'—इतिसम्बन्धदर्शनात् अधव-सीयते, मस्तु एव शूद्रस्य। तस्मात् चातुर्वर्ण्यम् अधिक्रियेत ॥

स. संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ॥ ३२ ॥ (यु०) ॥

भा. व्रते च विशेषोऽवगम्यते तत्प्रधान्यं (पुरुषप्रधान्यं हि व्रते)। 'किम् अतः, यत् पुरुषप्रधानता?'। एतदतो भवति, पुरुषप्रधानः संस्कारो न शक्नोति अनुपसंश्रियमाणः, तस्य अधिकारं व्यावर्त्तयितुम्। तत् कथम्?—इति। 'यजेत'—इति हि स्वर्गकामेऽभिधीयमाने तत्कामः शूद्रो न अभिहितः—इति कथं गम्यते? किं हि स यागस्य पुरुषनिवर्त्थं न निर्वर्त्तयति?। 'व्रतम्—इति चेत्'। न, सामर्थ्यापजननाय हि तत् यस्य एव उच्येत, तस्य एव तेन विना न सामर्थ्ये, नान्यस्य। एष एव हि व्रतस्य अङ्गभावो यत्, कर्त्तारं समर्थं करोति, यस्य तु तेन न प्रयोजनं, स तदनपेक्ष्यैव यागम् अभिनिर्वर्त्तयति। तस्मात् अपि अशूद्रवर्जनम् ॥

स. अपि वा वेदनिर्द्देशादपशूद्राणां प्रतीयेत ॥ ३३ ॥
(उ०) ॥

भा. एवं न प्रापकाणि श्रवणानि—इत्युक्तं, शक्यते तु वक्तुम् प्रापकाणि—इति, न च सूत्रकारेण तत् व्यपदिष्टं, नैमित्तिकेषु अपि तेषु सत्सु शक्य एव शूद्रपर्युदासो वक्तुम्—इति, न तदा-दृतं, हेत्वन्तरं व्यपदिष्टम्। अपि वा—इति पक्षव्यावर्त्तनम्।

भा. एवमपि सति नैमित्तिकेषु ब्राह्मणादिश्रवणे सति 'अपश्रुद्धानाम्' एव अधिकारः। कुतः?। 'वेदनिर्देशात्', वेदे हि श्रवणां निर्देशो भवति, + 'वसन्ते ब्राह्मणम् उपनयीत, शीघ्रे राजन्त्यं, वर्षासु वैश्यम्'—इति, वेदाभावात् असमर्थः शूद्रो यद्युम्। तस्मात् न अधिक्रियेत ॥

स. गुणार्थित्वान्नेति चेत् ॥ ३४ ॥ (आ०) ॥

भा. गुणेन अध्ययनेन अर्थः,* शूद्रोऽनुपनीतः स्वयम् उपेत्याशेष्यते, तथा अस्य सामर्थ्यं जनिष्यते—इति ॥

स. संस्कारस्य तदर्थत्वात् विद्यायां पुरुषश्रुतिः ॥ ३५ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. उच्यते,—'विद्यायाम्' एवैषा 'पुरुषश्रुतिः', उपनयनस्य 'संस्कारस्य तदर्थत्वात्,—विद्यार्थम् उपाध्यायस्य समीपमानीयते, न अदृष्टार्थं, कुद्यं वा कर्तुम्, सा एषा विद्यायां पुरुषश्रुतिः। कथम् अवगम्यते?। आचार्य्यकरणमेतत् अभिधीयते। कुतः?। आत्मनेपददर्शनात्, नयतिः आचार्य्यकरणे वर्तते, तदर्थसम्बन्धात् उपनयनम् आचार्य्यकरणप्रयुक्तं, वेदाध्यापनेन च आचार्य्यो भवति। तस्मात् वेदाध्ययने ब्राह्मणादयः श्रुताः, शूद्रस्य न श्रुतं वेदाध्ययनम्, अतोऽवेदत्वात् असमर्थः शूद्रो न अधिक्रियते—इति ॥

स. विद्यानिर्देशान्नेति चेत् ॥ ३६ ॥ (आ०) ॥

भा. 'इति चेत्' पश्यसि,—अवेद्यत्वात् असामर्थ्यात् अनधिकृतः

* अर्थात् इति का० क्रौ० पु० पःठः ॥

† "सन्माननोत्सर्जनाचार्य्यकरणज्ञानश्रुतिविगणनव्ययेषु मियः" (१।०।१६) इति पाणिनिस्मृतौ च आचार्य्यकरणे आत्मनेपदं विहितम् ॥

भा. श्रद्धः—इति। नैव दोषः,—‘विद्यानिर्देशात्, विद्यां निर्देशयति, अनुक्तामपि अध्येयते—इति, शक्यते हि अनुक्तमप्यध्येतुम्। तस्मात् चातुर्वर्ण्यस्याप्यधिकारः ॥

स. अवैद्यत्वादभावः कर्मणि स्यात् ॥ ३७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. न च एतदस्ति,—श्रद्धोऽध्येयते—इति, प्रतिषिद्धम् अस्व अध्ययनं, ‘श्रद्धेण न अध्येयम्’—इति, अधीयानस्यापि अध्ययनं सफलं न भवति, दोषश्च जायते। अतोऽवैद्यः श्रद्धः, अस्व ‘अभावः कर्मणि’—इति सिद्धम्।

अथापि वैद्यत्वेन सिध्येत्*, तथाप्यनघ्नित्वात् ‘अभावः कर्मणि स्यात्’। ‘अथ कथम् अनघ्निता?’—इति। प्रापकानि हि ब्राह्मणादीनामाधाने वाक्यानि। ‘ननु ‘य एवं विद्वानघ्निमाधत्ते’—इति आधानस्य विधायकं; तच्च ब्राह्मणस्य, ‘वसन्ते अघ्निमादधीत’—इति निमित्तार्थानि वचनानि—इति गम्यते’। अत्र उच्यते,—‘ब्राह्मणोऽघ्निमादधीत’—इति श्रुत्या विधानं गम्यते। ‘यः एवं विद्वान् अघ्निमाधत्ते’—इति श्रुत्या, तत् आनुमानिकं प्रत्यक्षश्रुतात् दुर्बलं। तस्मात् प्रापकाणि वचनानि, अतः श्रद्धस्य अनधिकारः ॥

स. तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ ३८ ॥ (यु०) ॥

भा. ‘अन्यार्थदर्शनं’ ‘च’ भवति, यथा श्रद्धस्य न अध्ययनम्—इति। किं लिङ्गं भवति?। ‘यद्यु वा एतत् श्मशानं, यत् श्रद्धः, तस्मात् श्रद्धसमीपे न अध्येयम्’—इति अनध्ययनं श्रद्धस्य दर्शयति। तस्मात् अपश्रद्धाणाम् अधिकारः। ‘ननु आहवनीयादिनापि, यागो वचनप्रामाण्यात् श्रद्धस्य विधीयते’।

* अवैद्यत्वेन न सिध्येत् इति का० क्री० पु० पाठः ॥

भा. उच्यते, न अथ यागसङ्गावो विधीयते स्वर्गकामस्य, किं तर्हि स्वर्गफलता विशिष्टस्य यागस्य । तस्मात् असम्भवः अद्रव्य अग्निहोत्रादिषु ॥ (६।१।७ अ०) ॥

शान्ते निर्धनस्याप्यधिकारः अधिकरणम् ॥

ख. त्रयाणां द्रव्यसम्पन्नः कर्मणो द्रव्यसिद्धि-
त्वात् ॥ ३६ ॥ (पू०) ॥

भा. अग्निहोत्रादिषु एव सन्देहः,—किम् अद्रव्यस्य अधिकारो न? —इति । उच्यते, 'त्रयाणां द्रव्यसम्पन्नो' अधिक्रियेत, न अद्रव्यः । कुतः? । न हि शक्नोत्यद्रव्यो द्रव्यसंयुक्तं कर्म अनुष्ठानम् । तस्मात् अद्रव्यस्य अनधिकारः ॥

ख. अनित्यत्वात् नैवं स्यादर्थाद्धि द्रव्यसंयोगः ॥ ४० ॥
(सि०) ॥

भा. 'नैवं स्यात्', यदुक्तम्,—अद्रव्यस्य अनधिकारः—इति । कुतः? । 'अनित्यत्वात्',—अनित्यो द्रव्यसंयोगः, न हि कश्चित् जात्या अद्रव्य एव पुरुषः । अस्ति उपायो येन द्रव्यान् भवति । यः शक्नोति यष्टुम्, तस्य 'यजेत'—इति वाचको भवति, यो न कथञ्चिदपि शक्नोति यागम् अभिनिर्वर्त्तयितुम्, तं न अधिकरोति 'यजेत'—शब्दः । यस्तु केनचित् प्रकारेण शक्नोति, न तं वर्जयित्वा प्रवर्त्तते । 'अर्थात्' च 'द्रव्यसंयोगः' भविष्यति, जीविष्यति विना धनेन—इत्येतत् अनुपपन्नम् । तस्मात् अर्थात् द्रव्यसंयोगः ॥ (६।१।८ अ०) ॥

यानेऽङ्गहीनस्याप्यधिकाराधिकरणम् ॥

स. अङ्गहीनश्च तद्धर्मा ॥ ४१ ॥

भा. अग्निहोषादिषु एवाङ्गहीनं प्रति सन्देहः,—किम् असावधि-
क्रियते, उत न?—इति । तत्राप्यधिरणातिदेशः । असमर्थः—
इति कृत्वा पूर्वः पक्षः, शक्तेर्विद्यमानत्वात् उत्तरः । तद्दिदम्
अभिधीयते,—‘अङ्गहीनश्च तद्धर्मा’ । किन्धर्मा? । अद्रव्यधर्मा
—इति ॥ (६।१।९ अ०) ॥

अधिकृत्याङ्गवैकल्याय यानामधिकाराधिकरणम् ॥

स. उत्पत्तौ नित्यसंयोगात्* ॥ ४२ ॥

भा. यस्य तु अप्रतिसमाधेयमङ्गवैकल्यं, तं प्रति विचारः,—किं
अधिक्रियते, न?—इति, पूर्वाधिकरणेन अधिक्रियते—इति
प्राप्ते ब्रूमः,—न अधिक्रियते—इति । कुत? । शक्त्यभावात्, न
असौ केनचित् अपि प्रकारेण शक्नोति यद्युम्, तस्मात् तस्य
अधिकारो न गम्यते ।

‘ननु यत् शक्नोति, तत्र अधिक्रियते—इति, चक्षुर्विकल्पो
विना आज्यावेक्षणेन, विना विष्णुक्रमैः पङ्कः, विना प्रैषादि-
श्रवणेन च अधिरः, एतान् पदार्थान् प्रति चक्षुर्विकल्पादीनाम-
नधिकारः’—इति । न—इत्युच्यते, न आज्यावेक्षणादि पुरुषं
प्रति निर्द्दिश्यते, यदि हि तं प्रति निर्द्दिश्येत, ततो विकल्पो-
ऽप्यधिक्रियेत, क्रतुम् प्रति एषाम् उपदेशः, प्रकरणाविशेषात्,
पुरुषस्य च आख्यातेन अनभिधानात्—इति, उक्तमेतत्
“विधिर्वा संयोगान्तरात्”—(३।४।१३ सू०) इत्यत्र । तच्च

* “उत्पत्तौ नित्यसंयोगात् जात्यन्वादीनामधिकारोऽप्रतिसमाधेयत्वात् । इतरेषा-
मनवस्थितत्वात् पूर्वो न्यायः” इति वार्तिकमन्वानुसम्बेधम् ॥

भा. विना विगुणं कर्म प्रयुक्तमपि न फलं साधयेत् । तस्मात्
तस्य अनधिकारः ॥ (६।१।१० अ०) ॥

दर्शपूर्णमासयोः चार्षेयस्त्रीवाधिकाराधिकारश्च ॥

सः अ-त्यार्षेयस्य हानं स्यात् ॥ ४३ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘आर्षेयं दृणीते, एकं दृणीते, द्वौ दृणीते, त्रीन् दृणीते, न चतुरो दृणीते, न पञ्चातिदृणीते’*—इति । तच्च सन्देहः,—किम् अचार्षेयस्य अधिकारः उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—अचार्षेयोऽप्यधिक्रियते—इति । कुतः? । ‘आर्षेयं दृणीते’—इति सामान्यवचनम्, तस्मात् एकं वरिष्यति द्वौ वा, तच्च दर्शयति, ‘एकं दृणीते द्वौ दृणीते’—इति तथा प्रतिषेधति, ‘न चतुरो दृणीते’—इति ‘न पञ्चातिदृणीते’—इति । न हि अप्राप्तस्य प्रतिषेधोऽवकल्पते । तस्मात् अचार्षेयोऽप्यधिक्रियेत ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—यो न चार्षेयः, स न अधिक्रियेत । कुतः? । ‘त्रीन् दृणीते’—इति विशेषवचनात्, विधिश्च अप्राप्तत्वात् । ‘ननु ‘एकं दृणीते’—इत्यपि विशेषवचनमस्ति’ । न—इत्युच्यते, विधायिकाया विभक्तेरभावात् । ‘ननु स्तुत्या विधास्यन्ते, यथा ‘त्रीन् दृणीते’—इति । उच्यते, त्रयाणामेव स्तुतिः, सा चित्त्वं विधास्यति । ‘एकं दृणीते’—इत्यवयुत्यवादोऽर्थं त्रयाणामेव, तथापि चित्त्वेन श्रूयते विधातुम् । एवम् एकवाक्येन विधानं भविष्यति—इति । ‘न चतुरो दृणीते, न पञ्चातिदृणीते’—

* ऋषिर्गोत्रप्रवर्तकः कश्यपभरद्वाजादिसस्य सम्बन्ध आर्षेयत्वं दृणीते उच्चारयति, कश्यपगोत्रोऽहं भरद्वाजगोत्रोऽहमिति तदुच्चारणम् । एकमार्षेयमुच्चारयति तत्रोदाहृतम् । द्वावर्षेयानुच्चारयति उपमन्युवशिष्टगोत्रोऽहमित्यादि, त्रीन् ऋषेयानुच्चारयति ऋत्विगस-
वार्हस्यत्यभारद्वाजगोत्रोऽहमित्यादय इति न्यायमाहानुसम्बन्धा ॥

भा. इति नित्वानुवाद्दो भविष्यति । तस्मात् चार्धैयस्य अधिकारो
नान्यस्य—इति ॥ (६।१।११ अ०) ॥

चातुर्वर्षातिरिक्तस्य रथकारस्याधानेऽधिकाराधिकरणम् ॥ (रथकारन्यायः) ॥

ख. वचनाद्द्रव्यकारस्याधानेऽस्य* सर्वशेषत्वात् ॥ ४४ ॥
(सि०) ॥

भा. आधाने श्रूयते,—‘वर्षाद्य रथकार आदधीत’—इति । तत्र
बन्धेऽहः,—किं चैवर्णिकानामन्यतमो रथकारः, आहोसित्
अचैवर्णिकः?—इति । किं प्राप्तम्?—‘रथकारस्य’ अचैवर्णिकस्य
आधानमेतत् । कुतः?। ‘वचनात्’, न हि वचनस्य किञ्चित्
अह्यत्यमस्ति, सर्वशेषस्य अचैवर्णिकः आधाने, ब्राह्मणराज्यन्य-
विश्रामुक्तम् आधानं, परिशेषात् अचैवर्णिको रथकारः स्यात् ॥

घ. न्याय्यो वा कर्मसंयोगात् शूद्रस्य प्रतिषिद्ध-
त्वात् ॥ ४५ ॥ (पू०) ॥

भा. ‘न्याय्यो वा’ स्यात्, चैवर्णिको रथकारः रथकर्मणा विशेषेण
उच्यते, शूद्रो हि असमर्थत्वात् प्रतिषिद्धः । तस्मात् चैवर्णिको
रथकारः स्यात् ॥

ख. अकर्मत्वात् नैवं स्यात् ॥ ४६ ॥ (उ०) ॥

भा. नास्ति चैवर्णिको रथकारः, प्रतिषिद्धं हि तस्य त्रिण्योप-
जीवित्वं, अचैवर्णिकस्त्वस्ति । तस्मात् वचनप्रामाण्यात् स
आधास्यते ॥

* आधानस्य इति क० स० पु० पाठः । आधाने इति का० ग्री० पु० पाठः ॥

† असमर्थस्य इति आ० सो० पु० पाठः ॥

‡ आधानेन इति आ० सो० पु० पाठः ॥

स. आनर्थक्यं च संयोगात् ॥ ४७ ॥ (यु०) ॥

भा. ब्राह्मणादिषु वसन्तादयो नियताः, तान् प्रति वर्षा उच्यमाना अप्यसम्बन्धात् आनर्थक्यं प्राप्नुयुः। तस्मात् अत्रैवर्णिको रथकारः—इति ॥

स. गुणार्थेनेति चेत् ॥ ४८ ॥ (आ०) ॥

भा. एवं चेत् पश्यसि,—नास्ति चैवर्णिको रथकारः, प्रतिषिद्धत्वात् श्लेषोपजीवित्वस्य—इति। 'गुणार्थेन'* कश्चित् भविष्यति रथकारो वैतथ्येन, तस्य इदम् आधानं विज्ञायते ॥

स. उक्तमनिमित्तत्वम् ॥ ४९ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. उक्तम्, एतत् अस्माभिः,—न निमित्तार्थान्येतानि अवधानानि—इति। 'किम् अतो यदि न निमित्तार्थानि?'। एतत् अतो भवति, प्रापकाणि—इति, प्रापितत्वात् तेषाम् आधानस्य, पुनः प्रापकम् अनर्थकं, तेन यस्य अप्राप्तं, तस्य भविष्यति—इति। 'अथ उच्यते, एतदेकं निमित्तार्थं भविष्यति'—इति। नैतदेवम् अवकल्पते, वसन्तादिसंयुक्तं तत् कथमिव वर्षाभिः सम्बन्धितम्। अपि च, प्रापकपक्षे आधानं विधीयते श्रुत्या, निमित्तपक्षे पुनर्वर्षा विधातव्याः वाक्येन, श्रुतिश्च वाक्वाङ्मलीयसी—इति। तस्मात् अत्रैवर्णिकस्य इदम् आधानम्—इति ॥

स. सौधन्वनास्तु हीनत्वात् मन्त्रवर्णात्प्रतीयेरन् ॥ ५० ॥
(२य सि०) ॥

भा. न तु सर्व एव अत्रैवर्णिको रथकारः, 'सौधन्वनाः'—इत्येष

* गुणार्थत्वेन इति आ० मो० पु० पाठः ॥

भा. जातिवचनः शब्दः, सौधम्बना नाम जातिः अभिधीयते, हीनास्तु किञ्चित् त्रैवर्णिकेभ्यः, जात्यन्तरं, न तु शूद्राः, न वैश्या, न क्षत्रियाः, तेषाम् इदमाधानम् । 'कथम् अव-
गम्यते ? । प्रसिद्धेर्मखवर्णाच्च, मखवर्णा हि भवति, 'सौधम्बना
ऋभव शूरचक्षसः'—इति, 'ऋभूणान्तु'—इति रथकारस्य
आधानमखः ; तस्मात् सौधम्बना ऋभवः—इति, ऋभवश्च
रथकाराः । अपि च 'नेमिं नयन्ति ऋभवो यथा'—इति ये
नेमिं नयन्ति ते ऋभवः—इत्युच्यन्ते, रथकाराश्च नेमिं नयन्ति ।
तस्मात् त्रैवर्णिकानाम् अशूद्राणाम् एतत् आधानम्—इति ॥
(६।१।१२ अ०) ॥

पैवर्णिकभिन्नस्य निषादस्य रौद्रयागेऽधिकाराधिकरणम् ॥ (निषादस्थपतिव्यायः) ॥

स. स्थपतिर्निषादः स्यात् शब्दसामर्थ्यात् ॥ ५१ ॥

भा. 'वास्तुमध्ये रौद्रं चरं निर्वपेत्, यत्र रुद्रः प्रजाः श्रमयेत्'—
इत्येताम् इष्टिं प्रहृत्य उच्यते, 'एतया निषादस्थपतिं याज-
येत्'—इति । निषादस्थपतिं प्रति सन्देहः,—किम् अधिहता-
नाम् अन्यतमः, उत अन्य एव?—इति । अन्यतमः—इति
ब्रूमः, स हि समर्थः, विदत्त्वात् अग्निमत्त्वाच्च, अन्योऽविदत्त्वाद्-
नग्नित्वात् असमर्थः—इति ।

'ननु निषादस्थपतिशब्दस्तत्र नोपपद्यते' । उच्यते,—न,
नोपपद्यते, निषादानां स्थपतिः—इति षष्ठीसमासो भविष्यति,
श्रेष्ठो निषादानाम् । तस्मात् अधिहताधिकारम् एतत् ब्राह्मम्
—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'स्थपतिर्निषादः स्यात् शब्दसाम-
र्थ्यात्', निषाद एव स्थपतिर्भवितुमर्हति । कस्मात् ? । 'शब्द-
सामर्थ्यात्', निषादं हि निषादशब्दः शक्नोति वदितुम् अवणे-
नैव, निषादानान्तु स्थपतिं खञ्जण्या ब्रूयात् । श्रुतिलक्षणा-

भा. विज्ञये च श्रुतिर्न्यास्या न लक्षणा । ‘अथ उच्यते,—नैष दोषः, निषादशब्दो निषादवचन एव, षष्ठी सम्बन्धस्य वाचिका’—इति । तन्न, षष्ठ्यश्रवणात्, न अत्र षष्ठीं शृणुमः । ‘आह, लोपसामर्थ्यात् षष्ठ्यर्थोऽभ्यस्यते’—इति । सत्यमवगम्यते, न तु लोपेन । केन तर्हि? । निषादशब्दलक्षणया, तस्याश्च दौर्बल्यम्—इत्युक्तम् । समानाधिकरणसमासस्तु बलीयान् । तत्र हि स्वार्थे शब्दो टत्तौ भवतः* । द्वितीया च विभक्तिः तद्वेण उभाभ्यां सम्बध्यते, तेन द्वितीयानिर्दिष्टो निषादो गम्यते । तत्र षष्ठ्यर्थं कल्पयन् अश्रुतं गृह्णीयात् । तस्मात् निषाद एव स्थपतिः स्यात् ॥

सू. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ५२ ॥

भा. लिङ्गं दृश्यते, ‘कूटं दक्षिणा’—इति निषादस्य द्रव्यं दर्शयति । कूटं हि निषादानाम् एवोपकारकं, न आर्याणाम्, एवं स्वमेव तन्निषादानाम्—इति ॥ (६।१।१३ अ०) ॥

इति श्रीशिवरत्नामिनः छतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य
प्रथमः पादः ॥

* “तस्मात् लोपे नास्ति प्रमादं, ततो राजपुरष इत्यत्रापि राजा चासौ पुरषश्चेतीदृशो विप्रश्च कर्तव्यः, तत्रापि षष्ठीश्रवणमेव नास्ति, किन्तु स्वस्वामिसम्बन्धात् षष्ठ्यर्थमारोप्य तदा समासो भवति । राज्ञः पुरष इति वाक्यम् अर्थवदन्तार्थम्” इति वार्तिकमजानु-सन्धेयम् ॥

षष्ठे अध्याये द्वितीयः पादः ॥



सचे प्रत्येकस्य सचिचः फलसम्बन्धाधिकारस्य ॥

स. पुरुषार्थैकसिद्धित्वात् तस्य तस्याधिकारः
स्यात् ॥ १ ॥ (सि०) ॥

भा. 'दादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्', 'ऋद्धिकामा उपेयुः', तथा,
'तच्च तत्रैवंकामाः सचम् उपेयुः', 'सप्तदशावराः चतुर्विंशतिपरमाः
सचमासीरन्'—इति । तेषु सन्देहः,—किं तस्य तस्य ह्यत्स्नेन
फलेन अर्थिनः सचे अधिकारः, उत पर्वदोऽर्थिन्या अधिकारः ?
—इति । 'आह, ननु अर्थिनो बह्वसंख्याविशिष्टा निर्दिश्यन्ते,
कथम् एषाम् एकशोऽधिकारो भविष्यति?—इति' । उच्यते,
'ऋद्धिकामाः'—इत्येवमादि विधीयमानम् ऋद्धिलक्षितेषु सम-
स्तेषु व्यस्तेषु च प्राप्तं न शक्यं बह्ववचनेन विशेषेऽवस्थापयितुम्,
तेन तं तमधिकुर्यात् पर्वदं वा?—इति भवति सन्देहः ।

किं तावत् प्राप्तम्?—एकैको न समर्थो बह्वकर्तृकं सचम्
रचयितुम्* पर्वदन्तु कर्त्तृमर्थिनीमवगच्छामः । न च अकर्तुः
फलं भवति, न च एकः कर्त्ता उच्यते, तस्मात् समस्तानां फलम् ।
एकैकस्य फलावयवः, मध्यकं स्यात् ह्यत्स्नं फलम्—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः, 'तस्य तस्य' अर्थिनः ह्यत्स्नं फलं सचात्
निवर्तते । कुतः? । पुरुषार्थस्य एकैकस्य सिद्धिर्यतो भवति,
सहक्रियमाणे सर्वः एकैकः पुरुषार्थं साधयति तद्वेण, कतृणाम्
फलं च भवति, एकैकश्च अत्र कर्त्ता ।

* सम्यादयितुम् इति का० क्री० पु० पाठः ॥

भा. 'आह, ननु एतत् उक्तम्,—एकैको न ज्ञोति बह्वकर्तृकं कर्तुम्—इति । उच्यते, ज्ञोति एकैकस्य स्वातन्त्र्यविवक्षायां, यदा एकैकः स्वातन्त्र्येण प्रवर्तते, तदा अन्यान् सङ्गानिर्दृष्ट्यर्थं सामादिभिः प्रयोच्यते । इवम् एकः पुरुषार्थं साधयति, इतर इतरश्च, तेन सर्वे कर्तारः सद्यपेक्षा भविष्यन्ति । सर्वे चेत् कर्तारः, पृथक् पृथगेव फलेन सम्भन्स्यन्ते ॥

स. अपि चोत्पत्तिसंयोगो यथा स्यात् सत्वदर्शनं, तथा भावो विभागे स्यात् ॥ २ ॥ (यु०) ॥

भा. 'अपि च' नैतत् विरुद्धं, यदेकं कर्म बह्वभिः क्रियते—इति । 'यदि उच्येत, विरुद्धम्, एकेन कर्मणि ह्येते द्वितीयः किं कुर्यात्?'—इति । अत्र उच्यते,—पर्यायेण क्रियायाम् एवं दोषः, तत्रेण तु क्रियायां भवति क्वचित् सम्भवः, 'यथा स्यात् सत्वदर्शनं तथा भावो विभागे स्यात्',—यथा एकैकस्य सत्वस्य ह्यस्तिनोऽवस्य वा दर्शनम् एकैकेन ह्यल्पमभिनिर्वर्त्यते ; एवमेव सचे तद्वभावो भवेत्, सर्वेषां मध्यकं द्रव्यं, मध्यकस्य आहवनीयस्योपरि अध्वर्युः अपविधति, तत्र सर्वे कर्तारः तत्रेण भवन्ति ।

न च अत्र उत्पन्नसंयोगः, उत्पन्नैव तु सङ्गत्या कर्म संयुज्यते, यदि हि उत्पन्नं संयुज्येत, ततोऽनेकसम्बन्धार्थम्—इति वचनं गम्येत, उत्पत्तिसंयोगे त्वेतस्मास्ति, तस्मात् एकैकस्य ह्यल्पेन फलेन अभिसम्बन्धः—इति ॥ (६।२।१ अ०) ॥

दर्शादौ कर्त्तव्यनियमाधिकरणम् ॥

स. प्रयोगे पुरुषश्रुतेः यथाकामी प्रयोगे स्यात् ॥ ३ ॥ (पू०) ॥

भा. 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत', 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्ग-

भा. कामो यजेत—इति श्रूयते। अथ बह्वेहः,—किम् अनियमेन एको द्वौ बह्वो वा यजेरन्, अथ वा एक एव यजेत?—इति। 'ननु तृतीये (७ पा०। १८ सू०) उक्तं “ब्राह्मणं प्रयोक्तारि”—इति'। यदा प्रयोक्तारि, तदा विवक्षितम् एकत्वं यथा, तथा बह्व्यामः, इह तु तदेवाचिष्यते, पुनश्च निर्णेष्यते—इति।

किं प्राप्तम्?—'यथाकामी प्रयोगे स्यात्'। कुतः?। 'पुरुष-श्रुतेः', पुरुषः श्रूयते, पुरुषे यागं आवयित्वा कृतार्थः शब्दः एकस्य द्वयोर्बहूनां वा यागं न वारयति। न असौ पुरुषो यागे श्रूयते,—यागमभिनिर्वर्त्तयेत्, यागेन वा फलम् अभिनिर्वर्त्तयेत्—इति, कथन्तर्हि?—यागेन फलं प्राप्नुवात्—इति, यागस्व वा फलनिर्दत्तेर्वा नाङ्गं पुरुषः, यदि हि अङ्गम् अभविष्यत् यागे फलनिर्दत्तौ वा, तदा सङ्ख्या गुणभूता तदङ्गं पुरुषं परिच्छिन्ध्यात्। अथ पुनः अनङ्गीभूतं पुरुषं प्रकाशयत् लक्षण-त्वेनैव पुरुषेभिसम्बन्धेत, न गुणवचनतया; तत्र च अविवक्षितं सङ्ख्यावचनं, यावान् अर्थो समर्थश्च तावन्तं सर्वमधिष्ठत्य एतत् उच्यमानं न ब्रह्मते एकेन वचनेन विशेषयितुम्। 'कथं च पुरुषप्राधान्यम्?'। न फलोत्पत्त्या किञ्चित् प्रयोजनमस्ति, न यागोत्पत्त्या, आत्मा तु फलसम्बद्धः सर्वस्य इहः, तदर्थं कर्म कर्त्तव्यम्, इतरथा उच्यमानमपि न क्रियेत, तत्र वचनानर्थक्यं स्यात्, तस्मात् यथाकाम्यं स्यात्,—एको द्वौ बह्वो वा यजे-रन्—इति, तथा च दर्शयति,—'युवं हि स्थः स्वर्षती—इति द्वयोः यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यात्—इति, 'एते अस्यमिन्द्वः—इति बह्वो यजमानेभ्यः—इति द्वयोः बहूनां च यागं प्रदर्शयति ॥

प्र. प्रत्यर्थं श्रुतिभाव इति चेत् ॥ ४ ॥ (आ०) ॥

भा. 'इति चेत्', इदं चेत् पश्यसि, 'प्रत्यर्थं श्रुतिभावः' स्यात्,

भा. यागमभिनिर्वर्त्तयेत् ततश्च फलं प्राप्नुयात्—इति । कुतः?।
 एतत् उभयं हि एतस्मात् अवगम्यते, कतरदश्च जहोमः?—
 इति न अथवस्यामः । तस्मात् उभयमपि प्रत्येतथम् । ‘आह,
 ननु अनेकार्थवचनता न न्यास्या’—इति । उच्यते, यत् अव-
 गम्यते तन्न्यायम्, उभयं च प्रतीयते, तस्मात् उभयार्थवचनतैव
 न्यास्या । यागं प्रति च गुणभावात् विवक्षितम् एकवचनम् ॥

स्र. तादर्थ्ये न गुणार्थताऽनुक्तेऽर्थान्तरत्वात् कर्तुः
 प्रधानभूतत्वात् ॥ ५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवं, ‘तादर्थ्ये’ पुरुषे प्रधानभूते* सति न अङ्गभूतः
 पुरुषः प्रतीयते, ‘अनुक्ते’ हि न्याये न प्रतीमः अर्थान्तरं, यतः
 गुणभावात् प्रधानभावः, प्रधानभूतश्च अत्र कर्त्ता, वचनस्य
 अर्थवत्त्वात्, अतो न गुणभावः कर्तुः अवकल्पते, चोदनैकत्वात्,
 एका हि विधायिका चोदना, सा यदि फलोत्पत्तिं वा
 यागोत्पत्तिं वा विधत्ते, तदा कर्त्ता न स्वार्थेन, यदा पुनः
 स्वार्थेन, तदा यागः फलं वा तादर्थ्येन, न च एतत् यौगपद्येन
 भवति, स्वार्थं एकः, तदर्थं इतरो वैपरीत्येन वा—इति, यथा
 उभाभ्यां बाहुभ्याम् इषून् अस्यति देवदत्तः—इति गम्यते, न
 च यौगपद्येन, यदा दक्षिणेन अस्यति, तदा सथेन धनुःपृष्ठं
 नमयति, न तेन अपि अस्यति—इति गम्यते, तत्र व्यापृत-
 त्वात् । एवं यदा पुरुषप्राधान्यं, तदा यागस्य फलस्य वा
 गुणभावो गम्यते, तत्र व्यापृतत्वात् न तयोः प्राधान्यमपि
 गम्यते । तस्मात् न यागे फले वा पुरुषस्य गुणभावः, अतो
 यथाकार्म्यं स्यात्, एको द्वौ बहवो वा यजेरन्—इति ॥

* पुरुषप्राधान्ये इति का० प्री० पु० पाठः ॥

स. अपि वा कामसंयोगे सम्बन्धात्प्रयोगायोपदिश्येत,
प्रत्यर्थं हि विधिऋतिर्विधाणावत् ॥ ६ ॥ (सि०) ॥

भा. 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः, 'प्रयोगायोपदिश्येत' कर्त्ता,
न स्वार्थेन । कथम्? 'यजेत' इत्यस्यार्थः यागं कुर्यात्, यागेन
वा कुर्यात्—इति, सत्ताभिव्यक्तिमात्रं गम्यते, न फलस्य कर्त्ता
धाता वा, स्वर्गकामशब्दश्च स्वर्गकामभाषे वर्त्तते, न विशेषम्
अवलम्बते, आत्मनः परस्य वा—इति,* शब्दप्रमाणकाश्च वयम्
ईदृशेषु अर्थेषु । 'कथन्तर्हि कामस्य आत्मसम्बन्धोऽवगम्यते?' ।
'सम्बन्धात्', फलकामोऽनुक्तेऽपि शब्देन, आत्मनः एव फलं
कामयते, न परस्य, यत्र तु उभावर्थौ वक्तव्यौ भवतः, 'प्रत्यर्थं'
तत्र विधिः श्रूयते, यथा 'हृष्णविषाणया कण्डूयति', चात्वाले
हृष्णविषाणाम् प्रास्यति—इति । यत्र एवं हे श्रुती विधात्रौ
भवतः, तत्र गुणभावः प्राधान्यं च गम्यते । न त्वत्र एवं हे
विधायिके श्रुती विद्येते ; गुणभूतस्तु पुरुषः श्रूयते 'भावयेत्'—
इति, तत्र यज्यर्थः करणं ; कर्म वा । सम्बन्धात्तु पुरुषप्राधान्यं,
न कस्यचित् सुखेन उत्पन्नेन प्रयोजनं, सुखसम्बन्धेन आत्मनस्तु
हात्यम् । तस्मात् सम्बन्धात् पुरुषप्राधान्यं गम्यते, न श्रुतेः ।
अतो गुणभूतस्य पुरुषस्य सङ्ख्या विवक्षिता—इति ॥

स. अन्यस्य† स्यादिति चेत् ॥ ७ ॥ (आ०) ॥

भा. 'इति चेत्' भवान् पश्यति, एवं सति यदि स्वर्गकामः अन्यस्य
अपि स्वर्गं कामयमानो भवति, अन्यस्य स्वर्गं कामयमानोऽपि
अन्यो यजेत, तत्र पूर्वोक्तो न्यायः प्रत्युद्धृतो भवति, "शास्त्रफलं
प्रयोक्तारि"—इति ॥

* स्वर्गप्रतीतिभाषे स्वर्गकामशब्दो वर्त्तते इत्यधिकः पाठः आ० सो० पु० ॥

† अन्यः इति का० श्री० पु० पाठः ॥

स. अन्यार्थेनाभिसम्बन्धः ॥ ८ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. न परस्य स्वर्गकामः—इत्येवं न यजेत, न, अन्यस्य स्वर्गकाम-
शब्दो न वाचकः—इति; कथन्तर्हि?—फलमसौ न प्राप्नोति—
इति। कथं पुनः फलस्य अप्राप्तिः?। उपपद्यद्विशेषश्रवणात्,
'यजेत'—इति, यदा आधाने, 'ब्राह्मणो वसन्तेऽग्निमादधीत'—
इति, तदा तु कामश्रुतौ उपपद्योऽनुवाद एव ॥

स. फलकामो निमित्तमिति चेत् ॥ ९ ॥ (आ०) ॥

भा. एवं 'चेत्' भवान् मन्यते, न स्वर्गकामशब्दो न वाचकः—
इति, अन्यो न यजते फलाभावात्, न अस्य यागः—इति,
सूक्तवाकफलार्थितया तर्हि यजेत, 'आशास्तेऽयं यजमानः आयु-
राशास्ते'—इति प्रयोजयितारं निर्द्दश्यति द्योता, फलविधिश्च
'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रह्वरति'—इति विधानात्, यदि फलविधिः
अयं माद्वर्षणिकः, तर्हि सूक्तवाकेन प्रस्तरः प्रह्वृतो भवति,
इतरथा अदृष्टं कल्पयेत्। तस्मात् आनुषङ्गिकफलार्थम् अन्यस्य
स्वर्गकामोऽन्यो यजेत—इति ॥

स. न नित्यत्वात् ॥ १० ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदस्ति, यस्य एव प्रधानकर्मफलं, तस्य एव आनुषङ्गिकमपि
भवितुमर्हति, एवं स्वार्थेन आधानं कृतं भवति, न हि आधानस्य
स्वार्थतायाम् अस्ति विशेषः प्रधानफलं वा आनुषङ्गिकं वा
सर्वमेव आधातरि समवेतुमर्हति, नित्यकाम्यता च विरुध्येत,
यद्यायुरादिकामो यजेत, न तर्हि नित्यं, यदि नित्यं न
आयुरादिकामः। तस्मात् न अवस्थितो न्यायः प्रत्युद्धियेत, न
च पुरुषः प्रधानभूतश्चोद्यते गुणभावात्तु अस्य विवक्षितमेकत्वम्।
तस्मात् एक एव यजेत ॥

स. कर्म तथेति चेत् ॥ ११ ॥ (आ०) ॥

भा. अथ बहुक्तं, इयोर्बहुनाच्च यागं दर्शयति,—‘युवं हि स्वः
स्वःपती—इति इयोः यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यात्’, ‘एते अष्टप-
मिन्द्वः—इति बहुभ्यो यजमानेभ्यः प्रतिपदं कुर्यात्’—इति
द्वियजमानके बहुयजमानके च कर्मणि प्रतिपद्विधानं ‘कर्म’
‘तथा’ युक्तं स्यात्—इति, तत्परिहर्तव्यम् ॥

स. न समवायात् ॥ १२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवं, समवेतं हि कर्म विद्यते दाभ्यां यजमानाभ्यां बहु-
भिश्च यजमानैः, वचनेन, यथा अहीनाः, तेषु प्रतिपद्विधानम्
अर्थवत् भविष्यति। तस्मात् एको यजेत—इति ॥ (६।२।
२ अ०) ॥

आरम्भकाम्यकर्माऽपि समाप्तिनियमाधिकरणम् ॥

स. प्रक्रमात्तु नियम्येतारम्भस्य क्रियानिमित्तत्वात् ॥
१३ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘प्रजाकामो यजेत’, ‘ग्रामकामो यजेत’—इत्येवमादि कर्म
समाप्नायते। तत्र सन्देहः,—किं प्रक्रामं नियोगतः समाप-
नीयम्, उतेच्छ्या कार्यं हेयं वा?—इति। किं प्राप्तं?—
नियोगतः परिसमापयितव्यम्—इति। कुतः?। एवं हि श्रूयते,
—इदं कामो यजेत—इति, एवं तस्य आख्यातस्य अर्थम्
उपदिशन्ति, ‘उपक्रमप्रभृति अपसर्गपर्यन्तम् आह’—इति,
उपक्रमादारभ्य यावत् परिसमाप्तिः—इत्येतावान् व्यापार-
विशेषः तस्य अर्थः, न यथा पाकः त्यागः—इति। तत्र हि
पाकसत्तामात्रं निर्दिश्यते, न आरभ्य परिसमापयितव्यम्—

भा. इति । एवं च आख्यातार्थं लौकिका अपि प्रतिपद्यन्ते, तत्र न आरम्भे पुरुषप्रयत्नः चोद्यते—इति गम्यते । यतश्चोदितं न नियोगत आरम्भे, नियोगतः पुनः परिसमापयन्ति, तेन नोभे आरम्भपरिसमाप्ती शब्दार्थः, किन्तु—परिसमाप्तिः शब्दार्थः, परिसमाप्तप्रामर्थ्यप्राप्तत्वात् आरम्भस्य । तस्मात् परिसमाप्तिः शब्दार्थः—इति गम्यते । सा चेत् शब्दार्थः, सा कर्त्तव्यतया चोद्यते, आरम्भे नास्ति कर्त्तव्यतावचनं; तेन न नियोगत आरम्भः, नियोगतस्तु परिसमाप्तिः । तेन उपक्रान्ते कर्मणि यदि वीयात् फलेच्छा, अवाप्नोति वा फलं, तस्यामप्यवस्थायां, कर्त्तव्यमेव उपक्रान्तस्य परिसमापनम् ।

‘ननु अर्थिनो योर्थः, सोऽत्र कर्त्तव्यतयोच्यते’ । नैतदेवं, वाक्यार्थो हि स भवति, यागस्य तु कर्त्तव्यता श्रुत्या गम्यते; तस्मात् यामकामेण याग आरम्भः परिसमापनीयः; यामादिकामनावचनं निमित्तत्वेन तदा भवति, निमित्ते च उत्पन्ने यत् कर्त्तव्यम्—इत्युच्यते, तदिदं नैव निमित्ते कर्त्तव्यमेव, उपक्रान्तस्य समापनं कर्त्तव्यम्—इति चोद्यते, तदिदं नैव निमित्ते कर्त्तव्यम्, न हि तदिदं अनुत्पन्नं भवति, उत्पत्तिस्य निमित्तं न भावः । तस्मात् वीतायामपि फलेच्छायाम् उपक्रान्तं परिसमापयितव्यम् । क्रियाया हि निमित्तम् आरम्भः, सोऽपि परिसमाप्तेः—इति ॥

६. फलार्थित्वाद्वाऽनियमो यथानुपक्रान्ते ॥ १४ ॥ (पू०) ॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । ‘अनियमो’ ‘वा’ । कस्मात्? । ‘फलार्थित्वात्’ फलार्थिनः (फलं चिकीर्षमाणस्य) उपायोर्थं विधीयते, न कर्त्तव्यता, सा हि विधीयमाना फलस्य वा यागस्य वा स्यात्, फलस्य न तावत् वक्तव्या, न हि यो यत् कामयते तस्य तत् कर्त्तव्यता उपदेष्टव्या, वेदैवासौ मयैवैतत् कर्त्तव्यम्

भा. —इति, उपायं तु न वेद, तमाकाङ्क्षते, इदम् उपदिश्यते,—
याग उपायः—इति, यागेन क्रियते—इति । न च यागस्य
कर्त्तव्यता, प्रत्यक्षविरोधात्, प्रत्यक्षस्तु क्षेत्रो यागः, यदि
यागेन अन्यस्य कर्त्तव्यता, तदा न विरोधः; यागकर्त्तव्यतायां
फलं कल्प्यं, न च, कल्प्यमानस्य प्रमाणमस्ति? । कर्त्तव्यो-
पदेशश्च श्रद्धादिषु अर्थेषु भवति, तस्मात् न यागः कर्त्तव्यः ।
फलकामस्य यत् इष्टं तत् कर्त्तव्यमनूय यथाप्राप्तम् यागस्य
साधनता विधीयते, तेन न अवश्यं समापनीयं भवति, यथा
अनुपक्रान्तं न अवश्योपक्रमितव्यम्, एवम् उपक्रान्तं न अवश्यं
समापयितव्यम् । यत्तु वाक्यार्थः श्रुत्या बाधते—इति, यत्र
श्रुत्यर्थो न सम्भवति, तत्र वाक्यार्थो गृह्यते—इत्युक्तमेव ।
तस्मात् अनियमः ॥

५. नियमो वा तन्निमित्तत्वात्कर्तृस्तत्कारणं स्यात् ॥

१५ ॥ (७०) ॥

भा. आरम्भो हि निमित्तं समाप्तेः । कथं? । 'तत्' 'कर्तुः' कारणं
स्यात्' । किं कारणम्? । सत्यसङ्कल्पता, यो हि आरम्भमेव-
ञ्जातीयकं समापयति, न तं शिष्टा विगर्हन्ते,—प्राक्रमिकोऽयम्
असंख्यवृद्धार्यः—इति, शिष्टविगर्हणा च दोषः । तस्मात् आरम्भ
समापयितव्यम् । 'आह, शिष्टाः पुनः किमर्थं विगर्हन्ते'—
इति । उच्यते,—विगर्हन्ते तावत्, किं नो विदितेन कारणेन?
—इति* ॥ (६।२।३ अ०) ॥

* अत्र "न च स्नानन्तश्च मूलात् विना विगर्हन्ते शिष्टाः, अशिष्टा एव ते स्युः यदि
विगर्हयेयुः विना शिष्टेण, न च सर्वेषामाचार्याणां धर्मप्रतिष्ठितचेतसामशिष्टत्वं शक्य-
मङ्गीकर्तुम्, अतः शिष्टाःपारात् विगर्हणरूपा स्मृतिः, स्मृतेः श्रुतिः कल्पते,—प्रकान्तं
शास्त्रीयं कर्म अवश्यं समापनीयमिति । किञ्च तैत्तिरीयाणामन्यपरं वचनमस्ति, यत्
प्रक्रम्य अस्मापननिमित्तं प्रायश्चित्तं विधत्ते 'देवताभ्यो वा एष आह्वयते. दे। दृष्टे'

आरन्वसौकिककर्माः समाप्तेरनियमाधिकरणम् ॥

स. लोके कर्माणि वेदवत्ततोऽधिपुरुषज्ञानम् ॥ १६ ॥
(पू०) ॥

भा. केनचित् गृहम् उपक्रान्तं भवति शकटं रथो वा, वीता अस्य फलेच्छा, अवाप्नोति वा फलम् । तत्र सन्देहः,—किं तेन नियोगतः परिसमापयितव्यम्, उत इच्छया उत्खल्यम् अपि?—इति । किं प्राप्तम्?—‘लोके कर्माणि’ एवञ्जातीयकानि उपक्रम्य परिसमापयितव्यानि, यथैव वैदिकानि तथैव तानि नियोगतः परिसमापनीयानि* । कुतः? । ‘ततोऽधिपुरुषज्ञानं’, ततः तत्पुरुषज्ञानं भवितुमर्हति । कुतः? । आस्तात्, आम्नायते हि तच्छणं शास्त्रं, तत्रापि देवतायापारोक्षीक्रियते,—पूर्वस्यां हि शि एता देवता इतरासु एताः—इति, यदि शास्त्रज्ञे देवतायापारे उपक्रम्यापरिसमाप्यमाने शिष्टविगर्हणम्, एवम् इहापि भवितुमर्हति ॥

स. अपराधेऽपि च तैः शास्त्रम् ॥ १७ ॥ (यु०) ॥

भा. तेषां ‘च’ लौकिकानाम् ‘अपराधे’ ‘तैः’ तक्षभिः प्रायश्चित्त-शास्त्रमाम्नायते, ‘आरे भग्ने इन्द्रबाहुर्बहुव्यः पायसं च ब्राह्मणो भोजयितव्यः’—इति, प्रायश्चित्तं च यद्यदृष्टार्थं, न आस्तादृते ; अथ प्रसङ्गपरिहारार्थं, ततोऽप्यादृतमेव तत्—इति गम्यते ॥

इत्युक्त्वा न यजेते, चैषातवीयेन यजेते, न देवताभ्य आष्टयते’ इति । दृश्यते चावाप्तेऽपि फले समाप्तिः कारीर्याः, ‘यदि वर्षेत् तावत्येव चोतव्यम्’ इति” इति तन्मन्त्ररत्नमन्त्रा-सन्धेयम् ॥

* यथैव वैदिकानि नियोगतः परिसमापनीयानि तथैवैतत् इति पाठः आ० सो० पू० एवं कं सं पु० ॥

† का० श्री० पुरुषो ‘अपि’कारो नास्ति ॥

स. अशास्त्रा तूपसम्प्राप्तिः शास्त्रं स्यान्न प्रकल्पकं, तस्मा-
दर्थेन गम्येताप्राप्ते शास्त्रमर्थवत् ॥ १८ ॥ (सि०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । 'अशास्त्रा तु' एषाम् 'उप-
सम्प्राप्तिः'—इति ब्रूमः । स्मृतेरस्याः ज्ञात्वं भवता अनुमीयते,
—न शास्त्रमन्तरेण स्मृतिः, न च स्मृतिम् अन्तरेण तद्व्याप्तां यन्थ
उपपद्यते—इति ; अत उच्यते,—भवति अत्र स्मृतिः,—एवमिदं
गृह्यादि कर्म रमणीयं भवति—इति, न अस्मात् कर्मणोऽदृष्टं
किञ्चित्—इति । या च असौ रमणीयता सा अन्तरेणापि
ज्ञात्वं, ज्ञात्वा ज्ञातुम्, ज्ञात्वा च स्मर्यते । तस्मात् न अस्याः
स्मृतेः ज्ञात्वं प्रकल्प्यम्, यद्यन्तरेण ज्ञात्वं, न प्राप्येत, ततः
ज्ञात्वं अर्थवत्—इति प्रकल्प्येत । तस्मात् न इदं ज्ञात्वं,
ज्ञात्वं च सामिहिके त्यक्तेत्यन्तं शिष्टा गर्हन्ते, देवताश्रये च ।
'ननु अत्रापि देवताः परिगृहीताः,—अस्यान्दिशि इयं देवता
यद्यतेऽस्यामियम्—इति । उच्यते, पुरुषमनु देवताः शिष्टाः
स्मरन्ति, न गृह्यमनु, तस्मात् अदोषः—इति ॥ (६।२।४ अ०) ॥

प्रतिषिद्धकर्मशामनुष्ठानेऽनिष्टापाताधिकरणम् ॥ (कलङ्कन्यायः) ॥

स. प्रतिषेधेष्वकर्मत्वात्क्रिया स्यात् प्रतिषिद्धानां विभक्त-
त्वादकर्मणाम् ॥ १९ ॥ (पू०) ॥

भा. इदं हि उपदिशन्ति,—'न कलङ्गं भक्षयितव्यम्, न लज्जुनं
न गृह्णनं च—इति । तत्र सन्देहः,—किम् एवञ्जातीयकं फल-
कामेन न भक्षयितव्यम्, निष्कामेण आद्यम्, अथ वा नियोगतो
वर्जयितव्यमेव?—इति । किं प्राप्तम्?—फलार्थिना न भक्षयि-
तव्यम्, अनर्थिनोऽनियमः—इति । कुतः? । नियमो ह्ययम्
उच्यते,—इदं न भक्षयितव्यम्—इति, एवम् उक्ते इयमापत्तिः,

भा. —यदि वा अभक्षणं कर्त्तव्यम्—इति, यदि वा भक्षणं न कर्त्तव्यम्—इति, यदि नञ्विशिष्टं भक्षणं कर्त्तव्यम्—इत्यभ्युपगम्यते, ततोभक्षणं श्रुत्या तद्यो विदधाति, नञ् भक्षयति विशेषणं, तद्ग्रापाराच्च कर्त्तव्यतया नञ् न सम्बध्यते । अथ नञर्थः कर्त्तव्यः, ततो वाक्येन विधानं, भक्षयतिश्च नञ्विशेषणं, श्रुतिश्च वाक्याद्भक्षीयसी । तस्मात् अभक्षणं कर्त्तव्यम्—इति गम्यते, अभक्षणं च भक्षणाभावः, न तस्य कर्त्तव्यता अस्ति । तस्मात् यः तच्च मानसो व्यापारः, स इह उपदिश्यते, येन उपायेन नञ्विशिष्टं भक्षणं भवति ; पूर्वं नञ्भक्षयत्योः सम्बन्धः, ततो विधानं । यथा, 'नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत'—इत्येवमादिषु प्रजापतिव्रतेषु कुर्वतः फलं, अकुर्वतो न फलं न दोषः; एवम् इहापि, 'विभक्तत्वात् अकर्मणाम्', न अत्र कर्म प्रतिषिध्यते, अकर्ममात्रम् उपदिश्यते, अन्यद्भिः कर्म भक्षणं प्रतिषिध्यमानं, अन्यत् अकर्म मानसः सङ्कल्पः—इति ॥

स. शास्त्राणां त्वर्थवच्चेन पुरुषार्थो विधीयते तयोरसम-
वायित्वात्तादर्थ्यं विध्यतिक्रमः ॥ २० ॥ (सि०) ॥

भा. उपवर्णनापरिहारः तावत् उच्यते,—युक्तं, यत् प्रजापति-
व्रतेषु 'शास्त्राणाम् अर्थवच्चेन पुरुषार्थो विधीयते'; तच्च नियमः
कर्त्तव्यतयोपदिश्यते, यश्च कर्त्तव्यः, स कल्याणोदयः, यो न
कर्त्तव्यः स पापोदयः । 'कथं पुनः प्रजापतिव्रतेषु नियमः
कर्त्तव्यतया चोद्यते?'—इति । उच्यते, तस्य व्रतम्—इति प्रकृत्य
प्रजापतिव्रतानि समाग्नातानि, व्रतम्—इति च मानसं कर्म
उच्यते,—इदं न कारिष्यामि—इति यः सङ्कल्पः । कतमन्तत्
व्रतम्? । 'नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत'—इति, यथा तदीक्षणं न
भवति, तथा मानसो व्यापारः कर्त्तव्यः, तस्य च पालनम् । तच्च
तस्मात् पुरुषार्थोऽस्ति—इत्यवगन्तव्यम् । तच्च च एतान्येव

भा. प्रकृत्य उच्यते,—‘एतावता ह्येनसाध्युक्तो भवति’—इति (एता-
वता कृतेन अयुक्त एनसा भवति)—इति ।

अथ इह ‘तयोः’ असमवायित्वम्, इह क्रिया प्रतिषिध्यते,
न अक्रिया उपदिश्यते, न हि, कलङ्गं भक्षयन् प्रतिषेधविधिं
न अतिक्रामति, इह पुनरादित्यं पश्यन् न अतिक्रामति
विधिं, न हि तस्य दर्शनं प्रतिषिद्धम्; नियमः तत्र उपदिष्टः,
यस्तं नियमं करोति, स फलेन सम्बध्यते, इह तु प्रतिषिध्यते
कलङ्गादि । कथम् अवगम्यते? न अत्र तस्य, व्रतम्—इति
प्रकृत्य वचनमस्ति । न च, न भक्षयितव्यम्—इत्यस्य मानसो
व्यापारोऽर्थः, भक्षयितव्यम्—इति च भक्षणं कर्तव्यं शब्देन
उच्यते, न—इति तत् प्रतिषिध्यते अत्यैव । एवं प्रसिद्धोऽर्थो-
ऽनुगृहीतो भवति, इतरथा लक्षणा स्यात्, स्तुतिलक्षणाविशेषे
च अतिन्यास्या न लक्षणा । तस्मात् इह प्रतिषेधः ।

“उच्यते, अस्तु प्रतिषिद्धं नाम, दोषः अत्र न श्रूयते* ।
तस्मात् प्रतिषिद्धमप्यनुष्ठातव्यम्—इति । ‘कल्पयिष्यते—इति
चेत्’ । न प्रमाणाभावात् । ‘अर्थापत्तिः प्रमाणम्, उपदेशवैयर्थ्य-
प्रसङ्गात्—इति यद्युच्येत’ । नैतदेवं, यथोपपि हि उपदेशो-
ऽज्ञानात् सम्भवति, तस्मात् न कल्प्यो दोषः”—इति । उच्यते,
सत्यं न कल्पनीयः, किन्तु कृप्त एव । कथम्? अनन्तरमेवैनं
त्रिष्टा वर्जयेयुः, पतितः कर्मफलेभ्यः—इति वदन्तः, मह्यंश्च एष
दोषः, यच्छ्रिष्टा वर्जयन्ति । तस्मात् नियोगतः कलङ्गादि न
भक्षयितव्यम्—इति, यथा, न सर्पाय अङ्गुलिं दद्यात्, तत्र
दोषदर्शनात् नियोगतो न सर्पाय अङ्गुलिर्दीयते, कण्टको वा
न पादेन अधिष्ठीयते, एवम् इदमपि—इति ॥ (६।२।
५ अ०) ॥

* आह प्रतिषिद्धं नाम, न दोषोऽत्र अथते इति पाठः का० श्री० पु० ॥

† “चोदनायां फलाश्रुतेरिति हे सूत्रे अत्र ऊहेम मेधे” इति वार्तिकमवानुसन्धेयम् ।

गुर्वनुगमनादीनामुपनयनोत्तरकालकर्त्तव्यताधिकारम् ॥

स. तस्मिंस्तु शिष्यमाणानि जननेन प्रवर्त्तरन् ॥ २१ ॥

(पू०) ॥

भा. इह स्मार्त्ताः पदार्था उदाहरणम्, प्रत्युपस्थितनियमाश्च
आचाराः,—‘गुरुरनुगन्तव्योऽभिवादयितव्यश्च’, वृद्धवयाः प्रत्यु-
त्थेयः सम्मन्तव्यश्च—इति । तत्र सन्देहः,—किं जातमात्राणाम्
इमे पदार्था उत उपनीतानाम्?—इति । किं प्राप्तम्?—
अविशेषोपदेशात् जातमात्राणाम् । कुतः? । पुरुषे ते शिष्यन्ते,
जातमात्रश्च पुरुषो भवति । तस्मात् जातमात्राणाम् इमे
पदार्थाः,—इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः,—

स. अपि वा वेदतुल्यत्वादुपायेन प्रवर्त्तरन् ॥ २२ ॥

(सि०) ॥

भा. ‘अपि वा’—इति पक्षव्यावृत्तिः । ‘उपायेन प्रवर्त्तरन्’ (उप-
नयनेन सह प्रवर्त्तरन्), ‘वेदतुल्यत्वात्’, वेदतुल्या हि स्मृतिः,
वैदिका एव पदार्थाः स्मर्यन्ते—इत्युक्तं (१ । ३ । १ अ०), वैदि-
काश्च पदार्था उपनयनोत्तरकाले समाग्नताः, स्मार्त्ताश्च एते
वैदिका एव, तस्मात् उपनयनोत्तरकाला एते—इति ॥ (६ ।
२ । ६ अ०) ॥

एवं “विधायकपदस्य नञ्पदेन अन्वये सति रागप्रप्ता भक्ष्यप्रवृत्तिमन्वय निषेधस्य
विधेयत्वात् न च निषेधो अर्थः, नरकपातनिवारकत्वात् । एवञ्च सति अश्रुतं न किमपि
कल्पं, स्वत्यक् च अश्रुतः संकल्पः कल्पः इति तदर्थं भक्ष्यशब्दे लक्षणा आश्रयणयोः ।
तस्मात् स्वर्गकामिनो नात्राधिकारः किन्तु नरकात् भीतस्य अधिकारः” इति न्यायमात्रा
च नुसन्धेया ॥

अग्निहोत्रादियावज्जीवकर्त्तव्यस्य सकालमात्रकर्त्तव्यताधिकारकम् ॥ (अग्निहोत्रन्यः) ॥

स. अभ्यासोऽकर्मशेषत्वात् पुरुषार्थो* विधीयते ॥ २३ ॥
(१ म पू०) ॥

भा. इदमामनन्ति,—‘यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहोति, यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत’—इति पुरुषार्थोऽर्थं यागो विधीयते, न अयमभ्यासः कर्मशेषः—इत्युक्तम् । इह इदानीं सन्दिह्यते, किं सातत्येन होतव्यं, उत न सातत्येन?—इति । किं प्राप्तम्?—पुरुषं प्रत्युपदिष्टत्वात् सातत्येन, अयं पुरुषः—इति सातत्येन अनुष्ठातव्यम् । ‘ननु ‘प्रदोषम् अग्निहोत्रं होतव्यं, व्युष्टायां प्रातर्’—इति श्रूयते, ‘पौर्णमास्यां पौर्णमासेन यजेत, अमावास्यायामामावास्येन यजेत’—इति । नैष सर्वाङ्गोपसंहारेण प्रयोगः, अतः कालमात्रेण हीनो न दोषः ॥

स. तस्मिन्नसम्भवन्नर्थात् ॥ २४ ॥ (२य पू०) ॥

भा. नैतदस्ति, यत्, जुहुधि जुहुधि—इत्येव होतव्यम्—इति, यथा ब्रह्मोति, तथा जुहुयात्—इत्युच्यते, न च सातत्येन शक्यते, अवश्यम् अनेन आहारविहाराः कर्त्तव्याः । तस्मात् अर्थाविरुद्धेषु कालेषु होतव्यम्—इति ॥

स. न कालेभ्य उपदिश्यन्ते ॥ २५ ॥ (सि०) ॥

भा. न चैतदस्ति, यदुक्तम्, अर्थाविरुद्धेषु कालेषु सततं होतव्यम्—इति, काल एषः श्रूयते,—‘प्रदोषम् अग्निहोत्रं होतव्यं, व्युष्टायां प्रातर्’—इति । तथा, ‘पौर्णमास्यां पौर्णमासेन यजेत, अमावास्यायामामावास्येन यजेत’—इति । तस्मात् न

* पुरुषार्थोऽभिधीयते इति चा० सो० पु० एवं क० सं० पु० पाठः ॥

† कालमात्रे हीनेऽपि इति का० त्री० पु० पाठः ॥

भा. सातस्यम्—इति । 'आह, ननु विगुणस्यापि प्रयोगात् न काल—आहरणीयः'—इति । अत्र उच्यते, न कालो गुणः, निमित्तं हि एतत्—इत्युक्तम् । तस्मात् अन्येषु कालेषु अविहितत्वात् ह्यतमप्यह्यतम् स्यात् । तस्मात् आश्रितकालस्य यावज्जीवं प्रयोगः—इति ॥

स. दर्शनात्कालसिद्धानां कालविधानम् ॥ २६ ॥ (यु०) ॥

भा. सिद्धं च भवति,—'अथ वा एष सर्गात् लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजो सन् पूर्णमासीममावस्थां वा अतिपातयेत्'—इति, यदि सर्वस्मिन् काले होमः, तदा कस्यातिपत्तिः स्यात्? तस्मादपि न सततमभ्यासः ॥ (६।२।७ अ०) ॥

अग्निहोषादीनां क्षकासाहत्या आहव्यधिकरणम् ॥

स. तेषामौत्पत्तिकत्वादागमेन प्रवर्त्तत ॥ २७ ॥ (सि०) ॥

भा. 'प्रदोषे* अग्निहोषं होतव्यम्, व्युष्टायां प्रातर्'—इति, तथा 'पौर्णमास्यां पौर्णमासेन यजेतामावास्यायामावास्यायेन यजत'—इति । तत्र सन्देहः,—किं सद्यत् प्रदोषे होतव्यम्, उत प्रदोषे प्रदोषे?—इति, तथा सद्यत् व्युष्टायां प्रातः, उत व्युष्टायां व्युष्टायाम्?—इति, तथा किं सद्यत् पौर्णमास्याममावास्यायां वा, उत आगते आगते काले?—इति । किं प्राप्तम्?—सद्यत् कृत्वा ह्यतार्थः ब्रह्मः, न नियमः पौनःपुन्ये ।

इत्थेवं प्राप्ते ब्रूमः,—'आगमेन प्रवर्त्तत', आगते आगते काले प्रयोगः कर्त्तव्यः—इति । कुतः? । 'तेषाम् औत्पत्तिकत्वात्', उत्पद्यमानं कर्म कालसंयुक्तमेव उत्पद्यते, तदुक्तं,—निमित्तार्थाः

* सर्वेषु पुस्तकेषु पूर्वत्र प्रदोषमग्निहोषम् होतव्यमिति पठित्वा, अत्र प्रदोषे इति पठितं न सन्नश्यते ॥

भा. कालमुत्तमः—इति, निमित्ते च समाप्ते नैमित्तिकीर्घः कर्त्तव्यो भवति । तस्मात् आगते आगते काले प्रयोगः कर्त्तव्यः ॥

स. तथा हि लिङ्गदर्शनम् ॥ २८ ॥ (यु०) ॥

भा. 'अप वा एष सर्गात् लोकाश्चिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी सन् पौर्णमासीममावास्यां वा अतिपातयेत्'—इति आगते आगते काले प्रयोगं दर्शयति ॥ (६।२।८ अ०) ॥

दर्शदीर्घेदेत्याहत्या सोमाह्वयधिकारकम् ॥

स. तथान्तःक्रतुप्रयुक्तानि ॥ २९ ॥

भा. 'भिन्ने जुहोति स्वन्ने जुहोति'—इति दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते । तत्र सन्देहः,—सह्यत् भिन्ने स्वन्ने च उक्त्वा ह्यतार्थः, उत भिन्ने भिन्ने स्वन्ने स्वन्ने च?—इति । तत्र अधिकरणातिदेशो यः पूर्वच पूर्वः पक्षः स इह पूर्वः, य उत्तरः, स इह उत्तरः—इति, सह्यत् उक्त्वा ह्यतार्थः—इति पूर्वः पक्षः, निमित्तात्वात् पुनः प्रयोगः—इति उत्तरः ॥ (६।२।९ अ०) ॥

गुर्वनुगमनादीनां प्रतिनिमित्तमाह्वयधिकारकम् ॥

स. आचाराङ्गह्यमाशेषु तथा स्यात् पुरुषार्थत्वात् ॥ ३० ॥

भा. 'गुरुरनुगमनयोर्गभिवाहयितव्यस्य, दृक्त्वयाः प्रत्युत्प्रेषः सम्मन्तव्यस्य'—इति । तत्र सन्देहः,—किम् आगते आगते गुरौ दृक्त्वयसि च, यदुक्तं, तत् कर्त्तव्यम्, उत सह्यत्वात् ह्यतार्थता?—इति । 'आचारात् गृह्यमाशेषु तथा स्यात् पुरुषार्थत्वात्'—इति अधिकरणातिदेशः । तत्र यः पूर्वः पक्षः, स इह पूर्वः, यः उत्तरः स उत्तरः, सह्यत्वात्वा ह्यतार्थः—इति पूर्वः

भा. पक्षः, विनित्यत्वात् पुनः प्रयोगः—इति उत्तरः ॥ (६।२।
१० अ०) ॥

अथ नयापाकरणस्य ब्राह्मणव्यतिथैश्चानां नित्यताधिकारम् ॥

स. ब्राह्मणस्य तु सोमविद्याप्रजम्बुणवाक्त्रेण
संयोगात् ॥ ३१ ॥

भा. इदं श्रूयते,—‘सोमेन यजेत’, ‘जर्भाद्यज्ञेषु ब्राह्मणम् उप-
नयीत’, ‘प्रजाम् उत्पादयेत्’—इति । तत्र सन्देहः,—किं
नित्यानि इतानि उत अनित्यानि?—इति । किं प्राप्तम्?—
कामसंयोगात् अनित्यानि ।

इति प्राप्ते उच्यते, ब्राह्मणादीनाम् सोमादीनि नित्यानि—
इति । कुतः?। ऋषवाक्त्रेण हि संयोगो भवति, ‘आयमानो
ह वै ब्राह्मणव्यतिथैश्च वा* जावते वसने देवेभ्यो ब्रह्मचर्येण
ऋषिभ्यः प्रजया पितृभ्यः—इति, स वै तर्ह्यनृणो यदा यज्वा
ब्रह्मचारी प्रजावान्—इति, ऋषासंस्तपोऽवश्यकर्तव्यानां भवति,
तस्मात् नित्यानि—इति ।

‘ननु लिङ्गमसाधकं, न्याय उच्यताम्, यस्यैतत् द्योतकम्’
—इति । उच्यते,—अकामसंयुक्तानि एषां पृथक् वाक्यानि
भवन्ति, ‘वसने वसने द्योतिषा यजेत’, ‘यावज्जीवम् अग्निहोत्रं
जुहोति’, ‘यावज्जीवं दक्षपूर्णमासाभ्यां यजेत’ । तथा ‘विद्या-
मधीयीत’ । तथा ‘प्रजा उत्पादयितव्या’—इति ।—एवं नित्य-
तायाः प्राप्तायाः इदं लिङ्गं भवति—इति ।

अथ वा अयम् अन्योऽर्थः, ‘ब्राह्मणस्य तु सोमविद्याप्रजम्बुण-
वाक्त्रेण संयोगात्’, सोमादयो नियताः किं ब्राह्मणस्यैव,

* अथ सर्वत्रैव पुस्तके ऋषवा इति पाठः । किन्तु प्रत्याकरे ऋषवान् इति
पाठो दृश्यते ॥

भा. राजन्यवैश्ययोः अनियताः, उत सर्वेषां नियताः?—इति। किं प्राप्तम्?—ब्राह्मणस्यैव नियता न इतरयोः—इति। कुतः?। एवं श्रूयते,—‘जायमानो ह वै ब्राह्मणः’—इति, ब्राह्मणस्य नियमो दृश्यते, न इतरयोः, ब्राह्मणसङ्कीर्तनात्। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—सर्वेषां नियमः। कुतः?। अविज्ञेयेण नियमविधानं यत्, तत् अकामसंयुक्तं वचनं नियामकं, तत् अविशिष्टं सर्वेषां, तस्मात् सर्वेषां नियमः—इति।

‘ननु, जायमानो ह वै ब्राह्मणः—इति ब्राह्मणस्य सङ्कीर्तनम्’। उच्यते, भवति अस्मिन् वचने ब्राह्मणसङ्कीर्तनम्, न तु एतत् नियमस्य विधायकम्, एतैरकामसंयुक्तैर्वचनैर्विहितस्य नियमस्य अनुवादोऽयमवदानस्तुस्वर्थः, तस्मात् न अत्र ब्राह्मणसङ्कीर्तनेन राजन्यस्य वैश्यस्य वा अनियमो विज्ञायते। ब्राह्मणवद्वेषं तु प्रदर्शनार्थं, जायमानो ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यो वा—इति, तथा जायमानो जातश्च—इति ॥ (६।२।११ अ०) ॥

इति श्रीश्वररामिनः क्षतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठ्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

षष्ठे अध्याये तृतीयः पादः ॥

अथ नित्ये यथाशक्त्यङ्गानुष्ठानाधिकारकम् ॥

ख. सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात् तथाभूतोपदेशात् ॥ १ ॥
(पू०) ॥

भा. बह्वृचज्ञास्ये अयते,—‘यावज्जीवं अग्निहोत्रं जुहोति, याव-
ज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत’—इति; नित्यमग्निहोत्रं, नित्यौ
च दर्शपूर्णमासौ। तत्र वदेतत् कामश्रवणात् अन्यत् अकामश्रवणं
द्वितीयं*, तत्र सन्देहः,—किं यः कात्स्न्येन विधिम् उपसंहृतुम्
ब्रूति, तस्यैवाधिकारः, उत विगुणमपि तत् प्रयोक्तव्यम्?—
इति। एकादशे कामसंयुक्ते प्रथमे श्रवणे चिन्तायिष्यते साङ्गे,
इह नित्ये श्रवणे द्वितीये—इति।

किं प्राप्तम्?—‘सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात् तथाभूतोपदेशात्’,
यः कात्स्न्येन विधिमुपसंहृतुम् ब्रूति, स एवानुतिष्ठेत्, ‘तथा-
भूतोपदेशात्’, यथाभूतं हि तत् कामसंयुक्तं श्रुतं, तथाभूतमेव
नित्यमप्युपदिश्यते। तस्मात् सर्वाङ्गोपहारेण प्रयोगः कर्तव्यः।
दर्शपूर्णमासशब्दस्य साङ्गस्यैव वाचकः। कथं?। पौर्णमास्या-
ममावास्यायां च साङ्गं विधीयते, यच्च पौर्णमास्यां विहितं,

* कामश्रवणात्कामसंयुक्तं द्वितीयमिति का० त्री० पु० पाठः ॥

† “एकादशे तु, कथञ्चावः सर्वरेव अङ्गैर्निराकाङ्क्षीक्रियते उतैकैकेनापीति,
सर्वरेवेति सिद्धान्तः। एकादशे सर्वाङ्गपक्षे स्थिते अग्निहोत्रं जुहोतीत्येवमुत्पन्नस्य
द्विपरिवर्तमानस्य निमित्ते षष्ठे च विधानात् न कर्षोत्तरमिदं नापि प्रयोगान्तरम
अन्तर्गतत्वात् काव्ये नित्यप्रयोगस्य, नुतिष्ठतस्मिन्नि भेदः, तमेव आश्रित्य भाष्यकारस्माच्च
‘द्वितीये श्रवणे’ इति” इति वार्तिकम् ॥

भा. सा च पौर्णमासी ; यद्दमावास्यायां विहितं, सा च अमावास्या
—इति, साङ्गममावास्यायां विहितं, पौर्णमास्यां च, तस्मात्
साङ्गं दर्शपूर्णमासशब्देन उच्यते—इति जैमिनिर्मन्यते स्म ॥

ख. अपि वाऽप्येकदेशे स्यात् प्रधाने ह्यर्थनिर्दृष्टिर्गुण-
मात्रमितरक्तदर्थत्वात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा. 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः। 'अप्येकदेशे' श्रुतानाम् 'स्यात्'
एव प्रयोगः, यतः साङ्गस्यापि अनङ्गस्यापि प्रयुज्यमानस्य
प्रधानात् एव अयमर्थो निष्पद्यते, 'गुणमात्रं' सर्वाङ्गप्रयोगेण
भवति। को गुणः? साङ्गात् स्वर्गाभिनिर्दृष्टिः, प्रधानमात्रादि-
दमन्यत् फलम्। तस्मात् स्वर्गप्राप्तयर्थं संपूर्णाङ्गं करिष्यामि
—इति आरम्भं, यदि कानिचित् अङ्गानि न शक्नोति कर्तुम्,
तथापि अस्मात् एकदेशाङ्गगुणयुक्तात् प्रधानात् फलं भविष्यति।
तस्मात् प्रधानमात्रस्य प्रयोगमाह, न अङ्गानाम्, दर्शपूर्णमास-
शब्दकः अग्निहोत्रशब्दकश्च प्रधानपदार्थोऽग्न्यानि अङ्गानि
तदर्थानीति ॥

ख. तदकर्मणि च दोषस्तस्मात् ततो विशेषः स्यात्
प्रधानेनाभिसम्बन्धात् ॥ ३ ॥ (१ यु०) ॥

भा. प्रधानातिक्रमे 'दोषः' श्रूयते,—'अप वा एष स्वर्गाहोका-
च्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजो सन् पौर्णमासीममावास्यां वा-
ग्निपातयेत्'—इति प्रधानातिक्रमे दोषं ब्रुवन् तस्य नित्यतां
दर्शयति ॥

ख. कर्माभेदं तु जैमिनिः प्रयोगवचनैकत्वात् सर्वेषा-
मुपदेशः स्यादिति ॥ ४ ॥ (आ०) ॥

भा. यदुक्तं,—नास्ति भेदः,—इमानि अङ्गानि, इमानि प्रधानानि

भा.—इति, 'प्रयोगवचनैकत्वात्'—इति 'जैमिनिः' आह स्या, 'सर्वेषाम्' उपदेशकः, 'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत, अमावास्यायाममावास्थया यजेत'—इति ॥

ख. अर्थस्य व्यपवर्गित्वादेकस्यापि प्रयोगे स्यात् यथा क्रत्वन्तरेषु ॥ ५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. एकाङ्गप्रयोगेऽपि स्यात् विगुणादपि फलमित्यर्थः । कुतः ? । 'अर्थस्य व्यपवर्गित्वात्', व्यपटक्तमङ्गेभ्यः प्रधानम्, अग्निहोत्रसंज्ञकात् दर्शपूर्णमाससंज्ञकाच्च फलमिह भवति । तद्वि कर्तव्यतया उपदिश्यते । यत् पौर्णमास्याम् उपदिष्टं, सा पौर्णमासी, यदमावास्यायां सा अमावास्या, 'यद्वाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाक्षुतौ भवति'—इति । तस्मात् अग्नये पुरोडासः अग्नीषोमाभ्यां च, आज्यं चाग्नीषोमादिभ्यः पौर्णमास्याम् । आग्नेयसान्यात्यादीनाममावास्यायाम् ।

यदुक्तं,—'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत, अमावास्यायाममावास्थया यजेत'—इति साङ्गस्य विधानात् साङ्गं दर्शपूर्णमासशब्देनाभिधीयते—इति, नैतदेवं, सिद्धे हि दर्शार्थे पौर्णमासार्थे च साङ्गं फले विधीयते । तस्मात् न साङ्गमग्निहोत्रपदवाच्यं दर्शपौर्णमासपदवाच्यम् । यच्च अग्निहोत्रं तत् इह चोद्यते कर्तव्यतया, यौ च दर्शपूर्णमासौ । तस्मात् विगुणमपि कर्तव्यमेव अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च । 'यथा क्रत्वन्तरेषु' प्रकृतिविहृतिषु परस्य धर्म्मा परस्य न भवन्ति, एवं न कामसंयुक्तस्य धर्म्मानित्यस्य भवितुमर्हन्ति ॥

ख. विध्यपराधे च दर्शनात् समाप्तेः ॥ ६ ॥ (२ यु०) ॥

भा. विध्यपराधेषु च समाप्तिं दर्शयति, 'तदेव यादृक् तादृक् होतव्यम्'—इति विगुणस्य समाप्तिं दर्शयति ॥

स. प्रायश्चित्तविधानाच्च ॥ ७ ॥ (३ यु०) ॥

भा. विध्यपराधे च प्रायश्चित्तानि विधीयन्ते निमित्ते कर्माङ्ग-
भूतानि, यथा, 'भिन्ने जुहोति'—इति। विगुणे निष्फले सति
कस्याङ्गभूतैः प्रयोजनं स्यात्? तस्मात् विगुणां नामपि प्रयोगः
कर्त्तव्यः—इति ॥ (६।३।१ अ०) ॥

अत्रैकस्त्रे काम्यस्य निष्फलाधिकरणम् ॥

स. काम्येषु चैवमर्थित्वात् ॥ ८ ॥ (पू०) ॥

भा. 'ऐन्द्राग्रमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः, 'सौम्यं चक्रं
निर्वपेत् ब्रह्मवर्षसकामः, 'त्रैलोक्यदेवीं साङ्घाहायणीं निर्वपेत्
यामकामः'—इत्येवमादिषु सन्देहः,—किं विगुणमपि फलवत्,
उत अविगुणमेव फलवत्?—इति। किं प्राप्तम्?—'काम्येषु
चैव' स्यात्, विगुणमपि फलवत्—इति। कुतः?। 'अर्थित्वात्',
यदि विगुणमपि फलवत् एवं अर्थिमात्रमधिष्ठितं भविष्यति,
अन्यथा सामान्यब्रह्मोन्तरेण विशेषं*, विशेषैः वरथापितो भवि-
ष्यति। 'असमर्थत्वात्साधिक्रियते'—इति चेत्। साङ्गं न
समर्थः कर्तुम्, प्रधानमात्रं तु ब्रह्मोति, प्रधानमात्रे अधि-
करिष्यति ॥

स. असंयोगास्तु नैवं स्यात् विधेः शब्दप्रमाख-
त्वात् ॥ ९ ॥ (सि०) ॥

भा. तु ब्रह्मात् पञ्चो विपरिवर्त्तते, 'नैवं स्यात्',—यदुक्तं विगुणमपि
फलवत्—इति, 'असंयोगात्' प्रधानमात्रस्य फलेन, साङ्गात्

* कारकमिति का० ग्री० पु० पाठः ॥

भा. हि फलं श्रूयते प्रधानात्, न केवलात्, तन वक्ष्यपि केवलम् उच्यते, तथापि न एवङ्गातीयकम् तत् कुर्यात्, न केवलस्य फलेन संयोगः—इति, शब्दप्रमाणकस्य अयमर्थो विधीयते, शब्दस्य साङ्गात् फलमाह—इति वक्ष्यामः । तस्मात् न विगुणं कर्म कर्तव्यम् एवङ्गातीयकम्—इति ॥

स. अकर्मणि चाप्रत्यवायात् ॥ १० ॥ (यु०) ॥

भा. न च अत्र प्रधानमात्रस्य अकर्मणि प्रत्यवाय उच्यते, यथा दर्शपूर्णमासयोः; तस्मात् अपि न विगुणमेवंलक्षणकं कर्म प्रयोक्तव्यम्—इति ॥ (इ. १. २. ३ अ०) ॥

इयमेहेऽपि कर्माभेदाधिकरणम् ॥

स. क्रियाणामाश्रितत्वात् द्रव्यान्तरे विभागः
स्यात् ॥ ११ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासभागः पुरोडाशेन उक्तः, स च पुरोडाशो वीहिमयः कर्तव्यः—इति श्रूयते । तत्र एतत् चिन्त्यते,—यदि नीवारमवेन पुरोडाशेन यागः क्रियेत, किं स एव यागः स्यात्, उत अन्यः?—इति । किं प्राप्तम्?—‘द्रव्यान्तरे विभागः स्यात्’, (अन्यो यागः) । कुतः? आश्रितत्वात्, आश्रयभेदाद्भि गम्यते विशेषः, अयमन्यो नीवाराश्रयो वीक्षाश्रयात्—इति, आश्रयभेदस्तावत् विस्पष्ट एव, तन्नेदात् रूपमपि भिन्नं गम्यते । तस्मात् अन्यो यागो द्रव्यान्तरः—इति ॥

स. अपि वाऽव्यतिरेकाद्रूपशब्दाविभागाच्च गोत्ववदैक-
कर्म्यं स्यान्नामधेयं च सत्ववत् ॥ १२ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘अपि वा’—इति पञ्चव्याहृतिः । ‘ऐककर्म्यं स्यात्’ द्रव्या-

भा. नरेऽपि, वदा क्रिया भवति चरनं चतनं वा, तदापि तावान्
 ह्य सोऽर्थः, न च कश्चित् तत्र अतिरिक्तो विज्ञेयो हीनो वा,
 नो खल्वप्यन्यदेव कर्त्तुं, न च अज्ञानारं वाचकम्।

‘ननु आश्रयभेदो विज्ञेयः’। उच्यते, भिन्नमेव वचनाश्रयं
 प्रतिजानीमहे, न तु तद्भेदादाश्रितस्य भेदः, अन्यत्वात्, न हि,
 अत्रि वाससि वा भिन्ने तद्भेदात् पुष्यभेदो गम्यते। ‘सोऽपि
 तस्य आत्मा भिन्नः’—इति चेत्। नैतदेवं, विज्ञेयमुपलभमानै-
 रेवं ब्रह्मं वस्तुम्, न च, अस्व विज्ञेय उपलभ्यते।

“ननु अवनेव विज्ञेयो वत्, एकोऽपि विनष्टः, एकोऽपि
 वर्तते। ‘न विनष्टः’—इति वदुच्यते”, तत्र, प्रामस्य उप-
 लम्भनात्, सवे प्रमाणं नास्ति, तस्मात् विनष्टः। न च,
 प्रत्यभिज्ञायते तद्द्रव्यातिरिक्तः, भेदानुपलम्भात्। ‘कथमर्चिं
 ‘चलति’—इति प्रत्ययः—इति?’ चेत्। उच्यते,—देवान्तरे
 वस्यतिवतिर्ज्ञानात्, तत् देवान्तरं गच्छत् आगच्छथ ‘चलति’
 —इत्युच्यते, तत्र जनापि प्रत्ययः, देवान्तरमपि, तेन गतः।
 —इति च उच्यते, अज्ञानः—इति च उच्यते”। सत्त्वं,

* उच्यते इति का० ग्री० पु० पाठः ॥

† पूर्वपक्षी कर्मभेदं ब्रह्मे, न च—इति। तस्मात् इवात् अतिरिक्तं भिन्नो न
 प्रत्यभिज्ञायते। कुतः? भेदानुपलम्भात्, इत्यभिप्लवेन कर्मोऽज्ञानात्, अयं भावः,
 न तावत् इवाद्योक्तं कर्म, विनष्टोऽप्यज्ञानमभिरूपकर्मभिप्लवेन स्पष्टानुपलम्भरूपानु-
 पलम्भात्, ततश्च इत्यस्यैव रूपान्तरं कर्मोति वाच्यम्, ततश्च उच्यते चेहे सिद्धः कर्मभेदः।
 पूर्वपक्षिचं प्रति ब्रह्मते, कथमर्चिं?—इति, कर्मोऽज्ञानकाले चलति—इत्यनुमतः
 प्रत्ययो न स्यात्, इत्याद्यां भिन्नत्वात्—इत्यर्थः। उत्तरमाह देवान्तरे—इति, उत्तरदेव-
 संयोगविभागरूपपक्षेऽप्येव कर्मोऽज्ञानसामान्यात् मिश्रास्यपि क्रियास्तु युक्तोऽनुमतः प्रत्ययः
 न तु क्रियेऽज्ञान—इत्यर्थः। ननु कर्मनयकानुमतः प्रत्ययः आनुभाषिकपक्षेऽप्यनुमर्त्यते,
 देवान्तरप्रतिर्चिं आनुमानिकी आकाशस्य अप्रत्यक्षत्वात् इत्याशङ्क्याह तत्र जनापि
 इति, जना प्रत्ययः तत्र देवान्तरमपि, तेन पक्षेऽज्ञान प्रत्यभिप्लवेन न तु क्रियेऽज्ञानादिति
 विज्ञेयभासात् आकाशमपि प्रत्यक्षमेवेत्यर्थः। सिद्धान्तात्, सत्यम्—इति, कर्मभेदेऽपि
 सामान्यस्यैकत्वात् युक्ता प्रत्यभिज्ञा, तेन श्रीहृदयप्रयोगयोरेव जीवारेण्यपि सामान्यात्वात्
 वाच्यत्वात् वा कर्मोऽपि सिद्धम्—इत्यर्थः इति कार्तिकानुसारिणी टीका ॥

‡ अथ पूर्वोक्त इति अथिकः पाठः का० ग्री० पु० ॥

भा. विनष्टाद्विनष्टोऽन्यः, योऽपि तु असावन्यः, सोऽपि यजतिशब्द-
वाच्य एव, यजतिसामान्यं न भिद्यते, न च शब्देन न उच्यते ।
तस्मात् योऽपि नीवारैर्घातं कुर्वात्, तेनापि चोदितमेव ह्यतः,
चोदितं च कुर्वत ईप्सितं भवति, न अपूर्वह्यतः । नामधेयं
च दर्शयति 'दर्शः'—इति वा 'पूर्णमासः'—इति वा अस्यैव
सामान्यस्य, यथा सत्वेषु सामान्यस्य नामधेयं, न व्यक्तीनाम् ।
किं प्रयोजनं चिन्तायाः ? उत्तरेणाधिकरणेनैतत् विचार्यते ॥
(६।३।३ अ०) ॥

नित्यकर्मणोऽनित्यप्रारम्भकर्षणश्च इत्यापवारे प्रतिनिधिना समापनाधिकरणम् ॥

ख. श्रुतिप्रमासत्वाच्छिष्टाभावे नागमोऽन्यस्याशिष्ट-
त्वात् ॥ १३ ॥ (पू०) ॥

भा. अग्निहोत्रादीनि नित्यानि कर्माणि उदाहरणं । तेषु श्रुत-
द्रव्यावचारे भवति चर्हः,—किं प्रतिनिधिम् उपादाय प्रयोगः
कर्तव्यः, उत तद्वत् कर्म उत्सृष्टव्यम्?—इति । किं प्राप्तम् ?
—शिष्टस्य अभावे 'न आगमोऽन्यस्य', तद्वत्मेव उत्सृष्टव्यम् ।
कुतः ? । 'अशिष्टत्वात्', यत् व्रीहियवगुणकं श्रुतं फलवत्, तत्
नीवारमुषकं क्रियमाणम् अशुभकं भवति, तस्मात् तद्वत्मेव
उत्सृष्टव्यम्—इति ॥

ख. क्वचिद्विधानाच्च ॥ १४ ॥ (यु०) ॥

भा. क्वचित् विधीयते,—'यदि सोमं न विन्देत् पूतीकानभिषुणु-
यात्'—इति, यदि च प्रतिनिधिम् उपादाय प्रयोगः कर्तव्यः
स्यात्, न विधीयते ! विधीयते तु, तस्मात् यद्य न विधीयते,
न तत्र प्रतिनिधिः—इति ॥

स. आगमो वा चोदनार्थाविशेषात् ॥ १५ ॥ (सि०) ॥

भा. 'आगमो वा' प्रतिविषेयस्य इत्यस्य। कुतः?। 'चोदनार्था-
विशेषात्', यजतिचोदनाचोदितो हि अर्थाः न विशिष्यते
क्रीतिभिर्जीषारैर्वा क्रियमाणः, वागस्य चपयकर्मणो नित्येषु
चमित्तेषु च प्रारब्धेषु ॥

स. नियमार्थः क्वचिद्विधिः ॥ १६ ॥ (यु०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—'क्वचित् विधानात्'—इति। उच्यते,—'निय-
मार्थः क्वचित् विधिः', सोमामावे ब्रह्मसु सङ्गेषु प्राप्तेषु नियमः
क्रियते,—पूतीका एवाभिबोधयति—इति। तस्मात् प्रतिनिधिम्
उपादाय प्रयोगः कर्तव्यः—इति ॥

स. तन्नित्यं तच्चिकीर्षा हि ॥ १७ ॥ (आ० नि०)

भा. कथम् पुनरिह चपयमम्यते,—नियमार्थमेव तद्वचनम्?—
इति। उच्यते,—वक्तुः श्रुताः पूतीकाः। कथं च ते माप्ताः?।
'तच्चिकीर्षा हि' तच्च वाङ्मयचिकीर्षा—इत्येतत् वक्ष्यामः,
तच्चिकीर्षया च माप्ताः पूतीकाः। तस्मात् 'तन्नित्यं', वचनमेतत्
नियमाय नित्यम्—इति ज्ञेयम् ॥ (इ० १२१ ४-अ०) ॥

देवतामन्त्रश्रियाचामपचारे प्रतिनिध्यावाधिकारस्य ॥

स. न देवतामिश्रशब्दक्रियमन्यार्थसंयोगात् ॥ १८ ॥

(सि०) ॥

भा. देवता 'आग्नेयोष्ठाकपालः'—इत्येवमाद्याः, अग्निः, 'यत्
आहवनीये जुहति तेन सोमस्य अभीष्टः प्रीतो भवति'—इति।
शब्दो (मन्त्रः) 'वर्हिर्देवसदनं दामि'—इत्येवमादिः, क्रियाः

भा. 'समिधो यजति', 'तनूनपातं यजति'—इत्येवमाद्याः। तत्र सन्देहः,—देवताभि-शब्द-क्रियाणाम् अपचारे प्रतिनिधिः उपा-
देयः, उक्तं न?—इति। किं प्राप्तम्?—पूर्वाधिकरणन्यायेन प्रतिनिधायान्यत्, प्रयोगः कर्तव्यः—इति।

एवं प्रश्ने ब्रूमः,—'न' देवताभि-शब्द-क्रियाणाम् अपचारे प्रतिनिधिना भवितव्यम्—इति। कुतः?। 'अन्यार्थसंयोगात्', प्रतिनिधीयमानम् अन्यत् एतेभ्यः, अन्यच्च* तेषामर्थं न ब्रूयात् कर्तुम्। कश्च तेषाम् अर्थः?। देवता तावदुद्देशेन अर्थं साधयति, अग्निम् उद्दिश्य, अष्टकपालः पौर्षमास्या-
ममावास्यायां च त्यजते। यच्च अन्येषु हविःषु विहितं, न ततो दर्शपूर्णमासौ भवतः, तत्र अन्या उद्दिश्यमाना न श्रुताया उद्देश्याया अर्थं कुर्यात्, न हि अन्यस्याम् उद्दिश्यमानायां दर्शपूर्णमासौ भवतः। तस्मात् न देवता प्रतिनिधीयते।

तथा, 'यत् आहवनीये जुहति'—इत्याहवनीयापचारे न अन्योऽग्निः प्रतिनिधातव्यः, अन्यत् का इत्यम्—इति। कुतः?। 'अन्यार्थसंयोगात्', प्रतिनिधीयमानम् आहवनीयकार्यं न वर्तते। कथम्?। अदृष्टम् आहवनीयस्य कार्यम्, आहवनीयस्य उपरि त्यज्यमाने अस्ति भवति, न तत् अन्यस्य उपरि; न हि, यजतिशब्देन सामर्थ्यात् तत् गृह्यते, यस्योपरि त्यज्यते, न हि, उपरि त्यज्यमानस्य देवः किञ्चित् उपकरोति—इति। तस्मात् न अग्नेः प्रतिनिधिः।

तथा, मन्वापचारे न अन्यो मन्वः प्रतिनिधीयते, मन्वस्य हि एतत् प्रयोजनम्, यत्, स्मारयति क्रियां साधनं वा, असति स्मरणे न क्रिया संवर्तते, तत् अपचरिते मन्वे यदि तस्यार्कं

* अन्यच्च इति पाठः क० सं० पु० एवं चा० सो० पुस्तके नास्ति ॥

† अर्पितमिति चा० सो० पु० पाठः ॥

भा. अन्यं शब्दम् उच्चारयति* पूर्वं प्रतीतेऽर्थे शब्दम् उच्चारयन्, न शब्देनार्थं प्रतीयात्। अथ प्रतीतमपि पुनः प्रतिनिधिशब्दोच्चारणेन प्रतीयात् (शब्दात् प्रतीतिं कुर्यात्), एवञ्च प्रतिनिधि-शब्दोच्चारणानुरोधोऽनर्थकः स्यात्; न हि, शब्देन प्रत्यापयितव्यम्—इति किञ्चित् प्रमाणमस्ति, यत् अस्ति, तत् विज्ञेयेषैवा-नेन शब्देन बर्हिःरादिना—इत्येवं, तदभावे शब्दान्तरानुरोधोऽनर्थकः स्यात्। तस्मात् न शब्दस्य प्रतिनिधिः।

क्रियापचारे न क्रियान्तरम्, 'अन्यार्थसंयोगात्', समिद्-यजिमन्तौ दर्शपूर्णमासौ कर्त्तव्यौ, तौ अन्यस्वी क्रियमाणावां न तदन्तौ भवतः। तस्मात् क्रियायां न प्रतिनिधिः—इति ॥

स. देवतायां च तदर्थात् ॥ १९ ॥ (यु०) ॥

भा. देवतायाम् अपरो विशेषः, येन न प्रतिनिधीयते, देवता नाम, यदर्थं किञ्चित् चोद्यते, सा; अन्या तस्याः स्थाने प्रति-निधीयमाना न देवता स्यात्, सोदिता हि देवता भवति, न असोदिता, सम्बन्धिशब्दस्य एषः, आ यदर्थं चोद्यते, सा तस्यैव देवता, न अन्यस्य; 'देवता'—इति सम्बन्धिशब्दो न जातिशब्दः। तस्मादपि न देवतायाः प्रतिनिधिः—इति ॥ (६।३।५ अ०) ॥

प्रतिनिधिःशब्दस्य प्रतिनिधित्वाभावाधिकारणम् ॥

स. प्रतिषिद्धं चाविशेषेण हि तच्छ्रुतिः ॥ २० ॥

भा. अथ यत् प्रतिषिद्धम्,—'अथञ्चिवा वै घरकाः कोइवाः, अथञ्चिया वै माषाः'—इति, किं तत् श्रुतद्रव्यापचारे प्रति-

* पूरयितुर्निर्गत अधिकः पाठः का० श्री० पु० ॥

भा. निधातव्यम्, उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—प्रतिनिधेयम्—
इति, “आगमो वा चोदनार्थाविशेषात्” (६।३।१५ सू०)—
इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘प्रतिषिद्धं च’ न प्रतिनिधातव्यम्
—इति, अविशेषेण हि एतत् उच्यते,—न यद्वाहं माषा
वरकाः कोद्रवाश्च—इति, यद्ब्रह्मबन्ध एषां प्रतिषिध्यते । नैते
यद्वाह्नुभावं नेतव्याः—इति, प्रतिनिधीयमानाश्च अह्नुभावं
नीता स्युः । तस्मात् न एते प्रतिनिधातव्याः—इति ॥ (६।
३।६ अ०) ॥

स्वामिनः प्रतिनिधभाषाधिकरणम् ॥

स. तथा स्वामिनः फलसमवायात् फलस्य कर्मयोगि-
त्वात् ॥ २१ ॥

भा. अग्निहोषादीनि कर्माणि उदाहरणं । तेषु स्वामिनि अप-
चरति सन्देहः,—किम् अन्यः प्रतिनिधातव्यो न?—इति ।
किं प्राप्तम्?—प्रतिनिधातव्यः—इति । कुत?। “आगमो वा
चोदनार्थाविशेषात्”—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘तथा स्वामिनः’
स्यात् । कोऽर्थः?। न प्रतिनिधिः । कुत?। ‘फलसमवायात्’,
योऽर्थी स्वत्यागेन ऋत्विजः परिक्रीणीते, यश्च स्वं प्रदेयं
त्यजति, स स्वामी; यदि स प्रतिनिधीयते, स्वामिना यत्
कर्तव्यं, तत् सर्वं कुर्यात्, तत् सर्वं कुर्वन्, स्वाम्येव स्यात्, न
प्रतिनिधिः; स एक हि कालेन सम्बन्धते । य उत्सर्गं करोति,
स फलवान् भवति, तदुक्तं,—“शास्त्रफलं प्रयोक्तारि” (३।७।
१८ सू०)—इति । तस्मात् न स्वामिनः प्रतिनिधिः—इति ॥
(६।३।७ अ०) ॥

सचे कस्यचित् स्वामिनोऽप्यपारे प्रतिनिधादानाधिकरणम् ॥ (सपन्थाः) ॥

स. बहूनां तु प्रवृत्तेऽन्यमागमयेदवैगुण्यात् ॥ २२ ॥

भा. सचाणि उदाहरणं,—‘सप्तदशावराः सप्तमासीरन्’—इति, तेषु कस्मिंश्चित् स्वामिनि अपचरति सन्देहः,—किं तत्र अन्यः प्रतिनिधातव्यः, उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—न. स्वामिनः प्रतिनिधिः—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘बहूनां’ ब्रजमानानां प्रवृत्ते कर्मणि, अपचरिते कस्मिंश्चित् स्वामिनि अन्यमागमयेत् । कुतः? । एवम् अवैगुण्यं भवति—इति, स्वामिगता सप्तदशादि-सङ्ख्या तत्र अङ्गं, तथा विना कर्म विगुण्यं, तत्सम्पादनाय अन्यः आगमयितव्यः ।

‘ननु स्वामिगता सङ्ख्या, न तु आगम्यमानः स्वामी—इति वक्ष्यामः; तेन अत्रकौव सा सङ्ख्या उपादातुम्—इति । उच्यते,—स्वामिगता न हि भविष्यति, न हि सा शक्या कर्तुम्—इति; इदं तु शक्यं कर्तुम्, ये स्वामिनां पदार्थाः, ते इह सप्तदशावरैः कर्तव्याः—इत्येतत् उच्यते न भविष्यति । तस्मात् प्रतिनिधातव्यं तत्र—इति ॥ (६।३।८ अ०) ॥

सचे प्रतिनिधितस्यास्वामिनाधिकरणम् ॥

स. सः स्वामी स्यात् तत्संयोगात् ॥ २३ ॥ (पू०) ॥

भा. तस्मिन् आगम्यमाने इदानीं सन्देहः,—किम् असौ स्वामी, उत कर्मकरः?—इति । किं प्राप्तम्?—‘स स्वामी स्यात्’ । कस्मात्? । ‘तत्संयोगात्’, तेन (स्वामित्वेन) संयोगः, यो हि असौ आनीयते, स स्वामी क्रियते, स्वामिनि अपचरिते अन्यो यदि स्वामी क्रियते, ततः स प्रतिनिधिः ज्ञातो भवति । तस्मात् स्वामी—इति ॥

सः कर्मकरो वा भृतत्वात्* ॥ २४ ॥ (सि०) ॥

भा. 'कर्मकरो वा' स स्यात्। कुतः?। 'भृतत्वात्', भृतो हि असौ तैः शिष्टैः स्वामिभिः प्रयुक्तः, परिक्रीयमाणो न स्वामी भवति, यः फलं प्राप्नोति, सः स्वामी, यः परस्वोपकारे वर्तते, स कर्मकरः, नैव असौ फलं प्राप्नोति। कुतः?। यो हि आरभ्य परिसमापयति, स फलवान्, एष हि आख्यातार्थः, स हि उपक्रमप्रवृत्ति अपवर्गपर्यन्तम् आह। 'ननु तेषु तत्र विगुणं कुर्वन्ति, सप्तदशानां स्वामिनामभावात्, तस्मात् तेषु न स्वामिनः, नो चेत् स्वामिनः, न फलं प्राप्नुवन्ति'। उच्यते, न सप्तदशावराः फलसमवाये भवेयुः—इति श्रूयते, न सङ्गुग फलपरिपहे गुणभूता। किन्तुहि?—पदार्थेषु, सप्तदशावरैयाज-मानाः पदार्थाः कर्त्तव्याः—इति, ते च प्रतिनिहितेन क्रियन्ते, अफलत्वेषु च सत्यं सङ्गुगं कर्त्तुम् अन्यमानयन्ति। आनीय-मानस्य च न तेन प्रयोजनम् ॥

सः तस्मिंश्च फलदर्शनात् ॥ २५ ॥ (यु०) ॥

भा. 'तस्मिंश्च दिष्टां गतिं गते फलं दर्शयति,—'यो दीक्षितानां प्रमोयेत अपि तस्य फलम्—इति। तस्मात् कर्मकरः—इति ॥ (६।३।६ अ०) ॥

सने प्रतिनिहितस्य यजमानधर्मोपाधित्वाधिकरणम् ॥

सः तद्धर्मा स्यात् कर्मसंयोगात् ॥ २६ ॥

भा. वद्वानां कस्मिंश्चित् अपचरिते प्रतिनिधेयोऽन्यः—इत्येतत्

* क्रीतवः इति का० क्री० पु० पाठः । एवं परच ॥

भा. समधिगतम्; इदम् इदानीं तत्र सन्निर्गन्धं,—किम् असौ खामि-
धर्मा स्यात्, उत ऋत्विग्धर्मा?। किं प्राप्तम्?—ऋत्विग्धर्मा।
कुतः?। परार्थे हि स यजति, अस्य परार्थं यजति, स ऋत्विक्-
—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘स तद्धर्मा स्यात्’ (खामिधर्मा),
तस्य हि कार्ये श्रूयते, अस्य यस्य कार्यम् अधितिष्ठति, स तद्धर्मैः
सम्बन्धते, यथा शुग्धर्मैः* सधितिरिति ॥ (६।३।१० अ०) ॥

शुतप्रत्यापचारे तत्सदृशस्यैव प्रतिनिधिनाधिकरचनम् ॥

स.

सामान्यं तच्चिकीर्षा हि ॥ २७ ॥

भा. श्रुते इथे अपचरति प्रतिनिधिम् उपादाय प्रयोक्तव्यम्—इति
स्थितम्। तत्र सन्देहः,—किं यत्किञ्चित् इत्थां उपादाय प्रयोगः
कर्तव्यः, उत सदृशम्?—इति। किं प्राप्तम्?—यत्किञ्चित् उपा-
दाय—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—सामान्यं यत्र गृह्यते, तत्
उपादातथं सदृशम्—इति। कुतः?। सर्वे हि आहूतिवचनाः
इन्दाः, आहूतिस्य यद्यपि अङ्गभावेन श्रूयते, तथापि न साक्षात्
तस्याः क्रियां प्रत्यङ्गभावः। यत्तु क्रियासाधनं इत्थमर्थादङ्गभूतं
प्राप्तं, तत् परिच्छिन्दती क्रियायां अङ्गभावं याति, यत्तेस्य
आहूत्या विशेषाः परिच्छिद्यन्ते, ते विशेषा अङ्गभूताः, अथ
तस्यां आहूतावपचरितायाम् अर्थप्राप्तं इत्थं गृहीतव्यमेव,
यस्मिंश्च सदृशे गृह्यमाणे तेषां विशेषाणां केचित् संगृहीता
भवन्ति, स तत्र लाभो लभ्यते—इति, तत्सदृशं इत्थम् उपादातथं
भवति। तस्मात् व्रीह्रीणाम् अपचारे नीवाराः प्रतिनिधेयाः
—इति ॥ (६।३।११ अ०) ॥

* शुवधर्मैरिति का० ग्री० पु० पाठः ॥

+ यं कश्चित् प्रतिनिधिम् इति क० सं० पु० पाठः। यत् किञ्चित् प्रतिनिधिमिति
आ० सो० पु० पाठः ॥

प्रथापकारे वैकल्पिकप्रत्याख्यानमुपादानाधिकरणम् ॥

स. निर्द्देशात्तु विकल्पे यत्प्रवृत्तम् ॥ २८ ॥ (सि०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्निषोमीयः, 'यो दीक्षितो यत् अग्निषोमीयं पशुमालभते'—इति। तत्र श्रूयते, 'खादिरे पशुं बध्नाति पलात्रे बध्नाति रौहितके बध्नाति'—इति। तत्र कदाचित् खदिरगुणके* प्रयोगे आरब्धे खदिरो विनष्टः, तत्र सन्देहः,—किं वैकल्पिकस्य उपादानम् उत खदिरसदृशस्य?—इति। किं प्राप्तम्?—वैकल्पिकस्य—इति। कुतः?। स हि श्रुतः, खदिरसदृशो न श्रूयते, तस्मात् वैकल्पिकस्य उपादानम्—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'विकल्पे यत् प्रवृत्तं', तत्सदृशम् उपादेयं, यत् प्रवृत्तं यस्मिन् प्रयोगे, तत् निर्दिष्टं, तत् अङ्गभूतं, वैकल्पिकम् अनङ्गम्। आश्रितखदिरे प्रयोगे पलात्ररौहितकावनङ्गभूतौ, तौ न शक्येते यदा खदिरः, तदा एव कर्तुम् अशक्यं च श्रुतं। तस्मात् आश्रितखदिरे प्रयोगे इतरौ न उपादेयौ, अनङ्गभूतत्वात्; खदिरस्य सदृशम् अन्वेधितव्यम्—इति ॥

स. अशब्दमिति चेत् ॥ २९ ॥ (आ०) ॥

भा. 'इति चेत्' पश्यसि,—खदिरसदृशम् उपादेयम्—इति, अशब्दमेवं ह्यतं भवति। तस्मात् शब्दवशात् वैकल्पिकम् उपादेयम् ॥

स. नानङ्गत्वात् ॥ ३० ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेषम्, अनङ्गं तस्मिन् प्रयोगे वैकल्पिकं, आश्रितखदिरो

* खदिरगुणकेन इति क० सं० पु० एवं आ० सो० पु० पाठः ॥

† प्रयोगे इति क० सं० एवं आ० सो० पु० पुस्तके नास्ति ॥

भा. हि स प्रयोगो, यो निर्दिष्टः, तस्य निर्देष्टात् इतरावश्रुती ।
 “ननु निर्देष्टाभावेऽङ्गभावविरोधः, तेन श्रुती—इति । ‘किम्
 श्रुतः?’ । यद्येवम्, यदा उपासस्य अभावः, तदा अवलम्” ।
 नैतदेवं, नैमित्तिकं हि तथा प्रतिज्ञायित, सति वचने* निमित्ते,
 असति खदिरे इतरौ श्रुतौ—इति । तत्र को दोषः? । स एष
 अपेक्षितोऽनपेक्षितश्च—इति विरोधो भवेत्, संस्काराश्च खदिरे
 कर्तव्याः, खदिरसदृशे तदुद्ध्या गृह्यमाणे श्रुतबुद्ध्या ह्यता भवन्ति,
 वैकल्पिकेन तु श्रुतेन असम्बद्धाः† । तस्मात् उपाससदृशो प्राज्ञः
 —इति ॥ (६।३।१२ अ०) ॥

पूतिकस्य सोमप्रतिनिधिलाषिकरूपम् ॥

ख. वचनाच्चान्याय्यमभावे तत्सामान्येन प्रतिनिधिर-
 भावादितरस्य ॥ ३१ ॥

भा. इदमामनन्ति, ‘यदि न सोमं विन्देत् पूतीकानभिमुशुयात्’—
 इति । तत्र सन्देहः,—किम् अयमभावे निमित्ते विधिः, उत
 प्रतिनिधिनियमः?—इति । किं प्राप्तम्?—अभावे विधिः—
 इति । कुतः? । विधानात्, न हि प्रतिनिधिर्विधीयते, साध-
 सिद्धये साधनं स्वयमेवोपादीयते, इदं तु विधीयते, तत्
 कल्पान्तरपक्षे अर्थवत् भवति । तस्मात् न प्रतिनिधिः ।

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘प्रतिनिधिः’ च्वात् । कुतः? । विनष्टे
 हि साधने साधसिद्धयर्थं साधनान्तरम् उपादीयते, श्रुतस्य
 अभावात् । ‘ननु अन्यास्याः पूतीकाः, अन्यद्वि सदृशान्तर-
 मरित’—इति । तदुच्यते,—‘वचनात्’,—सदृशे प्राप्ते, ब्रह्म
 वा असदृशेषु पूतीका अल्पसदृशा नियम्यन्ते । कथम्? । तद्वि

* सति निमित्तवचने इति का० त्री० पु० ॥

† अश्रुतेन सम्बद्धा इति क० सं० पु० एवं चा० सो० पु० ॥

भा. प्रकान्तं कर्म अवश्यकर्तव्यं, तस्याम् अवस्थायाम् अन्तरेणैव वचनं प्रतिनिधेयं द्रव्यान्तरं प्राप्तमेव, प्राप्ते वचनं न विधिः— इति गम्यते; प्राप्तस्य अनुवादो भवितुमर्हति। 'किमर्थम् अनुवादः?—इति चेत्'। उच्यते,—अल्पसादृश्यम् अप्राप्तं, तद्विधानार्थम् अनुवादः। प्रयोजनं पक्षोक्तं, प्रतिनिधिपक्षे सोमसदृशस्य उपादानं पूतीकविनाशे, द्रव्यान्तरविधौ पूतीक-सदृशम् उपादेयम् ॥ (६।३।१३ अ०) ॥

प्रतिनिधिपक्षारे उपात्तसदृशस्य पुनः प्रतिनिधित्वाधिकरणम् ॥

स. न प्रतिनिधौ समत्वात् ॥ ३२ ॥

भा. इदं विचार्यते, श्रुते इद्ये उपात्ते अपचरिते प्रतिनिधिम् उपादाय प्रयोगः प्राप्तः, यदा सोऽपि विनष्टः प्रतिनिहितः, तदा किं प्रतिनिधिसदृशम् उपादेयम्, उत उपात्तस्य विनष्टस्य?— इति। किं प्राप्तम्?—प्रतिनिहिते विनष्टे तत्सदृशम् उपादेयं पूर्वमेव न्वाद्येन। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'प्रतिनिधौ' 'न' स्यात् प्रतिनिधिः—इति। कुतः?। 'समत्वात्', यथैव असौ पूर्वः प्रतिनिहितः श्रुतचिकीर्षया, न प्रतिनिधिचिकीर्षया; एवम् अयमपि श्रुतचिकीर्षया, न प्रतिनिधिचिकीर्षया। तस्मात् न प्रतिनिधिसदृशम् उपादेयम् उपात्तनष्टस्य एव सदृशोऽन्वेधितव्यः—इति ॥ (६।३।१४ अ०) ॥

श्रुत्यापि प्रतिनिधेरपक्षारे उपात्तसदृशस्य पुनः प्रतिनिधित्वाधिकरणम् ॥

स. स्यात् श्रुतिलक्षणे नियतत्वात् ॥ ३३ ॥ (पू०) ॥

भा. अथ श्रुतिलक्षणे कथं? यथा, 'यदि सोमं न विन्देत् पूतीकान् अभिषुणुयात्'—इति, पूतीकेषु विनष्टेषु पूतीकसदृशम् उपा-

भा. देयम् उत सोमसदृशम्?—इति । किं प्राप्तम्?—‘स्यात्
 अतिलक्षणे’ प्रतिनिधौ प्रतिनिधिसदृशस्य उपादानं कर्तव्यम्,
 सोमाभावे पूतीकथक्त्वयो विहिताः, स चायं श्रुतः सोमाभावः ।
 तस्मात् पूतीकथक्त्व उपादेयाः—इति ॥

स. न, तदीप्सा हि ॥ ३४ ॥ (सि०) ॥

भा. नैतदेवं, न हि पूतीकथक्तीनामीप्सा, पूतीकेषु यत् सोम-
 सादृश्यं, तन्नियम्यते, तथा हि पूतीकविधानं कृष्टार्थम्, असदृश-
 विधानेऽदृष्टं कल्पयेत् ! अतो यस्मिन् तत् अपूतीकसदृशेऽपि द्रव्ये
 भवति तत् यद्दीतयं, न पूतीकसादृश्यमाद्रियेत—इति ॥ (६।
 १।१५ अ०) ॥

दुष्प्राप्यारे तत्प्राप्तौ तस्मैवोपादानाधिकरणम् ॥

स. मुख्याधिगमे मुख्यभागमो हि तदभावात् ॥ ३५ ॥

भा. अथ यच्च विनष्टे श्रुते प्रतिनिधिम् उपादातुम् प्रस्थितो
 मुख्यमेव उपलभते, तच्च किं प्रतिनिधिमेव उपाददीत, उत तमेव
 मुख्यम्?—इति । किं तावत् प्राप्तं?—प्रतिनिधिः उपादातव्यः
 —इति, एवंसङ्कल्पितवानसौ प्रतिनिधिम् उपाददान एव सत्य-
 सङ्कल्पो भवति । तस्मात् प्रतिनिधातव्यम्—इति । एवं प्राप्ते
 ब्रूमः,—‘मुख्याधिगमे’ तमेव उपाददीत ; अभावे हि श्रुतस्य,
 अनुकल्पः प्रतिनिधिः, श्रुते हि सकलाः व्यक्तयः, प्रतिनिधौ
 विकलाः । अथ यदुक्तं,—सङ्कल्पभेददोषः—इति, श्रुतेषु असौ
 त्रिष्टविगर्हणार्था वा ॥ (६।१।१६ अ०) ॥

प्रतिनिधिना प्रारब्धे कर्माणि श्रुतद्रव्यसामेऽपि प्रतिनिधिनेव समापनाधिकरणम् ॥

स्र. प्रवृत्तेऽपीति चेत् ॥ ३६ ॥ (पू०) ॥

भा. अथ अग्निहोत्रादिषु कर्मसु श्रुतद्रव्यापचारे प्रतिनिधौ उपात्ते ह्यतेषु केषुचित् संस्कारेषु यदि तदेव श्रुतम् उपलभ्येत, किं श्रुतम् उपादीयेत, उत तेनैव प्रतिनिहितेन समापयितव्यम्?—इति । किं प्राप्तम्?—श्रुतम् उपादीयेत प्रवृत्तेऽपि, तदुक्तम्, “आगमो हि तदभावात्”—इति । तस्मात् न प्रतिनिधातव्यम्—इति ॥

स्र. नानर्थकत्वात् ॥ ३७ ॥ (सि०) ॥

भा. नैतदेवं, येन हि खदिराभावे कदरे पशुर्नियुक्तो भवति, अथ खदिरम् उपलभते, प्रवृत्तेर्भवे किं खदिरेण कुर्यात्? अर्थार्थं हि खदिरोपादानं न खदिरोपादानार्थमेव । तस्मात् न श्रुतम् उपादीयेत ॥ (६।३।१७ अ०) ॥

सत्यपि संस्कारयोग्येऽमुख्ये मुख्यस्यैवोपादानाधिकरणम् ॥

स्र. द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं तदर्थत्वात् ॥ ३८ ॥

भा. प्रवृत्ते पशुकर्मणि, यूपकाले अस्ति महत्कदरं द्रव्यं तच्छणादि-संस्कारकर्म, अस्ति खदिरद्रव्यम् अनेवज्जातीयकं । तत्र किम् उपादेयम्?—इति । संस्कारा न परिछोप्यन्ते—इति कदर उपादीयेत—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं’ प्रति आद्रियेरन्, न संस्कारान् । कुतः?। ‘तदर्थत्वात्’, संस्कारा हि द्रव्यं कर्म-योग्यं कुर्वन्ति; तत्र संस्कारपरिछोपे द्रव्यमपि तावत् गृह्यते, द्रव्याभावे न द्रव्यं, न संस्काराः, द्रव्यं तेषां द्वारं, वचनप्रामा-

भा. स्यात्, तदभावे न उद्धारं न अपूर्वं गच्छेयुः । तस्मात् खदिरम्
उपादहीरन्—इति ॥ (६।३।१८ अ०) ॥

प्रयोजनायोग्यस्य मुख्यस्य सर्वेऽपि प्रतिनिध्यादानाधिकरणम् ॥

स. अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो द्रव्याभावे तदुत्पत्तेर्द्रव्याणामर्थ-
शेषत्वात् ॥ ३९ ॥

भा. अस्ति यूपकाले खदिरलता पञ्चोरप्रागल्भ्ये न समर्थाः,
कदरद्रव्यं तु तत् समर्थं । तत्र सन्देहः,—किम् उपादेयं
खदिरद्रव्यम्, उत कदरद्रव्यम्?—इति । खदिरद्रव्यम्—इति
आह, तद्वि श्रुतं, तत् उपाददानः शास्त्रविहितं करोति,
प्रतिनिधौ अश्रुतकारी स्यात् । तस्मात् न प्रतिनिधातव्यम्
—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘अर्थद्रव्यविरोधे’ अर्थे प्रति
आदर्शकं, तदर्थं हि द्रव्योपादानं नियोजनात्, अप्रागल्भ्यं
पञ्चोः भविष्यति—इति, न द्रव्यमेव उपादीयेत—इति, कदरम्
उपाददानो द्रव्यश्रुतिं बाधते, अर्थे तु अनुगृह्णाति, खदिर-
लताम् उपाददानः उभयं बाधते । तस्मात् कदरद्रव्यम् उपा-
देयम्, द्रव्याभावे हि तदुत्पत्तिः (प्रतिनिधेरुत्पत्तिः) उक्ता,
द्रव्याणि अर्थे प्रति शेषभूतानि ॥ (६।३।१९ अ०) ॥

प्रधाननिर्वाचकत्वे अङ्गनिर्वाहापर्याप्तत्वापि मुख्योपादानाधिकरणम् ॥

स. विधिरप्येकदेशे स्यात् ॥ ४० ॥ (पू०) ॥

भा. सन्ति त्रीद्वयः, यावन्तो द्रवदानमार्गं निर्वर्त्तयन्ति, तथा
सन्ति नोवाराः श्लेषकार्याणाम् अपि पर्याप्ताः, तत्र किम्
उपादेयम्?—इति । किं प्राप्तम्?—‘अपि’ ‘एकदेशे’ इव-

भा. दानमात्रेऽपि निर्वर्त्यमाने प्रतिनिधिः उपादेयः। किंकारणम्?।
शेषकार्याणां सम्पत्तिर्भविष्यति—इति ॥

ख. अपि वाऽर्थस्य शक्यत्वात् एकदेशेन निर्वर्त्तैतार्था-
नामविभक्तत्वाद्गुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात् ॥ ४१ ॥
(सि०) ॥

भा. 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः। 'एकदेशेन' ब्रीह्यीणां
प्रधानमात्रं निर्वर्त्तयितव्यम्। कुतः?। 'अर्थस्य शक्यत्वात्',
योऽर्थार्था, येन कार्यं तत्तावत् निर्वर्त्त्यते, शेषकार्याणि यदि
न शक्यानि, न अङ्गानुरोधेन प्रधानस्य गुणो बाधितव्यः।
तत् हि अङ्गं, यत् प्रधानस्य उपकरोति, न यत् अपकारे
वर्त्तते। तत्र च शेषकार्याणि क्रियमाणानि प्रधाने ब्रीह्यत्वं
गुणं विह्वल्युः, ब्रीह्यत्वं च प्रधाने साक्षादङ्गभूतं श्रूयते,—
'ब्रीह्यभिर्यजेत'—इति। तस्मात् न तेषु अनुरोधः कार्यः,
असति हि अङ्गप्रधानविभागे एतत् एवं स्यात्, अस्ति हि
असौ। तस्मात् न प्रतिनिधिः—इति। तथा च अन्यार्थ-
दर्शनमपि भवति, 'तदेव यादृक् तादृक् होतव्यम्'—इति ॥
(इ। इ। १९ अ०) ॥

इति श्रीश्वरखामिनः कृती श्रीमांसाभाष्ये षष्ठ्याभाष्यस्य
ततीयः पादः ॥

षष्ठे अध्याये चतुर्थः पादः ॥



अवदानाग्ने पुनरवदानार्थम् प्रतिभिधाहानाधिकरणम् ॥

स. शेषात् इवदाननाशे स्यात्तदर्थत्वात् ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘यदाग्नेयोऽष्टाकपाशोऽभावास्वावां
पीर्णमास्यां वाऽच्युतो भवति’—इति । तत्र यदि इवदान-
मात्रम् उद्धृतं व्यापद्यते, किं शेषात् पुनरवदेवं, न?—इति
भवति संशयः । किं प्राप्तम्?—‘इवदाननाशे’ ‘शेषात् पुनरव-
देवं । कुतः? । ‘तदर्थत्वात्’, अग्न्यर्थं हि तद्विः, अग्नये
यागो निर्वर्त्तयितव्यः—इति, तदवदाने विनष्टे यागः कर्त्तव्य
एवावतिष्ठते, प्रयोजनं च यागेन । स च आग्नेयेन क्रियमाणः
श्रुतः एवाभिनिर्वर्त्तितो भवति—इति किमिति न क्रियेत ।
तस्मात् शेषात् अवदातव्यम्—इति ॥

स. निर्द्देशान्यदागमयेत् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा. अथ ‘वा अन्यत्’ इविः ‘आगमयेत्’ न शेषात् अवदातव्यम् ।
कुतः? । ‘निर्द्देशात्’, निर्द्देशो हि भवति,—‘मध्यात् पूर्वाह्नात्
अवदेयम्’—इति, इवदानं च होमसम्बद्धं, ‘इवदानं जुहोति’
—इति, तत्र अन्यत् शिष्टं मध्यस्य पूर्वाह्नस्य विशेषणार्थं । यत्र
तद्दोमसंयुक्तं तद्विनष्टं, तच्छेषेण क्रियमाणममध्येनापूर्वाह्नेन च
ह्यतं स्यात् । ‘ननु अवत्ते यत् शिष्टं ततो मध्यात् पूर्वाह्नाच्च
ग्रहीष्यते’ । उच्यते, ह्यत्स्य यत् मध्यं पूर्वाह्ने च तद्योदितं,
न इतरस्य ।

अथ वा ‘निर्द्देशात्’—इति, विनष्टे हि अन्यत् द्रव्यं निर्द्दि-
श्यते,—‘यस्य सर्वाणि हवींषि नश्येयुः दुष्येयुर्वा अपहरयुर्वा

मा. आञ्जेन ता देवताः परिसङ्ख्याय यजेरन्—इति हविषो नाम्ने
आञ्जं प्राप्तम् । तेन न शेषात् अवदातथम्—इति ।

अपर आह,—शेषनिर्देशात्—इति, निर्दिश्यते हि तच्छिष्ट-
मपरेभ्यः 'शेषकार्येभ्यः'—इति, तत्र उपपद्यते, न हि तानि
शेषकार्याणि हवीषि प्रयोजयन्ति, न च अनिष्टप्रयोजनं
हविरग्यत्र प्रतिपाद्यम् । तस्मात् न अयमर्थः ॥ (६।४।
१ अ०) ॥

खिष्टहृदयंस्वावक्तव्यं नाम्नेऽपुनरवदानाधिकरणम् ॥

ख. अपि वा शेषभाजां स्याद्विशिष्टकारणत्वात् ॥ ३ ॥

भा. अथ खिष्टहृदयमवक्तं यदि विनश्यति, तत्र किं शेषात्
अवदेयम् उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—पुनः शेषात् अव-
देयम्—इति । कुतः?। न अत्र हृत्त्वस्य उत्तरार्द्धादवदीयते* ।
कस्य तर्हि?। सन्निहितस्य, सति हि प्रयोजने सन्निहितस्य
अवदेयम्—इति, तस्मात् अवदीयमाने अतं हृतं भवति ।
तस्मात् शेषात् अवदेयम्—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'शेषभाजां स्यात्' खोपः । कुतः?।
'विशिष्टकारणत्वात्', विशिष्टं हि कारणं तस्य अवदाने, कथं
प्रतिपाद्ये?—इति; प्रतिपत्तिश्च विविक्तकरणेन उपकरोति,
तस्य विविक्तकरणाय प्रतिपाद्यमानस्य नियमोऽर्थं खिष्टहृद्दोमेन
प्रतिपादयितव्यः, तथा हि स प्रतिपादितो भवति; स यदि
होमायोद्धृतो विपद्येत, हृते विवेके न पुनर्यदृष्टं प्रयोजयेत्,
प्रतिपाद्यमानस्य खिष्टहृद्दोमेन प्रतिपादयितव्यः—इति, प्रति-
पाद्यमानाभावात् खोप एव खिष्टहृतः स्यात्, प्रधाने हृते त्रिष्टं

* उत्तरार्द्धो म्यहते इति आ० सो० पु० पाठः ॥

† तस्य इति क० सं० पु० ॥

भा. सर्वश्रेयकार्यसाधारणम् । तत्र एकस्य उद्धृतौ त्रिष्टम् अन्वय
प्रतिपादनीयम् ॥ (६।४।२ अ०) ॥

अभिव्यक्तमेव श्रेयमभ्युपनिषत् ॥

स. निर्द्देशाच्छ्रेयमक्षोऽन्यैः प्रधानवत् ॥ ४ ॥ (पू०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र भक्षाः प्राञ्चिच-चतुर्द्धाकरण-त्र्युवाक-
कालाः । तेषु सन्देहः,—किम् अन्ये एव तेषां भक्षयितारः,
उत प्रकरणगताः?—इति । किं प्राप्तम्?—‘श्रेयमक्षोऽन्यैः’
अप्रकरणस्थैः कर्तव्यः । कुतः? । ‘निर्द्देशात्’, निर्द्दिश्यन्ते हि
अध्वर्वाद्यः इडाभक्षे, ‘यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति’—
इति, सर्वेषु भक्षयितृषु प्राप्तेषु परिसङ्ख्यानार्थो निर्द्देशः क्रियते,
—इडामेव एते भक्षयेयुः—इति, यथा ‘आग्नेयोऽष्टाकपालः’—
इति सर्वस्मिन् अवयविनि यागानियमे प्राप्ते इवदानमात्रं
श्रूयते, विधिर्वा न, प्राप्तत्वात्, न अनुवादोऽनर्थकत्वात्, परि-
सङ्ख्या तु अर्थवत्त्वात्; एवमेषां परिसङ्ख्या—इति । अपि च
यदि प्रज्ञाता एव भक्षयेयुः, अश्वमेधे दोषः स्यात्, बद्धत्वात्
भक्षाणां, भक्षयन्तो जियेरन् ॥

स. सर्वैर्वा समवायाद्व्यात् ॥ ५ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘सर्वैर्वा’ प्रकृतैरेव भक्षयेत, तद्धि भक्षणं पुरुषसंस्कारार्थं,
पुरुषाः संस्क्रताः प्रचरिष्यन्ति—इति । तेषु विनिगमनाया
अभावात् यावन्तः प्रकरणे समवेताः, ते सर्वे भक्षयेयुरिति ॥

स. निर्द्देशस्य गुणार्थत्वम् ॥ ६ ॥ (आ० नि० १म) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—‘निर्द्देशात्’—इति, गुणार्थः सः,—अन्ये कर्म-

भा. करत्वात् एव प्राप्ताः, तत्र यजमानः तेषां पञ्चमो वचनात् निर्दिश्यते, तत्प्राप्त्यर्थं चेद् वचनम्; ततो न परिसङ्गरा ॥

स. प्रधाने श्रुतिलक्षणम् ॥ ७ ॥ (आ० नि० २य) ॥

भा. यत्तु इयवदानमात्रं प्रधाने निर्दिश्यते, तत् वचनप्रामाण्यात् परिसङ्गरानार्थं, न हि तत्र कस्यचित् अपूर्वस्य विधिः, इह यजमानो विधीयते, विधिपरिसङ्गासंज्ञये विधिर्न्यायान्। तत्र स्वार्थं शब्दः, परिसङ्गायां चयो दोषाः,—स्वार्थदानम्, असवार्थपरिग्रहः, प्राप्तबाधश्च—इति। तस्मात् प्राकृता एव भक्षयेयुः—इति ॥

स. अर्थवदिति चेत् ॥ ८ ॥ (आ०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—अश्वमेधे विरोधः स्यात्, ब्रह्मत्वात् भक्षणाम्—इति, तत्परिहर्तव्यम् ॥

स. न चोदनाविरोधात् ॥ ९ ॥ (आ० नि० ३य) ॥

भा. अश्वमेधे न सर्वं भक्षयिष्यन्ति, अर्थात् सर्वं भक्षयन्तोःश्वमेधं न समापयेयुः, तत्र अश्वमेधश्रुतिः प्रत्यक्षा, सा विरुद्धमाना चोदकप्राप्तं सर्वभक्षणं बाधते, प्रकृतौ तु न विरोधः। तस्मात् सर्वं प्रकृता भक्षयेयुः—इति ॥ (६।४।३ अ०) ॥

छात्रैकदेशभेदे प्रापश्चित्तानुष्ठानाधिकरणम् ॥

स. अर्थसमवायात्प्रायश्चित्तमेकदेशेऽपि ॥ १० ॥
(सि०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासी, तत्र आमनन्ति, 'भिन्ने जुहोति, स्वप्ने जुहोति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं छात्रे भिन्ने स्वप्ने च

भा. प्रायश्चित्तम्, उत एकदेशेऽपि भिक्षे स्नाने च?—इति । किं पुनः सर्वभिन्नम्, किम् एकदेशभिन्नम्?—इति, चूर्णीकृतम् अयोग्यं प्रयोजनाय, हात्स्रभिन्नम्; यत् शक्ये विगतेऽपि प्रयोजनसमर्थम्, तत् एकदेशभिन्नम्—इति । किं प्राप्तम्?— एकदेशभिन्नेऽपि 'प्रायश्चित्तम्' । कस्मात्? । 'अर्थसमवायात्', समवेतं तच्च भेदनम्, एकदेशभिन्नमपि भिन्नम्—इति, एवं प्राप्ते निमित्ते नैमित्तिकं कर्तव्यं भवति ॥

स. न त्वशेषे वैगुण्यात्तदर्थं हि ॥ ११ ॥ (पू०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । 'न' 'अशेषे' भिक्षे प्रायश्चित्तं स्यात् विनष्टसंस्कारार्थं हि प्रायश्चित्तम् । कुतः? । एतद्भेदनवता प्रयोजनमस्ति, न होमेन, तेन संस्थानेन प्रयोगः करिष्यते— इति प्रायश्चित्तम् क्रियते, न च, तेन चूर्णीकृतेन प्रयोगः शक्यते कर्तुम् । तस्मात् प्रायश्चित्तम् अनर्थकम् । एकदेश-भिन्नेन तु संस्थानेन शक्यते प्रयोगः, तस्मात् एकदेशभिन्ने प्रायश्चित्तम् स्यात्—इति ॥

स. स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वादतद्धर्मो नित्यसंयोगाच्च हि तस्य गुणार्थेनानित्यत्वात् ॥ १२ ॥ (उ०) ॥

भा. 'स्यात् वा' प्रायश्चित्तं, हात्स्रभिन्नेऽपि । कुतः? । 'प्राप्त-निमित्तत्वात्', प्राप्तं हि निमित्तं भेदनं, प्राप्ते च निमित्ते नैमित्तिकं कर्तव्यम् । यच्च उक्तं,—व्यापन्नसंस्कारार्थं प्रायश्चित्तम्—इति, न अयं तस्य धर्मः । कुतः? । 'नित्यसंयोगात्', नित्यवत् होमः, अनित्यं हि भेदनं, न हि नित्यम् अनित्यस्य उपकर्तुम् चोद्यते, यदि नित्यं दर्शपूर्णमासयोरङ्गं नानित्यस्य उपकाराय । कुतः? । कदाचित् अनित्यं नैव स्यात्, तच्च कथं तस्य उपकारकं भवेत्? । तच्च को दोषः? । न शक्यं

भा. नित्येन उपकर्तुम्, तेन 'नित्यम् उपकर्वात्'—इति वचनं प्रत्याप एव। अथ नैमित्तिकं, न दोषो भवति। तस्मात् अस्मत्पक्ष एव। अस्मिन् पक्षे यदा भिन्नं, तदा होमः, यदा न भिन्नं, तदा नैव होमो विधीयते; भवदीये पक्षे भवति दोषः, नित्यानित्ययोर्नास्ति सम्बन्धः—इति। तस्मात् भिन्नाच्चे प्रायश्चित्तम्—इति ॥

स. गुणानाञ्च परार्थत्वाद्वचनात् व्यपाश्रयः
स्यात् ॥ १३ ॥ (यु०) ॥

भा. अस्ति वचने न गुणो गुणार्थो भवितुमर्हति, प्रकरणतः सर्वं प्रधानार्थम्, भिन्नमपि होमोऽपि, न च भिन्नम् आधारभावेन* उपदिश्यते, भिन्नस्य आधारभावे हि न होमान्तरं विधीयेत। प्रधानस्य एव हि तदा भिन्नो गुणः—इति गम्यते, तत्र आहवनीयसंयोगो बाधेत। 'वचनादिकल्पः'—इति चेत्। न, निमित्तत्वेन सम्भवात्, होमस्य च श्रुत्या विहितत्वात्, यदा होमो विधीयते, तदा श्रुत्या, यदा भिन्नो गुणः, तदा वाक्येन। तस्मात् न आधारो भिन्नः। 'यद्युच्येत,—निमित्तपक्षेऽपि न होमान्तरं, प्रवृत्तस्यैव होमस्य निमित्तं विधीयेत'—इति। तन्न, अनुपादीयमानं हि निमित्तम्—इत्युच्यते, यदि हि विधीयेत, निमित्तमेव तत् न स्यात्। यदि च यस्यापि निमित्तं सोऽपि उद्दिश्येत, तत्र द्वयोः उद्दिश्यमानयोः सम्बन्धः एव न स्यात्। न च, अत्र भेदनं कुर्यात्—इति विधीयते, भेदने निर्दृष्टे यदन्यत् श्रूयते, तद्विधीयते ॥

स. भेदार्थमिति चेत् ॥ १४ ॥ (आ०) ॥

भा. अथ उच्येत,—एवमुपायं तत्कपालं सन्धीयते, 'गायत्र्या

* आचारत्वेन इति का० श्री० पु० ॥

भा. त्वा अताक्षरया सन्धीत—इति तत्कपालं सन्ध्याम्—इति।
तत्र वक्ष्यामः,—

स. शेषभूतत्वात् ॥ १५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. न भेदनस्य शेषभूतं युज्यते, न तत् सन्धातुम् ब्रह्मते होमेन
मन्त्रेण वा। सदापि सन्धीयमानस्य भिन्नबुद्धिनैवापेयात् ॥

स. अनर्थकश्च सर्वनाशे स्यात् ॥ १६ ॥ (यु०) ॥

भा. 'सर्वनाशे च श्रूयते,—'भिन्नम् कपालमस्तु प्रवहन्ति—इति,
तत्र अनर्थकः संस्कारः। 'ननु तत उद्धृत्योपधायिष्यते'। न
—इति ब्रूमः,—'अन्यत् उपदधाति—इति हि आमनन्ति।
तस्मात् नैमित्तिकं कर्माङ्गं 'भिन्ने जुहोति—इति ॥ (६।४।
४ अ०) ॥

चामे सर्वदाहे प्रायश्चित्तानुष्ठानाधिकरणम्। (चामेष्टिन्यायः)।

स. चामे तु सर्वदाहे स्यादेकदेशस्यावर्जनीय-
त्वात् ॥ १७ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'अथ यस्य पुरोडाशौ चायतः तं
यज्ञं वरुणो गृह्णाति, यदा तद्भुविः सन्निष्ठेत् अथ तदेव हवि-
र्निर्वपेत्, यज्ञो हि यज्ञस्य प्रायश्चित्तः'—इति। तत्र सन्देहः,
—किं सर्वचामे प्रायश्चित्तं, उत एकदेशे चामे?—इति। किं
प्राप्तम्?—प्राप्तनिमित्तत्वात् हस्ते वा एकदेशे वा। एवं प्राप्ते
ब्रूमः,—'चामे तु सर्वदाहे स्यात्—इति। तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्त-
यति, चामे सर्वदाहे प्रायश्चित्तं स्यात्। कुतः?। 'एकदेशस्य
अवर्जनीयत्वात्', न ब्रह्मते एकदेशचामता वर्जयितुम्, नियत-
मग्निसंयोगे दाहस्य सूक्ष्मा अवयवाः क्षीयन्ते, तत्रेषु च

भा. कपालेषु अधः पाकायं पुरोडाशोऽधिशीयते, उपरि च अङ्गारा अभ्युच्चन्ते, तदवजनीयं, निमित्तत्वेनापि श्रूयमाणं नित्यमेव स्यात्। तत्र 'यस्य'—इति निमित्तश्रवणम् विवक्षितं स्यात्। तस्मात् सर्वज्ञाने प्रायश्चित्तम्—इति ॥

घ. दर्शनाद्वैकदेशे स्यात् ॥ १८ ॥ (आ०) ॥

भा. न च एतदस्ति,—सर्वदाहे प्रायश्चित्तम्—इति, एकदेशे ज्ञायति, भवितुमर्हति, निमित्तं हि उपसम्प्राप्तं ज्ञाणं नाम, एकदेशज्ञाणमपि ज्ञाणमेव*, यदि तत्र न क्रियते, श्रुतं न क्रियेत, न च एतत् युक्तम्। अपि च दर्शयति,—'यदा तद्भविः सन्निष्ठेत, अथैतदेव हविर्निर्वपेत्'—इति, तेनैव हविषा संस्थानं दर्शयति, तत् सर्वज्ञाने न अवकल्पते। तस्मात् एकदेशे एव ज्ञायति प्रायश्चित्तम्—इति ॥

च. अन्येन वैतच्छास्त्राद्धि कारणप्राप्तिः ॥ १९ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. वाङ्मदः पक्षं व्यावर्त्तयति। न च एतदस्ति,—यदुक्तम्,— एकदेशेऽपि ज्ञायति प्रायश्चित्तम्—इति, किन्तर्हि?—ज्ञातञ्च ज्ञाने एव प्रायश्चित्तं, उपसंप्राप्तं हि निमित्तं, यत् शास्त्रोक्तं 'पुरोडाशौ ज्ञायतः'—इति, ज्ञातञ्च ज्ञाने न अवयवस्य, न च एकदेशज्ञाने, तस्य अवर्जनीयत्वात्। अथ यदुक्तं,—ज्ञानेण हविषा समाप्तिर्दृश्यते,—'यदा तद्भविः सन्निष्ठेत'—इति; उच्यते, संस्थाने निमित्ते प्रायश्चित्तं, यदाप्यन्येनापि हविषा तत् संस्थाप्यते, तदापि प्रायश्चित्तम्—इति न दोषः ॥

* ज्ञातञ्च ज्ञाने ज्ञानमेवेत्यधिकः का० क्री० पुस्तकस्थः पाठोऽत्र न सङ्गच्छते।

स. तद्द्विःशब्दान्नेति चेत् ॥ २० ॥ (आ०) ॥

भा. एवं 'चेत्' उच्यते,—अन्येन हविषा यदा संस्थाप्यते—इति, नैवं, 'तद्द्विःशब्दात्', तद्द्विःशब्दोऽत्र भवति, 'यदा तत् हविः सन्तिष्ठेत्'—इति; अत्र अन्येन हविषा संस्थाप्यमाने तद्द्विःशब्दो न अवकल्पेत—इति ॥

स. स्यादन्यायत्वादिज्यागामी* हविःशब्दः तल्लिङ्ग-
संयोगात् ॥ २१ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. 'स्यात्' 'इज्यागामी हविःशब्दः' 'तद्द्विः सन्तिष्ठेत्' (तद्द्विष्क कर्म सन्तिष्ठेत्)—इति। 'ननु मुख्याभावे गौणो गृह्यते, न अन्यथा'—इति। उच्यते, मुख्याभाव एव अयम्। कथं?। यदा सन्तिष्ठेत्, तत् कर्म तेन हविषेति वाक्यम्भिद्येत! अवाचकं च स्यात्! कर्मैव हि सन्तिष्ठते, न हविः, तेन निमित्तम्, 'तत् हविः'—इत्यनुवादः। अनुवादश्चेत् अन्यहविष्केऽपि कर्मणि संस्थिते प्रायश्चित्तम्—इति गम्यते। 'कथं पुनर्हविःशब्दः कर्मणि वर्तते?'—इति। 'तल्लिङ्गसंयोगात्', हविःसम्बद्धं कर्म हविःशब्देन हविःसम्बन्धात् अवगम्यते, यथा प्रसङ्गकारितया देवदत्तसम्बद्धया लक्ष्यते सिंहः, एवं हविषापि कर्म लक्ष्यते। तस्मात् इच्छक्षाने प्रायश्चित्तम्—इति ॥ (६।४।५ अ०) ॥

एकहविरार्णवपि पञ्चमरावनिर्व्यापाधिकरणम् ॥

स. यथाश्रुतीति चेत् ॥ २२ ॥ (पू०) ॥

भा. 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'—इति श्रूयते, तत्र

* अन्यायत्वात् इति का० श्रौ० पुस्तके नास्ति।

† हविःषु एव बुद्धिसम्बन्धात् इति आ० सो० प० पाठः।

भा. इदमस्ति वचनं,—‘यस्य उभयं हविरार्त्तिमार्च्छेत् ऐन्द्रं पञ्च-
 शरावमोदनं निर्वपेत्’—इति । तत्र सन्देहः,—किम् उभय-
 स्मिन्* आर्त्तिं पञ्चशरावो निर्वपेत्, उत अन्यतरस्मिन्?—
 इति । किं प्राप्तम्?—‘इति चेत्’ पश्यसि,—एवञ्जातीयके
 एकस्मिन्—इति ।

तत्र ब्रूमः,—उभयोः—इति । कुतः? । ‘यथाश्रुति’ भवितु-
 मर्हति, यत् यत् श्रूयते, तत् अवगम्यते, उभयोश्चात्तौ श्रूयते,
 श्रूयमाणं च विवक्षितुम् न्याय्यम्, इतरथा यावदेव हविः—
 इति तावदेव उभयं हविः—इति स्यात् । तस्मात् उभयो-
 रार्त्त्यां पञ्चशरावः—इति ॥

स. न तल्लक्षणत्वादुपपातो हि कारणम् ॥ २३ ॥ (सि०) ॥

भा. नैतदेवं, ‘उपपातो हि’ आर्त्तिसम्बद्धं इत्थं, तत् ‘कारणं’,
 तस्य लक्षणं हविरार्त्तिः, तत् व्यस्तं समस्तं च निमित्तं, न हि
 उभयशब्देन ब्रह्मं विशिष्टुम्, विशिष्यमाणे हि वाक्यम्भिद्येत,
 —हविषः आर्त्तौ पञ्चशरावः, स च उभयस्य हविषः—इति ।

‘आह, यदि विशेषणं न नृष्यते, हविषापि ते विशेषणं
 न प्राप्नोति’ । तदभिधीयते,—नृष्यामहे हविषा विशेषणम्,
 अविशेष्यमाणेऽवर्धकं रवात्, ‘यस्व आर्त्तिमार्च्छेत्’—इत्यविशेषे
 यत्किञ्चित्—इति गम्यते, तत्र सर्वस्य एव किञ्चित् आर्त्ति-
 मृच्छति, अन्ततश्चरितं निमित्तितं चिन्तितम्—इति, तत्र
 ‘यस्य’—इति निमित्तवचनं नित्यमनुपपन्नं गम्यते । तस्मात्
 अवश्यमार्त्तिर्विशेष्येत्या, सा च हविषा विशिष्यते, तथा हविः

* उभयस्मिन् का० ग्री० पु० पाठः ।

† ‘एवञ्जातीयके कस्यार्त्तामिति’ इति पाठः क० सं० पु० एवं आ० से० पु० पाठः ।

‡ अविशेष्यता यत्किञ्चिदिति गम्येत इति का० ग्री० पु० पाठः ।

§ चिन्तितमिति का० ग्री० पु० पाठके नास्ति ।

भा. आर्त्तिसम्बन्धनिर्दृष्टिर्निमित्तं पञ्चशरावस्य ; ब्रह्मोति हि श्रुत्या तं सम्बन्धं वक्तुम् । हविषभयसम्बन्धं तु वाक्येन ब्रूयात्, दुर्भलं च वाक्यं श्रुतेः ।

‘ननु हविरार्त्तिसम्बन्धोऽपि वाक्येन एव’ । उच्यते, आर्त्ति-निर्दृष्टिरपि तत्र गम्यते, सा च श्रुत्या, हविषभयसम्बन्धेत्यन्तं श्रुतिरवहीयते । तस्मात् न तत्सम्बन्धो निर्वर्त्यमानो निर्दिश्यते—इति । ‘कथं तर्हि उभयब्रह्मः?’ । ‘उभयम्—इति नित्यानुवादः, एकस्मिन् अप्यार्त्ते अपरस्मिन् अपि । तस्मादुक्तं ‘यस्य उभयं हविरार्त्तिमार्त्तं’—इति ।

‘अथ कस्मात् न पदद्वयविशिष्टा आर्त्तिर्निमित्तं प्रतीयते?—इति, यस्य उभयगुणविशिष्टं हविरार्त्तिमार्त्तं—इति’ । अथ उच्यते, कथं तावत् भवान् मम्यते, विशिष्टेन अर्थेन विशिष्टा आर्त्तिर्निमित्तम्?—इति । ‘आह, विशिष्टार्थस्य सन्निधानात् विशिष्टोर्थे आर्त्तिसन्निहितः’ । किं पुनः स्वात् यद्येवं भवेत्? । ‘तत उभयविशिष्टा आर्त्तिर्निमित्तम्—इति गम्यते’ । अथ उच्यते, इदं तावत् देवानाश्रयः प्रदृश्यः, यस्यापि हि विशिष्टार्थः आर्त्तिसन्निहितो भवति, किं तस्याविशिष्टो दृष्टैः पराणुद्यते? । ‘किम् अतो यत्र पराणुद्यते?’ । एतदतो भवति, अविशिष्टगताप्यार्त्तिर्निमित्तं पञ्चशरावस्य भवति । ‘ननु उभय-ब्रह्मो हविर्विश्लेष्यति’ । न, हविःब्रह्मेनासम्बन्धमानः तत्र ब्रह्मोति विश्लेष्यते । ‘आनकार्यात् सम्भत्स्यते तर्हि’ । तथापि न समर्थः, न हि असौ निवृत्तिं प्रवोचयति ।

‘आह, विशेषवचनत्वात् तन्निवर्त्तको भविष्यति ; यथा शुक्ला गौरानीयताम्—इति, न, एवम् अभिहिते लक्ष्णाम् आनयन्ति, शुक्लब्रह्मः एनां गां लक्ष्णादिभ्यो निवर्त्तयति’ । उच्यते, विषम उपन्यासः, न तत्र गवाल्लत्या द्रव्यं लक्षयित्वा, तस्यानयनम् उच्यते, तथापि चेदेवम् अभविष्यत्, नैव एनां

भा. शुक्लशब्दो* ध्येयव्यत, उभयविशेषणविशिष्टं तु तत्र आनयनं प्रधानम् उच्यते, इह पुनरातिष्ठविद्वलक्षिते इत्ये पञ्चमरावः। 'किं पुनः कारणम्, प्रधानभूते आख्यातार्थे संदृश्य विशेषणं भवति, परार्थे पुनर्विद्युच्च?—इति'। उच्यते, प्रधानभूते आह्वतिगुणो वा तत्सम्बन्धार्थम् उच्यते, तत्र उभयविशेषण-विशिष्टः एकस्मात् वाक्यात् अवगम्यते, तद्विशिष्टं च ह्यत्वा ह्यती भवति, अन्यतरविशिष्टं कुर्वन् अश्रुतं कुर्यात्, यत्र पुनराह्वति-लक्षिते इत्ये आख्यातार्थः कीर्त्यते, तत्र सर्वेष्वेव तज्जातीयेषु उक्तो भवति, न तत्र एकस्मिन् निर्दृष्टे ह्यती मन्व्येत, अपरस्मिन् अपि हि आह्वतिलक्षिते तत् उक्तमेव, तत्र उक्तम् अप्रतिषिद्धं च किमिति न क्षियेत? आख्यातार्थे पुनः प्रधाने न तस्य आह्वति-लक्षितेन सम्बन्धः, तत्र तदाह्वतिकान्तरे अनुपसंख्यिमाणेषुपि ह्यतमेव प्रधानं, सगुणं च प्रधानं भवति, न च किञ्चित् श्रुतं ह्यीयेतेति, तस्मात् तत्र विशेषणं युक्तं, न तु इह तत्रा, इह हि 'ह्यविराह्वतिकस्य इत्यस्य आर्त्तो पञ्चमरावः'—इत्युक्तं, तत्र शब्दं विशेषवचनेन प्रतिषेधावाचकेन निवर्तयितुम्।

अपि च उभयशब्दे ह्यविषा सम्बन्धमानेषुपि नैव उभयविशिष्टा आर्त्तिः प्रतीयते। 'किंकारणं?। ह्यविषा उभयशब्दः सम्बन्धते, न 'आर्त्तिमाच्छेत्'—इत्यनेन पदेन, तत्र सञ्जिहितेषुपि उभयशब्दे ह्यविशब्दस्य यावानर्थः, तावतैवार्त्तिः सम्बन्धते, अविशिष्टस्य तत्र अर्थः। तस्मात् न उभयविशिष्टा आर्त्तिर्निमित्तम्—इति।

'अथ आर्त्त्याश्रयविभक्तियोगात् उभयशब्दस्य, उभयविशिष्टा आर्त्तिः—इत्युच्यते'। तत्र, विभक्तिसंयोगो हि ह्यविशेषणम् उभयशब्दं ब्रह्मवात् कर्तुम्, समभिव्याहारात्, न आर्त्तिविशेषणं, न हि, अस्य आर्त्त्या ह्यविशिष्टस्य समभिव्याहारोऽस्ति।

* शुक्लशब्दादिति अधिकः पाठः आ० सो० पु०।

† ह्यती इति आ० सो० पु० पाठः।

भा. 'अथ उच्यते,—असत्यपि समभिव्याहारे आर्त्तिशब्दसन्निधानात् तद्विभ्रष्टैर्वार्त्तिः प्रत्येष्यते'—इति। तन्न, असत्यां हि आकाङ्क्षायां सन्नधानम् अकारणं भवति, यथा भार्या राज्ञः, पुत्रयो देवदत्तस्य—इति। 'एकवाक्यगतत्वात् तद्विभ्रष्टं गम्यते—इति चेत्'। नैतदेवम्, एकस्मिन् अपि वाक्ये तद्वयवभूतस्य अनपेक्षितस्य नैव भवति सम्बन्धः, यथा, अग्नेन व्रजति श्वेतेन पटेन आहतः—इति, न अनपेक्षितस्य अश्वस्य श्वैत्यं विशेषणं भवति।

'अथ उच्यते,—आर्त्तिविभ्रष्टेन हविषा उभयस्य सम्बन्धः'—इति। तदपि नोपपद्यते, न हि 'आर्त्तिमाच्छेत्'—इति हविर्विशेषणत्वेन उपादीयते, किन्तुर्हि?—पञ्चमरावस्य निमित्तत्वेन, हविरार्त्तिः उभय-पञ्चमरावसम्बन्धे यौगपद्येन अभ्युपगम्यमाने वाक्यम्भिद्येत।

'अथ हविः आकृतिसञ्चितेन सम्बद्धं, 'आच्छेत्'—इति पुनः हविर्विभ्रष्टेन उभयशब्देन सम्बन्धेन'। तथापि वाक्यम्भिद्येत। तस्मात् न उभयविभ्रष्टा आर्त्तिर्निमित्तम्।

'आह, यत्रैव आस्मात्तार्थप्राधान्ये उभयविभ्रष्टा उच्यते—इति न अन्यतरविभ्रष्टा निमित्तम् गम्यते, एवम् इतरस्मिन् अपि यत्ने उभयविशेषणविभ्रष्टा सा उच्यते—इति यद्यपि स्वेन आत्मनाविभ्रष्टा, तथापि अन्यतरविभ्रष्टा भवन्ती न निमित्तं भवितुमर्हति—इति, को विशेषः?'—इति। तदभिधीयते, मत्पक्षे उपादेयत्वेन विशेषणत्वं, त्वत्पक्षे पुनर्लक्षणत्वेन। 'आह, किम् अतः, यत् लक्षणत्वेन?'। उच्यते, यतत् अतो भवति, हविराहृत्या लक्ष्यते इत्थं, तस्य किञ्चित् वक्तव्यम्—इति तत् अलक्षितम् उच्यमानं न विज्ञायेत कस्य स्यात्?—इति, अथ वा सर्वस्यैव द्रव्यस्य—इति गम्येत; तस्मिन् उभयस्मिन् अन्यविभ्रष्टे सति तस्य आश्रयं लक्षयितुम् हविराहृतिः उच्यते,

भा. तत्र इयमापतति, यत् हविराह्नतिकं तदार्त्तम्—इति, यद्वा यत् हविराह्नतिकं, तदुभयम्—इति, यदि तावत् यत् हविराह्नतिकं तदार्त्तम्—इत्यपेक्ष्यते ततो हविराह्नतिकम् उभयम् अनुभयं वा आर्त्तं निमित्तम् गम्यते। अथ यत् हविराह्नतिकं तत् उभयम्—इति ततो न आर्त्तिर्हविषा विश्लेष्यते। हविषा अविशिष्यमाणायाम् आर्त्तौ उभयशब्दो हविर्विश्लेष्यति—इति नैतत् अवकल्पते। 'कथम्?'—इति। एवं किल विश्लेष्यते, यत् हविराह्नतिकम् उभयम्—इति, तत्र पुनर्वक्तव्यम्, यत् हविराह्नतिकम् उभयं, तच्चेदार्त्तम्—इति, कथं तेन विश्लेषेण आर्त्तिः सम्बन्धेत?—इति, न पुनः उभयहविःशब्दौ च आर्त्ति-विश्लेषणार्थम् उच्चार्येयाताम्। अथ पुनरुच्चारणं न क्रियते, तथा यद्यपि हविःशब्दः तद्वेण अस्त्युभयाश्रयलक्षणार्थं न उच्चार्येत, अविशिष्टम् आर्त्तलक्षणं स्यात्, अविशिष्टम् उभयस्य; विश्लेषे इष्टे पुनरुच्चारणं कर्त्तव्यम्, तत्र वाक्यभेदः।

एवम् उभयशब्दो यदि आर्त्तनिना सम्बन्धेत न हविर्विश्लेष्यं स्यात्, तत्र अविशिष्टस्य हविष आर्त्तिर्निमित्तम्, स्यात्। अथ हविःशब्देन सम्बन्धेत, पुनरार्त्तिसम्बन्धार्थं हविःशब्दसहितम् उच्चार्येत, तच्चेतत्—इति वा सर्वनाम्ना निर्दिश्येत, तत्र स एव वाक्यभेदः।

उपादेयत्वे पुनर्न अन्योन्यविश्लेषणत्वेन प्रयोजनं; इयमपि आर्त्तिं विश्लेषुम् उच्चार्येत, तत्र न अन्यतरविशिष्टा आर्त्तिर्निमित्तम् भविष्यति; लक्षणत्वे तु अन्यतरविशिष्टा भवति—इत्येष विशेषः। अपि च, सर्वस्यैव पदस्य पदान्तरसम्बन्धे सति च, शब्दादृते तृतीयेन पदेन सत्यां गतौ सन्निहितेनापि सम्बन्धो न युक्तः, न हि भवति, 'भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्य'—इत्यत्र राजा पुरुषविश्लेषणम्, असत्यान्तु गतौ उपादेयस्य अनेकस्यापि प्रधानेन सम्बन्धोऽवकल्पते अविहितेनापि; अथ-

भा. धानात् अर्थी बलीधान्—इति, अक्षयत्वे तु, अक्षयद्वयसञ्चि-
पातेऽवश्यं हेयेऽन्यतमस्मिन् यवद्वितो गुणो वा ज्ञातव्यो भवति ॥
(६।४।६ अ०) ॥

होमाभिषवोभयकर्तुरेव भक्षणाधिकरणम् ॥

ख. होमाभिषवभक्षणं च तद्वत् ॥ २४ ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘हविर्धाने यावभिरभिषुत्याहवनीये
जुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षान् भक्षयन्ति’—इति । तत्र
अन्येन वचनेन अभिषव उक्तः, यजतिना होमः, तौ तावत् न
विधीयते, न च तयोः क्रमः, अर्थात् एव हि स प्राप्तः ; तस्मात्
एककर्तृकं होमाभिषवाभ्यां भक्षणं विधीयते,—अभिषवे ह्यते
होमे च तत्कर्तृभिः भक्षणं कर्तव्यम्—इति । तत्र एव सन्देहः,
—किम् उभयं यः कुर्यात् स एव भक्षयेत्, उत अन्यतरेणापि
भक्षणम्?—इति । किं प्राप्तम्?—‘होमाभिषवभक्षणं च तद्वत्,
तददेव स्यात्, यदहविविष आर्त्तिः । कथं ? । नैतदेवम् सम्बन्धते,
—अभिषुत्य ततो जुत्वा ततो भक्षयेत्—इति, न अनेन
अभिषवस्य होमस्य च क्रमः कीर्त्यते, अभिषुत्य ये जुह्वति, ते
भक्षयन्ति—इति, वाक्यं हि एवम्भिद्येत,—अभिषुत्य भक्षयन्ति,
जुत्वा भक्षयन्ति—इति । तस्मात् होमाभिषवयोः परस्परं
सम्बन्धो नास्ति—इति एकेनापि भक्षणं सम्बन्धेत, अपरेणापि,
अभिषुत्य भक्षयन्ति*—इति । तस्मात् अन्यतरेण निमित्तेन
भक्षणं भवति—इति ॥

ख. उभाभ्यां वा न हि तयोर्द्वर्गशास्त्रम् ॥ २५ ॥ (सि०) ॥

भा. उभाभ्यां वा निमित्ताभ्यां भक्षयेत्, न भक्षणं होमाभिषवयो-

* अत्र ‘जुत्वा भक्षयन्ति’ इति अर्थः पाठः आ० सो० पु० ॥

भा. धर्मा विधीयते, किं हि स्यात् यदि तयोर्धर्मा विधीयेत ? होमाभिषवौ प्रधानम्—इति भक्षणं गुणः प्रति-प्रधानं भिद्येत ! अथ पुनः उभाभ्यां निमित्ताभ्यां भक्षणं विधीयते, तस्मिन् विहिते एकोऽर्थी विहितो भवति, तेनैकं वाक्यं, तदेतावति पर्यवसितं भवति, अभिषुत्य ऊत्वा भक्षयन्ति—इति । तत्र एतदवान्तरं वाक्यं, 'ऊत्वा भक्षयन्ति'—इति, न च महावाक्ये सति अवान्तरवाक्यं प्रमाणं भवति, पदान्तरस्य बाधनात्, यथा, 'नोद्यन्तमाहित्यमीक्षेत'—इति प्रतिषेधो गम्यते महावाक्यात्, अवान्तरवाक्यात् ईक्षणविधानम् । तस्मात् अन्यतरनिमित्तं भक्षणम् अश्रुतं, महावाक्यात् इदम् अवगम्यते, हे निमित्ते भक्षणस्य—इति ; भक्षणं च अन्यथा कुर्वन् श्रुतं परित्यजेत् । तस्मात् उभाभ्यां भक्षणम्—इति ॥ (६।४।७ अ०) ॥

पुनराधानं प्रति वक्रानुगमनस्य निमित्ताधिकरणम् ॥

स. पुनराधेयमोदनवत् ॥ २६ ॥ (पू०) ॥

भा. अग्निहोत्रे श्रूयते,—'यस्योभावनुगतावग्नी अभिनिष्ठीचेत्, यस्य वाग्भ्युदियात् पुनराधेयमेव तस्य प्रायश्चित्तिः'*—इति ; तत्र सन्देहः,—किम् अन्यतरानुगमने पुनराधेयम्, उत उभयानुगमने ?—इति । किं प्राप्तम् ?—'पुनराधेयमोदनवत्' स्यात्, यथा पञ्चज्वराबोध्यतरस्य आसौ भवति, एवं पुनराधेयम् अन्यतरानुगमने भवितुमर्हति, वाक्यभेदप्रसङ्गात्—इति, यथा इह यद्ये, इह सुज्ञातं करिष्यामि—इत्येवमेवाभिसम्बन्धः†—इति ॥

* आचवनीयमार्चपत्यानुभावग्नी अनुगतौ गद्यौ यदा भवतस्तदा सूर्यस्य अक्षयय उदयो वा यदि भवेत् तदा पुनराधेयं कार्यमित्यर्थ इति भाष्यः ॥

† इत्येवमेव तत् समन्वये इति का० श्री० पु० पाठः ॥

घ. द्रव्योत्पत्तेर्वोभयोः स्यात् ॥ २७ ॥ (सि०) ॥

भा. इथे विनष्टे तस्यैव द्रव्यस्य उत्पत्तिरपि प्रावञ्चितं, तस्य*
 कृष्टं प्रयोजनं, कथं द्रव्यं भवेत्?—इति पुनराधानं क्रियते ;
 तत्र एव धर्मो,—हावग्नी सह उत्पद्येते, न पृथक्त्वेन ; तत्र,
 अन्यतरानुगमने न शक्यते एक आधातुम्, विगुणं स्यात् ।
 'अथ द्वितीयमप्यादधीत' । स यदि तावदाहवनीयः, तत्र
 आहवनीयोऽग्नौ होमार्थो विद्यते एव—इति न स होमाय
 स्यात् । यच्च होमार्थम् उत्पाद्यते स आहवनीयः, यत एव
 संस्कारशब्दः, संस्कारशब्दश्च एकेनापि संस्कारेण विना न
 भवति, एषोऽपि च संस्कारः, यत् होमार्थता, 'यत् आहवनीये
 जुहोति'—इति श्रूयते, तत् एकस्मिन् अनुगते, एकस्मिन्
 आधीयमाने वैगुण्यं, द्वयोरपि हि वैगुण्यमेव । तस्मात् न
 एकस्मिन् अनुगते पुनराधेयम् अशक्यत्वात्—इति ॥ (६।४।
 ८ अ०) ॥

पञ्चश्रावनिर्वापस्य कर्मान्तरताधिकारश्च ॥

घ. पञ्चश्रावस्तु द्रव्यश्रुतेः प्रतिनिधिः
 स्यात् ॥ २८ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'यस्य उभयं हविरार्त्तिमाच्छेत्
 ऐन्द्रं पञ्चश्रावमोदनं निर्वपेत्'—इति । तत्र सन्देहः,—किं
 हविषि आर्त्ते पञ्चश्रावः प्रतिनिधिः, उत निमित्ते कर्मान्तरम्?
 —इति । 'कथं प्रतिनिधिः, कथं कर्मान्तरम्?'—इति । यद्येवम्
 अभिसम्बन्धो भवति,—पञ्चश्रावं निर्वपेत् (कृयात्)—इति,

* तस्मा इति क० सं० पू० ॥

भा. ततः साङ्ग्राह्यस्य कार्यं पञ्चशरावः प्रतिनिधिः—इति; अथ न पञ्चशरावो निर्वापतिना, किन्तु देवतया सम्बन्धते* पञ्चशरावम् ऐन्द्रं कुर्यात्—इति, ततो निमित्ते यजतिर्विधीयते ।

किं तावत् प्राप्तम्?—‘पञ्चशरावस्तु द्रव्यश्रुतेः प्रतिनिधिः स्यात्’, ‘पञ्चशरावः’ साङ्ग्राह्यस्य ‘प्रतिनिधिः’ । कुतः? । ‘द्रव्यश्रुतेः’, द्रव्यस्य निर्वापे श्रवणं, न इन्द्रसम्बन्धः । कुतः? । एवं निर्वापविधिर्भविष्यति, तच्च श्रुतिर्विधायिका, इतरथा द्रव्यदेवतासम्बन्धे वाक्यं स्यात्, तच्च दुर्बलं श्रुतेः । तस्मात् प्रतिनिधिः—इति ॥

सू. चोदना वा द्रव्यदेवताविधिरवाच्ये
हि ॥ २६ ॥ (सि०) ॥

भा. निमित्ते वा यजतिः कर्मान्तरं, ‘द्रव्यदेवताविधिः’; द्रव्यदेवतम् इह श्रूयते,—‘पञ्चशरावम् ऐन्द्रं कुर्यात्’—इति, इतरथा हि ‘ऐन्द्रम्’—इति प्रमादपाठोऽवगम्येत! ऐन्द्रमाहेन्द्रयोर्वा अयथार्थानुवादः ‘ऐन्द्रम्’—इति स्यात्! ‘अवाचेर हि ते देवते, ऐन्द्रशब्देन इन्द्रो महेन्द्रश्च न शक्योऽभुवदितुम्; विशेषणत्वे वाक्यभेदः । ‘ननु श्रुतिर्विधीयसी’—इत्युक्तम् । सत्यमेवं, किन्तु इतरस्मिन् पक्षे बाधतेतरां श्रुतिः, ऐन्द्रशब्दस्य अतसत्त्वात् ॥ (६।४।६ अ०) ॥

पञ्चशरावयागस्य नैमित्तिकदर्शयामाङ्गताधिकारणम् ॥

सू. स प्रत्यामनेत्स्थानात् ॥ ३० ॥ (पू०) ॥

भा. स एष नैमित्तिको यागः, किम् अमावास्यां प्रति आमनेत्,

* पञ्चशरावो देवतया सम्बन्धते इति का० ऋी० पु० पाठः । पञ्चशरावो न निर्वापतिना सम्बन्धते इति आ० सो० पु० पाठः ।

भा. न?—इति। किं प्राप्तम्?—‘स प्रत्यामनेत्, स्थानात्’, ‘स’ एष यागः अमावास्यां प्रति आम्नातुमर्हति। कुतः?। ‘स्थानात्’, यागे विनष्टे याग एष श्रूयमाणो यदि न नष्टस्वाङ्गं, ततोर्ध्वान् भवति; अथ अङ्गं, निष्प्रयोजनस्याद्यं क्रियमाणं निष्प्रयोजनमेव भवितुमर्हति, विगुणं च निष्प्रयोजनमेव, विनष्टमावास्याम्—इति प्रत्यक्षम्; इदम् अपि कर्त्तव्यम्—इति शब्दं, यत् विनष्टं, तत् निष्कलम्—इति न कर्त्तव्यम्; इदं च कर्त्तव्यम्—इति प्रत्याम्नासोऽवगम्यते ॥

ख. अङ्गविधिर्वा निमित्तसंयोगात् ॥ ३१ ॥ (सि०) ॥

भा. अङ्गं वा एतत् विधीयते, हविष आर्त्तौ निमित्ते यागः श्रूयते, तत्र चयमापतति,—यदा निमित्ते स्वतर्कं कल्प्यं फलं, यदा अमावास्याया यत् कार्यं तदस्य, यदा तस्य अङ्गम्—इति। स्वप्रधानं तावत् न, कल्प्यत्वात् फलस्य। न अमावास्यायाः कार्यं। किं कारणम्?। अत्रवणात्, नैवं श्रूयते,—तस्याः कार्यं वर्त्तते—इति, कर्त्तव्योपदेष्टेनापि न अन्यतमाध्यवसानं चिषु एषु पक्षेषु; तेषु च पक्षेषु विवक्षितेषु कर्त्तव्योपदेष्टोऽवकल्प्यते।

‘ननु एवम् अभिसम्बन्धो भविष्यति,—यस्य उभयं हविरार्त्तिमाश्चेत् स एतेन यागेन साधयेत्, यत् साधयितुकामः; किञ्च असौ साधयितुकामः, यदमावास्यायाः फलम्—इति। अथ उच्यते,—फलपदेन सम्बन्धाभावात् सम्बन्धस्य विधायकं वाक्यं, श्रुत्या च यागकर्त्तव्यता विधीयते, सा च वाक्यात् बलीयसी। तस्मात् न तत्कार्यं वर्त्तते—इति। किन्नाहि प्रयोजनम्?। तस्या अमावास्याया अङ्गम्। ‘ननु एतदपि नास्ति तस्या अङ्गम्—इति। अथ उच्यते,—तत्सम्बन्धेन समाम्नानात्* तत्प्रयोगवचनेन गृह्यते, दर्शपूर्णमासाभ्यां फलं

* तत्सन्निधिसमाप्तावान् हवि का० श्री० पु० पाठः ॥

भा. साधयेत् सर्वैरङ्गैः सह, अस्यां च आर्त्तो एष याग इतिकर्तव्यता
—इति। तस्मात् एवम् अवगम्यते,—विनष्टे ह्यर्वाध आमा-
वास्यं यन्न भङ्गोति स्वकार्यं कर्तुं, तत् अनया इतिकर्तव्यतया
सहितं भङ्गोति—इति। तस्मात् निमित्ते कर्माङ्गम्—इति ॥
(६।४।१० अ०) ॥

सत्रायामूर्थाप्रवृत्तस्य विश्वजिदावश्यकताधिकरणम् ॥

स. विश्वजित्त्वप्रवृत्ते भावः कर्मणि स्यात् ॥ ३२ ॥ (सि०) ॥

भा. एतदाभ्यायते,—‘सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्यः, सर्वेभ्यः
पृष्ठेभ्यः, आत्मानमागुरते, यः सत्राय आगुरते, विश्वजिता
अतिरात्रेण सर्वपृष्ठेन सर्ववेदसदक्षिणेन यजेत, सर्वाभ्यः एष
देवताभ्यः, सर्वेभ्यः पृष्ठेभ्यः, आत्मानं निष्क्रीणीते’—इति,
सत्राय आगुरते निमित्ते विश्वजित् श्रूयते। तत्र सन्देहः,—
किं सत्राय आगुर्यं यः सत्रं प्रयुङ्क्ते, तस्य विश्वजित्, उत यो
न प्रयुङ्क्ते तस्य?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—यस्य प्रयुङ्क्ते,
यस्य न—इति अविशेषात्; अथ वा प्रयुञ्जानस्य। कुतः?।
निमित्ते कर्माङ्गम् एवञ्जातीयकम्—इत्युक्तं, तत् अप्रयुज्य-
मानस्य कथम् अङ्गं स्यात्?—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘विश्वजित्त्वं अप्रवृत्ते’ भवेत्, सत्रस्य क्रियाया
अभावे विश्वजित्। किं कारणम्?। एवं हि श्रूयते,—‘यः
सत्राय आगुरते, स विश्वजिता अतिरात्रेण यजेत’—इति,
यः सत्रं करिष्यामि—इत्येवम् आगुरते, स विश्वजिता यागेन
साधयेत्—इति, यदर्थम् असौ सत्रं कर्तुमिच्छति, तदर्थम्—
इति गम्यते। ‘कथम्?। य आगुरते, स तेन यजेत, यागेन
निर्वर्त्तयेत्—इति वाक्यार्थो गम्यते, न यागं निर्वर्त्तयेत्—इति।
कुतः?। यागस्य गुणत्वेन अत्राणात्। ‘कथम् तस्य गुणत्वम्?।

भा. तृतीयानिर्द्देशात्, प्राधान्ये हि फलं कल्प्येत! इतरस्मिंस्तु पक्षे प्रत्यक्षात् वाक्यात् फलावगमः ॥

ख. निष्क्रयवादाच्च ॥ ३३ ॥ (यु०) ॥

भा. एवं तत्र श्रूयते,—‘सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्यः, सर्वेभ्यः पृष्ठेभ्य यत् आत्मानं निष्क्रीणीते’—इति, निष्क्रयदारेण च संस्तवः प्रवृत्ते न युज्यते। तस्मात् अप्रवृत्ते विश्वजित्—इति। ‘अथ कस्मात् नैवमभिसम्बन्धः क्रियते?—आगूर्यं सत्राय विश्वजिता यजेत—इति, विश्वजितः सत्रस्य च सम्बन्धो विज्ञायेत, आगोरणवेलायाम्—इति। नैवम्, आगोरणविशेषणं हि सत्रं सत्रविश्वजित्सम्बन्धे व्यर्थाहितकल्पना स्यात्। श्रुतिश्च पुरुषेण विश्वजितं सम्बन्धयति,—‘विश्वजिता यजेत पुरुषः’—इति, न सत्रेण; सत्रस्य विश्वजित् यागः—इति, ‘आगूर्यं’—इति च; एवं अवणम् अर्थवत् भवति। सत्राङ्गत्वे तु अर्थप्राप्तं न वक्तव्यम्, न च, आगूर्यं यजेत—इति आगोरणानन्तर्यं शक्यं विधातुम्, अत्रशब्दार्थो हि तदा आश्रीयेत, समानकर्तृकता हि शब्दवती, पूर्वकालभावस्य च अर्थप्राप्तत्वात् न वक्तव्यता। तस्मात् ‘आगूर्यं’—इत्यत्रैव विश्वजितः सम्बन्धः, स चेत्, आगूर्यं* न सत्रेण यजेत तस्य विश्वजित्—इति ॥ (६।४।११ अ०) ॥

वर्हिषेत्यादिभ्युतेः शतकाद्यविषामार्थताधिकारसम् ॥

ख. वत्ससंयोगे व्रतचोदना स्यात् ॥ ३४ ॥ (पू०)

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—‘वर्हिषा वै पौर्णमासे व्रतम् उप-
यन्ति, वत्सेन अमावास्यायाम्’†—इति। तत्र सन्देहः,—किं

* य आगूर्यं इति का० ऋी० पु० पाठः ॥

† पूर्णमासे प्रतमुपयन्ति वत्सेरिति का० ऋी० पु० पाठः। अत्र व्रतं भोजनमिति भाष्यः ॥

भा. वत्ससाधनकं व्रतं विधीयते, उत व्रतस्य कालः—इति, अथ वत्सो व्रताङ्गम्—इति। किं प्राप्तम्?—वत्ससाधनकं व्रतं विधीयते?—इति, अमावास्यायां वत्सैव्रतं कुर्यात्—इति, वत्स-व्रतसंयोगोऽपूर्वः, स विधीयते, तस्मिंश्च विधीयमाने उभयमपि विहितं भवति वत्सो व्रतञ्च ॥

भा. कालो वा उत्पन्नसंयोगात् यथोक्तस्य ॥ ३५ ॥ (सि०) ॥

भा. 'यथोक्तस्य' (वचनान्तरेण प्राप्तस्य) कालोऽर्थं विधीयते। कुतः?। 'उत्पन्नसंयोगात्', उत्पन्नसंयोगोऽर्थं व्रतस्य, न उत्पत्तिसंयोगः। कथम्?। 'अमापममांसं बडसर्पिष्कं व्रतं व्रतयन्ति'—इति विहितं पूर्वं व्रतम्, अमञ्जातश्च कालः, तस्मात् कालविधिरिति ॥

भा. अर्थापरिमाणाच्च ॥ ३६ ॥ (यु०) ॥

भा. न च ब्रह्मोऽर्थः परिमातुम्,—'वत्सेन व्रतम् उपयन्ति'—इति किं वत्सोऽत्र व्रतयितव्यः? (एवं वत्सेन व्रतम् उपगतं भवति), किं वत्सेन हस्तस्थानीयेन व्रतयितव्यम्?—इति (एवं तदुपेतं भवति), उत वत्सं सन्निधाय तदुपेयात्?—इति, नैव व्यवतिष्ठते शास्त्रार्थः, कारणं हि एतत् निर्दिष्टं, न इति-कर्तव्यता; एतावत् उक्तं,—वत्ससाधनं व्रतं कुर्यात्। कथम्?—इत्येतद्विशेषाकाङ्क्षमेव अवतिष्ठेत, नैव अर्थः परिच्छिद्यते, व्रते किं वत्सेन क्रियते—इति, अथ वा यदा तदेति? तथा वत्सो व्रतेन सम्बध्यमानः इष्टः स्यात्, अपरार्थतामापद्येत, परार्थतां च अस्य द्योतयति विभक्तिः तृतीया, साधकतमे हि सा भवति। तस्मात् अपि शास्त्रार्थः संयोगः ॥

भा. वत्सस्तु श्रुतिसंयोगात्तदङ्गं स्यात् ॥ ३७ ॥ (२ पू०) ॥

भा. यदुक्तं,—विहितत्वात् व्रतस्य अनुवादः—इति, सत्यमेतत्।

भा. यत्तूक्तं, कालविधानार्थः—इति, तन्न, 'वत्सः' तदङ्गत्वेन विधीयते । कुतः ? । 'श्रुतिसंयोगात्', वत्सोऽङ्गे विधीयमाने श्रुतिः निमित्तम्, काले लक्षणशब्दः स्यात् । श्रुतिलक्षणाविज्ञेये च श्रुतिर्न्याय्या । तस्मात् अङ्गं वत्सः—इति ॥

स. कालस्तु स्यादचोदना ॥ ३८ ॥ (उ०) ॥

भा. 'कालस्तु' एष निर्दिश्यते, न वत्सोऽङ्गं विधीयते, नैषा चोदना, बर्हिषा वै पौर्णमासे व्रतम् उपयन्ति, वत्सेन अमास्यायाम्—इति । कथम् अवगम्यते ? । विधिना एकवाक्यत्वात्, परस्ताच्च विधिः समाग्नयते, 'पुरा वत्सानाम् उपाकर्त्तादम्पती अश्रीयताम्'—इति, यदि एषोऽपि विधिः स्यात्, वाक्यम्भिद्येत; अनुवादश्च तथाभूतस्य अर्थस्य भवति, न च वत्साङ्गता अप्राप्ता, अप्राप्तस्तु कालः ॥

स. अनर्थकश्च कर्मसंयोगे ॥ ३९ ॥ (यु० १) ॥

भा. न च, ब्रह्मो वत्सोऽपि व्रतयितुम्, कर्मसंयोगे वत्सेन न अर्थः ब्रह्मते कश्चित् कर्तुम् । तस्मात् अपि न वत्सोऽङ्गम् ॥

स. अवचनाच्च स्वशब्दस्य ॥ ४० ॥ (यु० २) ॥

भा. न च एतदुच्यते, विश्वस्य अपितं वत्सं व्रतयिष्यते—इति, न च, अस्य अर्थस्य स्वशब्दः श्रूयते, 'वत्सः'—इत्याह्वतिशब्दः मांसे न वर्त्तते । तस्मात् एष कालः—इति ॥ (६।४।१२ अ०) ॥

बर्हिषेत्याद्युक्तकालस्य सन्नयदसन्नयदुभयसाधारणताधिकरणम् ॥

स. कालश्चेत्सन्नयत्पक्षे तस्मिन्संयोगात् ॥ ४१ ॥ (पू०) ॥

भा. कालार्थः संयोगः—इत्येतत् समधिगतम्; इदानीं वन्देहः,—

भा. किं सन्नयत्पक्षे एव कालः, उत असन्नयतोर्थाप?—इति । किं प्राप्तम्?—‘सन्नयत्पक्षे’ । कुतः? । एवं श्रूयते, ‘पुरा वत्सानामपाकर्त्ताः’—इति, न च असन्नयतो वत्सापाकरणमस्ति; तस्मात् सन्नयत्पक्षे एव कालः; अपाकरणम् लिङ्गम्—इति ॥

स. कालार्थत्वाद्दोभयोः प्रतीयेत ॥ ४२ ॥ (सि०) ॥

भा. वाङ्मदः पक्षं व्यावर्त्तयति, न सन्नयत्पक्ष एव, असन्नयतोर्ध्येष कालः स्यात् । कुतः? । ‘कालार्थत्वात्’, न वत्सापाकरणेन व्रते किञ्चित् प्रयोजनमस्ति, कालेन तु प्रयोजनं, येन च तत्र प्रयोजनं, स लक्ष्यते । ‘कथं पुनर्वत्सापाकरणम् कालार्थम्?’—इति, परार्थत्वात्, पयसे, ष्टि ते अपाक्रियन्ते, तथाष्टि दृष्टार्थता भवति, इतरथा अदृष्टार्थता स्यात्, तस्मात् न उपादेयत्वेन वत्सापाकरणं श्रूयते—इति । यत्तूक्तं,—तस्मिन्संयोगात् सन्नयत्पक्षे एव—इति । तन्न, असन्नयतोर्थापि कालाद्धानात्, यस्यापि न साम्प्रत्यं, तस्यापि वत्सापाकरणमेव न स्यात्, न तु वत्सापाकरणकालोर्थापि, कालेन च नः प्रयोजनं, न वत्सापाकरणेन; यथा शङ्खवेलायामागन्तव्यम्—इति, यस्मिन्नपि यामे शङ्खो न आभ्यायते, तस्मिन्नपि स तथाकालोऽस्ति—इति, न आगमनं परिहास्यते । एवम् इहापि असत्यपि वत्सापाकरणे तत्काले भिद्यमाने व्रतम्, तस्मिन् काले न परिहास्यते—इति ॥ (६। ४। १३ अ०) ॥

सह शाखयेत्यस्य कालवधानार्थतापिकरणम् ॥

स. प्रस्तरे शाखा श्रयणवत् ॥ ४३ ॥ (पू०) ॥

भा. ‘दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत’—इति; तत्र श्रूयते, ‘सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति’—इति; तत्र सन्देहः,—किं शाखा

भा. प्रस्तरस्याङ्गभूता, अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः तयोः; अथ कालार्थः संयोगः, प्रस्तरप्रहरणकाले ब्राखा प्रहर्षथा?—इति। किं प्राप्तं?—‘प्रस्तरे ब्राखा अयणवत्’, प्रस्तरस्य अङ्गभूता ब्राखा। कुतः?। ‘सह ब्राखया प्रस्तरं प्रहरति—’इति, सहयुक्तेऽप्रधाने तृतीया विभक्तिर्भवति (२। ३। १९ सू०), सा च ब्राखायां तृतीया; तस्मात् प्रस्तरस्य ब्राखा गुणभूता, प्रस्तरे च द्वितीया, सहयोगे च तृतीया, तृतीया गुणतः, द्वितीया प्रधानतः। ‘ननु न ब्राखया प्रस्तरस्य कश्चित् उपकारः क्रियते’। सत्यं न दृष्टं क्रियते, किन्तु अदृष्टं क्रियते, ‘अयणवत्’, यथा ‘पयसा मैत्रावरुणं ओणाति’—इति द्वितीयातृतीयासंयोगात् अदृष्टस्य उपकारो गम्यते; एवम् इहापि— इति ॥

स. कालविधिवोभयोर्विद्यमानत्वात् ॥ ४४ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘कालविधिवो’ स्यात्। कुतः?। ‘उभयोर्विद्यमानत्वात्’, प्रस्तरस्तावत् सुग्धारणार्थः प्राप्तो विद्यते, तस्य प्रहरणमपि विशिष्टे काले वाक्यान्तरेण विहितं, ततः ब्राखायाः प्रतिपाद-
नार्थं, तस्य एतत् पुनर्वचनम्। ‘उच्यते, भवतु प्रस्तरस्य पुनर्वचनं, ब्राखा तु अत्र विधीयते’—इति। उच्यते, ‘उभयोः’ अपि ‘विद्यमानत्वात्’, ब्राखा पूर्वं विहिता वत्सापाकरणार्था, इदानीं पुनः किं गुणभूता चोद्यते, उत प्रतिपाद्यते?—इति, प्रतिपाद्यमानायां दृष्टं प्रयोजनं, देशवियोगात् प्रचरितुम् अवकाशः स्यात् या यावती च माषा, देशान्तरसंयोगस्य न दृष्टं किञ्चित् अस्ति, तस्मात् प्रहरणं प्रतिपत्तिः तस्याः, तस्मात् परतः प्रयोजनाभावात् कालनियमः क्रियते*। ‘ननु तृतीया-
प्रधाने भवति, सा च ब्राखायाम्’। अत्र उच्यते, या असी

* न्ययते इति आ० सो० पु० पाठः।

भा. शाखायां तृतीया, सा द्वितीयार्थे; या च प्रस्तरे द्वितीया, सा तृतीयार्थे। 'कथम् अवगम्यते?। सङ्ख्योगे एकस्मिन् काले उभयमपि प्रहर्त्तव्यम्—इति, अत्र यस्य निर्ज्ञातः कालः, तस्य अनुवादः, यस्य तु अनिर्ज्ञातः, तस्य विधिः, शाखायाञ्च अनिर्ज्ञातः, प्रस्तरस्य निर्ज्ञातः, तस्य पुनरुच्चारणम् अनिर्ज्ञातार्थं, तत् अधिधानम्; इतरस्य उच्चारणं प्रधानं, प्राधान्यं च द्वितीयार्थः, तच्च तृतीया; पारार्थ्यम् अपि तृतीयार्थः, तच्च द्वितीया। तस्मात् अथयार्थं विभक्तिवचनम् ॥

स. अतत्संस्कारार्थत्वाच्च ॥ ४५ ॥ (यु० १) ॥

भा. न च, शाखया प्रस्तरस्य उपकारो दृष्टः क्रियते, काष्ठं, दृष्ट-मानस्य तृणस्य न उपकारे वर्त्तते, तृणं तु काष्ठस्य उपकुर्यात्। तस्मात् न शाखा प्रस्तरार्था ॥

स. तस्माच्च विप्रयोगे स्यात् ॥ ४६ ॥ (यु० २) ॥

भा. 'किं भवति प्रयोजनं, यदि प्रस्तरस्य गुणभूता, तथापि प्रस्तरप्रहृत्काले शाखा प्रतिपाद्यते?—इति। उच्यते, यदि प्रस्तरस्य प्रहृत्तव्यस्य अङ्गभूता शाखा, ततो विना प्रस्तरेण, न प्रहृत्तव्या भवति; अथाङ्गभूता, विनापि प्रस्तरेण प्रहृत्तव्या,* अस्माभिः उक्तं प्रस्तरकाले प्रहृत्तव्या—इति, 'तस्माच्च विप्रयोगे स्यात्' 'तस्मात्', एव कारणात् प्रस्तरविप्रयोगेऽपि शाखायाः प्रहृत्तव्यं स्यात्—इति ॥

स. उपवेधश्च पक्षे स्यात् ॥ ४७ ॥ (पू०) ॥

भा. यथा पूर्वः पक्षः, तथा सति, साङ्गारथ्ये सति असति च शाखा

* अथानङ्गभूतेत्यादिपाठो क० सं० पुस्तके नास्ति ।

भा. विद्यते—इति उपवेशो सति च असति च स्यात्, यथा तु
 सिद्धान्तः, तथा साम्प्रदाय्यपक्षे ब्राह्मणं सती हि प्रतिपाद्यत—
 इति । तत्रैव उपवेशो न अन्यत्र—इति ॥ (६।४।१४ अ०) ॥

इति श्रीवरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठ्याध्यायस्य
 चतुर्थः पादः ॥

षष्ठे अथाये पञ्चमः पादः ॥



दर्शेऽभ्युदयेऽौ नैमित्तिकदेवतापनयाधिकारश्च ॥

स. अभ्युदये कालापराधादिज्याचोदना स्यात् यथा
पञ्चशरावे ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा. इदमामनन्ति, 'वि वा एनं प्रजया पशुभिरर्द्धयति, वर्द्धय-
त्यस्य भ्रातृषु, यस्य हविर्मिष्टं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति चेधा
तण्डुलान् विभजेत् ये मध्यमाः स्युः, तानग्रये दाचे पुरोडाशमष्टा-
कपालं निर्वपेत्, ये स्थविष्ठाः तान् इन्द्राय प्रदाचे दधंश्चरम्,
ये क्षोदिष्ठाः, तान् विष्णवे श्रिपिविष्टाय ऋते चरम्—इति,
तत्र सन्देहः,—किं कालापराधे यागान्तरम् इदं चोद्यते, उत
तेषु एव प्रकृतेषु कर्मसु निमित्तं देवतापनयः?—इति।

किं प्राप्तम्?—'अभ्युदये' यः कालापराधः, तत्र 'इज्या-
चोदना स्यात्'। कथम्?। 'पुरोडाशमग्रये दाचे मध्यमान् कुर्वते,
ये स्थविष्ठाः तान् इन्द्राय प्रदाचे दर्धानं चरं कुर्यात्, क्षोदिष्ठान्
विष्णवे श्रिपिविष्टाय'—इति, यजतिस्तु फलभोक्तृसंयोगादिति*
विधानं गम्यते, 'यथा पञ्चशरावे' इत्यदेवतासम्बन्धेन कर्मान्तरं
गम्यते, यथा पशुकामेष्वां, 'यः पशुकामः स्यात्, सोऽमावा-
स्यायाम् इद्धा वत्सान् अपाकुर्यात्, ये स्थविष्ठाः, तानग्रये
सनिमतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्, ये मध्यमाः, तान् विष्णवे श्रिपि-
विष्टाय ऋते चरं येऽणिष्ठाः, तानिन्द्राय प्रदाचे दधंश्चरम्—
इति; एवम् इहापि—इति। अपि च न प्रकृते इत्ये देवता

* द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादिति क० सं० पु० पाठः ॥

भा. श्रूयते, 'श्रूते चक्षम्'—इति हि तच्च भवति वचनं, न च अभ्यु-
दयकाले अपणं ह्यतमस्ति तस्मात् कर्मान्तरम्* ॥

ख. अपनयो वा विद्यमानत्वात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा. देवतापनयो वा। कुतः?। 'विद्यमानत्वात्', विद्यमाने हि
कर्माणि प्रहृतानि, तेषु विद्यमानेषु पुनर्देवतासम्बन्धो ह्यविषो
नोपपद्यते, यस्य अनुपपत्त्या यागः कल्पेयत। तस्मात् न
यागान्तरं, तेषु एव ह्यविःषु देवतान्तराणि विधीयन्ते ॥

ख. तद्रूपत्वाच्च शब्दानाम् ॥ ३ ॥ (यु० १) ॥

भा. देवतापनयस्वरूपास्यामी शब्दाः भवन्ति, 'ये मध्यमाः, तेषां
देवतान्तरं विधीयते, तच्च द्रव्यं प्राप्तम्, अप्राप्ता देवता विधीयते।
'कथं पुनर्देवताविधानार्थं न अनेकगुणविधानदोषो जायेत?'
—इति। उच्यते,—नैव अत्र अनेको गुणो विधीयते कस्मिंश्चित्
वाक्ये; 'तण्डुलान् विभजेत्'—इत्यत्र तावत् विभागमात्रं
विधीयते, अन्यत् सर्वमनूद्यते, तस्मात् अदोषः। ये मध्यमाः,
तेषाम् अग्निर्देवता विधीयते, अन्यत् पुरोडाशादि अनूद्यते, ये
स्यविष्टाः, तेषां दधिसहितानाम् इन्द्रो देवता अस्मिन् वाक्ये
विधीयते। तच्च अर्थप्राप्ते अपणे सति, चक्षता, स ह्यसप्तम्यर्थेन
अर्थप्राप्तेनैव अस्मिन् वाक्येभूद्यते, ये चोद्दिष्टाः, तेषां श्रूत-
सहितानाम् विष्णुः शिपिविष्टो देवता विधीयते, अन्यत् सर्व-
मनूद्यते। तस्मात् अदोषः ॥

ख. आतञ्चनाभ्यासस्य दर्शनात् ॥ ४ ॥ (यु० २) ॥

भा. आतञ्चनाभ्यासश्च दर्शयति। कथम्?। एवं श्रूयते,—'यदि

* तस्मादित्यादि षा० सो० एवं क० सं० पुरुषके नास्ति।

भा. विभीयाद्भिमोदेव्यतीति महाराचे हवीधि निर्वपेत्, क्लीष्टतै-
स्तण्डुलैरुपासीत, अङ्गं दधि हविरातश्चनार्थं निदध्यात्, अङ्गं न,
यद्यभ्युदियात् अनेनातश्च प्रचरेत्, यद्यु न, ब्राह्मणं भोजयेत्
—इति । यदि कर्मान्तरम्, उपादेयत्वेन तदा तण्डुला दधि
शृतं च; तस्मात् लौकिकानि उपादेयानि, न ह्येष तदा
प्रकृतानां व्यापारः, तत्र अविनष्टे दधनि अपरेद्युरामावास्ये
क्रियमाणे विद्यते दधीति न आतश्चनमावर्त्तत, तस्यामेवाभ्युदि-
तेष्टौ दधि विद्यते—इति न आतश्चनं स्यात् । अथ निमित्ते
देवतापनयः, ततस्तस्मिन् दधनि चरुः क्षतः—इति, पुनरा-
मावास्ये दोहे आतश्चनेन कार्यम्, एवम् आतश्चनाभ्यासस्य
दर्शनं देवताविधाने युज्यते—इति ॥

स. अपूर्वत्वाद्धिधानं स्यात् ॥ ५ ॥ (आ० नि० १) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—यथा पशुकामेष्ट्यां कर्मान्तरं,—‘यः पशुकामः
स्यात्, सोऽमावास्याम् इद्धा वत्सानपाकुर्यात्’—इति, तत्परि-
हर्षयम् । तत्र उच्यते,—युक्तं, यत्, तत्र कर्मान्तरविधानम् ।
कुतः? । ‘अपूर्वत्वात्’—न तत्र कश्चित् पूर्वप्राप्तो यागो विद्यते,
‘सोऽमावास्याम् इद्धा’—इति हि परिसमाप्ते तस्मिन् इद-
मारभ्यते; तत्र द्रव्यदेवतासंयुक्तो निर्वपतिशब्दो न अन्तरेण
उत्सर्गो, द्रव्यदेवतयोः सम्बन्धो विद्यते—इति यजतिं गमयति ।
न तु इह एवम्, इह हि यागः प्रकृतो गम्यते, तस्मिन्नेव
विद्यमानस्य द्रव्यस्य देवतासम्बन्धमार्चं विधीयते—इति न
दोषो भवति ॥

स. पयोदोषात्पञ्चशरावेऽदुष्टं हीतरत् ॥ ६ ॥
(आ० नि० २) ॥

भा. अथ यदुपवर्णितं,—यथा पञ्चशरावे कर्मान्तरं विधीयते,

भा. एवम् इहापि—इति, तत्परिहर्तव्यम्—इति। अथ उच्यते,
—युक्तं पञ्चरारे कर्मान्तरं, दुष्टं हि तत्र द्रव्यं, यस्य देवता
विधीयते; तत्र अवश्यं द्रव्यम् उपादेयत्वेन चोदयितव्यं,
तस्मिन् उपादीयमाने देवतान्तरे च अपूर्वः सम्बन्धो विधीयते,
तत् यागान्तरं भवति—इति। 'इतरत्' इह द्रव्यम् 'अदुष्टं',
तदनूद्य, मृहते यागे देवता विधीयते—इत्युक्तं, तस्मात् अदोषः
—इति ॥

घ. साञ्जात्येऽपि तथेति चेत् ॥ ७ ॥ (आ०) ॥

भा. एवं 'चेत्' पश्यसि, साञ्जात्येऽपि दोषः, तदपि हि अभ्युदये
तत्कालापभङ्गात् दुष्टम्—इति ॥

घ. न तस्यादुष्टत्वादविशिष्टं हि कारणम् ॥ ८ ॥
(आ० नि० १) ॥

भा. नैतदेवं, पञ्चरारे हि दुष्टं द्रव्यं, इह तादृशमेव अव-
तिष्ठते। 'ननु कालापभङ्गेन दुष्टम्'। न दुष्यति, 'अविशिष्टं
हि कारणम्', अभ्युदये प्रायश्चित्तविधानं दुष्टेऽप्युपपद्यते, काला-
पराधे अदुष्टेऽपि तत्, अकाले हि अभिमृष्टस्य ब्रह्मते देवता-
विधानं, न तु विनष्टस्य ॥

घ. लक्षणार्था श्रुतश्रुतिः ॥ ९ ॥ (आ० नि० २) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—न मृहते द्रव्ये देवता श्रूयते, 'श्रुते चक्षम्'—
इति तत्र भवति वचनं, न च अभ्युदयकाले अषणं ह्यतमस्ति
—इति, तत्परिहर्तव्यम्। अथ उच्यते, 'लक्षणार्था' इत्यं
'श्रुतश्रुतिः', (धर्मलक्षणार्था) श्रुते, श्रुतसहचरितधर्मकः—
इति ॥ (६।५।९ अ०) ॥

उपांशुयागेऽपि देवतापनयाधिकारश्च ॥

स. उपांशुयाजेऽवचनात् यथाप्रकृति ॥ १० ॥ (पू०) ॥

भा. तस्मिन् एव अभ्युदये संज्ञयः, किम् उपांशुयागेऽपि देवता-
पनयो भवेत्, न?—इति। किं प्राप्तम्?—उपांशुयाजो 'यथा-
प्रकृति' स्यात्। तस्मात्?। 'अवचनात्', यथा अमीषु वचनं,
'मध्यमानामग्रये दात्रे पुरोडाशाः, स्थविष्ठानाम् इन्द्राय प्रदात्रे
दधनि चरः, सोदिष्ठानाम् विष्णवे पित्रिविष्टाय ऋते चरः'—
इति। नेतत् उपांशुयाजेऽस्ति। तस्मात् स यथादेवतं स्यात् ॥

स. अपनयो वा प्रष्टव्या यथेतरेषाम् ॥ ११ ॥ (सि०) ॥

भा. वाञ्छन्तः पक्षं व्यावर्त्तयति। उपांशुयाजस्य 'अपनयः'।
केन कारणेन?। 'प्रष्टव्या', अकाले तद्वप्रष्टतिः देवतापनयस्य
कारणम्। कुतः?। न हि अत्र अभ्युदये सति तण्डुला विभा-
गार्थम् उपादीयन्ते, किन्तर्हि,—अभ्युदितस्य हविषो विभाग
उच्यते, अभ्युदयेन अपराधस्य—इति। कथम् अवगम्यते?।
'यस्य अभ्युदियात्'—इतिविशेषप्रवणत्, सर्वस्यैव हि अप-
राधेन अभ्युदेति, अपराधस्य अकाले तद्वप्रष्टतिः। एवञ्च सति
न तद्वविः तण्डुलैः अक्षं विज्ञेष्टुम्। तस्मात् उपांशुयागस्यापि
विभागः, 'चेधा तण्डुलान् विभजेत्'—इति हि अनेन वाक्येन
देवतापनयः क्रियते, विधिर्हि अत्र 'विभजेत्'—इति (विभागं
कुर्यादित्यर्थः)। कथमिति?। विभागे विज्ञेष्टपराणि उत्तराणि
वाक्यानि,—इदमिदं च द्रव्यमस्यै देवतायै, इदमिदं च अस्यै—
इति। यस्य द्रव्यस्य विज्ञेष्टविभागो नास्ति, तस्यापि 'विभजेत्'
—इति सामान्यविभागः। तस्मात् यथैव इतरेषां विभागः,
एवम् उपांशुयाजस्यापि—इति। अथ वा उपांशुयाजद्रव्यात्

भा. पूर्वेण वाक्येनापनीता देवता, न तदपरेण वाक्येन देवतान्तरे संयोजितं। तस्मात् प्रह्वीयमेव तत्* ॥ (६।५।२ अ०) ॥

अभिरुपेऽप्यभ्युदयेऽधिकारवत् ॥

ख. निरुपे स्यात्तत्संयोगात् ॥ १२ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्मिन् एव उदाहरणे संबन्धः, किं यदि निरुपेऽभ्युदयोऽव-
गम्यते, तदाऽभ्युदितेऽपि, उत अनिरुपेऽपि?—इति। किं
प्राप्तम्?—‘निरुपेऽवगतेऽभ्युदितेऽपि स्यात्। कुतः?। ‘तत्-
संयोगात्’, निर्वापसंयोगो हि भवति,—‘यस्य हविर्निरुपेऽव-
गतेऽपि—इति। तस्मात् अनिरुपे नैतत् विधानम्—इति ॥

घ. प्रवृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य ॥ १३ ॥ (सि०) ॥

भा. वाङ्मदः पक्षं व्यावर्तयति। अकाले तदप्रवृत्तिमात्रे स्यात्
एतद्विधानं, प्राप्तं हि तावत्येव निमित्तं,—‘यस्य हविः—
अभ्युदेति’—इति, हविर्यद्दृष्टं लक्षणत्वेन, ‘यस्य हविः—
अभ्युदेति’—इति हविर्विच्छित उदयो निमित्तं, प्रवृत्तं हवि-
र्विच्छयति, न उदासीनम्; तस्मात् ‘हविः अभ्युदेति’—इत्यु-
च्यमाने प्रवृत्तं हविः अभ्युदेति—इति गम्यते; न हि तत्
निरुपेऽवगतेन शक्यं विशेषयितुम्, भिद्येत हि तदा वाक्यं,
—‘यस्य हविर्निरुपेऽवगतेऽपि, न अनिरुपेऽवगतेऽपि—इत्येवमपेक्ष्यमाणे हविः
अभ्युदेति—इति न शक्यते विधातुम्। तस्मात् अनिरुपेऽवगतेऽपि
हविः—इति ॥

* “उपांशुयागः पौर्षमास्यामेव नामावास्यायामिति वक्ष्यामः, न चेवं कृत्वा-चिन्नेति
दृष्टिकारोऽभिसूचति, अधिकारकारश्चो न युज्यते, युज्यते वा वदुःप्रमाणात् स्पष्टेन वाक्येन
विहितत्वात् उपांशुयागस्य, कथं तर्हि दाम्भिकस्य, अनपेक्ष्यत्वं न्यायमात्रमेतत्” इति
वार्तिकं, “ननु उपांशुयागस्य दर्शं प्रसङ्गिरेव मासि, तत् कुतो देवतापनयो लोपो वेति
चेत्, एवं तर्हि कृत्वा-चिन्नास्तु” इति न्यायमात्रात् च अत्रानुसन्धेया ॥

स. लक्षणमाचमितरत् ॥ १४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—निवृत्तसंयोगो भवति, 'यस्य हविर्निवृत्तम्'—
इति, लक्षणमाचमितत् 'निवृत्तम्'—इति, कस्मिंश्चित् पदार्थे
तस्य प्रवृत्ते—इत्यर्थः ॥

स. तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ १५ ॥ (यु०) ॥

भा. अन्यार्थोऽपि च एतमर्थं दर्शयति, 'स यद्यगृहीतं हवि-
रभ्युदियात्, प्रज्ञातमेव तदेषा व्रतचर्या, यत् पूर्व्वद्युर्दुग्धं दधि
हविरातश्चनं तत् कुर्वन्ति, प्रतिमुञ्चन्ति वत्सान्, तानेव तत्
पुनरपाकुर्वन्ति, तानपराञ्चे पर्णशाखया अपाकरोति, तत्
यथैवादः प्रज्ञातमामावास्यः हविरेवमेव तद्यद्यु व्रतचर्या वा
नोदाश्रमेत, गृहीतं वा हविरभ्युदियात् इतरथा तर्हि कुर्यात्,
एतानेव तण्डुलान् सहात्फलीकृतान्—इति, अगृहीते* हविषि
अन्यं विधिं ब्रुवन् गृहीतेऽभ्युदये वाऽभ्युदये प्रायश्चित्तं
दर्शयति ॥ (६।५।३ अ०) ॥

अनिवृत्तेऽभ्युदये वैद्यतोभ्यो निर्वापाधिकरणम् ॥

स. अनिवृत्तेऽभ्युदिते प्राकृतीभ्यो निर्वपेदित्याश्मरथ्य-
स्तण्डुलभूतेष्वपनयात् ॥ १६ ॥ (पू०) ॥

भा. प्रवृत्तमाचं निमित्तम्—इति स्थितम्। नैमित्तिकस्तु देवता-
पनयो देवतान्तरसंयोगश्च, किं निर्वापोत्तरकालं तण्डुलावस्थे
इतिषि कर्त्तव्यो निर्वापस्तु प्राञ्छतीभ्य एव स्यात्, ज्ञातेऽभ्युदये ;
उत वैद्यतोभ्य एव?—इति संशयः। किं तावत् प्राप्तम्?—

* गृहीते इति का० क्री० पु० पाठः ॥

भा. 'अनिरुप्तेऽभ्युदिते प्राज्ञतीभ्यो निर्वपेत्—इत्याश्मरद्वयः' आचार्यो मन्थते स्म । कुतः ? । 'तण्डुलभूतेषु अपनयात्', तण्डुलभूतेषु अपनयः श्रूयते, 'यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्तात् चक्रमा अभ्युदेति चेधा तण्डुलान् विभजेत्'—इत्यभ्युदयावगमात्* अनन्तरं तण्डुलविभागम् आह, सोऽतण्डुलभूतेषु न अवकल्पते । तस्मात् अनिरुप्ते तण्डुलाभावादनपनीता देवताः प्राज्ञत्यः—इति प्राज्ञतीभ्य एव निर्वपेत्—इति ॥

स. श्रुद्धिभागभ्यस्त्वाखेखनस्तत्कारित्वाद्देवतापनयस्य ॥
१७ ॥ (सि०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । श्रुद्धं या भवन्ते कर्म, ताभ्यो निर्वपेत्—इति 'आखेखनः' आचार्यो मन्थते स्म । कुतः ? । तत्कारित्वात् देवतापनयस्य', यस्मात् अकाखे तत्रप्रवृत्तिकारितो देवतापनयः, तस्मात् अपनीता देवता—इति श्रुद्धिभागभ्यो निर्वपेत् ॥ (६।५।४ अ०) ॥

किञ्चिन्निरुप्तेऽभ्युदयेऽवग्रहितस्य दृष्टीर्निर्वापाधिकरणम् ॥

स. विनिरुप्ते न मुष्टीनामपनयस्तद्गुणत्वात् ॥ १८ ॥
(१म पू०) ॥

भा. अथ प्रारब्धे चतुर्मुष्टिनिर्वापे अपरिसमाप्ते भवति संज्ञयः, यत् निरुप्तं तत् निरुप्तमेव, अवशिष्टं किं प्राज्ञतीभ्यो निर्वपेत्, किं वैज्ञतीभ्यः, उत तूष्णोमेव ?—इति । किं प्राप्तम्?—'विनिरुप्ते' (सामिनिरुप्ते—इत्यर्थः) न तत्र देवतापनयः स्यात् । कुतः ? । 'तद्गुणत्वात्', निर्वापस्य गुणो देवता, न मुष्टीनाम्,

* चक्रमा इति चा० सो० पु० पाठः ॥

भा. स च निर्वापः तद्देवताकः । कुतः ? । चतुःसङ्ख्यापूरणार्थत्वात् अभ्यासमात्रं कर्तव्यं, तच्च अभ्यासमात्रं पुनः क्रियते, पूर्वमेव ह्यते तस्मिन् निर्वापे न देवता अपनीता । स एव अयं पुनः क्रियते, पुनरपि क्रियमानस्य अनपनीतैव देवता भवितुमर्हति — इति प्राहृतीभ्य एव निर्वापश्च, न च उत्तरो मुष्टिः पृथक् पदार्थो, येन देवतापनयो भवेत्, ह्यतस्य निर्वापस्य सङ्ख्या-पूरणम् एतत् क्रियते । तस्मात् अनपनयः—इति ॥

सू. अप्राकृतेन हि संयोगः तत्स्थानीयत्वात् ॥ १९ ॥
(२य पू०) ॥

भा. न प्राहृतीभ्योः निर्वापश्च, काम्यस्तर्हि वैहृतीभ्यः । कुतः ? । 'अप्राकृतेन' देवताविशेषेण संयोगः श्रूयते, न अधिहृतेन,— 'त्रेधा तण्डुलान् विभजेत्'—इति प्राहृतीभ्य आच्छिद्य वैहृती-भ्यो निर्वापश्चो विधीयते, ता इदानीं तत्स्थानीयाः । तस्मात् विनिश्चे निवृत्ता देवता अन्याः, अन्याश्चोपजाताः । तस्मात् वैहृतीनाम् संयोगेन निर्वापश्चः कर्तव्यः—इति ॥

सू. अभावाच्चेतरस्य स्यात् ॥ २० ॥ (सि०) ॥

भा. अभावात् इतरस्यार्हस्य* देवतासंयुक्तस्य, न निर्वापो भवति देवतासंयुक्तः, यदि निर्वापोऽर्हं अन्यदेवत्योऽर्होऽप्यन्यस्यै देव-तायै, नैव निर्वाप इतरदेवताको वा इतरदेवताको वा ; तस्मात् तूष्णीमेव निर्वापश्चम्, अवश्यम् अन्यतरत्र सङ्कल्पभेदो भवति ॥ (६।५।५ अ०) ॥

* इतरस्यार्हस्य इति का० क्री० पु० पाठः ॥

सन्नयदसन्नयदुभयसौवाभ्युदये प्रायश्चित्ताधिकरणम् ॥

स्र. साम्नाय्यसंयोगान्नासन्नयतः स्यात् ॥ २१ ॥ (पू०) ॥

भा. अभ्युद्धितेष्टिरेव उदाहरणम् । तत्र श्रूयते,—‘दधनि चरम्, ऋते चरम्—इति । तत्र सन्देहः,—किं सन्नयतो भवति अभ्युदये प्रायश्चित्तम्, उत अविज्ञेयेण?—इति । किं प्राप्तम्?—‘सन्नयतः’ अभ्युदये प्रायश्चित्तम् । कुतः? । ‘साम्नाय्यसंयोगात्’, साम्नाय्यसंयोगो हि भवति, ‘ऋते चरम्, दधनि चरम्—इति, ऋताद्यभावात्, न असन्नयतो भवितुमर्हति, वैगुण्यं हि तथा स्यात् ॥

स्र. औषधसंयोगाद्दोभयोः ॥ २२ ॥ (सि०) ॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । ‘उभयोः’ अपि स्यात्, न केवलस्य सन्नयतः, ‘औषधसंयोगात्’, ‘ये मध्यमा ये स्थविष्ठा ये क्षोदिष्ठाः’—इति भवति औषधसंयोगः, स च ऋण्योऽसन्नयतापि—इति । तस्मात् न असति कारणेऽसन्नयतो निवर्त्तत, उभयो-रपि पक्षयोः प्रायश्चित्तम्—इति ॥

स्र. वैगुण्यान्नेति चेत् ॥ २३ ॥ (आ०) ॥

भा. इति यदुक्तं,—असन्नयतो दध्नः ऋतस्य च अभावात्तदधि-करणता नास्ति । तस्मात् वैगुण्यं तस्मिन् पक्षे—इति, तत् परिहर्त्तव्यम्—इति ॥

स्र. नातत्संस्कारत्वात् ॥ २४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतद्देवं, न हि दधि अधिकरणस्यरोः अपणे श्रूयते, किन्तु यथा* स्थविष्ठा इन्द्राय प्रदाते, एवं दध्नि देवतासम्बन्धार्थं

* अत्र यथेति, परत्र एवमिति पाठो आ० सो० एवं क० सं० पृथक्के नास्ति ॥

भा. विधीयते, न चषसम्बन्धार्थम्—इति, भिद्येत हि तथा वाक्यं,
—स्थविष्ठा देवतायै, दधनि च ते कर्त्तव्याः—इति; सप्तमी-
संयोगस्तु प्राप्तेर्ध्वेनुवादः। तस्मात् अविबक्षितं तेषां साहित्यं,
लक्षणत्वेन हि ते श्रूयन्ते—इति, न हि पयो दधि च नास्ति
—इति स्थविष्ठानाम् न देवतापनयो भवति, असन्नयतोऽपि
अर्थात् आप्तु अपयिष्यते—इति ॥ (६।५।६ अ०) ॥

सचाय प्रहसमाचस्य विश्वजिदधिकरणम् ॥

घ. साम्युत्थाने विश्वजित्क्रीते विभागसंयोगात् ॥
२५ ॥ (पू०) ॥

भा. इदमामन्ति, 'यदि सचाय दीक्षिता अथ साभ्युत्तिष्ठेरन्,*
सोममपभज्य विश्वजिता अतिरात्रेण सर्वस्तोमेन सर्वपृष्ठेन
सर्ववेदसदक्षिणेन यजेरन्'—इति। तत्र सन्देहः,—किं क्रीत-
राजकस्योत्थाने विश्वजित्, उत प्रहसमाचस्य?—इति। किं
प्राप्तम्?—'साभ्युत्थाने विश्वजित् क्रीते'† स्यात्। कुतः?
'विभागसंयोगात्',—'सोममपभज्य विश्वजिता यजेरन्'—इति,
ये हि अक्रीते राजनि उत्तिष्ठन्ति, तेषां सोमविभागाभावात्
वैगुण्यं स्यात्। तस्मात् क्रीतराजका उत्तिष्ठन्तो विश्वजितं
कुर्युः ॥

छ. प्रहृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य ॥ २६ ॥ (सि०) ॥

भा. वाङ्मदः पक्षं व्यावर्त्तयति। प्रहृत्तमाचस्य उत्थाने स्यात्,
कुतः?। 'प्रापणात् निमित्तस्य', साम्युत्थानं निमित्तं विश्वजितः,

* साभ्युत्तिष्ठासेरन् इति का० क्री० पु० पाठः। एवं तत्र अथेति पाठो नास्ति ॥

† अत्र सोमे इत्यधिकः पाठः का० क्री० पु० ॥

भा. तच्च प्राप्तं, न च तच्छक्यं विशेषयितुम्,—क्रीते सोमे साम्युत्थानम्
—इति ॥

घ. आदेशार्थेतरा श्रुतिः ॥ २७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—अक्रीते राजन्युत्तिष्ठतो विभागाभावात्
विगुणं कुर्युः—इति, तत्परिहर्तव्यम्; अथ उच्यते,—न विभागो
विधीयते, भिद्येत हि तथा वाक्यं,—साम्युत्थाने विश्वजिता
यजेरन्, सोमस्य तु अपभागं ह्यत्वेति; तेन 'अपमज्ज्य'—इति
अनुवादः। कथम् प्राप्तिः?—इति चेत्। अर्थात् उत्तिष्ठतां
विभागो भवति धनस्य, सोम्यं सर्वद्रव्याणाम् विभागः सोम-
विभागेन लक्ष्यते,—सोमं विभज्यान्थानि च द्रव्याणि—इति
आदेशार्था इतरा श्रुतिर्भवति। तस्मात् क्रीते च अक्रीते च
राजनि उत्तिष्ठतां विश्वजित्—इति ॥ (६।५।७ अ०) ॥

दीक्षापरिमाणस्य द्वादशाहननियमाधिकरणम् ॥

घ. दीक्षापरिमाणे यथाकाम्यविशेषात्* ॥ २८ ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमं प्रहृत्य श्रूयते,—'एका दीक्षा तिस्र उपसदः
पञ्चमीं प्रसृतः'—इति 'तिस्रो दीक्षाः' 'द्वादश दीक्षाः'—इति
बह्वनि दीक्षापरिमाणानि आग्नातानि। तेषु सन्देहः,—किम्
अनियमो,—यदा तदा परिमाणम् उपादेयम्; उत द्वादश
दीक्षाः?—इति। किं प्राप्तम्?—'दीक्षापरिमाणे यथाकामी'
स्यात्, नास्ति नियमः। कुतः?। 'अविशेषात्', न कश्चन

* अथ "अत्रायुक्तः सिद्धान्तो वर्जितः" इत्यादिना "तस्मादियमेवावधारणा, दीक्षा
परिमाणे यथाकामीति सिद्धान्तसूत्रम्" इत्यन्तेन सन्दर्भेन वार्तिककृता सूत्राभिप्राय-
मन्यथा व्याख्याय भाष्यव्याख्यानं मान्यमेति। एतमेवाधिकरणं द्विषा विभक्त्य न्याय-
माहात्म्याधिकरणस्यैव प्रादर्शितं। ततश्च भाष्यन्यायमाहात्म्ययोः अधिकरणसङ्ग्राहार्थं
वाचि ॥

भा. विशेष उपादीयते। तस्मात् यत्किञ्चित् परिमाणम् उपादेयम्—इति ॥

ख. द्वादशाहस्तु लिङ्गात् स्यात् ॥ २९ ॥ (सि०) ॥

भा. 'द्वादशाहः' एव परिमाणम् उपादीयेत। कुतः?। 'लिङ्गात्' (सामर्थ्यात्—इत्यर्थः)। किं सामर्थ्यं?। 'द्वादश रात्रीर्दीक्षितो भृतिं वन्धीत'*—इति नित्यवदाग्नायते, न पाक्षिकं; तदेव नित्यं कुर्वन्, न ज्ञोति अन्यत्परिमाणम् उपादातुम्। तस्मात् द्वादशाहः एव परिमाणं नियम्येत, अन्यानि परिमाणानि विहातौ भविष्यन्तीति न एषाम् आनर्थक्यम्—इति ॥ (६।५। ८ अ०) ॥

गवामयने माघपौर्णमास्या पुरस्तादीचाधिकरणम् ॥

ख. पौर्णमास्यामनियमोऽविशेषात् ॥ ३० ॥ (१म पू०) ॥

भा. गवामयने श्रूयते,—'पुरस्तात् पौर्णमास्याश्चतुरहे दीक्षेरन्'—इति। तत्र सन्देहः,—कस्याः पौर्णमास्याः?—इति। किं प्राप्तम्?—'पौर्णमास्याम्—अनियमः'—इति। कुतः?। 'अविशेषात्', न अपि कश्चित् विशेषवचनः शब्दः उपादीयते ॥

ख. आनन्तर्यात् तु चैत्री स्यात् ॥ ३१ ॥ (२य पू०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतत्,—अनियमः—इति, 'चैत्री' पौर्णमासी तु भवेत्। कुतः?। 'आनन्तर्यात्', पौर्णमासीम् उक्त्वा अनन्तरं वाक्यश्रेषे चैत्री सङ्कीर्त्यते, 'पुरस्तात् पौर्णमास्याश्चतुरहे दीक्षेरन् षट्पुमुखं वा एषा पौर्णमासी सम्बत्स-

* "यज्ञार्थं याज्ञया द्रव्यसम्पादनं भक्तिवचनम्" इति माघः ॥

भा. रस्य, या चैषी पौर्णमासी—इति । अत्र “सन्दिग्धेषु वाक्य-
शेषात्” (१।४।२६ सू०)—इति चैषी नियम्येत ॥

सू. माघी वैकाष्टकाश्रुतेः ॥ ३२ ॥ (सि०) ॥

भा. वाञ्छदः पक्षं व्यावर्त्तयति । न चैतत् अस्ति चैषी—इति,
किन्तुहि?—‘माघी’—इति । कुतः?। ‘एकाष्टकाश्रुतेः’, क्रये
हि एकाष्टकाश्रुतिर्भवति, तेषाम् ‘एकाष्टकायां क्रयः सम्पद्यते’
—इति । तस्मात् माघ्याः पुरस्तात् चतुरष्टे दीक्षितस्य
एकाष्टकायां क्रयः शक्यते कर्तुम्, न चैष्याः; तदेतत् सामर्थ्यं
नाम खिङ्गं, तत् वाक्यस्य बाधकं भवति । तस्मात् माघी पौर्ण-
मासी—इति ॥

सू. अन्या अपीति चेत् ॥ ३३ ॥ (आ०) ॥

भा. इति चेत् पश्यसि,—माघी पौर्णमासी, एवम् एकाष्टकायां
क्रयः सम्पत्स्यते—इति; तत् न, अस्मात् अष्टम्य एकाष्टकाः,
‘षाड्भ्य एकाष्टकाः’—इति, तेन न दोषः ॥

सू. न भक्तित्वाद्देशा हि लोके ॥ ३४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवं, भाक्तो हि अन्यासु अष्टमीषु एकाष्टकाश्रुतः; एषा
हि मुख्या, या माघ्यां वृत्तायां; मुख्यगौणयोश्च मुखेण सम्प्रत्ययः;
तस्मात् माघेव पौर्णमासी—इति ॥

सू. दीक्षापराधे चानुग्रहात् ॥ ३५ ॥ (यु० १) ॥

भा. ‘एकाष्टकायां दीक्षेरन्, एषा वै सम्बत्सरस्य पत्नी, यत्
एकाष्टका’ इत्युक्त्वा पुनः, चतुरष्टे पुरस्तात् पौर्णमास्या दीक्षां
विधाय ‘तेषाम् एकाष्टकायां क्रयः सम्पद्यते, तेनैकाष्टकां

भा. नष्टवट्* कुर्वन्ति—इति, दीक्षातः प्रचुरताम् एकाष्टकां क्रयेण तु गृह्णन् माघ्याः पौर्णमास्याः अधिकारं दर्शयति। अस्याच्च माघ्याम् अष्टम्यामभीज्यमानायां भवति मघः, 'यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रौ धेनुमिवायतीं, सम्बत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली—इति अष्टकायै सुराधसे स्वाहा'—इति, याःसौ माघ्यष्टमी, ताम् एकाष्टकां दर्शयति ॥

स. उत्थाने चानुप्ररोहात् ॥ ३६ ॥ (यु० २) ॥

भा. 'उत्थाने च' अनुप्ररोहं दर्शयति, 'तान् उत्तिष्ठत औषधयो वनस्पतयोऽनूत्तिष्ठन्ति'—इति वसन्ते उत्थानं दर्शयति, तस्मिन् औषधयो वनस्पतयश्च उत्तिष्ठन्ति। तस्मादपि सा नियम्यते ॥

स. अस्यां च सर्व्वलिङ्गानि ॥ ३७ ॥ (यु० ३) ॥

भा. 'आर्त्तं वा एते सम्बत्सरस्याभिदीक्षन्ते, य एकाष्टकायां दीक्षन्ते—इति, आर्त्ता यस्मिन् काले भवन्ति, स आर्त्तः कालः, शीतेन च आर्त्ता भवन्ति। तस्मात् माघ्यष्टमी एकाष्टका—इति। तथा, 'द्यस्तं वा एते सम्बत्सरस्याभिदीक्षन्ते, य एकाष्टकायां दीक्षन्ते'—इति, अयनपरिवृत्तिर्द्यस्तशब्देन उच्यते। तथा 'अपो नाभिनन्दन्तोऽभ्यवेयुः'—इति चैत्र्यां दीक्षिता अभिनन्दन्तोऽभ्यवेयुः। तस्मादपि माघी पौर्णमासी—इति ॥ (६।५।९ अ०) ॥

* नष्टवट् समीचीनाभिक्ति क० सं० पुस्तके टीका वर्तते ॥

दीक्षात्कर्षे तद्विद्यमानामप्युत्कर्षाधिकारणम् ॥

ख. दीक्षाकालस्य शिष्टत्वादतिक्रमे नियतानामनुत्कर्षः
प्राप्तकालत्वात् ॥ ३८ ॥

भा. इदम् श्रूयते,—‘तस्मात् दीक्षितो न ददाति न पचति न जुहोति’—इति ज्योतिष्टोमे समामनन्ति; यदि तु दैवात् मानुषात् वा प्रतिबलात् दीक्षाकाल उत्हाप्यते, तत्र सन्देहः,— किं दानहोमपाकानाम् उत्कर्षः, उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—‘अनुत्कर्षः’, नियता हि दान-होम-पाकाः, ‘यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहोति’—इत्येवमादिभिः श्रुतिभिः तेषामपवादो,— येष्वहःसु साङ्गो ज्योतिष्टोमो विहितः, तावन्ति अहानि मुञ्जा अन्येषु अहसु कर्त्तव्याः, ज्योतिष्टोम-विधानकालात् परतो-ऽप्रतिषिद्धाः। तस्मात् कर्त्तव्याः, प्राप्तो हि तेषां कालः—इति ॥

ख. उत्कर्षो वा दीक्षितत्वादविशिष्टं हि कारणम् ॥
३९ ॥ (सि०) ॥

भा. वाङ्मदात् पक्षो विपरिवर्त्तते। यदुक्तम्,—नैषाम् उत्कर्षः— इति, नैतदेवम्; उत्हाप्यथाः। कुतः?। ‘दीक्षितत्वात्’, दीक्षितस्य ते प्रतिषिद्धाः, न दीक्षितो यस्मिन् काले; लक्षणा हि एवं स्यात्, यथा तु वयं ब्रूमः, तथा श्रुतिः कारणम्; प्राक् च अवमृथात्, अयं दीक्षित एव; अविशिष्टं हि कारणम्, यत् एव ज्योतिष्टोमविधानकाले, तदेव अतिक्रान्तेऽपि; उभयत्र हि दीक्षितत्वं हि कारणम्। तस्मात् तेषाम् उत्कर्षः—इति ॥ (६। ५। १० अ०) ॥

ज्योतिष्टोमोत्कर्षे प्रतिहोमाननुष्ठानाधिकरणम् ॥

स. तत्र प्रतिहोमो न विद्यते, यथा पूर्वेषाम् ॥ ४० ॥

भा. तत्र उत्हाय्यमाणे ज्योतिष्टोमे*, अहतेषु होमेषु किं परिसङ्ख्याय होमाः कर्त्तव्याः, उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—परिसङ्ख्याय होमाः क्रियेरन् । किंकारणम्? । अवश्यकर्त्तव्यतया हि ते विहिता होमाः, अतिपन्ना अपि कर्त्तव्या एव, तथा हि एषाम् अवश्यकर्त्तव्यता अनुगृहीता भविष्यति, प्रधानमात्रं तु नियतं, न अत्र कालानुरोधः कर्त्तव्यः, नदीवेगस्थानीयत्वात् । यद्यपि अतिक्रान्ताः कालाः, अतिक्रान्तानाम् परिसङ्ख्याय प्रधानमात्राणि कर्त्तव्यानि, यथा अवश्यकर्त्तव्यं भुक्तिभृतकदानादि, यत् अतिक्रान्तं भवति, तत् परिसङ्ख्याय क्रियते, एवमिदम् अपि—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘तत्र प्रतिहोमो न विद्यते, यथा पूर्वेषां’, कर्त्तव्यम् अहत्वा कुर्यात्, न अकर्त्तव्यम्; अकर्त्तव्याश्च एते, प्रतिषिद्धत्वात्, ‘यथा पूर्वेषां’, असति कालातिक्रमे अहतानाम् न प्रतिहोमः, एवम् एषामपि—इति ॥

स. कालप्राधान्याच्च ॥ ४१ ॥ (यु०) ॥

भा. कालप्राधान्यं च भवति, निमित्तत्वेन तस्य श्रुतत्वात्, तदभावे विहितमेव न भवति, प्रधानमात्रं यद्यपि नियम्येत, तथापि निमित्ते काले; स च नदीवेगस्थानीयः कालोऽतिक्रान्तः, अतो न प्रतिहोमः कर्त्तव्यः—इति ॥ (६।५।११ अ०) ॥

* ज्योतिष्टोमकाले इति का० क्रौ० पु० पाठः ॥

उदवसानीयोत्कर्षेऽपि प्रतिहोमाननुष्ठानाधिकरणम् ॥

स. प्रतिषेधाच्चोर्द्धमवभृथादेष्टेः ॥ ४२ ॥

भा. उर्द्धमवभृथात् आ उदवसानीयाया इष्टेर्ये होमाः, तेष्व्यति-
पक्षेस्तु दैवेन मानुषेण वा प्रतिबलेन भवति संशयः,—किं प्रति-
होमः कर्त्तव्यः, उत न?—इति । किं प्राप्तम्?—कर्त्तव्यः—इति,
उन्मुक्तदीप्तो हि स तदा भवति, दीक्षाणाम् उन्मोचनार्थो हि
अवभृथः; तस्मात् कर्त्तव्याः, ते न कृताः—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘उर्द्धम् अवभृथात्’, आ उदवसानीयाया
‘इष्टेः’, अतिपक्षानाम् न प्रतिहोमः स्यात् । कुतः? । ‘प्रति-
षेधात्’, प्रतिषेधो हि भवति, ‘एतया पुनराधेयसंस्क्रियया इच्छ्या
अग्निहोत्रं होतव्यम्’—इति, प्रागुदवसानीयायाः, होमस्य
प्रतिषेधः, यावत् उदवसानीया उत्कृष्यते, तावत् प्रतिषेधः;
एवं श्रुतिः, इतरथा लक्षणा स्यात् । तस्मात् अकर्त्तव्याः, ते न
कृताः—इति, न स्यात् प्रतिहोमः—इति ॥ (६।५।१२ अ०) ॥

प्रतिहोमे सायमग्निहोत्रप्रभृत्यारम्भाधिकरणम् ॥

स. प्रतिहोमश्चेत् सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि ह्ये-
रन् ॥ ४३ ॥

भा. एतेषु एव उदाहरणेषु भवति संशयः, किं प्रतिहोमे
सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि आरभ्येरन्,* उत प्रातः अग्निहोत्र-
प्रभृतीनि?—इति । ‘ननु नास्त्येव प्रतिहोमः—इति स्थितम् ।
उच्यते,—अस्ति—इति कृत्वा चिन्तयामः । कृत्वा-चिन्तयम्,
अन्येषु सदृशान्यायेषु उदाहरणेषु अस्याः प्रयोजनम् अस्ति—

* ह्येरन् इति का० ग्री० पु० पाठः ॥

भा. इति चिन्तयते । किं प्राप्तम्?—अनियमः, अर्थशतत्वात् । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—यदि प्रतिहोमः क्रियते, सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि ह्येयेरन् । कुतः? । सायमग्निहोत्रादारभ्य अतिपन्नानि, तेनैवानुपूर्वेण प्रतिहोतव्यानि—इति ॥ (६।५।१३ अ०) ॥

षोडशिसंस्थे प्रातरग्निहोत्रप्रभृत्यनुष्ठानाधिकरणम् ॥

स. प्रातस्तु घोरशिनि ॥ ४४ ॥

भा. षोडशिसंस्थे होमेऽतिपन्नेषु होमेषु सन्देहः,—किं सायमग्निहोत्रेण—इति, उत प्रातः*?—इति । किं प्राप्तम्?—सायमग्निहोत्रेणेति पूर्वस्मिन् अधिकरणे उक्तम्, उत्सर्गेण सर्वत्रैवम्—इति प्राप्तम् । तथा प्राप्ते उच्यते,—‘प्रातस्तु षोडशिनि’, षोडशिसंस्थे प्रातरग्निहोत्रादीनि अतिपन्नानि—इति प्रातरग्निहोत्रादेव समारभ्यानि—इति ॥ (६।५।१४ अ०) ॥

भेदनादिनिमित्तकहोमस्य दर्शपूर्णमासाङ्गताधिकरणम् ॥

स. प्रायश्चित्तमधिकारे सर्व्वत्र दोषसामान्यात् ॥ ४५ ॥
(पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते, ‘भिन्ने जुहोति क्लृप्ते जुहोति’—इति । तत्र किं दर्शपूर्णमासयोरेवैतत्,—भिन्ने क्लृप्ते च प्रायश्चित्तम् उत यत्र भिद्यते क्लृप्ति च?—इति । किं प्राप्तम्?

* “प्रातःसवने वहिःपवमानेन सोष्यसाणा ऋत्विजः शालायाः वहिःप्रसर्पन्ति, तदानीमेकस्य शृष्टतोऽन्यः इत्येवं पिपीलिकावत् पङ्कग्राकारेण गन्तव्यम् । तत्र पुरतो गन्तुः कच्छं गृहीत्वैव शृष्टतोऽन्यो गच्छेत् । एवं सति यदि प्रमादाद्गृह्णाता गृहीतं कच्छं मुञ्चेत्, तदा द्विषणामदत्त्वा प्रक्रान्तो यज्ञः समापनीयः । तं समाप्य पुनरपि स यज्ञः प्रयोक्तव्यः । तस्मिन् प्रयोगे पूर्वं यदिदित्तं ब्रथं तत् दद्यात् । यदा प्रतिहोता मुञ्चेत्, तदा तस्मिन्नेव प्रयोगे सर्व्वसं तद्यात्” इति न्यायमाह्यानुसन्धेया ॥

भा. — प्रकरणे यत् प्रायश्चित्तम् एवञ्जातीयकम् किञ्चित् उत्पन्नं, तत् सर्वत्र यत्र यत्र भिद्यते स्फन्दति वा, तत्र तत्र स्यात् । कस्मात्? 'दोषसामान्यात्', समानं निमित्तम् स्फन्दनम् भेदनम् वा, स एवात्र दोषः—इति अभिप्रेतम् । प्रकरणात् दर्शपूर्ण-मासयोः प्रायश्चित्तम्, वाक्यात् अन्यत्रापि, प्रकरणाच्च वाक्यं बलीयः । तस्मात् सर्वत्र स्फन्दे भिन्ने च प्रायश्चित्तम्—इति ॥

स. प्रकरणे वा शब्दहेतुत्वात् ॥ ४६ ॥ (सि० १) ॥

भा. 'प्रकरणे' एव भिन्ने स्फन्दे वा प्रायश्चित्तम् । कुतः? 'शब्द-हेतुत्वात्', तेन प्राज्ञतेन अर्थेन सहैकवाक्यता एषा होमानाम्, ततो होमवतो यागस्य प्रत्यायने प्रज्ञतो 'यजेत'—इति शब्दो हेतुः; एवं चेत् तदुपकारेणार्थवान् भविष्यति—इति, इतरथा विना वाक्येन, फलं कल्पयितव्यम् स्यात्, तस्मात् वाक्यं फला-भावेनैव बाधितम्—इति ज्ञत्वा प्रकरणम् अनुगृहीतव्यम्—इति ॥

स. अतद्विकारश्च ॥ ४७ ॥ (सि० २) ॥

भा. न च, 'तद्विकारः' अग्निहोत्रम् ज्योतिष्टोमो वा, न दर्शपूर्ण-मासविकारः, यदि तद्विकारो भवेत्, तत्रापि स्फन्दे भिन्ने वा प्रायश्चित्तम् स्यात्—इति ॥ (६।५।१५ अ०) ॥

व्यापन्नमन्व्याधिर्निर्वाधिकरणम् ॥

स. व्यापन्नस्यासु गतौ यद्भोज्यमार्याणां तत्
प्रतीयेत ॥ ४८ ॥

भा. 'व्यापन्नमस्तु प्रहरति'—इति श्रूयते । किं व्यापन्नम्—इत्युच्यते?—इति तदभिधीयते,—व्यापन्नं, दूषितं येन कार्येन

भा. क्रियते । किं तत् ? । यत् अभोज्यमार्याणाम्, केन्नकीटावपन्नम्
अन्येन वा उपघातेन उपहृतं, तदगपन्नम्—इति ॥ (६।५।
१६ अ०) ॥

अपच्छेदयोगपद्येऽपि प्रायश्चित्ताधिकारकम् ॥

सू. विभागश्रुतेः प्रायश्चित्तं यौगपद्ये न विद्यते ॥ ४९ ॥
(पू०) ॥

भा. प्रस्तोत्रुद्गाओरुद्गातृप्रतिहर्षावा यत्र अपच्छेदः, किं तत्र
प्रायश्चित्तम् स्यात्, न?—इति भवति संशयः । किं तावत्
प्राप्तम्?—‘प्रायश्चित्तम् यौगपद्ये न विद्यते’ । कुतः ? । ‘विभाग-
श्रुतेः’, विभक्तोऽपच्छेदे* प्रायश्चित्तमामनन्ति, अपच्छेदस्य अयम्
विभागः, स उभाभ्यां साध्यते, इह च एकेन साध्यमाने श्रूयते
प्रायश्चित्तम्, उद्गाथा प्रतिहर्षा वा । न च यदपरेण सह
क्रियते, तत् केवलेन हृतं भवति, यदि हि केवलेन हृतं स्यात्,
तेन हृतं, अपरः किं कुर्यात् ? । तस्मात् न युगपदपच्छिन्नयोः
प्रायश्चित्तम्—इति ॥

सू. स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वात्कालमात्रमेकम् ॥ ५० ॥
(सि०) ॥

भा. ‘स्यात् वा’ प्रायश्चित्तम् यौगपद्येऽपि, प्राप्तम् हि निमित्तम्
अपच्छेद उद्गातुः प्रतिहृतस्य । यत्र हि द्वयोः अपच्छेदः, तत्र
द्वावप्यपच्छिन्नौ, एकोऽप्यपरोऽपि ; संयुक्तस्य हि पृथग्भावो-
ऽपच्छेदः, स च उभयस्थोऽपि, एकेनापि तत्र अपच्छेदः क्रियते-
ऽनपेक्ष्य अपरम्, अपरेणापि । ‘कालमात्रम्’ तत्र ‘एकम्’, न

* अपच्छेद इति चा० सो० पु० पाठः ॥

भा. च कालेक्ष्मादपच्छेदयोः ऐक्यं भवति । तस्मात् प्रायश्चित्तम्
युगपदपच्छेदेऽपि ॥ (६।५।१७ अ०) ॥

दैन्यपक्षेऽदाक्षिण्य-सर्वसदाक्षिण्यविकल्पाधिकरणम् ॥

सू. तत्र विप्रतिषेधाद्विकल्पः स्यात् ॥ ५१ ॥ (सि०) ॥

भा. यद्युद्गातृप्रतिहर्त्राः युगपदपच्छेदो भवति, तत्र सन्देहः,—
किम् अदाक्षिण्यं, सर्वस्वं वा विकल्पः, उत समुच्चयः?—इति ।
किं प्राप्तम्?—‘तत्र विप्रतिषेधाद्विकल्पः स्यात्’, विषङ्गौ हि एतौ
कल्पौ, सर्वसमदाक्षिण्यं च; तस्मात् विकल्पो भवितुमर्हति ॥

सू. प्रयोगान्तरे वोभयानुग्रहः स्यात् ॥ ५२ ॥ (पू०) ॥

भा. वाङ्मदः पक्षं व्यावर्त्तयति । न च एतदस्ति,—विकल्पः—
इति, उभयोर्विधानात्, सर्वाङ्गोपसंहारी प्रयोगवचन एवम्
उपपद्यते । विकल्पे हि पक्षे बाधः, तस्मात् समुच्चयः । अथ
यदुक्तम्,—विरोधात् विकल्पः—इति । उच्यते,—‘प्रयोगान्तरे
वा उभयानुग्रहः स्यात्’, तेन पुनः ‘यजेत’—इत्युच्यते, द्विस्तस्य
प्रयोगः । तत्र एकस्मिन् प्रयोगे एकः कल्पः, अन्यस्मिन् अपरो
भविष्यति । एवम् अविरोधः । तस्मात् उभयं प्रायश्चित्तम्—
इति ॥

सू. न चैकसंयोगात् ॥ ५३ ॥ (उ०) ॥

भा. न च, एतदेवम् । कुतः? । ‘एकसंयोगात्’, स एव यागः पुनः
क्रियेत, यदि अन्यतरेण विना वैगुण्यम्—इत्यवधार्येत, सर्वस्य
क्रियमाणे अदाक्षिण्याभावात् विगुणः स्यात्; न अन्यस्मिन्
प्रयोगे क्रियमाणे अन्यः प्रयोगोऽनुगृह्यते, न च अदाक्षिण्यस्य

भा. सर्वस्वदानस्य च प्राधान्यं, गुणवता प्रयोगेण कर्म सम्बन्धयित्थम् । तस्मात् विकल्पः ॥ (६।५।१८ अ०) ॥

आनुपूर्व्येनापच्छेदे उत्तरापच्छेदनिमित्तप्रायश्चित्तानुष्ठानाधिकरञ्जम् ॥

स्र. पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत् ॥ ५४ ॥

भा. यत्र आनुपूर्व्येण भवत्यपच्छेदः, तत्र किं पूर्वनिमित्तं प्रायश्चित्तं, उत उत्तरनिमित्तम्?—इति भवति संशयः । किं प्राप्तम्?—पूर्वस्य बलीयस्त्वं, पुर्वापच्छेदे यत् नैमित्तिकं प्राप्तम्, तस्मिन् सति तद्विषयं न शक्यं कर्तुम्, न च अशक्यम् उपदेशाच्च भवति, पूर्वविज्ञानं प्राप्तम्—इति न संशयः । तस्मात् तद्विरोधेन अन्यत् कार्यं न विषयम् । न तर्हि तत् स्यात्? । यत्र केवलं निमित्तम् । तस्मात् पूर्वविज्ञानं बलवत् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं’ स्यात् । कुतः? । आख्यातेन हि योऽर्थः, कर्त्तव्यः—इत्युच्यते, तत्र एतदनुबद्धं यथा शक्येत, तथेति, तत् पूर्वविज्ञानबाधेन शक्यते, नान्यथा, तेन पूर्वविज्ञानं बाधित्वा इहं कर्त्तव्यम्—इति भवति शब्दार्थः ।

‘ननु पूर्वविज्ञाने इहम् उपपद्यते, यत् अग्यत् विरोधकं विज्ञानं भविष्यति, तत् ‘मिथ्या’—इति । अभूतं हि तत्र शक्यमाश्रयितुम्,—इदं नाम तत्—इति, न च, अप्रतिषिद्धे तस्मिन् न पूर्वविज्ञानं सम्भवति । तस्मात् अप्रतिषिद्धं भविष्यत्, यदा तु तत् भवति, तदा पूर्वविज्ञानं बाधमानमेव उत्पद्यते; तत् इदानीं बाधितं न शक्नोत्युत्तरं बाधितुम्—इति, ‘प्रकृतिवत्’, यत् हि प्राकृतं वैद्यतेन बाध्यते, तथापि एतदेव कारणं,—न अबाधित्वा पूर्वविज्ञानं वैद्यतं सम्भवति—इति, प्राकृतं च पूर्वं, यतो विद्यतौ तदपेक्षा ।

‘प्रत्यक्षत्वात् वैद्यतम् आनुमानिकं प्राकृतं बाधते’—इति

भा. चेत् । प्रत्यक्षत्वेऽपि सति नैव बाधेत, यदि यथावर्णितीभ्य-
माख्यातार्था न भवेत्, सति पूर्वविज्ञाने अत्रक्षत्वात् प्राप्तं
बाधेतैव । तस्मात् परबलीयस्त्वं न्यायमेव—इति ॥ (६। ५।
१६ अ०) ॥

उद्गातुरपरापञ्चेदःपि सर्वसदक्षिणादानाधिकरणम् ॥

ख. यद्युद्गाता जघन्यः स्यात् पुनर्यज्ञे सर्व्ववेदसन्दद्यात्
यथेतरस्मिन् ॥ ५५ ॥

भा. यदा प्रतिहर्तुः पूर्वमपञ्चेदः तत उद्गातुः, तत्र अदक्षिणेन
इद्वा पुनर्यष्टयम् । तत्र सन्देहः,—पुनर्यागे किं दादत्रभ्रतं
दातयम् उत सर्व्वसम्?—इति । किं प्राप्तम्?—दादत्रभ्रतम् ।
कुतः? । एवं हि आग्नायते, 'तत्र तत् दद्यात्, यत् पूर्वस्मिन्
दास्यन् स्यात्', पूर्वस्मिंश्च प्रयोगे ज्योतिष्टोमदक्षिणैव प्राप्ता ।
तस्मात् दादत्रभ्रतम्—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—तत्र 'पुनर्यज्ञे' सर्व्वे 'दद्यात्', 'यथा इतर-
स्मिन्' (पूर्वस्मिन् अहनि सर्व्वसम्) । 'कथम् तत्र सर्व्वसम्?—
इति चेत् । प्रतिहर्तुः अपञ्चेदात्, प्रतिहर्त्तरि अपञ्चिन्ने
दादत्रभ्रतं बाधित्वा सर्व्वस्वं दास्यन् भवति । 'ननु पूर्वस्मिन्
अहनि दादत्रभ्रतमप्यसौ दास्यन्नासीत्' । सत्यं, सर्व्वसदानेन
त उभयं प्रदत्तं भवति, तस्मात् तद्वैयं । 'ननु अर्वागपि
दादत्रभ्रतात् सर्व्वसम्' । नैतदेवम्, अधिज्ञते दादत्रभ्रते सर्व्वसम्
अप्यधिकं भवति । अपि च पूर्वस्मिन् अहनि नैव दादत्रभ्रतं
दास्यन् भवति—इति, एतावत् दास्यन्—इति उच्यते, यस्य
उत्तरकाले तावद्दानं भवति । न च, पूर्वस्मिन् अहनि दादत्र-
भ्रतं दीयते, तस्मात् न तद्दास्यन्—इत्यवगम्यते, मिथ्याबुद्धिः
सा, तत्त्वेन व्यवहारः ।

भा. 'ननु च सर्वस्वम् अपि प्रतिषिद्धं भवति, तदप्यसौ न दास्यन्निति, साग्न्यस्य मिथ्याबुद्धिः'। न—इत्याह, साग्न्यासस्य ज्योतिष्टोमस्य प्रयोगः, तत्र प्रथमप्रयोगे अदाक्षिण्यविरोधात् सर्वस्वम् बाध्यते, द्वितीयप्रयोगे तद्दानं चोद्यते; तत्र विरोधो नास्ति, तस्य एव यज्ञस्य स एव प्रयोगः, प्रतिहर्त्ता च तस्मिन् अपच्छिन्नः—इति दादश्रुतं बाधित्वा सर्वस्वमेव दास्यन् भवति। तस्मात् सर्वस्वम् तत्र देयम्—इति ॥ (६।५।२० अ०) ॥

अहर्गणेऽपच्छेदे न सर्वेषामावर्तनाधिकारसम् ॥

ख. अहर्गणो यस्मिन्नपच्छेदस्तदावर्त्तत कर्मपृथक्कात् ॥
५६ ॥

भा. अहर्गणे यदा भवति कस्मिंश्चिदहनि उद्गातुः अपच्छेदः, तदा सन्देहः,—किं ह्यत्सो अहर्गण आवर्त्तते, उत तदेव अहः? —इति। किं प्राप्तम्?—ह्यत्सोऽहर्गणः। कुतः?। अपरैरहोभिः विना, तदा विगुणं भवति, तस्मात् गण एवावर्त्तत—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'यस्मिन् अपच्छेदः', 'तत्' एव 'आवर्त्तत'। कुतः?। 'कर्मपृथक्कात्', पृथगेतानि कर्माणि, न अन्यत् अहः अन्यस्य गुणभूतं, इद्धा—इति च यागं परिसमाप्येति गम्यते, न साङ्गम्—इति; यान्यहरन्तराणि साहाय्येन उपकरिष्यन्ति, विद्यन्त एव तानि; अतः साहाय्यं करिष्यन्ति—इति। तस्मात् तदेवावर्त्तत ॥ (६।५।२१ अ०) ॥

इति श्रीवरखाभिनः क्षतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य
पञ्चमः पादः ॥

बध्ने अध्याये षष्ठः पादः ॥



सचे समानकल्पानाम् सहाधिकाराधिकारकम् ॥

स्र. सन्निपातेऽवैगुण्यात् प्रकृतित्वत्तुल्यकल्पा
यजेरन् ॥ १ ॥ (सि०) ॥

भा. सहाणि उदाहरणम्, 'सप्तदशावराः सचमासीरन् य एवं
विद्वांसः सचमासते य एवं विद्वांसः सचम् उपयन्ति'—इति । तत्र
सन्देहः,—किं समानकल्पानाम् भिन्नकल्पानाम् च सहाधिकारः,
उत समानकल्पानामेव?—इति । के पुनः समानकल्पाः?।
'राजन्याच्चिन्नधराश्ववसिष्ठवैन्यम्बुनकानाम्* कल्पकश्यपसङ्कृती-
नाम् नाराभंसो द्वितीयः प्रयाजः, तनूनपात् इतरेषाम्' । एवं
केचित् नाराभंसकल्पाः, केचित् तनूनपात्कल्पाः । तत्र किं
तावत् प्राप्तम्?—'सन्निपाते' बहूनाम् यजमानानाम् ये एव
तुल्यकल्पाः, त एव सच्चमासीरन् । कुतः?। 'अवैगुण्यात्',
इतरथा यस्य कल्पो नोपसंछ्रियेत, तस्य वैगुण्यं स्यात्, यथा
प्रकृतावेव विना साङ्गुण्येन, फलाभावः एवम् इहापि—इति ॥

स्र. वचनाद्वा शिरोवत् स्यात् ॥ २ ॥ (पू०) ॥

भा. वाङ्मन्दात् षष्ठो विपरिवर्तते । न च, एतदस्ति, भिन्न-
कल्पानाम् अनधिकारः—इति, तेऽप्यधिक्रियेरन् । कुतः?।
अविश्लेषेण सर्वेषां यजमानानाम् प्राप्तिः; न च भिन्नकल्पानाम्
प्रतिषेधः । 'ननु वैगुण्यं भिन्नकल्पानाम्' । अथ उच्यते,—

* अत्र वसिष्ठ इत्यत्र वशिष्ठ इति क० सं० पु० पाठः । एवं वैन्य इत्यत्र वैश्व इति
क० सं० द्वितीयपुस्तकपाठः ।

भा. 'वचनात्', सामान्यवचनेन भिन्नकल्पा अपि गृहीताः, तत्र 'ञिरोवत्' बाधः 'स्यात्', यथा, 'पुरुषशीर्षम् उपदधाति'—इति-वचनसामर्थ्यात् श्वञिरोवत् स्पर्शनं स्मृतिविमतिषिद्धम् अपि क्रियते, एवं इहापि। अथ वा, 'आञिरोवत्', यथा 'हृतपेये घृतवतो भवति'—इतिवचनात् व्रतदुहि निवृत्तायाम् अन्या-माञिरे* गां कल्पयन्ति। एवम् एतदपि वचनात् भविष्यति ॥

स. न वाऽनारभ्य-वादत्वात् ॥ ३ ॥ (उ०) ॥

भा. नैतदस्ति, यदुक्तं,—भिन्नकल्पानाम् अप्यधिकारः—इति, समानकल्पाः एव अधिक्त्रियेरन्। कुतः?। अवैगुण्यात्। अथ यदुक्तं,—वचनात् वैगुण्येनापि सेत्स्यति—इति; तन्न, 'अना-रभ्यवादत्वात्', तद्धि वचनात् प्रकल्प्यते, यस्मिन् अकल्प्यमाने वचनम् अनर्थकं भवति, यदि हि आरभ्य भिन्नकल्पान्, एतत् उच्यते, ततो वचनम् अनर्थकं भवति—इति भिन्नकल्पानामपि सचमभ्युपगम्येत, न तु आरभ्य भिन्नकल्पान्, एतत् उच्यते; समानकल्पेषु अर्थवत्ता अस्य वचनस्य भविष्यति। तस्मात् न भिन्नकल्पानाम् अधिकारः—इति ॥

स. स्याद्वा यज्ञार्थत्वादौदुम्बरीवत् ॥ ४ ॥ (आ०) ॥

भा. 'स्यात् वा' भिन्नकल्पानाम् अधिकारः। कुतः?। 'यज्ञार्थ-त्वात् कल्पस्य, वसिष्ठादीनाम् नाराञ्चकल्पो यज्ञस्य साधकः; स च यज्ञः सर्वेषां साधारणः, परकल्पेनापि सिद्धः सिद्धो भवति; यथा, 'यजमानेन सम्मायौदुम्बरीं परिवासयन्ति'—इति यस्य कस्यचित् परिमाणेन सिद्धो यज्ञोऽन्येषामपि सिद्धो भवति। 'उच्यते, ननु प्रयाजस्य वाक्येन पुरुषसम्बन्धः, स च प्रकरण-प्राप्तां यागार्थतां बाधिष्यते—इति'। न—इति ब्रूमः,—फलं

* वेदमन्त्रकारार्थं इति आञिरे तस्मिन् इति का० श्री० पु० टीका ।

भा. हि तदा कल्पयितव्यम् । 'ननु इतरथाभ्यवृष्टम् अवश्यं कल्पनीयम्' । तत्र उच्यते, सत्यं कल्पनीयं, प्रमाणेन तु प्रयोगवचनैकवाक्येन, द्वितीये तु पक्षे कल्पयित्वा शब्दं, तेनैकवाक्यता स्यात् । 'अथ उच्यते, क्वचित् समाग्नातेन सहैकवाक्यता भविष्यति' । तथापि अप्रकृतेन चर्वाहतेन च कल्प्यमाना प्रकृतकल्पनाया गुह्यतरा स्यात् ॥

स. न, तत्प्रधानत्वात् ॥ ५ ॥ (आ० नि० १) ॥

भा. नैतदेवम्, 'तत्प्रधानत्वात्', पुरुषार्था हि एष कल्पः । कथम्? वसिष्ठादीनाम् नाराञ्छंसे यज्ञाङ्गम्—इति, यच्च यस्य यज्ञाङ्गं, तेन सह फलदं कर्म तस्य भवति; तेनैवम् अभिसम्बन्धः क्रियते,—वसिष्ठानाम् नाराञ्छंसेन सहितं कर्म फलदं भवति—इति ॥

स. औदुम्बर्याः परार्थत्वात्कपालवत् ॥ ६ ॥
(आ० नि० २) ॥

भा. अथ यदुपवर्णितं, यथा औदुम्बरी तथेह—इति; पाराध्यम् औदुम्बर्याः, यजमानो गुणत्वेन शूयते । 'ननु तथापि प्रयोगवचनः पुरुषप्राधान्यं कुर्यात्' । नैषदोषः, एकेनापि यजमानेन सम्मिता च इयं सर्वेषां यजमानसम्मिता भवति, न तु इह एकस्य संगृहीते सर्वेषां संगृहीतः । तस्मात् 'औदुम्बर्याः' पारार्थ्यम्, 'कपालवत्', यथा, 'पुरोडाशकपालेन तुषा उपवपन्ति'—इति परार्थकपालेन तुषा उपवपन्त्याः—इत्युपादीयते, एवमेतदपि—इति ॥

स. अन्येनापीति चेत् ॥ ७ ॥ (आ०) ॥

भा. एवं 'चेत्' भवान् पश्यति,—यजमानेन सम्मानं, तत् प्रयो-

भा. जनं स्वेनान्येन वा यजमानेन—इति, तथा प्रयोगान्तरे यो यजमानः तेनापि सम्मानं प्राप्नोति ॥

ख. नैकत्वात्तस्य चानधिकारात् शब्दस्य चाविभक्त-
त्वात् ॥ ८ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अत्र उच्यते, न प्रयोगान्तरस्य यजमानः प्रसज्यते* । न तु यजमानशब्दे कश्चिद्विशेषः, यतो यजमानशब्दात् अथस्था स्यात्, किं तर्हि, एकत्वस्य विवक्षितत्वात्, न हाभ्यां बाज-मानानि कर्तव्यानि—इति न अन्य आनीयते । ‘आह, अन्य एव तर्हि सर्वथाजमानेषु भवतु’ । नैवं, कामिनं हि अधि-हृत्य, साकृत्स्य यागस्य वचनम् । यजमानशब्दस्याविभक्त इह श्रीदुग्धस्थाः सम्माने ; तस्मात् न अन्यो भविष्यति ॥

ख. सन्निपातात्तु निमित्तविघातः स्याद्बृहद्रथन्तरवद्वि-
भक्तशिष्टत्वात् वसिष्ठविर्यती ॥ ९ ॥ (आ०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यापत्तयति । ब्रह्मणु यजमानेषु ‘सन्निपातात्’, ‘निमित्तविघातः स्यात्’ । कुतः? । ‘विभक्तशिष्टत्वात्, वसिष्ठ-निर्वर्त्ये’ प्रयोगे नाराशंसो नैमित्तिकः ; अन्यस्मिन् तनूनपात् नैमित्तिकः, यत्र इदानीम् उभये कर्तारः सहाधीना, तत्र निर्दत्तिर्न केवलेन । तस्मात् न केवलः कर्ता ; न चेत् वसिष्ठः केवलः कर्ता, तस्मात् तन्निमित्तं तत्र न कर्तव्यम्, न च इतर-निमित्तम्, उभयोरप्यन्योन्येन विघातः, ‘बृहद्रथन्तरवत्’, तत् यथा, ‘बृहद्रथन्तरं पृष्ठं भवति’—इति न बृहत्साधनकं, न रथन्तरसाधनकम्—इति, नैव तत्र बृहत् निमित्तं भवति, न रथन्तरं वा । एवम् इहापि—इति ॥

* प्रसज्यते इति का० श्री० पु० पाठः ।

† वसिष्ठ इति आ० सो० पु० पाठः । ‡ साहाय्येन इति का० श्री० पु० पाठः ।

स. अपि वा कृत्स्नसंयोगादविघातः प्रतीयेत स्वामित्वेनाभिसम्बन्धात् ॥ १० ॥ (आ० नि० १) ॥

भा. 'अपि वा'—इति पक्षं व्यावर्त्तयति । कृत्स्नं प्रति केवलस्य कर्तृत्वेन संयोगो भवति, तस्मात् 'अविघातः' नैमित्तिकानाम् । कथम् पुनः कात्स्न्येन कर्त्तव्यत्वम्? । 'स्वामित्वेनाभिसम्बन्धात्', कर्म प्रति स्वामित्वेन केवलानाम् वसिष्ठादीनामभिसम्बन्धो भवति, कर्म पुरुषाणाम् उपकारकं, तद्धि एकैकस्य अङ्गोति फलं निर्वर्त्तयितुम् ; तस्मात् एकैकः कृत्स्नस्य कर्त्ता—इति तत् नैमित्तिकं सर्वं प्राप्नोति ; यथा, तुण्डमात्रे दीयताम्—इति, यद्यपि सा तुण्ड-डपित्थयोर्माता, तथापि तस्यै दीयते ; कात्स्न्येन हि तस्य सा माता भवति, न हि व्यासज्यते मातृत्वं ; तदत् इहापि द्रष्टव्यम् । तस्मात् असमानकल्पानाम् अनधिकारः ॥

स. साम्नोः कर्मदृष्ट्यैकदेशेन संयोगे गुणत्वेनाभिसम्बन्धः तस्मात्तत्र विघातः स्यात् ॥ ११ ॥ (आ० नि० २) ॥

भा. अथ यदुक्तं, दृष्टद्वयन्तरवत्—इति, तत्परिहरणीयम् । दृष्टद्वयन्तरयोः 'साम्नोः' नैमित्तिक—'कर्मदृष्ट्यैकदेशेन' संयोगो भवति, तत्र हि उभयोः साधकत्वं, न एकस्य । स्तोत्रैकदेशेन तु तत्र साम्नोः सम्बन्धः, न कृत्स्नेन स्तोत्रेण, गुणत्वेन हि तत्र साम् श्रूयते, स्तोत्रं प्राधान्येन । तस्मात् तत्र विघातः स्यात् ॥ (६।६।१ अ०) ॥

भिन्नकल्पयोरपि राज्ञः पुरोहितस्य च कुलाययज्ञेऽधिकाराधिकारश्च ॥

स. वचनात्तु द्विसंयोगस्तस्मादेकस्य पाणित्वम् ॥ १२ ॥
(पू०) ॥

भा. इदं समामनन्ति,—'एतेन राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ

भा. यजेयाताम्—इति । तत्र सन्देहः,—किं राज्ञो द्वौ पुरोहितौ यजेयातां, उत राजा च पुरोहितश्च?—इति । किं प्राप्तम्? —राज्ञो द्वौ पुरोहितौ—इति । कुतः?। पुरोहितशब्दात् परं द्विवचनं श्रूयते, तच्छब्दवाच्यस्य द्वित्वं शक्नोति वदितुम् । पुरोहितश्च तच्छब्दवाच्यः श्रुत्या, न राजा ; पुरोहितवचनः पुरोहितशब्दः ; लक्षणया युगपदधिकरणवचनतायां हि तत् भवति । ‘ननु एकस्य द्वौ पुरोहितौ न स्तः, ‘पुरोहितं वृणीत’—इति हि उपादीयमानस्य विवक्षितम् एकत्वम्—इति । उच्यते, ‘वचनात्’ एतत् भविष्यति, किं हि वचनं न कल्पयेत्? एतेनैव कारणेन द्वौ भविष्यतः, यथा वचनेन ‘अञ्जलिना जुहोति’—इत्येकस्यैव द्वौ पाणी भवतः, यद्यपि सद्यो प्राप्तः तथापि—इति ॥

सू. अर्थाभावात् नैवं स्यात् ॥ १३ ॥ (उ०) ॥

भा. तुशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते । ‘नैवं स्यात्’, द्वौ पुरोहितौ—इति । कुतः?। ‘अर्थाभावात्’, नैवायम् अर्थोऽस्ति,—द्वौ पुरोहितौ—इति, एकस्य राज्ञः एक एव पुरोहितः उपादेयत्वेन हि श्रूयते, ‘पुरोहितं करोति’—इति, एकत्वं विवक्षितम् । ‘ननु वचनात्—इत्युक्तम्’ । उच्यते, न तु वचनात् एतत् शक्यं, संस्कारनिमित्तत्वात् पुरोहितशब्दस्य, क्रियमाणोऽपि न पुरोहितः स्यात् ॥

सू. अर्थानाञ्च विभक्तत्वात् न तच्छ्रुतेन सम्बन्धः ॥ १४ ॥ (यु०) ॥

भा. अर्थानाञ्च विभक्तत्वं श्रूयते,—‘तेजःसंस्तवो ब्राह्मणस्य, वीर्य-संस्तवो राजन्यस्य’ । ताभ्यां वर्णाभ्यां तेन तेन फलेन सम्बन्धो-ऽनूद्यते । तस्मात् अपि न द्वौ पुरोहितौ—इति ॥

स. पाणोः प्रत्यङ्गभावादसम्बन्धः प्रतीयेत ॥ १५ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्, एतस्मात् एष कारणात् एकस्मैव पुरुषस्व द्वौ पाणी भवतः—इति; युक्तं तत्र, 'पाणोः प्रत्यङ्गभूतत्वात्, अङ्गलिं प्रत्यङ्गभूतो* दक्षिणस्य पाणोः सद्यः पाणिः, तेन विना अङ्गलिरेव न भवति, न हि द्वाभ्यां दक्षिणाभ्याम् अङ्गलिः—इति उच्यते, तस्मात् राजा च पुरोहितश्च स्यात्। 'ननु तत्र राजपुरोहितश्च राजपुरोहितश्च राजपुरोहितौ यजेयाताम्—इति। उच्यते,—न तौ सावुच्यकामौ भवतः, स राजा पुरोहितेन सङ्घैककार्षी भवति, न तु पुरोहितः पुरोहितेन; उभावपि तौ हि राजानम् अभिचरन्तौ पुरोहितौ—इत्युच्यते, न हि ताविच्छन्तौ,† संस्कारशब्दो हि पुरोहितः—इति। 'ननु लक्षणा भवति भवत्पक्षे'। उच्यते, अत्यभावे लक्षण्यापि व्यवहारो भवति, यथा, अग्नौ तिष्ठत्यवटे तिष्ठति—इति। तस्मात् राजा च पुरोहितश्च राजपुरोहितौ—इति ॥ (६। ६। २ अ०) ॥

सचे ब्राह्मणनाचक्ष्याधिकाराधिकरणम् ॥

स. सत्राणि सर्ववर्णानामविशेषात् ॥ १६ ॥ (पू०) ॥

भा. इह सत्राणि उदाहरणम्। 'य एवं विद्वांसः सत्रमासते, य एवं विद्वांसः सत्रम् उपयन्ति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं सत्राणि त्रयाणामपि वर्णानाम्, उत ब्राह्मणानाम् एव?—इति। किं ब्राह्मणम्?—'सत्राणि सर्ववर्णानाम् भवेयुः—इति।

* अङ्गलिं प्रत्यङ्गभूतो इति आ० सो० पु० पाठः।

† तामिच्छन्तौ इति का० क्री० पु० पाठः।

भा. कस्मात्?। 'अविज्ञेयात्', न हि कश्चिद्विज्ञेय आश्रीयते, अमीषां वर्षानाम् सचाणि भवन्ति, अमीषां न—इति । तस्मात् चयाणामपि वर्षानाम् अधिकारः—इति ॥

सू. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १७ ॥ (यु०) ॥

भा. इतश्च पश्यामः, चयाणाम् सचाणि—इति । कुतः?। 'लिङ्गदर्शनात्' । किं लिङ्गं भवति?। एवम् आह, 'वार्हङ्गिरं ब्राह्मणस्य ब्रह्मसाम कुर्यात्, पार्थुरश्यं राजन्यस्य रायोवाजीयं वैश्यस्य'—इति इह ब्राह्मे भवति वचनं ब्रह्मसामविधानपरम्, तस्मिन् राजन्यवैश्यानाम् दर्शनं भवति । तस्मात् अपि सर्ववर्षानाम् अधिकारः—इति ॥

सू. ब्राह्मणानां वेतरयोरात्विज्याभावात् ॥ १८ ॥
(सि०) ॥

भा. वाङ्महः पक्षं व्यावर्त्तयति । न च एतदस्ति, चयाणामपि वर्षानाम्—इति । किं तर्हि?—'ब्राह्मणानाम्' एव स्यात् । कुतः?। 'इतरयोरात्विज्याभावात्', इतरयोर्हि वर्षयोराजन्यवैश्वयोः आत्विज्यं प्रतिषिद्धं ; स्वमेव आत्विज्येन च विना विगुणत्वम् । तस्मात् ब्राह्मणानामेव स्यात् ॥

सू. वचनादिति चेत् ॥ १९ ॥ (आ०) ॥

भा. इति चेद् पश्यासि,—राजन्यवैश्वयोर्वैगुण्यमापद्यते—इति । 'वचनात्' यजमानाः सप्तः ऋत्विजो भविष्यन्ति, 'ये यजमानास्ते ऋत्विजः'—इति । के पुनर्व्यजमानाः?। ये तत्र फलं कामयमानाः सचकर्मणि प्रहृत्तास्ते राजन्या अपि वैश्या अपि, तेषाम् ऋत्तिकर्म विधीयते । 'तत्र एतत् स्यात्' येषाम् आत्विज्यं शक्यं कर्तुम्, तेषामेव तत् ब्राह्मणानाम् ; प्रतिषिद्धं

भा. हि राजन्यवैश्यानां, न तेषाम् इदम् आर्त्विज्यविधानमिति' ।
 नैतदेवं, यथैव ब्राह्मणानां यजमानानामप्राप्तं वचनविधानात्
 भवति, एवम् अब्राह्मणानामपि यजमानानां वचनप्राप्तास्था-
 देव भवितुमर्हति—इति । तस्मात् आर्त्विज्यसंस्कृता राजन्य-
 वैश्या अपि सचमासीरन्—इति ॥

ख. न स्वामित्वं हि विधीयते ॥ २० ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवम्; 'स्वामित्वम्' अनेन वचनेन विधीयते,—एवंकामाः
 सचमासीरन्—इति विधीयते, न आर्त्विज्यम् । 'अथ 'ये यज-
 मानास्ते ऋत्विजः'—इत्यनेन वचनेन विहितम् आर्त्विज्यम्
 —इति । उच्यते, तदपि न । कथम्? न अप्रैषा वचनशक्तिः,
 —'ये यजमानाः'—इत्युद्देश्यपदं,* 'ऋत्विजः'—इति विधेयपदं,
 तथा हि सति आर्त्विज्यमङ्गम् यजमानसंस्कारकं विधीयेत, न
 यजमाना आर्त्विज्यस्य अङ्गम्; तत्र प्राकृतार्थता नैषाम् आर्त्वि-
 ज्यानां स्यात्, संस्कारश्च अदृष्टः कल्प्येत । स च यजमान-
 विषयः—इति पुनरदृष्टम् । तस्मात् न यजमानानां सताम्
 आर्त्विज्याः पदार्थाः विधीयन्ते, किन्तर्हि?—आर्त्विजानाम्
 पदार्थानाम् अनन्यकर्तृकता; एषा च वचनशक्तिः,—ऋत्विज
 इत्युद्देश्यपदम्, ते—इति विधीयते, ये यजमानास्त एव
 ऋत्विजो भवन्ति, न अन्ये—इति, आर्त्विजेषु पदार्थेषु यज-
 मानाः कर्तारो विधीयन्ते, प्रत्याग्नानात्, अन्ये निवर्तन्ते; एवं
 सति प्राकृतप्रयोजना एव आर्त्विजाः पदार्थाः; न यजमान-
 संस्कारः अदृष्टो विधीयते—इति । 'यजमानकतृकल्पनाया-
 मप्येषाम् अदृष्टम्—इति यदि कल्प्येत' । तत्र ब्रूमः,—इतर-
 सिद्धिन् अपि पक्षे यजमानविषयः सोऽदृष्टः संस्कारः—इति

* पदानि इति का० ऋी० पु० पाठः ।

भा. अत्रयं कल्पनीयम्, यस्य उभयोः पक्षयोर्दोषः न तमेकस्योद्यो भवति ॥

स. गार्हपते वा स्यातामविप्रतिषेधात् ॥ २१ ॥ (आ०) ॥

भा. 'गार्हपते' पदार्थे राजन्यवैश्यौ भविष्यतः, न च, तत्र आर्त्विजप्रयोजनम्। तस्मात् अविप्रतिषेधः तेषाम्—इति ॥

स. न वा कल्पविरोधात् ॥ २२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. न चैतदस्ति,—गार्हपते वा पदार्थे राजन्यवैश्यौ—इति, कल्पविरोधो हि स्यात्,—'यजमानचमसः सोममय एकेषां, फलमयचमस एकेषाम्' तथा, 'ब्रह्मसाम वार्हङ्गिरं ब्राह्मणानाम्, पार्थरश्मं राजन्यानाम्, रायोवाजीयं वैश्यानाम्'। तस्मात् गार्हपते निवेशः—इत्येतदपि नास्ति ॥

स. स्वामित्वादितरेषामहीने लिङ्गदर्शनम् ॥ २३ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—लिङ्गदर्शनात्—इति, तत्परिहर्तव्यम्; अत्र उच्यते, अहीनमेव सत्रशब्देन वक्ष्यति, यतः स्वामित्वमृत्विजां विधीयते। अत ऋत्विजां स्वामित्वात् राजन्यवैश्यानां सत्रं न अवकल्पते—इति। तस्मात् अहीने लिङ्गदर्शनम् ॥ (६।६। ३ अ०) ॥

सत्रे विश्वामित्रतत्समानकल्पानामेवाधिकाराधिकरणम् ॥

स. वासिष्ठानाम् वा ब्रह्मत्वनियमात् ॥ २४ ॥
(१ पू०) ॥

भा. एतत् समधिगतं ब्राह्मणानामेव सत्रं, न राजन्यवैश्यानाम्

भा. —इति ; अथ इदानीम् इदं सन्दिग्धं, किं सर्वेषां ब्राह्मणानाम्, उत वासिष्ठानां स, उत भृगुशुनकवासिष्ठान् वर्जयित्वा अन्येषाम्?—इति । किं प्राप्तम्?—सर्वेषाम् अविशेषात्, न हि कश्चिद्विशेष आश्रीयतेऽभीषां ब्राह्मणानां सत्त्वं अभीषां न—इति । तस्मात् सर्वेषाम्—इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘वासिष्ठानाम् ब्रह्मत्वस्य निबन्धात्, वासिष्ठानां सत्त्वं स्यात्, न अन्येषाम् । कुतः? । ब्रह्मत्वस्य नियमो भवति, ‘वासिष्ठो ब्रह्मा भवति’—इत्यतो वासिष्ठानां, तत्समानकल्पानाञ्च सत्त्वं स्यात्—इति ॥

स. सर्वेषां वा प्रतिप्रसवात् ॥ २५ ॥ (२य पू०) ॥

भा. ‘सर्वेषां वा’ सत्त्वं स्यात्, अविशेषात् । ‘ननु वासिष्ठो ब्रह्मा’—इत्युच्यते । न—इति आह, पुनः प्रतिस्मर्यते,—‘य एव कश्चन स्तोमभागमधीयीत स एव ब्रह्मा भवेत्’—इति । वासिष्ठोपदेशः इदानीं किमर्थः?—इति चेत् । स्तोमभागप्रशंसार्थः,—स्तोमभागान् अधीयानोऽवासिष्ठोऽपि वासिष्ठकार्यै समर्थः कर्तुम्—इति ॥

स. विश्वामित्रस्य ह्यौचनियमात् भृगुशुनकवासिष्ठानाम् अनधिकारः ॥ २६ ॥ (सि०) ॥

भा. भृगवादीनाम् अनधिकारः स्यात् । कुतः? । विश्वामित्रस्य ह्यौचं नियम्यते,—‘विश्वामित्रो ह्यौता भवति’—इति । तस्मात् विश्वामित्राणाम्, तैश्च समानकल्पानाम् अधिकारः—इति ॥ (६। ४ अ०) ॥

सचे आहिताग्नेरेवाधिकाराधिकरणम् ॥

स. विहारस्य प्रभुत्वादनग्नीनामपि स्यात् ॥ २७ ॥

(पू०) ॥

भा. सत्राण्येव उदाहरणम्,—‘य एवं विद्वांसः सत्रमासते, य एवं विद्वांसः सत्रम् उपयन्ति’—इति; तेषु सन्देहः,—किं साग्नीनामनग्नीनाञ्च तानि भवन्ति, उत साग्नीनामेव?—इति। किं प्राप्तम्?—साग्नीनामनग्नीनाञ्च। कुतः?। ‘विहारस्य प्रभुत्वात्’, प्रभवति हि परकीयोऽपि विहारः सर्वेषाम् उपकर्तुम्, कर्त्तव्यो हि तेन सिध्यति—इति स यदीयेन—तदीयेन वा सिद्धिमुपैति। तस्मात् अनग्नीनामपि भवितुमर्हति—इति ॥

स. सारस्वते च दर्शनात् ॥ २८ ॥ (यु० १) ॥

भा. सारस्वते च सचे भवति दर्शनं,—‘पररथैर्वा एते स्वर्गं लोकं यन्ति, येऽनाहिताग्नयः सत्रमासते’—इति, अनाहिताग्नीनां सत्रं दर्शयति। तस्मात् अपि सर्वेषाम् ॥

स. प्रायश्चित्तविधानाच्च ॥ २९ ॥ (यु० २) ॥

भा. प्रायश्चित्तं विधीयते,—‘अग्नये विविचयेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपेत् यस्याहिताग्नेः अन्यैरग्निभिः अग्नयः संसृज्येरन्’—इति, संसर्गंऽग्नीनाम् प्रायश्चित्तं दर्शयति, स एवं स्यात् अनाहितैः, नान्यथा; तस्मादप्यनग्नीनां सत्राणि—इति ॥

स. साम्नीनां वेष्टिपूर्वत्वात् ॥ ३० ॥ (सि०) ॥

भा. ‘साग्नीनाम् वा’ सत्राणि, न अनग्नीनाम्। कस्मात्?। ‘इष्टिपूर्वत्वात्’, इष्टिपूर्वत्वं सोमानामाग्नान्तं,—‘दर्शपूर्णमासौ इद्वा सोमेन यजेत’—इति ज्योतिष्टोमस्य इष्टिपूर्वत्वम्. तत्रो-

भा. दक्षपरम्परया सञ्चाष्टि प्रति प्राप्तम् । तस्मात् अनग्नीनां तानि भवेयुः—इति ॥

स. स्वार्थेन च प्रयुक्तत्वात् ॥ ३१ ॥ (यु० १) ॥

भा. स्वार्थेन च अग्रवः प्रयुक्ताः । कथम् ? । उपसङ्घविज्ञेयात्, उपसङ्घविज्ञेयो हि भवति,—‘अग्नीनाद्धीत’—इति । तस्मात् अन्यस्य अग्निभिः अन्यस्य न सिद्धिः, यद्यपि क्रत्वर्था अग्रवः—इति ॥

स. सन्निवापं च दर्शयति ॥ ३२ ॥ (यु० २) ॥

भा. ‘सावित्राणि होष्यन्तः सन्निवपेरन्’*—इति तेनापि साग्रवः सञ्चाण्युपासते—इति गम्यते । एवं सिद्धपरिहारौ अग्निदे-
धिकरणेऽन्यच्चिन्तयते ॥ (६।६।५ अ०) ॥

जुह्वादीनां साधारणाधिकरणम् ॥

स. जुह्वादीनामप्रयुक्तत्वात्सन्देहे यथाकामी प्रती-
येत ॥ ३३ ॥ (पू०) ॥

भा. किं जुह्वादीनि पाषाणि कस्यचित् एव यजमानस्य, उपा-
दाय प्रयोगः कर्तव्यः, उत अन्यानि साधारणानि कर्तव्यानि ? ।
किं प्राप्तम्?—वक्ष्य—कस्यचित् एव यजमानस्य उपादाय
प्रयोगः कर्तव्यः । कुतः ? । न हि स्वं पाषं यजमानः प्रयुङ्क्ते,
—स्वेन पात्रेण प्रयोगः कर्तव्यः—इति । तस्मात् परकीयपात्रैः
अन्ये यजेरन्—इति ॥

* ततो निर्बपेत् इत्यधिकः पाठः आ० सो० पु० एवं का० श्री० पु० पाठः ।

स. अपि* वान्यानि पात्राणि साधारणानि कुर्वीरन्
विप्रतिषेधाच्छास्त्रकृतत्वात् ॥ ३४ ॥ (सि०) ॥

भा. 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः। नेतदेवं, 'वान्यानि' हि
'पात्राणि साधारणानि' कर्तव्यानि। कस्मात्?। 'विप्रति-
षेधात्', विप्रतिषेधो भवति, कदाचित्तानि पात्राणि उपात्तानि
भवेयुः, अथ मरणं कस्यचित् यजमानस्य आपद्येत, तत्र
विप्रतिषेधः स्यात्, 'आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्च'
इति यदि तं तैर्दहेयुः, इतरेषां यज्ञो विष्येत। अथ तैर्यज्ञं
समापयेयुः† इतरस्य शरीरसंस्काराः परिलुप्येरन्, अन्येषु
पुनः साधारणेषु उपादीयमानेषु न किञ्चित् अपि विष्येत।
तस्मात्‡ तथा कार्यम्—इति ॥

स. प्रायश्चित्तमापदि स्यात् ॥ ३५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ इदानीं पूर्वोक्तस्य लिङ्गस्य परिहार उच्यते, प्राय-
श्चित्तम् अस्मत्पक्षे परिकल्प्यते। कथम्?। अरण्ये कान्तारे
गच्छतां स्थितानां वा दस्युभयात् श्वापदभयात् वा चासे जाते
हावाग्निना वा संक्षुप्येरन्, मिथो वासविषयः प्रायश्चित्तस्य
भविष्यति—इति ॥ (६।६।६ अ०) ॥

* अपि चेति क० सं० पु० पाठः।

† तं पक्षं समापदयेयुरिति क० सं० पु० पाठः।

‡ न तथा कार्यमिति का० क्री० पाठः।

विद्यतसप्तदशसामिधेनीषु वर्षत्रयाधिकाराधिकरणम् ॥

स. पुरुषकल्पेन वा विद्यतौ कर्तृनियमः स्याद्यज्ञस्य
तद्गुणत्वादभावादितरान् प्रत्येकस्मिन्नधिकारः
स्यात्* ॥ ३६ ॥ (पू०) ॥

भा. अधरकल्पा उदाहरणम्, 'आययणेष्टिः पशुः'—इत्येवंलक्षण-
कानि कर्माणि, येषु सप्तदश सामिधेन्यः; तेषु सन्देहः,—किं
त्रयाणामपि वर्षानामेभिः कर्मभिरधिकारः, उत वैश्यस्यैव?—
इति। किं प्राप्तम्?—एतस्यां 'विद्यतौ' 'पुरुषकल्पेन' कर्ता
नियम्येत। कुतः?। यज्ञोभ्यमधरकल्पादिः, एतत्सङ्ख्यागुणकः,
इयं च सङ्ख्या वैश्यस्य उक्ता, तेन वैश्य एव एतत् कर्म ह्यत्स्नं
कर्तुं समर्थः; सप्तदशगुणकमेतत् कर्म, तच्च सामदश्यम् अ-
वैश्येन क्रियमाणम् असाधु; इतरान् प्रति हि तन्न चोद्यते,
तेन 'यजेत'—इत्यसामर्थ्यात् ब्राह्मणक्षत्रियान् न अधिकरि-
ष्यति—इति ॥

स. लिङ्गाञ्जेज्याविशेषवत् ॥ ३७ ॥ (यु०) ॥

भा. लिङ्गं च भवति—यथा वैश्यस्य सामदश्यम्—इति, 'सप्तदशो
वैश्यः'—इति, तेन वैश्यस्य सामदश्यम्, अतो वैश्यस्य एवञ्जा-
तीयकानि कर्माणि, यथा इज्याविशेषो वैश्यस्य भवति,—
'वैश्यो वैश्यस्तोमेन यजेत'—इति, वैश्यसम्बन्धात्; एवं साम-
दश्यं तस्यैव—इति ॥

स. न वा संयोगपृथक्काङ्गुणस्येज्याप्रधानत्वादसंयुक्ता हि
चोदना ॥ ३८ ॥ (सि०) ॥

भा. न चैतदस्ति, पृथगेतौ संयोगौ, एकं वाक्यं 'सप्तदश वैश्यस्य

* अधिकारकात्त्रात् इति का० त्री० पु० पाठः ।

भा. अनुब्रूयात्—इति, वाक्यान्तरम् अध्वरकल्पादिषु 'सप्तदशानु-
ब्रूयात्—इति, स च गुणः—इज्याप्रधानो भवति, न इज्या
गुणार्था । किम् अतः ? । यद्येवं यच्च इज्या, तत्र तद्गुणेन भवि-
तव्यं, न यच्च गुणः, तच्च इज्यया, वैश्यस्य गुणानुरोधेन—
इज्यापि ; चयाणां वर्णानाम् इज्या, सा तत्र गुणम् आकाङ्क्षति
—इति । अपि च इज्या गुणभूतस्य अपरा चोदना, न सा
वैश्यसंयुक्ता, सा तु अवैश्यकं गुणं प्रत्याययति । 'प्रथमं स-
वैश्यकम्—इति चेत्' । न, वैश्यस्य प्रधानत्वात्, प्रधानभूतस्तच्च
वैश्यः श्रूयते । तस्मात् सर्वाधिकारः ॥

स. इज्यायां तद्गुणत्वाद्भिन्नेषु नियम्येत ॥ ३९ ॥ (यु०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—वैश्यस्तोमे यथा, तथेहापि—इति ; युक्तं तच्च,
इज्या वैश्यस्य श्रूयते, तच्च वाचनिकेनैव विशेषेण नियम्येत ।
तस्मात् तत्र अदोषः—इति ॥ (६।६।७ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठ्याध्यायस्य
षष्ठः पादः ॥

वष्टे अध्याये सप्तमः पादः ॥



विश्वजिति पिशादीनामदेषत्वाधिकारश्च ॥

ख. स्वदाने सर्व्वमविशेषात् ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा. इहमामनन्ति विश्वजिति, 'सर्व्वसन्देहाति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं यावत्किञ्चित् स्वशब्देन उच्यते, यथा माता पिता—इत्येवमाद्यपि सर्व्वं देयं, उत यत्र प्रभुत्वयोगेन स्वशब्दस्तदेव देयम्?—इति। किं प्राप्तम्?—'अविशेषात्', माता पिता—इत्येवमाद्यपि दातव्यम्। 'ननु दानम्—इत्युच्यते स्वत्वनिवृत्तिः, परस्वत्वापादनं च, तत्र पिशादीनाम् अशक्यं स्वत्वं निवर्त्तयितुम्, न हि कश्चित् पिता न पिता भवति'। उच्यते, सत्यं न असौ न पिता भवति, शक्यते तु परविधेयः कर्तुम्, परस्वत्वापादनं च दानं अर्थाच्च स्वत्वत्यागः। तस्मात् सर्व्वं देयम्—इति ॥

ख. यस्य वा प्रभुः स्यादितरस्याशक्यत्वात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा. वाशब्देन पक्षो विपरिवर्त्तते। 'यस्य' प्रभुत्वयोगेन स्वत्वं, तदेव देयं न इतरत्। कस्मात्?। प्रभुत्वयोगिनः शक्यत्वात्, 'इतरस्य' च 'अशक्यत्वात्', न हि पिशादीनां शक्यते स्वत्वं परित्यक्तुम्।

'ननु च उक्तं परविधेयीकरणं तस्य शक्यम्—इति। उच्यते, प्रभुत्वयोगिनः स्वस्य अत्र दीयमानस्य सर्व्वत्वम् उच्यते, न अप्रभुत्वयोगिनः स्वस्य दानं, न च एतन्नार्थ्यं, यत् पिशादीनां परिचारकत्वं; यस्य चैतत् न्याय्यम् अपि भवेत्, स इत्यादपि।

भा. 'अथ आह, ननु यत्र स्वप्नबद्धो वर्तते, तद्देयम्—इत्युक्ते पित्रादयो दातव्या गम्यन्ते । तस्मात् तान्प्रति प्रभुत्वाय स्मृतिं बाधित्वापि यतितथम्—इति । अथ उच्यते,—स्वप्नबद्धोऽयमात्मीय-धन-ज्ञातीनां प्रत्येकं षाचको न समुदायस्य, तत्र आत्मीये सर्वतायां ज्ञातायां ज्ञाते ज्ञात्तार्थे न अत्रकोषु ज्ञातिषु सर्वता कल्पनीया, नापि स्मृतिर्बाधितव्या । अपि च गवादीनामात्मीयानां चोदकेन प्राप्तौ सत्यामवश्यम् आत्मीयगता सर्वता उपादेया, तस्याच्च उपात्तायां ज्ञातः ज्ञात्तार्थः—इति ज्ञातीनाम् उपादाने न किञ्चित् कारणमस्ति, तस्मात् न पित्रादयो देयाः । तस्मात् यत्र एष प्रभुत्वयोगेन स्वत्वं, तद्देव देयम्—इति ॥ (६।७।१ अ०) ॥

विश्वजिति पृथिव्या अदेयत्वाधिकारम् ॥

स. न भूमिः स्यात्सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥ ३ ॥

भा. अथैव सर्वदाने संशयः,—किं भूमिर्देया, न?—इति । का पुनर्भूमिः अत्राभिप्रेता? । यदेतन्मृदारब्धं द्रव्यान्तरं पृथिवी-गोलकं, न क्षेत्रमात्रं मृत्तिका वा ।

तत्र किं प्राप्तम्?—अविशेषाद्देया, प्रभुत्वसम्बन्धेन हि तत्र स्वप्नबद्धो वर्तते, शक्यते च मानसेन व्यापारेण स्वस्य स्वता निवर्त्तयितुम्—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'न भूमिर्देया'—इति । कुतः? । क्षेत्राणाम् ईशितारो मनुष्या दृश्यन्ते, न ज्ञात्स्वस्य पृथिवीगोलकस्य—इति ।

'आह, य इदानीं सार्वभौमः, स तर्हि दास्यति' । सोऽपि न—इति ब्रूमः । कुतः? । यावता भोगेन सार्वभौमो भूमेरीष्टे, तावता अन्योऽपि, न तत्र कश्चिद्विशेषः, सार्वभौमत्वेऽस्य त्वेतदधिकं, यत्, असौ पृथिव्यां सम्भूतानां व्रीक्षादीनां रक्षणेन

भा. निर्विष्टस्य कस्यचित् भागस्य ईष्टे, न भूमेः, तन्निर्विष्टाञ्च*
ये मनुष्याः, तैरन्यत् सर्वप्राणिनाम् धारणविक्रमणादि यत्
भूमिद्वारं, तत्रेष्टित्वं प्रति न कश्चिद्विशेषः । तस्मात् न भूमि-
देया ॥ (६।७।२ अ०) ॥

विश्वजिति अन्नादीनामदेयताधिकरणम् ॥

स. अकार्यत्वाच्च ततः पुनर्विशेषः स्यात् ॥ ४ ॥

भा. विश्वजित्येव सन्देहः—किम् अश्वादयो देयाः, न?—इति ।
किं प्राप्तम्?—सर्वस्य विहितत्वात्, देया अश्वाः—इति । एवं
प्राप्ते ब्रूमः,—यस्य च दानम् अकार्यं, तच्च न देयम्, यथा
अश्वानाम्; तेषां हि दानम् अकार्यम् । ‘एष हि विशेषः
अश्वानाम्, अन्येभ्यो द्रव्येभ्यः, यत् एषां दानं प्रतिषिध्यते,—
‘न केसरिणो ददाति न उभयतोदतः प्रतिगृह्णाति’—इति
विश्वजिति एव समाग्नयते । तस्मात् न अश्वा देयाः—
इति ॥ (६।७।३ अ०) ॥

विश्वजिति विश्वमानानामेव सर्वस्वामानां दानाधिकरणम् ॥

स. नित्यत्वाच्चानित्यैर्नास्ति सम्बन्धः ॥ ५ ॥

भा. विश्वजित्येव सन्देहः—‘सर्वस्वं ददाति’—इति, किम् अर्ज-
यित्वा उपकरणानि यावन्ति मनुष्यस्य, यावन्ति च ब्रह्मोति
उपार्जयितुम्, सर्वाणि तानि दद्यात् हतभाण्डादीनि, उत यान्येव
अस्य विद्यन्ते, तानि सर्वाणि देयानि, न अविद्यमानानि कर्त-
व्यानि?—इति । कुतः संशयः? । उभयथा वचनव्यक्तेः सम्भवात्,

* तन्निर्विष्टा इति का० क्री० पु० पाठः ।

† सर्वप्राणिनामिति पाठः का० क्री० पुस्तके नास्ति

भा. —यदि वा एवं वचनं व्यज्यते, यानि सर्वाणि खानि, (कानि तानि?—यानि पुरुषस्य उपकारकाणि भ्रयनादीनि), तानि सर्वाणि दद्यात्—इति विधीयते, यद्वा यानि खानि पुरुषस्य दाने शक्यानि, तानि सर्वाणि—इति सर्वत्वं विधीयते। यदि दानं विधीयते, ततोऽप्राप्तदानानाम् हृतभाण्डकानामपि दानम्। अथ सर्वता विधीयते, ततो विद्यमानानामेव।

किं तावत् प्राप्तम्?—हृतभाण्डकानि देयानि—इति, तथा दानविधाने श्रुतिः अनुगृह्यते, इतरथा वाक्यं; तयोश्च श्रुति-बलौयसी। तस्मात् हृतभाण्डकानि देयानि—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘नित्यत्वाच्च अनित्यैर्नास्ति सम्बन्धः’, चशब्दोन्वादेशे, न अश्वा दातव्याः—इत्युक्तं, हृतभाण्डकानि च न देयानि—इति; नित्यं हि विश्वजिति दानं चोदकेन प्राप्तम् अनूद्यते, अनित्यानि च हृतभाण्डकानि, न शक्यानि सर्वाणि विश्वजिति क्रियमाणे उपसंहर्तुम्; तच्च हृतभाण्डका-नाम् केषाञ्चित् उत्पत्तिं विश्वजिति दानं प्रतीक्षेत, नैमित्तिकं तत् स्यात्, न नित्यं, नित्यवच्च तत् चोदकेन विधीयते, न निमित्तसंयोगेन। तस्मात् अवश्यमेतदभ्युपगन्तव्यं,—साकल्यं देयानाम् प्राप्तानाम् विधीयते—इति, श्रुत्यसम्भवे च वाक्यार्थो ग्रहीतव्य एव भवति, तस्मात् न हृतभाण्डकानि दातव्यानि ॥ (इ। ७। ४ अ०) ॥

विश्वजिति धर्मार्यसेवकशूद्रस्यादेयताधिकारश्च ॥

सू. शूद्रश्च धर्माशास्त्रत्वात् ॥ इ ॥

भा. विश्वजित्येव सन्दिह्यते,—किं परिचारकः शूद्रो देयः, न?—इति। किं प्राप्तम्?—सर्वस्य स्वस्य विहितत्वाद्देयः—इति।

भा. एवं प्राप्ते ब्रूमः, 'शुद्धश्च' न देयः—इत्यन्वादेशः। कुतः?।
 'धर्मब्राह्मत्वात्', धर्मब्राह्मणोपनतत्वात् तस्य,—'एवम् असौ
 तस्मै चैवर्णिकाय उपनत इमं शुश्रूषमाणो धर्मेण सम्भत्स्यते'
 —इति, सोऽन्यस्मै दीयमाणो न इच्छेदपि, न च अनिच्छतः
 तस्य स प्रभवति, न च बलात्स्वीकर्तव्यः, यस्म्वन्यायेन स्वीकुर्यात्,
 स दद्यादपि; धर्मोपनतमात्रेण तु न शक्यो दातुम् ॥ (६।
 ७। ५ अ०) ॥

विश्वजिति दक्षिणाकाले विद्यमानामेव सर्वस्वामाम् देयताधिकरणम् ॥

स. दक्षिणाकाले यत्स्वं तत्प्रतीयेत तद्दान-
 संयोगात् ॥ ७ ॥

भा. विश्वजित्येव सन्देहः,—किं प्राग्दक्षिणाकालात्, विद्यमानं
 नियोगतो दक्षिणाकाले निधातव्यम्, ऊर्द्धं च दक्षिणाकालात्
 भविष्यत् अनागतमपि दक्षिणाकाले देयम्; उत यदेव दक्षिणा-
 काले विद्यते, तदेव देयम्?—इति। किं प्राप्तम्?—यस्यापि
 प्रागूर्द्धं च स्वता, तदपि देयं, स्वमात्रस्य दानविधानात्। एवं
 प्राप्ते ब्रूमः,—'दक्षिणाकाले यत् स्वं' विद्यते, 'तत्' एव देयं, न
 यत् प्रागूर्द्धं च। कुतः?। स्वस्य अत्र दानम् अनूद्य साकल्यं
 विधीयते, तच्च दानं दक्षिणाकाले प्राप्तत्वात् तस्मिन्नेव काले-
 ध्नूयते। तस्मात् दक्षिणाकाल एव विद्यमानं देयम्—इति ॥
 (६। ७। ६ अ०) ॥

* सर्वस्व इति आ० सो० एवं का० त्री० पु० पाठः ।

विश्वजिति दक्षिणादानोत्तराज्ञानामनुष्ठानाधिकरणम् ॥

स. अशेषत्वात्तदन्तः स्यात् कर्मणो द्रव्यसिद्धित्वात् ॥
८ ॥ (१म पू०) ॥

भा. तस्मिन्नेव विश्वजिति सन्देहः,—किं दक्षिणाकाले एव विश्व-
जित् उत्सृष्टव्यः, उत न सर्वं दातव्यं, परिसमापनीयः?—इति ।
किं प्राप्तम्?—उत्सृष्टव्यः—इति । कुतः? । 'अशेषत्वात्' । कथम्
अशेषता? । 'विश्वजिति सर्वस्वं ददाति'—इति, न च शक्यम्
अन्तरेण द्रव्यं, परिसमापयितुम् । तस्मात् 'तदन्तः स्यात्' ।

स. अपि वा शेषकर्म स्यात् क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥
९ ॥ (२य पू०) ॥

भा. 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः । 'शेषकर्म स्यात्', न सर्वस्वं
दक्षिणाकाले देयं, यावता तत् कर्म परिसमाप्यते, तावत् शेष-
यितव्यम् । कुतः? । 'क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात्', क्रतोः परि-
समाप्तः प्रत्यक्षशिष्टा, 'विश्वजिता यजेत'—इति विश्वजितम्
उपक्रम्य, परिसमापयेत्—इत्यर्थः । परिसमापयता यत् शक्यते
दातुम्, तावत् सर्वम्—इत्यर्थः । तस्मात् न तदन्तम् उत्सृष्टव्यम्
—इति ॥

स. तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ १० ॥ (यु०) ॥

भा. एवञ्च ज्ञत्वा 'अन्यार्थदर्शनम्' उपपद्यते,—'अवभृथादुदेत्य
वत्सत्वचमाच्छादयति'—इति शेषे सति अवकल्पते ॥

स. अशेषं तु समञ्जसादानेन शेषकर्म स्यात् ॥ ११ ॥
(आ०) ॥

भा. तुञ्जन्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । एतत् समञ्जसाभूतं, यत् 'अशेषं'

भा. प्रदीयते—इति, एवं 'सर्वस्वं ददाति'—इति शब्दः उपपन्नो भवति—इति । यत्तु प्रत्यक्षा समाप्तिः—इति, तत्र ब्रूमः,—
'आदानेन श्लेषकर्म' भविष्यति—इति । उच्यते,—

सू. नादानस्य नित्यत्वात् ॥ १२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. आदानं त्वनित्यं, नित्यं च श्लेषकर्म, न हि तयोः सम्बन्धो-
ऽवकल्पते । तस्मात् श्लेषयित्थं किञ्चित्—इति ॥

सू. दीक्षासु तु विनिर्देशादक्रत्वर्थेन *संयोगस्तस्मादवि-
रोधः स्यात् ॥ १३ ॥ (सि०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, नैतदस्ति,—किञ्चित् श्लेषयित्थम्
—इति ; 'दीक्षासु तु' विनिर्देशो[†] भवति, प्रकृतौ एव ज्योति-
ष्टोमे ; स इह चोदकेन प्राप्तः,—इदं क्रत्वर्थम्, इदं भक्ष्यार्थम्,
इदम् आनमनाय—इति, तदिह यत् आनमनाय दातव्यं, तस्य
अयं विकारः सर्वता नाम । कुत एतत् ? । यतः 'स्वं ददाति'
—इत्यनूद्यते, सर्वता एव विधीयते तेन, न अदातव्यस्य दानं
विधीयते, न च भक्ष्यार्थं क्रत्वर्थं च दातव्यम् । 'तस्मात् अवि-
रोधो' भविष्यति—इति ॥ (६।७।७ अ०) ॥

अहर्गणस्येऽपि विशक्तिं सर्वस्वदानाधिकारकम् ॥

सू. अहर्गणो च तद्धर्मा स्यात् सर्वेषामविशेषात् ॥
१४ ॥ (सि०) ॥

भा. अस्ति अहर्गणः अष्टरात्रः,—'अथ एतस्य अष्टरात्रस्य विश्व-

* "दीक्षासु तु विनिर्देशादक्रत्वलाच संयोगः" इति का० क्रो० पु० पाठः । "दीक्षासु
तु विनिर्देशादक्रत्वला स्वं न योगः" (?) इति क० सं० पु० एवं आ० सो० पु० पाठः ॥

† "प्रकृतौ कर्त्तारश्च एव वचमानेन आत्मीयं धनं वचनबलात् विधा व्यवस्थापितम्,

भा. जिदभिजितौ एकाहावभितः, उभयतो ज्योतिर्मध्ये षडहः, पशु-
कामो हि एतेन यजेत—इति । तत्र सन्देहः,—(कम् अहर्गण-
स्थस्यापि सर्वस्वमेव दक्षिणा स्यात्,* आहो द्वादशं शतम्?—
इति । किं प्राप्तम्?—सर्वस्वम् । कुतः? । ‘सर्वेषां’ विश्वजिताम्
‘अविशेषात्’, य एव प्रकृतौ विश्वजितो धर्मः, स एव चास्य
चोदकेन भविष्यति । तस्मात् सर्वस्वं देयम्—इति ॥

स. द्वादशशतं वा प्रकृतिवत् ॥ १५ ॥ (पू०) ॥

भा. ‘द्वादशशतं वा’ देयम्—इति; ‘प्रकृतिवत्’ कर्त्तव्यं, ज्योति-
ष्टोमश्च प्रकृतिः, तत्र धर्मा विहिताः, न विश्वजिति कृत्वाः
प्रतीयन्ते । तस्मात् द्वादशशतम् अत्र देयम्—इति ॥

स. अतद्गुणत्वात् नैवं स्यात् ॥ १६ ॥ (उ०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । ‘नैवं’ भवितुमर्हति । कुतः? ।
नैव यतो विश्वजितो गुणो द्वादशशतं; नामधेयेन हि अत्र
धर्मग्रहणम् । तस्मात् विश्वजितो भविष्यति, न ज्योतिष्टोमात्
—इति ॥

स. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १७ ॥ (यु०) ॥

भा. लिङ्गं खल्वपि दर्शयति । किं लिङ्गं भवति?—इति । एव-
माह, ‘होयते वा एष पशुभिर्या विश्वजिति सर्वं न ददाति’—
इति नियतं सर्वस्वदानं दर्शयति अहर्गणे† ॥ (६।७।८ अ०) ॥

इदमेव यज्ञार्थम्, इदमेव भक्ष्यार्थम्, इदमेव दक्षिणार्थमिति” इति माधवीयमनुसन्धेयम् ॥

* अस्य इति का० क्री० पु० पाठः ॥

† “तदेतत् भाष्यकारमतम्, वार्त्तिककारस्तु द्वादशशतमित्येवं सिद्धान्तितवान्” इत्यादि,
“सूत्रकारस्तु नामान्तिदेशस्य प्राबल्यमात्रं व्युत्पादितवान्” इत्यन्तं माधवीयमनुसन्धेयम् ॥

विश्वजिति द्वादशज्ञतन्यूनधनस्नानधिकाराधिकारश्च ॥

सू. विकारः सन्नभयतोऽविशेषात् ॥ १८ ॥ (पू०) ॥

भा. 'विश्वजिति सर्वस्वं ददाति'—इति; तत्र एषोऽर्थः सांख्यिकः, किं यस्य द्वादशज्ञतम्, अधिकम्, ऊनं वा विश्वते, तस्यापि विश्वजिता अधिकारः, उत यस्य सकलमधिकं वा तस्यैव?—इति। किं प्राप्तम्?—'विकारः सन्नभयतोऽविशेषात्', न विशेषः कश्चिदाश्रीयते, यस्य द्वादशज्ञतम् अधिकम्, ऊनं वा अस्ति—इति। तस्मात् सर्वस्य विश्वजिता अधिकारः—इति ॥

सू. अधिकं वा प्रतिप्रसवात् ॥ १९ ॥ (सि०) ॥

भा. न चैतदस्ति, सर्वस्य विश्वजिता अधिकारः—इति; कस्य तर्हि?—यस्य द्वादशज्ञतमस्ति, 'अधिकं वा'—इति। कुतः?। 'प्रतिप्रसवात्', प्रतिप्रसवो हि ज्योतिष्टोमे सर्वस्वस्य उच्यते,—द्वादशज्ञतं विधाय आह, 'एतावता* वाव ऋत्विज आनेया अपि वा सर्वस्वेन'—इति, यदि एतावता नेच्छेयुः, सर्वस्वेनाभ्यानमयितव्याः—इति; तद्यदि द्वादशेन ज्ञतेन न इच्छन्ति, न इच्छन्तितरां ततो न्यूनैः। तस्मात् द्वादशज्ञतं ज्योतिष्टोमे; यदा सर्वस्वं, तदिह उभयमपि प्राप्तं, तत्र एकः पक्षो नियम्यते,—सर्वस्वं देयम्—इति। स एष न विधिः, प्राप्तत्वात्; अनियतप्राप्तस्तु नियम्यते, स चेत् नियम्यते, यादृशस्तत्र, तादृश एव इह। तत्र च द्वादशज्ञतम् अधिकं वा सर्वस्वम्; इहापि तददेव। तस्मात् न न्यूनधनस्य अधिकारः—इति ॥

सू. अनुग्रहाच्च पादवत् ॥ २० ॥ (यु०) ॥

भा. चञ्चदेन अन्वाचयः। इतश्च अधिकं सर्वस्वं, अधिके हि

* "एवम्" इति का० श्री० पु० पाठः ॥

भा. दीयमाने तदन्तर्गतत्वात् द्वादशशतमपि दत्तं भवति, 'पादवत्', यथा, कार्षापणे दीयमाने पादोऽपि दत्तो भवति, एवम् इहापि—इति ॥ (इ। ७। ९ अ०) ॥

आधनेऽपरिमितं देयमित्यनेन सङ्ग्रामरविधानाधिकारणम् ॥

ख. अपरिमिते शिष्टस्य सङ्ग्रामप्रतिषेधस्तच्छ्रुति-
त्वात् ॥ २१ ॥ (पू०) ॥

भा. आधने श्रूयते,—'एका देया षड् देयाः द्वादश देयाश्चतु-
विंशतिर्देयाः* शतं देयं सङ्ख्यं देयं अपरिमितं देयम्'—इति ।
तत्र सन्देहः,—किं, यत् परिमितम् 'एका देया'—इत्येवमादि,
तत्र दातव्यम्—इति प्रतिषेधो विधीयते, उत अपरिमितं नाम
किञ्चित्, तस्य दानं विधीयते?—इति । किं प्राप्तम्?—'अपरि-
मिते' श्रूयमाणे ब्रूमः, 'शिष्टस्य' एकादेः सङ्ख्येयस्य या 'सङ्ख्या',
सा प्रतिषिध्यते । कुतः? । 'तच्छ्रुतित्वात्', परिमितशब्दश्रवणात्
गणितम् अवगम्यते, तत्र एकादिकं, तस्य नशब्देन प्रतिषेधः
क्रियते, तत्र श्रुतोऽर्थः ह्यतो भवति, इतरथा अपरिमितशब्दे
प्रसिद्धिस्त्यज्येत, लक्षणया बङ्गत्वम् अस्यार्थः कल्पेत; तस्मात्
परिमितस्य प्रतिषेधः—इति ॥

ख. कल्पान्तरं वा तुल्यवत्प्रसङ्गानात् ॥ २२ ॥ (सि०) ॥

भा. 'कल्पान्तरं वा' स्यात्,—अपरो दानकल्पो विधीयते, यथा
'एका देया'—इति दानविधिकल्पः, एवम् एषोऽपि दानविधि-
कल्प एव स्यात्, तेन हि पूर्वेण, तुल्यमेव इदं प्रसङ्गायते ।
का अस्य पूर्वेण तुल्यता? । प्रतिज्ञातस्य अर्थस्य अवगमिका

* षड्विंशतिरिति का० क्री० पु० पाठः ॥

भा. अतिरस्ति—इति; पूर्वत्र हि देयशब्दश्रुत्या* दानं विधीयते—इति, इहापि देयशब्दश्रुतिः, सा श्रूयमाणा श्रुतिरिति दानं विधातुम्। प्रतिषेधे हि विधीयमाने वाक्यस्य व्यापारः; तच्च दुर्बलं श्रुतिं प्रति; तस्मात् कल्पान्तरम्। यच्च अपरिमितशब्दे प्रसिद्धिर्बाधते—इति, समुदायप्रसिद्धिरवयवप्रसिद्धिर्बाधकैव समधिगता।

‘ननु नात्र प्रसिद्धिः, लक्षणेयं,—यत् बह्व, तत् न बह्वं परिमातुं; तस्मात् अपरिमितत्वेन लक्ष्यते बह्वत्वम्—इति’। तच्च न, अनेकस्मिन् अशक्यपरिमाणे सति बह्वषु रूढः, ‘अपरिमितम् अस्य धनं’, बह्व—इति गम्यते; यथा, कुशलाः, प्रवीणः—इति बह्वषु कुशानां लातुगुणेषु सत्सु निपुणतायामेव कुशलशब्दो रोह्यादृढिशब्द एव भवति, बह्वषु च वीणावादस्य गुणेषु सत्सु निपुण एव प्रवीणशब्दो वर्तमानो रूढः—इत्युच्यते। तस्मात् सत्यपि लक्षणात्वे श्रुतिसामर्थ्यात् रोहति शब्दः। तस्मात् समुदायप्रसिद्ध्या अपरिमितशब्देऽवयवप्रसिद्धिर्बाधते, अशक्यशब्दवत्। अतः कल्पान्तरम्—इति ॥ (६।७।१० अ०) ॥

अपरिमितशब्देन सहस्राधिकस्य प्रसङ्गाधिकरणम् ॥

स. अनियमोऽविशेषात् ॥ २३ ॥ (पू०) ॥

भा. अपरिमिते कल्पान्तरम्—इति समधिगतम्। अथ इदानीं सन्दिह्यते,—किं सहस्रात् जनम् अपरिमितम्, उत सहस्रात् अधिकम्?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—‘अनियमोऽविशेषात्’, न काश्चित् इह बह्वत्वे विशेष आश्रीयते,—सहस्रादूनम् अधिकं वा—इति, अनाश्रीयमाणे यथा हतं तथा साधु। तस्मात् अनियमः ॥

* देयशब्दात् श्रुत्या इति आ० से० पु० पाठः ॥

† यथाकामं यथा हतं इति का० क्री० पु० पाठः ॥

स. अधिकं वा स्याद्बह्वर्थत्वादितरेषां सन्निधानात् ॥

२४ ॥

भा. 'वा'—इतिपक्षथावृत्तिः,—नैतदस्ति, अधिकम् जनं वा सह-
सात्—इति । किं तर्हि?—'अधिकम्' एव—इति । कुतः?।
'बह्वर्थत्वात्' अपरिमितशब्दस्य, बह्वृषु हि इमं शब्दम् उप-
चरन्ति,—इत्येतत् उक्तं, बह्वृत्वं च आपेक्षिकं, किञ्चित् अपेक्ष्य
ततोऽधिकं बह्वृ—इत्युच्यते । असत्याम् अपेक्षायाम् अपरि-
पूर्णमेतत्, यथा, पुष्पः—इति किञ्चित् अपेक्ष्य भवति, न
अन्यथा, तत्र प्रकृतं सन्निहितं च अपेक्ष्य निर्णयः; सहस्रं च
सन्निहितम्; तस्मात् ततोऽधिकम् अपरिमितम्—इति ॥

स. अर्थवादश्च तद्वत्* ॥ २५ ॥ (यु०) ॥

भा. कथम् एवम्?। 'तत्र उल्लेखं वै अपरिमितम्'—इति तदूनतां
सहस्रस्य दर्शयति ॥ (६।७।११ अ०) ॥

इति च खेत्यादिपरकृतिपुराकल्पानामर्थवादताधिकरणम् ॥

स. परकृति-पुराकल्पं च मनुष्यधर्मः स्यादर्थाय ह्यनु-
कीर्त्तनम् ॥ २६ ॥ (१ म पू०) ॥

भा. इह परकृतयः पुराकल्पाश्च उदाहरणम्;—यथा, 'इति
ह स्माह बकुर्ध्वाधिर्माषान्मे पचत न वा एतेषां ह्यविगृह्णन्ति'
—इति; पुराकल्पः—'उल्मुकैर्ह स्म पूर्वं समाजग्मुस्तान् ह
असुरा रक्षांसि निर्जघ्नुः'—इत्येवमादयः । तेषु सन्देहः,—
किम् एते मनुष्यधर्मा विधयः, उत तद्गोत्राणाम्; अथ वा

* तदर्थवत् इति क० सं० पु० पाठः । "तदर्थत्वात्" इति ख० सो० पु० पाठः ॥

भा. अर्थवादाः?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—मनुष्यधर्मा विधयः—इति । कुतः?। 'अर्थाय' प्रयोजनाय 'अनुकीर्तनम्' एतत् भवति, कर्तृमनुष्यसम्बन्धकीर्तनेन क्रिया प्रशस्ता भवति, प्रशस्तं च प्रतिपाद्यं ; स एष विधिरेव, अनेन प्रकारेण अतः—परैरपि मनुष्यैः कर्त्तव्यः—इति गम्यते ॥

स. तद्युक्ते च प्रतिषेधान् ॥ २७ ॥ (यु०) ॥

भा. एवञ्जातीयकस्य विधेः प्रतिषेधो भवति,—'तदु तथा न कुर्यात्'—इति, प्रसक्तस्य च प्रतिषेधो न्याय्यः । तस्मात् अपि विधयः—इति ॥

स. निर्देशाद्वा तद्धर्मः स्यात् पञ्चावत्तवत् ॥ २८ ॥
(२य पू) ॥

भा. मनुष्यधर्माभ्यं विधिः एवञ्जातीयकः* इति गृह्यते,—तत्र तु विशिष्टगोत्राणां निर्देशात् तेषामेव धर्मः—इति गम्यते ; स्तुत्या हि अयं कर्त्तव्यः—इति ज्ञायते, स च विशिष्टगोत्राणां श्रूयते, तस्मात् तद्गोत्राणामेव कर्त्तव्यः ; 'पञ्चावत्तवत्', यथा, 'पञ्चावत्तं जमदग्नीनाम्'—इति तद्गोत्राणामेव भवति, एवम् इहापि—इति ॥

स. विधौ तु वेदसंयोगादुपदेशः स्यात् ॥ २९ ॥
(३य पू०) ॥

भा. तुशब्दात् एषोऽपि पक्षो व्यवर्त्तते, 'विधौ' एतेषाम् 'उपदेशः स्यात्',—विधौ वेदेन स्तुतिनिर्देशः कृतः, न विश्वाश्रये पुरुषे, पुरुषयश्चणं विधिप्रशंसार्थं ; विधिः—इति क्रियामाह ; एतस्याः

* 'अत्र तद्धर्मः स्यात्' इत्यधिकः पाठो कं० सं० पु० ॥

भा. क्रियाया भावो यस्मात् अनेन पुरुषेण क्रियते, तस्मात् साधु-
रिति; न तु अत्र पुरुषः क्रियासम्बन्धेन निर्द्दिश्यते, किन्तु
स्तोतव्यत्वेन। कुतः एतत्?। स्तुतिपदस्य अन्यस्य अभावात्।
अपि च क्रियानिर्द्देशे अतुत्या विधानं, क्रियापुरुषसम्बन्धनिर्द्देशे
वाक्येन, अतश्च दुर्बलम्। तस्मात् पुरुषमात्रस्य विधानं प्राप्नोति,
न तद्गोचारणम्—इति ॥

स. अर्थवादो वा विधिषेष्टत्वात्तस्मात्* नित्यानुवादः
स्यात् ॥ ३० ॥ (सि०) ॥

भा. एषोऽपि पक्षो वाञ्छन्दात् विनिवृत्तः। नायं तद्गोचारणं
विधिः, न मनुष्यमात्रस्य वा विधिः, विधिरेव वा—इति, अयं
'अर्थवादस्तु'। कुतः?। 'विधिषेष्टत्वात्' अन्यं त्वच विधि-
मामनन्ति, परब्रह्मत्पुद्गाहरणे तावत्, 'तस्मादारण्यमेवाश्री-
यात्'—इति, पुराकल्पोदाहरणे, 'गृहपतेरेवाग्निषु निर्मथ्य
निर्वपेरन्'—इति। न च द्वयोर्विध्योरेकवाक्यभावोऽस्ति, विधिना
हि सम्बन्धमानयोः परब्रह्मत्पुद्गाहरणे—पुराकल्पवचनयोः अन्यथा वचन-
युक्तिः, अन्या तु स्तुत्यर्थप्रवृत्तयोः; न च उभयं यौगपद्यन
सम्भवति। तस्मात् अर्थवादः—इति ॥ (६। ७। १२ अ०) ॥

सहस्रसम्बत्सरस्य सहस्रदिनपरताधिकारणम् ॥

स. सहस्रसम्बत्सरं तदायुषामसम्भवात् मनुष्येषु ॥
३१ ॥ (१म पू०) ॥

भा. अस्ति सहस्रसंबत्सरम्,—'पञ्चपञ्चाशत्तच्चिह्नतः संबत्सराः,
पञ्चपञ्चाशतः पञ्चदशाः, पञ्चपञ्चाशतः सप्तदशाः, पञ्चपञ्चा-
शत एकविंशति विश्वजामयनं सहस्रसंबत्सरम्'—इति। तत्र

* 'सकलम्' इति का० क्री० पू० ॥

भा. सन्देहः,—किं ये सहस्रायुषः, तेषाम् अनन अधिकारः, उत मनुष्याणाम्?—इति (यदापि मनुष्याणां, तदापि बहवो विकल्पाः वक्ष्यमाणाः), अथ वा दिवसेषु संवत्सरशब्दः?—इति । किं प्राप्तम्?—सहस्रायुषां भवितुमर्हति । कुतः? । ‘असम्भवात् मनुष्येषु’, न मनुष्याणाम् एतावदायुर्विद्यते, गन्धर्वाद्यस्वेतावदायुषः—इति भवति स्मृतिः, उपचारोऽन्यार्थदर्शनं* च;— ‘प्रजापतिं वै प्रजाः सृजमानं पाप्मा मृत्युरभिजघान स तपोऽतप्यत सहस्रसंवत्सरान् पाप्मानं विजिह्वासन्’—इति, विस्पष्टं चेदं सहस्रसंवत्सरम् । तस्मात् न मनुष्याणाम्—इति ॥

स. अपि वा तदधिकारान्मनुष्यधर्मः स्यात् ॥ ६२ ॥
(२य पू०) ॥

भा. ‘अपि वा’—इति पक्षव्यावृत्तिः,—न गन्धर्वादीनां, मनुष्याणामेव अधिकारः—इति । कुतः? । ‘तदधिकारात्’, मनुष्याधिकारं शास्त्रं समधिगतम्—इति, ते हि ब्रह्मवान्त कात्स्न्येन यथोदितं विधिम् उपसंहर्तुम्—इति । ‘आह, ननु नैतावदायुषो मनुष्याः’ । उच्यते, रसायनैः आयुर्दीर्घं प्राप्स्यन्ति—इति ॥

स. नासामर्थ्यात् ॥ ३३ ॥ (२य पू० नि० १) ॥

भा. न रसायनानामेतत् सामर्थ्यं दृष्टं, येन सहस्रसंवत्सरं जीवेयुः; एतानि हि अग्नेर्वर्द्धकानि, बलीपलितस्य नाशकानि, खरवर्णप्रसादकानि, मेधाजननानि; नैतावदायुषो दातृणि दृश्यन्ते । ‘ननु खरवर्णप्रसादादिदर्शनादेव ज्योर्जीवनमप्यनुमास्यते’† । न—इति ब्रूमः । कुतः? । ‘अतायुर्वै पुरुषः’—

* आ० सो० पुस्तके “उपचारोऽन्यार्थदर्शनश्च” इत्यंशो सूत्ररूपतयाऽधारि ॥

† “ज्योर्जीवनं खरकाशं जीवमम्” इति का० श्री० पुस्तके टीका ॥

भा. इत्यनुवादः, स एवं ज्योर्जीवे न अवकल्पते । 'अत्र उच्यते, —अतान्यायुरस्य—इति विग्रहीष्यामः' । नैवं सङ्ख्याशब्दानां समास इष्यते, न च गमकानि भवन्ति, 'द्विवचनबहुवचना-न्तानामसमासः'—इति चाभियुक्तवचनात् ॥

स. सम्बन्धादर्शनात् ॥ ३४ ॥ (२य पू० नि० २) ॥

भा. न हि एतावदायुषा रसायनानां सम्बन्धो दृष्टपूर्वः, न च सम्बन्धादर्शनेऽनुमानमस्ति । 'ननु सामान्यतोदृष्टं भविष्यति, दृश्यन्ते तावत् अल्पस्य स्थिरभावस्य कारकाणि, एवम् अभ्यस्य-मानानि वीर्यवत्तमानि स्थिरशरीरताम् उत्पादयिष्यान्ति, 'अतायुः पुरुषः'—इति सत्यपि वचने, अधिकं जीवनं दृश्यते एव—इति । अत्र उच्यते,—न अयम् एकान्तः, कदाचित् याञ्च यावन्तीञ्च शरीरस्थिरतामुत्पादयेयुः, न प्रागप्यदृष्टकालां, यथा प्रक्रामन्तोऽभ्यासात् प्रक्रमाणां दृष्टेर्याञ्च यावन्तीञ्च मात्रां प्राप्नुवन्ति, न तु अभ्यस्यन्तः पुरुषायुषेणापि योजनमात्रं प्रक्रमे-युः, एवम् इहापि सम्बन्धाभावात् सहस्रायुष्टं प्राप्नुयुर्नवेति* सन्दिग्धं, सन्दिग्धं चेत्, सामान्यतोदृष्टं न प्रमाणं, न च अदृ-ष्टोऽर्थः प्रमाणमन्तरेण, शक्योऽभ्युपगन्तम् । तस्मात् असंशयं, नैतावदायुषः सन्ति—इति पुरुषवचनेन उक्तम् ॥ कथं तर्हि? —इति ।

स. स कुलकल्पः स्यादिति काष्णाजिनिरेकस्मिन्न-सम्भवात् ॥ ३५ ॥ (३य पू०) ॥

भा. 'स', मनुष्याधिकारपक्षे 'कुलकल्पो' भविष्यति—इत्येवं 'काष्णाजिनिः' आचार्यो मन्यते स्म । कुतः? । 'एकस्मिन्

* नेति वा इति आ० से० पु० पाठः ॥

भा. असम्भवात्, पुरुषाणाम् इदम् अनुशासनं, न च एतत् एकः
 शक्नोति पारयितुम्, यथा शक्यते, तथा पारयितव्यम्—इति
 गम्यमाने, बहवः शक्नुवन्तः प्रवर्त्तेरन्,—अन्येऽपि तत्कुलीना
 अन्येनारब्धं समापयेयुः—इति ॥

स. अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोगः स्यात् ॥ ३६ ॥
 (इय पू० नि०) ॥

भा. शास्त्रफलं हि प्रयोक्तारि समधिगतं (३।७।८ अ०), यच्च
 कात्स्न्येन विधिम् उपसंहरतुं समर्थः, स एवाधिक्रियते—इति ।
 तस्मात् न कुलकल्पोऽप्यकल्प्यते; कथं तर्हि?—सम्प्रदायमात्रेण
 धर्मः—इत्यध्यवसीयते; एवं श्रूयते, 'स्वाध्यायोऽधेतव्यः'—इति ।
 'एवं तर्हि एतदध्यवसेयं,—वचनप्रामाण्यात् एतत् कर्म कुर्वताम
 आयुर्वर्द्धते'—इति । तच्च न, प्रामाणाभावात्, न हि एतस्मिन्
 अर्थे वाक्यम् अन्यद्वा प्रमाणमस्ति । 'ननु अर्थापत्तिः, अन्यथा
 आनर्थक्यं भविष्यति'—इति । उच्यते,—न आनर्थक्यम्, अध्व-
 यनादेव हि अदृष्टं भविष्यति, तथा हि सामान्येन अदृष्टं
 कल्पयितुम् लघोयः, न तु कर्मणा आयुर्वर्द्धते—इति विशेषा-
 दृष्टकल्पना । अथ वा आनर्थक्यमेव अभ्युपगम्येत, न अयुक्त
 फलं कल्प्यम् । 'अथ उच्येत, अर्द्धतृतीयानि शतानि दीक्षि-
 ष्यन्ते, चतुर्भिवर्षैः समाप्यन्ते'—इति । एवमपि नियतपरिमाणं
 होयेत, 'चतुर्विंशतिपरमाः सप्तदशावराः सत्रमासीरन्'—
 इति । 'वचनस्य तु आनर्थक्यपरिहाराय परिमाणं ह्यापयि-
 ष्यते'—इति चेत् । तदयुक्तम्, अध्ययनात् फलमस्ति । तस्मात्
 न एषा कल्पना—इति ॥ कथन्तर्हि? । एवम्,—

स. विप्रतिषेधात्तु गुण्यन्यतरः* स्यादिति लावुकायनः ॥
३७ ॥ (सि० उपक्रमः १) ॥

भा. 'अन्यतरः' अत्र गौणः शब्दः 'स्यात्',—यदि वा असंवत्सरे संवत्सरशब्दः, यदि वा पञ्चपञ्चाशतः—इति शब्दो गौणः—इति। कुतः एतत्?। 'विप्रतिषेधात्', विप्रतिषेधो हि भवति, उभयस्मिन् विहिते। कथं?। वाक्यं हि भिद्येत, यदि पञ्चपञ्चाशतस्त्रितः, न संवत्सराः; अथ संवत्सरास्त्रितः, न पञ्चपञ्चाशतः। तस्मात् विरोधात् अन्यतरत् वचनं गौणम्—इति 'लावुकायनः आचार्यो मन्यते स्म। आचार्यग्रहणं पूजार्थं, नात्मनः प्रतिषेधार्थम् ॥

स. संवत्सरो विचालित्वात् ॥ ३८ ॥ (सि० उ० २) ॥

भा. एतदुक्तम्—अन्यतरत् गौणम्—इति; तद्वधारयित्वात्, तदुच्यते, संवत्सरवचनं गौणम्—इति। कुतः?। 'विचालित्वात्', विचाली हि संवत्सरशब्दः सावनोऽपि गणितदिवसकः, शीतोष्णवर्षालक्षणोऽपि, चान्द्रमसोऽपि, स एवलक्षणकोऽनुवादः शक्यते कल्पयितुम्। पञ्चपञ्चाशतः—इत्ययन्तु व्यक्तपरिमाण-स्यार्थस्य वाचकः, एकेनाप्युने न भवति ॥

स. सा प्रकृतिः स्यादधिकारात् ॥ ३९ ॥ (४र्थं पू०) ॥

भा. गवामयने मासाः प्रकृताः, मासेषु च सम्बत्सरशब्दः उक्तः,—'यो वै मासः सम्बत्सरः'—इति। तस्मात् पञ्चपञ्चाशतो मासाः—इति। 'ननु एतस्मिन् पक्षे सहस्रसम्बत्सरशब्दो न अवकल्पते'। उच्यते, नामधेयमेतत् सहस्रसम्बत्सरशब्दः—

* 'गुणादन्यतरः' इति का० क्री० पु० पाठः ॥

† उक्तपरिमाणस्यार्थस्य इति कं० स० पु० पाठः ॥

भा. इति, न गुणविधिः, नामधेयं च न विधीयते, अविधीयमानञ्च येन-केनचित् गुणेन अवकल्प्यते ।

नैषोऽपि पक्षो युज्यते, अत्रापि हि स एव दोषः, न तावज्जीवनमस्ति, यावतैतत् अवकल्प्येत,* दाराग्निकाशसोम-पूर्वत्वापेक्षयेति; तेनैतस्मिंश्च क्रियमाणेऽपरिसमाप्ते एवायुः पर्युपयुक्तं स्यात्, तथा च अध्ययनात् एव अदृष्टं कल्प्येत । 'एवं तद्धि,—दादशाहः प्रकृतिरिति पञ्चपञ्चाशतो दादशाहा भविष्यन्ति—इति, तथा च दृश्यते 'दादश वै रात्रयः संवत्सरस्य प्रतिमा'—इति, तत्र स दोषो न भविष्यति' । नैवं, तत्र सम्बत्सरशब्दस्य साक्षात् प्रतिमाशब्देन संयोगात्। अपि च, 'पञ्चपञ्चाशत्त्रिष्टुतः'—इत्युक्तं, त्रिष्टुब्दश्च दादशाहे दिवसे दृष्टः, न दादशरात्रे । तस्मात् नैवम् ॥

स. अहानि वाभिसङ्गृह्यत्वात् ॥ ४० ॥ (सि०) ॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति,—न च एतदस्ति,—पञ्चपञ्चाशतो दादशरात्राः—इति, अहान्येव त्रिष्टुब्देनास्थायन्ते । तस्मात् अहःसु सम्बत्सरशब्दः—इति ॥ अथ वा, वाशब्दः पक्षान्तरं व्यावर्त्तयति,—न पञ्चपञ्चाशतो मासाः, किन्तार्द्ध दिवसाः; दादशाहे त्रिष्टुत् अहः प्रकृतं, तत्र सम्बत्सरशब्दो दृश्यते,— 'आदित्यो वा सर्वं ऋतवः, स यदैवोदित्यथ वसन्तो, यदा सङ्गवोऽथ ग्रीष्मो, यदा मध्यन्दिनोऽथ वर्षा, यदाऽपराक्कोऽथ शरत्, यदाऽस्तमेत्यथ हेमन्तशिशिरौ'—इति सर्वान् ऋतून् अहनि सम्पादयति, सर्वं च ऋतवः सम्बत्सरः । तस्मात् अहः

* अवकल्प्येत इति का० श्री० पु० पाठः ॥

† न हि अत्र संवत्सरशब्दः साक्षात्, प्रतिमाशब्देन संयोगादिति क० सं० पुरातन-पुस्तकपाठः । नैवं, न हि अत्र रात्रिशब्दः संवत्सरशब्दस्यापेक्षः प्रतिमाशब्देन संयोगादिति आ० सो० पु० पाठः ॥

भा. सम्बत्सरशब्देन उच्यते । अपि च 'पञ्चपञ्चाशत्तस्तृष्टतः—
इति चिष्टतां पञ्चपञ्चाशत्त्वं, न च द्वादशरात्रिचिष्टत्, एकं द्वि
द्वादशाहे चिष्टदहः, न तत्र चिष्टत्सङ्ख्याया द्वादशरात्रेण मुख्यया
टत्या सामानाधिकरण्यं, चिष्टदहःसम्बन्धलक्षणाया स्यात्,
अभिसङ्ख्यं चिष्टदहः, तेन श्रुत्यैव सामानाधिकरण्यं, श्रुतिश्च
लक्षणाया ज्यायसी । तस्मात् पञ्चपञ्चाशदहानि सम्बत्सरः
स्यात्—इति ॥ (६।७।१२ अ०) ॥

इति श्रीश्वरस्वामिनः द्वादशतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य
सप्तमः पादः ॥



षष्ठे अथाये अष्टमः पादः ॥



अथानादिनाग्रेरेव चतुर्होतृहोमाधिकाराधिकारम् ॥

स. इष्टिपूर्वत्वादक्रतुशेषो होमः संस्कृतेष्वग्निषु स्याद-
पूर्वोऽप्याधानस्य सर्वशेषत्वात् ॥ १ ॥ (१म पू०) ॥

भा. इह चतुर्होतृध्वानायते, 'प्रजाकामं चतुर्होता याजयेच्चतु-
र्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा चतुर्होतारं याचकीत पूर्वेषु ग्रहेणाह्वै
जुहुयात्, तदुत्तरेणार्द्धम्'*—इति। तत्र सन्देहः,—किं पव-
मानेष्टिसंस्कारेषु अग्निषु एवमादयः, उत असंस्कारेष्वपि? तथा
पक्षान्तराश्रयणमपि वक्ष्यमाणं विचारयिष्यते। किं तावत्
प्राप्तम्?—'संस्कारेषु अग्निषु' एवञ्जातीयकः 'अक्रतुशेषो' '२पि'
'होमः' 'स्यात्'। यद्यप्यपूर्वा दर्विहोमा न कुतश्चिद्द्वर्मान्
आकाङ्क्षन्ति, तथापि आहवनीयादयो होमादीन् आकाङ्क्षन्ति,†
'यदाहवनीये जुहोति, तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति'—
इत्येवमादिभिः श्रुतिभिः। एवमिष्टपूर्वत्वात् सर्वहोमानां,
संस्काराग्निष्टित्वम् एवञ्जातीयकानाम्—इति ॥

स. इष्टित्वेन तु संस्तवश्चतुर्होतृनसंस्कृतेषु दर्शयति ॥
२ ॥ (३०) ॥

भा. तुशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते। चतुर्होतृहोमाः 'असंस्कारेषु'
अग्निषु भवेयुः; तथा हि 'दर्शयति', 'एषा वा अनाहिताग्ने-

* उत्तरेणार्द्धमिति का० क्री० पु० पाठः। "शयिनी होता सौः अध्वर्युः" इत्यादि-
को मन्त्रश्चतुर्होता" इति साधवः।

† अत्र 'होमादिना आकाङ्क्षन्ते' इति पाठो भवितुं युक्तः।

‡ संस्काराग्निष्टित्वमिति का० क्री० पु० पाठः।

भा. रिष्टिर्यच्चतुर्होतारः—इति, अनाहिताग्नेरिष्टयो न विद्यन्ते, ये त्वेते चतुर्होतारः, तस्यैषैव इष्टिरिति, अनाहिताग्नेः एवङ्गातीयकान् होमान् दर्शयति । तस्मात् असंस्कृतेषु भवेयुः । ‘ननु सिद्धम् असाधकं, प्राप्तिर्वक्तव्या’—इति । तदुच्यते,—

स. उपदेशस्त्वपूर्वत्वात् ॥ ३ ॥ (यु०) ॥

भा. एवं तर्हि, अक्रतुशेषाणां विधिः एषा भविष्यति,—‘एषा अनाहिताग्नेः क्रिया’—इति । एवम् अर्थवद्वचनं भविष्यति, वादमात्रम् अनर्थकं भवति, अस्य च अस्ति विधिसामर्थ्यम् । तस्मात् विधिः असंस्कृतेषु—इति ॥

स. स सर्वेषामविशेषात् ॥ ४ ॥ (२य पू०) ॥

भा. आह, एतत् गृह्यते विधिः—इति ; यत्,—अक्रतुशेषाणाम्—इति, तन्न, ‘सर्वेषां’ क्रतुशेषाणाम् अक्रतुशेषाणां च चतुर्होतृहोमानाम् । कुतः ? । ‘अविशेषात्’, न क्रतुशेषाणामेव अयं धर्म उच्यते, न अक्रतुशेषाणाम्—इति ; तस्मात् सर्वेषाम् ॥

स. अपि वा क्रत्वभावाद्नाहिताग्नेरशेषभूत-
निर्देशः ॥ ५ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘अपि वा’—इति पञ्चव्याहृतिः । अक्रतुशेषाणाम् एव अयं धर्मो न क्रतुशेषाणाम् । कुतः ? । ‘अनाहिताग्नेः’ ‘क्रत्व-भावात्’, न हि अनाहिताग्नेः क्रतवः सन्ति ; न च क्रत्वङ्गं केवलं प्रयुज्यमानं कस्मैचित् प्रयोजनाय स्यात् ; न च अस्य अन्यत् फलं प्रकल्प्येत, प्रमाणाभावात् ; वचनस्य हि अन्यदपि प्रयोजनमस्ति ; न च, अनेन वचनेन शक्यतेऽनाहिताग्नेः क्रतुः कल्पयितुम् । तस्मात् अक्रतुशेषाणाम् अयं धर्मः—इति ॥

स. जपो वानग्निसंयोगात् ॥ ६ ॥ (आ०) ॥

भा. वाङ्मदात् पञ्चो विपरिवर्तते । न असंस्थितेषु अग्निषु एव-
 ज्ञातीयका होमाः स्युः । कुतः ? । आधानस्य सर्वश्रेयत्वात् ।
 'ननु वचनमिदम्,—'एषा अनाहिताग्नेरिष्टिः'—इति । न—
 इति ब्रूमः, अपार्थवाद एष भविष्यति, ये जपरूपास्तेषाम्
 अर्थवादी, न सर्वेषां चतुर्होतृणाम्, एवं, 'यदाहवनीये जुहोति'
 —इत्येवमादीनां वचनानाम् अर्थवत्ता भविष्यति ॥

स. इष्टित्वेन तु संस्तुते होमः स्यादनारभ्याग्निसंयोगा-
 दितरेषामवाच्यत्वात् ॥ ७ ॥ (उ०) ॥

भा. यदुक्तम्,—'एषा वा अनाहिताग्नेः क्रिया इष्टितुल्या'—इति
 जपानाम् एष वादः—इति, तन्न, नैषा वचनव्यक्तिः,—यैषा
 अनाहिताग्नेः क्रिया, सा इष्टितुल्या—इति । किंकारणम् ? ।
 सादृश्यमाचानुवादोऽनर्थकः स्यात्, इतरस्मिन् पक्षे विधिः
 अर्थवान्,—येयम् इष्टिः, एषा अनाहिताग्नेः—इति, तदिष्टि-
 संस्तवाद्धोमानामेव वादः । कथम् ? । इष्टिर्यागः, स एवासेचना-
 धिको होमः । यदुक्तं,—सर्वहोमार्थं आहवनीयः—इति ; तन्न
 चतुर्होतृनेवाधिष्ठत्य उच्यते, किन्तु अविशेषेण होमान्, स
 चतुर्होतृषु असम्भवात् अन्येषु भविष्यति, चतुर्होतृषु च अना-
 हिताग्नेरुचरमानेषु आहवनीयो न अङ्गम्—इति* ॥

स. उभयोः पितृयज्ञवत् ॥ ८ ॥ (आ०) ॥

भा. नैतदस्ति, अनाहिताग्नेरेव चतुर्होतारः—इति, 'उभयोः'
 स्युः, 'पितृयज्ञवत्', यथा पितृयज्ञ आहिताग्नेः अनाहिताग्नेश्च,

* 'तदर्थं नैव स यज्ञश्चो भवति' इत्यधिकः पाठः का० श्रौ० पु० ।

भा. एवं चतुर्होतारोऽपि । कथम् अबगम्यते ? । वर्णितमेतत्,—
यदा अनुवादपक्षः, तदा आहिताग्नेः, यदा विधिपक्षः, तदा
अनाहिताग्नेः; उभयथा वचनव्यक्तिः प्रतीयते, न च प्रतीय-
मानोऽर्थः शक्यतेऽपकरोतुम् । तस्मात् उभयोश्चतुर्होतारः—
इति ॥

स. निर्देशो वानाहिताग्नेरनारभ्याग्निसंयोगात् ॥ ९ ॥
(उ०) ॥

भा. न चैतदस्ति,—उभयोश्चतुर्होतारो भवेयुः—इति । कथम् ? ।
एष हि अनाहिताग्निनिर्देशः,—‘एषा वा इष्टिः अनाहिताग्नेः’
—इति वचनेन अधिष्ठतः, न आहिताग्निः, निर्देशसामर्थ्यात् ।
अर्थवादे च उपस्तीर्णं तत्रैव न विरुध्यते—इति । ‘यदा हवनीये
जुहोति’—इति वचनं न चतुर्होतृनेव अधिष्ठत्य उच्यते—
इत्युक्तम् । तस्मात् अनाहिताग्नेरेवज्ञातीयका होमाः ॥

स. पितृयज्ञे संयुक्तस्य पुनर्वचनम् ॥ १० ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—पितृयज्ञवत्—इति, युक्तं पितृयज्ञे, तत्र आहि-
ताग्निसंयुक्तस्य पुनरेतद्वचनं भवति,—‘अप्यनाहिताग्निना कार्यः’
—इति, एतद्वचनम् अनाहिताग्नेरपि—इति अनाहिताग्नौ
अन्वाहार्यकं करोति, इह तथा नास्ति वचनं, नियोगत एको
निर्देशः,—‘एषा वा अनाहिताग्नेः’—इति, न अत्र अपिशब्दो-
पस्ति । तस्मात् पितृयज्ञेन अतुल्यमेतत् ॥ (६।८।१ अ०) ॥

अनाहिताग्निषूपनयनहोमाधिकरणम् ॥

स. उपनयन्नादधीत होमसंयोगात् ॥ ११ ॥ (पू०) ॥

भा. इदमामनन्ति, ‘उपनयंस्तिष्ठभिर्जुहुयात्’—इति । तत्र

भा. सन्देहः,—किम् अयं होम आधानसंस्कारेषु अग्निषु, उत असंस्कारेषु?—इति। किं प्राप्तम्?—‘उपनयन्नादधीत’—इति। कुतः?। ‘होमसंयोगात्’ आहवनीयस्य, ‘यदाहवनीये जुहोति,* तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति’—इति। तस्मात् आधानोत्तर-काला एते होमाः—इति स्थितिः ॥

स. स्थपतीष्टिवस्त्रौकिको वा विद्याकर्मानुपूर्वत्वात् ॥
१२ ॥ (सि०) ॥

भा. न चैतदस्ति,—‘आधाय एवञ्जातीयकं होतव्यम्’—इति। किं तर्हि?—लौकिके एव प्रवर्तेत—इति। कुतः?। ‘विद्या-कर्मानुपूर्वत्वात्’, विद्यायद्दृष्टार्था इमे होमाः; विद्यावतश्च आधानेन अधिकारः, सामर्थ्यात्। अतः आधानोत्तरकालता नैवाम् अवकल्पते, यथा स्थपतीष्ट्याम् ॥

स. आधानञ्च भार्यासंयुक्तम् ॥ १३ ॥ (यु०) ॥

भा. आधानं च भार्यासंयुक्तम् श्रूयते, विद्यायद्दृष्टोत्तरकालश्च दार-संयद्दः। तस्मात् अपि न अवकल्पते पूर्वकालता आधानस्य ॥

स. अकर्म चोर्द्धमाधानात्तत्समवायो हि कर्मभिः ॥
१४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. ‘अत्र आह, या पूर्वमाधानात्, दारक्रिया, सा कर्मार्था भविष्यति, वचनाच्च ऊर्द्धमाधानात्, अपत्यार्था,—दयोरपि कालयोः, पिण्डपितृयज्ञवत् नैव दोषो भविष्यति’—इति। अत्र उच्यते,—‘अकर्म च’ दारक्रिया, या आधानोत्तरकाले। कुतः?। आहवनीयादि—‘समवायो’ ‘हि कर्मभिः’ भवति, स्त्रायै च

* जुहति इति आ० सो० पु० पाठः।

† स्थपतिवस्त्रौकिके इति का० ऋ० पु० एवं क० सं० द्वितीय पु० पाठः।

भा. अग्रयः आधातव्याः—इति नियमः । तस्मात् उभयस्त्रिंशत्पि
काले दारसंयद्धः—इत्येतत् नास्ति ॥

सू. आह्ववदिति चेत् ॥ १५ ॥ (आ०) ॥

भा. अत्र आह्व,—यथा पिण्डपितृयज्ञः आहिताग्नेः, अनाहिता-
ग्नेश्च भवति, एवं दारसंयहोर्गपि—इति यदुक्तं, तत्परिहर्तव्यम् ॥

सू. न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥ १६ ॥ (आ० नि० १) ॥

भा. नेवं; श्रुतिविप्रतिषेधो हि भवति, एवं क्रियमाणे दारकर्मणि
विद्यायह्णोत्तरकालं श्रूयमाणं, पूर्वं क्रियते—इति विप्रतिषिद्धम् ।
अर्थादन्यदेवेदम्—इति चेत्; न, अर्थप्राप्तस्यैव कालनियमः
एषः; उपनयनं च कर्मार्थं, तत् द्वितीयस्यां विप्रतिषिधेत ॥

सू. सर्वार्थत्वाच्च पुत्रार्थो न प्रयोजयेत् ॥ १७ ॥
(आ० नि० २ एवं पू०) ॥

भा. अथ उच्यते,—‘प्रागाधानाच्च, कर्मार्था एव, ऊर्द्धं च अप-
त्यार्था एव अस्य* भविष्यति, तेनैवं सति अस्य न किञ्चित्
विरोत्स्यते’—इति । उच्यते,—नैतदेवं, सर्वार्था हि सा, न
केवलम् अपत्यार्थतामेष्यति, तदुक्तं,—फलोत्साह्याविशेषात्—
इति । तस्मात् अपि न द्विहारसंयद्धः । अपि च एवं स्मर्यते,
—‘धर्मं च अर्थं च कामे च नातिचरितव्या’—इति, एवं सति
अतिचरिता स्यात्, अतो न द्विहारसंयद्धः । एकैव भार्या
कर्मार्था अपत्यार्था च, तस्याश्च विद्यायह्णोत्तरकालता । अतो
न आधानसंस्कारेषु एते ह्योमाः—इति ॥

* सा इति का० क्री० पु० पाठः ।

स. सोमपानात्तु प्रापयां द्वितीयस्य तस्मादुपयच्छेत्* ॥
१८ ॥ (पू० नि०) ॥

भा. गृह्यते एतत्,—प्रागुपनयनात्, नास्ति पत्नी—इति; यदुक्तम्
एकैव पत्नी—इति, तन्न मृष्यते, यथैव स्मृतिः,—‘धर्मे च अर्थे
च कामे च नातिचरितव्या’—इति, ‘धर्मप्रजासम्पन्ने दारे न
अन्यां कुर्वीत’—इति च; एवम् इदमपि स्मर्यते एव, अन्य-
तराप्राये अन्यां कुर्वीत’—इति । तस्मात् यस्य न धर्मसम्पन्ना
न प्रजासम्पन्ना वा पत्नी, सोऽन्यां कुर्वीत—इति । ‘सोमपानात्’
—इति च अर्थवादं व्यर्थादिति स्म, —‘सोमपो न द्वितीयां
जायामभ्यषूयते’—इति द्वितीयामपि जायां दर्शयति ॥

स. पितृयज्ञे तु दर्शनात्प्रागाधानात्प्रतोयत ॥ १९ ॥
(आ० नि० ३) ॥

भा. ‘अथ कथं पितृयज्ञस्य द्वौ कालौ?’—इति । उच्यते, वचनं
इह तत्र दृश्यते,—‘अप्यनाहिताग्निना कार्यः’—इति । तस्मात्
प्रागाधानात् पितृयज्ञः—इति ॥ (६।८।२ अ०) ॥

अनाहितेऽग्नौ स्थपतीष्टाधिकारश्च ॥

स. स्थपतीष्टिः प्रयाजवदग्राधेयं प्रयोजयेत्तादर्थ्याच्चा-
पवृज्येत ॥ २० ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति स्थपतीष्टिः,—‘एतया निषादस्थपतिं याजयेत्’—
इति । तत्र सन्देहः,—किम् आधानसंस्कारेषु अग्निषु स्यात्, उत
लौकिकेषु?—इति । किं प्राप्तम्?—संस्कारेषु—इति । कथम्? ।

* उपयच्छेत् इति का० श्री० पू० पाठः ॥

भा. 'यदाहवनीये जुहोति'—इत्थेवमादिवचनात् । 'ननु अद्रस्य
आहवनीयाभावात् नास्ति तस्य श्रुतिः'—इति । उच्यते,—
सा हि आहवनीयं प्रयोजयेत्, यथा प्रयाजान् अश्रुतान्
प्रयोजयति, एवं चोदकसामर्थ्यात्—इति । 'तादर्थ्याच्च अप-
हृज्येत', स्थपतीष्वर्थं च आहिता अग्नयः, तस्याम् अपहृक्तायाम्
अपहृज्येरन्, धारणं हि तेषां दृष्टकायंम् आम्नातम्, अतिक्रान्ते
कार्ये न स्यात्—इति ॥

सू. अपि वा लौकिकेऽग्नौ स्यादाधानस्यासर्वशेष-
त्वात् ॥ २१ ॥ (सि०) ॥

भा. 'अपि वा'—इति पञ्चथाष्टतिः । लौकिकेषु अग्निषु 'स्यात्'
न संस्मृतेषु । कुतः ? । 'आधानस्यासर्वशेषत्वात्', सर्वकर्मशेष-
भूता अग्नयः, तदङ्गमाधानं, न कर्माङ्गं ; श्रुत्यादीनामभावात्
न कर्मप्रयुक्तता आधानस्य ; वाक्यसामर्थ्याच्च अग्निप्रयुक्तत्वं ;
यच्च दर्शपूर्णमासप्रयुक्तं, तच्चोदकेन प्राप्यते, न द्रव्यप्रयुक्तम् ।
तस्मात् लौकिकेषु अग्निषु स्थपतीष्टिः—इति ॥ (६।८।
३ अ०) ॥

अनाहितेऽग्नाववकीर्णिपञ्चनुष्ठानाधिकरणम् ॥

सू. अवकीर्णि-पशुश्च* तद्दाधानस्याप्राप्तकाल-
त्वात् ॥ २२ ॥

भा. अस्ति अवकीर्णि-पशुः,—'ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैष्टतं गर्हभमा-
सभेत'—इति । तत्र सन्देहः,—किं तदर्थम् आधानं कर्तव्यम्,
उत लौकिकेषु अग्निषु तदर्थम्?—इति । 'अवकीर्णि-पशुश्च

* अवकीर्णी पशुः इति आ० सो० पु० पाठः ॥

भा. तदत्—इत्यधिकरणातिदेशः,—पूर्वस्य अधिकरणस्य यः पूर्वः पक्षः, स अत्र पूर्वः पक्षः; यः सिद्धान्तः, स सिद्धान्तः;—सवार्थम् आधानम्, तस्मात् आहिताग्निषु—इति पूर्वः पक्षः। आधानस्य अप्राप्तकालत्वात्—इति सिद्धान्तः,—अप्राप्तोऽयम् आधानस्य कालः—इत्येतदुक्तं। तस्मात् इदमपि कर्म लौकिकेषु—इति ॥ (६।८।४ अ०) ॥

दैवकर्माणामुदगयनादिकालताधिकरणम् ॥

सू. उदगयनपूर्वपक्षाहःपुण्याहेषु देवानि स्मृति-रूपा-
न्यार्थदर्शनात् ॥ २३ ॥ (सि०) ॥

भा. देवानि कर्माणि उदाहरणम् उपनयनप्रभृतीनि। तत्र सन्देहः,—किम् अनियते काले देवानि कर्तव्यानि, उत उद-
गयन-पूर्वपक्षाहः-पुण्याहेषु?—इति। अनियते—इति प्राप्ते
उदगयनादिषु—इत्युच्यते। कुतः?। एवं स्मरन्ति,—‘तेषु कालेषु
दैवानि’—इति। रूपार्थवादश्च,—‘एतद्देवै* देवानां रूपं, यत्
उदगयनं, पूर्वपक्षोऽहः’—इति; न च वयं देवादीनां रूपं
विद्मः; अथ त्वेषु कालेषु देवानि क्रियन्ते, ततः एतेन सम्बन्धेन
रूपवचनम् अवकल्पते। अन्यार्थं च वाक्यमेतत् दर्शयति,—
पूर्वाहो वै देवानां, मध्यन्दिनो मनुष्याणाम्, अपराहः पितृ-
णाम्—इति। तस्मात् एतेषु कालेषु देवानि स्युः—इति ॥

सू. अहनि च कर्म्मसाकल्यम् ॥ २४ ॥ (यु०) ॥

भा. ‘अहनि च’ विशेषः,—सकलं कर्म अहन्येव शक्यते कर्तुम्—
इति, न रात्रौ करिष्यति ॥ (६।८।५ अ०) ॥

* एतद्वा इति आ० सो० पु० पाठः।

पित्रकर्मणोऽपरपक्षादिकालताधिकरणम् ॥

सू. इतरेषु तु पित्राणि ॥ २५ ॥

भा. आङ्गादीनि अपरपक्षे अपराङ्गे च, स्मृतिरूपान्यार्थदर्शनात् ॥
(६।८।६ अ०*) ॥

ज्योतिष्टोमा इत्याञ्जाक्रययोर्नित्यताधिकरणम् ॥

सू. याच्ञाक्रयणमविद्यमाने लोकवत् ॥ २६ ॥ (पू०) ॥

भा. इदं समाग्नयते ज्योतिष्टोमे,—‘डादञ्च रात्रीर्दीक्षितो भृतिं वन्वीत’—इति, तथा ‘सोमं क्रीणाति’—इति। तत्र सन्देहः,—किं यस्य न विद्यते भृतिः, तेन वनितव्या, यस्य च न विद्यते सोमः, तेन क्रेतव्यः; उत उभयापि सति च असति च?। किं प्राप्तम्?—‘याच्ञाक्रयणम् अविद्यमाने’ भृतिधने सोमे च स्यात्। कस्मात्?। द्रव्यसङ्गावार्थं याच्ञाक्रयणं, तत् विद्यमानेऽनर्थकम्; अनर्थकं च उक्तमपि न कर्तव्यम्। तस्मात् अविद्यमाने भवेत्, लोकवत्; यथा यस्य लोके नास्ति द्रव्यं, स याचते क्रीणाति च, एवम् इहापि द्रष्टव्यम् ॥

सू. नियतं वार्थवत्त्वात् स्यात् ॥ २७ ॥ (सि०) ॥

भा. ‘नियतं वा’ याच्ञाक्रयणं, तद्विद्यमाने अविद्यमाने च द्रव्ये स्यात्, एवं याच्ञाक्रयणम् ‘अर्थवत्’ भवति, ज्योतिष्टोमप्रयुक्तं हि तत् श्रूयते, न द्रव्यप्रयुक्तं; तच्च नित्यं ज्योतिष्टोमस्य; नैवं वचनं भवति,—यदा द्रव्यं नास्ति, तदा कर्तव्यम्—इति;

* न्यायमालायां नेदमधिकरणः। नरतया उदलेखि। वार्तिके तु “अधिकरणम्” इत्युक्तम्।

भा. ज्योतिष्टोमस्य च नित्यमङ्गमुक्तं, द्रव्याभावो निमित्तम् उक्तम्—
इति परिकल्पयेत्, कल्पनायां शब्दो बाधेत । अतो याच्ञा-
क्रयणसंस्तुतम् द्रव्यम् इच्छोपयोक्तव्यम्, अन्यथा वैगुण्यं भवति ।
तस्मात् सति च असति च द्रव्ये याच्ञाक्रयणम् अनुष्ठातव्यम्
—इति । अथ यदुक्तं,—लोकवत्—इति, लोके कर्म अर्धलक्षणं
भवति, न शब्दलक्षणं, यथा अर्थः, तथा क्रियते; न, यथा
शब्दः; वेदे तु शब्देनैव अर्थोऽवगम्यते, तथैव अनुष्ठेयम्—
इति । तस्मात् विद्यमानेऽपि कर्तव्यम् ॥ (६।८।७ अ०) ॥

ज्योतिष्टोमादिषु पयोव्रतादीनामपि नित्यताधिकरणम् ॥

ख. तथा भक्षप्रैषाच्छादनसंज्ञतष्टोमद्वेषम् ॥ २८ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘पयो व्रतं ब्राह्मणस्य यवागू-राजन्यस्य,
आमिक्षा वैश्वस्य’—इति; तथा दर्शपूर्णमासयोः प्रैषः,—
‘प्रोक्षणीरासादयेध्मं बर्हिषसादय क्षुचः संसृद्धिं पत्नीं सस्र-
च्छाज्येनोदेहि’—इति; तथा वाजपेये श्रूयते,—‘दर्भमयं वासो
भवति’—इति; पशौ संज्ञतष्टोमः,—‘यत् पशुर्मायुमह्यतोरौ
वा पङ्क्तिराहत अभिर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः’—
इति; तथा, ‘योऽस्मान् देष्टि वक्ष्य वयं दिष्मः’—इति वचनम्,
एतानि उदाहरणवचनानि ।

तेषु सन्देहः,—किं यस्य अपरं भोजनं न विद्यते, स पयो
व्रतयेत्, यवागूमामिक्षां वा, उत विद्यमानेऽपि?—इति; तथा
यो प्रेषितः प्रैषार्थं न प्रतिपद्यते, स प्रेषितव्यः, उत प्रतिपद्य-
मानोऽपि?—इति; तथा, यस्य सूचमयं वासो नास्ति, स
दर्भमयं परिहृषीत, उत विद्यमानेऽपि?—इति; तथा यस्य
पशुर्मायुम् कुर्यात्, उरो वा पादौ वा हन्यात्, स एतेन मन्वेण
जुहुयात्, उत अन्योऽपि?—इति; तथा, यो देष्टि कश्चित्,

भा. अन्येन च द्विष्यते, स एव मखं ब्रूयात्,—‘योऽस्मान् द्वेष्टि’—
इति; उत अद्विषन् अद्विष्यमाणस्यापि?—इति।

तत्र अधिकरणातिदेशोऽयम्। तत्र यः पूर्वस्मिन् अधिकरणे
पूर्वः पक्षः, स इह पूर्वः पक्षः, यस्तत्र सिद्धान्तः, स इह
सिद्धान्तः,—अविद्यमाने कुर्यात्—इति पूर्वः पक्षः; ‘नियतं
वार्थवत्त्वात्’ (६। ८। २७ सू०)—इत्युत्तरः। स एव अत्र न्यायः,
यः पूर्वश्च ॥ (६। ८। ८ अ०) ॥

अपररात्रे व्रतस्थानियमाधिकरणम् ॥

सू. अनर्थकं त्वनित्यं स्यात् ॥ २९ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—‘मध्यन्दिनेऽपररात्रे वा व्रतं व्रतयति’—
इति। तत्र सन्देहः,—किं नियतम् अपररात्रे व्रतम्, उत अनि-
यतम्?—इति। किं प्राप्तम्?—‘नियतं च अर्थवत्त्वात् स्यात्’
—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—‘अनर्थकं त्वनित्यं स्यात्’, यदा
एवम् मन्येत,—अस्मिन् काले व्रतं मे जरिष्यति—इति, तदा
व्रतयेत्, यदा तु खलु मन्येत,—न सम्यक् जरिष्यति—इति,
तदा तत् व्रतं क्रियमाणम् अनर्थकं स्यात्, यदि हि अजीर्णेन
यजमानो ऋष्येत, तदा तस्यलोपः, तस्यलोपे च सर्वलोपः।
तस्मात् अनियतं तस्मिन् काले व्रतं व्रतयितव्यम्—इति ॥ (६।
८। ९ अ०) ॥

शागस्यैवाग्नीषोमीयपशुताधिकरणम् ॥ (कलाचिन्तारूपमिदम्) ॥

सू. पशुचोदनायामनियमोऽविशेषात् ॥ ३० ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयो,—‘यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं
पशुमालभते’—इति। तत्र सन्देहः,—किं यः—कश्चित् पशुरा-

भा. लम्बनीयः, उत ह्यागः?—इति वक्ष्यमाणेन अभिप्रायेण भवति संशयः। 'ननु एकेषामाम्नायते,—अजोऽग्नीषोमीयः'—इति, 'सर्वं ज्ञात्वा प्रत्ययं च एकं कर्म'—इति। अथ उच्यते,—प्रति-ज्ञाखं भिन्नानि कर्माणि—इति श्रुत्वा—चिन्ता। किं तावत् प्राप्तम्?—'पशुचोदनायाम् अनियमः'; उत्सर्गं कर्त्तव्ये द्रव्यं शक्यते उत्सृष्टुम्, न पशुत्वं; द्रव्यं हि साधकम्, अतः अत्र द्रव्यम् अन्तरेण, उत्सर्गो न सम्भवति—इति द्रव्यम् उपादी-यते। तस्मिन् उपादीयमाने अनियमः, यत्किञ्चित् उत्सृष्टव्यम्—इति। कुतः एतत्?। 'अविशेषात्', न हि पशुत्वसम्बद्धेषु कश्चिद्विशेषः उपलभ्यते। तस्मात् यः—कश्चित् पशुः—इति ॥

सू. ह्यागो वा मन्त्रवर्णात् ॥ ३१ ॥ (सि०) ॥

भा. वाङ्मन्त्रः पक्षं व्यावर्त्तयति। नैतदस्ति,—यत्र—कचन द्रव्ये पशुत्वम् उपादेयम्—इति। अस्ति उत्सृष्टव्यस्य नियमकारणं मन्त्रवर्णः,—'अग्नये ह्यागस्य वयाया मेदसोऽनुब्रूहि'—इति, ह्यागप्रकाशनसमर्थो मन्त्रवर्णः समाम्नायते, यदि ह्यागो न उपा-देयः, ततस्तत्प्रकाशनसमर्थस्य उपादानम् अनर्थवत्, तेन अव-गम्यते,—ह्यागम् अधिष्ठत्य उत्सर्गं विदधाति—इति, मन्त्र-वर्णको द्रव्यनियमविधिः—इति ॥

सू. न, चोदनाविरोधात् ॥ ३२ ॥ (आ०) ॥

भा. नैतदेवं, न शक्नोति मन्त्रवर्णश्चोदनायां प्रत्यर्थिन्यां द्रव्यं नियन्तुम्, यत्र हि द्रव्यस्य प्रकाशकं न श्रूयते, तत्र अप्रकाशित-मेव तत्कर्त्तव्यम्—इति। तस्मात् न मन्त्रवर्णात् प्रकाश्यानियम-विधिः* कल्पयते,—एवमत्र† प्रकाशयं प्रकाशयितव्यम्—इति।

* प्रकाशकनियमविधिरिति आ० नो० पु० पाठः।

† एव मन्त्रप्रकाशमिति क० सं० द्वितीय पु० पाठः।

भा. अत्र पुनः शब्देन अवगम्यते,—पशुत्वेन प्रकाशयितव्यम्—इति । तस्मात् न मद्यवर्णः तत्सद्भावे समर्थः । मद्यवर्णाद्धि कल्प्या प्रयोगवचनश्रुतिः, इह कृता प्रयोगवचनेन उपसंहर्यता, अन्य एव पशुशब्दस्य अर्थः पशुत्वम्, अन्यो मद्यवर्णेन नियम्यते ह्यगः । तस्मात् न मद्यवर्णश्चोदनाविरोधेन नियन्तुमर्हति—इति ॥

स. आर्षेयवदिति चेत् ॥ ३३ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. 'इति चेत्' पश्यसि,—न पशुत्वम् अन्येभ्यः पशुभ्य आच्छे-
तव्यम्—इति ; यथा, 'आर्षेयं वृणीते, चीन् वृणीते'—इति सामान्यश्रुतिः चिष्ववावतिष्ठते—इति, चित्त्वं विशेषो विव-
क्षितो न अन्ये विवक्षिताः—इति ; एवम् इहापि पशुत्वं, ह्यगं प्रकल्पयितुम् विवक्षितं, न अन्यान् विशेषान्—इति ॥

स. न, तत्र ह्यचोदितत्वात् ॥ ३४ ॥ (आ०) ॥

भा. नैतदेवं, 'तत्र हि' अचोदितं द्रव्यम् उत्सृष्ट्यं, मद्यवर्णे, वरणे पुनश्चोदितं ; तत्र चित्त्वसङ्ख्यासम्बन्धस्य वरणे चोदितत्वात्, न अन्या सङ्ख्या क्रियते । आर्षेयशब्दादपि न अनार्षेयं, चिशब्दस्य हि तत् सामर्थ्यं, येन आर्षेयशब्दो विशिष्टसङ्ख्याविषयो निय-
म्यते, इह न मद्यस्य सामर्थ्यम् । तस्मात् अनियमः—इति ॥

स. नियमो वैकार्थ्यं ह्यर्थभेदाद्भेदः पृथक्केनाभिधानात् ॥
३५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. 'नियमो वा', 'ऐकार्थ्यं हि' पशुच्छागशब्दयोः,—सामान्यं पशुः—इति, ह्यगादयो विशेषा उच्यन्ते । कथम् ? तैः सामा-
नाधिकरण्यात्, पशुः ह्यगः, पशुरुद्रः, पशुमेषः पशुरुसः—
इति । एवं सति न मद्यवर्णः पशुशब्देन विरुध्यते, तेन ह्यगो-

भा. भ्यालब्धव्यञ्चोदितः, मन्वर्वर्णं उपादीवमाने इदम् अवगम्यते, छागं विवक्षित्वा अयं पशुशब्दः उच्यते—इति, न अन्यान् विज्ञेयान्—इति। छागोपकरणम् अस्य उपदर्शितं, यदुपदर्शने पशुशब्दश्छागाभिप्रायः—इति गम्यते, यथा युगवरत्ने उपदर्शिते, ईषाचक्रादिसन्निधाने चेत् अज्ञमानयेति उच्यते, तदा, यानाक्षमधिष्ठत्य ब्रूते—इति गम्यते, न तु विदेवनाक्षम्—इति। यदि हि अर्थभेदो भवेत् पशुच्छागशब्दयोः, पृथक्क्षेनाभिधानं, ततो भेदः स्यात्,—न छाग एव नियम्येत, अविहितः छागार्थः—इति अश्वोपादानम्। अपि च, छागपक्षे तं मन्वर्वर्णः प्रकाशयेत्; छागार्थाभिधाने पुनः पशुशब्दस्य, छागप्राप्तावन्येषाम् अप्राप्तिरिति अन्यस्मिन् प्राप्ते चिह्नेन नियमः क्रियते—इति ॥

ख. अनियमो वार्थान्तरत्वादन्यत्वं व्यतिरेकशब्द-
भेदाभ्याम् ॥ ३६ ॥ (आ०) ॥

भा. 'अनियमो वा', यः—कश्चित् पशुः उपादेयः, 'अर्थान्तरत्वात्,—अर्थान्तरं पशुत्वम्, अर्थान्तरं छागत्वम्, अर्थयोरक्ष सामानाधिकरण्यं, न शब्दयोः। कथं पुनरर्थान्तरं गम्यते?। व्यतिरेकाशब्दभेदाच्च,—व्यतिरेको हि भवति,—कश्चित् पशुर्न छागः। तथा, 'छागः, पशुः'—इति शब्दभेदः; शब्दभेदादेवार्थभेदो न्याय्यः। एकस्मिन् वाक्ये समवायात्,—पशुं छागमानय—इति, इतरथा, अन्यतरेण ह्यतार्थत्वात् अन्यतरो वाक्ये न समवेयात्, समवैति च। तस्मात् अन्यत् पशुत्वम्, अन्यत् छागत्वं; तस्मात् अनियमः,—यः—कश्चित् पशुः उपादेयः—इति।

तत्रोत्सृजिका* पक्षव्यावृत्तिः, अन्यत्वेऽपि सति नियम एव।

* मन्वोत्सृजिका इति आ० सो० पु० पाठः।

भा. कुतः?। मद्यस्य प्रयोगवचनेन गृहीतत्वात्, मद्यसाधनं हि कर्म—इति गम्यते, यदि छागम् उपादास्यामहे, सगुणं कर्म ब्रह्मणः कर्तुम्, मद्यम् उपाददानाः, मद्यस्य अपाक्षिकत्वात्; अथ अन्यम् उपादास्यामहे, मद्यस्य विषयाभावात् मद्यम् अप-जह्यतो न सगुणं कर्म निर्वर्तयेम, अतो* न च श्रुतिं बाधामहे, अन्यस्मिन् पशुशब्दो वर्तते—इति, न च अन्यम् उपादास्यामहे, वैगुण्याद्विभ्यतः। तस्मात् छागः एव उपादातथः—इति ॥

‘ननु अश्वम् उपाददाना नैव मद्यवर्णम् अपह्नास्यामः, स एव अश्वः छागो भविष्यति, यस्मिन्नगमनोऽश्वः, स छागः, छिदेर्गमेश्च छागशब्दः प्रसिद्धः।

स. रूपाल्लिङ्गाच्च ॥ ३७ ॥ (आ०) ॥

भा. ‘कचित् मुष्करा भविष्यन्ति’—इति श्रूयते, यद्यन्तरेण वचनम्, अमुष्करास्तदेदम् उपपद्यते। तस्मात् छिन्नगमनोऽश्वोऽपि छागः—इति कर्माख्या भविष्यति। अथ उच्यते,—

स. छागे न कर्माख्या रूपलिङ्गाभ्याम् ॥ ३८ ॥
(आ० नि०) ॥

भा. ‘छागे’ ‘कर्माख्या’ रूपलिङ्गाभ्यां न श्वकल्पते, न हि छाग-शब्दः छिन्नगमनवचनः, समुदायो हि अश्वी पृथक् अर्थान्तरे प्रसिद्धो, न अश्वी अवयवप्रसिद्ध्या बाधितथः। तस्मात् न अश्वः छागः ॥

स. रूपान्यत्वान्न जातिशब्दः स्यात् ॥ ३९ ॥
(आ० नि० १) ॥

भा. इदम् अन्यपदोत्तरं सूत्रम्। ‘अथ कस्मात् न वयोवचनो

* तेन इति का० त्री० पु० एवं कं० सं० द्वितीय पु० पाठः।

भवति? वयोवचना ज्ञेते शब्दाः छागम्छागस्यो वस्तः—इति, तेन अश्वोऽपि वयोवचनो भविष्यति—इति। उच्यते,— नैतदेवं, सत्यं वयोवचनः, अजापतिगतन्तु वयो वदितुम् शक्नोति, यथा श्लोणः—इति वर्षवचनः अश्वजातिगतं वर्षं वदति, न अन्यम्। तस्मात् 'रूपान्यत्वात् न' वयोमात्रवचनः, किन्तु 'जातिशब्दः स्यात्', जात्याश्रयं वयो वदेत्। अतश्छाग एव नियम्यते ॥

ख. विकारो नोत्पत्तिकत्वात्* ॥ ४० ॥ (आ० नि० २) ॥

भा. इदमपि पदोत्तरम्,—इह अशवादीनां विकारश्छागशब्दः, किञ्चिद्वा अशवादीनाम् उच्चार्यते, न किञ्चित् अन्यदेव। तस्मात् अश्वोऽपि छागः—इति, 'न उत्पत्तिकत्वात्', औत्पत्तिको हि नामिनाम्नोः सम्बन्धः—इत्युक्तम् (१।१।३ सू०), न आख्याविकारः सम्भवति—इति। तस्मात् न अश्वश्छागः, अतः छाग एव उपादातथः—इति ॥

ख. स नैमित्तिकः पशोर्गुणस्याचोदितत्वात् ॥ ४१ ॥
(आ० नि० ३) ॥

भा. पदोत्तरमेव इदं सूत्रम्। अथ कस्मात् न छिद्रनिमित्तः छाग-शब्दो भवति? एवं श्रूयते,— 'शुषिरो वा एतर्हि पशुः यर्हि वपामुत्खिदन्मि'—इति। न—इत्युच्यते, छिद्रत्वस्य 'गुणस्य' 'पशोः' 'अचोदितत्वात्'; 'अथङ्' पशुमात्रमेत—इति हि चोद्यते। तस्मात् अच्छिद्रः पशुः। न च, अवयवमसिद्ध्या समुदायमसिद्धिर्वाधते,—इत्युक्तमेव। तस्मात् छाग एव उपादेयो न अशवादयः—इति ॥

* "विकार इति चेत् ॥ ४० ॥ नैमित्तिकत्वात् ॥ ४१ ॥" इत्येवं सूत्रद्वयरूपतया आ० सो० पुस्तके कं० सं० पुस्तके च पठितम्।

सः जातेर्वा तत्प्रायवचनार्थवच्चाभ्याम् ॥ ४२ ॥ (सि०) ॥

भा. वाङ्मन्त्रः अवधारणायाम् । यस्मात् अवयवप्रसिद्ध्या समुदायप्रसिद्धिर्न बाधते, तस्मात् 'जातेः' एव छागमन्त्रो वाचकः, एवं समुदायस्य अर्थवत्ता अनुगृहीता भविष्यति—इति तत्प्रायवचनम् उपपद्यते, 'विश्वेषां देवानाम् उच्चाणां छागानां मेषाणां वपानां मेदसोऽनुब्रूहि'—इति जातिप्राये वचनम् उपपद्यते; प्रायेणापि हि नियमः क्रियते, यथा, अथप्राये लिखितं वृद्धा अथयोग्यम्—इति बुद्धिर्भवति । तस्मात् छाग एव उपादातयः—इति । छात्वा-चिन्तायां* प्रयोजनं न वक्तव्यम् ॥

इति श्रीशिवरत्नामिनः छातौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य अष्टमः पादः ॥ अध्यायश्च समाप्तः ॥

समाप्तस्य पूर्वः षट्कः ॥

* आख्यानरे विधौ एव "छातोऽग्नीषोमीयः" इति स्पष्टमुक्तत्वात् इयं छात्वा-चिन्ता ।